ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जन ग्रंथमाला प्राकृत ग्रन्थांक-१६

श्रीमद्वट्टकेराचार्य प्रणीत

मूलाचार

(श्री वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित
आचारवृत्ति संस्कृत टीका सहित)

सम्पादन
सिद्धान्ताचार्य प कैलाशचन्द्र शास्त्री
प जगन्मोहनलाल शास्त्री
प (डॉ) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

•

हिन्दी टीकानुवाद
आर्यिकारत्न ज्ञानमतीजी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रथम सस्करण १६८४ • मूल्य : ६५/-

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृति में

स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित

एवं

उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्य का अनुसंधानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य-ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

●

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

बी/४५-४७, कनॉट प्लेस,

नयी दिल्ली—११०००१

मुद्रक . अंकित प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा दिल्ली-३२

आवरण शिल्पी : हरिपाल त्यागी

●

स्थापना · फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०, विक्रम सं० २०००, १८ फरवरी १९४४

JNANPITH MURTIDEVI JAINA GRANTHAMALA : Prakrit-grantha No : 19

SHRI VATTAKERACHARYA'S

MŪLACHĀRA

(With Acharavritti, a Sanskrit commentary of
Acharya Vasunandi Sidhantachakravarti)

Edited by

Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Pt Jaganmohanlal Shastri
Pt (Dr.) Pannalal Jain Sahityacharya

Translated by

Venerable Aryikaratna Jnanmatiji

BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

First Edition 1984
Price : Rs. 65/-

BHARATIYA JNANAPITH

MURTIDEVI JAINA GRANTHAMALA

FOUNDED BY

LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MURTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAINA AGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURANIC LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRAMSHA, HINDI, KANNADA, TAMIL, ETC , ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

ALSO

BEING PUBLISHED ARE

CATALOGUES OF JAINA-BHANDARS, INS RIPTIONS, STUDIES ON ART AND ARCHITECTURE BY COMPETENT SCHOLARS AND ALSO POPULAR JAIN LITERATURE.

General Editors

Siddhantacharya Pt Kailash Chandra Shastri

Dr Jyoti Prasad Jain

Published by

Bharatiya Jnanpith

B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001

Printed at

Ankit Printing Press, Shahdara Delhi-110032

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb , 1944

प्रधान सम्पादकीय

द्वादश अधिकारो से विभक्त प्राकृत भाषा की १२४३ गाथाओ मे निबद्ध 'मूलाचार' नामक ग्रन्थराज दिगम्बर आम्नाय मे मुनिधर्म के प्रतिपादक शास्त्रों मे प्राय: सर्वाधिक प्राचीन तथा सर्वोपरि प्रमाण मान्य किया जाता है। अपने समय मे उपलब्ध प्राय. सम्पूर्ण जैन साहित्य का गभीर आलोडन करने वाले आचार्य वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम सिद्धान्त की अपनी सुप्रसिद्ध 'धवला' टीका (७८० ई०) मे उक्त मूलाचार के उद्धरण 'आचाराग' नाम से देकर उसका आगमिक महत्त्व प्रदर्शित किया है। शिवार्य (प्रथम शती ई०) कृत 'भगवती आराधना' की अपराजित सूरि विरचित विजयोदशा टीका (लगभग ७०० ई०) में मूलाचार के कतिपय उद्धरण प्राप्त है और यतिवृषभाचार्य (२री शती ई०) कृत 'तिलोयपण्णति' मे भी मूलाचार का नामोल्लेख हुआ है। मूलाचार के सर्वप्रथम ज्ञात टीकाकार आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिक (लगभग ११०० ई०) ने अपनी आचारवृत्ति नाम्नी सस्कृत टीका की उत्थानिका मे घोपित किया है कि ग्रन्थकार श्री वट्टकेराचार्य ने गणधरदेव रचित श्रुत के आचाराग नामक प्रथम अग का अल्प क्षमतावाले शिष्यों के हितार्थ बारह अधिकारो मे उपसहार करके उसे मूलाचार का रूप दिया है। इन अधिकारो के प्रतिपाद्य विषय है क्रमश. —

मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यान, सक्षेप प्रत्याख्यान, समयाचार, पंचाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति। वस्तुतः प्रथम अधिकार मे निर्देशित मुनिपद के अट्ठाईस मूलगुणो का विस्तार ही शेष अधिकारो मे किया गया है।

ग्रन्थकर्ता आचार्य वट्टकेर के व्यक्तित्व, कृतित्व, स्थान, समयादि के विषय मे स्वय मूलाचार मे, वसुनन्दिकृत आचारवृत्ति में, अथवा अन्यत्र भी कही कोई ज्ञातव्य प्राप्त नही होते। प० जुगल किशोर मुख्तार के अनुसार, मूलाचार की कितनी ही ऐसी पुरानी हस्त-लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं जिनमे ग्रन्थकर्ता का नाम 'कुन्दकुन्दाचार्य' दिया हुआ है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये को भी कर्नाटक आदि दक्षिण भारत में ऐसी कई प्रतियाँ देखने में आयी थी जो कि उन्हे सर्वथा असली (नकली या जाली नही) प्रतीत हुई। माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला बम्बई से मूलाचार की जो सटोक प्रति दो भागो मे प्रकाशित हुई थी उसकी अन्त्य पुष्पिका—"**इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत-मूलाचाराख्यविवृत्तिः। कृतिरियं वसुनन्दिन श्रमणस्य**' मे भी मूलाचार को कुन्दकुन्द-प्रणीत घोषित किया गया है। इसके अति-रिक्त, भाषा-शैली, भाव आदि की दृष्टि से भी कुन्दकुन्द-साहित्य के साथ मूलाचार का अद्भुत साम्य लक्ष्य करके मुख्तार साहब की धारणा हुई कि वट्टकेराचार्य या वट्टेरकाचार्य सस्कृत शब्द 'प्रवर्त्तकाचार्य' का प्राकृत रूप हो सकता है, तथा वह आचार्य कुन्दकुन्द की एक उपयुक्त उपाधि या विरुद रहा हो सकता है, फलत. मूलाचार कुन्दकुन्द की ही कृति है। हमारी

भी ऐसी ही धारणा रही। किन्तु पं० नाथूराम प्रेमी मुख्तार सा० के मत से सहमत नहीं हुए और उन्होंने स्थान विशेष के नाम से प्रसिद्ध 'वट्टकेर' नामक किसी अज्ञात कन्नडिग दिगम्बराचार्य को इस ग्रन्थ का कर्ता अनुमानित किया। इस प्रकार मूलाचार का कृतित्व विवाद का विषय बन गया। विद्वानों का एक वर्ग उसे कुन्दकुन्द प्रणीत कहता है तो एक दूसरा वर्ग उसे वट्टकेर नामक एक स्वतन्त्र आचार्य की कृति मान्य करता है, और ऐसे भी अनेक विद्वान् हैं जो जब तक कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त न हो जाय इस विषय को अनिर्णीत मानते है तथा प्राय· तटस्थ है। कुछ-एक विद्वानो का कहना है कि मूलाचार एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर मात्र एक संग्रह ग्रन्थ है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इस अनुमान का सन्तोषजनक रूप में निरसन करते हुए कहा है कि मूलाचार का ग्रन्थन एक निश्चित रूपरेखा के आधार हुआ है, अतः इसके सभी प्रकरण आपस मे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। यदि यह सकलन होता तो उसके प्रकरणों मे आद्यन्त एकरूपता एवं प्रौढता का निर्वाह सम्भव नही था।

सिद्धान्ताचार्य प०कैलाशचन्द्र शास्त्री प्रभृति सभी प्रौढ़शास्त्रज्ञ विद्वानो को मूलाचार की सर्वोपरि प्रामाणिकता एवं प्राचीनता मे कोई सन्देह नही है, और उनका कहना है कि उसे यदि स्वय कुन्दकुन्द प्रणीत नही भी माना जाय, तो भी वह कुन्दकुन्द कालीन (८ ई०पू०—४४ ई०) अर्थात् सन् ईसवी के प्रारम्भकाल की रचना तो प्रतीत होती ही है। शिवार्यकृत 'भगवती आराधना' का भी वे प्राय वही रचनाकाल अनुमान करते हैं। उनके अनुसार, यद्यपि भगवती आराधना एव मूलाचार की अनेक गाथाओं मे साम्य है, तथापि उससे यह मानना उचित प्रतीत नही होता है कि एक-दूसरे का परवर्ती है, अपितु यह मानना अधिक सम्भव होगा कि अनेक प्राचीन गाथाएँ परम्परा से अनुस्यूत चली आती थी और उनका सकलन या उपयोग कुन्दकुन्द, वट्टकेर, शिवार्य आदि प्राचीन प्रारम्भिक ग्रन्थकारो ने अपने-अपने ढँग से किया। इस प्रसग मे यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि कुन्दकुन्दाचार्य के ज्येष्ठ समकालीन लोहाचार्य (१४ ई० पू०—३० ई०) श्रुतधराचार्यो की परम्परा मे अन्तिम आचारांगधारी थे। सभव है कि उन्ही से आचाराग का ज्ञान प्राप्त करके उनके वट्टकेर नामक किसी शिष्य ने, अथवा मूलसघाग्रणी आचार्य कुन्दकुन्द ने मूल सघाम्नाय के मुनियो के हितार्थ द्वादशागी के उक्त प्रथम अग का बारह अधिकारो मे उपसहार करके उसे मूलाचार का रूप दिया हो।

जहाँ तक टीकाकार वसुनन्दि का प्रश्न है वह अपभ्र श भाषा मे रचित सुदंसण-चरित (वि०स० ११००, १०४३ ई०) के कर्ता नयनन्दि के प्रशिष्य और नेमिचन्द्र के शिष्य वसुनन्दि से अभिन्न प्रतीत होने है। अतएव उनके द्वारा मूलाचार की उक्त आचारवृत्ति की रचना ११०० ई० के लगभग हुई प्रतीत होती है। इन्ही वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने वसुनन्दि-श्रावकाचार के नाम से प्रसिद्ध प्राकृत भाषा मे निबद्ध 'उपासकाध्ययन' की रचना की थी। मूलाचार के प्रस्तुत सस्करण मे वृत्तिकार वसुनन्दि के लिए जो 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' विशेषण प्रयुक्त किया गया है उसका औचित्य विचारणीय है—टीका की पुष्पिकाओ आदि मे तो उसका कही कोई सकेत दृष्टिगोचर नही होता।

मूलाचार की सकलकीर्ति कृत मूलाचार-प्रदीप आदि कुछ अन्य परवर्ती टीकाएं भी हैं और प० जयचन्द छावड़ा कृत भाषा-वचनिका भी है। किन्तु वसुनन्दिकृत आचारवृत्ति एक

उत्तम एवं प्रामाणिक टीका है। माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से भी मूलाचार का उक्त टीका सहित ही सस्करण प्रकाशित हुआ था जो बहुत वर्षों से अप्राप्य है। अतएव उक्त आचार-वृत्ति से समन्वित मूलाचार के भाषानुवाद सहित एक उत्तम सस्करण के प्रकाशन की आवश्यकता विद्वज्जगत् मे अनुभव की जा रही थी। स्व० डॉ० उपाध्ये ने उसका वैज्ञानिक पद्धति से सुसम्पादित सस्करण तैयार करने की ओर सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री का ध्यान आकर्षित किया था। पडितजी ने भी उसका भाषानुवाद एव भाषा टीका लिखने की स्वीकृति भी दे दी थी, किन्तु डॉ० उपाध्ये के असमय निधन के कारण वह योजना स्थगित हो गयी। हमे प्रसन्नता है कि विदुषी आर्यिकारत्नश्री ज्ञानमती माताजी ने वृत्ति-समन्वित मूलाचार का भाषानुवाद बडे उत्साह एव परिश्रम पूर्वक सरल सुबोध शैली मे किया है। डॉ० प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने उक्त अनुवाद की भाषा का यथोचित अध्ययन किया है और श्री प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री एव श्री प० जगन्मोहनलालजी शास्त्री जैसे प्रौढ शास्त्रज्ञो ने पाण्डुलिपि को आद्योपान्त पढकर अपने अमूल्य सुझाव दिये है जिनका उपयोग इस सस्करण मे कर लिया गया है। आर्यिका माताजी को अनेकश साधुवाद है तथा पण्डितत्रय अपने महत् योगदान के लिए साधुवाद के पात्र है।

ग्रन्थ का यह प्रथम भाग है, दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकाश्यमान है।

साहित्य एव सस्कृति के अनन्यप्रेमी स्व० साहू शान्तिप्रसादजी एव स्व० श्रीमती रमारानीजी की उदार दानशीलता द्वारा सस्थापित भारतीय ज्ञानपीठ के वर्तमान अध्यक्ष श्री साहू श्रेयासप्रसादजी तथा मैनेजिग ट्रस्टी श्री साहू अशोक कुमारजी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन की स्वीकृति प्रदान करके, तथा ज्ञानपीठ के पूर्व निदेशक (वर्तमान में सलाहकार) श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एव प्रकाशनाधिकारी डॉ० गुलाबचन्द्र जैन ने ग्रन्थ के मुद्रण-प्रकाशन का सुचारु रूप से कार्यान्वयन कराके विद्वज्जगत् और स्वाध्याय-प्रेमियो पर अनुग्रह किया है।

६ अप्रैल, १९८४ —ज्योति प्रसाद जैन

सम्पादकीय

'प्रवचनसार' के चारित्राधिकार के प्रारम्भ मे कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि यदि दुःख से छुटकारा चाहता है तो निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त कर।[1] अनादि कालीन भवभ्रमण से सत्रस्त भव्यप्राणी के लिए कुन्दकुन्दाचार्य की उपर्युक्त देशना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होने 'चारित्त खलु धम्मो' लिखकर चारित्र को ही धर्म बताया है।[2] और धर्म का अर्थ बतलाया है साम्य परिणाम, और साम्य परिणाम की व्याख्या की है—मोह तथा क्षोभ से रहित आत्मा का साम्य भाव। वास्तव मे राग-द्वेष तथा मोह से रहित आत्मा की जो परिणति है वही धर्म कहलाता है और ऐसे धर्म की प्राप्ति होना ही चारित्र है। पञ्च महाव्रत आदि धारणरूप व्यवहार-चारित्र इसी परमार्थ-चारित्र की प्राप्ति होने मे साधक होने से चारित्र कहलाता है।

'समयसार' के मोक्षाधिकार के प्रारम्भ मे उन्ही कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जिस प्रकार बन्धन मे पडा व्यक्ति, बन्धन के कारण और उसकी तीव्र, मन्द, मध्यम अवस्थाओ को जानता हुआ भी जब तक उस बन्धन को काटने का पुरुषार्थ नही करता तब तक बन्धन से मुक्त नही हो सकता। इसी प्रकार कर्मबन्धन के कारण, उसकी स्थिति तथा अनुभाग के तीव्र, मन्द एव मध्यमभाव को जानता हुआ भी तब तक कर्मबन्धन से मुक्त नही हो सकता जब तक कि उस बन्धन को काटने का पुरुषार्थ नही करता। यहाँ पुरुषार्थ से तात्पर्य सम्यक्चारित्र से है। इसके विना तेतीस सागर प्रमाण दीर्घकाल तक तत्त्वचर्चा करनेवाला सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र, सम्यग्दृष्टि ओर पदानुरूप सम्यग्ज्ञान के होने पर भी कर्मबन्धन से मुक्त नही हो सकता, जबकि वहाँ से आकर दैगम्बरी दीक्षा धारण करने के बाद अन्तर्मुहूर्त मे भी बन्धन से मुक्त हो सकता है। यह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और समयग्ज्ञान पूर्वक ही होता है, इनके बिना होनेवाला चारित्र मोक्षमार्ग का साधक नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्चारित्र धर्म है, सम्यग्दर्शन उसका मूल है, तथा सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन का सहचर है।

कुन्दकुन्द स्वामी के प्रवचनसार, नियमसार, चारित्रपाहुड, बोधपाहुड तथा भाव पाहुड आदि मे भव्य जीव को जो देशना दी है उससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि वे दिगम्बर साधु मे रञ्चमात्र भी शेथिल्य को स्वीकृत नही करते थे। नव स्थापित श्वेताम्बर सघ के साधुओ मे जो विकृतियाँ आयी थी उनसे दिगम्बर साधु को दूर रखने का उन्होंने बहुत प्रयत्न किया था। विकृत आचरण करनेवाले साधु को उन्होंने नटश्रमण तक कहा है।

---

१ पडिवज्जदु सामण्ण जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्ख ॥२०१॥ प्र. सा.

२ चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥ प्र. सा.

३. समयसार, गाथा २८८-२९३

मूलसंघ के साधुओं का जैसा आचरण होना चाहिए, उसका वर्णन मूलाचार में बट्टकेर आचार्य ने किया है। मूल नाम प्रधान का है, साधुओं का प्रमुख आचार कैसा होना चाहिए, इसका दिग्दर्शन ग्रन्थकार ने मूलाचार मे किया है। अथवा मूलसघ भी होता है। मूलसंघ में दीक्षित साधु का आचार कैसा होना चाहिए, इसका दिग्दर्शन ग्रन्थकार ने मूलाचार मे किया है। मूलाचार जैन साधुओं के आचार विषय का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह वर्तमान मे दिगम्बर साधुओं का आचारांग सूत्र समझा जाता है। इसकी कितनी ही गाथाएँ उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत ही नही की हैं अपितु उन्हे अपने अपने ग्रन्थों का प्रकरणानुरूप अंग बना लिया है। दिगम्बर जैन वाङ्मय में मुनियों के आचार का सांगोपांग वर्णन करनेवाला यह प्रथम ग्रन्थ है। इसके बाद मूलाराधना, आचारसार, चारित्रसार, मूलाचारप्रदीप तथा अनगार धर्मामृत आदि जो ग्रन्थ रचे गये हैं उन सबका मूलाधार मूलाचार ही है। यह न केवल चारित्र विषयक ग्रन्थ है अपितु ज्ञान-ध्यान तथा तप मे अनुरक्त रहनेवाले साधुओं की ज्ञानवृद्धि में सहायक अनेक विषय इसमे प्रतिपादित किये गये हैं। इसका पर्याप्ति अधिकार करणानुयोग सम्बन्धी अनेक विषयों से परिपूर्ण है।

आचारवृत्ति के कर्ता वसुनन्दी आचार्य ने इसकी सस्कृतटीका मे इन सब विषयो को संदृष्टियों द्वारा स्पष्ट किया है। आचारवृत्ति के अनुसार मूलाचार मे १२५२ गाथाएँ है तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ बारह अधिकारो मे विभाजित है। इन अधिकारो के वर्णनीय का निदर्शन, टीका कर्त्री आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी ने अपने 'आद्य उपोद्‌घात' में किया है। माताजी ने टीका करने के लिए माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित मूलाचार को आधार माना है। साथ ही श्री प० जिनदासजी शास्त्रीकृत हिन्दी टीका सहित मूलाचार को भी सामने रखा है। इस टीका में जो गाथाएँ परिवर्तित, परिवर्धित या आगे-पीछे है उन सबका उल्लेख टिप्पणी मे किया है इससे पाठको को दोनों संस्करणो की विशेषता विदित हो जाती है।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित दोनों भागों की प्रतियो का सशोधन दिल्ली से प्राप्त हस्तलिखित प्रति तथा स्याद्वाद संस्कृत महाविद्यालय मे सुरक्षित हस्तलिखित प्रति से किया गया है तथा उन्ही प्रतियों के आधार से पाठभेद लिये गये है। माताजी ने मूलाचार की पाण्डु-लिपि तैयार कर प्रकाशनार्थ भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली को भेजी। ज्ञानपीठ के अध्यक्ष और निदेशक ने पाण्डुलिपि को संशोधित करने के लिए हमारे पास भेजी तथा उसे प्रकाशित करने की सम्मति हम लोगो से चाही। फलतः हम तीनों ने कुण्डलपुर में एकत्रित हो आठ दिन तक टीका का वाचन किया। समुचित साधारण सशोधन तत्काल कर दिये परन्तु कुछ विशेषार्थ के लिए माताजी का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पाण्डुलिपि पुनः माताजी के पास भेजी। माताजी ने सकेतित स्थलों पर विचारकर आवश्यक विशेषार्थ बढ़ाकर पाण्डुलिपि पुनः ज्ञानपीठ को भेज दी। हम लोगो ने माताजी के श्रम और वैदुष्य की श्लाघना करते हुए प्रकाशन के लिए सम्मति दे दी। फलत. भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से इसका प्रकाशन हो रहा है। प्रकाशन दो भागो में नियोजित है। यह प्रथम-भाग पाठको के समक्ष है।

माताजी ने मूलाचार का अन्तःपरीक्षण तथा विषय-निर्देश करते हुए अपने 'आद्य उपोद्‌घात' मे ग्रन्थ कर्तृत्व पर भी प्रकाश डाला है तथा यह सम्भावना प्रकट की है कि मूलाचार के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य होना चाहिए और इसी सम्भावना पर उन्होंने अपने वक्तव्य में कुन्दकुन्द

स्वामी का जीवन परिचय भी निबद्ध किया है। मूलाचार के कर्ता के विषय मे आचारवृत्ति के कर्ता वसुनन्दी आचार्य ने ग्रन्थकर्ता के रूप से वट्टकेराचार्य, वट्टकेर्याचार्य और वट्टेरकाचार्य का नामोल्लेख किया है। पहला रूप टीका के प्रारम्भिक प्रस्तावना-वाक्य मे, दूसरा ६वें, १०वें और ११वें अधिकार के सन्धि-वाक्यो मे तथा तीसरा ८वें अधिकार के सन्धि-वाक्य मे किया है। परन्तु इस नाम के किसी आचार्य का उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियो, पट्टावलियों, शिलालेखो या ग्रन्थ प्रशस्तियों आदि में कही भी देखने मे नही आता। इसलिए इतिहास के विद्वानों के सामने आज भी यह अन्वेषण का विषय है।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित मूलाचार की प्रति के अन्त मे यह पुष्पिका वाक्य है—'इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्याय.। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिन श्रमणस्य।'

इस पुष्पिका के आधार पर मूलाचार को कुन्दकुन्द रचित माना जाने लगा है परन्तु इसका अभी तक प्रबल युक्तियो द्वारा निर्णय न होने से यह सस्करण वट्टकेराचार्य के नाम से ही प्रकाशित किया जा रहा है।

आचारवृत्ति के कर्ता वसुनन्दी हैं। इस नाम के अनेक आचार्य हुए है उनमे से आचारवृत्ति के कर्ता, स्व. डॉ ए एन. उपाध्ये के लेखानुसार (जैनजगत् वर्ष ८ अक ७), विक्रम की १२वीं शती मे हुए। ये अनगार धर्मामृत के रचयिता आशाधर जी से पहले और सुभाषित-रत्नसंदोह आदि ग्रन्थो के कर्ता अतिगमित से पीछे हुए है। आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका मे आचारवृत्ति का कई जगह उल्लेख किया है जबकि आचारवृत्ति में अमितगति के 'सुभाषित रत्नसदोह' तथा 'सस्कृत पचसंग्रह' के अनेक उदाहरण दिये है।

मूलाचार की अनेक गाथाएँ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थो मे पाई जाती है इससे यह स्पष्ट होता है कि कुछ गाथाएँ परम्परा से चली आ रही है और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने उन्हें अपने ग्रन्थों मे यथास्थान सगृहीत कर अपने ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है।

हमे प्रसन्नता होती है कि कुछ आर्यिकाओ ने आगम ग्रन्थो का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उनकी टीकाएँ लिखना प्रारम्भ किया है। उन आर्यिकाओ के नाम है श्री १०५ आर्यिका-रत्न ज्ञानमती माता जी (अष्टसहस्री, नियमसार, कातन्त्ररूपमाला आदि ग्रन्थो की टीकाकार), श्री १०५ आर्यिका विशुद्धमति जी (त्रिलोकसार, त्रिलोकसारदीपक तथा त्रिलोयपण्णत्ती आदि की टीकाकार), श्री १०५ आर्यिका जिनमति माता जी (प्रमेयकमलमार्तण्ड की टीका-कार), श्री १०५ आर्यिका आदिमति माता जी (गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीकाकार) तथा श्री १०५ सुपार्श्वमति माता जी (सागार धर्मामृत, आचारसार आदि की टीकाकार) आदि। ये माताएँ ज्ञान-ध्यान मे तत्पर रहती हुई जैनवाङ्मय की उपासना करती रहे यह आकाक्षा है।

मूलाचार के इस सुन्दर सस्करण को प्रकाशित करने के लिए भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष तथा सचालक धन्यवाद के पात्र हैं। बहुत समय से अप्राप्य इस ग्रन्थ के पुन: प्रकाशन की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति भारतीय ज्ञानपीठ ने की है।

—कैलाश चन्द्र शास्त्री
जगन्मोहनलाल शास्त्री
पन्नालाल साहित्याचार्य

आद्य उपोद्घात

सकल वाङ्मय द्वादशांग रूप है। उसमें सबसे प्रथम अंग का नाम आचारांग है, और यह संपूर्ण श्रुतस्कध का आधारभूत 'श्रुतस्कंधाधारभूत'[1] है। समवसरण में भी बारह कोठों में से सर्वप्रथम कोठे मे मुनिगण रहते हैं। उनकी प्रमुखता करके भगवान् की दिव्यध्वनि में से प्रथम ही गणधरदेव आचाराग नाम से रचते है। इस अंग की १८ हज़ार प्रमाण पद संख्या मानी गयी है। ग्रन्थकर्ता ने चौदह सौ गाथाओं में इस ग्रन्थ की रचना की है। टीकाकार श्री वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इस ग्रन्थ की बारह हज़ार श्लोक प्रमाण बृहत् टीका लिखी है।

यह ग्रन्थ १२ अधिकारों में विभाजित है—

१ **मूलगुणाधिकार**—इस अधिकार में मूलगुणों के नाम बतलाकर पुन: प्रत्येक का लक्षण अलग-अलग गाथाओ मे बतलाया गया है। अनन्तर इन मूलगुणों को पालन करने से क्या फल प्राप्त होता है यह निर्दिष्ट है। टीकाकार ने मगलाचरण की टीका में ही कहा है—

"**मूलगुणैः शुद्धिस्वरूपं साध्यं, साधनमिदं मूलगुणशास्त्रं**"—इन मूलगुणो से आत्मा का शुद्ध-स्वरूप साध्य है, और यह मूलाचार शास्त्र उसके लिए साधन है।

२. **बृहत् प्रत्याख्यान-सस्तरस्तवाधिकार**—इस अधिकार मे पापयोग के प्रत्याख्यान-त्याग करने का कथन है। सक्षेप मे संन्यासमरण के भेद और उनके लक्षण को भी लिया है।

३. **संक्षेप प्रत्याख्यानाधिकार**—इसमे अति सक्षेप में पापो के त्याग का उपदेश है। दश प्रकार मुण्डन का भी अच्छा वर्णन है।

४ **समाचाराधिकार**—प्रातःकाल से रात्रिपर्यंत—अहोरात्र साधुओ की चर्या का नाम ही समाचार चर्या है। इसके औघिक और पद-विभागी ऐसे दो भेद किये गये हैं। उनमें भी औघिक के १० भेद और पद-विभागी के अनेक भेद किये है। इस अधिकार में आजकल के मुनियों को एकलविहारी होने का निषेध किया है। इसमें आर्यिकाओं की चर्या का कथन तथा उनके आचार्य कैसे हों, इस पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है।[2]

५. **पंचाचाराधिकार**—इसमे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तप आचार और वीर्याचार इन पाँचो आचारों का बहुत ही सुन्दर विवेचन है।

६. **पिंडशुद्धि-अधिकार**—इस अधिकार मे उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजना,

---

१. प्रारम्भ टीका की पंक्ति।

२. पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो। सगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥८३॥
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लोय। चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥८४॥

प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इन आठ दोषों से रहित पिण्डशुद्धि होती है। उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १०, इस प्रकार ४२ दोष हुए। पुन. सयोजना, प्रमाण, अंगार और धूम ये ४ मिलकर ४६ दोष होते हैं। मुनिजन इन दोषों को टालकर, ३२ अन्तरायो को छोड़कर आहार लेते हैं। किन कारणों से आहार लेते है, किन कारणों से छोड़ते है इत्यादि का इसमें विस्तार से कथन है।

७. **षडावश्यकाधिकार**—इसमे 'आवश्यक' शब्द का अर्थ बतलाकर समता, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओं का विस्तार से वर्णन है।

८. **द्वादशानुप्रेक्षाधिकार**—इसमे बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। लोकानुप्रेक्षा को आचार्य ने छठी अनुप्रेक्षा में लिया है। सप्तम अनुप्रेक्षा का नाम अशुभ अनुप्रेक्षा रखा है और आगे उसी अशुभ का लक्षण किया है। इन अनुप्रेक्षाओ के क्रम का मैंने पहले खुलासा कर दिया है।

९ **अनगारभावनाधिकार**—इसमे मुनियो की उत्कृष्ट चर्या का वर्णन है। लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर संस्कार त्याग, वाक्य, तप और ध्यान सम्बन्धी दश शुद्धियो का अच्छा विवेचन है। तथा अभ्रावकाश आदि योगो का भी वर्णन है।

१०. **समयसाराधिकार**—इसमे चारित्रशुद्धि के हेतुओं का कथन है। चार प्रकार के लिंग का और दश प्रकार के स्थितिकल्प का भी अच्छा विवेचन है। ये है—१ अचेलकत्व, २. अनौद्देशिक, ३ शैयागृहत्याग, ४. राजपिंडत्याग, ५ कृतिकर्म, ६. व्रत, ७. ज्येष्ठता, ८. प्रतिक्रमण, ९. मासस्थिति कल्प और १०. पर्यवस्थितिकल्प है।

११ **शीलगुणाधिकार**—इसमे १८ हजार शील के भेदो का विस्तार है। तथा ८४ लाख उत्तरगुणों का भी कथन है।

१२ **पर्याप्त्यधिकार**—जीव की छह पर्याप्तियो को बताकर ससारी जीव के अनेक भेद-प्रभेदों का कथन किया है। क्योकि जीवो के नाना भेदो को जानकर ही उनकी रक्षा की जा सकती है। अनन्तर कर्म प्रकृतियों के क्षय का विधान है। क्योकि मूलाचार ग्रन्थ के पढ़ने का फल मूलगुणो को ग्रहण करके अनेक उत्तरगुणो को भी प्राप्त करना है। पुन: तपश्चरण और ध्यान विशेष के द्वारा कर्मों को नष्ट कर देना ही इसके स्वाध्याय का फल है।

यह तो इस ग्रन्थ के १२ अधिकारों का दिग्दर्शन मात्र है। इसमें कितनी विशेषताएं है, वे सब इसके स्वाध्याय से और पुन: पुन: मनन से ही ज्ञात हो सकेंगी। फिर भी उदाहरण के तौर पर दो-चार विशेषताओ का यहाँ उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नही होगा—

एकल विहार का निषेध

इस मूलाचार मे आचार्य कुन्दकुन्द ने यह बताया है कि कौन से मुनि एकाकी विहार कर सकते हैं—

"जो बारह प्रकार के तपों में तत्पर रहते हैं, द्वादश अंग और चौदह पूर्वरूप श्रुत के ज्ञाता हैं, अथवा काल-क्षेत्र के अनुरूप आगम के वेत्ता हैं और प्रायश्चित्त शास्त्र मे कुशल हैं, जिनका शरीर भी बलशाली है, जो शरीर में निर्मोही है, और एकत्व भावना को सदा भाते रहते हैं, जिनके सदा शुभ परिणाम रहते हैं, वज्र-वृषभ आदि उत्तमसंहनन होने से जिनकी हड्डियाँ मजबूत हैं, जिनका मनोबल श्रेष्ठ है, जो क्षुधा आदि परीषहों के जीतने में समर्थ हैं, ऐसे महामुनि ही एकल बिहारी हो सकते है।"

इससे अतिरिक्त, कौन से मुनि एकल विहारी नही हो सकते हैं—"जो स्वच्छन्द गमनागमन करता है, जिसकी उठना, बैठना, सोना आदि प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्द हैं, जो आहार ग्रहण करने मे एवं किसी भी वस्तु के उठाने-धरने और बोलने में स्वैर है ऐसा मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे[1]।"

अकेले रहने से हानि क्या है, इसका उल्लेख करते हुए आचार्य लिखते हैं—

"गुरु निन्दा, श्रुत का विच्छेद, तीर्थ की मलिनता, जड़ता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष हो जाते हैं। और फिर कण्टक, शत्रु, चोर, क्रूर पशु, सर्प, म्लेच्छ मनुष्य आदि से सकट भी आ जाते है। रोग, विष आदि से अपघात भी सम्भव है। एकल बिहारी साधु के और भी दोष होते हैं—जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उलंघन, अनवस्था—और भी साधुओं का देखा-देखी एकलविहारी हो जाना, मिथ्यात्व का सेवन, अपने सम्यग्दर्शन आदि का बिनाश अथवा अपने कार्य—आत्मकल्याण का विनाश, सयम की विराधना आदि दोष भी सम्भव हैं। अत इस पचमकाल मे साधु को एकलविहारी नही होना चाहिए[2]।"

इसी ग्रन्थ के समयसार अधिकार मे ऐसे एकलविहारी को 'पापश्रमण' कहा है—"जो आचार्य के कुल को अर्थात् सघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है, और उपदेश को नहीं मानता है, वह 'पापश्रमण' कहलाता है[3]।"

संघ मे पाँच आधार माने गये हैं—

"आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर। जहाँ ये नही हैं, वहाँ नहीं रहना चाहिए। जो शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करते हैं वे आचार्य है। जो धर्म का उपदेश देते हैं वे उपाध्याय हैं। जो सघ का प्रवर्तन करते हैं वे प्रवर्तक हैं। जो मर्यादा का उपदेश देते हैं वे स्थविर हैं और जो गण की रक्षा करते हैं वे गणधर है।"

"ये मूलगुण और यह जो सामाचार विधि मुनियों के लिए बतलायी गयी है वह सर्वचर्या ही अहोरात्र यथायोग्य आर्यिकाओं को भी करने योग्य है। यथायोग्य यानी उन्हें वृक्षमूल

---

१. सच्छद गदागदी सयणणिसयणादाणभिक्खबोसरणे।
सच्छंद जंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥१५०॥ समाचाराधिकार।

२. मूलाचार गाथा-४,५,७ समाचाराधिकार।

३. आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दुएगामी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥ समाचाराधिकार

आतापन आदि योग वर्जित किये हैं।" उनके लिए दो साड़ी का तथा बैठकर करपात्र में आहार करने का विधान है।

अच्छे साधु भगवान हैं

सुस्थित अर्थात् अच्छे साधु को 'भगवान्' संज्ञा दी है—

भिक्ख वक्क हियय साधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुद्विद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं[1]॥

जो आहार शुद्धि, वचनशुद्धि और मन की शुद्धि को रखते हुए सदा ही चारित्र का पालन करता है, जैनशासन में ऐसे साधु की 'भगवान्' सज्ञा है। अर्थात् ऐसे महामुनि चलते-फिरते भगवान् ही है।

मुनियों के अहोरात्र किये जानेवाले कृतिकर्म का भी विवेचन है—

चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥६०२॥

अर्थात् चार प्रतिक्रमण मे और तीन स्वाध्याय में इस प्रकार सात कृतिकर्म हुए, ऐसे पूर्वाह्न और अपराह्न के चौदह कृतिकर्म होते हैं।

टीकाकार श्री वसुनन्दि आचार्य ने इन कृतिकर्म को स्पष्ट किया है—"पिछली रात्रि में प्रतिक्रमण मे चार कृतिकर्म, स्वाध्याय मे तीन और देववदना मे दो, सूर्योदय के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्न देववन्दना के दो इस प्रकार पूर्वाह्न सम्बन्धी कृतिकर्म चौदह हो जाते है। पुनः अपराह्न वेला मे स्वाध्याय के तीन, प्रतिक्रमण के चार, देववन्दना के दो, रात्रियोग ग्रहण सम्बन्धी योगभक्ति का एक और प्रात रात्रि योग निष्ठापन सम्बन्धी एक ऐसे दो और पूर्व रात्रिक स्वाध्याय के तीन, ये अपराह्न के चौदह कृतिकर्म हो जाते है। पूर्वाह्न के समीप काल को पूर्वाह्न और अपराह्न के समीप काल को अपराह्न से शब्द लिया जाता है।"

इस प्रकार मुनियों के अहोरात्र सम्बन्धी २८ कृतिकर्म होते है जो अवश्य करणीय हैं। इनका विशेष खुलासा इस प्रकार है—

साधु पिछली रात्रि मे उठकर सर्वप्रथम 'अपररात्रिक' स्वाध्याय करते हैं। उसमे स्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रिया मे लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्यभक्ति होती है। पुनः स्वाध्याय निष्ठापन क्रिया में मात्र लघु श्रुतिभक्ति की जाती है। इसलिए इन तीन भक्ति सम्बन्धी तीन कृतिकर्म होते हैं। पुन: 'रात्रिक प्रतिक्रमण' मे चार कृतिकर्म है। इसमे सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण-भक्ति, वीरभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति सम्बन्धी चार कृतिकर्म हैं। पुनः रात्रियोग निष्ठापना हेतु योगिभक्ति का एक कृतिकर्म होता है। अनन्तर 'पौर्वाह्निक देववन्दना' मे चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति के दो कृतिकर्म होते हैं। इसके बाद पूर्वाह्न के स्वाध्याय में तीन कृति-

---

१. षडावश्यक अधिकार

करे, मध्याह्न की देववंदना में दो, पुन अपराह्न के स्वाध्याय में तीन और दैवसिक प्रतिक्रमण मे चार, रात्रियोग प्रतिष्ठापना में योगभक्ति का एक, अनन्तर अपराह्लिक देववन्दना के दो और पूर्वरात्रिक स्वाध्याय के तीन कृतिकर्म होते हैं। सब मिलकर २८ कृतिकर्म हो जाते हैं।

अनगार धर्मामृत आदि में भी इस प्रकरण का उल्लेख है। कृतिकर्म की विधि—

> दोणद तु जधाजादं बारसावत्तमेव च।
> चदुस्सिरं तिसुद्ध च किदियम्म पउजदे[1]॥

अर्थात् यथाजात मुनि मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति सहित कृतिकर्म को करे।

इसकी विधि—किसी भी क्रिया के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की जाती है, पुनः पचांग नमस्कार करके, खड़े होकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके सामायिक दण्डक पढ़ा जाता है, पुन. तीन आवर्त एक शिरोनति करके सत्ताइस उच्छ्वास मे नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़ते हुए कायोत्सर्ग करके, पुन पचाग नमस्कार किया जाता है। पुन. खड़े होकर तीन आवर्त, एक शिरोनति करके जिस भक्ति के लिए प्रतिज्ञा की थी वह भक्ति पढ़ी जाती है। इस तरह एक भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग मे प्रतिज्ञा के बाद और कायोत्सर्ग के बाद दो बार पचाग नमस्कार करने से 'दो प्रणाम' हुए। सामायिक दण्डक के प्रारम्भ और अन्त मे तथा थोस्सामि स्तव के प्रारम्भ और अन्त मे तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से बारह आवर्त और चार शिरोनति हो गयी। यह एक कृतिकर्म का लक्षण है, अर्थात् एक कृतिकर्म में इतनी क्रियाएँ करनी होती है। इसका प्रयोग इस प्रकार है—

"अथ पौर्वाह्लिक देववदनायां[2]······चैत्यभक्ति[3] कायोत्सर्गं करोम्यहम्"।

यह प्रतिज्ञा करके पचांग या साष्टांग नमस्कार करना, पुन खड़े होकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके सामायिक पढ़ना चाहिए, जो इस प्रकार है—

> णमो अरिहताण णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
> णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूणं॥

> चत्तारि मगल—अहरत मगल, सिद्ध मगल, साहू मगल, केवलि पण्णत्तो धम्मो मगल। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरण पव्वज्जामि—अरहंत सरण पव्वज्जामि सिद्ध सरण पव्वज्जामि साहू सरण पव्वज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरण पव्वज्जामि।

---

१. षडावश्यक अधिकार।

२. जिस क्रिया को करना हो उसका नाम लेवे।

३. जिस भक्ति को पढना हो उसका नाम लेवे।

अड्ढाइज्जदीवदो समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जाव अरहताणं भयवंताणं आदियराण तित्थयराण जिणाण जिणोत्तमाण केवलियाण, सिद्धाण बुद्धाण परिणिव्वुदाण अतयडाण पारयडाण, धम्माइरियाण धम्मदेसयाण, धम्मणायगाण धम्मवर चाउरग चक्क वट्ठाण देवहिदेवाण णाणाण दसणाण चरित्ताण सदा करेमि किरियम्म। करेमि भत्ते! सामायिय सव्वसावज्जजोग पच्चक्खामि जावज्जीव तिविहेण मणसा वचसा काएण ण कारेमि कीरतंपि ण समणुमणामि, तस्स भत्ते! अइचारं पच्चक्खामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं, जाव अरहताण भयवताणं पज्जुवास करेमि तावकाल पावकम्म दुच्चरिय वोस्सरामि।

(इतना पढकर तीन आवर्त, एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास मे ६ बार णमोकार मन्त्र का जाप करके, पुन· तीन आवर्त एक शिरोनति करके थोस्सामि स्तव पढ़े।

थोस्सामि स्तव—

थोस्सामि हृ जिणवरे तित्थयरे केवली अणतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोययरे धम्मतित्थकरे जिणे वदे।
अरहते कित्तिससे चोबीसं चेव केवलिणो ॥२॥

उसहमजिय च वदे सभवमभिणदण च सुमइ च।
पउमप्पह सुपास जिण च चदप्पह वदे ॥३॥

सुविहिं च पुप्फयत सीयल सेय च वासुपुज्ज च।
विमलमणत भयव धम्म सतिं च वदामि ॥४॥

कुथु च जिणवरिद अर च मल्लि च सुव्वय च णमिं।
वदामि रिट्ठणेमि तह पास वड्ढमाण च ॥५॥

एव मए अभित्थुआ विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चोवीस पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयतु ॥६॥

कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहृ दितु समहिं च मे बोहिं ॥७॥

चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहि अहियपयासता।
सायरमिव गभीरा सिद्धा सिद्धि मम दिसतु ॥८॥

(इस पाठ को पढ़कर तीन आवर्त और एक शिरोनति करे, पुन चैत्यभक्ति या जो भक्ति पढ़नी हो वह पढ़े।)

इस प्रकार यह 'कृतिकर्म' करने की विधि है।

गाथा की छाया

प्राकृत गाथाओं की सस्कृत छाया की परम्परा श्री वसुनन्दि आचार्य के समय से तो है

ही, उससे पूर्व से भी हो सकती है। इसके लिए स्वयं वसुनन्दि आचार्य ने लिखा है—

पर्याप्ति अधिकार में "बावीस सत्त तिण्णि य…" ये कुल कोटि की प्रतिपादक चार गाथाये हैं। उनकी टीका मे लिखते हैं—

"एतानि गाथासूत्राणि पचाचारे व्याख्यातानि अतो नेह पुनर्व्याख्यायते पुनरुक्तत्वादिति।
१६६-१६७-१६८-१६९ एतेषा सस्कृतच्छाया अपि तत एव ज्ञेया ।"

इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थकार एक बार ली गयी गाथाओं को आवश्यकतानुसार उसी ग्रन्थ में पुनः भी प्रयुक्त करते रहे हैं।

इसी पर्याप्ति अधिकार मे देवियों की आयु के बारे में दो गाथाएँ आयी हैं। यथा—

पचादी वेहिं जुदा सत्तावीसा य पल्ल देवीणं।
तत्तो सत्तुत्तरिया जावद अरणप्पयं कप्प ॥७९॥

सौधर्म स्वर्ग में देवियो की उत्कृष्ट आयु ५ पल्य, ईशान में ७ पल्य, सानत्कुमार में ९, माहेन्द्र मे ११, ब्रह्म मे १३, ब्रह्मोत्तर में १५, लातव मे १७, कापिष्ठ मे १९, शुक्र मे २१, महाशुक्र मे २३, शतार मे २५, सहस्रार मे २७, आनत मे ३४, प्राणत में ४१, आरण में ४८ और अच्युत स्वर्ग मे ५५ पल्य है।

दूसरा उपदेश ऐसा है—

पणय दस सत्तधिय पणवीस तीसमेव पचधिय।
चत्ताल पणदाल पण्णाओ पण्णपण्णाओ ॥८०॥

सौधर्म, ईशान इन दो स्वर्गों में देवियों की उत्कृष्ट आयु ५ पल्य, सानत्कुमार-माहेन्द्र मे १७, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर में २५, लांतव-कापिष्ठ मे ३५, शुक्र-महाशुक्र में ४०, शतार-सहस्रार मे ४५, आनत-प्राणत मे ५० और आरण-अच्युत में ५५ पल्य की है।

यहाँ पर टीका मे आचार्य वसुनन्दि कहते है—

"द्वाप्युपदेशौ ग्राह्यौ सूत्रद्वयोपदेशात्। द्वयोर्मध्य एकेन सत्येन भवितव्य, नात्र सदेह मिथ्यात्व, यदर्हत्प्रणीतं तत्सत्यमिति सदेहाभावात्। छद्मस्थैस्तु विवेक. कर्तुं न शक्यतेऽतो मिथ्यात्वभयादेव द्वयोर्ग्रहणमिति[1]।"

ये दोनो ही उपदेश ग्राह्य हैं। क्योंकि सूत्र में दोनों कहे गए हैं।

शंका—दोनों में एक ही सत्य होना चाहिए, अन्यथा सशय मिथ्यात्व हो जायेगा?

समाधान—नही, यहाँ संशय मिथ्यात्व नही है क्योंकि जो अर्हंत देव के द्वारा कहा हुआ है वही सत्य है। इसमें सदेह नही है। हम लोग छद्मस्थ है। हम लोगों के द्वारा यह विवेक करना शक्य नही है कि "इन दोनों मे से यह ही सत्य है" इसलिए मिथ्यात्व के भय से दोनों को ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् यदि पहली गाथा के कथन को सत्य कह दिया और था दूसरा सत्य। अथवा दूसरी गाथा को सत्य कह दिया और था पहला सत्य, तो हम मिथ्या-

---

१. पर्याप्त्यधिकार।

दृष्टि बन जायेंगे। अतएव केवली—श्रुतकेवली के मिलने तक दोनों को ही मानना उचित है।

इस समाधान से टीकाकार आचार्य की पापभीरुता दिखती है। ऐसे ही अनेक प्रकरण धवला टीका मे भी आये है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि श्री वसुनन्दि आचार्य ग्रन्थकार की गाथाओ को 'सूत्र' रूप से प्रामाणिक मान रहे है।

सर्वप्रथम ग्रन्थ

मुनियो के आचार की प्ररूपणा करनेवाला यह 'मूलाचार' ग्रन्थ सर्वप्रथम ग्रन्थ है। आचारसार, भगवती आराधना, मूलाचारप्रदीप और अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थ इसी के आधार पर इसके बाद ही रचे गए है। अनगारधर्मामृत तो टीकाकार वसुनन्दि आचार्य के भी बाद का है। ग्रन्थकर्ता पण्डितप्रवर आशाधरजी ने स्वय कहा है—

एतच्च भगवद् वसुनन्दि-सैद्धांतदेवपादैराचारटीकायां[1] दुओणद'''इत्यादि।

इस पक्ति मे पण्डित आशाधरजी ने वसुनन्दि को 'भगवान्' और 'सैद्धान्त देवपाद' आदि बहुत ही आदर शब्दो का प्रयोग किया है। क्योकि वसुनन्दि आचार्य साधारण मुनि न होकर 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' हुए है। इस प्रकार से इस मूलाचार के प्रतिपाद्य विषय को बताकर इस ग्रन्थ मे आई कुछ विशेषताओ का उल्लेख किया है।

मूलाचार ग्रन्थ

यह मूलाचार ग्रन्थ एक है। इसके टीकाकार दो है—१. श्री वसुनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य और २. श्री मेघचन्द्राचार्य।

श्री वसुनन्दि आचार्य पहले हुए है या श्री मेघचन्द्राचार्य यह अभी भी विवादास्पद है। श्री वसुनन्दि आचार्य ने सस्कृत मे 'आचारवृत्ति' नाम से इस मूलाचार पर टीका रची है और श्री मेघचन्द्राचार्य ने 'मुनिजनचिन्तामणि' नाम से कन्नड़ भाषा मे टीका रची है।

श्री वसुनन्दि आचार्य ने ग्रन्थकर्ता का नाम प्रारम्भ मे श्री 'वट्टकेराचार्य' दिया है जबकि मेघचन्द्राचार्य ने श्री 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहा है।

आद्योपान्त दोनो ग्रन्थ पढ लेने से यह स्पष्ट है कि यह मूलाचार एक ही है। एक ही आचार्य की कृति है, न कि दो हैं या दो आचार्यो की रचनाएँ है। गाथाएँ सभी ज्यो की त्यो हैं। हाँ इतना अवश्य है कि वसुनन्दि आचार्य की टीका में गाथाओं की सख्या बारह सौ बावन (१२५२) है जबकि मेघचन्द्राचार्य की टीका में यह सख्या चौदह सौ तीन (१४०३) है।

श्री वसुनन्दि आचार्य अपनी टीका की भूमिका मे कहते है—

"श्रुतस्कधाधारभूतमष्टादश-पदसहस्रपरिमाण, मूलगुण-प्रत्याख्यान-सस्तरस्तवा-राधना-समयाचार-पचाचार-पिण्डशुद्धि-षडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानगार-भावना-समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्याद्यधिकार-निबद्ध -महार्थगम्भीरलक्षणसिद्ध-पद-

---

१. अनगार धर्मामृत, अध्याय ८, पृ. ६०५।

वाक्य-वर्णोपचितं, घातिकर्म-क्षयोत्पन्न-केवलज्ञान-प्रबुद्धाशेष-गुणपर्यायखचित-षड्द्रव्य-नवपदार्थ-जिनवरोपदिष्ट, द्वादशविधतपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धि-समन्वित गणधर-देवरचित, मूलगुणोत्तर-गुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपण प्रवणमाचा-रागमाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबलमेधायु शिष्यनिमित्त द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तु-काम स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षम शुभपरिणामं विदधच्छ्री वट्टकेराचार्य प्रथमतर तावन्मूलगुणाधिकार-प्रतिपादनार्थं मगलपूर्विकां प्रतिज्ञा विधत्ते मूलगुणेस्वित्यादि ।"

इस भूमिका मे टीकाकार ने बारह अधिकारो के नाम क्रम से दे दिए है। आगे इसी क्रम से उन अधिकारो को लिया है। तथा ग्रन्थकर्ता का नाम 'श्री वट्टकेराचार्य' दिया है।

ग्रन्थ समाप्ति मे उन्होने लिखा है—

"इति श्रीमदाचार्यवर्य - वट्टकेरिप्रणीतमूलाचारे श्रीवसुनन्दि - प्रणीतटीकासहिते द्वादशोऽधिकार ।" स्रग्धरा छन्द मे एक श्लोक भी है। और अन्त मे दिया है—
"इति मूलाचारविवृत्तौ द्वादशोऽध्याय कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृति । कृतिरिय वसुनन्दिन श्री श्रमणस्य[1] ।"

श्री मेघचन्द्राचार्य अपनी कन्नड़ी टीका के प्रारम्भ में लिखते है—

वीर जिनेश्वर नत्वा मदप्रज्ञानुरोधत ।
मूलाचारस्य सद्वृत्ति वक्ष्ये कर्णाटभाषया ।।

परमसयमोत्कर्षजातातिशयरु श्रीमदर्हत्प्रणीत-परमागमाम्भोधिपारगरु, श्री वीर-वर्द्धमानस्वामितीर्थोद्धारकरु, आर्यनिषव्यरु, समस्ताचार्यवर्यरु, मप्पश्री कोण्ड-कुन्दाचार्यरु, परानुग्रहबुद्धियि, कालानुरूपमागि चरणानुयोगन सक्षेपिसि मदबुद्धि-गलप्प शिष्यसतानक्कें किरिदरोले प्रतीतमप्पतागि सकलाचारार्थम निरूपि-सुवाचारग्रन्थम पेलुत्तवा ग्रन्थदमोदलोलु निर्विघ्नत शास्त्रसमाप्त्यादि चतुर्विध-फलमेक्षिसि नमस्कार गाथेय पेलूद पदेते दोडे।"

अर्थ—उत्कृष्ट सयम से जिन्हे अतिशय प्राप्त हुआ है, अर्थात् जिनको चारण ऋद्धि की प्राप्ति हुई है, जो अर्हत्प्रणीत परमागम समुद्र के पारगामी हुए है, जिन्होने श्री वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ का उद्धार किया है, जिनकी आर्यजन सेवा करते है, जिनको समस्त आचार्यों मे श्रेष्ठता प्राप्त हुई है, ऐसे श्री कोण्डकुन्दाचार्य ने परानुग्रहबुद्धि धारण कर कालानुरूप चरणानु-योग का सक्षेप करके मन्दबुद्धि शिष्यो को बोध कराने के लिए सकल आचार के अर्थ को मन में धारण कर यह आचार ग्रन्थ रचा है।

यह प्रारम्भ मे भूमिका है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में—"यह मूलाचारग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित है।" ऐसा दिया है। इस ग्रन्थ की टीका के अन्त मे भी ऐसा उल्लेख है—

---

१. मूलाचार द्वि. भाग, पृ. ३२४। (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई)

"एवं मूलगुण-बृहत्प्रत्याख्यान-लघुप्रत्याख्यान-समाचार-पिण्डशुद्धयावश्यक-निर्युक्त्य-नगार-भावनानुप्रेक्षा-समाचार-पर्याप्ति-शीलगुणा इत्यन्तर्गत - द्वादशाधिकारस्य मूलाचारस्य सद्वृत्ति· श्रोतृजनान्तर्गतरागद्वेषमोहक्रोधादिदुर्भावकलकपकनिरवशेष निराकृत्य पुनस्तदज्ञानविच्छित्ति सज्ज्ञानोत्पत्ति प्रतिसमयमसख्यातगुणश्रेणिनिर्जरणा-दिकार्यं कुर्वन्ती 'मुनिजनचिन्तामणिसज्ञ य' परिसमाप्ता ।

मर्यादया ये विनीता विशुद्धभावा सन्त पठन्ति पाठयन्ति, भावयन्ति च चित्ते ते खलु परमसुख प्राप्नुवन्ति । ये पुन पूर्वोक्तमर्यादामतिक्रम्य पठन्ति पाठयन्ति······ भवन्तो निरन्तरमनन्तससार भ्रमन्ति यतस्तत एव परमदिव्येय भवन्ती—मुनिजन-चिन्तामणिर्या सा श्रोतृचित्तप्रकाशिता ।

मूलाचारस्य सद्वृत्तिरिष्टसिद्धि करोतु नः ॥

इसका सक्षिप्त अभिप्राय यह है—

मूलगुणादि द्वादश अधिकार युक्त मूलाचार की मुनिजन चिन्तमणि नामक टीका समाप्त हुई । श्रोताओ को राग, द्वेषादि कलको को दूर करनेवाली और अज्ञान को नष्ट करने वाली, ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली, और प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी से कर्म-निर्जरा आदि कार्य करनेवाली यह 'मुनिजनचितामणि' नाम की टीका समाप्त हुई । जो आगम की मर्यादा को पालते हैं, विनीत और विशुद्ध भाव को धारण करते है, वे भव्य इस टीका का पठन करते है, और पढ़ाते है उनको परमसुख प्राप्त होता है । परन्तु जो मर्यादा का उलघन कर पढ़ते है—पढाते हैं, मन मे विचारते है, वे अनन्त ससार मे भ्रमण करते है ।

यह मुनिजन चिन्तामणि टीका श्रोताओ के चित्त को प्रकाशित करती है, मूलाचार की यह सद्वृत्ति हमारी इष्ट सिद्धि करे ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह मूलाचार ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्ददेव के द्वारा रचित है।

सपूर्ण ग्रन्थ बारह अधिकारो मे विभाजित है । श्री वट्टकेर आचार्य ने उन अधि-कारों के नाम क्रम से दिये हैं—१. मूलगुण, २ बृहत्प्रत्याख्यानसस्तरस्तव, ३ सक्षेप-प्रत्या-ख्यान, ४. सामाचार, ५ पचाचार, ६. पिण्डशुद्धि, ७. षडावश्यक, ८. द्वादशानुप्रेक्षा, ९. अनगारभावना, १० समयसार, ११ शीलगुण और १२. पर्याप्ति ।

प्रथम अधिकार मे कुल ३६ गाथा है। आगे क्रम से ७१, १४, ७६, २२२, ८३, १९३, ७६, १२४, १२५, २६ और २०६ है । इस तरह कुल गाथाये १२५२ है ।

श्री मेघचन्द्राचार्य ने भी ये ही १२ अधिकार माने है । अन्तर इतना ही है कि उसमे आठवाँ अधिकार अनगार भावना है और नवम द्वादशानुप्रेक्षा। ऐसे ही ११वां अधिकार पर्याप्ति है । पुन. १२वें मे शीलगुण को लिया है । इसमे गाथाओ की संख्या क्रम से ४५, १०२, १३, ७७, २५१, ७८, २१८, १२८, ७५, १६०, २३७ और २७ है।

कहीं-कहीं यह बात परिलक्षित होती है कि श्री मेघचन्द्राचार्य ने जो गाथायें अधिक ली हैं, वे श्री वसुनन्दि आचार्य को भी मान्य थीं।

षडावश्यक अधिकार में अरहंत नमस्कार की गाथा है। यथा—

अरहंत णमोक्कार भावेण य जो करेदि पयदमदि।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण ॥५॥

इस गाथा को दोनों टीकाकारों ने अपनी-अपनी टीका में यथास्थान लिया है। आगे सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार की भी ऐसे ही ज्यो की त्यों गाथाएँ हैं। मात्र प्रथम पद अरहंत के स्थान पर सिद्ध, आचार्य आदि बदला है। उन चारों गाथाओं को वसुनन्दि आचार्य ने अपनी टीका में छायारूप से ले लिया है। तथा मेघचन्द्राचार्य ने चारों गाथाओं को ज्यों की त्यों लेकर टीका कर दी। इसलिए ये चार गाथाएँ वहाँ अधिक हो गयी और वट्टकेर-कृत कृति में कम हो गयी। षडावश्यक अधिकार में अरिहत नमस्कार की एक और गाथा आयी है जिसे मेघचन्द्राचार्य ने इसी प्रकरण में क्रमांक ५ पर ली है जबकि श्री वसुनन्दि आचार्य ने आगे क्रमांक ६५ (प्रस्तुत कृति में गाथा क्र० ५६४) पर ली है। वह गाथा है—

"अरिहंति वंदणणमसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमण अरहंता तेण उच्चंति ॥५६४॥

सिद्ध परमेष्ठी आदि का लक्षण करने के बाद श्री मेघचन्द्राचार्य ने सिद्धों को नमस्कार आदि की जो गाथाएँ ली हैं उनकी ज्यो की त्यो छाया श्री वसुनन्दि आचार्य ने अपनी टीका मे ही कर दी है और गाथाएँ नहीं ली हैं। एक उदाहरण देखिए—

सिद्धाण णमोक्कार भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण[1] ॥६॥

श्री वट्टकेरकृत प्रति में—

"तस्मात् सिद्धत्वयुक्तानां सिद्धाना नमस्कारं भावेन य. करोति प्रयत्न-
मति स सर्वदु:खमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति[2] ॥

इस प्रकरण से यह निश्चय हो जाता है कि मेघचन्द्राचार्य ने जो अधिक गाथाएँ ली है वे क्षेपक या अन्यत्र से संकलित नही हैं प्रत्युत मूलग्रन्थकर्ता की ही रचनाएँ हैं। आगे एक-दो ऐसे ही प्रकरण और हैं।

इस आवश्यक अधिकार में आगे पार्श्वस्थ, कुशील आदि पाँच प्रकार के शिथिल-चारित्री मुनियो के नाम आये हैं। उनके प्रत्येक के लक्षण पाँच गाथाओ में किये गये हैं। मेघ-चन्द्राचार्य कृत टीका की प्रति मे वे गाथाएँ हैं, किन्तु वसुनन्दि आचार्य ने अपनी टीका में ही उन पाँचो के लक्षण ले लिये हैं। उदाहरण के लिए देखिये मेघचन्द्राचार्य टीका की प्रति में—

---

१. श्री कुन्दकुन्द कृत मूलाचार, पृ २६४।

२. श्री वट्टकेरकृत मूलाचार, पृ. ३६६। (प्रस्तुत कृति, पृ. ३८७)

पासत्थो य कुसीलो ससत्तो सण्णमिगचरित्तो य ।
दसणणाण चरित्ते अणिउत्ता मदसवेगा ॥११३॥
बसहीसु य पडिबद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ ।
पासत्थो समणाण पासत्थो णाम सो होइ ॥११४॥
कोहादि कलुसिदप्पा वयगुणसीलेहि चाबि परिहीणो ।
सघस्स अयसकारी कुसील समणोत्ति णायव्वो ॥११५॥
वेज्जेण व मतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिबद्धो ।
राजादि सेवतो ससत्तो णाम सो होई ॥११६॥
जिणवयण मयाणतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्टो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्ण सेवाओ ॥११७॥
आइरियकुल मुच्चा विहरदि एगागिणो य जो समणो ।
जिणवयण णिदतो सच्छदो होइ मिगचारी[1] ॥११८॥

वसुनन्दि आचार्य ने इसे टीका मे इस प्रकार दिया है—

"सयतगुणेभ्य पार्श्वे अभ्यासे तिष्टतीति पार्श्वस्थ वसतिकादि प्रतिबद्धो मोहबहुलो रात्रिदिवमुपकरणाना कारको असयतजनसेवी सयतजनेभ्यो दूरीभूत । कुत्सित शील आचरण स्वभावो यस्यासौ कुशील. क्रोधादिकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीन सघस्यायश करणकुशल । सम्यगसयतगुणेष्वाशक्त सशक्त (ससक्त) आहारादि-गृद्धया वैद्यमत्रज्योतिषादिकुशलत्वेन प्रतिबद्धो राजादिसेवातत्पर । ओसण्णो अपगतसज्ञो अपगता विनष्टा सज्ञा सम्यग्ज्ञानादिक यस्यासौ अपगतसज्ञश्चारित्राद्यप-हीनो जिनवचनमजानचारित्रादिप्रभ्रष्ट करणालस सासारिकसुखमानस. । मृगस्येव पशोरिव चरित्रमाचरण यस्यासौ मृगचरित्र परित्यक्ताचार्योपदेश स्वच्छन्द-गतिरेकाकी जिनसूत्रदूषणस्तप.सूत्राद्यविनीतो धृतिरहितश्चेत्येते पचपार्श्वस्था दर्शनज्ञानचारित्रेषु अनियुक्ताश्चारित्राद्यननुष्ठानपरा मदसवेगास्तीर्थधर्माद्यकृतहर्षा सर्वदा न वदनीया इति[2] ॥९६॥

यह प्रकरण भी उन अधिक गाथाओ को मूलाचार के कर्ता की ही सिद्ध करता है। एक और प्रकरण देखिए—इसी मे—समयसार नामक अधिकार मे गाथाएँ—

पुढविकाइगा जीवा पुढवि जे समस्सिदा ।
दिट्ठा पुढविसमारभे धुवा तेसि विराधणा ॥१२०॥
आउकायिगा जीवा आऊ जे समस्सिदा ।
दिट्ठा आउसमारभे धुवा तेसि विराधणा ॥१२१॥
तेउ कायिगा जीवा तेउ जे समस्सिदा ।
दिट्ठा तेउसमारभे धुवा तेसि विराधणा ॥१२२॥

---

१. मूलाचार श्री कुन्दकुन्द कृत, पृ. ३०५ से ३०७ ।

२. मूलाचार वट्टकेराचार्य कृत, पृ. ४०५ । (प्रस्तुत कृति, पृ ४३६)

वाउकायिगा जीवा वाउं जे समस्सिदा ।
दिट्ठा वाउसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा ॥१२३॥
वणप्फदिकायिगा जीवा वणप्फदिं जे समस्सिदा ।
दिट्ठा वणप्फदिसमारंभे धुवा तेसिं विराधणा ॥१२४॥
जे तसकायिगा जीवा तस जे समस्सिदा ।
दिट्ठा तससमारंभे धुवा तेसिं विराधणा[1] ॥१२५॥

श्री वसुनन्दि आचार्य ने 'पुढविकायिगा जीवा' यह प्रथम गाथा ली है। उसी की टीका मे आगे की पाँचों गाथाओं का भाव दे दिया है। गाथा में किंचित् अन्तर है जो इस प्रकार है—

पुढवीकायिगजीवा पुढवीए चावि अस्सिदा संति ।
तम्हा पुढवीए आरंभे णिच्च विराहणा तेसिं ॥११६॥

टीका—"पृथिवीकायिकजीवास्तद्वर्णगंधरसाः सूक्ष्माः स्थूलाश्च तदाश्रिताश्चान्ये जीवास्त्रसा शेषकायाश्च संति तस्मात्तस्याः पृथिव्या विराधनादिके खननदहनादिके आरंभे आरंभसमारंभसंरंभादिके च कृते निश्चयेन तेषा जीवानां तदाश्रितानां प्राण-व्यपरोपणं स्यादिति । एवमप्कायिक-तेजःकायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक-त्रसकायिकाना तदाश्रितानां च समारंभे ध्रुवं विराधनादिकं भवतीति निश्चेतव्यम् ।[2]

इसी प्रकार और भी गाथाएँ हैं—

तम्हा पुढविसमारंभो दुविहो तिविहेण वि ।
जिणमग्गाणुचारीण जावज्जीवं ण कप्पदि ॥११७॥

वसुनन्दि आचार्य ने मात्र इसी गाथा की टीका में लिखा है—

"एवमप्तेजोवायुवनस्पतित्रसानां द्विप्रकारेऽपि समारंभे अवगाहनसेचनज्वालनतापन-बीजनमुखवातकरणच्छेदन तथणादिकं न कल्प्यते जिनमार्गानुचारिण इति ।"

किन्तु मेघचन्द्राचार्य कृत टीका की प्रति मे 'तम्हा आउसमारम्भो' आदि से लेकर पाँच गाथाएँ स्वतन्त्र ली है ।

ऐसे ही इन गाथाओं के बाद गाथा है—

जो पुढविकाइजीवे ण वि सद्दहदि जिणेहिं णिद्दिट्ठे ।
दूरत्थो जिणवयणे तस्स उवट्ठावणा णत्थि ॥११८॥

मेघचन्द्राचार्य कृत टीका की प्रति में इसके आगे भी 'जो आउकाइ जीवे' आदि से 'जो तसकाइगे जीवे' तक पाँच गाथाएँ है । किन्तु वसुनन्दि आचार्य ने उसी 'पृथिवीकायिक' जीव सम्बन्धी गाथा की टीका मे ही सबका समावेश कर लिया है ।

---

१. मूलाचार कुन्दकुन्दकृत, पृ. ४७३-७४ ।
२. मूलाचार द्वितीय भाग, पृ. १४७ ।

पुनरपि गाथा आगे है—

जो पुढविकाइजीवे अइसद्दहदे जिणेहि पण्णत्ते।
उवलद्धपुण्णपावस्स तस्सुवट्ठावणा अत्थि ॥११६॥

इसके बाद भी कर्णाटक टीका की प्रति में 'जो आउकाइगे जीवे' आदि से—'जो तसकाइगे जीवे' पर्यंत पाँच गाथाएँ हैं। किन्तु वसुनन्दि आचार्य ने इस गाथा की टीका में इन पाँच गाथाओं का अर्थ ले लिया है—

"एवमप्कायिक-तेज कायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिक-त्रसकायिकास्तदाश्रितांश्च य श्रद्दधाति मन्यते अभ्युपगच्छति तस्योपलब्धपुण्यपापस्योपस्थाना विद्यते इति[1]।

पुनरपि आगे गाथा है—

ण सद्दहदि जो एदे जीवे पुढविद गदे।
स गच्छे दिग्घमद्धाण लिंगत्थो वि हु दुम्मदि ॥१२०॥

इसके आगे भी श्री मेघचन्द्राचार्य की टीका मे अप्कायिक आदि सम्बन्धी पाँच गाथाएँ हैं जबकि वसुनन्दि आचार्य ने इनकी टीका मे ही सबको ले लिया है।

आगे इसी प्रकार से एक गाथा है—

जद तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णव ण वज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥१२३॥

मेघचन्द्राचार्य कृत टीका की प्रति मे इसके आगे छह गाथाएँ और अधिक हैं—

जद तु चिट्ठमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णव ण वज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥१५२॥

जद तु आसमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णव ण वज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥१५३॥

जद तु सयमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णव ण वज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥१५४॥

जद तु भुजमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णव ण वज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥१५५॥

जद तु भासमाणस्स दयापेक्खिस्स भिक्खुणो।
णव ण वज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥१५६॥

दव्व खेत्त कालं भाव च पडुच्च तह य सघडण।
चरणम्हि जो पवट्टइ कमेण सो णिरवहो होइ[2] ॥१५७॥

---

१. मूलाचार द्विभाग, पृ. १४८।
२. मूलाचार कुन्दकुन्द कृत, पृ १८०, १८१।

श्री वसुनन्दि आचार्य ने अपनी १२३वीं गाथा की टीका मे सबका अर्थ ले लिया है। यथा—

"एव यत्नेन तिष्ठता यत्नेनासीनेन शयनेन यत्नेन भुंजानेन यत्नेन भाषमाणेन नवं कर्म न बध्यते चिरतन च क्षीयते तत. सर्वथा यत्नाचारेण भवितव्यमिति[1] ।"

यही कारण है कि वसुनन्दि आचार्य ने उन गाथाओं का भाव टीका में लेकर सरलता की दृष्टि से गाथाएँ छोड़ दी है, किन्तु कर्णाटक टीकाकार ने सारी गाथाएँ रक्खी हैं।

आवश्यक अधिकार में नौ गाथाएँ ऐसी है जिनकी द्वितीय पक्ति सदृश है, वही वही पुनरपि आती है। वसुनन्दि आचार्य ने दो गाथाओं को पूरी लेकर आगे सात गाथाओं में द्वितीय पंक्ति छोड़ दी है—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामायिय ठादि इदि केवलिसासणे ।।२४।।
जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामायिय ठादि इदि केवलिसासणे ।।२५।।
जस्स रागो य दोसो य वियडि ण जणेंति दु ।।२६।।
जेण कोधो य माणो य माया लोभो य णिज्जिदो ।।२७।।
जस्स सण्णा य लेस्सा य वियडि ण जणति दु ।।२८।।
जो दुरसेय फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा ।।२९।।
जो रूवगधसद्दे य भोगे वज्जदि णिच्चसा ।।३०।।
जो दु अट्ठ च रूच्छ च झाण झायदि णिच्चसा ।।३१।।
जो दु धम्म च सुक्क च झाणे झायदि णिच्चसा ।।३२।।

अन्तिम नवमी गाथा की टीका में कहा है—

··· "यस्तु धर्म चतुष्प्रकार शुक्ल च चतुष्प्रकार ध्यान ध्यायति युनक्ति तस्य सर्वकाल सामायिक तिष्ठतीति, केवलिशासनमिति सर्वत्र सम्बन्धो द्रष्टव्य इति[2] ।"

इस प्रकरण मे टीकाकार ने स्वय स्पष्ट कर दिया है कि "तस्स सामायियं ठादि इदि केवलि सासणे ।" यह अर्थ सर्वत्र लगा लेना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ-जहाँ गाथाएँ वैसी-वैसी ही आती थी, टीकाकार उन्हे छोड देते थे, और टीका मे ही उनका अर्थ खोल देते थे। इसलिए कर्णाटक टीका मे प्राप्त अधिक गाथाएँ मूल ग्रन्थकार की ही हैं, इस विषय मे कोई सदेह नही रह जाता है।

जितने भी ये उद्धरण दिए गये हैं, इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'मूलाचार' ग्रन्थ एक है, उसके टीकाकार दो है।

---

१. मूलाचार बट्टकेरकृत, द्वि भाग, पृ १५०।
२. मूलाचार बट्टकेर कृत, पृ. ४११।

श्री मट्टकेरकाचार्य विरचित 'मूलाचार', जिसमे आचार्य वसुनन्दि द्वारा रचित टीका संस्कृत में ही है, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से वीर सवत् २४४६ में प्रकाशित हुआ है। इसका उत्तरार्ध भी मूल के साथ ही वीर सवत् २४४६ में उसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है।

वीर सवत् २४७१ (सन् १६४४) मे जब चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्ति सागर जी ने पं० जिनदास फडकुले को एक मूलाचार की प्रति हस्तलिखित दी थी, जिसमे कन्नड़ टीका थी, स्वय प० जिनदास जी ने उसी मूलाचार की प्रस्तावना में लिखा है—"इस मूलाचार का अभिप्राय दिखानेवाली एक कर्नाटक भाषा टीका हमको चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज ने दी थी। उसमे यह मूलाचार ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित है, ऐसा प्रति अध्याय की समाप्ति में लिखा है, तथा प्रारम्भ मे एक श्लोक तथा गद्य भी दिया है। उस गद्य से भी यह ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत है ऐसा सिद्ध होता है।"[1] ...यह कर्नाटक टीका श्री मेघचन्द्राचार्य ने की है। आगे अपनी प्रस्तावना मे पण्डित जिनदास लिखते है कि "हमने कनडी टीका की पुस्तक सामने रखकर उसके अनुसार गाथा का अनुक्रम लिया है, तथा वसुनन्दि आचार्य की टीका का प्राय. भाषान्तर इस अनुवाद मे आया है"[2]।

पण्डित जिनदास फडकुले द्वारा हिन्दी भाषा मे अनूदित कुन्दकुन्दाचार्य विरचित यह मूलाचार ग्रन्थ चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री की प्रेरणा से ही आचार्य शान्तिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था, फलटण से वीर सवत् २४८४ मे प्रकाशित हुआ है।

मैने मूलाचार ग्रन्थ के अनुवाद के पूर्व भी श्री वट्टकेराचार्य कृत मूलाचार और इस कुन्दकुन्द कृत मूलाचार का कई बार स्वाध्याय किया था। अपनी शिष्या आर्यिका जिनमती को वट्टकेर कृत मूलाचार की मूल गाथाएँ पढाई भी थी। पुन सन् १६७७ मे जब हस्तिनापुर मे प्रात इसका सामूहिक स्वाध्याय चलाया था, तब श्री वसुनन्दि आचार्य की टीका का वाचन होता था। यह ग्रन्थ और उसकी यह टीका मुझे अत्यधिक प्रिय थी। पण्डित जिनदास द्वारा अनूदित मूलाचार मे बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण अश नही आ पाये है यह बात मुझे ध्यान मे आ जाती थी। अत शब्दश टीका का अनुवाद पुनरपि हो इस भावना से तथा अपने चरणानुयोग के ज्ञान को परिपुष्ट करने की भावना से मैने उन्ही स्वाध्यायकाल के दिनो मे इस महाग्रन्थ का अनुवाद करना शुरू कर दिया। वैशाख वदी २, वीर सवत् २५०३ मे मैने अनुवाद प्रारम्भ किया था। जिनेन्द्रदेव के कृपाप्रसाद से, बिना किसी विघ्न बाधा के, अगले वैशाख सुदी ३ अक्षय तृतीया वीर सवत् २५०४ दिनाक १०-५-१६७८ दिन बुधवार को हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र पर ही इस अनुवाद को पूर्ण किया है।

इसके अनुवाद के समय भी तथा पहले भी 'मूलाचार दो है, एक श्री कुन्दकुन्द-विरचित, दूसरा श्री बट्टकेर विरचित' यह बात बहुचर्चित रही है। किन्तु मैंने अध्ययन-मनन

---

१. मूलाचार श्रीकुन्दकुन्दकृत की प्रस्तावना, पृ १४

२. वही, पृ १६

और चिन्तन से यह निष्कर्ष निकाला है कि मूलाचार एक ही है, इसके कर्ता एक है किन्तु टीकाकार दो है।

जो कर्नाटक टीका और उसके कर्ता श्री मेघचन्द्राचार्य है वह प्रति मुझे प्रयास करने पर भी देखने को नही मिल सकी है। पण्डित जिनदास फडकुले ने जो अपनी प्रस्तावना में उस प्रति के कुछ अश उद्धृत किये हैं, उन्ही को मैंने उनकी प्रस्तावना से ही लेकर यहाँ उद्धृत कर दिया है। यहाँ यह बात सिद्ध हुई कि—

श्री कुन्दकुन्द कृत मूलाचार मे गाथाएँ अधिक है। कही-कही गाथाये आगे पीछे भी हुई है, और किन्ही गाथाओ मे कुछ अन्तर भी है। दो टीकाकारो से एक ही कृति मे ऐसी बातें अन्य ग्रन्थो मे भी देखने को मिलती है।

श्री कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय मे भी यही बात है। प्रसगवश देखिए समयसार आदि मे दो टीकाकारो से गाथाओ मे अन्तर—

श्री कुन्दकुन्द के समयसार ग्रन्थ की वर्तमान मे दो टीकाएँ उपलब्ध है। एक श्री अमृतचन्द्र सूरि द्वारा रचित है, दूसरी श्री जयसेनाचार्य ने लिखी है। इन दोनो टीकाकारो ने गाथाओ की सख्या मे अन्तर माना है। कही-कही गाथाओ मे पाठभेद भी देखा जाता है। तथा किंचित् कोई-कोई गाथाएँ आगे-पीछे भी है। संख्या मे श्री अमृतचन्द्र सूरि ने चार सौ पन्द्रह (४१५) गाथाओ की टीका की है। श्री जयसेनाचार्य ने चार सौ उनतालीस (४३९) गाथाएँ मानी है। यथा—"इति श्री कुन्दकुन्ददेवाचार्य-विरचित-समयसारप्राभृताभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीजयसेनाचार्यकृता दशाधिकारैरेकोनचत्वारिशदधिकगाथाश्चतुष्टयेन तात्पर्यवृत्ति समाप्ता।"

गाथाओ मे किंचित् अन्तर भी है। यथा—

एवविहा बहुविहा परमप्पाण वदति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

श्री जयसेनाचार्य ने तृतीय चरण मे अन्तर माना है। यथा—

तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिछिट्ठा ॥

अधिक गाथाओ के उदाहरण देखिए—

अज्झवसाणणिमित्त…यह गाथा क्रमाक २६७ पर अमृतचन्द्रसूरि ने रखी है। इसे श्री जयसेनाचार्य ने क्रमाक २८० पर रखी है। इसके आगे पाँच गाथाएँ अधिक ली है। वे है—

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एव तु ज मदि कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८१॥

वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एव तु ज मदि कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८२॥

मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एव तु ज मदि कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८३॥

सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एव तु ज मदि कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥२८४॥

इसी तरह सादृश्य लिये हुए अनेक गाथाएँ एक साथ कुन्दकुन्ददेव रखते हैं। जैसे—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥

इसी तरह की ८ गाथाये और है ।

इसी प्रकार से प्रवचनसार ग्रन्थ मे श्री अमृतचन्द्रसूरि ने २७५ गाथाओ की टीका रची है। श्री जयसेनाचार्य ने इस ग्रन्थ मे भी तीन सो ग्यारह (३११) गाथाओ की टीका की है। यथा—

"इति श्रीजयसेनाचार्यकृताया तात्पर्यवृत्तौ एव पूर्वोक्तक्रमेण "एस सुरासुर··" इत्याद्येकोत्तरशतगाथापर्यन्त सम्यग्ज्ञानाधिकार, तदनन्तर "तम्हा तस्स णमाई इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यन्त ज्ञेयाधिकारापरनाम सम्यक्त्वाधिकार, तदनन्तरं "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्त चारित्राधिकारश्चेति महाधिकार-त्रयेणैकादशाधिक-त्रिशतगाथाभि प्रवचनसार प्राभृत समाप्त[1]।"

इस ग्रन्थ मे जयसेनाचार्य ने जो अधिक गाथाएँ मानी है, उन्हे अन्य आचार्य भी श्री कुन्दकुन्द कृत ही मानते रहे है। जैसे—

तेजो दिट्ठी णाण इड्ढी सोक्ख तहेव ईहरिय ।
तिहुवण पहाण दइय माहप्प जस्स सो अरिहो ॥

इस गाथा को नियमसार ग्रन्थ की टीका करते समय श्री प्रज्ञप्रभ मलधारीदेव ने भी लिया है। यथा—

तथा चोक्त श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवै[2]—
तेजो दिट्ठी णाण इड्ढी सोक्ख· ····।

श्री जयसेनाचार्य प्रत्येक अधिकार के आरम्भ मे और अन्त मे गाथाओ की संख्या और उनका सन्दर्भ बार-बार देते रहते है। यह बात उनकी टीका को पढ़नेवाले अच्छी तरह समझ लेते है। ऐसे ही पचास्तिकाय मे भी श्री अमृतचन्द्रसूरि ने १७३ गाथाओ की टीका रची है, तथा श्री जयसेनाचार्य ने १८१ गाथाओ की टीका लिखी है।

इन तीनो ग्रन्थो मे श्री अमृतचन्द्रसूरि ने उन गाथाओं को क्यो नही लिया है, उन्हें

---

१. प्रवचनसार, पृ. ६३७
२. नियमसार, गाथा ७ की टीका, पृ. १८

टीका करते समय जो प्रतियाँ मिलीं उनमें उतनी ही गाथाएँ थी या अन्य कोई कारण था, कौन जाने !

श्री जयसेनाचार्य ने तो प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ और समाप्ति के समय बहुत ही जोर देकर उन अधिक गाथाओं को श्री कुन्दकुन्ददेव कृत सिद्ध किया है। 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ का उदाहरण देखिए—

प्रथमतस्तावत् "इदसयवदियाण" मित्यादिपाठक्रमेणेकादशोत्तरशतगाथाभि. पचास्तिकाय-षड्द्रव्य-प्रतिपादनरूपेण प्रथमो महाधिकार, अथवा स एवामृतचन्द्र-टीकाभिप्रायेण त्र्यधिकशतपर्यन्तश्च। तदनन्तरं "अभिवदिऊण सिरसा" इत्यादि पचाशद्गाथाभि सप्ततत्त्व-नवपदार्थ-व्याख्यानरूपेण द्वितीयो महाधिकार, अथ च स एवामृतचन्द्र-टीकाभिप्रायेणाष्टाचत्वारिंशद्-गाथापर्यन्तश्च। अथानन्तर जीव-स्वभावो इत्यादि विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्ग-मोक्षस्वरूपकथनमुख्यत्वेन तृतीयो महाधिकार, इति समुदायेनेकाशीत्युत्तरशतगाथाभिर्महाधिकारत्रयं ज्ञातव्य[1]।"

यह तो प्रारम्भ में भूमिका बनायी है फिर एक-एक अतराधिकार मे भी इसी प्रकार गाथाओं का स्पष्टीकरण करते है—

प्रथम अधिकार के समापन में देखिए—

"अत्र पचास्तिकायप्राभृतग्रन्थे पूर्वोक्तक्रमेण सप्तगाथाभि समयशब्द-पीठिका चतुर्दशगाथाभिर्द्रव्यपीठिका, पचगाथाभिर्निश्चयव्यवहारकालमुख्यता, त्रिपंचाशद्-गाथाभिर्जीवास्तिकायव्याख्यान, दशगाथाभि पुद्गलास्तिकाय-व्याख्यान, सप्तगाथा-भिर्धर्मास्तिकायद्वयविवरण, सप्तगाथाभिराकाशास्तिकाय-व्याख्यान, अष्टगाथाभि-श्चूलिकामुख्यत्वमित्येकादशोत्तर-गाथाभिरष्टातराधिकारा गता[2]।"

इस ग्रन्थ के अन्त मे श्री जयसेनाचार्य लिखते है—

"इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ प्रथमतस्तावदेकादशोत्तरशत-गाथा-भिरष्टभिरन्तराधिकारैं, तदनन्तर पचाशत-गाथाभिर्दशभिरन्तराधिकारैर्नव-पदार्थ-प्रतिपादकाभिधानो द्वितीयो महाधिकार, तदनन्तर विंशतिगाथाभिर्द्वादशस्थलैर्मोक्ष-स्वरूप-मोक्षमार्गप्रतिपादकाभिधानस्तृतीय महाधिकारश्चेत्यधिकारत्रयसमुदायेनै-काशीत्युत्तरशतगाथाभि पचास्तिकायप्राभृत समाप्त[3]।"

जैसे इन ग्रन्थों मे दो टीकाकार होने से गाथाओं की सख्या मे अन्तर आ गया है, वैसे ही प्रस्तुत मूलाचार मे है यह बात निश्चित है। इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो आचार्यों के नाम से दो जगह से प्रकाशित 'मूलाचार' ग्रन्थ एक ही है, एक ही आचार्य की रचना है।

---

१. पचास्तिकाय, पृ. ६

२. पंचास्तिकाय, पृ. १६६

३. पंचास्तिकाय, पृ. २५५

श्री कुन्दकुन्दाचार्य और वट्टकेराचार्य

श्री वट्टकेर आचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य ये दोनो इस मूलाचार के रचयिता हैं या फिर दोनों मे से कोई एक हैं, या ये दोनो एक ही आचार्य हैं—इस विषय पर यहाँ कुछ विचार किया जा रहा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के निर्विवाद सिद्ध समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है। समयसार में एक गाथा आयी है—

"अरसमरूवमगधमव्वत्त चेदनाणुणमसद्द।
जाण अलिंगग्गहृण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥४६॥

यही गाथा प्रवचनसार में क्रमांक १८ पर आयी है। नियमसार मे क्रमाक ४६ पर है। पंचास्तिकाय में क्रमाक १२७ पर है, और भावपाहुड मे यह ६४वी गाथा है।

इसी तरह समयसार की एक गाथा है—

"आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे सवरे जोगे ॥२७७॥

यही गाथा नियमसार मे १०० नम्बर पर है और भावसग्रह मे ५८वे नम्बर पर है।

इसी प्रकार से ऐसी अनेक गाथाएँ है जो कि इनके एक ग्रन्थ मे होकर पुन. दूसरे ग्रन्थ में भी मिलती हैं।

इसी तरह—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपाव च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्त ॥१५॥

यह गाथा समयसार में १५वी है। मूलाचार मे भी यह गाथा दर्शनाचार का वर्णन करते हुए पांचवें अध्याय में छठे क्रमाक पर आयी है। "आदा खु मज्झ णाणे" यह गाथा भी मूलाचार में आयी है।

रागो बधइ कम्म मुच्चइ जीवो विरागसपण्णो।
एसो जिणोवदेसो समासदो बधमोक्खाण ॥५०॥

यह गाथा मूलाचार के अध्याय ५ मे है। यही गाथा किंचित् बदलकर समयसार मे है। अन्तिम चरण में "तम्हा कम्मेसु मा रज्ज" ऐसा पाठ बदला है। नियमसार ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्ददेव की रचना है। यह ग्रन्थ मुनियो के व्यवहार और निश्चय चारित्र का वर्णन करता है। इसमे व्यवहार चारित्र अति सक्षिप्त है—गौण है, निश्चयचारित्र ही विस्तार से है, वही मुख्य है। इस ग्रन्थ में अनेक गाथाएँ ऐसी है जो कि मूलाचार में ज्यो की त्यो पायी जाती हैं। यथा नियमसार मे—

मू. गा. क्र.

१. ज किंचि मे दुच्चरियं सव्व तिविहेण वोस्सरे।
सामाइय च तिविह करेमि सव्वं णिरायार ॥१०२॥ (३९)

मू. गा. क्र.

२. सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झ ण केण वि ।
आसाए वोसरित्ताण समाहिं पडिवज्जए ॥४२॥ (४२)

३. ममत्तिं परिवज्जामि णिममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबण च मे आदा अवसेसाइ वोस्सरे[1] ॥ ॥ (४५)

४. एगो य मरइ जीवो एगो य जीवदि सय ।
एगस्स जादिमरण एगो सिज्झइ णीरओ[2] ॥१०१॥ (४७)

५. एओ मे सासओ अप्पा णाणदसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा[3] ॥१०२॥ (४८)

६ णिक्कसायस्स दतस्स सूरस्स ववसाइणो ।
ससार-भयभीदस्स पच्चक्खाण सुह हवे ॥१०५॥ (१०४)

७. मग्गो मग्गफल त्ति य दुविह जिणसासणे समक्खादो ।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फल होइ णिव्वाण[4] ॥२॥ (मू. अ. ५, गा. ४)

८. जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि त मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्ती वा मोण वा होदि वचिगुत्ती ॥६९॥ (मू. अ. ५, गा. १३५)

९ कायकिरियाणियत्ती काउसग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि सेसा ॥७०॥ (मू. अ. ५, गा. १३६)

१० ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासयति बोधव्वा ।
जुत्तित्ति उवासयत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ॥१४२॥ (मू. अ. ७, गा. १४)

११. विरदो सव्वसावज्ज तिगुत्तो पिहिदिओ ।
तस्स सामाइग ठादि इदि केवलिसासणे[5] ॥१२५॥ (मू. अ. ७, गा. २३)

१२. जस्स सण्णिहिदो अप्पा सजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइग ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२६॥ (मू. अ, ७, गा. २४)

१३ जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामायिग ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२७॥ (मू. अ. ७, गा. २५)

१४. जस्स रागो य दोसो य वियडि ण जणेंति दु ।
तस्स सामायिग ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२८॥ (मू. अ. ७, गा. २६)

---

१. भावप्राभृत, गा. ५७ ।

२. भावप्राभृत एव मूलाचार मे इस गाथा मे कुछ अन्तर है ।
"एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ । एयस्स जाइमरण एओ सिज्झइ णीरओ ।"

३. भावप्राभृत, गाथा ५९ ।

४. इसमे कुछ अन्तर है—मग्गो खलु सम्मत्त मग्गफलं होई णिव्वाणं ॥ मूलाचार मे ऐसा अन्तर है ।

५. जीवो सामाइय णाम सजमट्ठाणमुत्तम ॥२३॥

१५. जो दु अट्ठं च रुद्दं च झाण वज्जदि णिच्चसा।
तस्स सामाइय ठादि इदि केवलिसासणे ॥१२६॥ (मू. अ. ७, गा. ३१)

१६. जो दु धम्म च सुक्क च झाणे झायदि णिच्चसा।
तस्स सामायिग ठादि इदि केवलिसासणे ॥१३३॥ (मू. अ. ७, गा. ३२)

इन गाथाओ से अतिरिक्त और भी गाथाएँ पाहुड ग्रन्थ में मिलती हैं।

जैसे— "जिणवयणमोसहमिण विसयसुहविरेयण अमिदभूदं।
जरमरणवाहिवेयण खयकरण सव्वदुक्खाण[1] ॥६५॥"

यह गाथा मूलाचार में है और दर्शन पाहुड मे भी है।

मूलाचार श्री कुन्दकुन्ददेव की कृति है, इसके लिए एक ठोस प्रमाण यह भी है कि उन्होंने 'द्वादशानुप्रेक्षा' नाम से एक स्वतन्त्र रचना की है। मूलाचार मे भी द्वादशानुप्रेक्षाओ का वर्णन है। प्रारम्भ की दो गाथाएँ दोनों जगह समान है।

यथा— "सिद्धे णमसिदूण य झाणुत्तमखविय दीहससारे।
दह दह दो दो य जिणे दह दो अणुपेहणा वुच्छ ॥१॥ मू अ ८
अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण समारलोगमसुचित्त।
आसवसवरणिज्जर धम्म बोहिं च चितेज्जो ॥२॥ मू. अ ८

अर्थ—जिन्होने उत्तम ध्यान के बल से दीर्घ ससार को नष्ट कर दिया है ऐसे सिद्धों को तथा दश, दश, दो और दो ऐसे १० + १० + २ + २ = २४ जिन-तीर्थंकरो को नमस्कार करके मैं दस, दो अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षाओं को कहूँगा। अध्रुव, अशरण, एकत्त्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म और बोधि ये १२ अनुप्रेक्षा के नाम है। वर्तमान मे तत्त्वार्थसूत्र महाग्रन्थ के आधार से बारह अनुप्रेक्षाओ का यह क्रम प्रसिद्ध है—१. अनित्य-अध्रुव, २ अशरण ३ ससार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६. अशुचि, ७. आस्रव, ८ सवर ९ निर्जरा, १०. लोक, ११. बोधिदुर्लभ, १२ धर्म। यहाँ मूलाचार में तृतीय 'ससार' अनुप्रेक्षा को पाँचवें क्रम पर रक्खा है। दशवे क्रम की 'लोक' भावना को छठे क्रम पर लिया है। १२वी अनुप्रेक्षा 'धर्म' को ११वे पर तथा ११वी बोधि को १२वे पर लिया है। अथवा यो कहिए कि श्रीकुन्दकुन्ददेव पहले हुए है, उनके समय तक बारह अनुप्रेक्षाओ का यही क्रम होगा। उन्ही के पट्टाधीश श्री उमास्वामी आचार्य बाद मे हुए। उनके समय से क्रम बदल गया होगा। जो भी हो, 'द्वादशानुप्रेक्षा' ग्रन्थ मे इसी क्रम से ही बारह अनुप्रेक्षाओ का विस्तार किया है। तथा मूलाचार मे भी उसी क्रम से अलग-अलग अनुप्रेक्षाओ का वर्णन है। इस प्रकरण से भी यह मूलाचार श्री कुन्दकुन्द कृत है यह बात पुष्ट होती है।

श्री कुन्दकुन्ददेव ने चारित्रपाहुड मे श्रावक के बारह व्रतो मे जो क्रम लिया है, वही क्रम 'यतिप्रतिक्रमण' में श्री गौतमस्वामी द्वारा लिखित है। यथा—

"तत्थ इमाणि पचाणुव्वदाणि .....तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि पढमे गुणव्वदे दिसिविदिसि पच्चक्खाण, विदिए गुणव्वदे विविधअणत्थदंडादो वेरमण, तदिए गुणव्वदे भोगोपभोगपरिसखाण चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।

---

१. दर्शन पाहुड, गाथा १७।

तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे समाइयं, बिदिए पोसहोवासय, तदिए अतिथिसविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिम सल्लेहणामरणं चेदि। इच्चेदाणि चक्खारि सिक्खावदाणि।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ते।
बभारभ परिग्गह अणुमण मुद्दिट्ठ देसविरदो य[1] ॥"

चारित्रपाहुड़ में—

पचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइ हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य सजमचरणं च सायारं ॥२३॥

दिसिविदिसमाण पढमं अणत्थदडस्स वज्जण विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥

सामाइय च पढम विदियं च तेहव पोसह भणिय।
तइय च अतिहिपुज्ज चउत्थ सल्लेहणा अते ॥२६॥

दसण वय सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ते य।
बभारभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२१॥

इस प्रकार से श्री गौतमस्वामी ने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत श्रावक के माने हैं। इसमे से अणुव्रत में तो कोई अन्तर है नहीं, गुणव्रत मे दिश-विदिशप्रमाण, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत है।

दर्शन, व्रत, सामायिकआदि ये ग्यारह प्रतिमा हैं। पूर्व में जैसे श्री गौतमस्वामी ने प्रतिक्रमण मे इनका क्रम रखा है, वही क्रम श्री कुन्दकुन्ददेव ने अपने चारित्रपाहुड ग्रन्थ मे रखा है। इसके अनन्तर उमास्वामी आदि आचार्यों ने गुणव्रत और शिक्षाव्रत मे क्रम बदल दिया है। तथा सल्लेखना को बारह व्रतों से अतिरिक्त में लिया है। इसी प्रकार प्रतिक्रमण मे श्री गौतमस्वामी ने बारह तपों मे जो क्रम रक्खा है, वही क्रम मूलाचार मे देखा जाता है। तथा—"तवायारो बारसविहो, अब्भंतरो छव्विहो बाहिरोछव्विहो चेदि।" तत्थ बाहिरो अणसणं आमोदरियं वित्तिपरिसखा, रसपरिच्चाओ सरीरपरिच्चाओ विवित्त सयणासण चेदि। तत्थ अब्भतरो पायच्छित्तं विणओ वेज्जावच्च सज्झाओ झाणं विउस्सग्गो चेदि[2]।"

तप आचार बारह प्रकार का है, अभ्यन्तर छह प्रकार का और बाह्य छह प्रकार का। उसमे बाह्य तप अनशन, अवमौदर्य, वृत्त परिसख्यान, रस परित्याग, शरीर परित्याग—कायोत्सर्ग और विविक्तशयनासन के भेद वाला है। और अभ्यतर तप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग के भेद से छह भेद रूप है।

---

१. पाक्षिक प्रतिक्रमण (धर्मध्यान दीपक)।
२. पाक्षिक प्रतिक्रमण।

यही क्रम मूलाचार में है--

अणसण अवमोदरिय रसपरिचाओ य वृत्तिपरिसखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासण छट्ठ ॥४६॥ अ. ५
पायच्छित्त विणओ वेज्जावच्च तहेव सज्झाय।
झाण विउस्सग्गो अब्भतरओ तवो एसो ॥१६३॥

इससे यह ध्वनित होता है कि श्री गौतमस्वामी ने बाह्य तपो मे कायोत्सर्ग को पाँचवाँ और विविक्तशयनासन को छठा लिया है। तथा अभ्यन्तर तपो में भी ध्यान को पाँचवाँ और व्युत्सर्ग को छठा कहा है।

इसी क्रम को लेकर मूलाचार मे भी श्री कुन्दकुन्ददेव ने गौतमस्वामी के कथनानुसार ही क्रम रखा है। बाद मे श्री उमास्वामी से तपो के क्रम में अन्तर आ गया है।

प्रतिक्रमण के कुछ अन्य पाठ भी ज्यों के त्यों श्री कुन्दकुन्द की रचना मे पाये जाते हैं—

णिस्सकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठि य।
उवगूहण ठिदिकरण वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ[1] ॥

यह गाथा प्रतिक्रमण में है। यही की यही मूलाचार मे है और चारित्रपाहुड मे भी है।

और भी कई गाथाये हैं, जो 'प्रतिक्रमण' मे है वे ही ज्यो की त्यो मूलाचार मे भी है—

"खम्मामि सव्वजीवाण सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्तीमे सव्वभूदेसु वेर मज्झ ण केण वि ॥४३॥ मूलाचार

रायबध पदोस च हरिस दीणभावय।
उस्सुगत्त भय सोग रदिमरदि च वोस्सरे[2] ॥४४॥

मिच्छत्त वेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भतर गथा[3] ॥२१०॥ मू. अ. ७

इन सभी प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह मूलाचार श्री कुन्दकुन्ददेव की ही रचना है।

अब यह प्रश्न होता है कि तब यह 'वट्टकेर आचार्य' का नाम क्यो आया है। तब ऐसा कहना शक्य है कि कुन्दकुन्ददेव का ही अपरनाम वट्टकेर माना जा सकता है। क्योंकि श्री वसुनन्दि आचार्य ने प्रारम्भ मे तो श्री मद्वट्टकेराचार्य 'श्री वट्टकेराचार्य' नाम लिया है। तथा अन्त में "इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्याय.। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृति.। कृतिरिय वसुनन्दिन. श्रवणस्य।" ऐसा कहा है। इस उद्धरण से तो सदेह को अवकाश ही नही मिलता है।

---

1. प्रतिक्रमण पाक्षिक। मूलाचार अ ५, गाथा ४, चारित्रपाहुड गाथा ७।
2. [दै]वसिक प्रतिक्रमण।
3. [पा]क्षिक प्रतिक्रमण।

पण्डित जिनदास फडकुले ने भी श्री कुन्दकुन्द को ही 'वट्टकेर' सिद्ध किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'परिकर्म' नाम की जो षट्खण्डागम के त्रिखण्डों पर वृत्ति लिखी है, उससे उनका नाम 'वृत्तिकार'—'वट्टकेर' इस रूप से भी प्रसिद्ध हुआ होगा। इसी से वसुनन्दी आचार्य ने आचारवृत्ति (टीका) के प्रारम्भ में (वट्टकेर) नाम का उपयोग किया होगा, अन्यथा उस ही वृत्ति (टीका) के अन्त्य मे वे "कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृत्तिः" ऐसा उल्लेख कदापि नही करते। अत कुन्दकुन्दाचार्य 'वट्टकेर' नाम से भी दि० जैन जगत् मे प्रसिद्ध थे[1]।"

'जैनेन्द्रकोश'[2] मे श्री जिनेन्द्रवर्णी ने भी मूलाचार को श्री कुन्दकुन्ददेव कृत माना है। इसकी रचना शैली भी श्री कुन्दकुन्ददेव की ही है। जैसे उन्होने समयसार और नियमसार मे सदृश गाथाये प्रयुक्त की है। यही शैली मूलाचार मे भी है। यथा—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥

इसी तरह की 'सजओ' 'दसण' आदि पद बदल कर गाथा ३६५ तक १० गाथाये है। ऐसे ही नियमसार मे—

णाह णारय भावो तिरियत्थो मणुवदेपज्जाओ।
कत्ता णाहि कारयिदा अणुमता णेव कत्तीण ॥७७॥

ऊपर की पक्ति बदलकर नीचे की पक्ति ज्यो की त्यों लेकर ८१ तक पाँच गाथायें हैं। आगे ९वे अधिकार मे भी "तस्स सामाइग ठाइ इदि केवलिसासणे।" नौ गाथाओं तक यह पक्ति बार-बार आयी है। इसी तरह मूलाचार मे—

आउकायिगा जीवा आउ जे समस्सिदा।
दिट्ठा आउसमारभे धुवा तेसिं विराधना ॥१२१॥

ऐसे ही 'तेउकायिगा' आदि पद बदल-बदल कर ये ही गाथायें पाच बार आई हैं। आगे भी इसी तरह बहुत सी सदृश गाथायें देखी जाती है जो कि रचना शैली की समानता को सिद्ध करती है।

तथा च—कन्नड भाषा मे टीका करने वाले श्री मेघचन्द्राचार्य ने बार-बार इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्ददेव कृत कहा है। और वे आचार्य दिगम्बर जैनाचार्य होने से स्वय प्रामाणिक हैं। उनके वाक्य स्वय आगमवाक्य है—प्रमाणभूत हैं, उनको प्रमाणित करने के लिए और किसी

---

१. कुन्दकुन्द कृत मूलाचार, प्रस्तावना पृ. १५।

२. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश पृ. १२८।

प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यह मूलाचार श्री कुन्दकुन्ददेव की कृति है, और श्री कुन्दकुन्ददेव का ही दूसरा नाम 'वट्टकेराचार्य' है, यह बात सिद्ध होती है।

जैन इतिहास के माने हुए विद्वान् स्व० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने भी वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित 'पुरातनवाक्य सूची' की प्रस्तावना में मूलाचार को कुन्दकुन्द रचित मानते हुए वट्टकेर और कुन्दकुन्द को अभिन्न दिखलाया है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव

दिगम्बर जैन आम्नाय मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम श्री गणधर देव के पश्चात् लिया जाता है। अर्थात् गणधर देव के समान ही इनका आदर किया जाता है और इन्हे अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। यथा—

> मगल भगवान् वीरो, मगल गौतमो गणी।
> मगल कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मगलम्॥

यह मगल-श्लोक शास्त्र-स्वाध्याय के प्रारम्भ मे तथा दीपावली के बही-पूजन व विवाह आदि के मगल प्रसग पर भी लिया जाता है। ऐसे आचार्य के विषय मे जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के लेखक लिखते है—

"आप अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे। आप अध्यात्म विषय में इतने गहरे उतर चुके थे कि आपके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छ बुद्धि व्यक्तियो की शक्ति के बाहर है। आपके अनेक नाम प्रसिद्ध है। तथा आपके जीवन मे कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्म प्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयों के पारगामी थे और इसीलिए आपने सर्व विषयो पर ग्रन्थ रचे है। आज के कुछ विद्वान् इनके सम्बन्ध मे कल्पना करते है कि इन्हे करणानुयोग व गणित आदि विषयो का ज्ञान न था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्वप्रथम ग्रन्थ षट्-खडागम पर आपने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नही है।

इनके आध्यात्मिक ग्रन्थो को पढकर अज्ञानी जन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को एकदम शुद्ध-बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते है, परन्तु वे स्वय महान् चारित्रवान थे। भले ही अज्ञानी जगत् उन्हे न देख सके, पर उन्होने अपने शास्त्रो में सर्वत्र व्यवहार व निश्चयनयों का साथ-साथ कथन किया है। जहां वे व्यवहार को हेय बताते है वहां उसकी कथंचित् उपादेयता बताये बिना नही रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानी जन उनके शास्त्रो को पढकर सकुचित एकान्तदृष्टि अपनाने के बजाय व्यापक अनेकान्त दृष्टि अपनाये[1]।"

---

१. जैनेन्द्रसिद्धांत कोश भाग २, पृ १२६

यहाँ पर उनके नाम, उनका श्वेताम्बरो के साथ वाद, विदेहगमन, ऋद्धि-प्राप्ति, उनकी रचनाये, उनके गुरु, उनका जन्म स्थान और उनका समय इन आठ विषयो का किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है—

१. नाम—मूलनन्दि सघ की पट्टावली मे पांच नामो का उल्लेख है—

आचार्य. कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ पद्मनन्दीति तन्नुति. ॥

कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनन्दि—मोक्षपाहुड की टीका की समाप्ति में भी ये पाँच नाम दिए गए हैं तथा देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य आदि ने भी इन्हे पद्मनन्दि नाम से कहा है। इनके नामो की सार्थकता के विषय मे प० जिनदास फडकुले ने मूलाचार की प्रस्तावना मे कहा है—इनका कुन्दकुन्द यह नाम कौण्डकुण्ड नगर के वासी होने से प्रसिद्ध है। इनका दीक्षा नाम पद्मनन्दी है। विदेहक्षेत्र मे मनुष्यो की ऊँचाई ५०० धनुष और इनकी वहाँ पर सा ढे तीन हाथ होने से इन्हे समवसरण मे चक्रवर्ती ने अपनी हथेली मे रखकर पूछा—'प्रभो, नराकृति का यह प्राणी कौन है ?' भगवान ने कहा, 'भरतक्षेत्र के यह चारण ऋद्धिधारक महातपस्वी पद्मनन्दी नामक मुनि है' इत्यादि। इसलिए उन्होने इनका एलाचार्य नाम रख दिया। विदेह क्षेत्र से लौटते समय इनकी पिच्छी गिर जाने से गृद्धपिच्छ लेना पडा, अत 'गृद्धपिच्छ' कहलाये। और अकाल मे स्वाध्याय करने से इनकी ग्रीवा टेढ़ी हो गयी तब ये 'वक्रग्रीव' कहलाये। पुन. सुकाल मे स्वाध्याय से ग्रीवा ठीक हो गयी थी।" इत्यादि।

२. श्वेताम्बरों के साथ वाद—गुर्वावली में स्पष्ट है—

"पद्मनन्दि गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी,
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती।
उर्ज्जयतगिरौ तेन गच्छ सारस्वतोऽभवत्,
अतरतस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने।"

बलात्कार गणाग्रणी श्री पद्मनन्दी गुरु हुए है जिन्होने ऊर्जयतगिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ, अत. उन पद्मनन्दी मुनीन्द्र को नमस्कार हो। पाण्डवपुराण मे भी कहा है—

"कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके,
सोऽवदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिका कलौ ॥

जिन्होने कविकाल मे ऊर्जयन्त गिरि के मस्तक पर पाषाणनिर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया। कवि वृन्दावन ने भी कहा है—

संघ सहित श्री कुन्दकुन्द,
गुरु वन्दन हेतु गये गिरनार।
वाद पर्‌यो तह संशयमति सो,
साक्षी बनी अंबिकाकार।
'सत्यपथ निग्रथ दिगम्बर,'
कही सुरी तह प्रगट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे,
विघन हरण मगल करतार।

अर्थात् श्वेताम्बर सघ ने वहाँ पर पहले वन्दना करने का हठ किया तब निर्णय यह हुआ कि जो प्राचीन सत्यपथ के हो वे ही पहले वन्दना करे। तब श्री कुन्दकुन्द देव ने ब्राह्मी की मूर्ति से कहलवा दिया कि "सत्यपथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर" ऐसी प्रसिद्धि है।

३. विदेह गमन—देवसेनकृत दर्शनसार ग्रन्थ सभी को प्रामाणिक है। उसमें लिखा है—

जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण ।

ण विवोहेइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति ।।४३।।

यदि श्री पद्मनन्दीनाथ सीमन्धर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सच्चे मार्ग को कैसे जानते! पचास्तिकाय टीका के प्रारम्भ मे श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—" 'प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमन्धरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवर्णं पुनरप्यागतैः श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः....।" श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्प्राभृत के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति मे "पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवंदितसीमन्धरापर-नाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजनेन ...।" इत्यादिरूप से विदेहगमन की बात स्पष्ट कही है।

४. ऋद्धिप्राप्ति—श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' नामक पुस्तक के चौथे भाग के अन्त मे बहुत-सी प्रशस्तियाँ दी है। उनमें देखिये—

"श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा
ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्द ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्य-
च्चारित्रसजातसुचारणर्द्धि[1] ।।

"वद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्द,
कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताश ।
यश्चारुचारणकराम्बुजचचरीक-
श्चक्रेश्रुतस्य भरते प्रयत प्रतिष्ठाम्[2]।

"श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्य-
स्सत्सयमादुद्गतचारणर्द्धि[3] ।।४।।

"... चारित्र सजातसुचारणर्द्धि[4] ।।४।।

"तद्वशाकाशदिनमणिसीमधरवचनामृतपान
—सतुष्टचित्तश्रीकुन्दकुन्दाचार्याणाम्[5] ।।५।।

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ ३६८
२. पुस्तक वही पृ ३७४
३ पु. वही पृ ३८३
४. पु. वही पृ. ३८७
५. पु वही पृ ४०४

इन पाँचों प्रशस्तियों में श्री कुन्दकुन्द के चारण ऋद्धि का कथन है। जैनेंद्रसिद्धान्त कोश में, तथा शिलालेख न० ६२, ६४, ६६, ६७, २५४, २६१, पृ० २६३, २६६ आदि सभी लेखों से यही घोषित होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे।

४. जैन शिलालेख संग्रह (पृ० १९७-१९८) के अनुसार—

रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्यापि संव्यजयितु यतीश·।
रज पद भूमितल विहाय, चचार मन्ये चतुरगुल स·॥

यतीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेव रज·स्थान को और भूमितल को छोडकर चार अगुल ऊँचे आकाश मे चलते थे। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि वह अन्दर और बाहर में रज से अत्यन्त अस्पष्टपने को व्यक्त करते थे।

हल्ली न० २१ ग्राम हेग्गरे मे एक मन्दिर के पाषाण पर लेख है—"स्वस्ति श्रीवर्द्धमानस्य शासने। श्रीकुन्दकुन्दनामाभूत् चतुरगुलचारणे।" श्री वर्द्धमानस्वामी के शासन मे प्रसिद्ध श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमि से चार अगुल ऊपर चलते थे।

ष० प्रा०। मो० प्रशस्ति। पृ० ३७९ मे उल्लेख है—"नामपचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनदिना ··" नाम पचक विराजित (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने चतुरगुल आकाश गमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगर मे स्थित श्री सीमधरप्रभु की वन्दना की थी।"

भद्रबाहु चरित मे राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नो का फल कहते हुए आचार्य ने कहा है कि "पचमकाल मे चारण ऋद्धि आदि ऋद्धियाँ प्राप्त नही होती।" अतः यहाँ शका होना स्वाभाविक है किन्तु वह ऋद्धि-निषेध कथन सामान्य समझना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि "पचम काल मे ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, तथा पचमकाल के प्रारम्भ मे ऋद्धि का अभाव नही है परन्तु आगे उसका अभाव है ऐसा भी अर्थ समझा जा सकता है। यही बात प० जिनराज फडकुले ने मूलाचार की प्रस्तावना मे कही है।

ये तो हुई इनके मुनि-जीवन की विशेषताये, अब आप इनके ग्रन्थो को देखिए—

५. ग्रन्थ रचनाएँ—कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार आदि ८४ पाहुड़ रचे, जिनमे १२ पाहुड़ ही उपलब्ध है। इस सम्बन्ध मे सर्व विद्वान एकमत है। परन्तु इन्होने षट्खडागम ग्रन्थ के प्रथम तीन खण्डो पर भी एक १२००० श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम की टीका लिखी थी, ऐसा श्रुतावतार मे आचार्य इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि इसके आधार पर ही आगे उनके काल सम्बन्धी निर्णय करने में सहायता मिलती है—

एव द्विविधो द्रव्य भावपुस्तकगबः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञात. सिद्धातः कोण्डकुण्डपुरे ॥१६०॥

श्री पद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाण.।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खडाद्यत्रिखडस्य ॥१६१॥

इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के श्रुतज्ञान को प्राप्त कर गुरु-परिपाटी से आये हुए सिद्धान्त को जानकर श्री पद्मनन्दि मुनि ने कोण्डकुण्डपुर में १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्मनाम की षट्खंडगम के प्रथम तीन खण्डों की व्याख्या की। इनकी प्रधान रचनाये हैं—

षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नाम की टीका, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पचास्तिकाय, रयणसार इत्यादि ८४ पाहुड, मूलाचार, दशभक्ति और कुरलकाव्य[1]।

इन ग्रन्थो मे रयणसार श्रावक व मुनिधर्म दोनो का प्रतिपादन करता है। मूलाचार मुनि धर्म का वर्णन करता है। अष्टपाहुड के चारित्रपाहुड मे सक्षेप से श्रावक धर्म वर्णित है। 'कुरल काव्य' नीति का अनूठा ग्रन्थ है। और परिकर्म टीका में सिद्धान्त का विवेचन है। 'दश भक्ति' सिद्ध, आचार्य आदि की उत्कृष्ट भक्ति का ज्वलत उदाहरण है। शेष सभी ग्रन्थ मुनियो के सराग चरित्र और निर्विकल्प समाधि रूप वीतराग चारित्र के प्रतिपादक है।

६ गुरु—गुरु के विषय मे कुछ मतभेद है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली इनके परम्परा गुरु थे। कुमारनन्दि आचार्य शिक्षागुरु हो सकते है। किन्तु अनेक प्रशस्तियों से यह स्पष्ट है कि इनके दीक्षा गुरु 'श्री जिनचन्द्र' आचार्य थे।

७. जन्म स्थान—इसमे भी मतभेद है—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश मे कहा है—

"दक्षिणोदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्।
एलाचार्यो नाम्नो द्रविड गणाधीश्वरो धीमान्।

यह श्लोक हस्तलिखित मत्र ग्रन्थ मे से लेकर लिखा गया है जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देश के मलय प्रान्त मे हेमग्राम के निवासी थे। और द्रविड सघ के अधिपति थे। मद्रास प्रेजीडेन्सी के मलया प्रदेश मे 'पोन्नूरगाँव' को ही प्राचीनकाल मे हेमग्राम कहते थे, और सम्भवत वही कुन्दकुन्दपुर रहा होगा। इसीके पास नीलगिरि पहाड़ पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हुई है। प० नेमिचद्र जी भी लिखते है- -"कुन्दकुन्द के जीवन परिचय के सम्बन्ध मे विद्वानो ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है कि वे दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म 'कोण्डकुन्दपुर' नामक ग्राम मे हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम 'कुरमरई' नामक जिले में है।"[2] "कुरल-काव्य। पृ० २१--प० गोविन्दराय शास्त्री

८ समय—आचार्य कुन्दकुन्द के समय मे भी मतभेद है। फिर भी डॉ० ए०एन० उपाध्ये ने इनको ई० सन् प्रथम शताब्दी का माना है। कुछ भी हो ये आचार्य श्री भद्रबाहु के अनन्तर ही हुए है यह निश्चित है, क्योकि इन्होने प्रवचनसार और अष्टपाहुड मे सवस्त्र-मुक्ति और स्त्रीमुक्ति का अच्छा खण्डन किया है।

---

१ जैनेन्द्र सि. को, पृ १२८।

२ तीर्थंकर महावीर, पृ. १०१।

नन्दिसघ की पट्टावली मे लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था मे उन्हे आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने और १५ दिन की थी[१]।"

आपने आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव का सक्षिप्त जीवन परिचय देखा है। इन्होने अपने साधु जीवन मे जितने ग्रन्थ लिखे है, उससे सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि इनके साधु जीवन का बहुभाग लेखन कार्य मे ही बीता है, और लेखन कार्य मे विचरण करते वन मुनि कर नही सकते। बरसात, आँधी, पानी, हवा आदि मे लिखे गये पृष्ठो की या ताडपत्रो की सुरक्षा असम्भव है। इससे ऐसा लगता है कि ये आचार्य मन्दिर, मठ, धर्मशाला, वसतिका आदि स्थानो पर भी रहते होगे।

कुछ लोग कह देते है कि कुन्दकुन्ददेव अकेले ही आचार्य थे। यह बात भी निराधार है, पहले तो वे सघ के नायक महान् आचार्य गिरनार पर्वत पर सघ सहित ही पहुँचे थे। दूसरी बात गुर्वावली[२] मे श्री गुप्तिगुप्त, भद्रबाहु आदि से लेकर १०२ आचार्यों की पट्टावली दी है। उसमे इन्हे पाचवे पट्ट पर लिखा है। यथा—१ श्री गुप्तिगुप्त, २. भद्रबाहु, ३ माघनन्दी, ४ जिनचद्र, ५ कुन्दकुन्द, ६ उमास्वामि, आदि। इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र आचार्य ने इन्हे अपना पट्ट दिया, पश्चात् इन्होने उमास्वामि को अपने पट्ट का आचार्य बनाया। यही बात नन्दिसघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली मे है। यथा—'४. जिनचन्द्र, ५ कुन्दकुन्दाचार्य, ६ उमास्वामी'[३]।" इन उदाहरणो मे सर्वथा स्पष्ट है कि ये महान संघ के आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि इन्होने स्वय अपने 'मूलाचार' में "माभूद मेसत्तु एगागी" मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे ऐसा कहकर पचम काल मे एकाकी रहने का मुनियो के लिए निषेध किया है। इनके आदर्श जीवन, उपदेश व आदेश से आज के आत्म हितैषियों को अपना श्रद्धान व जीवन उज्ज्वल बनाना चाहिए। ऐसे महान जिनधर्म प्रभावक परम्पराचार्य भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव के चरणो मे मेरा शतशत नमोऽस्तु !

—आर्यिका ज्ञानमती

---

१ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ ८५।

२ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ ३९३।

३ वही, पृ. ४४१।

मूलाचार

पुण्यपाठ के योग्य कुछ गाथाएँ

सम्म मे सव्वभूदेसु वेर मज्झ ण केण वि।
आसावोसरित्ताण समाहि पडिवज्जए ॥४२॥

खमामि सव्वजीवाण सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेर मज्झ ण केण वि ॥४३॥

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरण एओ सिज्झइ णीरओ ॥४७॥

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥४८॥

सजोयमूल जीवेण पत्त दुक्खपरपर।
तम्हा सजोगसम्बन्ध सव्व तिविहेण वोसरे ॥४९॥

णिदामि णिदणिज्ज गरहामि य ज च मे गरहणीय।
आलोचेमि य सव्व अब्भतरबाहिर उवहि ॥५५॥

जह बालो जपतो कज्जमकज्ज च उज्जुय भणदि।
तह आलोचेमव्व माया मोस च मोत्तूण ॥५६॥

तिविह भणति मरण बालाण बालपडियाण च।
तइय पडियमरण ज केवलिणो अणुमरति ॥५९॥

मरणे विसहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही।
ससारो य अणतो होइ पुणो आगमे काले ॥६१॥

मिच्छादसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा।
इह जे मरति जीवा तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥६९॥

सम्मदसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इह जे मरति जीवा तेसि सुलहा हवे बोही ॥७०॥

एक्क पडिदमरण छिंददि जादीसयाणि बहुगाणि।
त मरण मरिदव्व जेण मद सुम्मद होदि ॥७७॥

तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदी सहस्सेहि।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदु कामभोगेहि ॥८०॥

हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्म संखलिय ।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहसि ।।६०।।

जिणवयणमोसहमिण विसयसुहविरेयणं अमिदभूद ।
जरमरणवाहिवेयण खयकरण सव्व दुक्खाणं ।।६५।।

णाण सरण मे दंसणं च सरणं चरियसरण च ।
तव सजमं च सरण भगव सरणो महावीरो ।।६६।।

धीरेण वि मरिदव्व णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्व ।
जदि दोहि वि मरिदव्व वर हि धीरत्तणेण मरिदव्व ।।१००।।

णिम्ममो णिरहकारो णिक्कसाओ जिदिदिओ धीरो।
अणिदाणो ठिदिसंपण्णो मरतो आराहओ होइ ।।१०३।।

जा गदी अरहताण णिट्ठिदट्ठाण च जा गदी ।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ।।१०७।।

एयम्हि य भवगहणे समाहिमरण लहिज्ज जदि जीवो ।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तर लहदि ।।११८।।

णत्थि भय मरणसम जम्मणसमय ण विज्जदे दुक्ख ।
जम्मणमरणादक छिदि ममत्ति सरीरादो ।।११६।।

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पच आधारा ।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ।।१५५।।

थेर चिरपव्वइय आयरिय बहुसुद च तपसि वा ।
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ।।१८१।।

पियधम्मो दढधम्मो सविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो ।
सगहणुग्गहकुसलो सदद सारक्खणाजुत्तो ।।१८३।।

गभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदु हल्लो य ।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाण गणधरो होदि ।।१८४।।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपाव च ।
आसवसंवरणिज्जर बधोमोक्खो य सम्मत्तं ।।२०३।।

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहि ।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ।।२३४।।

णेहो उप्पिदगत्तस्य रेणुओ लग्गदे जहा अगे ।
तह रागदोस-सिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्व ।।२३६।।

जह धाऊ धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो ।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेहि कणयं व ।।२४३।।

रागी बंधइ कम्म मुच्चइ जीवो विरागसपत्तो।
एसो जिणोवदेसो समासदो बंधमोक्खाणं ।।२४७।।

बिणयेण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ।।३८५।।

विणओ मोक्खद्दार विणयादो संजमो तवो णाण।
विणएणाराहिज्जदि आइरियो सव्वसंघो य ।।३८६।।

कित्ती मित्ती माणस्स भजण गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणय गुणा ।।३८८।।

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ।।५२६।।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि ज पुव्वसंचिय कम्म।
आयरिय पसाएण य विज्जा मत्ता य सिज्झति ।।५७१।।

विषयानुक्रमणिका

बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकार

संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार

सामाचाराधिकार

पंचाचाराधिकार

पिंडशुद्धि-अधिकार

षडावश्यकाधिकार

श्रीवट्टकेराचार्यविरचितो

मूलाचारः

(श्रावसुनदिसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितया आचारवृत्त्या सहित)

मूलगुणाधिकारः

श्रीमच्छुद्धेद्धबोधं सकलगुणनिधिं निष्ठिताशेषकार्यं
 वक्तारं सत्प्रवृत्तेर्निहतमतिमलं शक्रसंवंदिताङ्घ्रिम् ।
भर्तारं मुक्तिबध्वा विमलसुखगतेः कारिकायाः समन्ता—
 दाचारस्याप्तनीतेः परमजिनकृतेर्नौम्यहं वृत्तिहेतोः ॥

श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाण, मूलगुणप्रत्याख्यान-सस्तर-स्तवाराधना-समयाचार-[ममाचार] पचाचार-पिडशुद्धिषडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानगारभावना-समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्याद्यधिकारनिबद्धमहार्थगभीर लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचित, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्द्रव्यनवपदार्थजिनवरोपदिष्ट, द्वादशविधतपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचित,

---

मंगलाचरण—मै वसुनन्दि आचार्य मूलकर्ता के रूप मे वीतराग परम जिनदेव द्वारा प्रणीत, नीति—यति आचार का वर्णन करनेवाले आचारशास्त्र—मूलाचार ग्रन्थ की टीका के निमित्त उन सिद्ध भगवान् को नमस्कार करता हूँ जो अतरग और बहिरग लक्ष्मी से विशिष्ट शुद्ध और श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त है, सकल गुणो के भण्डार है, जिन्होने समस्त कार्यों को पूर्ण कर कृतकृत्य अवस्था प्राप्त कर ली है, जो सत्प्रवृत्ति—सम्यक्चारित्र के प्रवक्ता है, जिन्होने अपनी बुद्धि के मल-दोष को नष्ट कर दिया है, जिनके चरणकमल इन्द्रो से वन्दित है और जो सर्व अंग से विमल सुख को प्राप्त करानेवाली मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी है।

जो श्रुतस्कन्ध का आधारभूत है, अठारह हजार पदपरिमाण है, जो मूलगुण, प्रत्याख्यान, सस्तर, स्तवाराधना, समयाचार, पचाचार, पिंडशुद्धि, छह आवश्यक, बारह अनुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति आदि अधिकार से निबद्ध होने से महान् अर्थों से गम्भीर है, लक्षण—व्याकरण शास्त्र से सिद्ध पद, वाक्य और वर्णों से सहित है, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए केवलज्ञान के द्वारा जिन्होने अशेष गुणो और पर्यायों से खचित छह द्रव्य और नव पदार्थो को जान लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव के द्वारा जो उपदिष्ट है, बारह प्रकार के तपों के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित गणधर देव के द्वारा जो रचित है, जो मूलगुणो और उत्तरगुणो के

मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्य[1]-पारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबल-मेधायु शिष्यनिमित्त द्वादशाधिकारैरुपसहर्तुकाम स्वस्य श्रोतृणा च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकारणक्षम शुभपरिणाम विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्य प्रथमतर तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मगलपूर्विका प्रतिज्ञा विधत्ते मूलगुणेस्वित्यादि—

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा।
इहपरलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ॥१॥

मगलनिमित्तहेतुपरिमाणनामकर्तृन् धात्वादिभि प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धाश्च व्याख्याय पश्चादर्थ कथ्यते। **मूलगुणेसु**—मूलानि च तानि गुणाश्च ते मूलगुणा । मूलशब्दोऽनेकार्थे यद्यपि वर्तते तथापि प्रधानार्थे वर्तमान परिगृह्यते। तथा गुणशब्दोऽप्यनेकार्थे यद्यपि वर्तते तथाप्याचरणविशेषे वर्तमान परिगृह्यते। मूलगुणा प्रधानानुष्ठानानि उत्तरगुणाधारभूतानि तेषु मूलगुणेषु विषयभूतेषु कारणभूतेषु वा सत्सु ये। **विसुद्धे**—विशुद्धा निर्मला सयतास्तान् मूलगुणेषु विशुद्धान्। **वंदित्ता**—वन्दित्वा मनोवाक्कायक्रियाभि प्रणम्य, **सव्वसंजदे**—अत्र सर्वशब्दो निरवशेषार्थवाचक परिगृहीतो बह्वनुग्रहकारित्वात्तेन प्रमत्तसयताद्ययोगिपर्यन्ता भूतपूर्वगत्या सिद्धाश्च परिगृह्यन्ते, सम्यक् यता पापक्रियाभ्यो निवृत्ता सर्वे च ते सयताश्च सर्वसयतास्तान् सर्वसयतान् प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसापरायोपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्य-

---

स्वरूप भेद, उपाय, साधन, सहाय और फल के निरूपण करने मे कुशल है, आचार्य परम्परा से चला आ रहा ऐसा यह आचाराग नाम का पहला अग है। उस आचाराग का अल्प-शक्ति, अल्प बुद्धि और अल्प आयु वाले शिष्यो के लिए बारह अधिकारो मे उपसहार करने की इच्छा करते हुए अपने और श्रोताओ के प्रारम्भ किये गये कार्यो के विघ्नो को दूर करने मे समर्थ शुभ परिणाम को धारण करते हुए श्री वट्टकेराचार्य सर्वप्रथम मूलगुण नामक अधिकार का प्रतिपादन करने के लिए 'मूलगुणेसु' इत्यादि रूप मगल पूर्वक प्रतिज्ञा करते है—

गाथार्थ—मूलगुणो मे विशुद्ध सभी सयतो को सिर झुकाकर नमस्कार करके इस लोक और परलोक के लिए हितकर मूलगुणो का मै वर्णन करूँगा ॥१॥

आचारवृत्ति—मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता तथा प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध इनका व्याख्यान करके पश्चात् धातु आदि के द्वारा शब्दो का अर्थ करते है। मूलभूत जो गुण है वे मूलगुण कहलाते है। यद्यपि 'मूल' शब्द अनेक अर्थ मे रहता है फिर भी यहाँ पर प्रधान अर्थ मे लिया गया है। उसी प्रकार 'गुण' शब्द भी यद्यपि अनेक अर्थ मे विद्यमान है तथापि यहाँ पर आचरण विशेष मे वर्तमान अर्थ ग्रहण किया गया है। अत उत्तरगुणो के लिए आधारभूत प्रधान अनुष्ठान को मूलगुण कहते है। ये मूलगुण यहाँ विषयभूत हैं अथवा कारणभूत हैं। इन मूलगुणो मे जो विशुद्ध अर्थात् निर्मल हो चुके हैं ऐसे सर्व सयतो को, सर्व शब्द यहाँ सम्पूर्ण अर्थ का वाचक है क्योकि वह बहुत का अनुग्रह करने वाला है इसलिए इस सर्व शब्द से प्रमत्तसयत से लेकर अयोगी पर्यन्त सभी संयत और भूत-पूर्व गति के न्याय से सिद्ध भी लिये जाते हैं। जो स-सम्यक् प्रकार से यत-उपरत हो चुके

---

१. क 'आचार'

योगकेवलिसयतान् सप्ताद्यष्टपर्यन्तषण्णवमध्यसख्यया समेतान् सिद्धाश्चानन्तान् । **सिरसा**—शिरसा मस्तकेन मूर्ध्ना । **इहपरलोगहिदत्थे**—इहशब्द प्रत्यक्षवचन, परशब्द उपरतेन्द्रियजन्मवचन, लोकशब्द सुरेश्वरादिवचन । इह च परश्चेहपरौ तौ च तौ लोकौ च इहपरलोकौ ताभ्या तयोर्वा हित सुखैश्वर्यपूजासत्कारचित्तनिवृत्तिफलादिक तदेवार्थ प्रयोजन फल येषा ते इहपरलोकहितार्थास्तान् इहलोकपरलोकसुखैश्वर्यादिनिमित्तान् ।

इहलोके पूजां सर्वजनमान्यता गुरुता सर्वजनमैत्रीभावादिक च लभते मूलगुणानाचरन्, परलोके च सुरैश्वर्यं तीर्थंकरत्व चक्रवर्तिबलदेवादिकत्व सर्वजनकान्ततादिक च मूलगुणानाचरन् लभत इति । **मूलगुणे**—मूलगुणान् सर्वोत्तरगुणाधारता गतानाचरणविशेषान् । **कित्तइस्सामि**—कीर्तयिष्यामि व्याख्यास्यामि । अत्र सयतशब्दस्य चत्वारोऽर्था नाम स्थापना द्रव्य भाव इति । तत्र जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्ष सज्ञाकर्म नामसयत । सयतस्य गुणान् बुद्ध्याध्यारोप्याकृतिवति अनाकृतिवति च वस्तुनि स एवायमिति स्थापिता मूर्ति स्थापनासयत । सयतस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यासितोऽनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्य-

---

है—पाप-क्रियाओं से निवृत्त हो चुके है वे सयत कहलाते है । प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सापराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली इसप्रकार छठवे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक के सभी मुनि सयत कहलाते है जोकि आदि मे ७ और अन्त में ८ तथा मध्य से छह बार नव सख्या रखने से तीन कम नौ करोड (८९९९९९९७) होते है । इस सख्या सहित सभी सयतो को और अनन्त सिद्धो को सिर झुकाकर नमस्कार करके इस लोक और परलोक मे हितकर मूलगुणो का वर्णन करूँगा।

'इह' शब्द प्रत्यक्ष को सूचित करने वाला है, 'पर' शब्द इन्द्रियातीत जन्म को कहने वाला है और 'लोक' शब्द देवो के ऐश्वर्य आदि का वाचक है ।

'हित' शब्द से सुख, ऐश्वर्य, पूजा-सत्कार और चित्त की निवृत्ति फल आदि कहे जाते हैं और अर्थ शब्द से प्रयोजन अथवा फल विवक्षित है । इस प्रकार से इहलोक और परलोक के लिए अथवा इन उभयलोको मे सुख ऐश्वर्य आदि रूप ही है प्रयोजन जिनका, वे इहपरलोकहितार्थ कहे जाते है । अर्थात् ये मूलगुण इहलोक और परलोक मे सुख ऐश्वर्य आदि के निमित्त है । इन मूलगुणो का आचरण करते हुए जीव इस लोक मे पूजा, सर्वजन से मान्यता, गुरुता (बडप्पन) और सभी जीवो से मैत्रीभाव आदि को प्राप्त करते है तथा इन मूलगुणो को धारण करते हुए परलोक मे देवो के ऐश्वर्य, तीर्थकरपद, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के पद और सभी जनो मे मनोज्ञता-प्रियता आदि प्राप्त करते है । ऐसे मूलगुण जो कि सभी उत्तरगुणो के आधारपने को प्राप्त आचरण विशेष है, उनका मैं व्याख्यान करूँगा।

यहाँ पर सयत शब्द के चार अर्थ है—नाम सयत, स्थापना सयत, द्रव्य सयत और भाव सयत । उनमें से जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'सयत' यह नामकरण कर देना नाम-सयत है । आकारवान् अथवा अनाकारवान् वस्तु मे 'यह वही है' ऐसा मूर्ति में सयत के गुणों का अध्यारोप करना, इस प्रकार से स्थापित मूर्ति को स्थापना-सयत कहते है । सयत के स्वरूप का प्रकाशक जो परिज्ञान है उसकी परिणति की सामर्थ्य से जो अधिष्ठित है किन्तु वर्तमान मे उससे अनुपयुक्त है, ऐसा आत्मा आगमद्रव्य-सयत है ।

संयत । नोआगमद्रव्य त्रिविध । ज्ञायकशरीरसयत सयतप्राभृतज्ञस्य शरीर भूत भवन् भावि वा। भविष्यत्संयतत्वपर्यायो जीवो भाविसयत । तद्व्यतिरिक्तमसम्भवि कर्म नोकर्म, तयो सयतत्वस्य कारणत्वाभावात् । सयतगुणव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञ उपयुक्त सम्यगाचरणसमन्वित आगमभावसंयतस्तेनेह प्रयोजन, कुत मूलगुणेषु विशुद्धानिति विशेषणादिति। मूलगुणादिस्वरूपावगमन प्रयोजनम्। ननु[1] पुरुषार्थो हि प्रयोजन न च मूलगुणादिस्वरूपावगमन[2], पुरुषार्थस्य धर्मार्थकाममोक्षरूपत्वात्, यद्येव सुष्ठु मूलगुणस्वरूपावगमन प्रयोजन यतस्तेनैव ते धर्मादयो लभ्यन्ते इति । मूलगुणै शुद्धस्वरूप साध्य साधनमिद[3] मूलगुणशास्त्र, साध्यसाधनरूपसम्बन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरतएव वाक्याल्लभते, अभिधेयभूता मूलगुणाः तस्माद् ग्राह्यमिद शास्त्र प्रयोजनादित्रय[4]समन्वितत्वादिति । सर्वसयतान् शिरसाभिवन्द्य मूलगुणान् इहपरलोकहितार्थान् कीर्तियिष्यामीति पदघटना। अथवा मूलगुणमयतानामय नमस्कारो मूलगुणान् सुविशुद्धान् सयताश्च[5] वन्दित्वा

नोआगम द्रव्य के ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त ऐसे तीन भेद है। उनमें से सयम के शास्त्रो को जाननेवाले का शरीर ज्ञायकशरीर कहलाता है। उसके भी भूत, वर्तमान और भावि ऐसे तीन भेद है। भविष्यत् मे सयत की पर्याय को प्राप्त होनेवाला जीव भावि सयत है। यहाँ पर तद्व्यतिरिक्त नाम का जो नोआगम द्रव्य का तीसरा भेद है वह असम्भव है क्योंकि वह कर्म ओर नोकर्मरूप है तथा इन कर्म और नोकर्म मे सयतपने के कारणत्व का अभाव है। अर्थात् द्रव्यनिक्षेप के आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य ऐसे दो भेद किये है। पुन नोआगमद्रव्य के ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त की अपेक्षा तीन भेद किये है। यहाँ तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य कर्म का अभाव है।

सयत के गुणो का वर्णन करने मे तत्पर जो प्राभृत-शास्त्र है उसको जानने वाला और उसी मे उपयुक्त जीव अर्थात् सम्यक् प्रकार के आचरण से समन्वित साधु आगमभाव-सयत कहलाता है—यहाँ पर इन्ही भावसयत से प्रयोजन है। क्योकि 'मूलगुणेषु विशुद्धान्' गाथा मे ऐसा विशेषण दिया गया है। मूलगुण आदि के स्वरूप को जान लेना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

शंका—पुरुषार्थ ही प्रयोजन है न कि मूलगुण आदि के स्वरूप का जानना, क्योकि पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप है।

समाधान—यदि ऐसी बात है तो मूलगुणों के स्वरूप का जान लेना यह प्रयोजन ठीक ही है क्योंकि उस ज्ञान से ही तो वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ प्राप्त होते है।

इन मूलगुणो के द्वारा आत्मा का शुद्ध स्वरूप साध्य है और मूलगुणों का प्रतिपादक यह शास्त्र साधन है—इस प्रकार मे साध्य-साधनरूप सम्बन्ध भी शास्त्र और प्रयोजन के इन्ही वाक्यो से प्राप्त हो जाता है। यहाँ पर ये मूलगुण अभिधेयभूत वाच्य हैं इसलिए यह शास्त्र ग्राह्य है, प्रामाणिक है क्योंकि यह प्रयोजन आदि तीन गुणो से समन्वित है। अत सर्वसयतो को सिर से नमस्कार करके इस लोक एव परलोक मे हितकारी ऐसे मूलगुणो का मैं वर्णन करूँगा—ऐसा पदघटना रूप अर्थ हुआ। अथवा मूलगुण और संयतों को—दोनो को नमस्कार किया समझना चाहिए। मूलगुणो को और सुविशुद्ध अर्थात् निर्मल चारित्रधारी संयतो

---

१. क 'न तु। २. क 'न स्वरूपार्थस्तस्य। ३ क 'मिद शास्त्र। ४. क 'सबधित्वा'। ५ क 'तांश्च।

मूलगुणान् कीर्तयिष्यामि, चशब्दोऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्य.। यथा पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशमित्यत्र।

मूलगुणकथनप्रतिज्ञा निर्वहन्नाचार्य सग्रहसूत्रगाथाद्वयमाह*—

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोओ ॥२॥

आचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥

को नमस्कार करके मै मूलगुणो को कहूँगा ऐसा अर्थ करना। यहाँ पर 'मूलगुणों को और सयतो को' इसमे जो चकार शब्द लेकर उसका अर्थ किया है वह गाथा मे अनुक्त होते हुए भी लिया गया है। जैसे 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशम्' सूत्र मे चकार अनुक्त होते हुए भी लिया जाता है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ऐसा अर्थ किया जाता है उसी प्रकार से उपर्युक्त मे भी चकार के अर्थ के बारे मे समझ लेना चाहिए ॥१॥

अब मूलगुणो के कथन की प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए आचार्य संग्रहसूत्र रूप दो गाथाओ को कहते है—

अर्थ—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्रदेव ने यतियो के लिए कहे है ॥२-३॥

---

*निम्नलिखित दो गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

रत्नत्रय के साधक परिणाम—

(१) णाणादिरयणतियमिह, सज्झं त साधयंति जमणियमा।
जत्थ जमा सस्सदिया, णियमा णियतप्पपरिणामा ॥२॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय साध्य है, यम और नियम इस रत्नत्रयरूप साध्य को सिद्ध करने वाले हैं। इसमें यम नामक उपाय शाश्वतिक यावज्जीवन के लिए होता है और नियम अल्पकालिक होने से नियतकाल के लिए ग्रहण किया जाता है।

भावार्थ—महाव्रत आदि आजीवन धारण करने योग्य होने से यमरूप है और सामायिक प्रतिक्रमण आदि अल्पकालावधि होने से नियम कहलाते है। ये यम-नियमरूप परिणाम रत्नत्रय प्राप्ति के साधन है।

मूलगुण और उत्तरगुण—

(२) ते मलुत्तरसण्णा मूलगुणा महव्वदादि अडवीसा।
तवपरिसहादिभेदा, चोत्तीसा उत्तरगुणक्खा ॥३॥

अर्थ—ये मूलगुण और उत्तरगुण जीव के परिणाम है। महाव्रत आदि मूलगुण अट्ठाईस हैं, बारह तप और बाईस परीषह ये उत्तरगुण चौतीस होते है।

पंच य—पचसख्यावचनमेतत् । चशब्द एवकारार्थ पचैव न षट् । **महव्वयाइं**—महान्ति च तानि व्रतानि महाव्रतानि, महान् शब्दो महत्त्वे प्राधान्ये वर्तते, व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिवृत्तौ मोक्षावाप्ति-निमित्ताचरणे वर्तते, महद्भिरनुष्ठितत्वात् । स्वत एव वा मोक्षप्रापकत्वेन महान्ति व्रतानि महाव्रतानि प्राणा-सयमनिवृत्तिकारणानि । **समिदीओ**—समितय सम्यगयनानि समितय सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेण गमना-दिषु प्रवृत्तय समितय व्रतवृत्तय इत्यर्थ । **जिणवरुद्दिट्ठा**—कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषा वरा श्रेष्ठास्तैरुपदिष्टा प्रतिपदिता जिनवरोपदिष्टा । एतेन स्वमनीषिकार्चिता इमा. सर्वमूलगुणाभिधा न भवन्ति । आप्तवचनानुसारितया प्रामाण्यमासा समितीना व्याख्यात भवति । कियन्त्यस्ता पचैव नाधिका. । **पंचेविंदियरोहा**—इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रिय, अथवा इन्द्रो नामकर्म तेन सृष्टमिन्द्रिय, तद् द्विविध द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय च, चक्षुरिन्द्रियाद्यावरणक्षयोपशमजनितशक्तिर्भावेन्द्रिय तदुपकरण द्रव्येन्द्रिय यतो **'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येंद्रिय'** चेति, रोधा अप्रवृत्तय इन्द्रियाणा श्रोत्रादीना रोधा इन्द्रियरोधा सम्यक्ध्यानप्रवेशप्रवृत्तय कियन्तस्ते पचैव । **छप्पि य**—षडपि च षडेव न सप्त नापि पच । **आवासया**

आचारवृत्ति—गाथा मे आया हुआ 'पच' शब्द सख्यावाची है। 'च' शब्द एवकार के लिए है अर्थात् ये महाव्रत पाँच ही होते है, छह नही । जो महान् व्रत है उनको महाव्रत कहते है । यहाँ पर महान् शब्द महत्त्व अर्थ मे और प्राधान्य अर्थ मे लिया गया है। व्रत शब्द भी सावद्य से निवृत्तिरूप अर्थ मे और मोक्ष की प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण अर्थ मे है, क्योकि ऐसे आचरण का महान् पुरुषो के द्वारा अनुष्ठान किया जाता है । अथवा स्वत ही मोक्ष को प्राप्त करानेवाले होने से ये महान् व्रत महाव्रत कहलाते है। ये महाव्रत प्राणियो की हिसा की निवृत्ति मे कारणभूत है।

सम्यक् अयन अर्थात् प्रवृत्ति को समिति कहते है। सम्यक् अर्थात् शास्त्र मे निरूपित क्रम से गमन आदि क्रियाओ मे प्रवृत्ति करना समिति है। ये समितियाँ व्रत की रक्षा के लिए बाडस्वरूप है। इनका जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है । कर्मशत्रु को जो जीतते है वे 'जिन' कहलाते है। उनमे वर अर्थात् जो श्रेष्ठ है वे जिनवर है। उनके द्वारा ये उपदिष्ट है, इस कथन से ये सभी मूलगुण अपनी बुद्धि से चर्चित नही है किन्तु ये आप्त वचनो का अनुसरण करनेवाले होने से प्रामाणिक है, ऐसा समझना चाहिए ।

ये समितियाँ कितनी है ? ये पाँच ही है, अधिक नही है। पाँच ही इन्द्रियनिरोध व्रत है । इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिग को इन्द्रिय कहते है, अथवा इन्द्र अर्थात् नामकर्म, उसके द्वारा जो निर्मित है वे इन्द्रियाँ कहलाती है। इनके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की अपेक्षा दो भेद है। चक्षुइन्द्रिय आदि इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई शक्ति भावेन्द्रिय और उसके उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते है । क्योकि 'लब्धि और उपयोग ये भावेन्द्रिय है तथा निर्वृत्ति और उपकरण ये द्रव्येन्द्रिय है' ऐसा सूत्रकारो का कथन है । इन इन्द्रियो की अर्थात् कर्ण आदि इन्द्रियो की विषयो मे प्रवृत्ति नही करना रोध कहलाता है। सम्यक् ध्यान के प्रवेश मे प्रवृत्ति करना अर्थात् धर्म-शुक्ल ध्यान मे इन्द्रियो को प्रविष्ट करना यह इन्द्रियनिरोध है । ये कितने है ? ये भी पाँच ही है।

अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते है। इन्हे निश्चय-क्रिया भी कहते है।

—आवश्यकर्तव्यानि आवश्यकानि निश्चयक्रिया सर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थनियमा । लोचो—लोच हस्ताभ्या मस्तककूर्चगतवालोत्पाट । आचेलक—चेल वस्त्र, उपलक्षणमात्रमेतत्, तेन सर्वपरिग्रह श्रामण्यायोग्य चेलशब्देनोच्यते, न विद्यते चेल यस्यासावचेलक अचेलकस्य भावोऽचेलकत्व वस्त्राभरणादिपरित्याग । अण्हाणं—अस्नान जलसेकोद्वर्तनाभ्यगादिवर्जनम् । खिदिसयणं—क्षितौ पृथिव्या तृणफलकपाषाणादौ शयन स्वपन क्षितिशयन [1]स्थाण्डिल्यशायित्वम् । अदंतघसणं चेव—दन्ताना घर्षण मलापनयन दन्तघर्षण न दन्तघर्षण अदन्तघर्षण ताम्बूलदन्तकाष्ठादिवर्जनम् । चशब्द. समुच्चयार्थ । एवकारोऽवधारणार्थ । अदन्तघर्षणमेव च । ठिदिभोयण—स्थितस्योर्ध्वतनो [2]चतुरगुलपादान्तरस्य भोजनम् । एयभत्तं—एक च तदभक्त चैकभक्त, एकवेलाहारग्रहणम् । मूलगुणा—मूलगुणा उत्तरगुणाधारभूता । अट्ठवीसा दु—अष्टाविशति तु शब्दोऽवधारणार्थ , अष्टभिरधिका विशतिरष्टाविशतिरष्टाविशतिरेव मूलगुणा नोना नाप्यधिका इति ।

द्रव्यार्थिकशिष्यानुग्रहाय सग्रहेण सख्यापूर्वकान् मूलगुणान् प्रतिपाद्य पर्यायार्थिकशिष्यावबोधनार्थं विभागेन वार्तिकद्वारेण तानेव प्रतिपादयन्नाह—

अर्थात् सर्व कर्म के निर्मूलन करने मे समर्थ नियम विशेष को आवश्यक कहते है । ये आवश्यक छह ही है, सात अथवा पाँच नही हैं । हाथों से मस्तक और मूंछ के बालो का उखाडना लोच कहलाता है । चेल—यह शब्द उपलक्षण मात्र है, इससे श्रमण अवस्था के अयोग्य सम्पूर्ण परिग्रह को चेल शब्द से कहा गया है । नही है चेल जिनके, वे अचेलक है, अचेलक का भाव अचेलकत्व है अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्र आभरण आदि का परित्याग करना आचेलक्य व्रत है । जल का सिचन, उबटन, (तैलमर्दन) अभ्यंगस्नान आदि का त्याग करना अस्नान व्रत है । क्षिति—पृथ्वी पर एव तृण, फलक (पाटे), पाषाण-शिला आदि पर सोना क्षितिशयन गुण कहलाता है। यही स्थाण्डिल—खुले स्थान पर सोने रूप स्थाण्डिलशायी गुण है । दाँतो का घर्षण करना—दन्तमल को दूर करना दन्तघर्षण कहलाता है । दन्तघर्षण नही करना अदन्तघर्षण है अर्थात् ताम्बूल (मजन), दन्तकाष्ठ (दातोन) आदि का त्याग करना । पैरो के चार अगुल अन्तराल से खड़े होकर भोजन करना स्थितिभोजन है । एक वेला मे आहार ग्रहण करना एकभुक्त नाम का मूलगुण है । यहाँ गाथा मे च शब्द समुच्चय अर्थ के लिए है और एवकार शब्द अवधारण अर्थात् निश्चय के लिए है । ये मूलगुण उत्तरगुणो के लिए आधारभूत है अर्थात् उत्तरगुणो के लिए जो आधारभूत है वे ही मूलगुण कहलाते है । मूलगुणो के विना उत्तरगुण नही हो सकते है, ऐसा अभिप्राय है । ये मूलगुण अट्ठाईस होते है । यहाँ पर गाथा मे तु शब्द अवधारण के लिए है अर्थात् ये मूलगुण अट्ठाईस ही है, न इससे कम है और न इससे अधिक ही हो सकते हैं ।

द्रव्यार्थिक नय (सामान्य) से समझने वाले शिष्यो के अनुग्रह हेतु संग्रह रूप से संख्यापूर्वक मूलगुणों का प्रतिपादन करके अब पर्यायार्थिक नय विशिष्टरूप से समझने वाले शिष्यो को समझाने के लिए विभागरूप से वार्तिक द्वारा उन्ही मूलगुणों को प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते है—

---

१. क °ढ्ंज्ञो. । २. अस्य स्थाने जानोरिति पाठ ।

हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च।
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ॥४॥

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्याचाराख्यस्य प्रवृत्ति, उद्देशो, लक्षण, परीक्षा इति। तत्र नामधेयेन **मूलगुणाभिधानमुद्देश**। उद्दिष्टाना तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्। लक्षिताना यथालक्षणमुपद्यते नेति, **प्रमाणैरर्थावधारण** परीक्षा तत्रोद्देशार्थमिद सूत्रम्। उत्तर पुनर्लक्षणम्, परीक्षा पुनरुत्तरत्र, एव त्रिविधा **व्याख्या**। अथवा सग्रहविभागविस्तरस्वरूपेण त्रिविधा व्याख्या। अथवा सूत्रवृत्तिवार्तिकस्वरूपेण त्रिविधा। **अथवा** सूत्र-प्रतिसूत्र-विभाषासूत्रस्वरूपेण त्रिविधेति। एव सर्वत्राभिसम्बन्ध कर्तव्य इति। **हिंसाविरदी**—प्रमत्त-योगात्प्राणव्यपरोपण, प्रमाद सकषायत्व, तद्वानात्मपरिणाम प्रमत्त, प्रमत्तस्य योग प्रमत्तयोगस्तस्मात्प्र-मत्तयोगाद्दशप्राणाना वियोगकरण हिंसेति, तस्या विरति परिहार हिंसाविरति सर्वजीवविषया दया। **सच्च**—सत्य असदभिधानत्याग "**असदभिधानमनृतं**" सच्छब्द प्रशसावाची न सदसत् अप्रशस्तमिति यावत असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधान, अनृत—ऋत सत्य न ऋत अनृत किंपुनस्तदप्रशस्त प्राणिपीडाकर यद्वचन तदप्रशस्त विद्यमानार्थविषयमविद्यमानार्थविषय वा तस्यासदभिधानस्य त्याग सत्य। **अदत्तपरिवज्जणं**

गाथार्थ—हिंसा का त्याग, सत्य बोलना, अदत्त वस्तुग्रहण का त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग ये पाँच महाव्रत जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गये है ॥४॥

आचारवृत्ति—इस आचार अर्थात् मूलाचार नाम के ग्रन्थ की प्रवृत्ति (रचना) तीन प्रकार की है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। उनमे से नाम रूप से मूलगुणो का कथन करना उद्देश है। कहे गये पदार्थों के स्वरूप की व्यवस्था करने वाला धर्म लक्षण कहलाता है और जिनका लक्षण किया गया है ऐसे पदार्थों का जैसे-का-तैसा लक्षण है या नही, इस प्रकार से प्रमाणो के द्वारा अर्थ का निर्णय (निश्चय) करना परीक्षा है। इनमें से उद्देश के लिए यह गाथा-सूत्र है। पुन इसके आगे इनका लक्षण है, और परीक्षा आगे-आगे यथास्थान की गई है। इस प्रकार से व्याख्या तीन प्रकार की होती है।

अथवा सग्रह, विभाग और विस्तर रूप से तीन प्रकार की व्याख्या मानी गई है। अथवा सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के स्वरूप मे भी व्याख्या तीन प्रकार की हो जाती है या सूत्र, प्रतिसूत्र और विभाषा सूत्र के स्वरूप से भी व्याख्या के तीन भेद हो जाते है। इसी प्रकार से सभी जगह सम्बन्ध लगा लेना चाहिए।

प्रमत्तयोग से प्राणो का व्यपरोपण—वियोग करना हिंसा है। कषायसहित अवस्था को प्रमाद कहते है। कषायसहित आत्मा का परिणाम प्रमत्त कहलाता है। इस प्रमत्त का योग अर्थात् कषाय सहित परिणामो से मन-वचन-काय की क्रिया प्रमत्तयोग है। इस प्रमत्त-योग से दशप्राणो का वियोग करना हिंसा है। उस हिंसा का परिहार करना—सभी जीवो के ऊपर दया का होना ही अहिंसा महाव्रत है।

असत् बोलने का त्याग करना सत्यव्रत है। चूँकि 'असत् कथन करना अनृत है' ऐसा सूत्रकार का वचन है। यहाँ पर 'सत्' शब्द प्रशसावाची है। जो सत् अर्थात् प्रशस्त नही है वह अप्रशस्तवचन असत् कहलाता है। अर्थात् अप्रशस्त अर्थ का कथन असत् अभिधान है। ऋत

—अदत्तपरिवर्जनं अदत्तस्य परिवर्जनं अदत्तपरिवर्जन, "अदत्तादानं स्तेयं" आदान ग्रहणं अदत्तस्य पतित-विस्मृत-स्थापिताननुज्ञातादिकस्य ग्रहण अदत्तादान तस्य परित्यागोऽदत्तपरिवर्जनम्। चशब्द समुच्चयार्थ। **बंभं च**—ब्रह्मचर्यं च, ब्रह्मेत्युच्यते जीवस्तस्यात्मवत परागसम्भोगनिवृत्तवृत्तेश्चर्या ब्रह्मचर्यमित्युच्यते मैथुनपरित्याग। स्त्रीपुंसोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयो परस्परस्पर्शन प्रतीच्छा मिथुन, मिथुनस्य कर्म मैथुन तस्य परित्यागो ब्रह्मचर्यमिति। **संगविमुत्तीय**—संगस्य परिग्रहस्य बाह्याभ्यन्तर-लक्षणस्य विमुक्ति परित्याग संगविमुक्ति श्रामण्यायोग्यसर्ववस्तुपरित्याग परिग्रहासक्त्यभाव। **तहा**—तथा तेनैवागमोक्तेन प्रकारेण। **महव्वयाइ**—महाव्रतानि सर्वसावद्यपरिहारकारणानि पंच न षट्। **पण्णत्ता**—प्रज्ञप्तानि प्रतिपादितानि कैर्जिनेन्द्रैरिति शेष। महद्भिरनुष्ठितत्वात् स्वत एव वा महान्ति व्रतानि महाव्रतानि पंचैवेति॥

जीवस्थानस्वरूप [1]बन्धस्थानपरित्याग च प्रतिपादयन् हिंसाविरतेर्लक्षण प्रपंचयन्नाह—

सत्य को कहते है। जो ऋत नही है वह अनृत है। वह क्या है? जो प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न करनेवाले वचन है वे अप्रशस्त है। वे चाहे विद्यमान अर्थविषयक हों चाहे अविद्यमान अर्थविषयक हो, अप्रशस्त ही कहे जाते है। ऐसे वचनो का त्याग करना ही सत्य महाव्रत है।

अदत्त का वर्जन करना अचौर्यव्रत है, चूँकि 'अदत्त का ग्रहण चोरी है' ऐसा सूत्रकार का कथन है। गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुई और बिना पूछे ग्रहण की हुई वस्तु अदत्त शब्द से कही जाती है। ऐसी अदत्त वस्तुओं का ग्रहण अदत्तादान है और इनका त्याग करना अचौर्यव्रत कहलाता है।

ब्रह्म शब्द का अर्थ जीव होता है। उस आत्मवान्—जितेन्द्रिय जीव की पराग सभोग के अभावरूप वृत्ति का नाम चर्या है। इस प्रकार से ब्रह्मचर्य शब्द की परिभाषा है जो कि मैथुन के परित्याग रूप है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग परिणाम आविष्ट हुए स्त्री और पुरुष की परस्पर मे स्पर्श के प्रति जो इच्छा है उसका नाम मिथुन है और मिथुन की क्रिया को मैथुन कहते है। उसका परित्याग ब्रह्मचर्य है।

संग—बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की विमुक्ति—त्याग करना संगविमुक्ति है। अर्थात् श्रमण के अयोग्य सर्ववस्तु का त्याग करना और परिग्रह मे आसक्ति का अभाव होना ही परिग्रह-त्याग महाव्रत है। इस तरह ही आगमोक्त प्रकार से सर्वसावद्य—पापक्रियाओ के परिहार मे कारणभूत ये महाव्रत पाँच ही है, छह नही है और न चार है। ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने प्रतिपादन किया है। चूँकि महान् पुरुषो ने इनका अनुष्ठान किया है अथवा ये स्वत ही महान् व्रत है इसीलिए ये महाव्रत कहलाते हैं। ये पाँच ही है ऐसा समझना चाहिए।

जीवस्थान का स्वरूप और बन्ध का परित्याग प्रतिपादित करते हुए हिंसाविरति के लक्षण को विस्तार से कहने के लिए आचार्य गाथासूत्र कहते है—

---

१. क 'वध'।

कार्येदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं ।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥५॥

काय—काया पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसा तात्स्थ्यात् साहचर्याद्वा पृथिवीकायिकादय काया इत्युच्यन्ते, आधारनिर्देशो वा, एवमन्यत्रापि योज्यम् । **इंदिय**—इन्द्रियाणि पच स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु-श्रोत्राणि। एक स्पर्शनमिन्द्रिय येषा ते एकेन्द्रिया । द्वे स्पर्शनरसने इन्द्रिये येषा ते द्वीन्द्रिया । त्रीणि स्पर्शन-रसनघ्राणानीन्द्रियाणि येषा ते त्रीन्द्रिया.। चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूषीन्द्रियाणि येषा ते चतुरिन्द्रिया । पच स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु.श्रोत्राणीन्द्रियाणि येषा ते पचेन्द्रिया । **गुण**—गुणस्थानानि मिथ्यादृष्टि, सासा-दनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्व-करण उपशमक क्षपक, अनिवृत्तिकरण उपशमक क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक क्षपक, उपशान्त-कषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली, अयोगकेवली चेति चतुर्दशगुणस्थानानि। एतेषां स्वरूप पर्याप्त्यधि-कारे व्याख्यास्याम, इति नेह प्रपच कृत । **मग्गण**—मार्गणा यासु यकाभिर्वा जीवा मृग्यन्ते ताश्चतुर्दश मार्गणा., गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसज्ञ्याहारा एतासामपि स्वरूप

गाथार्थ—काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि—इनमे सभी जीवो को जान करके कायोत्सर्ग (ठहरने) आदि में हिसा आदि का त्याग करना अहिसा महाव्रत है ॥५॥

आचारवृत्ति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये काय है, क्योकि पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीव इन कायो मे रहते है अथवा वे इन कायो के साथ रहते है इसलिए ये जीव ही यहाँ काय शब्द से कहे जाते है। अथवा यहाँ काय शब्द से जीवो के आधार का कथन किया गया है ऐसा समझना और इसी प्रकार से अन्यत्र भी लगा लेना चाहिए।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ है। एक स्पर्शनेन्द्रिय जिनके है वे जीव एकेन्द्रिय कहलाते है। स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ जिनके है वे द्वीन्द्रिय है। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ जिनके है वे त्रीन्द्रिय है। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ जिनके है वे चतुरिन्द्रिय है तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ जिनके है वे पचेन्द्रिय जीव कहलाते है।

गुण शब्द से गुणस्थान का ग्रहण होता है। ये गुणस्थान मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण मे उपशम श्रेणी चढ़ने वाले उपशमक और क्षपकश्रेणी चढने वाले क्षपक, अनिवृत्तिकरण मे उपशमक और क्षपक, सूक्ष्म साम्पराय मे उपशमक और क्षपक, उपशान्त-कषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली—इस प्रकार से चौदह होते है। इनका स्वरूप आगे पर्याप्ति नामक अधिकार मे कहेगे, इसलिए यहाँ पर इनका विस्तार नही किया है।

जिनमे अथवा जिनके द्वारा जीव खोजे जाते है उन्हे मार्गणा कहते है। उनके चौदह

तत्रैव व्याख्यास्याम । जीवस्थानानि चैकेन्द्रियबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्त - द्वीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त - त्रीन्द्रिय-पर्याप्तापर्याप्त-चतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्त - पचेन्द्रियसंज्ञ्यसज्ञिपर्याप्तापर्याप्ता.। **कुल**—कुलानि जाति-भेदा, वटपलाशशखशुक्तिमत्कुणपिपीलिकाभ्रमरपतङ्गमत्स्यमनुष्यादय, सीमन्तकादिनारकभेदा, भवना-दिदेवविशेषाश्च। **आऊ**—आयु देहधारण, नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिस्थितिकारणानि। **जोणि**—योनय जीवोत्पत्तिस्थानानि, सचित्ताचित्तमिश्रशीतोष्णमिश्रसवृतविवृतमिश्राणि। एतेषां सख्याविशेषमुत्तरत्र व्याख्या-स्याम । कायाश्चेन्द्रियाणि च गुणस्थानानि च मार्गणाश्च कुलानि चायुश्च योनयश्च कायेन्द्रियगुणमार्गणा-कुलायुर्योनयस्तासु तान् वा। **सव्वजीवाणं**—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवा.। सर्वशब्द कात्स्र्न्यवचन, जीवा. द्रव्यप्राणभावप्राणधारणसमर्था., तेषा सर्वजीवाम्। **णाऊण**—ज्ञात्वा स्वरूपमवबुध्य। **ठाणादिसु**—स्थान कायोत्सर्ग स आदिर्येषा ते स्थानादयस्तेषु स्थानादिषु, स्थानासनशयनगमनभोजनोद्वर्तना-कुचनप्रसारणादिक्रियाविशेषेषु। **हिंसा**—प्राणव्यपरोपण आदिर्येषा ते हिंसादयस्तेषा विवर्जन हिंसादिवि-वर्जन वधपरितापमर्दनादिपरिहरणमहिसा। एतदहिसाव्रत कायेन्द्रियगुणमार्गणाकुलायुर्योनिविषयेषु स्थिताना जीवाना कार्योत्सर्गादिषु प्रदेशेषु प्रयत्नवतो हिसादिवर्जन यत्तदहिसाव्रत स्यात्। अथवा

भेद है--गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहारक। इनका स्वरूप भी उसी पर्याप्ति अधिकार में कहेगे। जीवस्थान—जीव समास के भी चौदह भेद है जो इस प्रकार हैं—एकेन्द्रिय बादर-सूक्ष्म के पर्याप्त और अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, त्रीन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त, पचेन्द्रिय सैनी-असैनी के पर्याप्त और अपर्याप्त। जाति के भेद को कुल कहते है। बड-पलाश, शख-सीप, खटमल-चिवटी, भ्रमर-पतग, मत्स्य और मनुष्य इत्यादि जातियो के भेद है। सीमन्त-पटल आदि की अपेक्षा नारकियो मे भेद है। भवनवासी आदि से देवो मे भेद है। ये भेद ही जाति-कुल नाम से यहाँ कहे गये है। शरीर के धारण को आयु कहते है। यह आयु नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति मे स्थिति—रहने के लिए कारण है। जीव की उत्पत्ति के स्थान को योनि कहते है। इसके सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, और सवृत, विवृत, मिश्र—ऐसे नव भेद है। इन योनियो की विशिष्ट सख्या आगे कहेंगे। इन काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनियो मे सभी जीवो को जानकर अथवा इनको और सभी जीवो के स्वरूप को जानकर हिसा से विरत होता है।

जीव के साथ जो सर्व विशेषण है वह सम्पूर्ण को कहने वाला है। जो द्रव्यप्राण और भावप्राण को धारण करने मे समर्थ है वे जीव कहलाते है। स्थान शब्द से यहाँ कायोत्सर्ग अर्थात् खड़े होना, ठहरना यह अर्थ विवक्षित है और आदि शब्द से आसन, शयन, गमन, भोजन, शरीर का उद्वर्तन, सकोचन, प्रसारण आदि क्रियाविशेषो मे जीवो के प्राणो का व्यपरोपण--वियोग करना हिसा आदि है और इस हिसा आदि का वर्जन करना—वध, परिताप, मर्दन आदि का परिहार करना अहिसा है।

ठहरना आदि क्रियाओं के प्रदेशो मे प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनि के हिसादि का जो त्याग है वह अहिसाव्रत है। अथवा काय, इन्द्रिय आदि को जान करके ठहरने आदि

कायेन्द्रियादीन् ज्ञात्वा स्थानादिषु क्रियासु जीवाना हिंसादिविवर्जनमहिंसा। कायादिस्वरूपेण स्थितानां जीवाना हिंसाद्यपरिहरणमहिंसेति भाव ॥

द्वितीयस्य व्रतस्य स्वरूपमाह—

रागादीहि असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्ति।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥६॥

रागादीहि—राग स्नेह स आदिर्येषा ते रागादयस्तै रागादिभी रागद्वेषमोहादिभि पैशून्ये-र्ष्यादिभिश्च। **असच्चं**—असत्य मृषाभिधानम्। **चत्ता**—त्यक्त्वा परिहृत्य। **परतावसच्चवयणुत्ति**—परतापसत्यवचनोक्ति परतापसत्यवचनमिति वा। परान् प्राणिन तपति पीडयति परताप, परताप च तत्सत्यवचन च परतापसत्यवचनम्। येन सत्येनापि वचनेन परेषा परितापादयो भवन्ति तत्सत्यमपि त्यक्त्वा। **अयधावयणुज्झणं**—न यथा अयथा तच्च तद्वचन चायथावचन अपरमार्थवचन। द्रव्यक्षेत्रकाल-भावाद्यनपेक्ष सर्वथास्त्येवेत्येवमादिक तस्य सर्वस्य उज्झन परिहरणमयथावचनोज्झन सदाचाराचार्या-

---

क्रियाओ मे जीवो की हिंसादि का परिहार करना अहिंसा है। अर्थात् कायादि स्वरूप से रहने वाले जीवो की हिंसादि का परिहार करना अहिंसा है यह अभिप्राय है।

विशेषार्थ- जो काय आदि के आश्रित रहने वाले जीवो के भेद प्रभेदो को जानकर पुन गमन-आगमन भोजन, शरीर का हिलाना-डुलाना, सकोचना, हाथ-पैर आदि फैलाना इत्यादि प्रसगो मे जीवो के वध से—उनको पीडा देने या कुचल देने इत्यादि से—घात करता है वह हिंसा है, उसका त्याग ही अहिंसाव्रत है। अथवा कायोत्सर्ग आदि क्रियाओ के प्रसग मे सावधानी रखते हुए जीवो के वध का परिहार करना अहिंसाव्रत है।

द्वितीय व्रत के स्वरूप को कहते हैं—

गाथार्थ—रागादि के द्वारा असत्य बोलने का त्याग करना और पर को ताप करने वाले सत्य वचनो के भी कथन का त्याग करना तथा सूत्र और अर्थ के कहने मे अयथार्थ वचनो का त्याग करना सत्य महाव्रत है ॥६॥

आचारवृत्ति—राग—स्नेह है आदि मे जिनके वे रागादि है। उन रागादि—राग, द्वेष, मोह आदि के द्वारा और पैशून्य, ईर्ष्या आदि के द्वारा असत्य वचनो का त्याग करना। पर प्राणियो को जो तपाते है, पीडा देते है वे वचन परताप कहलाते हैं। ऐसे सत्य वचन भी अर्थात् जिस सत्य वचन के द्वारा भी परजीवो को परिताप आदि होते हैं उन सत्यवचनों को भी छोड देवे। जो जैसे के तैसे नही है वे अयथा वचन है अर्थात् अपरमार्थ वचन हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि की अपेक्षा न करके 'सर्वथा अस्ति एव—सर्वथा ऐसा है ही है' इत्यादि प्रकार के सभी वचनो का परिहार करना अयथा वचन त्याग है। अथवा सदाचारी आचार्य के द्वारा अन्यथा अर्थ कर देने पर भी दोष नही है अर्थात् यदि आचार्य सदाचार प्रवृत्तिवाले पापभीरु है और कदाचित् अर्थ का वर्णन करते समय कुछ अन्यथा बोल जाते है या उनके वचन स्खलित हो जाते हैं तो उसे दोष रूप नही समझना।

न्यथार्थकथने दोषाभावो वा सत्यमिति सम्बन्धः। **सुत्तत्थाणविकहणे**—सूत्रं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणि, अर्थो जीवादयः पदार्थास्तयोर्विकथनं प्रतिपादनं तस्मिन् सूत्रार्थविकथने, सूत्रस्य अर्थस्य च विकथने अयथा-वचनस्योत्सर्गोऽन्यथा न प्रतिपादनम्। सदाचारस्याचार्यस्य स्खलने दोषाभावो वा। **सच्चं**—सत्य-मिति। रागादिभिरसत्यमभिधानमभिप्रायं च त्यक्त्वा, परितापकरं सत्यमपि त्यक्त्वा सूत्रार्थान्यथाकथनं च त्यक्त्वा आचार्यादीनां वचनस्खलने दोषं वा त्यक्त्वा यद्वचनं तत्सत्यव्रतमिति।

तृतीयव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु ॥७॥

गामादिसु—ग्रामो वृत्तिपरिक्षिप्तजननिवासः स आदिर्येषां ते ग्रामादयस्तेषु ग्रामादिषु ग्राम-खेटकर्वटमटवनगरोद्यानपथिशैलाटव्यादिषु। **पडिदाइं**—पतितमादिर्येषां तानि पतितादीनि पतितनष्टविस्मृतस्थापितादीनि। **अप्पप्पहुदि**—अल्पं स्तोकं प्रभृतिरादिर्येषां तान्यल्पप्रभृतीनि स्तोकबहु-सूक्ष्मस्थूलादीनि। **परेण**—अन्येन। **संगहिदाइं**—संगृहीतानि चात्मवशकृतानि च क्षेत्रवास्तुधनधान्य-पुस्तकोपकरणच्छात्रादीनि तेषां सर्वेषां। **णादाणं**—नादानं न ग्रहणं आत्मीयकरणविवर्जनम्। **परदव्वं**—परद्रव्याणां। **अदत्तपरिवज्जणं**—अदत्तस्यापरित्यक्तस्यानभ्युपगतस्य च परिवर्जनं परिहरणं अदत्त-परिवर्जनं, अदत्तग्रहणेऽभिलाषाभावः। **तं तु**—तदेतत्। परद्रव्याणां ग्रामादिषु पतितादीनामल्पबह्वादीनां

द्वादशांग अंग और चौदह पूर्वसूत्र कहलाते हैं। जीवादि पदार्थ अर्थ शब्द से कहे जाते हैं। इन सूत्र और अर्थ के प्रतिपादन करने में अयथावचन का त्याग करना अर्थात् सूत्र और अर्थ का अन्यथा कथन नहीं करना। अथवा सदाचार प्रवृत्तिवाले आचार्य के वचन स्खलन में दोष का अभाव मानना सत्य है। तात्पर्य यह है कि रागादि के द्वारा असत्य वचन और असत्य अभिप्राय को छोड़कर, पर के तापकारी ऐसे सत्यवचनों को भी छोड़ करके तथा सूत्र और अर्थ के अन्यथा कथन रूप वचन को भी छोड़ करके अथवा आचार्यादि के वचन स्खलन में दोष को छोड़ कर अर्थात् दोष को न ग्रहण करके जो वचन बोलना है वह सत्यव्रत है।

तृतीय व्रत का स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—ग्राम आदि में गिरी हुई, भूली हुई इत्यादि जो कुछ भी छोटी-बड़ी वस्तु है और जो पर के द्वारा संगृहीत है ऐसे परद्रव्य को ग्रहण नहीं करना सो अदत्त-परित्याग नाम का महाव्रत है ॥७॥

आचारवृत्ति—बाड़ से परिवेष्टित जनों के निवास को ग्राम कहते हैं। तथा 'आदि' शब्द से खेट, कर्वट, मटंब, नगर, उद्यान, मार्ग, पर्वत, अटवी आदि में गिरी हुई, खोई हुई, भूली हुई अथवा रखी हुई अल्प या बहुत अथवा सूक्ष्म-स्थूल आदि जो वस्तुएँ हैं; तथा जो अन्य के द्वारा संगृहीत है—अपने बनाये गये हैं ऐसे क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, पुस्तक, उपकरण और छात्र आदि हैं उनको ग्रहण नहीं करना अर्थात् उनको अपने बनाने का त्याग करना और पर के द्रव्यों को बिना दिये हुए नहीं लेना, पर से बिना पूछे हुए किसी वस्तु के ग्रहण

परेण सगृहीताना च यदेतन्नादानमग्रहणं तददत्तपरिवर्जन व्रतमिति। अथवा परद्रव्य परेण सगृहीतं च ग्रामादिषु पतितादिक चाल्पादिक च नादान नादेय आत्मीय न कर्तव्यमिति योऽयमभिप्रायस्तददत्तपरिवर्जन नामेति ॥

चतुर्थव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

मादुसुदाभगिणीव य दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं ।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥८॥

मादु—माता जननी। **सुदा**—सुता दुहिता। **भगिणीव य**—भगिनी स्वसा। इवौपम्ये द्रष्टव्य इवशब्द उपमार्थ चशब्द समुच्चयार्थ। **दट्ठूण**—दृष्ट्वा सम्यक् ज्ञात्वा। **इत्थित्तियं**—स्त्रीणा त्रिक वृद्धबालयौवनभेदात्। **पडिरूव च**—प्रतिरूप च। चित्रलेपभेदादिषु स्थित प्रतिबिब देवमनुष्यतिरश्चा च रूप। **इत्थिकहादिणियत्ती**—स्त्रीकथा आदिर्येषा ते स्त्रीकथादयस्तेभ्यो निवृत्ति परिहार स्त्रीकथादिनिवृत्ति, वनिताकोमलालाप-मृदुस्पर्श-रूपालोकन-नृत्यगीतहासकटाक्षनिरीक्षणाद्यनुरागत्याग। अथवा स्त्रीभक्तराजचौरकथाना परित्याग रागादिभावेन तत्र प्रबन्धाभाव। **तिलोयपुज्ज**—त्रिभिर्लोकै पूज्य

का त्याग करना अदत्त परिवर्जन व्रत है अर्थात् अदत्त के ग्रहण करने मे अभिलाषा का अभाव होना ही अचौर्यव्रत है। तात्पर्य यह हुआ कि ग्राम आदि मे गिरा हुआ, भूला हुआ, अल्प अथवा बहुत जो परद्रव्य है और जो पर के द्वारा सगृहीत वस्तुएँ है उनका ग्रहण न न करना अदत्त त्याग नाम का व्रत है। अथवा परद्रव्य और पर के द्वारा सगृहीत वस्तु तथा ग्राम आदि मे पतित इत्यादि अल्प-बहु आदि वस्तुओ को ग्रहण नही करना अर्थात् उनको अपनी नही करने रूप जो अभिप्राय है वह अचौर्य नाम का तृतीय व्रत है।

चतुर्थ व्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते है—

गाथार्थ—तीन प्रकार की स्त्रियो को और उनके प्रतिरूप (चित्र) को माता, पुत्री और बहन के समान देखकर जो स्त्रीकथा आदि से निवृत्ति है वह तीन लोक मे पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है ॥८॥

आचारवृत्ति—वृद्धा, बाला और युवती के भेद से तीन प्रकार की स्त्रियो को माता, पुत्री और बहिन के समान सम्यक् प्रकार से समझकर तथा चित्र, लेप आदि भेदो मे बने हुए स्त्रियो के प्रतिबिम्ब को एव देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी स्त्रियो के रूप देखकर उनसे विरक्त होना, स्त्रियो के कोमलवचन, उनका मृदुस्पर्श, उनके रूप का अवलोकन, उनके नृत्य, गीत, हास्य, कटाक्ष-निरीक्षण आदि मे अनुराग का त्याग करना स्त्रीकथादिनिवृत्ति का अर्थ है। अथवा स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और चोरकथा इन विकथाओ का त्याग करना अर्थात् रागादि भाव से उनमे सम्बन्ध—आसक्ति—का अभाव होना, यह त्रिलोकपूज्य देवो से, भवनवासियो से और मनुष्यो से अर्चनीय ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है। गाथा मे 'इव' शब्द उपमा के लिए है और 'च' शब्द समुच्चय के लिए।

तात्पर्य यह है कि देवी, मानुषी और तिर्यचनियो के वृद्ध, बाल और यौवन स्वरूप

त्रिलोकपूज्यं देवभावनमनुष्यैरर्चनीयम्। हवे—भवेत्। बंभं—ब्रह्मचर्यम्। देवमनुष्यतिरश्चां वृद्धबालयौवनस्वरूप स्त्रीत्रिक दृष्ट्वा यथासख्येन माता सुता भगिनीव चिन्तनीयम्। नेषा प्रतिरूपाणि च तथैव चिन्तनीयानि। स्त्रीकथादिक च वर्जनीयम्। अनेन प्रकारेण सर्वपूज्य ब्रह्मचर्य नवप्रकारमेकाशीतिभेद द्वाषष्ट्यधिक शत चेति ॥

पंचमव्रतस्वरूपपरीक्षार्थमुत्तरसूत्रमाह—

जीवणिबद्धाऽबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हि य णिम्ममोऽसंगो ॥९॥

जीवणिबद्धा—जीवेषु प्राणिषु निबद्धा प्रतिबद्धा जीवनिबद्धा प्राण्याश्रिता मिथ्यात्व-वेद राग-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-क्रोध-मान-माया-लोभादय दासीदासगोऽश्वादयो वा। **अबद्धा**—अप्रतिबद्धा अनाश्रिता जीवपृथग्भूता क्षेत्रवास्तुधनधान्यादय। **परिग्गहा**—परिग्रहा समन्तत आदानरूपा मूर्च्छा। **जीवसम्भवा**—जीवेभ्य सम्भवो येषा ते जीवसम्भवा जीवोद्भवा मुक्ताफलशङ्खशुक्ति-

---

तीन प्रकार की अवस्थाओ को देखकर क्रम से उन्हे माता, पुत्री और बहन के समान समझना चाहिए। उनके प्रतिबिम्बो को भी देखकर वैसा समझना चाहिए। तथा स्त्रीकथा आदि का भी त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार से सर्वपूज्य ब्रह्मचर्य व्रत नवप्रकार का, इक्यासी प्रकार का और एक सौ बासठ प्रकार का होता है।

विशेषार्थ—स्त्री पर्याय तीन गतियो मे पाई जाती है इसलिए स्त्री के मूलरूप से तीन भेद किये गये है। देवी मे यद्यपि स्वभावत. बाल, वृद्ध और युवती का विकल्प नही होता तथापि विक्रिया से यह भेद सम्भव है। इन तीनो प्रकार की स्त्रियों के बाल, वृद्ध और यौवन की अपेक्षा तीन अवस्थाएँ होती है। इस प्रकार ९ भेद हुए। ९ प्रकार के भेदो मे मन वचन काय से गुणा करने पर २७ भेद एव २७ को कृत, कारित अनुमोदना से गुणा करने पर ८१ भेद होते हैं। फिर ८१ को चेतन और अचेतन दो भेदो से गुणा कर दिया जाए तो १६२ की सख्या प्राप्त होती है। अचेतन का विकल्प काष्ठ-पाषाण आदि की प्रतिमाओ एव चित्रो से सम्भव है।

अब पचमव्रत के स्वरूप की परीक्षा के लिए अगला सूत्र कहते है—

गाथार्थ—जीव से सम्बन्धित, जीव से असम्बन्धित और जीव से उत्पन्न हुए ऐसे ये तीन प्रकार के परिग्रह हैं। इनका शक्ति से त्याग करना और इतर परिग्रह में (शरीर उपकरण आदि में) निर्मम होना यह असग अर्थात् अपरिग्रह नाम का पाँचवाँ व्रत है। ९॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि अथवा दासी, दास, गो, अश्व आदि ये जीव से निबद्ध अर्थात् जीव के आश्रित परिग्रह हैं। जीव से पृथग्भूत क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य आदि जीव से अप्रतिबद्ध, जीव से अनाश्रित, परिग्रह है। जीवों से उत्पत्ति है जिनकी ऐसे मोती, शंख, सीप, चर्म, दाँत, कम्बल आदि अथवा श्रमणपने के अयोग्य क्रोध आदि परिग्रह जीवसम्भव कहलाते हैं। सब तरफ से ग्रहण करने रूप मूर्च्छा परिणाम को परिग्रह कहते हैं। इन सभी प्रकार के

चर्मदन्तकम्बलादय क्रोधादयो वा श्रामण्यायोग्या । **चेव**—चैव । **तेसिं**—तेषा सर्वेषा पूर्वोक्ताना । **सक्कच्चागो**—शक्त्या त्याग सर्वात्मस्वरूपेणानभिलाष सर्वथापरिहार । अथवा तेषा सगाना परिग्रहाणा त्याग पाठान्तरम् । **इयरम्हि य**—इतरेषु च सयमज्ञानशौचोपकरणेषु । **णिम्ममो**—निर्मम ममत्वरहितत्व नि सगत्वम् । **असगो**—असगव्रतत्वम् । किमुक्त भवति—जीवाश्रिता ये परिग्रहा ये चानाश्रिता क्षेत्रादय जीवसम्भवाश्च ये तेषा सर्वेषा मनोवाक्काये सर्वथा त्याग इतरेषु च सयमाद्युपकरणेषु च असङ्गमतिमूर्च्छारहितत्वमित्येतदसङ्गव्रतमिति ॥

पचमहाव्रताना स्वरूप भेद च निरूप्य पचसमितीना भेद स्वरूप च निरूपयन्नाह—

इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥१०॥

इरिया—ईर्या गमनागमनादिक । **भाषा**—भाषा वचन सत्यमृषा - सत्यमृषाऽसत्यमृषाप्रवृत्तिकारणम् । **एसणा**—एषणा चतुर्विधाहारग्रहणवृत्ति । **णिक्खेवादाण**—निक्षेपो ग्रहीतस्य सस्थापन आदान स्थितस्य ग्रहण निक्षेपादाने एवकारोऽवधारणार्थ । **समिदीओ**—समितय सम्यक्प्रवृत्तय । समितिशब्द

परिग्रहो का शक्तिपूर्वक त्याग करना, सर्वात्मस्वरूप से इनकी अभिलाषा नही करना अर्थात् सर्वथा इनका परिहार करना, अथवा 'तेसिं सगच्चागो' ऐसा पाठान्तर होने से उसका यह अर्थ है—इन सग (परिग्रहो) का त्याग करना, और इतर अर्थात् सयम, ज्ञान तथा शौच के उपकरण मे ममत्व रहित होना यह असगव्रत अर्थात् अपरिग्रहव्रत कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि जो जीव के आश्रित परिग्रह है, जो जीव से अनाश्रित क्षेत्र आदि परिग्रह है और जो जीव से सम्भव परिग्रह है उन सबका मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करना और इतर सयम आदि के उपकरणो मे आसक्ति नही रखना, अति मूर्च्छा से रहित होना, इस प्रकार से यह परिग्रहत्याग महाव्रत है ।

पाँच महाव्रत का स्वरूप और भेदो का निरूपण करके अब पाँच समितियो के भेद और स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य कहते है—

गाथार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान तथा मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन—सम्यक्परित्याग ये समितियाँ पाँच प्रकार की ही है ॥१०॥

आचारवृत्ति—गमन-आगमन को ईर्या कहते है । सत्य, मृषा, सत्यमृषा, और असत्यमृषा अर्थात् सत्य, असत्य, उभय और अनुभय रूप प्रवृत्ति मे कारणभूत वचन को भाषा कहते है । चतुर्विध आहार के ग्रहण की वृत्ति को एषणा कहते है । ग्रहण की हुई वस्तु को रखना निक्षेप है और रखी हुई का ग्रहण करना आदान है ऐसा निक्षेपादान का लक्षण है । मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन अर्थात् सम्यक् प्रकार से परित्याग करना प्रतिष्ठापनिका का लक्षण है ।

सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते है । यह समिति प्रत्येक के साथ सम्बन्धित है । ईर्या की समिति ईर्यासमिति है अर्थात् सम्यक् प्रकार से अवलोकन करना, एकाग्रमना होते हुए प्रयत्नपूर्वक गमन-आगमन आदि करना । भाषा की समिति भाषा समिति है अर्थात् शास्त्र और धर्म से अविरुद्ध पूर्वापर विवेक सहित निष्ठुर आदि वचन न बोलना । एषणा आहार

प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ईर्याया समिति ईर्यासमिति सम्यगवलोकन समाहितचित्तस्य प्रयत्नेन गमनागमनादिकम्। भाषाया समिति भाषासमिति श्रुतधर्माविरोधेन पूर्वापरविवेकसहितमनिष्ठुरादिवचनम् । एषणाया समितिरेषणासमिति लोकजुगुप्सादिपरिहीनविशुद्धपिण्डग्रहणम् । निक्षेपादानयो समितिर्निक्षेपादानसमितिश्चक्षु पिच्छकप्रतिलेखनपूर्वकसयत्नग्रहणनिक्षेपादि । **पदिठावणिया य**—प्रतिष्ठापनिका च, अत्रापि समितिशब्द सम्बन्धनीय, प्रतिष्ठापनासमितिर्जन्तुविवर्जितप्रदेशे सम्यगवलोक्य मलाद्युत्सर्ग । **तहा**—तथैव । **उच्चारादीण**—उच्चारादीना मूत्रपुरीषादीनां प्रतिष्ठापना सम्यक्परित्यागो य सा प्रतिष्ठापनासमिति । **पंचविहा एव**—पचप्रकारा एव समितयो भवन्तीत्यर्थः ।

सामान्येन पचसमितीना स्वरूप निरूप्य विशेषार्थमुत्तरमाह—

फासुयमग्गेण दिवा जुंगतरप्पेहिणा सकज्जेण।
जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ।।११।।

फासुगमग्गेण—प्रगता असवो जीवा यस्मिन्नसौ प्रासुक प्रासुकश्चासौ मार्गश्च प्रासुकमार्गो निरवद्य पथास्तेन प्रासुकमार्गेण, गजखरोष्ट्रगोमहिषीजनसमुदायोपमर्दितेन वर्त्मना। **दिवा**—दिवसे सूरोद्गम प्रवृत्तचक्षु प्रचारे। **जुगतरप्पेहिणा**—युगान्तर चतुर्हस्तप्रमाण प्रेक्षते पश्यतीति युगान्तरप्रेक्षी तेन युगान्तरप्रेक्षिणा सम्यगवहितचित्तेन पदनिक्षेपप्रदेशमवलोकमानेन । **सकज्जेण**—कार्य प्रयोजन शास्त्रश्रवणतीर्थयात्रागुरुप्रेक्षणादिक सह कार्येण वर्तते इति सकार्यस्तेन सकार्येण सप्रयोजनेन धर्मकार्यमन्तरेण न गन्तव्यमित्यर्थ । **जतूणि**—जन्तून् जीवान् एकेन्द्रियप्रभृतीन् । **परिहरंतेण**—परिहरता अविराधयता।

की समिति एषणा समिति है अर्थात् लोक-निन्दा आदि से रहित विशुद्ध आहार का ग्रहण करना। निक्षेप और आदान की समिति निक्षेपादान समिति है अर्थात् नेत्र से देखकर और पिच्छिका से परिमार्जित करके यत्नपूर्वक किसी वस्तु को उठाना और रखना। प्रतिष्ठापना की समिति प्रतिष्ठापन समिति है अर्थात् जन्तु से रहित प्रदेश मे सम्यक् प्रकार से देखकर मल-मूत्र आदि का त्याग करना। इस तरह ये पाँच प्रकार की ही समितियाँ होती है ऐसा अभिप्राय है।

सामान्य से पाँच समितियो का स्वरूप निरूपित करके अब उनके विशेष अर्थ के लिए उत्तरसूत्र कहते है—

गाथार्थ—प्रयोजन के निमित्त चार हाथ आगे जमीन देखनेवाले साधु के द्वारा दिवस मे प्रासुकमार्ग से जीवो का परिहार करते हुए जो गमन है वह ईर्यासमिति है।।११।।

आचारवृत्ति—'प्रगता असवो यस्मिन्'—निकल गये है प्राणी जिसमे से उसे प्रासुक कहते है। ऐसा प्रासुक—निरवद्य मार्ग है। उस प्रासुक मार्ग से अर्थात् हाथी, गधा, ऊँट, गाय, भैंस और मनुष्यो के समुदाय के गमन से उपमर्दित हुआ जो मार्ग है उस मार्ग से। दिवस मे—सूर्य के उदित हो जाने पर, चक्षु से वस्तु स्पष्ट दिखने पर चार हाथ आगे जमीन को देखते हुए अर्थात् अच्छी तरह एकाग्रचित्तपूर्वक पैर रखने के स्थान का अवलोकन करते हुए, सकार्य अर्थात् शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन आदि प्रयोजन से, एकेन्द्रिय आदि जन्तुओ की विराधना न करते हुए, जो गमन करना होता है, वह ईर्यासमिति है। इससे यह भी समझना कि धर्मकार्य के बिना साधु को नही चलना चाहिए।

इरियासमिदी—ईर्यासमिति । **हवे**—भवेत् । **गमण**—गमनम् । सकार्येण युगान्तरप्रेक्षिणा सयतेन दिवसे प्रासुकमार्गेण यद्गमन क्रियते सेर्यासमितिर्भवतीत्यर्थ । अथवा सयतस्य जन्तून् परिहरतो तद्गमन सेर्यासमिति ॥

भाषासमिते स्वरूपनिरूपणायोत्तरसूत्रमाह—

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पपसंसविकहादी ।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहण ॥१२॥

पेसुण्ण—पिशुनस्य भाव पैशुन्य निर्दोषस्य दोषोद्भावनम् । **हास**—हसन हास हास्यकर्मोदयवशादधर्मार्थहर्ष । **कक्कस**—कर्कश श्रवणनिष्ठुर कामयुद्धार्थप्रवर्तक वचनम् । **परणिदा**—परेषा निदा जुगुप्सा परनिदा । परेषा तथ्यानामतथ्याना वा दोषाणामुद्भावन प्रति समीहा अन्यगुणासहनम् । **अप्पपसंसा**—आत्मन प्रशसा स्तव आत्मप्रशसा स्वगुणाविष्करणाभिप्राय । **विकहादी**—विकथा आदिर्येषा ते विकथादय स्त्रीकथा, भक्तकथा, चौरकथा, राजकथादय । एतेषा पैशुन्यादीना द्वन्द्वसमास । **वज्जित्ता**—वर्जयित्वा परिहृत्य । **सपरहियं**—स्वश्च परश्च स्वपरौ ताभ्या हित स्वपरहित, आत्मनोऽन्यस्य च सुखकर कर्मबधकारणविमुक्तम् । **भासासमिदी**—भाषासमिति । **हवे**—भवेत् । **कहण**—कथनम् । पैशुन्यहासकर्कशपरनिन्दात्मप्रशसाविकथादीन् वर्जयित्वा स्वपरहित यदेतत् कथन भाषासमितिर्भवतीत्यर्थ ॥

एषणासमितिस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

तात्पर्य यह है कि धर्मकार्य के निमित्त चार हाथ आगे देखते हुए साधु के द्वारा दिवस मे प्रासुक मार्ग मे जो गमन किया जाता है वह ईर्यासमिति कहलाती है । अथवा साधु का जीवो की विराधना न करते हुए जो गमन है वह ईर्यासमिति है ।

अब भाषा समिति का निरूपण करने के लिए आगे का सूत्र कहते है--

गाथार्थ—चुगली, हँसी, कठोरता, परनिन्दा, अपनी प्रशसा और विकथा आदि को छोडकर अपने और पर के लिए हितरूप बोलना भाषासमिति है ॥१२॥

आचारवृत्ति—पिशुन—चुगली के भाव को पैशुन्य कहते है अर्थात् निर्दोष के दोषो का उद्भावन करना, निर्दोष को दोष लगाना । हास्यकर्म के उदय से अधर्म के लिए हर्ष होना हास्य है । कान के लिए कठोर, काम और युद्ध के प्रवर्तक वचन कर्कश है । पर के सच्चे अथवा झूठे दोषो को प्रकट करने की इच्छा का होना अथवा अन्य के गुणो को सहन नही कर सकना यह परनिन्दा है । अपनी प्रशसा-स्तुति करना अर्थात् अपने गुणो को प्रकट करने का अभिप्राय रखना और स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राजकथा आदि को कहना विकथादि हैं । इन चुगली आदि के वचनो को छोडकर अपने और पर के लिए सुखकर अर्थात् कर्मबन्ध के कारणो से रहित वचन बोलना भाषासमिति है ।

तात्पर्य यह है कि पैशुन्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर स्व और पर के लिए हितकर जो कथन करना है वह भाषासमिति है ।

अब एषणासमिति के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहते है—

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी।
सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणासमिदी ॥१३॥

छादालदोससुद्धं—षड्भिरधिका चत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशत् षट्चत्वारिंशतश्च [षट्चत्वारिंशच्च] ते दोषाश्च षट्चत्वारिंशद्दोषा तैः शुद्धं निर्मलं षट्चत्वारिंशद्दोषशुद्धं उद्गमोत्पादनैषणादिकलकरहितम्। **कारणजुत्तं**—कारणैर्निमित्तैर्युक्तं सहितं कारणयुक्तं असातोदयजातबुभुक्षाप्रतीकारार्थं वैयावृत्यादिनिमित्तं च। **विसुद्धणवकोडी**—नव च ता कोटयश्च विकल्पाश्च नवकोटयः विशुद्धा निर्गता नवकोटयो यस्माद्विशुद्धनवकोटि मनोवचनकायकृतकारितानुमतिरहितम्। **सीदादि**—शीतमादिर्यस्य तच्छीतादि शीतोष्णलवणसरसविरसरूक्षादिकम्। **समभुत्ती**—समा सदृशी भुक्तिर्भोजनं समभुक्तिः। शीतादौ समभुक्तिः शीतादिसमभुक्तिः शीतोष्णादिषु भक्ष्येषु रागद्वेषरहितत्वम्। **परिसुद्धा**—समन्ततो निर्मला। **एसणासमिदी**—एषणासमितिः। षट्चत्वारिंशद्दोषरहितं यदेतत् पिंडग्रहणं सकारणं मनोवचनकायकृतकारितानुमतिरहितं च शीदादौ समभुक्तिश्च, अनेन न्यायेनाचरतो निर्मलैषणासमितिर्भवतीत्यर्थः॥

आदाननिक्षेपसमितिस्वरूपं निरूपयन्नाह—

णाणुवहिं संजमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥१४॥

णाणुवहि—ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्योपधिरुपकरणं ज्ञानोपधिर्ज्ञाननिमित्तं पुस्तकादि। **संजमुवहिं**—संयमस्य पापक्रियानिवृत्तिलक्षणस्योपधि[1]रुपकरणं संयमोपधिः प्राणिदयानिमित्तं पिच्छिकादि। **सउचुवहिं**

गाथार्थ—छयालीस दोषों से रहित शुद्ध, कारण से सहित, नव कोटि से विशुद्ध और शीत-उष्ण आदि में समान भाव से भोजन करना यह सम्पूर्णतया निर्दोष एषणा समिति है ॥१३॥

आचारवृत्ति—उद्गम, उत्पादन, एषणा आदि छयालीस दोषों से शुद्ध आहार निर्दोष कहलाता है। असाता के उदय से उत्पन्न हुई भूख के प्रतीकार हेतु और वैयावृत्य आदि के निमित्त किया गया आहार कारणयुक्त होता है। मन-वचन-काय को कृत-कारित-अनुमोदना से गुणित करने पर नव होते हैं। इन नवकोटि-विकल्पों से रहित आहार नव-कोटि-विशुद्ध है। ठण्डा, गर्म, लवण से सरस या विरस अथवा रूक्ष आदि भोजन में समानभाव अर्थात् शीत, उष्ण आदि भोज्य वस्तुओं में राग-द्वेषरहित होना, इस प्रकार सब तरफ से निर्मल-निर्दोष आहार ग्रहण करना एषणासमिति होती है। तात्पर्य यह है कि छयालीस दोषरहित जो आहार का ग्रहण है जो कि कारण सहित है और मन-वचन-कायपूर्वक कृत-कारित-अनुमोदना से रहित तथा शीतादि में समता भावरूप है वह साधु के निर्मल एषणासमिति होती है।

अब आदाननिक्षेपण समिति के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान का उपकरण, संयम का उपकरण, शौच का उपकरण अथवा अन्य भी उपकरण को प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है ॥१४॥

आचारवृत्ति—ज्ञान—श्रुतज्ञान के उपधि—उपकरण अर्थात् ज्ञान के निमित्त पुस्तक आदि ज्ञानोपधि है। पापक्रिया से निवृत्ति लक्षणवाले संयम के उपकरण अर्थात् प्राणियों की

१. क °धि कारण।

—**शौचस्य** पुरीषादिमलापहरणस्योपधि'रुपकरण शौचोपधिर्मूत्रपुरीषादिप्रक्षालननिमित्त कुडिकादिद्रव्यम् । ज्ञानोपधिश्च सयमोपधिश्च शौचोपधिश्च ज्ञानोपधिसयमोपधिशौचोपधयस्तेषा ज्ञानाद्युपधीनाम् । **अण्णमवि**—अन्यस्यापि सस्तरादिकस्य । **उवहि वा**—उपधेर्वा उपकरणस्य सस्तरादिनिमित्तस्य उपकरणस्य प्राकृतलक्षणबलादत्र पष्ठीविभक्तिर्द्रष्टव्या । **पयदं**—प्रयत्नेनोपयोग कृत्वा । **गहणिक्खेवो**—ग्रहण ग्रह निक्षेपण निक्षेप, ग्रहश्च निक्षेपश्च ग्रहनिक्षेपौ । **समिदी**—समिति । **आदाणणिक्खेवा**—आदाननिक्षेपौ । ज्ञानोपधिसयमोपधिशौचोपधीनामन्यस्य चोपधेर्यत्नेन यौ ग्रहणनिक्षेपौ प्रतिलेखनपूर्वकौ सा आदाननिक्षेपा समितिर्भवतीत्यर्थ ॥

पचमसमितिस्वरूपनिरूपणायाह—

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥१५॥

एगंते—एकान्ते विजने यत्रासयतजनप्रचारो नास्ति । **अच्चित्ते**—हरितकायत्रसकायादिविविक्ते दग्धे—दग्धसमे स्थण्डिले । **दूरे**—ग्रामादिकाद्विप्रकृष्टे प्रदेशे । **गूढे**—सवृते जनानामचक्षुर्विषये । **विसाल**—

दया के निमित्त पिच्छिका आदि सयमोपधि है । मल आदि के दूर करने के उपकरण अर्थात् मलमूत्रादि प्रक्षालन के निमित्त कमण्डलु आदि द्रव्य शौचोपधि है । अन्य भी उपधि का अर्थ है सस्तर आदि उपकरण । अर्थात् घास, पाटा आदि वस्तुएँ । इन सब उपकरणों को प्रयत्न-पूर्वक अर्थात् उपयोग स्थिर करके सावधानीपूर्वक ग्रहण करना तथा देख शोधकर ही रखना यह आदान-निक्षेपण समिति है । यहाँ गाथा मे 'उपधि' शब्द मे द्वितीया विभक्ति है किन्तु प्राकृतव्याकरण के बल से यहाँ पर षष्ठी विभक्ति का अर्थ लेना चाहिए । तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानोपकरण, सयमोपकरण, शौचोपकरण तथा अन्य भी उपधि (वस्तुओ) का सावधानीपूर्वक पिच्छिका से प्रतिलेखन करके जो उठाना और धरना है वह आदान-निक्षेपण समिति है ।

अब पाँचवी समिति का स्वरूप निरूपित करते है—

गाथार्थ—एकान्त, जीवजन्तु रहित, दूरस्थित, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोधरहित स्थान मे मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है ॥१५॥

आचारवृत्ति—जहाँ पर असयतजनो का गमनागमन नही है ऐसे विजन स्थान को एकान्त कहते है । हरितकाय और त्रसकाय आदि से रहित जले हुए अथवा जले के समान ऐसे स्थण्डिल—खुले मैदान को अचित्त कहा है ।* ग्राम आदि से दूर स्थान को यहाँ दूर शब्द

---

१. क 'धि कारण ।

* निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥१८।

अर्थ—जीव मरे चाहे न मरें किन्तु अयत्नाचारप्रवृत्ति वाले के निश्चित ही हिसा होती है और समितियुक्त यत्नाचार प्रवृत्ति करनेवाले के हिसा हो जाने मात्र से भी बन्ध नही होता है ।

विशाले विस्तीर्णे विलादिविरहिते। **अविरोहे**—अविरोधे यत्र लोकापवादो नास्ति । **उच्चारादि**—उच्चारो मल आदिर्यस्य स उच्चारादिस्तस्य उच्चारादे मूत्रपुरीषादे । **चाओ**—त्याग । **पदिठावणिया**—प्रतिष्ठापनिका। **हवे**—भवेत् । **समिदी**—समिति । एकान्ताचित्तदूरगूढविशालाविरोधेषु प्रदेशेषु यत्नेन कायमलादिस्त्याग सा उच्चारप्रस्रवणप्रतिष्ठापनिका समितिर्भवतीत्यर्थ ।

इन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणायोत्तरविभागासूत्रमाह—

चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥१६॥

चक्खु—चक्षु । **सोद**—श्रोत्रम् । **घाण**—घ्राणम् । **जिब्भा**—जिह्वा । **फासं**—स्पर्श । च समुच्चयार्थ । **इंदिया**—इन्द्रियाणि मतिज्ञानावरणक्षयोपशमशक्तय । इन्द्रिय द्विविध द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय चेति । तत्र द्रव्येन्द्रिय द्विविध निर्वृत्तिरुपकरण च। कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृत्ति, सा च द्विविधा बाह्याभ्यन्तरा चेति उत्सेधाङ्गुलासख्येयभागप्रमिताना शुद्धानामात्मप्रदेशाना प्रतिनियतचक्षु श्रोत्रघ्राण-रसनस्पर्शेन्द्रियसस्थानेनावस्थिताना वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्ति । तेषु आत्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाग् य प्रतिनियतसस्थाननामकर्मोदयापादितावस्थाविशेष पुद्गलप्रचय सा बाह्या निर्वृत्ति । येन निर्वृत्ते-रुपकार क्रियते तदुपकरण। तदपि द्विविध आभ्यन्तरबाह्यभेदेन। तत्राभ्यन्तर कृष्णशुक्लमण्डल। बाह्य-

---

से सूचित किया है। सवृत्त—मर्यादा सहित स्थान अर्थात् जहाँ लोगो की दृष्टि नही पड़ सकती ऐसे स्थान को गूढ कहते है। विस्तीर्ण या विलादि से रहित स्थान विशाल कहा गया है और जहाँ पर लोगो का विरोध नही है वह अविरुद्ध स्थान है। ऐसे स्थान मे शरीर के मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना नाम की समिति है। तात्पर्य यह हुआ कि एकान्त, अचित्त, दूर, गूढ, विशाल और विरोधरहित प्रदेशो मे सावधानीपूर्वक जो मल आदि का त्याग करना है वह मल-मूत्र विसर्जन के रूप मे प्रतिष्ठापन समिति होती है।

अब इन्द्रियनिरोध व्रत के स्वरूप का निरूपण करने के लिए उत्तरविभाग सूत्र कहते है—

गाथार्थ—मुनि को चाहिए कि वह चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन इन पाँच इन्द्रियो को अपने विषयो से हमेशा रोके ॥१६॥

आचारवृत्ति—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श ये इन्द्रियाँ है अर्थात् मतिज्ञाना-वरण के क्षयोपशम की शक्ति का नाम इन्द्रिय है। इन्द्रिय के दो भेद है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। उनमें द्रव्येन्द्रिय के भी दो भेद है—निर्वृत्ति और उपकरण। कर्म के द्वारा जो बनायी जाती है वह निर्वृत्ति है। उसके भी दो भेद हैं—आभ्यान्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। उत्सेधागुल के असख्यातवे भाग प्रमाण, शुद्ध आत्मा के प्रदेशों का प्रतिनियत चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियो के आकार से अवस्थित होना आभ्यन्तर-निर्वृत्ति है और उन आत्म-प्रदेशों में इन्द्रिय इस नाम को प्राप्त प्रतिनियत आकार रूप नामकर्म के उदय से होनेवाला अवस्था विशेष रूप जो पुद्गल वर्गणाओं का समूह है वह बाह्य निर्वृत्ति है। जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है वह उपकरण है। आभ्यन्तर और बाह्य की अपेक्षा उसके

मक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। एवं श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रियरसनेन्द्रियस्पर्शनेन्द्रियाणां वक्तव्यं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यम्। भावेन्द्रियमपि द्विविधं लब्ध्युपयोगभेदेन। लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः। यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते सा लब्धिः। तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात्। वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भबलादात्मना स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्, रस्यतेऽनेनेति रसनम्, घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम्, चष्टेऽर्थान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः, श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्। स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते कर्तृकरणयोरभेदात्। इदं मे चक्षुः सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति। स्पृशतीति स्पर्शनम्। रसतीति रसनम्। जिघ्रतीति घ्राणम्। चष्टे इति चक्षुः। शृणोतीति श्रोत्रमिति। एवमिन्द्रियाणि पंच। तद्विषयाश्च पंच। वर्ण्यत इति वर्णः। शब्द्यते इति शब्दः। गन्ध्यत इति गन्धः। रस्यत इति रसः। स्पृश्यत इति स्पर्श इति। **पंच**—संख्यावचनमेतत्। **सगसगविसएहिंतो**—स्वकीयेभ्यः स्वकीयेभ्यो विषयेभ्यो रूपशब्दगन्धरसस्पर्शेभ्यः स्वभेद-

---

भी दो भेद है। चक्षु इन्द्रिय का काला और सफेद जो मण्डल है वह आभ्यन्तर उपकरण है और नेत्रो की पलक विरूनि आदि बाह्य उपकरण है। ऐसे ही श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय इनमे बाह्य और आभ्यन्तर निर्वृत्ति तथा उपकरण के भेदो को समझना चाहिए।

भावेन्द्रियो के भी दो भेद है—लब्धि और उपयोग। लभन लब्धि अर्थात् प्राप्त करना लब्धि है। वह ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष है अर्थात् जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापार करता है वह लब्धि है। उस निमित्तक आत्मा का परिणाम उपयोग है क्योकि कारण का धर्म कार्य मे देखा जाता है। वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अगोपाग नामक नामकर्म के लाभ से प्राप्त हुए बल से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन है। इन्ही उपर्युक्त कर्मो के क्षयोपशम और उदय के बल से अर्थात् वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण के अन्तर्गत रसनेन्द्रिय आवरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अगोपाग नामकर्म के उदय से आत्मा जिसके द्वारा चखता है उसको रसना कहते है। इसी प्रकार आत्मा जिसके द्वारा सूंघता है वह घ्राणेन्द्रिय है। आत्मा जिसके द्वारा पदार्थो को 'चष्टे' अर्थात् देखता है वह चक्षु है और जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र है। ये उपर्युक्त लक्षण करण की अपेक्षा से कहे गये अर्थात् 'स्पर्श्यतेऽनेनेति स्पशनम्' इत्यादि। इस व्युत्पत्ति के अर्थ मे इन्द्रियाँ अप्रधान है। इनमे स्वातन्त्र्य विवक्षा भी देखी जाती है क्योकि कर्ता और करण मे अभेद पाया जाता है। जैसे—'इदं मे चक्षु सुष्ठु पश्यति' इत्यादि। अर्थात् यह मेरी आँख ठीक से देखती है, यह मेरा कान अच्छा सुनता है, इत्यादि। इसी प्रकार जो स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है, जो चखता है वह रसना है, जो सूंघता है वह घ्राण है, जो देखती है वह चक्षु है और जो सुनता है वह कान है। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ पाँच है।

इन इन्द्रियो के विषय भी पाँच प्रकार के है—जो देखा जाता है वह वर्ण है; जो ध्वनित होता है, सुना जाता है वह शब्द है, जो सूंघा जाता है वह गन्ध है, जो चखा जाता है वह रस है और जो स्पर्शित किया जाता है वह स्पर्श है। गाथा मे 'पच' शब्द सख्यावाची है। **स्वकीय भेदो से भेदरूप सुन्दर और असुन्दर ऐसे रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श स्वरूप अपने-**

भिन्नेभ्यो मनोहरामनोहररूपेभ्य । **णिरोहियव्वा**—निरोधयितव्यानि—सम्यक् ध्याने प्रवेशयितव्यानि। **सया**—सदा सर्वकालम् । **मुणिणा**—मुनिना सयमप्रियेण । स्वकीयेभ्य स्वकीयेभ्यो विषयेभ्यो रूपशब्द-गन्धरसस्पर्शेभ्यश्चक्षुरादीना निरोधनानि मुनेर्यानि तानि पच इन्द्रियनिरोधनानि पच मूलगुणा भवन्तीत्यर्थ.। अथवा ये पच निरोधा इद्रियाणा क्रियते मुनिना स्वविषयेभ्यस्ते पंचेद्रिय-निरोधा पच मूलगुणा भवन्तीत्यर्थ ।

प्रथमस्य चक्षुर्निरोधव्रतस्य स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु ।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥१७॥

सच्चित्ताचित्ताणं—सहचित्तेन सामान्यज्ञानदर्शनोपयोगनिमित्तचैतन्येन वर्तन्त इति सचित्तानि सजीवरूपाणि देवमनुष्यादियोषिद्रूपाणि, न चित्तानि अचित्तानि सचित्तद्रव्यप्रतिविम्बानि, अजीव-द्रव्याणि च। सचित्तानि, चाचित्तानि च सचित्ताचित्तानि, तेषां सचित्ताचितानाम् । **किरियासंठाणवण्ण-भेएसु**—क्रिया गीतविलासनृत्यचक्रमणात्मिका, सस्थान समचतुरस्रन्यग्रोधाद्यात्मक वैशाखबन्धपुटाद्यात्मक च, वर्णा गौरश्यामादय । क्रिया च सस्थान च वर्णाश्च क्रियासस्थानवर्णाः, तेषा भेदा विकल्पा क्रियासस्थान-

---

अपने विषयो से इन पाँचो इन्द्रियो का निरोध करना चाहिए अर्थात् मुनियों को हमेशा इन्हे समीचीन ध्यान मे प्रवेश कराना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श-स्वरूप अपने-अपने विषयो से मुनि के जो चक्षु आदि इन्द्रियों के निरोध होते है वे पाँच इन्द्रिय निरोध मूलगुण कहलाते है। अथवा मुनि के द्वारा पाँच इन्द्रियो का जो अपने विषयों से रोकना है वे ही पाँच इन्द्रिय-निरोध नाम के मूलगुण होते है।

विशेषार्थ—यहाँ पर पाँच इन्द्रियो मे चक्षुइन्द्रिय को पहले लेकर पुन· कर्णेन्द्रिय को लिया है, अनन्तर घ्राण, रसना और स्पर्शन को लिया है। सिद्धान्त ग्रन्थो मे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ऐसा क्रम लिया जाता है। इन दोनों प्रकारो मे परस्पर मे कोई बाधा नही है। वहाँ सिद्धान्त मे उत्पत्ति की अपेक्षा इन्द्रियो का क्रम है क्योकि जो एकेन्द्रिय है उनके एक स्पर्शन ही है न कि चक्षु, जो दो-इन्द्रिय जीव है उनके स्पर्शन और रसना, जो तीन-इन्द्रिय जीव हैं उनके स्पर्शन, रसना और घ्राण, चार-इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु तथा पाँच-इन्द्रिय जीवो के कर्ण और मिलाकर पाँच इन्द्रियाँ हो जाती है। परन्तु यहाँ पर क्रम की कोई विवक्षा नही, मात्र पाँचो इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो से रोकने मे पाँच मूलगुण हो जाते है अत यहाँ अक्रम से लेने मे भी कोई बाधा नही है।

अब प्रथम चक्षुनिरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते है—

गाथार्थ—सचेतन और अचेतन पदार्थों के क्रिया, आकार और वर्ण के भेदों मे मुनि के जो राग-द्वेष आदि सग का त्याग है वह चक्षुनिरोध व्रत होता है ॥१७॥

आचारवृत्ति—सामान्य ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग निमित्तक चैतन्य को चित्त कहते है। उसके साथ जो रहते है वे सचित्त है अर्थात् देव, मनुष्य आदि के, स्त्रियों के सजीव रूप सचित्त हैं, सचित्त द्रव्य के प्रतिबिम्ब और अजीवद्रव्य अचित्त हैं। इन सचेतन और अचेतन पदार्थों की गीत, विलास, नृत्य, गमन आदि क्रियाओ में, इनके समचरतुरस्र, न्यग्रोध आदि

सवर्णभेदास्तेषु क्रियासस्थानवर्णभेदेषु, नृत्यगीतकटाक्षनिरीक्षणसमचतुरस्राकारगौरश्यामादिविकल्पेषु, शोभनाशोभनेषु। **रागादिसंगहरणं**—राग आदिर्येषा ते रागादय रागादयश्च ते सगाश्च रागादिसगा सगाश्चासक्तयस्तेषां हरणं निराकरण रागादिसगहरण रागद्वेषाद्यनभिलाष । **चक्खुणिरोहो**—चक्षुषोनिरोधश्चक्षुर्निरोध· चक्षुरिन्द्रियाप्रसर । **हवे**—भवेत् । **मुणिणो**—मुनेरिन्द्रियसयमनायकस्य। स्त्रीपुरुषाणा स्वरूपलेपकर्मादिव्यवस्थिताना ये क्रियासस्थानवर्णभेदास्तद्विषये यदेतत् रागादिनिराकारण तच्चक्षुर्निरोधव्रत मुनेर्भवतीत्यर्थ· ॥

श्रोत्रेन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

सड्जादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे ।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु ॥१८॥

सड्जादिजीवसद्दे—षड्ज स्वरविशेष. स आदिर्येषा ते षड्जादय जीवस्य शब्दा जीवशब्दा षड्जा-

---

आकारो और वैशाख तथा बन्धपुट आदि आसनो मे और गौर श्याम आदि वर्णो मे अर्थात् नर्तन, गीत, कटाक्ष, निरीक्षण, समचतुरस्र आकार और गौर-श्याम आदि तथा सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक भेदो मे राग-द्वेषपूर्वक आसक्ति का त्याग करना अर्थात् राग-द्वेष आदि पूर्वक अभिलाषा नही होना—यह इन्द्रियसंयम के स्वामी मुनि का चक्षुनिरोध व्रत है।

विशेषार्थ—उपयोग को भावेन्द्रिय मे भी लिया है और जीव का आत्मभूत लक्षण भी उपयोग है जोकि सिद्धो मे भी पाया जाता है, दोनो मे क्या अन्तर है? और यदि अन्तर न माना जाये तो सिद्धो मे भी भावेन्द्रिय का सद्भाव मानना पडेगा। इसपर धवला टीकाकार ने बताया है* —'क्षयोपशमजनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति, तस्य क्षायिकभावेनापसारित्वात्।' अर्थात् क्षयोपशम से उत्पन्न हुए उपयोग को इन्द्रिय कहते है। किन्तु जिनके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो गये है, ऐसे सिद्धो मे क्षयोपशम नही पाया जाता है क्योकि वह क्षायिकभाव के द्वारा दूर कर दिया जाता है। अभिप्राय यह कि भावेन्द्रियो मे जो उपयोग लिया है वह भी यद्यपि आत्मा का ही परिणाम है तो भी वह कर्मो के क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है और सिद्धो को भावेन्द्रियाँ न होने के कारण उनका उपयोग पूर्णतया ज्ञान-दर्शन रूप होने से क्षायिक है अत वह इन्द्रियो मे गर्भित नही है।

तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप मे या लेपकर्म आदि मे बने हुए जो स्त्री या पुरुष है उनकी क्रियाओ, आकार और वर्णभेदो मे जो राग-द्वेष आदि का निराकरण करना है वह मुनि का चक्षुनिरोध नाम का व्रत है।

अब श्रोत्रेन्द्रिय निरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते है—

गाथार्थ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि शब्द और वीणा आदि अजीव से उत्पन्न हुए शब्द—ये सभी रागादि के निमित्त है। इनका नही करना कर्णेन्द्रिय-निरोध व्रत है ॥१८॥

आचारवृत्ति—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत, पचम और निषाद के भेदों की

---

* धवला पु. प्र. पृ २५१।

दयश्च जीवशब्दाश्च षड्जादिजीवशब्दा. षड्जर्षभगान्धारमध्यमधैवतपंचमनिषादभेदा उर:कण्ठशिर'स्थान-भेदभिन्ना., आरोह्यवरोहिस्थायिसचारिवर्णयुक्ता मन्द्रतारादिसमन्विता:, अन्ये च दु:स्वरशब्दा रासभादि-समुत्था ग्राह्या.। **वीणादिअजीवसभवा**—वीणा आदिर्येषा ते वीणादयो वीणादयश्च ते अजीवाश्च वीणाद्यजीवा-स्तेभ्य सभवन्तीति वीणाद्यजीवसम्भवा वीणा-त्रिशरी-रावणहस्तालावनि-मृदग-भेरी-पटहाद्युद्भवा । **सद्दे**-शब्दा । **रागादीण**—राग आदिर्येषा ते रागादयस्तेषा रागादीनां रागद्वेषादीनाम् । **णिमित्ते**—निमित्तानि हेतवो रागादिकारणभूता । **तदकरणं**—तेषा षड्जादीनामकरणमश्रवण च तदकरण स्वतो न कर्तव्या नापि तेऽन्यैः क्रियमाणा रागाद्याविष्टचेतसा श्रोतव्या इति । **सोदरोधो दु**—श्रोत्रस्य श्रोत्रेन्द्रियस्य रोधः श्रोत्ररोध.। दु विशेषार्थ । रागादिहेतवो ये षड्जादयो जीवशब्दा वीणाद्यजीवसम्भवाश्च, तेषा यदश्रवण आत्मना अकरण च तच्छ्रोत्रव्रत मुनेर्भवतीत्यर्थं । अथवा षड्जादिजीवशब्दविषये वीणाद्यजीवसभवे शब्दविषये च रागादीनां यन्नि-मित्तं तस्याकरणमिति ॥

तृतीयस्य घ्राणेन्द्रियनिरोधव्रतस्य स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे ।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स ॥१९॥

अपेक्षा जीव से उत्पन्न हुए शब्दो के सात भेद है। छाती, कण्ठ, मस्तक स्थान से उत्पन्न होने की अपेक्षा भी शब्दो के अनेक भेद है। आरोही, अवरोही, स्थायी और सचारी वर्णों से युक्त मन्द्र तार आदि ध्वनि से सहित जो नाना प्रकार के शब्द जीवगत देखे जाते हैं और अन्य भी, गधे आदि मे उत्पन्न हुए दु स्वर शब्द भी यहाँ ग्रहण किये जाते है। वीणा, त्रिशरी, रावण के हाथ की आलावनि*, मृदग, भेरी, पटह आदि से होनेवाले शब्द अजीव से उत्पन्न होते है अत: ये अजीवसभव कहलाते है। ये सभी प्रकार के शब्द राग-द्वेष आदि के निमित्तभूत है। इन शब्दों को न करना और न सुनना अर्थात् राग-द्वेष के कारणभूत इन शब्दो को न स्वय करना और न ही दूसरो द्वारा किये जाने पर रागादि युक्त मन से इनको सुनना—यह श्रोत्रेन्द्रिय-निरोधव्रत है। तात्पर्य यह कि षड्ज आदि जीव-शब्द और वीणा आदि से उत्पन्न हुए अजीव-शब्द—ये सभी राग-द्वेष आदि के हेतु है। इनका जो नही सुनना और नही करना है मुनि का वह श्रोत्रव्रत कहलाता है। अथवा सक्षेप मे यह समझिए कि षड्जादि जीव शब्द के विषयो मे और वीणादि से उत्पन्न अजीव शब्द के विषयों में राग-द्वेषादि का निमित्त है। उसे नही करना श्रोत्रेन्द्रियजय है।

अब तृतीय घ्राणेन्द्रियनिरोध व्रत का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—जीव और अजीवस्वरूप मुख और दु खरूप प्राकृतिक तथा पर-निमित्तिक गन्ध में जो राग-द्वेष का नही करना है वह मुनिराज का घ्राणेन्द्रियजय व्रत है ॥१९॥

---

१. क 'रस्थभे'।

* पद्मपुराण मे चर्चा है कि रावण ने बालि मुनि की स्तुति अपने हाथ की तन्त्री निकालकर की थी। उसी को लक्ष्य कर रावणहस्तालावनि वाद्य विशेष का नाम प्रचलित हुआ जान पड़ता है।

पयडीवासणगंधे—प्रकृतिः स्वभाव, वासना अन्यद्रव्यकृतसस्कार, प्रकृतिश्च वासना च प्रकृतिवासने ताभ्या गन्धः सौरभ्यादिगुण प्रकृतिवासनागन्धस्तस्मिन् स्वस्वभावान्यद्रव्यसस्कारकृते सौरभ्यादिगुणे। **जीवाजीवप्पगे**—जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा चेतनालक्षणो जीव सुखदु खयो. कर्ता, न जीवोऽजीवस्तद्विपरीत', जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ तौ प्रगच्छतीति जीवाजीवप्रग जीवाजीवस्वरूप तस्मिन् जीवाजीवस्वरूपे कस्तूरीयक्षकर्दमचदनादिसुगन्धद्रव्ये। **सुहे**—सुखे स्वात्मप्रदेशाह्लादनरूपे। **असुहे**—असुखे स्वप्रदेशपीडाहेतौ सुखदु खयोर्निमित्ते। **रागद्देसाकरणं**—रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तयोरकरण अनभिलाष [1] रागद्वेषाकरणमनुरागजुगुप्सानभिलाष.। **घाणणिरोहो**—घ्राणेन्द्रियनिरोध घ्राणेन्द्रियाप्रसर। **मुणिवरस्स**—मुनीना वर' श्रेष्ठो मुनिवरः यतिकुञ्जरस्तस्य मुनिवरस्य। जीवगते अजीवगते च प्रकृतिगन्धे वासनागन्धे च सुखरूपेऽसुखरूपे च यदेतद्रागद्वेषयोरकरण मुनिवरस्य तत् घ्राणेन्द्रियनिरोधव्रत भवतीत्यर्थ ॥

चतुर्थरसनेन्द्रियनिरोधव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी ॥२०॥

आचारवृत्ति—स्वभाव को प्रकृति कहते है, अन्य द्रव्य के द्वारा किये गये सस्कार को वासना कहते है और सुरभि आदि गुण को गन्ध कहते है। जो जीता है, जियेगा और पहले जीवित था वह जीव है अथवा चेतना लक्षणवाला जीव है जो कि सुख और दु ख का कर्ता है। जीव के लक्षण से विपरीत लक्षणवाला अजीव है। इन जीव और अजीव को प्राप्त होनेवाली अर्थात् जीव और अजीव स्वरूप से गन्ध दो प्रकार की होती है। इसमे से कस्तूरी मृग की नाभि से उत्पन्न होती है, अत यह जीवस्वरूप गन्ध है। यक्षकर्दम, चन्दन आदि अजीव स्वरूप गन्ध हैं। जो सुगन्धित है वे अपनी आत्मा के प्रदेशो मे आह्लादनरूप सुख की निमित्त है। इनसे विपरीत जीव-अजीव रूप दुर्गन्ध आत्म-प्रदेशो मे पीडा के निमित्त होने से दु खरूप है। इनमे राग-द्वेष नही करना अर्थात् अनुराग और ग्लानि का भाव नही होना—यह मुनिपुगवो का घ्राणेन्द्रिय निरोध नाम का व्रत है। तात्पर्य यह कि जीवगत और अजीव जो स्वाभाविक अथवा अन्य निमित्त से की गयी गन्ध है जो कि सुख और दु ख रूप है अर्थात् अच्छी या बुरी है उनमे जो राग-द्वेष का नही करना है वह मुनिवरो का घ्राणेन्द्रियनिरोध व्रत है।

विशेषार्थ*—जिसमे कस्तूरी, अगुरु, कपूर और ककोल समान मात्रा मे डाले जाते है वह यक्षकर्दम है अथवा महासुगन्धित लेप यक्षकर्दम कहलाता है।

अब चौथे रसना इन्द्रियनिरोध का स्वरूप निरूपण करने के लिए कहते है—

गाथार्थ—अशन आदि से चार भेदरूप, पच रसयुक्त, प्रासुक, निर्दोष, पर के द्वारा दिये गये रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार मे लम्पटता का नही होना जिह्वाइन्द्रियनिरोध व्रत है ॥२०॥

---

१. क 'षः अननुरागजु'। २ जऊ द.।

* कर्पूरागुरुकस्तूरीकक्कोलैर्यक्षकर्दम इत्यमरकोश.।

असणादिचदुवियप्पे—अशनमादिर्येषा तेऽशनादयो भोजनादय. चत्वारश्च ते विकल्पाश्च चतुर्विकल्पा: अशनादयश्चतुर्विकल्पा यस्मिन्नसौ अशनादिचतुर्विकल्पस्तस्मिन्नशनपानखाद्यस्वाद्यभेदे भक्तदुग्धलड्डुकैलादिस्वभेदभिन्ने । **पंचरसे**—पचरसा यस्मिन्नसौ पचरसस्तस्मिन् पचरसे तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदभिन्ने । लवणस्य मधुररसेऽन्तर्भाव । **फासुए**—प्रासुके जीवसम्मूर्च्छनादिरहिते । **णिरवज्जे**—अवद्याद्दोषान्निर्गतो निरवद्यस्तस्मिन् निरवद्ये पापागमविरहिते कुत्सादिदोषमुक्ते च । **इट्ठाणिट्ठ**—इष्टोऽभिप्रेतो मनोह्लादक , अनिष्टोऽनभिप्रेत' मनोदुखद , इष्टश्च अनिष्टश्चेष्टानिष्टस्तस्मिन्निष्टानिष्टे । **आहारे**—आहारो बुभुक्षाद्युपशामकं द्रव्य तस्मिन्नाहारे । **दत्ते**—प्राप्ते दातृजनोपनीते । **जिब्भाजओ**—जिह्वाया जयो जिह्वाजयो रसनेन्द्रियात्मवशीकरणम् । **अगिद्धी**—अगृद्धिरनाकाक्षा । आहारे अशनादिचतुष्प्रकारे पचरससमन्विते प्रासुके निरवद्ये च प्राप्ते[२] सति येयमगृद्धिस्तज्जिह्वाजयव्रत भवतीत्यर्थः ॥

स्पर्शनेन्द्रियनिरोधव्रतस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्नुत्तरसूत्रमाह—

जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे ।
फासे[३] सुहे य असुहे फासणिरोहो[४] असंमोहो ॥२१॥

जीवाजीवसमुत्थे—जीवश्च अजीवश्च जीवाजीवौ तयो जीवाजीवयो समुत्तिष्ठते सम्भवतीति जीवाजीवसमुत्थ्स्तस्मिन्श्चेतनाचेतनसम्भवे । **कक्कडमउगादि अट्ठभेदजुदे**—कर्कश कठिन , मृदु कोमल

आचारवृत्ति—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य के भेद से भोज्य वस्तु के चार भेद हैं। इनके उदाहरण मे भक्त अर्थात् रोटी-भात आदि अशन है, दूध आदि पीने योग्य पदार्थ पान है, लड्डू आदि खाद्य है और इलायची आदि स्वादिष्ट वस्तुएँ स्वाद्य हैं। तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे के भेद से रस के पाँच भेद है। यहाँ पर नमक को मधुर रस मे अन्तर्भूत किया गया है। अर्थात् नमक भोजन मे सबसे अधिक रुचिकर होने से इसका अन्तर्भाव मधुरस में ही हो जाता है। सम्मूर्च्छन आदि जीवो से रहित को प्रासुक कहते है। आगम कथित आहार के दोषो से रहित भोजन निर्दोष कहलाता है, अर्थात् जो पाप के आस्रव का कारण नही है और कुत्सा-निन्दा, ग्लानि आदि दोषो से रहित है तथा जो दातारो के द्वारा दिया गया एवं भूख आदि को शमन करनेवाला द्रव्य जो कि आहार इस नाम से विवक्षित है ऐसा आहार चाहे मन को आह्लादकर होने से इष्ट हो या मन को अरुचिकर होने से अनिष्ट हो उसमे गृद्धि अर्थात् आसक्ति या आकांक्षा नही रखना, अपनी रसना इन्द्रिय को अपने वश में करना—यह जिह्वाजय व्रत है। तात्पर्य यह कि अशन आदि के भेद से चार प्रकार रूप, पाँच रसों से समन्वित, प्रासुक तथा निर्दोष ऐसे आहार के मिलने पर उसमे गृद्धता नही होना जिह्वाजयव्रत कहलाता है।

अब स्पर्शनेन्द्रिय निरोधव्रत के स्वरूप का प्रतिपादन करते उत्तरसूत्र कहते हैं—

गाथार्थ—जीव और अजीव से उत्पन्न हुए एवं कठोर, कोमल आदि आठ भेदों से युक्त सुख और दु:खरूप स्पर्श में मोह रागादि नही करना स्पर्शनेन्द्रियनिरोध है ॥२१॥

आचारवृत्ति—कठोर, कोमल शीत, उष्ण, चिकने, रूखे, भारी और हल्के ये आठ प्रकार स्पर्श है। ये स्त्री आदि के निमित्त से होने पर चेतन से उत्पन्न हुए कहे जाते हैं और गद्दे

---

१ जऊ द. । २ क 'प्राप्तेऽप्र' । ३ क फस्से । ४ क फस्स ।

कर्कशश्च मृदुश्च कर्कशमृदू तावादिर्येषा ते कर्कशमृद्वादय अष्टौ च ते भेदाश्चाष्टभेदा कर्कशमृद्वादयश्च ते अष्टभेदाश्च कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदास्तैर्युक्त कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदयुक्तस्तस्मिन् कर्कशमृदुशीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुगुण-विकल्पसमन्विते वनितातूलिकाद्याधारभूते। **फासे**—स्पर्शे। **सुहे**—सुखे सुखहेतौ। **असुहे य**—असुखे[1] च दु:खहेतौ। **फासणिरोहो**—स्पर्शनिरोध स्पर्शनेन्द्रियजय। **असमोहो**—न सम्मोह असम्मोहोऽनाह्लाद इत्यर्थ। जीवाजीवसमुद्भवे कर्कशमृद्वाद्यष्टभेदयुक्ते सुखासुखस्वरूपनिमित्ते स्पर्शविषये योऽयमसम्मोहोऽनभिलाप. स्पर्शनेन्द्रियनिरोधव्रत भवतीत्यर्थ ॥

पचेन्द्रियनिरोधव्रताना स्वरूप निरूप्य षडावश्यकव्रतानां स्वरूप नामनिर्देश च निरूपयन्नाह—

समदा थवो य वंदण पाडिक्कमण तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥२२॥

समदा—समस्य भाव समता रागद्वेषादिरहितत्व[2] त्रिकालपचनमस्कारकरण वा। **थवो**—स्तव चतुर्विंशतितीर्थकरस्तुति। **वंदणा**—वन्दना एकतीर्थकृत्प्रतिबद्धा दर्शनवन्दनादिपचगुरुभक्तिपर्यन्ता वा। **पडिक्कमणं**—प्रतिक्रमण प्रतिगच्छति पूर्वसयम येन तत् प्रतिक्रमण स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्ति दैवसिकादय सप्तकृतापराधशोधनानि। **तहेव**—तथैव तेनैव प्रकारेणागमाविरोधेनैव। **णादव्व**—ज्ञातव्य सम्यगवबोद्धव्यम्। **पच्चक्खाण**—प्रत्याख्यानमयोग्यद्रव्यपरिहार, तपोनिमित्त योग्यद्रव्यस्य वा परिहार। **विसग्गो**—व्युत्सर्ग, देहे ममत्वनिरास जिनगुणचिन्तायुक्त कायोत्सर्ग। **करणीया**—करणीया अनुष्ठेया। **आवसया**—

वस्त्र आदि के निमित्त मे होने पर अचेतनजन्य माने जाते है। ये सुख हेतुक हो या दु ख हेतुक, इनमे आह्लाद नही करना अर्थात् हर्ष-विषाद नही करना—यह स्पर्शनेन्द्रियजय है। तात्पर्य यह है कि जीव या अजीव से उत्पन्न हुए, कर्कश आदि आठ भेदो मे युक्त, सुख अथवा दु ख मे निमित्तभूत स्पर्श नामक विषय मे जो अभिलाषा का नही होना है वह स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत है।

पाँचो इन्द्रियो के निरोधरूप व्रतो का स्वरूप बताकर अब छह आवश्यक व्रतो का स्वरूप और नाम निर्देश बताते हुए कहते है—

गाथार्थ—सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण और उसी प्रकार प्रत्याख्यान तथा व्युत्सर्ग ये करने योग्य आवश्यक क्रियाएँ छह ही जानना चाहिए ॥२२॥

आचारवृत्ति—समभाव को समता कहते है अर्थात् राग-द्वेषादि से रहित होना, अथवा त्रिकाल मे पचनमस्कार का करना। चतुर्विंशति तीर्थकरो की स्तुति स्तव है। एक तीर्थकर से सम्बन्धित वन्दना है अथवा दर्शन, वन्दन आदि मे जो ईर्यापथ—शुद्धिपूर्वक चैत्यभक्ति से लेकर पच-गुरु भक्तिपर्यन्त क्रिया है अर्थात् विधिवत् देववन्दना क्रिया है वह वन्दना आवश्यक है। पूर्वसयम के प्रति जो गमन करना है, प्राप्त करना है वह प्रतिक्रमण है अर्थात् अपने द्वारा किये हुए अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना—छूटना। इसके दैवसिक आदि सात भेद है जोकि सात प्रसग से किये गये अपराधो का शोधन करनेवाले है। अयोग्य द्रव्य का त्याग करना प्रत्याख्यान है अथवा तपश्चरण के लिए योग्य द्रव्य का परिहार करना भी प्रत्याख्यान है। शरीर से ममत्व का त्याग करना और

---

१ क असुखहेतौ २ क 'त्व क्रियाकलाप च'।

आवश्यका आवश्यकानि वा, न वशोऽवश. अवशस्य कर्मावश्यका. निश्चयक्रिया । छप्पी—षडपि न पञ्च नापि सप्त । समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणानि तथैव प्रत्याख्यानकायोत्सर्गौ, एवं षडावश्यका निश्चयक्रिया यास्ता नित्य षडपि कर्तव्या. ।

मूलगुणा इति कृत्वेति सामान्यस्वरूप प्रतिपाद्य विशेषार्थं प्रतिपादयन्नाह—

जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य ।
[1]बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम ॥२३॥

जीविदमरणे—जीवितमौदारिकवैक्रियिकादिदेहधारण, मरण मृत्यु प्राणिप्राणवियोगलक्षण, जीवित च मरण च जीवितमरणे तयोर्जीवितमरणयोः । **लाभालाभे**—लाभोऽभिलषितप्राप्तिः, अलाभोऽभिलषितस्याप्राप्ति लाभश्चालाभश्च लाभालाभौ तयोर्लाभालाभयोराहारोपकरणादिषु प्राप्त्यप्राप्त्यो । **संजोयविप्पओगे य**—सयोग इष्टादिसन्निकर्ष, विप्रयोग इष्टवियोग सयोगश्च विप्रयोगश्च सयोगविप्रयोगौ तयोः सयोगविप्रयोगयो, इष्टानिष्टसन्निकर्षासन्निकर्षयो । **[2]बन्धुरिसुहदुक्खादिसु**—बन्धुश्च अरिश्च सुख च दु ख च बन्ध्वरिसुखदु खानि तान्यादीनि येषा ते बन्ध्वरिसुखदु खादयस्तेषु स्वजनमित्रशत्रुसुखदु खक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिषु । **समदा**—समता चारित्रानुविद्धसमपरिणाम । **सामाइयं णाम**—सामायिक नाम भवति । जीवितमरणलाभालाभसयोगविप्रयोगबन्ध्वरिसुखदु खादिषु यदेतत्समत्व समानपरिणाम त्रिकालदेववन्दनाकरण च तत्सामायिक व्रत भवतीत्यर्थ ॥

जिनेन्द्रदेव के गुणों का चिन्तवन करना—यह कायोत्सर्ग है। इन सबको आगम के अविरोधरूप से ही सम्यक् जानना चाहिए। ये करने योग्य आवश्यक छह ही है। जो वश मे नही है (इन्द्रियो के अधीन नहीं है) वह अवश है, अवश के कार्य आवश्यक है। इन्हें निश्चयक्रिया भी कहते है। ये आवश्यक क्रियाएँ छह ही है, न पाँच है न सात। तात्पर्य यह कि समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इस प्रकार छह आवश्यक है जो कि निश्चयक्रियाएँ है अर्थात् नियम से करने योग्य है। इन छहो को नित्य ही करना चाहिए।

ये मूलगुण है ऐसा होने से इनका सामान्य स्वरूप प्रतिपादित करके अब इनका विशेष अर्थ बतलाने के लिए कहते है—

गाथार्थ—जीवन-मरण मे, लाभ अलाभ मे, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु मे तथा सुख-दु ख इत्यादि में समभाव होना सामयिक नाम का व्रत है ॥२३॥

आचारवृत्ति—औदारिक वैक्रियिक आदि शरीर की स्थिति रहना जीवन है। प्राणियों के प्राणवियोगलक्षण मृत्यु को मरण कहते है। अभिलषित वस्तु आहार उपकरण आदि की प्राप्ति का नाम लाभ है और अभिलषित की प्राप्ति न होना अलाभ है। इष्ट आदि पदार्थ का सम्बन्ध होना—मिल जाना सयोग है और इष्ट का अपने से पृथक् हो जाना वियोग है अर्थात् इष्ट का संयोग या वियोग हो जाना अथवा अनिष्ट का सयोग या वियोग हो जाना सयोग-वियोग है। इन सभी मे तथा स्वजन, मित्र-शत्रु, सुख-दु ख में और आदि शब्द से भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि में चारित्र से समन्वित समभाव का होना ही सामायिक व्रत है।

---

१ क बन्ध्वरि। २ क बन्ध्वरि।

चतुर्विंशतिस्तवस्वरूप निरूपयन्नाह—

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ॥२४॥

उसहादिजिणवराणं—ऋषभ प्रथमतीर्थकर आदिर्येषाते ऋपभादयस्ते च ते जिनवराश्च ऋषभादि-जिनवरास्तेषामृषभादिजिनवराणा वृषभादिवर्धमानपर्यन्ताना चतुर्विशतितीर्थकराणा । **णामणिरुत्तिं**—नाम्ना-मभिधानाना निरुक्तिर्नामनिरुक्तिस्ता नामनिरुक्ति प्रकृतिप्रत्ययकालकारकादिभिर्निश्चयेन अनुगता[1]कथन ऋषभाजितसम्भवाभिनन्दनसुमतिपद्मप्रभसुपार्श्वचन्द्रप्रभपुष्पदन्तशीतलश्रेयोवासुपूज्यविमलानन्तधर्मशान्तिकुन्थ्-वरमल्लिमुनिसुव्रतनम्यरिष्टनेमिपार्श्ववर्धमाना नामकीर्तनमेतत् । **गुणाणुकित्तिं च**—गुणानामसाधारणधर्मा-णामनुकीर्तिरनुख्यापन गुणानुकीर्तिस्ता गुणानुकीर्ति च निर्दोपाप्तलक्षणम्तुतिम् लोकस्योद्योतकरा धर्मतीर्थकरा सुरासुरमनुष्येन्द्रस्तुता दृष्टपरमार्थतत्त्वस्वरूपा विमुक्तघातिकठिनकर्माण , इत्येवमादिगुणानुकीर्तन । **काऊण**—कृत्वा गुणग्रहणपूर्वक नामग्रहण प्रकृत्य । **अच्चिदूण य**—[1]अर्चयित्वा च गन्धपुष्पधूपदीपादिभि प्रासुकैरानी-तैर्दिव्यरूपैश्च दिव्यैर्निराकृतमलपटलसुगन्धैश्चतुर्विंशतितीर्थकरपदयुगलानामर्चन कृत्वान्यस्याश्रुतत्वात्तेषामेव ग्रहणम् । **तिसुद्धिपणमो**—तिस्रश्च ता शुद्धयश्च त्रिशुद्धयस्ताभि त्रिशुद्धिभि प्रणाम त्रिशुद्धिप्रणाम मनो-

---

तात्पर्य यह है कि जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सयोग-वियोग, बन्धु-शत्रु और सुख-दु ख आदि प्रसंगो मे जो समान परिणाम का होना है और त्रिकाल मे देववन्दना करना है वह सामायिक व्रत है ।

चतुर्विंशतिस्तव का स्वरूप निरूपित करते है—

गाथार्थ—ऋषभ आदि तीर्थकरो के नाम का कथन और गुणो का कीर्तन करके तथा उनकी पूजा करके उनको मन, वचन, काय पूर्वक नमस्कार करना स्तव नाम का आवश्यक जानना चाहिए ॥२४॥

आचारवृत्ति—ऋषभदेव को आदि से लेकर वर्धमान पर्यन्त चौबीस तीर्थकरो का प्रकृति, प्रत्यय, काल, कारक आदि के द्वारा निश्चय करके अनुगत—परम्परागत अर्थ करना नामनिरुक्तिपूर्वक स्तवन है । अथवा ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयास, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और वर्धमान इस प्रकार से नाम-उच्चारण करना नाम स्तवन है । इन्ही तीर्थकरो के असाधारण धर्मरूप गुणो का वर्णन करना गुणानुकीर्तन है, अर्थात् निर्दोष आप्त का लक्षण करते हुए उनकी स्तुति करना, जैसे, हे भगवन् ! आप लोक मे उद्योत करनेवाले हैं, धर्मतीर्थ के कर्ता है, सुर, असुर और मनुष्यो के इन्द्रो से स्तुति को प्राप्त हैं, वास्तविक तत्त्व के स्वरूप को देखनेवाले है, और कठोर घातिया कर्मो को नष्ट कर चुके है—इत्यादि प्रकार से अनेक-अनेक गुणो का कीर्तन करना भी गुणानुकीर्तन है । इस प्रकार इन तीर्थंकरों का गुणग्रहणपूर्वक नामग्रहण करके तथा मलपटल से रहित सुगन्धित दिव्यरूप लाये गये प्रासुक गन्ध पुष्प धूप-दीप आदि के द्वारा चौबीस तीर्थकरो के पद-युगलो की अर्चना करके मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक उनको प्रणाम करना—स्तवन करना स्तव आवश्यक है ।

[1] क अर्चित्वा ।

वाक्कायशुद्धिभि स्तुते करणं । थवो—स्तव, चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तुति, नामैकदेशेऽपि शब्दस्य प्रवर्तनात् यथा सत्यभामा भामा, भीमो भीमसेन । एव चतुर्विंशतिस्तव स्तव । णेयो—ज्ञातव्य । ऋषभादिजिनवराणां नामनिरुक्ति गुणानुकीर्तनं च कृत्वा योऽय मनोवचनकायशुद्धया प्रणाम स चतुर्विंशतिस्तव इत्यर्थ ।

वन्दनास्वरूप निरूपयन्नाह—

अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं ।
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥२५॥

अरहंतसिद्धपडिमा—अर्हन्तश्च सिद्धाश्चार्हन्सिद्धास्तेषामर्हत्सिद्धाना प्रतिमा अर्हत्सिद्धप्रतिमा अर्हत्सिद्धप्रतिबिम्बानि स्वरूपेण चार्हन्त घातिकर्मक्षयादर्हन्त, अष्टविधकर्मक्षयात्सिद्धा । अथवा गतिवचनस्थानभेदात्तयोर्भेद, अष्टमहाप्रातिहार्यसमन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्धप्रतिमा । अथवा कृत्रिमा यास्ता अर्हत्प्रतिमा, अकृत्रिमा सिद्धप्रतिमा । **तवसुदगुणगुरुगुरूण**—तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपो द्वादशप्रकारमनशनादिक, श्रुतमगपूर्वादिरूप मतिपूर्वक, गुणा व्याकरणतर्कादिज्ञानविशेषा, तपश्च श्रुत च गुणाश्च तप श्रुतगुणास्तैर्गुरवो महान्तस्तप श्रुतगुणगुरव, गुरुश्च येन दीक्षा दत्ता, तेषा, द्वादशविधतपोधिकाना, श्रुताधि-

---

यहाँ पर अन्य श्रुतादि को नही सुना जाने से अर्थात् श्रुत या गुरु आदि का प्रकरण न होने से तीर्थकरों का स्तवन ही ग्रहण किया जाना चाहिए । अर्थात् स्तव का अर्थ चौबीस तीर्थकरो का स्तव है ऐसा समझना चाहिए । चूँकि नाम के एक देश मे भी शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है । जैसे भामा शब्द से सत्यभामा और भीम शब्द से भीमसेन को समझ लिया जाता है इसी प्रकार से स्तव नाम से चतुर्विंशति तीर्थंकर का स्तव जानना चाहिए । तात्पर्य यह कि ऋषभ आदि जिनवरों की नाम निरुक्ति और गुणो का अनुकीर्तन करके जो मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक प्रणाम किया जाता है वह चतुर्विंशतिस्तव है

अब वन्दना आवश्यक का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—अर्हन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा, तप मे श्रुत या गुणो मे बड़े गुरु का और स्वगुरु का कृतिकर्म पूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करना वन्दना है ॥२५॥

आचारवृत्ति—जिन्होने घाति कर्मों का क्षय कर दिया है वे अर्हन्त हैं और जो आठों कर्मो का क्षय कर चुके है वे सिद्ध है । इनके प्रतिबिम्ब को प्रतिमा कहते हैं । अथवा गति, वचन और स्थान के भेद से भी अर्हन्त और सिद्ध मे भेद है । अर्थात् अर्हन्त मनुष्य गति मे है, सिद्ध चारो गतियो से परे सिद्धगति मे है । इसी प्रकार जो अन्य जनो में नही पायी जानेवाली इन्द्रादि द्वारा की गयी पूजा के योग्य है वे अर्हन्त है और जो अपने स्वरूप से पूर्णतया निष्पन्न हो चुके है वे सिद्ध है । अर्हन्तो का स्थान मध्यलोक है और सिद्धों का स्थान लोकशिखर का अग्रभाग है—इनकी अपेक्षा अर्हन्त और सिद्धों मे भेद है । अष्ट महाप्रतिहार्य से समन्वित अर्हन्त प्रतिमा है और इनसे रहित सिद्ध प्रतिमा हैं । अथवा जो कृत्रिम प्रतिमाएँ हैं वे अर्हन्त प्रतिमा हैं और जो अकृत्रिम हैं वे सिद्ध प्रतिमा है । जो शरीर और इन्द्रियो को तपाता है, दहन करता है, वह तप है जो कि अनशनादि के भेद से बारह प्रकार का है । अंग और पूर्व आदि श्रुत हैं । यह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है । व्याकरण, तर्क आदि के ज्ञान विशेष को गुण कहते हैं । इन

कानां, गुणाधिकाना, स्वगुरो., अर्हत्सिद्धप्रतिमाना च । रादीणं—राज्यधिकानां दीक्षया महता च । **किदियम्मेण**—क्रियाकर्मणा कायोत्सर्गादिकेन सिद्धभक्तिश्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकेण। **इदरेण**—इतरेण श्रुतभक्त्यादिक्रियापूर्वकमन्तरेण शिर प्रणामेन मुडवदनया । **तियरणसंकोचणं**—त्रयश्च ते करणाश्च त्रिकरणा मनोवाक्कायक्रिया तेषा सकोचन त्रिकरणसकोचनं मनोवाक्कायशुद्धक्रिय मन शुद्धया वाक्शुद्धया कायशुद्धया इत्यर्थ । **पणमो**—प्रणाम स्तवनम् । अर्हत्सिद्धप्रतिमाना, तपोगुरूणा श्रुतगुरूणा गुणगुरूणा दीक्षागुरूणा दीक्षया महत्तराणां कृतकर्मणेतरेण च त्रिकरणसकोचन यथा भवति तथा योऽय प्रणाम क्रियते सा वन्दना नाम मूलगुण इति ।।

अथ किं प्रतिक्रमणमित्याशकायामाह—

दव्वे खेत्ते[1] काले भावे य कयावराहसोहणय ।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं ।।२६।।

दव्वे—द्रव्ये आहारशरीरादिविषये । **खेत्ते**—क्षेत्रे वसतिकाशयनासनगमनादिमार्गविषये । **काले**—पूर्वाह्लापराह्लदिवसरात्रिपक्षमाससवत्सरातीतानागतवर्तमानादिकालविषये । **भावे**—परिणामे चित्तव्यापार-

---

तप, श्रुत और गुणों मे जो महान् है अर्थात् जो तपो मे अधिक है, श्रुत मे अधिक है तथा गुण मे अधिक हैं वे तपोगुरु, श्रुतगुरु और गणगुरु कहलाते है। तथा अपने गुरु को यहाँ गुरु मे लिया है, ऐसे ही जो दीक्षा की अपेक्षा एक रात्रि भी बडे है वे रात्र्यधिक गुरु है। इन सभी की कृतिकर्म पूर्वक वन्दना करना अर्थात् सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि के द्वारा मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक इनको प्रणाम करना वन्दना है। अथवा श्रुतभक्ति आदि क्रिया के बिना भी सिर झुकाकर उनको नमस्कार करना वन्दना है। अर्थात् समय-समय पर कृतिकर्मपूर्वक वन्दना की जाती है और हर क्रिया के प्रारम्भ मे सिर झुकाकर नमोऽस्तु शब्द का प्रयोग करके भी वन्दना की जाती है। वह सभी वन्दना है।

तात्पर्य यह है कि अर्हन्त-सिद्धो की प्रतिमा तपोगुरु, श्रुतगुरु, गुणगुरु, दीक्षागुरु और दीक्षा मे अपने से बडे गुरु—इन सबका कृतिकर्मपूर्वक अथवा बिना कृतिकर्म के नमस्कार मात्र करके मन-वचन-काय की विशुद्धि द्वारा विधिपूर्वक जो नमस्कार किया जाता है वह वन्दना नाम का मूलगुण कहलाता है।

प्रतिक्रमण क्या है ? ऐसी आशका होने पर कहते है—

गाथार्थ—निन्दा और गर्हापूर्वक मन-वचन-काय के द्वारा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय मे किये गये अपराधो का शोधन करना प्रतिक्रमण है।।२६।।

आचारवृत्ति—आहार शरीर आदि द्रव्य के विषय मे, वसतिका, शयन, आसन और गमन-आगमन आदि मार्ग के रूप क्षेत्र के विषय मे, पूर्वाह्ल-अपराह्ल, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, सवत्सर तथा भूत-भविष्यत्-वर्तमान आदि काल के विषय मे और परिणमन—मन के व्यापार रूप भाव के विषय मे जो अपराध हो जाता है अर्थात् इन द्रव्य आदि विषयो मे या इन द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावो के द्वारा व्रतों मे जो दोष उत्पन्न हो जाते है उनका निन्दा-गर्हापूर्वक निराकरण

---

१ क खित्ते ।

विषये। **कयावराहसोहणयं**—कृतश्चासावपराधश्च कृतापराधस्तस्य शोधन कृतापराधशोधनं द्रव्यादिद्वारेण व्रतविषयोत्पन्नदोषनिर्हरण। **णिंदणगरहणजुत्तो**—निन्दनमात्मदोषाविष्करण, आचार्यादिषु आलोचनापूर्वक दोषाविष्करण गर्हण, निन्दन च गर्हण च निन्दनगर्हणे ताभ्या युक्तो निन्दनगर्हणयुक्तस्तस्य निन्दनगर्हणयुक्त-स्यात्मप्रकाशपरप्रकाशसहितस्य। **मणवचकाएण**—मनश्च वचश्च कायश्च मनोवच काय तेन मनोवच.कायेन शुभमनोवच कायक्रियाभिः। **पडिक्कमणं**—प्रतिक्रमण स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्ति, अशुभपरिणामपूर्वक-कृतदोषपरित्याग। निन्दनगर्हणयुक्तस्य मनोवाक्कायक्रियाभिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावविषये तैर्वा कृतस्यापराधस्य व्रतविषयस्य शोधन यत्तत् प्रतिक्रमणमिति ॥

प्रत्याख्यानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

णामादीणं छण्हं अजोगपरिवज्जणं तियरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥२७॥

णामादीणं—जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्ष सज्ञाकरण नामाभिधान तदादिर्येषा ते नामादयस्तेषां नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावानाम्। **छण्हं**—षण्णाम्। **अजोगपरिवज्जण**—न योग्या अयोग्यास्तेषां नामा-दीनामयोग्याना पापागमहेतूना परिवर्जन परित्याग। **तियरणेण**—त्रिकरणै शुभमनोवाक्कायक्रियाभि अशुभाभिधान कस्यचिन्न करोमि, न कारयामि, नानुमन्ये, तथा वचनेन न वच्मि, नापि काथयामि, नाप्यनुमन्ये,

---

करना। अपने दोषो को प्रकट करना निन्दा है और आचार्य आदि गुरुओं के पास आलोचना-पूर्वक दोषो का कहना गर्हा है। निन्दा मे आत्मसाक्षीपूर्वक ही दोष कहे जाते हैं तथा गर्हा मे गुरु आदि पर के समक्ष दोषो को प्रकाशित किया जाता है—यही इन दोनो मे अन्तर है। इस तरह शुभ मन-वचन-काय की क्रियाओ के द्वारा, अपने द्वारा किये गये अशुभ योग से प्रतिनिवृत्त होना—वापिस अपने व्रतो मे आ जाना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक किये गये दोषो का परित्याग करना इसका नाम प्रतिक्रमण है।

तात्पर्य यह है कि निन्दा और गर्हा से युक्त होकर साधु मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय मे अथवा इन द्रव्यादियो के द्वारा किये गये व्रत विषयक अपराधो का जो शोधन करते है उसका नाम प्रतिक्रमण है।

अब प्रत्याख्यान का स्वरूप निरूपित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—भविष्य मे आनेवाले तथा निकटवर्ती भविष्यकाल मे आनेवाले नाम, स्थापना आदि छहो अयोग्य का मन-वचन-काय से वर्जन करना—इसे प्रत्याख्यान जानना चाहिए ॥२७॥

आचारवृत्ति—पाप के आस्रव मे कारणभूत अयोग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का मन-वचन-काय से त्याग करना प्रत्याख्यान है। शुभ मन-वचन-काय की क्रियाओ से किसी के अशुभ नाम को न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, न करते हुए की अनुमोदना करता हूँ अर्थात् अशुभ नाम को न करूँगा, न कराऊँगा और न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा, उसी प्रकार न वचन से बोलूँगा न बुलवाऊँगा, न बोलते हुए की अनुमोदना करूँगा। न मन से अशुभ नाम का चिन्तवन करूँगा, न अन्य से उनकी भावना कराऊँगा, न ही करते हुए की अनुमोदना

तथा मनसा न चिन्तयामि, नाप्यन्य भावयामि, नानुमन्ये। एव अशुभस्थापनामेना कायेन न करोमि, न कारयामि, नानुमन्ये, तथा वाचा न भणामि, न भाणयामि, नानुमन्ये, तथा मनसा न चिंतयामि, नाप्यन्य भावयामि नानुमन्ये। तथा सावद्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव च न सेवे, न सेवयामि, सेवन्त, [सेवमान] नानुमन्ये। तथा वचसा त्व सेवस्वेति न भणामि, न भाणयामि, नापि चिन्तयामीति । **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यान परिहरण अयोग्यग्रहणपरित्याग । **णेय**—ज्ञातव्यम्। **अणागय च**—अनागत चानुपस्थित च। अथवा अनागते दूरेणागते काले। **आगमे काले**—आगते उपस्थिते। अथवा आगमिष्यति सन्निकृष्टे काले मुहूर्तदिवसादिके। नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाना षण्णा अनागताना त्रिकरणैर्यदेतत् परिवर्जन आगते चोपस्थिते च [1]यदेतद्दोषपरिवर्जन तत्प्रत्याख्यान ज्ञातव्यमिति। अथवा दूरे भविष्यति काले आगमिष्यति चासन्ने वर्तमाने तेषा षण्णामपि अयोग्याना वर्जन प्रत्याख्यानम्। अथवा अनागते काले अयोग्यपरिवर्जन नामादिषट्प्रकार यदेतद्दागत मनोवचनकायै तत्प्रत्याख्यान ज्ञातव्यमिति। अथ प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयो को विशेष इति चेन्नैष दोष, अतीतकालदोषनिर्हरण प्रतिक्रमणम्। अनागते वर्तमाने च काले द्रव्यादिदोषपरिहरण प्रत्याख्यानमनयोर्भेद.। [2]तपोऽर्थ निरवद्यस्यापि द्रव्यादे परित्याग प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण पुनर्दोषाणा निर्हरणायैवेति ।।

करूँगा। इसी प्रकार अशुभ स्थापना का न काय से करूँगा, न कराऊँगा, न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा, उसी प्रकार वचन से अशुभ स्थापना को न कहूँगा, न कहलाऊँगा और न ही अनुमोदना करूँगा तथा मन से उस अशुभ स्थापना का न चिन्तवन करूँगा, न अन्य से भावना कराऊँगा और न ही करते हुए की अनुमोदना करूँगा। इसी प्रकार से सावद्य-सदोष द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का न सेवन करूँगा, न सेवन कराऊँगा और सेवन करते हुए की अनुमोदना कराऊँगा, उसी प्रकार इन सदोष द्रव्यादि का 'तुम सेवन करो' ऐसा वचन से न कहूँगा, न कहलाऊँगा, न कहते हुए की अनुमोदना करूँगा। न मन से चिन्तवन करूँगा, न कराऊँगा, न करते हुए की अनुमोदना करूँगा। इस प्रकार अयोग्य के ग्रहण का परित्याग करना प्रत्याख्यान है।

उपस्थित होनेवाला काल अनागत काल है अथवा यहाँ अनागत शब्द से दूर भविष्य मे आनेवाला काल लिया गया है और आगत शब्द से उपस्थित काल अर्थात् निकट मे आनेवाले मुहूर्त दिन आदि रूप भविष्य काल को लिया है। इन अनागतसम्बन्धी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावो का मन-वचन-काय से वर्जन है और उपस्थित हुए काल मे जो दोषो का वर्जन है वह प्रत्याख्यान है। अथवा दूरवर्ती भविष्यकाल तथा आनेवाले निकटवर्ती वर्तमान काल मे इन अयोग्यरूप नाम स्थापना आदि छहो का त्याग करना प्रत्याख्यान है। अथवा अनागतकाल मे अयोग्यरूप नाम आदि छह प्रकार जो आयेगे उनका मन-वचन-काय से त्याग करना प्रत्याख्यान है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—अतीतकाल के दोषो का निराकरण करना प्रतिक्रमण है और अनागत तथा वर्तमानकाल मे होनेवाले द्रव्यादिसम्बन्धी दोषो का निराकरण करना प्रत्याख्यान है, यही इन दोनो मे भेद है। अथवा तपश्चरण के लिए निर्दोष द्रव्य आदि का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है तथा दोषों के निराकरण करने हेतु ही प्रतिक्रमण होता है।

---

१ क यदेप्तेषां प°। २ क तदर्थ।

कायोत्सर्गस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण [1]उत्तकालम्हि ।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काउस्सग्गो[2] तणुविसग्गो ॥२८॥

देवस्सियणियमादिसु—दिवसे भवो दैवसिक स आदिर्येषा ते दैवसिकादयस्तेषु दैवसिकरात्रिक-पाक्षिकचातुर्मासिकसावत्सरिकादिषु नियमेषु निश्चयक्रियासु । **जहुत्तमाणेण**—उक्तमनतिक्रम्य यथोक्त, यथोक्त च तन्मान च यथोक्तमान तेन अर्हत्प्रणीतेन[3] कालप्रमाणेन पचविशतिसप्तविशत्यष्टोत्तरशतनाद्युच्छ्वासपरिमाणेन । **उत्तकालम्हि**—उक्त प्रतिपादित काल समय उक्तकालस्तस्मिन्नुक्तकाले आत्मीयात्मीयवेलाया । यो यस्मिन् काले कायोत्सर्ग उक्त स तस्मिन् कर्तव्य । **जिणगुणचिंतणजुत्तो**—जिनस्य गुणा जिनगुणास्तेषा चिन्तन स्मरण तेन युक्तो जिनगुणचिन्तनयुक्त, दयाक्षमासम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशुक्लध्यानधर्मध्यानानन्तज्ञानादिचतुष्टयादिगुण-भावनासहित । **काउस्सग्गो**[4]—कायोत्सर्ग । **तणुविसग्गो**—तनो शरीरस्य विसर्गस्तनुविसर्गो देहे ममत्वस्य[5] परित्याग । दैवसिकादिषु नियमेषु यथोक्तकाले योऽय यथोक्तमानेन जिनगुणचिन्तनयुक्तस्तनु-विसर्ग स कायोत्सर्ग इति ।।

लोच उक्त स कथ क्रियते इत्यत आह—

बियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो ।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥२९॥

अब कायोत्सर्ग का स्वरूप निरूपण करते है—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक आदि नियम क्रियाओ मे आगम मे कथित प्रमाण के द्वारा आगम मे कथित काल मे जिनेन्द्रदेव के गुणो के चिन्तवन से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग नाम का आवश्यक है ॥२८॥

आचारवृत्ति—दिवस मे होने वाला दैवसिक है अर्थात् दिवस सम्बन्धी दोषो का प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण है। इसी तरह रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक आदि नियमरूप निश्चयक्रियाओ मे अर्हन्तदेव के द्वारा कथित पच्चीस, सत्ताईस, एक सौ-आठ आदि उच्छ्वास प्रमाण काल के द्वारा उन्ही-उन्ही क्रिया सम्बन्धी काल में जिनेन्द्रदेव के गुणो के स्मरण से युक्त होकर अर्थात् दया, क्षमा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, शुक्लध्यान धर्मध्यान तथा अनन्तज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय गुणो की भावना से सहित होते हुए शरीर से ममत्व का परित्याग करना कायोत्सर्ग है। तात्पर्य यह है कि दैवसिक आदि नियमो में शास्त्र में कथित समयों मे जो शास्त्रोक्त उच्छ्वास की गणना से णमोकार मत्र पूर्वक जिनेन्द्रगुणो के चिन्तनसहित शरीर से ममत्व का त्याग किया जाता है उसका नाम कायोत्सर्ग है ॥

जो लोच मूलगुण कहा है वह कैसे किया जाता है ? इसके उत्तर में कहते है—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण सहित दिवस मे, दो, तीन या चार मास में उत्तम, मध्यम या जघन्य रूप लोच उपवास पूर्वक ही करना चाहिए ॥२९॥

---

१ क वुत्त° । २ काऊ द० । ३ क °प्रणीत का° । ४ काऊ द । ५ क °त्वप° ।

बियतियचउक्कमासे—द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वित्रिचत्वारस्ते च ते मासाश्च द्वित्रिचतुर्मासास्तेषु द्वित्रिचतुर्मासेषु, मासशब्द प्रत्येक अभिसम्बध्यते द्वयोर्मासयो, त्रिषु मासेषु चतुर्षु मासेषु वा सम्पूर्णेषु अस-पूर्णेषु वा। द्वयोर्मासयोरतिक्रान्तयो सतोर्वा। त्रिषु मासेषु अतिक्रान्तेष्वनतिक्रान्तेषु सत्सु वा। चतुर्षु मासेषु पूर्णेष्वपूर्णेषु वा नाधिकेषु इत्याध्याहार कार्य सर्वसूत्राणा सोपस्कारत्वादिति। **लोचो**—लोच. बालोत्पाटन हस्तेन मस्तककेशश्मश्रूणामपनयन जीवसम्मूर्च्छनादिपरिहारार्थ रागादिनिराकरणार्थ स्ववीर्यप्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थ लिगादिगुणज्ञापनार्थ चेति। **उक्कस्स**—उत्कृष्ट, अत्यर्थमाचरणार्थाभिप्राय। **मज्झिम**—मध्यम अजघन्योत्कृष्ट। **जहण्ण**—जघन्य मन्दाचरणाभिप्राय। **सपडिक्कमणे**—सप्रतिक्रमणे सह प्रतिक्रमणेन वर्तते इति सप्रतिक्रमणस्तस्मिन्सप्रतिक्रमणे। **दिवसे**—अहोरात्रमध्ये। **उववासेण**—उपवासेन अश-नादिपरित्यागयुक्तेन। एवकारोऽवधारणार्थ। **कायव्वो**—कर्तव्य निर्वर्तनीय। लोचस्य निरुक्तिर्नोक्ता सर्वस्य प्रसिद्धो यत। सप्रतिक्रमणे दिवसे पाक्षिकचातुर्मासिकादौ उपवासेनैव द्वयोर्मासयोर्यत् केशश्मश्रूत्पाटन स उत्कृष्टो लोच। त्रिसु मासेषु मध्यम., चतुर्षु मासेषु जघन्य। अथवा विधानमेतत्, एतेषु कालविशेषेषु एव-विशिष्टो लोच कर्तव्य। एवकारेणोपवासे लोचोऽवधार्यते न दिवस, तेन प्रतिक्रमणरहितेऽपि दिवसे लोचस्य सम्भव। अथवा सप्रतिक्रमणे दिवसे इत्यनेन किमुक्त भवति लोच कृत्वा प्रतिक्रमण कर्तव्यमिति। [1]लुचुधातुरपनयने वर्तते तच्चापनयन क्षुरादिनापि सम्भवति तत्किमर्थमुत्पाटन मस्तके केशाना श्मश्रूणा चेति

आचारवृत्ति—दो मास के उल्लघन हो जाने पर अथवा पूर्ण होने पर, तीन मास के उल्लघन के हो जाने पर अथवा कमती रहने पर या पूर्ण हो जाने पर एव चार मास के पूर्ण हो जाने पर अथवा अपूर्ण रहने पर किन्तु अधिक नही होने पर लोच किया जाता है ऐसा अध्याहार करके अर्थ किया जाना चाहिए क्योकि सभी सूत्र उपस्कार सहित होते है अर्थात् सूत्रो मे आगम से अविरुद्ध वाक्यो को लगाकर अर्थ किया जाता है क्योकि सूत्र अतीव अल्प अक्षरवाले होते है। सम्मूर्च्छन आदि जीवो के परिहार के लिए अर्थात् जू आदि उत्पन्न न हो जावे इसलिए, शरीर से रागभाव आदि को दूर करने के लिए, अपनी शक्ति को प्रकट करने के लिए, सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण के लिए और लिग—निर्ग्रंथ मुद्रा आदि के गुणो को बतलाने के लिए हाथ से मस्तक तथा मूछ के केशो का उखाडना लोच कहलाता है। यह लोच पाक्षिक चातुर्मासिक आदि प्रति-क्रमणो के दिन उपवासपूर्वक ही करना चाहिए।

दो महीने मे किया गया लोच अतिशय रूप आचरण को सूचित करने वाला होने से उत्कृष्ट कहलाता है, तीन महीने मे किया गया मध्यम है और चार महीने मे किया गया मन्द आचरण रूप जघन्य है। इस प्रकार से प्रतिक्रमण सहित दिनो मे उपवास करके लोच करना यह विधान हुआ है अथवा गाथा मे एवकार शब्द उपवास शब्द के साथ है जिससे उपवास मे ही लोच करना चाहिए ऐसा अवधारण होता है, इससे प्रतिक्रमण से रहित भी दिवसो मे लोच सभव है। अथवा प्रतिक्रमण सहित दिवस का यह अर्थ समझना कि लोच करके प्रतिक्रमण करना चाहिए।

प्रश्न—लुन् धातु अपनयन—दूर करने अर्थ मे है। वह केशो को दूर करना रूप अर्थ तो क्षुरा—उस्तरा कैंची आदि मे भी सम्भव है तो फिर मस्तक और मूछो के केशो को हाथ से क्यो उखाडना ?

१ लुचुद०।

चेन्नैष दोष , दैन्यवृत्तियाचनपरिग्रहपरिभवादिदोषपरित्यागादिति ॥

अचेलकत्वस्वरूपप्रतिपादनायोत्तरसूत्रमाह—

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं ।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥

वत्थाजिणवक्केण—वस्त्र पटचीवरकम्बलादिक, अजिन चर्म मृगव्याघ्रादिसमुद्भव, वल्क वृक्षादित्वक्, वस्त्र चाजिन च वल्क च वस्त्राजिनवल्कानि तैर्वस्त्राजिनवल्कै पटचीवरचर्मवल्कलैरपि । **अहवा**—अथवा । **पत्ताइणा**—पत्रमादिर्येषा तानि पत्रादीनि तै. पत्रादिभि पत्रबालतृणादिभिरसवरणमनावरणमनाच्छादन । **णिब्भूसण**—भूषणानि कटककेयूरहारमुकुटाद्याभरणमडनविलेपनधूपनादीनि तेभ्यो निर्गत निर्भूषण

उत्तर—ऐसी बात नही है, क्योकि उस्तरा आदि से केशो को दूर करने में दैन्यवृत्ति होना, याचना करना, परिग्रह रखना, या तिरस्कारित होना आदि दोषो का होना सम्भव है किन्तु हाथ से केशो को दूर करने मे ये उपर्युक्त दोष नही आ सकते हैं ।

भावार्थ—अपने हाथो से केशो को उखाडने से उसमे जीवा की उत्पत्ति नही हो सकती है, शरीर के सस्कार रूप केशो को न रखने से शरीर से अनुराग भाव समाप्त हो जाता है, अपनी शक्ति वृद्धिगत होती है, कायक्लेश होने से उत्तम से उत्तम तपश्चरणो का अभ्यास होता है और मुनि के जो चार लिग माने गये है आचेलक्य केशलोच, पिच्छिका ग्रहण और शरीर-सस्कार-हीनता, इनमे से केशलोच से लिग ज्ञापित होता है ये तो केशलोच के गुण है। यदि उस्तरा आदि से केशो को निकलावे तो नाई के सामने माथा नीचा करने से उसकी गरज करने से दीनवृत्ति दिखती है, स्वाभिमान और स्वावलम्बन समाप्त होता है, नाई को देने हेतु पैसे की याचना करनी पडेगी, या कैंची आदि परिग्रह अपने पास रखना पड़ेगा अथवा लोगो से नाई के लिए या कैंची के लिए कहने से किसी समय उनके द्वारा अपमान, तिरस्कार आदि भी किया जा सकता है । इन सब दोषो से बचने के लिए और शरीर से निर्ममता को सूचित करने के लिए जैन साधु साध्वी अपने हाथ से केशो को उखाड़कर लोच मूलगुण पालते है ।

अचेलकत्व का स्वरूप बतलाने के लिए उत्तरसूत्र कहते है—

गाथार्थ—वस्त्र, चर्म और वल्कलो से अथवा पत्ते आदिको से शरीर को नही ढकना, भूषण अलकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ वेष जगत् मे पूज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है ॥३०॥

आचारवृत्ति—वस्त्र—धोती दुपट्टा कंबल आदि, अजिन—मृग, व्याघ्र आदि से उत्पन्न चर्म, वल्कल—वृक्षादि की छाल, इनसे शरीर को नही ढकना अथवा पत्ते और छोटे-छोटे तृण आदि से शरीर को नही ढकना, भूषण—कडे, बाजूबद, हार, मुकुट आदि आभरण और मडन विलेपन धूपन आदि वस्तुएँ ये सब भूषण शब्द से विवक्षित है इनसे निर्गत-रहित जो वेष है वह निर्भूषण वेष है अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार के राग और अग के विकारो का अभाव होना, ग्रन्थ—

---

१ क वक्क ।

सर्वरागांगविकाराभाव । **णिग्गथं**—ग्रन्थेभ्य सयमविनाशकद्रव्येभ्यो निर्गत निर्ग्रथ बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाभाव । **अच्चेलक्कं**—अचेलकत्व चेल वस्त्र तस्य मनोवाक्कार्यं सवरणार्थमग्रहण । **जगदिपूज्जं**—जगति पूज्य महापुरुषाभिप्रेतवदनीयम् । वस्त्राजिनवल्कलै पत्रादिभिर्वा यदसवरण निर्ग्रंथ निर्भूषण च तदचेलकत्व व्रत जगति पूज्य भवतीत्यर्थः । अथ को दोष इति चेन्न[1] हिसार्जनप्रक्षालनयाचनादिदोषप्रसगात्, ध्यानादिविघ्नाच्चेति ।।

अस्नानाव्रतस्य स्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं ।
अण्हाणं घोरगण संजमदुगपालयं मुणिणो ।।३१।।

ण्हाणादिवज्जणेण य—स्नान जलावगाहन आदिर्येषा ते स्नानादय स्नानोद्वर्तनाञ्जनजलसेकताम्बूललेपनादयस्तेषा वर्जन परित्याग स्नानादिवर्जन तेन स्नानादिवर्जनेन जलप्रक्षालनसेचनादिक्रियाकृतागोपागसुखपरित्यागेन । **विलित्तजल्लमलसेदसव्वग**—जल्ल सर्वांगप्रच्छादक मल अगैकदेशप्रच्छादक स्वेद प्रस्वेदो

सयम के विनाशक द्रव्य उनसे रहित निर्ग्रंथ अवस्था होती है अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का अभाव होना ही निर्ग्रंथ है । इह प्रकार से चेल—वस्त्र को शरीर-सवरण के लिए मन, वचन-काय से ग्रहण नही करना यह आचेलक्य व्रत है जो कि जगत् मे पूज्य है, महापुरुषो के द्वारा अभिप्रेत है और वदनीय है । तात्पर्य यह निकला कि वस्त्र, चर्म, वल्कल से अथवा पत्ते आदि से जो शरीर का नही ढकना है, निर्गथ और निर्भूषण वेष का धारण करना है वह आचेलक्य व्रत जगत् मे पूज्य होता है ।

प्रश्न—वस्त्र आदिको के होने पर क्या दोष है ?

उत्तर—ऐसा नही कहे, क्योंकि हिसा, अर्जन, प्रक्षालन, याचना आदि अनेक दोष आते है तथा ध्यान, अध्ययन आदि मे विघ्न भी होता है । अर्थात् किसी भी प्रकार के वस्त्र से शरीर को ढकने की बात जहाँ तक होगी वहाँ तक उन वस्त्रो के आश्रित हिसा अवश्य होगी उनको सभालना, धोना, सुखाना, फट जाने पर दूसरो से मागना आदि प्रसग अवश्य आयेगे । पुन इन कारणो से साधु को ध्यान और अध्ययन मे बाधा अवश्य आयेगी इसीलिए नग्नवेष धारण करना यह आचेलक्य नाम का मूलगुण है ।

अस्नानव्रत का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—स्नान आदि के त्याग कर देने से जल्ल, मल और पसीने से सर्वांग लिप्त हो जाना मुनि के प्राणीसयम और इन्द्रियसयम पालन करने रूप, घोर गुणस्वरूप अस्नानव्रत होता है ।।३१।।

आचारवृत्ति—जल मे अवगाहन करना जल मे प्रवेश करके नहाना स्नान है । आदि शब्द से उबटन लगाना, आँख मे अजन डालना, जल छिडकना, ताम्बूल भक्षण करना, शरीर मे लेपन करना अर्थात् जल से प्रक्षालन, जल का छिडकना आदि क्रियाएँ जो कि शरीर के अग-उपागो को सुखकर है उनका परित्याग करना स्नानादि-वर्जन कहलाता

---

१ क चेत्तन्न ।

रोमकूपोद्गतजल, जल्ल च मल च स्वेदश्च जल्लमलस्वेदास्तैः विलिप्त सर्वांग[1] विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांग । विलिप्तशब्दस्य पूर्वनिपात । अथवा जल्लमलाभ्या स्वेदो यस्मिन् जल्लमलस्वेद, सर्वं च तदग च सर्वांग सर्वशरीर विलिप्त च तज्जल्लमलस्वेद च सर्वांग च तद्विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांगम् । अथवा विलिप्ता [2]सूपचिता जल्लमलस्वेदा यस्मिन् सर्वांगे तद्विलिप्तजल्लमलस्वेद तच्च तत् सर्वांग च । **अण्हाणं**—अस्नान जलावगाहनाद्यभाव । **घोरगुणो**—महागुण प्रकृष्टव्रत, अथवा घोरा प्रकृष्टा गुणा यस्मिन् तद् घोरगुणम् । **संजमदुगपालयं**—सयम कषायेन्द्रियनिग्रह सयमस्य द्विकं द्वय सयमद्विक तस्य पालक सयमद्विकपालक इन्द्रियसयमप्राणसयमरक्षकम् । **मुणिणो**—मुने चारित्राभिमानिनो मुने । स्नानादिवर्जनेन विलिप्तजल्लमलस्वेदसर्वांग महाव्रतपूत यत्तदस्नानव्रत घोरगुण सयमद्वयपालक भवतीत्यर्थ । नात्राशुचित्व स्यात् स्नानादिवर्जनेन मुने व्रतै शुचित्व यत । यदि पुनर्व्रतरहिता जलावगाहनादिना शुचय स्युस्तदा मत्स्यमकरदुश्चरित्रासयता सर्वेऽपि शुचयो भवेयु । न चैव, तस्मात् व्रतनियमसयमैर्य शुचि स शुचिरेव । जलादिक तु बहु कश्मल नानासूक्ष्मजन्तुप्रकीर्ण सर्वसावद्यमूल न तत्सयतैर्यत्र तत्र प्राप्तकालमपि सेवनीयमिति ॥

क्षितिशयनव्रतस्य स्वरूप प्रपचयन्नाह—

है । जल्ल—सर्वांग को प्रच्छादित करनेवाला मल, मल—शरीर के एकदेश को प्रच्छादित करने वाला मल और स्वेद—रोमकूप से निकलता हुआ पसीना। स्नान आदि न करने से शरीर इन जल्ल, मल और पसीने से लिप्त हो जाता है अर्थात् शरीर मे खूब पसीना और धूलि आदि चिपककर शरीर अत्यन्त मलिन हो जाता है यह अस्नानव्रत घोरगुण अर्थात् महान गुण है। अर्थात्—प्रकृष्ट—सबसे श्रेष्ठ व्रत है अथवा घोर अर्थात् प्रकृष्ट गुण इस व्रत मे पाये जाते है । यह कषाय और इन्द्रियो का निग्रह करनेवाला होने से दो प्रकार के सयम का रक्षक है अथवा इन्द्रियसयम और प्राणिसयम का रक्षक है अर्थात् नही करने से इन्द्रियो का निग्रह होता है तथा प्राणियो को बाधा नही पहुँचने से प्राणिसयम भी पलता है। इस प्रकार से चारित्र के अभिलाषी मुनि के स्नान आदि के न करने से जल्ल, मल और स्वेद से सर्वांग के लिप्त हो जाने पर भी जो महाव्रत से पवित्र है वह अस्नान नामक व्रत घोर गुणरूप है और दो प्रकार के सयम की रक्षा करने वाला है । अर्थात् यहाँ स्नानादि का वर्जन करने से मुनि के अशुचिपना नही होता है क्योंकि उनके व्रतो से पवित्रता मानी गयी है।

पुन व्रतों से रहित भी जन यदि जल-स्नान आदि से पवित्र हो जावे तब तो फिर मत्स्य मकर आदि जलजन्तु और दुश्चारित्र से दूषित असयत जन आदि सभी पवित्र हो जावें। किन्तु ऐसी बात नही है, इसलिए व्रत, नियम और सयम के द्वारा जो पवित्रता है वह ही पवित्रता है। किन्तु जल आदि तो बहुत कश्मल रूप है, नाना प्रकार के सूक्ष्म जन्तुओ से व्याप्त है और सपूर्ण सावद्य-पापयोग का मूल है वह यद्यपि जहाँ-तहाँ प्राप्त हो सकता है तो भी सयतों के द्वारा सेवनीय नही है ऐसा समझना ।

क्षितिशयन व्रत का स्वरूप बतलाते हुए कहते है—

---

१ क ग स वि···सर्वांग । २ वृद्धिगता ।

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्ण।
दंडं धणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥३२॥

फासुयभूमिपएसे—प्रगता असव प्राणा यस्मिन्नसौ प्रासुको जीववधादिहेतुरहित भूमे प्रदेशो भूमि-प्रदेश प्रासुकश्चासौ भूमिप्रदेशश्च प्रासुकभूमिप्रदेशस्तस्मिन् जीवहिसामर्दनकलहसक्लेशादिविमुक्तभूमिप्रदेशे। **अप्पमसंथारिदम्हि**—अल्पमपि स्तोकमपि असस्तरित अप्रक्षिप्त यस्मिन् सोऽल्पासस्तरितस्तस्मिन्नल्पासस्तरिते अथवा अल्पवति सस्तरिते येन बहुसयमविघातो न भवति तस्मिन् तृणमये काष्ठमये शिलामये भूमिप्रदेशे च संस्तरे गृहस्थयोग्यप्रच्छादनविरहिते आत्मना वा सस्तरिते नान्येन। अथवा आत्मान मिमीत इति आत्मम आत्म-प्रमाण सस्तरित चारित्रयोग्य तृणादिक यस्मिन् स आत्ममसस्तरितप्रदेशस्तस्मिन्। **पच्छण्णे**—प्रच्छन्ने गुप्तैक-प्रदेशे [1]स्त्रीपशुषढकविवर्जिते असयतजनप्रचारविवर्जिते। **दण्ड**—दण्ड इव शयन दण्ड इत्युच्यते। **धणु**—धनुरिव शयन धनुरित्युच्यते। शय्याशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते। दण्डेन शय्या धनुषा शय्या। अधोमुखेनोत्तानेन शय्या न कर्तव्या दोषदर्शनात्। **खिदिसयण**—क्षितौ शयन क्षितिशयन। विवर्जितपल्यकादिक। **एयपासेण**—एक-पार्श्वेन शरीरैकदेशेन। प्रासुकभूमिप्रदेशे चारित्राविरोधेनाल्पसस्तरितेऽसस्तरिते आत्मप्रमाणेनात्मनैव वा

गाथार्थ—अल्प भी सस्तर से रहित अथवा किचित् मात्र सस्तर से सहित एकान्त स्थान रूप प्रासुक भूमि प्रदेश मे दण्डाकार या धनुषाकार शयन करना अथवा एक पसवाडे से सोना क्षितिशयन व्रत है ॥३२॥

आचारवृत्ति—जीव वध आदि हेतु से रहित प्रदेश प्रासुक प्रदेश है अर्थात् जीवो की हिसा से, उनके मर्दन से अथवा कलह सक्लेश आदि से रहित जो प्रदेश है वह प्रासुक प्रदेश है। जहाँ पर किचित् भी सस्तरण नही किया है अर्थात् कुछ भी नही बिछाया है वह अल्प असस्तरित है, अथवा जहाँ पर अल्पवान सस्तर किया गया है जिससे बहुत सयम का विघात न हो ऐसे तृणमय, काष्ठमय, शिलामय और भूमिमय इन चार प्रकार के सस्तर मे से किसी एक प्रकार का सस्तर किया गया है ऐसा सस्तर जोकि गृहस्थ के योग्य प्रच्छादन से रहित है, अथवा जो अपने द्वारा बिछाया गया है अन्य के द्वारा नही, वह सस्तर यहाँ विवक्षित है।

अथवा जो 'आत्मान मिमीते' आत्मा को मापता है अर्थात् अपने शरीर प्रमाण है ऐसा बिछाया गया सस्तर यहाँ विवक्षित है जोकि चारित्र के योग्य तृण आदि रूप है वह आत्म प्रमाण सस्तरित प्रदेश साधु के शयन के योग्य है। वह प्रच्छन्न होवे अर्थात् वहाँ पर स्त्री, पशु और नपुसक लोग न होवे और असयतजनो के आने-जाने से रहित हो ऐसे गुप्त-एकान्त प्रदेश साधु के शयन योग्य है। वहाँ पर दण्ड के समान शरीर को करके अर्थात् दण्डाकार, या धनुष के समान सोना, अथवा एक पसवाडे से शयन करना—इन तीन प्रकार से सोने का विधान होने से यहाँ पर अधोमुख होकर या ऊपर मुख करके सोना नही चाहिए यह आशय है क्योकि इनमे दोष देखे जाते है। उपर्युक्त विधि से शयन ही क्षितिशयन व्रत है। तात्पर्य यह हुआ कि चारित्र से अविरोधी ऐसे अल्प सस्तर को डाल करके अथवा सस्तर नही भी बिछा करके, अपने शरीर प्रमाण मे अथवा अपने द्वारा बिछाये गये ऐसे सस्तरमय, एकान्त-

---

१ क 'शुपडक'।

सस्तरिते प्रच्छन्ने दण्डेन धनुषा एकपार्श्वेन मुनेर्या शय्या शयनं तत् क्षितिशयनव्रतमित्यर्थः। किमर्थमेतदिति चेत् इन्द्रियसुखपरिहारार्थं तपोभावनार्थं शरीरादिनिस्पृहत्वाद्यर्थं चेति ॥

अदन्तमनव्रतस्य स्वरूप निरूपयन्नाह—

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं ।
दंतमलासोहणय सजमगुत्ती अदंतमणं ॥३३॥

अंगुलि—अगुलि हस्ताग्रावयव । **णह**—नख कररुह । **अवलेहणि**—अवलिख्यते मल निराक्रिय-तेऽनया सा अवलेखनी दन्तकाष्ठ । **कलीहिं**[1]—कलिस्तृणविशेष, अत्र बहुवचन द्रष्टव्य प्राकृतलक्षणबलात् । अगुलिनखावलेखनीकलयस्तै । **पासाण**—पाषाण । **छल्लि**—त्वक् वल्कलावयव । पाषाण च त्वक् च पाषाण-त्वच तदादिर्येषा ते पाषाणत्वचादयस्तै पाषाणत्वचादिभिश्च । आदिशब्देन खर्परखण्डतन्दुलवर्तिकादयो गृह्यन्ते । **सजमगुत्ती**—सयमगुप्ति । **दंतमलासोहणयं**—दन्ताना मल तस्याशोधनमनिराकरण दन्तमलाशोधनं । **सजमगुत्ती**—सयमस्य गुप्ति सयमगुप्ति सयमरक्षा इन्द्रियसयमरक्षणनिमित्तम् । [3]**समुदायार्थः**—अंगुलिनखा-वलेखनीकलिभि पाषाणत्वचादिभिश्च यदेतद्दन्तमलाशोधन सयमगुप्तिनिमित्त तददन्तमनव्रतं भवतीत्यर्थं । किमर्थं वीतरागख्यापनार्थं सर्वज्ञाज्ञानुपालननिमित्त चेति ॥

रूप प्रासुक भूमि-प्रदेश मे दण्डरूप से, धनुषाकार से या एक पसवाड़े से जो मुनि का शयन करना है वह क्षितिशयन व्रत है ।

प्रश्न—यह किसलिए कहा है ?

उत्तर—इन्द्रिय सुखो का परिहार करने के लिए, तप की भावना के लिए और शरीर आदि से नि स्पृहता आदि के लिए यह भूमिशयन व्रत होता है । अर्थात् पृथ्वी पर सोने से या तृण-घास पाटे आदि पर सोने पर कोमल-कोमल बिछौने आदि का त्याग हो जाने से इन्द्रियो का सुख समाप्त हो जाता है, तपश्चरण मे भावना बढती चली जाती है, शरीर से ममत्व का निरास होता है, और भी अनेको गुण प्रकट होते है ।

अदतधावन व्रत का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—अगुली, नख, दातोन और तृण विशेष के द्वारा पत्थर या छाल आदि के द्वारा दाँत के मल का शोधन नही करना यह सयम की रक्षारूप अदन्तधावन व्रत है ॥३३॥

आचारवृत्ति—अगुली—हाथ के अग्रभाग का अवयव, नख, अवलेखनी—जिसके द्वारा मल निकाला जाता है वह दातोन आदि, कलि—तृण विशेष, पत्थर और वृक्षों की छाल । यहाँ आदि शब्द से खप्पर के टुकडे, चावल की बत्ती आदि ग्रहण की जाती हैं। इन सभी के द्वारा दाँतो का मल नही निकालना यह इन्द्रियसयम की रक्षा के निमित्त अदतधावन व्रत है । समुदाय अर्थ यह हुआ कि अगुली, नख, दातोन, तृण, पत्थर, छाल आदि के द्वारा जो दंतमल को दूर नही करना है वह सयमरक्षा निमित्त अदतमनव्रत कहलाता है ।

प्रश्न—यह किसलिए है ?

---

१ क 'कलि च । २ क कलि च । ३ क समु' ।

स्थितिभोजनस्य स्वरूप निरूपयन्नाह—

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइ[1]विवज्जणेण समपायं ।
[2]पडिसुद्धं भूमितिए असण ठिदिभोयणं णाम ॥३४॥

अंजलिपुडेण—अञ्जलिरेव पुट अञ्जलिपुट तेन अञ्जलिपुटेन पाणिपात्रेण स्वहस्तपात्रेण[4]। **ठिच्चा**—स्थित्वा ऊर्ध्वाध[5] स्वरूपेण नोपविष्टेन नापि सुप्तेन न तिर्यग्व्यवस्थितेन भोजन कार्यमित्यर्थ । ऊर्ध्व-जघ. सस्थाय । **कुड्डाइविवज्जणेण** —कुड्यमादिर्येषा ते कुड्यादयस्तेषा विवर्जन परिहरण कुड्यादिविवर्जन तेन कुड्यादिविवर्जनेन भित्तिविभागस्तम्भादीननाश्रित्य । **समपाय**—समौ पादौ यस्य क्रियाविशेषस्य तत्समपाद चतुरगुलप्रमाण पादयोरन्तर कृत्वा स्थातव्यमित्यर्थ । **परिसुद्धं**—परिशुद्धे जीवबधादिविरहिते । **भूमितिए**—भूमित्रिके भूमेस्त्रिक भूमित्रिक तस्मिन् स्वपादप्रदेशोत्सृष्टपतनपरिवेषकप्रदेशे । **असण**—असन आहारग्रहणम् । **ठिदिभोयणं**—स्थितस्य भोजन स्थितिभोजन नामसज्ञक भवति । परिशुद्धे भूमित्रिके कुड्यादिविवर्जनेनाञ्जलि-पुटेन समपाद यथाभवति तथा स्थित्वा यदेतदशन क्रियते तत्स्थितिभोजन नाम व्रत भवतीति । समपादाञ्जलि-

---

उत्तर—यह व्रत वीतारागता को बतलाने के लिए और सर्वज्ञदेव की आज्ञा के पालन हेतु कहा गया है ।

स्थितिभोजन का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—दीवाल आदि का सहारा न लेकर जीव-जन्तु से रहित तीन स्थान की भूमि, मे समान पैर रखकर खडे होकर दोनो हाथ की अजली बनाकर भोजन करना स्थितिभोजन नाम का व्रत है ॥३४॥

आचारवृत्ति—दीवाल का भाग या खभे आदि का सहारा न लेकर, पैरो मे चार अंगुल प्रमाण का अन्तर रखकर खडे होकर अपने कर-पात्र मे आहार लेना स्थितिभोजन है । यहाँ 'खडे होकर' कहने से ऐसा समझना कि साधु न बैठकर आहार ले सकते है, न लेटकर, न तिरछे आदि स्थित होकर ही ले सकते है किन्तु दोनो पैरो मे चार अगुल अन्तर से खडे होकर ही लेते है। वे तीन स्थानो का निरीक्षण करके आहार करते है । अपने पैर रखने के स्थान को, उच्छिष्ट गिरने के स्थान को और परोसने वाले के स्थान को जीवो के गमनागमन या वध आदि से रहित—विशुद्ध देखकर आहार ग्रहण करना होता है । उसका स्थितिभोजन नामक व्रत कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि तीनो स्थानो को जीव-जन्तु रहित देखकर भित्ति आदि का सहारा न लेकर समपाद रखकर खडे होकर अजलिपुट से जो आहार ग्रहण किया जाता है वह स्थिति-भोजन व्रत है ।

समपाद और अजलिपुट इन दो विशेषणो से तीन मुहूर्त मात्र भी एकभक्त का जो काल है वह सपूर्णकाल नही लिया जाता है किन्तु मुनि का भोजन ही इन विशेषणो से विशिष्ट होता है । इससे यह अर्थ हुआ कि साधु जब-जब भोजन करते है तब-तब समपाद को करके

---

१ क दिवि° । २ क °पाद । ३ क परिसु° । ४ क °त भाजनेन । ५ क °र्ध्वजघस्व° ।

पुटाभ्या न सर्व एकभक्तकाल त्रिमुहूर्तमात्रोऽपि विशिष्यते किन्तु भोजनं मुनेर्विशिष्यते तेन त्रिमुहूर्तकालमध्ये यदा यदा भुङ्क्ते तदा तदा समपाद कृत्वा अञ्जलिपुटेन भुञ्जीत। यदि पुनर्भोजनक्रियायां प्रारब्धायां समपादौ न विशिष्येते अञ्जलिपुट च न विशिष्यते हस्तप्रक्षालने कृतेऽपि तदानी जानूपरिव्यतिक्रमो योऽयमन्तराय पठित स न स्यात्। नाभेरधो निर्गमन योऽन्तराय सोऽपि न स्यात। अतो ज्ञायते त्रिमुहूर्तमध्ये एकत्र भोजन-क्रिया प्रारभ्य केनचित् कारणान्तरेण हस्तौ प्रक्षाल्य मौनेनान्यत्र गच्छेत् भोजनाय यदि पुन सोऽन्तरायो भुञ्जा-नस्यैकत्र भवतीति मन्यते जानूपरिव्यतिक्रमविशेषणमनर्थक स्यात्। एव विशेषणमुपादीयेत समपादयोर्मनागपि चलितयोरन्तराय स्यात् नाभेरधो निर्गमन दूरत एव न[1] सम्भवतीति अन्तरायपरिहारार्थमनर्थक ग्रहण स्यात् तथा पादेन किञ्चित् ग्रहणमित्येवमादीन्यन्तरायख्यापकानि सूत्राण्यनर्थकानि स्यु । तथाञ्जलिपुट यदि न भिद्यते करेण किञ्चिद् ग्रहणमन्तरायस्य विशेषणमनर्थक स्यात्। गृह्णातु वा मा वा अञ्जलिपुटभेदेन अन्तराय. स्यादित्येवमुच्यते। तथा जान्वध परामर्श सोऽप्यन्तरायस्य विशेषण न स्यात्। एवमन्येऽपि अन्तराया. न स्युरिति। न चैतेऽन्तराया सिद्धभक्तावकृतायां गृह्यन्ते सर्वदैव भोजनाभाव स्यात्। न चैव, यस्मात्सिद्धभक्ति यावन्न[2] करोति तावदुपविश्य पुनरुत्थाय भुङ्क्ते। मासादीन् दृष्ट्वा च रोदनादिश्रवणेन च उच्चारादीश्च

अजलिपुट मे ही करते है। यदि पुन. भोजन क्रिया के प्रारम्भ कर देने पर समपाद विशेष नहीं है और अजलिपुट विशेष नही है तो हाथ के प्रक्षालन करने पर भी उस समय जानूपरिव्यतिक्रम नाम का जो अतराय कहा गया है वह नही हो सकेगा और नाभि के नीचे निर्गमन नाम का जो अतराय है वह नही हो सकेगा इसलिए यह जाना जाता है कि तीन मुहूर्त के मध्य एक जगह भोजन क्रिया को प्रारम्भ करके किसी अन्य कारण से हाथो को धोकर मौन से अन्यत्र भोजन के लिए जा सकते है। यदि पुन वह अतराय भोजन करते हुए के एक जगह होती है ऐसा मान लो तो जानूपरिव्यतिक्रम विशेषण अनर्थक हो जावेगा। किन्तु ऐसा विशेषण ग्रहण करना चाहिए था कि सम पैरो के किंचित् भी चलित होने पर अतराय हो जावेगा, पुन नाभि के नीचे से निकलने रूप अतराय दूर से ही सभव नही हो सकेगा इसलिए अतराय परिहार के लिए है ऐसा ग्रहण अनर्थक ही हो जावेगा। उसी प्रकार से 'पैर से किंचित् ग्रहण करना' इत्यादि प्रकार के अतरायो को कहनेवाले सूत्र भी अनर्थक ही हो जावेगे। तथा यदि अजलिपुट नही छूटना चाहिए ऐसा मानेगे तो 'कर से किंचित् ग्रहण करने रूप' अतराय का विशेषण अनर्थक हो जायेगा। ग्रहण करो अथवा मत करो किन्तु अंजलिपुट के छूट जाने से अतराय हो जावेगा ऐसा कहना चाहिए था। तथा जान्वध परामर्श नामक जो अतराय है वह भी नही बन सकेगा। इसी प्रकार से अन्य भी अतराय नही हो सकेंगे।

सिद्धभक्ति के नही करने पर ये अतराय ग्रहण किये जाते है, ऐसा भी नही कह सकते हैं अन्यथा हमेशा ही भोजन का अभाव हो जावेगा। किन्तु ऐसा नही है, क्योकि जब तक सिद्धभक्ति को नही करते है तब तक बैठे रहकर पुन खडे होकर भोजन करते है। मांस आदि को देखकर, रोना आदि सुनकर अथवा मलमूत्र आदि विसर्जन करके भोजन करते हैं और वहाँ पर काक आदि के द्वारा पिण्ड ग्रहण अतराय भी सम्भव नही है।

१-२ न नास्ति क प्रतौ।

कृत्वा भुड्क्ते न च तत्र काकादिपिडहरण[1] सम्भवति । अथ किमर्थं स्थितिभोजनमनुष्ठीयते चेन्नैष दोष' यावद्धस्तपादौ मम सञ्चलनस्तावदाहारग्रहण योग्य नान्यथेति ज्ञापनार्थं । मिथस्तस्य हस्ताभ्या भोजन उपविष्ट सन् भाजनेनान्यहस्तेन वा न भुञ्जेऽहमिति प्रतिज्ञार्थं च, अन्यच्च स्वकरतल शुद्ध भवति अन्तराये सति बह्वोर्विसर्जन च न भवति अन्यथा पात्री सर्वाहारपूर्णा त्यजेत् तत्र च दोष स्यात् । इन्द्रियसयमप्राणसयमप्रतिपालनार्थं च स्थितिभोजनमुक्तमिति ॥

एकभक्तस्य स्वरूप निरूपयन्नाह—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥३५॥

उदयत्थमणे—उदयश्चास्तमन च उदयास्तमने तयो सवितुरुदयास्तमनयो । **काले**—कालयो, अथवा उदयास्तमनकालौ द्वितीयान्तौ द्रष्टव्यौ । **णालीतियवज्जियम्हि**—नाडया घटिकायास्त्रिक नाडीत्रिक तेन नाडीत्रिकेण वर्जित नाडीत्रिकवर्जित तस्मिन् घटिकात्रिकवर्जिते । **मज्झम्हि**—मध्ये । **एक्कम्हि**—एकस्मिन् । **दुअ**—द्वयो । **तिए वा**—त्रिपु वा । **मुहुत्तकाले**—मुहूर्तकाले । **एयभत्त तु**—एकभक्त तु । उदयकाल नाडीत्रिकप्रमाण वर्जयित्वा । अस्तमनकाल च नाडीत्रिकप्रमाण वर्जयित्वा शेषकालमध्ये एकस्मिन् मुहूर्ते द्वयोर्मुहूर्तयोस्त्रिषु वा मुहूर्तेषु यदेतदशन तदेकभक्तसज्ञक व्रतमिति पूर्वगाथासूत्रादशनमनुवर्तते तेन सम्बन्ध

प्रश्न—पुन किसलिए स्थितिभोजन का अनुष्ठान किया जाता है ?

उत्तर—यह दोष नही है, क्योकि जब तक मेरे हाथ पैर चलते है तब तक ही आहार ग्रहण करना योग्य है अन्यथा नही ऐसा सूचित करने के लिए मुनि खडे होकर आहार ग्रहण करते है। बैठकर दोनो हाथो से या बर्तन मे लेकर के या अन्य के हाथ से मै भोजन नही करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा के लिए भी खडे होकर आहार करते है। और दूसरी बात यह भी है कि अपना पाणिपात्र शुद्ध रहता है तथा अतराय होनेपर बहुत सा भोजन छोडना नही पडता है अन्यथा थाली मे खाते समय अतराय हो जाने पर पूरी भोजन से भरी हुई थाली को छोडना पडेगा, इसमे दोष लगेगा। तथा इन्द्रियसयम और प्राणीसयम का परिपालन करने के लिए भी स्थिति-भोजन मूलगुण कहा गया है ऐसा समझना।

एकभक्त का स्वरूप निरूपण करते हुए कहते है—

गाथार्थ—उदय और अस्त के काल मे से तीन-तीन घडी से रहित मध्यकाल के एक, दो अथवा तीन मुहूर्त काल मे एकबार भोजन करना यह एकभक्त मूलगुण है ॥३५॥

आचारवृत्ति—सूर्योदय के बाद तीन घडी और सूर्यास्त के पहले तीन घड़ी काल को छोड़कर शेषकाल के मध्य मे एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त पर्यत जो आहार ग्रहण है वह एकभक्त नाम का व्रत है। इस प्रकार से पूर्वगाथा सूत्र मे 'अशन' शब्द है, उसका यहाँ सम्बन्ध किया गया है। अथवा तीन घडी प्रमाण सूर्योदय काल और तीन घडी प्रमाण सूर्यास्त काल को छोड़कर मध्यकाल मे तीन मुहूर्त तक जो भोजन क्रिया की निष्पत्ति—पूर्ति है वह एकभक्त है।

---

१ क 'डग्रहण'।

इति। अथवा नाडीत्रिकप्रमाणे उदयास्तमनकाले च वर्जिते मध्यकाले त्रिषु मुहूर्तेषु भोजनक्रियायां या निष्पत्तिस्तदेकभक्तमिति। अथवा अहोरात्रमध्ये द्वे भक्तवेले तत्र एकस्यां भक्तवेलायां आहारग्रहणमेकभक्तमिति। एक-शब्दः सख्यावचन भक्तशब्दोऽपि कालवचन इति। एकभक्तैकस्थानयोः को विशेष इति चेन्न पादविक्षेपा-विक्षेपकृतत्वाद्विशेषस्य, एकस्मिन् स्थाने त्रिमुहूर्तमध्ये पादविक्षेपमकृत्वा भोजनमेकस्थानं, त्रिमुहूर्तकालमध्ये एकक्षेत्रावधारणरहिते भोजनमेकभक्तमिति। अन्यथा मूलगुणोत्तरगुणयोरविशेषः स्यात् न चैव प्रायश्चित्तेन विरोधः स्यात्। तथा चोक्तं प्रायश्चित्तग्रन्थेन, 'एकस्थानमुत्तरगुणः एकभक्तं तु मूलगुणः' इति। तत्किमर्थमिति [1]चेन्न इन्द्रियजयनिमित्तं, आकांक्षानिवृत्त्यर्थं, महापुरुषाचरणार्थं चेति। किमर्थं महाव्रतानां भेद इति चेन्न, छेदोपस्थापन-शुद्धिसंयमाश्रयणात्। नापि महाव्रतसमितीनामभेदः सचेष्टाचेष्टाचरणविशेषाश्रयणात्। नाप्यात्मदुःखार्थमेतत्, अन्यथार्थत्वात् भिषक्क्रियावदिति। अथ तपसां गुप्तीनां च क्वान्तर्भाव इति प्रश्ने उत्तरमाह—

अथवा अहोरात्र मे भोजन की दो वेला होती है उसमे एक भोजन बेला में आहार ग्रहण करना एक भक्त है। यहाँ पर एक शब्द सख्यावाची है और भक्त शब्द कालवाची है ऐसा समझना।

प्रश्न—एक भक्त और एक स्थान मे क्या अन्तर है?

उत्तर—पाद विक्षेप करना और पाद विक्षेप न करना यही इन दोनो मे अन्तर है। तीन मुहूर्त के बीच मे एक स्थान मे खडे होकर अर्थात् चरणविक्षेप न करके भोजन करना एक स्थान है और तीन मुहूर्त के काल मे एक क्षेत्र की मर्यादा न करते हुए भोजन करना एकभक्त है। यदि ऐसा नही मानोगे तो मूलगुण और उत्तरगुण मे कोई अन्तर नही रहेगा किन्तु ऐसा है नही, नही तो प्रायश्चित्त शास्त्र से विरोध आ जायेगा, उसमे कहा हुआ था कि एकस्थान उत्तरगुण है और एकभक्त मूलगुण है।

ऐसा भेद क्यो है?

इन्द्रियो को जीतने के लिए, आकाक्षा का त्याग करने के लिए और महापुरुषो के आचरण के लिए ही भेद है।

महाव्रतो मे भेद क्यो है?

छेदोपस्थापना शुद्धि नामक सयम के आश्रय से यह भेद है। महाव्रत और समिति मे भी अभेद नही है क्योकि क्रियात्मक और अक्रियात्मक आचरण विशेष देखा जाता है अर्थात् समिति क्रियारूप है उनमे यत्नाचारपूर्वक गमन करना, बोलना आदि होता है और महाव्रत अक्रियारूप है क्योकि वे परिणामात्मक है।

ये महाव्रत समिति आदि आत्मा को दु:ख देने वाले है ऐसा भी नही समझना क्योकि वैद्य की शल्यक्रिया के समान ये दु:ख मे विपरीत अन्यथा अर्थवाले ही है अर्थात् जैसे वैद्य रोगी के फोडे को चीरता है तो वह आपरेशन तत्काल मे दु:खप्रद दिखते हुए भी उसके स्वास्थ्य के लिए है वैसे ही इन महाव्रत समितियो के अनुष्ठान मे तत्काल मे भले ही दु:ख दीखे किन्तु ये आत्मा को स्वर्ग मोक्ष के लिए होने से सुखप्रद ही हैं।

---

१ क चेत् इ।

अनशन नाम अशनत्याग स च त्रिप्रकार । मनसा च न भुञ्जे न भोजयामि, भोजने व्यापृतस्य नानुमति करोमि भुञ्जे भुङ्क्ष्व वचसा न भणामीति चतुर्विधाहारस्याभिसन्धिपूर्वक कायेनादान न करोमि हस्तसञ्ज्ञया प्रवर्तन न करोमि नानुमतिसूचन कायेन करोमि इत्येव मनोवाक्कायक्रियाणा कर्मोपादानकारणाना त्यागोऽनशन नाम । तथा योगत्रयेण तृप्तिकारिण्या भुजिक्रियाया दर्पवाहिन्या निराकृतिरवमोदर्य । तथा आहारसज्ञाया जय गृहादिगणनान्यायेन वृत्तिपरिसख्यान । तथा मनोवाक्कायक्रियाभीरसगोचरगार्द्धत्यजन रसपरित्याग. । काये सुखाभिलाषत्यजन कायक्लेश । चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम् । स्वकृतापराधगूहनत्यजन आलोचना । स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्ति प्रतिक्रमण । तदुभयोज्झनमुभयम् । येन यत्र वा अशुभयोगोऽभूत्

प्रश्न—तपो का और गुप्तियो का कहाँ पर अन्तर्भाव होता है ?

उत्तर—नित्य युक्त—नित्य करने योग्य तप और गुप्तियो का मूलगुणो मे अन्तर्भाव हो जाता है और कादाचित्क—कभी-कभी करने योग्य इनका उत्तरगुणो मे अन्तर्भाव होता है। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भी मूलगुणो मे ही अन्तर्भाव माना है क्योकि इनके बिना मूलगुण ही नही होते है ।

तप और गुप्तियो का सक्षिप्त लक्षण—

तप के बारह भेद है । अनशन, अवमौदर्य आदि छह बाह्य तप है और प्रायश्चित्त, विनय आदि छह अभ्यन्तर तप है ।

भोजन का त्याग करना अनशन है उसके तीन प्रकार है । मै मन से भोजन नही करता हूँ, न अन्य को कराता हूँ और न भोजन करते हुए अन्य को अनुमोदना ही देता हूँ । तुम भोजन करो ऐसा वचन से नही कहता हूँ, न कहलाता हूँ और न अनुमोदना ही देता हूँ । चार प्रकार के आहार को अभिप्रायपूर्वक काय से न मैं ग्रहण करता हूं, न हाथ से इशारे के प्रवृत्ति करता हूँ और न काय से अनुमति की सूचना करता हूँ इस प्रकार से कर्मो के ग्रहण मे कारणभूत ऐसी मन, वचन और काय की क्रियाओ का त्याग करना ही अनशन नाम का तप है ।

(इन्द्रियो की) तृप्ति और दर्प (प्रमाद) को करने वाले भोजन का मन, वचन, काय से त्याग करना अर्थात् भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है ।

गृह आदि की सख्या के न्याय से अर्थात् गृह पात्र आदि नियम विशेष करके आहार सज्ञा को जीतना वृत्ति-परिसख्यान तप है ।

मन-वचन-काय से रसविषयक गृद्धि का त्याग करना रसपरित्याग तप है ।

शरीर मे सुख की अभिलाषा का त्याग करना कायक्लेश तप है ।

चित्त की व्याकुलता को जीतना अर्थात् चित्त की व्याकुलता के कारणभूत स्त्री, पशु, नपुसक आदि जहाँ नही है ऐसे विविक्त—एकान्त स्थान में सोना बैठना यह विविक्त शयनासन तप है ।

ये छह प्रकार के बाह्य तप है । अभ्यन्तर तप मे पहला तप प्रायश्चित्त है उसके दश भेद हैं । उनका वर्णन कर रहे हैं—

तन्निराक्रिया[1] ततोऽपगमन विवेक । देहे ममत्वनिरास कायोत्सर्ग. । तपोऽनशनादिकम्। असंयमजुगुप्सार्थं प्रव्रज्याहापन छेद । पुनश्चारित्रादान मूल । कालप्रमाणेन चतुर्वर्ण्यश्रमणसघाद्वहिष्करण परिहार । विपरीत गतस्य मनस निवर्तन श्रद्धान, दर्शनज्ञानचारित्रतपसामतीचारो[2] अशुभक्रियास्तासामपोहन विनय । चारित्रस्य कारणानुमनन वैयावृत्यम् । अगपूर्वाणा सम्यक् पठन स्वाध्याय । शुभविषये एकाग्रचिन्तानिरोधन ध्यानम्। सावद्ययोगेभ्य आत्मनो गोपन गुप्ति । सा च मनोवाक्कायक्रियाभेदात्त्रिप्रकारा । एतेषा सर्वेषा तपसा गुप्तीनां च नित्ययुक्ताना च मूलगुणेष्वेवान्तर्भाव । कादाचित्कानां चोत्तरगुणेष्वन्तर्भाव इति, तथा सम्यक्त्वज्ञान-चारित्राणामपि मूलगुणेष्वन्तर्भावस्तैर्विना तेषामभावादिति ।।

स्वय किये हुए अपराध नही छिपाना आलोचना है ।

अपने द्वारा किये हुए अशुभ योग की प्रवृत्तियों से हटना प्रतिक्रमण है ।

आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो करना तदुभय तप है ।

जिससे अथवा जिसमे अशुभयोग हुआ हो उस वस्तु का छोडना विवेक है ।

शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है ।

अनशन अर्थात् उपवास आदि तपो का अनुष्ठान करना तपप्रायश्चित्त है ।

असयम से ग्लानि उत्पन्न होने पर दीक्षा के दिन, मास आदि कम करना छेद है ।

पुन चारित्र अर्थात् दीक्षा ग्रहण करना मूल है ।

कुछ काल के प्रमाण से चतुर्विध श्रमणसघ से साधु का बहिष्कार कर देना परिहार प्रायश्चित्त है ।

विपरीत-मिथ्यात्व को प्राप्त हुए मन को वापस लौटाकर सम्यक्त्व में स्थिर करना श्रद्धान प्रायश्चित्त है ।

ये प्रायश्चित्त तप के दश भेद हुए । अब अन्य विनय आदि अभ्यन्तर तपो को कहते है—

दर्शन ज्ञान चारित्र और तप मे अतिचाररूप जो अशुभ क्रियाएँ है उनका त्याग करना विनय है ।

चारित्र के कारणो का अनुमनन करना वैयावृत्य है ।

अग और पूर्व का सम्यक् पढना स्वाध्याय है ।

शुभ विषय मे एकाग्र चिन्ता का निरोध करना अर्थात् चित्त को स्थिर करना ध्यान है ।

इस प्रकार बारह विध तपो का वर्णन हुआ । अब गुप्ति को कहते हैं—

सावद्य अर्थात् पाप योग से आत्मा का गोपन—रक्षण करना गुप्ति है। इसके मन, वचन, और काय की क्रिया के भेद से तीन भेद हो जाते है । अर्थात् सावद्य परिणामों से मन को रोकना मनोगुप्ति है, सावद्य वचनो को नही बोलना वचनगुप्ति है और सावद्य काययोग से बचना कायगुप्ति है । नित्ययुक्त ये तप और गुप्तियाँ मूलगुणों में गर्भित है और नैमित्तिक रूप ये उत्तरगुणों मे गर्भित है । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी मूलगुणो में अन्तर्भूत हैं क्योंकि इनके बिना मूलगुण हो ही नही सकते ।

---

१ क 'क्रियते ततोपयोगमन । २ क 'चाराणमशु' ।

मूलगुणफलप्रतिपादनार्थोपसंहारगाथामाह—

एवं विहाणजुत्ते मूलगुणे पालिऊण तिविहेण ।
होऊण जगदि पुज्जो अक्खयसोक्खं लहइ मोक्खं ॥३६॥

एव—अनेन प्रकारेण। **विहाणजुत्ते**—विधानयुक्तान् पूर्वोक्तक्रमभेदभिन्नान् सम्यक्त्वाद्यनुष्ठानपूर्वकान्। **मूलगुणे**—मूलगुणान् पूर्वोक्तलक्षणान्। **पालिऊण**—पालयित्वा सम्यगनुष्ठाय आचर्य। **तिविहेण**—त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन वा। **होऊण**—भूत्वा। **जगदिपुज्जो**—जगति लोके पूज्योऽर्चनीय। **अक्खयसोक्खं**—अक्षयसौख्य व्याघातरहित। **लभइ**—लभते प्राप्नोति। **मोक्ख**—मोक्ष अष्टविधकर्मापायोत्पन्नजीवस्वभावम्॥

इत्याचारवृत्तौ वसुनंदिविरचिताया प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

अब मूलगुणो का फल प्रतिपादन करने के लिए उपसहाररूप गाथा कहते है—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधान से सहित मूलगुणो को मन, वचन, काय से पालन करके मनुष्य जगत् मे पूंज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥३६॥

आचारवृत्ति—पूर्वोक्त क्रम से भेद रूप तथा सम्यक्त्व आदि अनुष्ठानपूर्वक मूलगुणो को मन, वचन, काय से पालन करके साधु इस जगत् मे अर्चनीय हो जाता है और आगे बाधारहित अक्षयसुखमय और अष्टविध कर्मों के अभाव से उत्पन्न हुए जीव के स्वभाव रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार श्री वसुनन्दि आचार्य विरचित मूलाचार की आचारवृत्ति
नामक टीका मे प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

२. बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तवाधिकारः

प्रत्याख्यान[1]सस्तरस्तवप्रतिपत्तृभ्यां[2] सहाभेद कृत्वात्मन ग्रथकर्ता प्रत्याख्यानसस्तरस्तवनामधेय-द्वितीयाधिकारार्थमाह। अथवा षट्काला यतीना भवन्ति तत्रात्मसस्कारसल्लेखनोत्तमार्थकालास्त्रय आराधनायां कथ्यते। शेषा दीक्षाशिक्षागणपोषणकाला आचारे, तत्राद्येषु त्रिषु कालेषु यद्युपस्थित मरण तत्रैवभूत परिणाम विदधेऽहमित्यत आह—

सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो।
सद्दहे जिणपण्णत्तं पच्चक्खामि य पावयं ॥३७॥

सव्वदुक्खप्पहीणाणं—सर्वाणि च तानि दु खानि च सर्वदु खानि समस्तद्वन्द्वानि तै. प्रहीणा रहिता। अथवा सर्वाणि दु खानि प्रहीणानि येषा ते सर्वदु खप्रहीणास्तेभ्य। **सिद्धाणं**—सिद्धेभ्य सम्यक्त्वाद्यष्टगुणैश्वर्येभ्य। **अरहदो**—अर्हद्भ्यश्च नवकेवललब्धिप्राप्तेभ्यश्च चशब्दोऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः। **णमो**—नमो नमोऽस्तु तेभ्य। **सद्दहे**—श्रद्दधे रुचि कुर्वे। **जिणपण्णत्त**—कर्मारातीन् जयन्तीति जिना तै प्रज्ञप्तं कथित जिनप्रज्ञप्त जिनकथित। **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यामि परिहरे। **पावयं**—पापक दु खनिमित्तम्। सर्वद्वद्वरहितेभ्य सिद्धेभ्योऽर्ह-

---

प्रत्याख्यान और सस्तरस्तव इन दो विषयो का उनको जाननेवाले मुनियों के साथ अभेद सम्बन्ध दिखाकर ग्रन्थकार प्रत्याख्यान सस्तर-स्तव नामक द्वितीय अधिकार का वर्णन करते है। अथवा यतियो के छह काल होते है उसमे आत्म सस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन तीन कालो का वर्णन 'भगवती आराधना' मे कहा गया है। शेष अर्थात् दीक्षा-काल, शिक्षाकाल और गणपोषणकाल इन तीनों का इस आचार-ग्रन्थ—मूलाचार मे वर्णन करेगे। उनमे से पहले के तीन कालो मे यदि मरण उपस्थित हो जावे तो मैं इस प्रकार के (निम्न कथित) परिणाम को धारण करता हूँ, इस प्रकार से आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—सम्पूर्ण दु खो से मुक्त हुए सिद्धों को और अर्हंतों को मेरा नमस्कार होवे। मैं जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित (तत्त्व) का श्रद्धान करता हूँ और पाप का त्याग करता हूँ ॥३७॥

आचारवृत्ति—सम्पूर्ण दु खो से अर्थात् समस्त द्वन्द्वो से जो रहित हैं, अथवा जिन्होने सम्पूर्ण दु खो को नष्ट कर दिया है ऐसे सम्यक्त्व आदि आठ गुण रूप ऐश्वर्य से विशिष्ट सिद्धो को और नव केवललब्धि को प्राप्त हुए अर्हंतों को मेरा नमस्कार होवे। यहाँ गाथा में 'च' शब्द न होते हुए भी उसको समझना चाहिए। सर्वज्ञदेवपूर्वक ही आगम होता है इसीलिए मै नमस्कार के अनन्तर जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आगम का श्रद्धान करता हूँ अर्थात् सम्यक्त्वपूर्वक जो आचरण है उसका श्रद्धान करता हूँ और इसी हेतु से दु खनिमित्तक सम्पूर्ण पापों का त्याग

---

१. क 'जत्रिसं'। २. 'पत्तिभ्या।

दृभ्यो नमोस्तु । सर्वज्ञपूर्वक आगमो यतोऽतस्तन्नमस्कारानन्तरमागमश्रद्धान श्रद्दधे जिनप्रज्ञप्तमित्युक्त सम्यक्त्व-पूर्वक च, यत आचरणमत प्रत्याख्यामि सर्वपापकमित्युक्त । अथवा क्त्वान्तोऽय नम शब्द प्राकृत लोपबलेन सिद्ध । सिद्धानर्हतश्च नमस्कृत्वा जिनोक्त श्रद्दधे पाप च प्रत्याख्यामीत्यर्थ । अथवा [1]मिङन्तोऽय नम.शब्द तेनैव सम्बन्ध कर्तव्य —सर्वदुःखप्रहीणान् सिद्धान् अर्हतश्च नमस्यामि जिनागम च श्रद्दधे । पाप च प्रत्याख्यामीत्येकक्षणे [2]ऽनेकक्रिया एकस्य कर्तु सभवति इत्यनेकान्तद्योतनार्थमनेन न्यायेन सूत्रकारस्य कथनमिति ।।

भक्तिप्रकर्षार्थं पुनरपि नमस्कारमाह—

णमोत्थु धुदपावाणं सिद्धाणं च महेसिणं ।
[3]संथरं पडिवज्जामि जहा केवलिदेसियं ।।३८।।

अथवा प्रत्याख्यानसम्तरस्तवौ द्वावधिकारौ, द्वे शास्त्रे वा गृहीत्वा एकोऽय अधिकार कृत , कुतो ज्ञायते नमस्कारद्वितयकरणादिति । **णमोत्थु**—नमोऽस्तु । **धुदपावाण**—धुत विहृत पाप कर्म यैस्ते धुतपापस्तेभ्य । **सिद्धाण च**—सिद्धेभ्यश्च । **महेसिणं**—महर्षिभ्यश्च केवलर्द्धिप्राप्तेभ्य । [3]**सथर**—सस्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रतपोमय भूमिपाषाणफलकतृणमय वा । **पडिवज्जामि**—प्रपद्ये अभ्युपगच्छामि । **जहा**—यथा । **केवलिदेसिय**—केवलिभिर्दृष्ट केवलिदृष्टस्त केवलज्ञानिभि प्रतिपादितमित्यर्थ । धुतपापेभ्य सिद्धेभ्यो महर्षिभ्यश्च नमोऽस्तु । केवलिदृष्ट सस्तर प्रतिपद्येऽह इति पूर्ववत्सम्बन्ध कर्तव्य । सिद्धाना नमस्कारो मगलादिनिमित्त महर्षीणा च तदनुष्ठितत्वाच्चेति ।

करता हूँ । अथवा क्त्वा प्रत्ययान्त यह नम शब्द प्राकृत मे लोप के बल से सिद्ध है, इस कथन से सिद्धो और अर्हतो को नमस्कार करके जिनेन्द्र कथित का श्रद्धान करता हूँ और पाप का त्याग करता हूँ । अथवा यह नम शब्द मिङन्त है । इसका ऐसा सम्बन्ध करना कि सर्व दु खो से रहित सिद्धों को और अर्हतो को नमस्कार करता हूँ, जिनागम का श्रद्धान करता हूँ तथा पाप का त्याग करता हूँ । इस प्रकार से एकक्षण में एक कर्ता के अनेक क्रियाएँ सम्भव है, अत अनेकान्त को प्रकट करने हेतु इस न्याय से सूत्रकार का कथन है ऐसा समझना ।

भक्ति की प्रकर्षता के लिए पुन नमस्कार करते है—

गाथार्थ—पापो से रहित सिद्धो को और महर्षियो को मेरा नमस्कार होवे, जैसा केवली भगवान् ने कहा है वैसे ही सस्तर को मैं स्वीकार करता हूँ ।।३८।।

आचारवृत्ति—अथवा यहाँ पर प्रत्याख्यान और सस्तरस्तव ये दो अधिकार है या इन दो शास्त्रों को ग्रहण करके यह एक अधिकार किया गया है। ऐसा कैसे जाना जाता है ?

नमस्कार को दो बार करने से जाना जाता है । जिन्होने पापो को धो डाला है ऐसे सिद्धो को और केवल ऋद्धि को प्राप्त ऐसे महर्षियो को नमस्कार होवे । केवली भगवान् ने जैसा प्रतिपादित किया है वैसा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपोमय अथवा भूमि, पाषाण, पाटे और तृणमय सस्तर को मैं स्वीकार करता हूँ । यहाँ पर सिद्धो का नमस्कार मगल आदि के लिए है और महर्षियो का नमस्कार इसलिए है कि इन्होने उपर्युक्त सस्तर को प्राप्त करने का अनुष्ठान किया है ।

---

१. क तिङन्तो । २ क °णे नैका क्रिया । ३ क सथार ।

प्रतिज्ञानिर्वहणार्थमाह—

जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥३९॥

जं किंचि—यत्किंचित्। **मे**—मम। **दुच्चरियं**—दुश्चरित पापक्रिया। **सव्वं**—सर्वं निरवशेष। **तिविहेण**—त्रिविधेन मनोवचनकायैः। **वोसरे**—व्युत्सृजामि परिहरामि। **सामाइयं च**—सामायिक 'समन्वीभाव च। **तिविहं**—त्रिप्रकार मनोवचनकायगत कृतकारितानुमतं वा। **करेमि**—कुर्वेऽहम्। **सव्वं**—सर्वं-सकलम्। **णिरायारं**—आकारान्निर्गत निराकार निर्विकल्पम्। समस्ताचरण निर्दोष यत्स्तोकमपि दुश्चरित तत्सर्वं व्युत्सृजामि त्रिविधेन, सामायिक च सर्वं निरतिचार निर्विकल्प च यथा भवति तथा करोमीत्यर्थः, दुश्चरित्रकारण यत् तत्सर्वं त्रिप्रकारैः मनोवाक्कायैः परिहरामीति।

उत्तरसूत्रमाह—

बज्झब्भंतरमुवहिं सरीराइं च सभोयणं।
मणसा वचि कायेण सव्वं तिविहेण वोसरे ॥४०॥

बज्झं—बाह्य क्षेत्रादिकम्। **अब्भंतरं**—अभ्यन्तरमन्तरंग मिथ्यात्वादि। **उवहिं**—उपधि परिग्रहम्। **सरीराइ च**—शरीरमादिर्यस्य तच्छरीरादिकम्। **सभोयणं**—सह भोजनेन वर्तत इति सभोजन आहारेण सह। **मणसा वचि काएण**—मनोवाक्कायैः। **सव्वं**—सर्वम्। **तिविहेण**—त्रिप्रकारैः कृतकारितानुमतैः।

अब प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु कहते है—

गाथार्थ—जो किंचित् भी मेरा दुश्चरित है उस सभी का मैं मन-वचन काय से त्याग करता हूँ और सभी तीन प्रकार के सामायिक को निर्विकल्प करता हूँ ॥३९॥

आचारवृत्ति—जो कुछ भी मेरी पाप क्रियाएँ है उन सभी का मन-वचन-काय से मैं परिहार करता हूँ और मन-वचन-कायगत अथवा कृत-कारित-अनुमोदनारूप सम्पूर्ण समन्वय भाव सामायिक को आकार विरहित निराकार अर्थात् निर्विकल्प करता हूँ। समस्त आचरण निर्दोष हैं उसमें जो अल्प भी दुश्चरितरूप दोष हुए हो उन सभी को मै त्रि प्रकार से त्याग करता हूँ और सम्पूर्ण सामायिक को निरतिचार या निर्विकल्प जैसे हो सके वैसा करता हूँ अर्थात् जो भी दुश्चरित के कारण है उन सभी का मैं मन-वचन-काय से परिहार करता हूँ।

अब आगे का सूत्र कहते है—

गाथार्थ—बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह को, शरीर आदि को और भोजन को सभी को मन-वचन-कायपूर्वक तीन प्रकार से त्याग करता हूँ ॥४०॥

आचारवृत्ति—क्षेत्र आदि बाह्य और मिथ्यात्व आदि अभ्यन्तर परिग्रह को, आहार के साथ शरीर आदि को सभी को मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से मैं त्याग

---

१. क समस्वभाव च।

वोसरे—व्युत्सृजामि । बाह्य शरीरादि सभोजन परिग्रह, अन्तरंग च मिथ्यात्वादिक सर्वं त्रिप्रकारैर्मनोवाक्कायै परिहरामीत्यर्थ ।

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं मेहूण परिग्गहं चेव ॥४१॥

सव्व पाणारभ—सर्व प्राणारम्भ जीववधपरिणामम् । **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यामि दया कुर्वेऽहम् । **अलीयवयणं च**—अलीकवचन च । **सव्वं**—सर्वम् । **अदत्तादाण**—अदत्तस्यादान ग्रहणमदत्तादानम् । **मेहूण**—मैथुन स्त्रीपुरुषाभिलाषम् । **परिग्गहं चेव**—परिग्रह चैव बाह्याभ्यन्तरलक्षण । सर्व हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्ममूर्च्छा-स्वरूप परित्यजामीत्यर्थ ।

सामायिक करोमीत्युक्त तत्कि स्वरूपमित्यत प्राह—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेर मज्झं ण केणवि ।
आसा[1] वोसरित्ताण समाहिं पडिवज्जए ॥४२॥

करता हूँ। तात्पर्य यह है कि भोजन सहित शरीर आदि बाह्य परिग्रह को और अन्तरग मिथ्यात्व आदि को, इन सभी को कृत-कारित-अनुमोदना सहित मन-वचन-काय से त्याग करता हूँ।

गाथार्थ—सम्पूर्ण प्राणिवध को, असत्यवचन को, और सम्पूर्ण अदत्त ग्रहण को, मैथुन को तथा परिग्रह को भी मै छोडता हूँ ॥४१॥

आचारवृत्ति— सम्पूर्ण जीववध परिणाम का मै त्याग करता हूँ अर्थात् दया करता हूँ। असत्य वचन का, सम्पूर्ण बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण का, स्त्री-पुरुष के अभिलाषारूप मैथुन का और बाह्य अभ्यन्तर लक्षण परिग्रह का मै त्याग करता हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और मूर्च्छास्वरूप परिग्रह का मै परिहार करता हूँ।

*मै सामायिक स्वीकार करता हूँ ऐसा जो कहा है उसका क्या स्वरूप है—ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—मेरा सभी जीवो मे समताभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नही है, सम्पूर्ण आशा को छोडकर इस समाधि को स्वीकार करता हूँ ॥४२॥

---

१ **क** आसाए ।

*फलटन से प्रकाशित प्रति मे यह गाथा अधिक है—

छक्करण चउव्विहत्थी किदकारिद अणुमोदिद चेव ।
जोगेसु अबम्भस्स य भगा खलु होंति अक्खसंचारे ॥६॥

अर्थ—स्पर्शन आदि मन महित छह इन्द्रियाँ, देवागना, मनुष्यनी, तिर्यचनी और चित्रस्त्री इन चार प्रकार की स्त्रियो के साथ स्वय मैथुन करना, अन्य से कराना और मैथुन कर्म मे प्रवृत्त हुए अन्य को अनुमति देना, ये भेद मन, वचन और काय से इन तीनो से इस प्रकार से, ६ × ४ × ३ × ३ = २१६ भेद अब्रह्मचर्य के हो जाते हैं ।

सम्मं—समता सदृशत्वम् । **मे**—मम । **सव्वभूदेसु**—सर्वाणि च तानि भूतानि च सर्वभूतानि तेषु शत्रुमित्रादिषु प्राणिषु । **वेरं**—वैर शत्रुभाव । **मज्झं**—मम । **ण केण वि**—न केनापि । **आसा**[1]—आशा तृष्णा । **वोसरित्ता**—व्युत्सृज्य परित्यज्य । **अणं**—इमम् । **समाहिं**—समाधि समाधान । **पडिवज्जामि (पडिवज्जए)**—[2]प्रतिपद्येऽहम् । वैर मम न केनापि सह यत समता मे सर्वभूतेषु अत आशा व्युत्सृज्य समाधि [3]प्रतिपद्येऽहमिति ।

कथं वैर भवतो नास्तीत्यत आह—

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।
[4]मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥४३॥

खमामि—क्षमेऽह क्रोधादिक [5]त्यक्त्वा मैत्रीभाव करोमि । **सव्वजीवाण**—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवास्तान् शुभाशुभपरिणामहेतून् । **सव्वे जीवा**—सर्वे जीवा समस्तप्राणिन । **खमंतु**—क्षमन्ता सुष्ठूपशमभाव कुर्वन्तु । **मे**—मम । [6]**मित्ती**—मैत्री मित्रत्व । **सव्वभूदेसु**—सर्वभूतेषु । **वेरं**—वैर । **मज्झ**—मम । **ण केण वि**—न केनापि । सर्वजीवान् क्षमेऽह, सर्वे जीवा मे क्षमन्ता, एव परिणाम यत करोमि ततो वैर मे न केनाऽपि, मैत्री सर्वभूतेष्विति ।

न केवल वैर त्यजामि, वैरनिमित्त च यत् तत्सर्वं त्यजामीत्यत प्राह—

रायबधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं ।
उस्सुगत्तं भय सोगं [7]रदिमरदिं च वोसरे ॥४४॥

रायबधं—रागस्य रागेण वा बन्धो रागबन्ध स्नेहानुबन्धस्तम् । **पदोसं च**—प्रद्वेषमप्रीति च ।

आचारवृत्ति—शत्रु मित्र आदि सभी प्राणियो मे मेरा समताभाव है, किसी के साथ मेरा शत्रुभाव नही है इसलिए मै सम्पूर्ण तृष्णा को छोडकर समाधि को स्वीकार करता हूँ ।

आपका किसी के साथ वैर क्यो नही है इस बात को कहते है—

गाथार्थ—सभी जीवो को मै क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करे, सभी जीवों के साथ मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी के साथ वैरभाव नही है ॥४३॥

आचारवृत्ति—शुभ-अशुभ परिणाम मे कारणभूत सभी जीवो के प्रति क्रोधादि का त्याग करके मै क्षमाभाव—मैत्रीभाव धारण करता हूँ । सभी प्राणी मेरे प्रति क्षमाभाव अर्थात् अच्छी तरह शान्तिभाव धारण करे इस प्रकार के परिणाम जो मैं करता हूँ इसी हेतु से मेरा किसी के साथ वैर नही है प्रत्युत सभी जीवो मे मैत्रीभाव ही है ।

मै केवल वैर का ही त्याग नही करता हूँ किन्तु वैर के निमित्त जो भी है उन सबका त्याग करता हूँ इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—राग का अनुबन्ध, प्रकृष्ट द्वेष, हर्ष, दीनभाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति, और अरति का त्याग करता हूँ ॥४४॥

आचारवृत्ति—स्नेह का अनुबन्ध, अप्रीति, लाभ आदि से होने वाला आनन्दरूप हर्ष,

---

१. क आसाए । २-३. क प्रपद्ये । ४. क मेत्ती । ५. क मुक्त्वा । ६. क मेत्ती । ७. क रइं अरइ ।

हरिसं—हर्षं लाभादिना आनन्दम् । **दीणभावयं**—दीनभावं याञ्चादिना करुणाभिलाषदैन्य च । **उस्सुगत्तं**—उत्सुकत्व सरागमनसा'न्यचिंतन । **भय**—भीतिम् । **सोयं**—शोक इष्टवियोगवशादनुशोचनम् । **रइं**—रतिमभिप्रेतप्राप्तिम् । **अरइं**—अरति अभिप्रेताऽप्राप्ति । **वोसरे**—व्युत्सृजामि । रागानुबन्धद्वेषहर्षदीनभावमुत्सुकत्वभयशोकरत्यरति च त्यजामीत्यर्थः ।

ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥४५॥

ममत्ति—ममत्व । **परिवज्जामि**—परिवर्जामि परिहरेऽहं । **णिम्ममत्ति**—निर्ममत्वमसगत्व । **उवट्ठिदो**—उपस्थित । यदि सर्वं भवता त्यज्यते किमालम्बन भवष्यतीत्यत आह—**आलंबणं च**—आलम्बन चाश्रय । **मे**—मम । **आदा**—आत्मा । **अवसेसाइं**—अवशेषाणि अधिकानि । **वोसरे**—व्युत्सृजामि । किं बहुनोक्तेनानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यरत्नत्रयादिक मुक्त्वान्यत्सर्वं त्यजामीत्यर्थः ।

आत्मा च भवता किमिति कृत्वा न परित्यज्यते इत्यत आह—

आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए ॥४६॥

आदा—आत्मा । **हु**—स्फुट । **मज्झ**—मम । **णाणे**—ज्ञाने । **आदा**—आत्मा । **मे**—मम । **दंसणे**—

याचना आदि से करुणामय अभिलाषारूप दीनता, सराग मन से अन्य के चिन्तनरूप उत्सुकता, भीति, इष्ट वियोग के निमित्त से होनेवाला शोचरूप शोक, इच्छित की प्राप्ति रूप रति, इच्छित की अप्राप्तिरूप अरति—इन सबका मै त्याग करता हूँ ।

गाथार्थ—मै ममत्व को छोडता और निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता हूँ, आत्मा ही मेरा आलम्बन है और मै अन्य सभी का त्याग करता हूँ ॥४५॥

आचारवृत्ति—मै ममत्व को छोडता हूँ और नि सगपने को प्राप्त होता हूँ ।

प्रश्न—आप यदि सभी कुछ छोड देंगे तो आपको अवलम्बन किसका है ?

उत्तर—मेरी आत्मा का ही मुझे अवलम्बन है इसके अतिरिक्त सभी का मैं त्याग करता हूँ। अर्थात् अधिक कहने से क्या, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप अनन्तचतुष्टय को और रत्नत्रय निधि को छोडकर अन्य सभी का मै त्याग करता हूँ ।

आप आत्मा का त्याग क्यो नही करते है ? इस बात को कहते है—

गाथार्थ—निश्चितरूप से मेरा आत्मा ही ज्ञान मे है, मेरा आत्मा ही दर्शन में और चारित्र मे है, प्रत्याख्यान मे है और मेरा आत्मा ही सवर तथा योग मे है ॥४६॥

आचारवृत्ति—मेरा आत्मा ही स्पष्टरूप से ज्ञान मे, तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन मे

---

१. क 'न्यत्रचिं°।

दर्शने तत्त्वार्थश्रद्धाने आलोके वा । **चरित्ते य**—चारित्रे च पापक्रियानिवृत्तौ । **आदा**—आत्मा । **पच्चक्खाणे**—प्रत्याख्याने । **आदा**—आत्मा । **मे**—मम । **संवरे**—आस्रवनिरोधे । **जोए**—जोगे शुभव्यापारे ॥

एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ ॥४७॥

एओ य—एकश्चासहायश्च । **मरइ**—म्रियते शरीरत्याग करोति । **जीवो**—जीव चेतनालक्षण । **एओ य**—एकश्च । **उववज्जइ**—उत्पद्यते । **एयस्स**—एकस्य । **जाइ**—जाति । **मरणं**—मृत्यु । **एओ**—एक. । **सिज्झइ**—सिद्ध्यति मुक्तो भवति । **णीरओ**—नीरजा कर्मरहितः ।

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥४८॥

एओ—एक । **मे**—मम । **सस्सओ**—शाश्वतो नित्य । **अप्पा**—आत्मा । **णाणदंसणलक्खणो**—ज्ञान च दर्शन च ज्ञानदर्शने ते एव लक्षण यस्यासौ ज्ञानदर्शनलक्षण । **सेसा मे**—शेषा शरीरादिका मम। **बाहिरा**—बाह्या अनात्मीया । **भावा**—पदार्था । **सव्वे**—सर्वे समस्ता । **संजोगलक्खणा**—संयोगलक्षणाः । अनात्मनीनस्यात्मभाव सयोग, सयोग एव लक्षण येपा ते सयोगलक्षणा विनश्वरा इत्यर्थ । ज्ञानदर्शनचारित्र-प्रत्याख्यानसवरयोगेषु ममात्मैव, यतो म्रियते उत्पद्यते च एक एव, यत एकस्य[1] जातिमरणे, यत एकश्च नीरजा सन् सिद्धि याति, यत शेषाश्च सर्वे भावा सयोगलक्षणा बाह्या यत, अत एक एवात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण नित्यो ममेति ।

अथवा सामान्य सत्तामात्र के अवलोकन रूप दर्शन मे है । पाप क्रिया के अभावरूप चारित्र मे, त्याग मे, आस्रवनिरोधरूप सवर मे और शुभ व्यापाररूप योग मे भी मेरा आत्मा ही है ।

गाथार्थ—जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है । एक जीव के ही यह जन्म और मरण है और अकेला ही कर्म रहित होता हुआ सिद्ध पद प्राप्त करता है । मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है और ज्ञानदर्शन लक्षणवाला है । शेष सभी सयोगलक्षणवाले जो भाव है वे मेरे मे बहिर्भूत है ॥४७,४८॥

आचारवृत्ति—यह चेतनालक्षणवाला जीव एक असहाय ही शरीर के त्यागरूप मरण को करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है । अभिप्राय यह है कि इस एक जीव के ही जन्म और मरण होते है और यह अकेला ही कर्मरज से रहित होता हुआ मुक्त होता है । मेरा आत्मा नित्य है, ज्ञानदर्शन स्वभाववाला है । शेष जो शरीर आदि अनात्मीय पदार्थ है वे सभी सयोगरूप है अर्थात् जो अपने नही है उनमे आत्मभाव होना सयोग है । इस सयोग स्वभाववाले होने से सभी बाह्य पदार्थ विनश्वर है । ज्ञान-दर्शन-चारित्र, त्याग, सवर और शुभक्रियारूप योग इन सभी मे मेरा आत्मा ही है । अभिप्राय यह है कि जिस हेतु से यह अकेला ही जन्म-मरण करता है, इस अकेले के ही जन्ममरणरूप संसार है और जिस हेतु से यह अकेला ही कर्मरज रहित होता हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है तथा जिस हेतु से अन्य सभी पदार्थ संयोग

---

१. क 'स्य च जाति. मरण ।

अथ किमिति कृत्वा सयोगलक्षणो भाव परिह्रियते इति चेदत आह—

संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं ।
तम्हा संजोयसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ।।४६।।

संजोयमूलं—सयोगनिमित्त। **जीवेण**—जीवेन। **पत्तं**—प्राप्त, लब्ध । **दुक्खपरंपरं**—दु खाना परम्परा दु खपरम्परा क्लेशनैरन्तर्यम्। **तम्हा**—तस्मात्। **सजोयसबध**—सयोगसम्बन्धम्। **सव्वं**—सर्वम। **तिविहेण**—त्रिविधेन मनोवचनकायै। **वोसरे**—व्युत्सृजामि। सयोगहेतोर्जीवेन यतो दु खपरम्परा प्राप्ता, तस्मात् सयोगसम्बन्ध सर्वे त्रिविधेन व्युत्सृजामीत्यर्थ ।

पुनरपि दुश्चरित्रस्य परिहारार्थमाह—

मूलगुणउत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण ।
तमह सव्वं णिंदे पडिक्कमे [1]आगममिस्साणं ।।५०।।

मूलगुण उत्तरगुणे—मूलगुणा प्रधानगुणा, उत्तरगुणा अभ्रावकाशादयो मूलगुणदीपकास्तेषु मध्य। **जो मे**—य कश्चिन्मया। **णाराहिओ**—नाराधितो नानुष्ठित । **पमाएण**—प्रमादेन केनचित्कारणान्तरेण [2]साल-सभावात्। **तमहं**—तच्छब्द पूर्वप्रक्रान्तैपरामर्शी, तदह मूलगुणाद्यनाराधनम्। **सव्व**—सर्वम्। **णिंदे**—निन्दामि

स्वभावी होने से बाह्य है, इसी हेतु से ज्ञानदर्शन स्वभाववाला अकेला आत्मा ही नित्य है और मेरा है।

अब, किस प्रकार से सयोगलक्षणवाले भाव का परिहार किया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते है—

गाथार्थ—इस जीव न सयोग के निमित्त से दु खो के समूह को प्राप्त किया है इस-लिए मै समस्त सयोग सम्बन्ध को मन-वचन-कायपूर्वक छोडता हूँ ।।४६।।

आचारवृत्ति—यह जीव सयोग के कारण ही निरन्तर दु खो को प्राप्त करता रहा है इसलिए मै सम्पूर्ण सयोगजन्य भावो का त्रिविध से त्याग करता हूँ ।

पुन आचार्य दुश्चरित के त्याग हेतु कहते है—

गाथार्थ—मैने मूलगुण और उत्तर गुणो मे प्रमाद से जिस किसी की आराधना नही की है उस सम्पूर्ण की मै निन्दा करता हूँ और भूत-वर्तमान ही नही, भविष्य मे आनेवाले का भी मै प्रतिक्रमण करता हूँ ।।५०।।

आचारवृत्ति—प्रधानगुण मूलगुण है और मूलगुणो के उद्योतन करनेवाले अभ्रावकाश आदि उत्तरगुण है। इनमे से जिस किसी का भी मैने यदि प्रमाद से या अन्य किसी कारण से अथवा आलस्यभाव मे अनुष्ठान नही किया हो तो उस अनुष्ठान नही किए रूप दोष की मै निन्दा करता हूँ, आत्मा मे उस विषय की ग्लानि करता हूँ तथा उस अनाराधन रूप दोष का परिहार करता हूँ। उसमे भी केवल भूतकाल और वर्तमान काल के विषय मे ही नही, बल्कि भविष्यकाल में होनेवाले अनुष्ठानाभाव रूप दोष का भी प्रतिक्रमण करता हूँ। अर्थात् जो गुण हैं उनमे से जिस किसी गुण की आराधना नही की है वह दोष हो गया, उस सम्पूर्ण दोष की

१. क आगमेसाण । २. क नालस ।

आत्मानं जुगुप्से। **पडिक्कमे**—प्रतिक्रमामि निर्हरे न केवलमतीतवर्तमानकाले [1]**आगमिस्साणं**—आगमिष्यति च काले। ये गुणास्तेषां मध्ये यो नाराधितो गुणस्तमहं सर्वं निन्दयामि प्रतिक्रमामि चेति।

तथा—

अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य मर्मात्ति।
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि ॥५१॥

अस्संजमं—असंयमं पापकारणम्। **अण्णाणं**—अज्ञानं अश्रद्धानपूर्वकवस्तुपरिच्छेदम्। **मिच्छत्तं**—मिथ्यात्वमतत्त्वार्थश्रद्धानम्। **सव्वमेव य**—सर्वमेव च। **मर्मात्ति**—ममत्वमनात्मीये आत्मीयभावम्। **जीवेसु अजीवेसु य**—जीवाजीवविषयं च। **तं णिंदे**—तं निन्दामि। **तं च**—तच्च। **गरिहामि**—गर्हेऽहं परस्य प्रकटयामि। मूलोत्तरगुणेषु मध्ये यन्नाराधितं प्रमादतोऽतीतानागतकाले तत्सर्वं निन्दामि प्रतिक्रमामि च। असंयमाज्ञानमिथ्यात्वादि[2] जीवाजीवविषयं ममत्वं च सर्वं गर्हे निन्दामि चेति प्रमाददोषेण दोषास्त्यज्यन्ते।

प्रमादाः पुनः किं न परिह्रियन्त इति चेन्न तानपि परिहरामीत्यत आह—

सत्त भए अट्ठ मए सण्णा चत्तारि गारवे तिण्णि।
तेत्तीसाच्चासणाओ रायद्दोसं च गरिहामि ॥५२॥

सत्तभए—सप्तभयानि। **अट्ठमए**—अष्टौ मदानि। **सण्णा चत्तारि**—संज्ञाश्चतस्रः आहारभयमैथुन-

---

मैं निन्दा करता हूँ और प्रतिक्रमण करके उस दोष को दूर करता हूँ यह अभिप्राय हुआ। उसी प्रकार से—

गाथार्थ—असंयम, अज्ञान और मिथ्यात्व तथा जीव और अजीव विषयक सम्पूर्ण ममत्व—उन सबकी मैं निन्दा करता हूँ और उन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ॥५१॥

आचारवृत्ति—पाप का कारण असंयम है, अश्रद्धानपूर्वक वस्तु का जाननेवाला ज्ञान अज्ञान है और अतत्त्व श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। अनात्मीय अर्थात् अपने से भिन्न जो वस्तु है, चाहे जीवरूप हो, चाहे अजीवरूप हो, उनमें अपनेपन का भाव ममत्व कहलाता है। इन सम्पूर्ण असंयम आदि भावों को जो मैंने किया हो मैं उनकी निन्दा करता हूँ तथा पर अर्थात् गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करते हुए मैं उनकी गर्हा करता हूँ। अभिप्राय यह कि अपने मूलगुणों और उत्तरगुणों में से मैंने प्रमाद से भूत, भविष्यत् काल में जिनकी आराधना नहीं की हो उन सभी के लिए निन्दा करता हूँ और प्रतिक्रमण करता हूँ। असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्व तथा जीव और अजीव विषयक जो ममत्व परिणाम है उन सबकी भी मैं निन्दा करता हूँ। इस प्रकार प्रमाद के दोष से जो अपराध हुए हैं उन सभी का त्याग हो जाता है, ऐसा समझना।

आप प्रमाद का पुनः क्यों नहीं परिहार करते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर 'सम्पूर्ण प्रमादों को भी छोड़ता हूँ', ऐसा उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गारव, तेतीस आसादना तथा राग और द्वेष इन सबकी मैं गर्हा करता हूँ ॥५२॥

आचारवृत्ति—सात भय और आठ मदों के नाम आचार्य स्वयं आगे बतायेंगे।

---

१. क आगमेमाण। २ क त्वानि

परिग्रहाभिलाषान् । **गारवे**—गौरवाणि ऋद्धिरससातविषयगर्वान् । **तिण्णि**—त्रीणि । **तेत्तीसाच्चासणा** तो—त्रिभिरधिका त्रिंशत् त्रयस्त्रिंशत् पदार्थै सह सम्बन्ध । त्रयस्त्रिंशता पदार्थानां, **अच्चासणा**—आसादना परिभवास्तास्त्रयस्त्रिंशदासादना, अथवा तन्निमित्तत्वात् ताच्छब्द्यन्ते । **रायद्दोसं च**—रागद्वेषौ च, आत्मनीनानात्मनीनवस्तुप्रीत्यप्रीती । **गरिहामि**—गर्हे नाचरामीत्यर्थ । सप्तभयाष्टमदसंज्ञागारवाणि त्रयस्त्रिंशत्पदार्थासादन च रागद्वेषौ च त्यजामीत्यर्थ ।

अथ कानि सप्तभयानि के चाष्टौ मदा इति पृष्टे तत आह—

इहपरलोयत्ताणं अगुत्तिमरण च वेयणाकम्हिभया ।
विण्णाणिस्सरियाणा कुलबलतवरूवजाइ मया ॥५३॥

इहपरलोय—इह च परश्च इहपरौ तौ च तौ लोकौ चेहपरलोकौ । **अत्ताणं**—अत्राणमपालन, इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय । **अगुत्ति**—अगुप्ति प्राकाराद्यभाव । **मरण च**—मृत्युश्च । **वेयणा**—वेदना पीडा । **अकम्हिभया**—आकस्मिक घनादिगर्जोद्भवम् । भयशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते । इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय, आकस्मिकभय चेति । **विण्णाण**—विज्ञान अक्षरगन्धर्वादिविषयम् । **इस्सरिय**—ऐश्वर्यं द्रव्यादिसम्पत् । **आणा**—आज्ञा वचनानुल्लघनम् । **कुल**—शुद्धपैतृकाम्नाय इक्ष्वाक्वाद्युत्पत्तिर्वा । **बलं**—शरीराहारादिप्रभवा शक्ति । **तव**—तप कायसन्ताप । **रूव**—रूप समचतुरस्र-

---

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये अभिलाषारूप चार संज्ञाएँ है । ऋद्धि, रस और साता—इनके विषय मे गर्व के निमित्त से गौरव के ऋद्धिगौरव, रसगौरव और सातगौरव नामक तीन भेद हो जाते है । अर्थात् मै ऋद्धिशाली हूँ, मुझे नाना रसो से युक्त आहार सुलभ है या मेरे साता का उदय होने से सर्वत्र सुख सुविधाएँ है इत्यादि रूप से जो बडप्पन का भाव या अहंभाव है वह यहाँ पर गारव शब्द से विवक्षित है । उसी को गौरव भी कहा गया है । तेतीस पदार्थो के परिभव या अनादर को आसादना कहते है । अथवा उन तेतीस पदार्थो के निमित्त से जो आसादनाएँ होती है वे ही यहाँ तेतीस कही गयी है । अपने से सम्बद्ध वस्तु मे प्रीति का नाम राग है और अपने से भिन्न वस्तु मे अप्रीति का नाम द्वेष है । इस प्रकार से मै सात भय, आठ मद, चार संज्ञा, तीन गौरव तेतीस पदार्थों की आसादना और रागद्वेष का त्याग करता हूँ । दूसरे शब्दो मे, मै इन्हे आचरण मे नही लाऊँगा ।

अब वे सात भय और आठ मद कौन-कौन है ? इसका उत्तर देते है—

गाथार्थ—इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक ये सात भय है । विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कुल, बल, तप, रूप और जाति इनके निमित्तक आठ मद है ॥५३॥

आचारवृत्ति—इहलोक आदि सभी के साथ भय शब्द का प्रयोग करना चाहिए । यथा—इहलोकभय—अर्थात् इस लोक मे शत्रु, विष, कंटक आदि से भयभीत होना । परलोकभय अर्थात् अगले भव में कौन-सी गति मिलेगी ? क्या होगा ? इत्यादि सोचकर भयभीत होना । अत्राणभय अर्थात् मेरा कोई रक्षक नही है ऐसा सोचकर डरना । अगुप्तिभय अर्थात् इस ग्राम मे परकोटे आदि नही है अत शत्रु आदि से कैसे मेरी रक्षा होगी ? मरणभय अर्थात् मरने से

सस्थानगौरादिवर्णकान्तियौवनोद्भवरमणीयता । जाइ—जाति मातृकसन्तानशुद्धि । एतैरेतेषा वा, मया— मदा गर्वा । मदशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते । विज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, आज्ञामद, कुलमद, बलमद, जातिमद, तपोमद, रूपमद इति सज्ञा'भेदे सुगमत्वान्न विस्तर.[२] ।

अथ के त्रयस्त्रिशत्पदार्था येषा त्रयस्त्रिशदासादनानीत्यत आह—

पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाय महव्वया पंच ।
पवयणमाउपयत्था तेतीसच्चासणा भणिया ॥५४॥

पचेव - पचैव । **अत्थिकाया**—अस्तिकाया कायो निचय परस्परप्रदेशसम्बन्धो येषा तेऽस्तिकाया अस्तिमन्तो द्रष्टव्या जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशा । कालस्य प्रदेशप्रचयो नास्तीत्यतोऽस्तिकायत्व नास्ति ।

डरना । वेदनाभय—रोग आदि से उत्पन्न हुई पीड़ा से डरना । आकस्मिकभय—अकस्मात् मेघगर्जना, विद्युत्पात आदि होने से डरना । ये सात भय सम्यग्दृष्टि को नही होते है क्योकि वह आत्मा का विघात नही मानता है ।

विज्ञान—अक्षरज्ञान और सगीत आदि का ज्ञान होना, ऐश्वर्य—द्रव्यादि सम्पत्ति का वैभव होना, आज्ञा—अपने द्वारा दिए गये आदेश का उलघन न होना, कुल—पिता के वश परम्परा की शुद्धि का होना अथवा इक्ष्वाकु वश, हरिवश आदि मे जन्म लेना, बल, शरीर, आहार आदि से उत्पन्न हुई शक्ति का होना, तप—शरीर को सतापित करना, रूप—समचतुरस्र सस्थान, गौर आदि वर्ण, सुन्दर कान्ति और यौवन से उत्पन्न हुई रमणीयता का होना, जाति—माता के वश परम्परा की शुद्धि का होना, ये आठ मुख्य है । इनके द्वारा अथवा इनका गर्व करना ये ही आठ मद कहलाते है । मद शब्द का प्रयोग आठो मे करना चाहिए । यथा—विज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, आज्ञामद, कुलमद, बलमद, जातिमद, तपोमद, और रूपमद । इस प्रकार इनके निमित्त से होनेवाले गर्व का त्याग करना चाहिए । सम्यग्दृष्टि के लिए ये पच्चीस मलदोष मे दोषरूप है ।

विशेष—साधुओ म भयकर्म के उदय से इन सात भयो मे कदाचित् कोई भय उत्पन्न हो भी जावे तो भी वह मिथ्यात्व का सहचारी नही है । ऐसे ही कदाचित् सज्वलन मान के उदय से साधुओ के आठ मदो मे से कोई मद उत्पन्न हो जाय तो भी साधु उसे छोड़ देते है ।

अब तेतीस पदार्थ कौन से है जिनकी तेतीस आसादनाएँ होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—अस्तिकाय पाँच ही है, जीव निकाय छह है, महाव्रत पाँच है और प्रवचन-माता आठ और नवपदार्थ—ये तेतीस ही यहाँ तेतीस आसादना नाम से कहे गए हैं। अर्थात् इनकी विराधना ही आसादना कहलाती है ॥५४॥

आचारवृत्ति—अस्ति—विद्यमान है कायनिचय अर्थात् प्रदेशों का समूह जिसमे वह अस्तिकाय है । अर्थात् परस्पर मे प्रदेशो का सम्बन्ध जिन द्रव्यो मे पाया जाता है वे द्रव्य अस्तिकाय

---

१. क सज्ञादे. । २. क विस्तरितः ।

छज्जीवणिकाय—षट् च ते जीवनिकायाश्च षड्जीवनिकाया पृथिवीकायिकादय । **महव्वया पंच**—महाव्रतानि पच । **पवयणमाउ**—प्रवचनमातृका पचसमितय त्रिगुप्तयश्च । **पयत्था**—पदार्था जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षपुण्यपापाणि । **तेतीसच्चासणा**—त्रयस्त्रिशदासादना । **भणिया**—भणिता. पचास्तिकायादिविषयत्वात् पचास्तिकायादय एवासादना उक्ता , तेषा वा ये परिभवास्ता आसादना इति सम्बन्ध कर्तव्य ।

कहलाते है । वे पाँच है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश । काल मे प्रदेशो का प्रचय न होने से वह अस्तिमात्र है, अस्तिकाय नही है । पृथ्वीकायिक आदि छह जीवनिकाय है । महाव्रत पाँच है, पाँच समिति और तीन गुप्तियाँ ये प्रवचन-मातृका नाम से आठ है । जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ हैं । इस प्रकार ये तेतीस आसादनाएँ है । अर्थात् पाँच अस्तिकाय आदि ये इनके विषयभूत है इसलिए इन अस्तिकाय आदि को ही आसादना शब्द से कहा है । अथवा इनका जो परिभव अर्थात् अनादर है वही आसादना है ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए ।

विशेष—महाव्रतो मे समिति गुप्तियो के अतिचार आदि का होना आसादना है और

---

*निम्नलिखित गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है ।

आहारादिसण्णा चत्तारि वि होंति जाण जिणवयणे ।
सादादिगारवा ते तिण्णि वि णियमा पवज्जेजो ॥१९॥

अर्थ—आहारसज्ञा, भयसज्ञा, मैथुन सज्ञा और परिग्रहसज्ञा इन चारो सज्ञाओ का स्वरूप जिनागम मे कहा गया है । साता आदि तीन गौरव है । इनको नियम से छोड देना चाहिए । इन्हे गारव भी कहते हैं । यथा सातागारव—मै यति होकर भी इन्द्रत्वसुख, चक्रवर्तीसुख अथवा तीर्थकर जैसे सुख का उपभोग ले रहा हूँ, ये दीनयति सुखो से रहित है इत्यादि रूप से अभिमान करना । रसगारव—मुझे आहार मे रसयुक्त पदार्थ सहज ही उपलब्ध है ऐसा अभिमान होना । ऋद्धिगारव—मेरे शिष्य आदि बहुत है, दूसरे यतियो के पास नही है ऐसा अभिमान होना । ये तीन प्रकार के गर्व 'गारव' शब्द से भी कथित हैं । चूँकि ये सज्वलन कषाय के निमित्त से होने से अल्पस्वरूप हो सकते है । इन बातो का विशेष रूप से घमण्ड रहे जो कि अन्य को तिरस्कृत करनेवाला हो वह गर्व नाम से सूचित किया जाता है ऐसा समझना । ये गौरव भी त्याग करने योग्य है ।

सज्ञा का लक्षण—

इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुण दुक्ख ।
सेवंता वि य उभयं ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥२०॥

अर्थ—जिनसे सक्लेशित होकर जीव इस लोक मे और जिनके विषयो का सेवन से दोनो ही भवो मे दारुणदु ख को प्राप्त होते है उन्हे सज्ञा कहते है । उनके चार भेद है ।

आहार सज्ञा का स्वरूप—

आहारदसणेण य तस्सुवजोगेण ओम कोठाए ।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥२१॥

अर्थ—आहार को देखने से अथवा उसकी तरफ उपयोग लगाने से और उदर के खाली रहने से तथा असातावेदनीय की उदय और उदीरणा के होने पर जीव के नियम से आहार सज्ञा होती है ।

आत्मसस्कारकाल नीत्वा संन्यासमालोचनार्थमाचार्य प्राह—

णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं ॥५५॥

णिंदामि—निन्दामि आत्मन्याविष्करोमि। **णिंदणिज्ज**—निन्दनीय आत्माविष्करणयोग्यम्। **गरहामि य**—गर्हे च आचार्यादीनामाविष्करोमि प्रकटयामि। **जंच**—यच्च। **मे**—मम। **गरहणीयं**—गर्हणीय परप्रकाशयोग्य। **आलोचेमि य**—आलोचयामि चापनयामि चारित्राचारालोचनापूर्वक गर्हण वा करोमि। **सव्वं**—सर्व निरवशेषं। **सब्भंतरबाहिरं**—साभ्यन्तरबाह्य। **उवहिं**—उपधि च परिग्रह च। यन्निंदनीय तन्नि-

---

अस्तिकाय तथा पदार्थों मे श्रद्धान का अभाव या विपरीत श्रद्धान आदि का होना आसादना है तथा षट्काय जीवो की हिसादि का हो जाना ही आसादना है ऐसा समझना।

आत्मसस्कार काल से सन्यास काल तक की आलोचना के लिए आचार्य कहते है—

गाथार्थ—निन्दा करने योग्य की मै निन्दा करता हूँ और मेरे जो गर्हा करने योग्य दोष है उनकी गर्हा करता हूँ, और मै बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह सहित सम्पूर्ण उपधि की आलोचना करता हूँ ॥५५॥

आचावृत्ति—जो अपने मे—स्वय ही करनेयोग्य दोष है उनकी मै स्वय निन्दा करता हूँ, जो पर के समक्ष कहने योग्य दोष है उनको मै आचार्य आदि के सामने प्रकट करते हुए अपनी गर्हा करता हूँ और मै चारित्राचार की आलोचनापूर्वक सम्पूर्ण बाह्य अभ्यन्तर उपधि की आलोचना करता हूँ अर्थात् सम्पूर्ण उपधि को अपने से दूर करता हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि जो उपधि और परिग्रह निन्दा करने योग्य है उनकी मै निन्दा करता हूँ, जो गर्हा करने योग्य है

भावार्थ—किसी उत्तम सरस भोज्य पदार्थ के देखने से अथवा पूर्व मे लिये गये भोजन का स्मरण आने से, यद्वा पेट के खाली हो जाने मे और असातावेदनीय के उदय और उदीरणा से या और भी अनेक कारणो से आहार की इच्छा उत्पन्न होती है।

भय सज्ञा का स्वरूप—

अइभीमदंसणेण य तस्सुवजोएण ओमसत्तीए।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चदुहिं ॥२२॥

अर्थ—अत्यन्त भयकर पदार्थ के देखने से, पहले देखे हुए भयकर पदार्थ के स्मरण से, यद्वा अधिक निर्बल होने पर अन्तरग मे भयकर्म की उदय उदीरणा होने पर इन चार कारणो से भयसज्ञा होती है।

मैथुनसज्ञा का स्वरूप—

पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुसीलसेवाए।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हु जायदे चदुहिं ॥२३॥

अर्थ—स्वादिष्ट और गरिष्ठ रस युक्त भोजन करने से, उधर उपयोग लगाने से तथा कुशील आदि सेवन करने से और वेदकर्म की उदय उदीरणा के होने से—इन चार कारणो से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।

दामि, यद् गर्हणीयं तद्गर्हामि, सर्वं बाह्याभ्यन्तरं चोपधिं आलोचयामीति।

कथमालोचयितव्यमिति चेदत आह—

जह बालो जंप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि।
तह श्रालोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥५६॥

जह—यथा। **बालो**—बाल पूर्वापरविवेकरहित। **जप्पंतो**—जल्पन्। **कज्जं**—कार्य स्वप्रयोजन। **अकज्जं च**—अकार्यं अप्रयोजनं अकर्तव्यं च। **उज्जुय**—ऋजु अकुटिलं। **भणइ**—भणति। **तह**—तथा। **आलोचेयव्वं**—आलोचयितव्यं। **मायामोसं च**—माया मृषा च अपह्नवासत्यं च। **मोत्तूण**—मुक्त्वा। **यथा** कश्चिद्बालो जल्पन् कुत्सितानुष्ठानमकुत्सितानुष्ठानं च ऋजु भणति, तथा माया मृषा च मुक्त्वा लोचयितव्यमिति।

यस्यालोचना क्रियते स किंगुणविशिष्ट आचार्य इति चेदत आह—

णाणम्हि दंसणम्हि य तवे चरित्ते य चउसुवि श्रकंपो।
धीरो श्रागमकुसलो श्रपरस्साई रहस्साणं ॥५७॥

उनकी गर्हा करता हूं और समस्त बाह्य अभ्यन्तर उपधि की आलोचना करके अपने से दूर करता हूँ।

आलोचना कैसे करना चाहिए? सो कहते है—

गाथार्थ—जैसे बालक सरल भाव से बोलता हुआ कार्य और अकार्य सभी को कह देता है उसी प्रकार से मायाभाव और असत्य को छोडकर आलोचना करना चाहिए ॥५६॥

आचारवृत्ति—जैसे बालक पूर्वापर विवेक से रहित हो बोलता हुआ अपने प्रयोजनीभूत अर्थात् उचित कार्य को तथा अप्रयोजनीभूत अर्थात् अनुचित कार्य को सरलभाव से कह देता है, उसी प्रकार से अपने कुछ दोषों को छिपाने रूप माया और असत्य वचन को छोड़कर आलोचना करना चाहिए। अर्थात् जैसे बालक अपने गलत भी किये गये या अच्छे कार्य को बिना छिपाये कह देता हे, वैसे ही साधु सरलभाव से सभी दोषों की आलोचना करे।

जिनके पास आलोचना की जाती है वे आचार्य किन गुणो से विशिष्ट होने चाहिए? ऐसा पूछने पर कहते है—

गाथार्थ—जो ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों मे भी अविचल हैं, धीर है,

---

परिग्रह संज्ञा का स्वरूप—

उवयरणदंसणेण य तस्सुवजोएण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥२४॥

अर्थ—इत्र, भोजन, उत्तम स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनभूत पदार्थों के देखने से अथवा पहले भुक्त पदार्थों का स्मरण करने से और ममत्व परिणामों के होने से तथा लोभकर्म की उदय-उदीरणा होने से परिग्रह संज्ञा होती है।

णाणम्हि—ज्ञाने। दंसणम्हि य—दर्शने च। तवे—तपसि। चरित्ते य—चरित्रे च। चउसुवि—चतुर्ष्वपि। अकपो—अकपोऽधृष्य। धीरो—धीरो धैर्योपेत। आगमकुसलो—आगमकुशल स्वसमयपरसमय-विचारदक्ष। अपरिस्साई—अपरिश्रावी आलोचित न कस्यचिदपि कथयति। रहस्साणं—रहसि एकान्ते भवानि रहस्यानि गुह्यानुष्ठितानि। ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रेषु चतुर्ष्वपि सम्यक्स्थितो यो रहस्यानामपरिश्रावी धीरश्चागमकुशलश्च यस्तस्य आलोचना कर्तव्या नान्यस्येति।

आलोचनानन्तर क्षमण कर्तुकाम प्राह—

रागेण य दोसेण य जं मे अकदण्हुयं पमादेण।
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥५८॥*

रागेण य—रागेण च मायालोभाभ्या स्नेहेन वा। दोसेण य—द्वेषेण च क्रोधमानाभ्यां अप्रीत्या वा। जंमे—यन्मया अकदण्हुअं—अकृतज्ञत्व युष्माकमयोग्यमनुष्ठित। पमादेण—प्रमादेन। जो मे—यो मया। किंचिवि—किंचिदपि। भणिओ—भणित। तमहं—त जन अहं। सव्वं—सर्वं। खमावेमि—क्षमयामि सतोषयामि। रागद्वेषाभ्या मनागपि यन्मया कृतमकृतज्ञत्व योऽपि मया किंचिदपि भणितस्तमह सर्वं मर्षयामीति।

आगम मे निपुण है और रहस्य अर्थात् गुप्तदोषो को प्रकट नही करनेवाले है, वे आचार्य आलोचना सुनने के योग्य है ॥५७॥

आचारवृत्ति—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों मे भी जो अकप अर्थात् अचल वृत्ति धारण करनेवाले है, धैर्य गुण से सहित है, स्वसमय और परसमय के विचार करने मे दक्ष होने से आगमकुशल है और शिष्यो द्वारा एकान्त मे कहे गये गुह्य अर्थात् गुप्त दोषो को किसी के सामने भी कहनेवाले नही है ऐसा यह जो अपरिश्रावी गुण उससे सहित है, उनके समक्ष ही आलोचना करना चाहिए, अन्य के समक्ष नही—यह अर्थ हुआ।

आलोचना के अनन्तर क्षमण को करने की इच्छा करते हुए आचार्य कहते है—

गाथार्थ—जो मैने राग से अथवा द्वेष से न करने योग्य कार्य किया है, प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी कहा है उन सबसे मै क्षमायाचना करता हूं ॥५८॥

आचारवृत्ति—राग से अर्थात् माया, लोभ या स्नेह से, द्वेष से अर्थात् क्रोध से, मान से या अप्रीति से मैने आपके प्रति जो अयोग्य कार्य किया है। अथवा जो मैने प्रमाद से जिसके प्रति कुछ भी वचन कहे है। उन सभी साधु जनो से मै क्षमा माँगता हूँ अर्थात् उनको सतुष्ट करता हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि मैने राग या द्वेषवश जो किंचित् भी अयोग्य अनुष्ठान किया है

---

*निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

एरिस गुणजुत्ताण आइरियाण विसुद्धभावेण।
आलोचेदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ॥२६॥

अर्थ—उपर्युक्त आचार्यगुणो से युक्त आचार्यों के पास मे निर्मल परिणाम से सुचरित्र धारक मुनि सर्व दोषो का त्याग करके आलोचना करता है।

क्षमण कृत्वा क्षपक सन्यास कर्तुकामो मरणभेदान् पृच्छति कति मरणानि ? आचार्य प्राह—

तिविहं भणंति मरणं बालाणं बालपंडियाणं च।
तइयं पंडियमरणं जं केवलिणो अणुमरंति ॥५६॥

तिविह—त्रिविध प्रिमकारम्। **भणति**—कथयन्ति। **मरणं**—मृत्यु। **बालाण**—बालानां असयतसम्यग्दृष्टीनां। **बालपडियाण च**—बालाश्च ते पडिताश्च बालपडिता। सयतासयता एकेन्द्रियाविरतेर्बाला, द्वीन्द्रियादिवधविरता पडिता। **तइयं**—तृतीय। **पडियमरण**—पडितमरण पडिताना मरण देहपरित्याग देहस्यान्यथाभावो वा पडितमरण। **ज**—यत् येन वा। **केवलिणो**—केवल शुद्ध ज्ञान विद्यते येषा केवलिन। **अणुमरति**—अनुम्रियन्ते अर्हद्भट्टारका गणधरदेवाश्च त्रिप्रकार मरण भणति। प्रथम बालमरण बालजीवस्वामित्वात, द्वितीय बालपडितमरण बालपडितस्वामित्वात्, तृतीय पडितमरण येन केवलिनोऽनुम्रियन्ते। सयताश्च पडितपंडितमरणस्यात्रैव पडितेन्तर्भाव सामान्यसयमस्वामित्वाभेदादिति। अन्यत्र बालबालमरणमुक्त तदत्र किमिति कृत्वा नोक्त तेन प्रयोजनाभावात्। ये अकुटिला ज्ञानदर्शनयुक्तास्ते एतैर्मरणैर्म्रियन्ते।

अन्यथाभूताश्च कथमित्युत्तरमूत्रमाह—

उसके लिए और जिस किसी साधु को भी कहा हे उन सभी से मै क्षमा चाहता हूँ।

अब क्षमापना करके सन्यास करने की इच्छा करता हुआ क्षपक, मरण कितने प्रकार के है ? ऐसा प्रश्न करता है और आचार्य उसका उत्तर देते है—

गाथार्थ—मरण को तीन प्रकार का कहते है—बालजीवो का मरण, बालपण्डितो का मरण और तीसरा पण्डितमरण है। इस पण्डितमरण को केवली-मरण भी कहते है ॥५६॥

आचारवृत्ति—अर्हन्त भट्टारक और गणधरदेव मरण के तीन भेद कहते है—बालमरण, बालपण्डितमरण और पण्डितमरण। असयतसम्यग्दृष्टि जीव बाल कहलाते है। इनका मरण बालमरण है। सयतासयत जीव बालपण्डित कहलाते है क्योकि एकेन्द्रिय जीवो के वध से विरत न होने से ये बाल है और द्वीन्द्रिय आदि जीवो के वध से विरत होने से पण्डित है इसलिए इनका मरण भी बालपण्डित-मरण है। पण्डितो का मरण अर्थात् देह परित्याग अथवा शरीर का अन्यथा रूप होना पण्डितमरण है जिसके द्वारा केवल शुद्ध ज्ञान के धारी केवली भगवान् मरण करते है, तथा सयतमरण करते है। यहाँ सयत शब्द से छठे से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक सयत विवक्षित है। यद्यपि केवली भगवान् के मरण को पण्डितपण्डित-मरण कहते है किन्तु यहाँ पर पण्डितमरण मे ही उसका अन्तर्भाव कर लिया गया है क्योकि सयम के स्वामी मे सामान्यत भेद नही है।

प्रश्न—अन्यत्र ग्रन्थो मे बाल-बालमरण भी कहा है उसको यहाँ क्यो नही कहा ?

उत्तर—उसका यहाँ प्रयोजन नही है, क्योकि जो अकुटिल—सरल परिणामी है, ज्ञान और दर्शन से युक्त है वे इन उपर्युक्त तीन मरणो से मरते हैं। अर्थात् पहला बालमरण है उसके स्वामी असंयतसम्यग्दृष्टि ऐसे बालजीव है। दूसरा बालपण्डित है जिसके स्वामी देशसयत ऐसे बालपण्डित जीव है। तीसरा पण्डितमरण है जिसके स्वामी सयत जीव है।

जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णा य वक्कभावा य।
असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहया भणिया ॥६०॥

जे पुण—ये पुन । **पणट्ठमदिया**—प्रणष्टा विनष्टा मतिर्येषा ते प्रणष्टमतिका. अज्ञानिन । **पचलियसण्णा य**—प्रचलिता उद्‌गता सज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा येषा ते प्रचलितसंज्ञका । **वक्कभावा य**—कुटिलपरिणामाश्च । **असमाहिणा**—असमाधिना आर्तरौद्रध्यानेन । **मरंते**—म्रियन्ते भवान्तर गच्छन्ति । **ण हु**—न खलु । **आराहया**—आराधका कर्मक्षयकारिण । **भणिया**—भणिता कथिता. । ये प्रणष्टमतिका: प्रचलितसज्ञा वक्रभावाश्च ते असमाधिना म्रियन्ते स्फुट न ते आराधका भणिता इति ।

यदि मरणकाले विपरिणाम स्यात्तत किंस्यादिति पृष्टे आचार्य प्राह—

मरणे विराहिए देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही।
संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले ॥६१॥

मरणे—मृत्युकाले । **विराहिए**—विराधिते विनाशिते मरणकाले सम्यक्त्वे विराधित इत्यर्थः मरण-

---

विशेषार्थ—अन्यत्र ग्रन्थों में मरण के पाँच भेद किये है—बालबाल, बाल, बालपण्डित, पण्डित और पण्डितपण्डित । इनमे से प्रथम बालबाल-मरण मिथ्यादृष्टि करते है, और पण्डित-पण्डित-मरण केवली भगवान् करते हैं । यहाँ पर मध्य के तीन मरणो को ही माना है और केवली भगवान् के मरण को पण्डितमरण मे ही गर्भित कर दिया है ।

इन तीन के अतिरिक्त, और अन्य प्रकार के मरण कैसे होते है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते है—

गाथार्थ—जो पुन नष्टबुद्धिवाले हैं, जिनकी आहार आदि सज्ञाएँ उत्कट है और जो कुटिल परिणामी हैं वे असमाधि से मरण करते है । निश्चितरूप से वे आराधक नही कहे गये है ॥६०॥

आचारवृत्ति—जिनकी मति नष्ट हो गयी है वे नष्टबुद्धि अज्ञानी जीव हैं । आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की अभिलाषारूप सज्ञाएँ जिनके उत्पन्न हुई हैं अर्थात् उत्कृष्ट रूप से प्रकट हैं और जो मायाचार परिणाम से युक्त है, वे जीव आर्त-रौद्रध्यानरूप असमाधि से भवान्तर को प्राप्त करते है । वे कर्मक्षय के करनेवाले ऐसे आराधक नही हो सकते हैं ऐसा समझना ।

यदि मरणकाल मे परिणाम बिगड जाते हैं तो क्या होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मरण की विराधना हो जाने पर देवदुर्गति होती है तथा निश्चितरूप से बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, और फिर आगामी काल में उस जीव का संसार अनन्त हो जाता है ॥६१॥

आचारवृत्ति—मरणकाल में सम्यक्त्व की विराधना हो जाने पर देवदुर्गति होती है । यहाँ पर गाथा में जो मरण की विराधना कही गयी है उसका मतलब मरणकाल में जो सम्यक्त्व

काले सम्यक्त्वस्य यद्विराधनं तन्मरणस्यैव साहचर्यादिति । अथवार्तरौद्रध्यानसहितं यन्मरणं तत्तस्य विराधन-मित्युक्तम् । **देवदुग्गई**—देवदुर्गतिः भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्कादिषूत्पत्तिः । **दुल्लहा य**—दुर्लभा दुःखेन लभ्यते इति दुर्लभा च । **किर**—किल । अयं किलशब्दोऽनेकेष्वर्थेषु विद्यते, तत्र परोक्षे द्रष्टव्यः आगमे एवमु-क्तमित्यर्थः । **बोही**—बोधिः सम्यक्त्वं रत्नत्रयं वा । **संसारो य**—संसारश्च चतुर्गतिलक्षणः । **अणंतो**—अनन्तः अर्द्धपुद्गलप्रमाणः कुतोऽस्यानन्तत्वं ? केवलज्ञानविषयत्वात् । **होइ**—भवति । **पुणो**—पुनः । **आगमे काले**—आगमिष्यति समये । मरणकाले सम्यक्त्वविराधने सति, दुर्गतिर्भवति, बोधिश्च दुर्लभा, आगमिष्यति काले संसारश्चानन्तो भवतीति ।

अत्रैवाभिसम्बन्धे प्रश्नपूर्वकं सूत्रमाह—

का देवदुग्गईश्रो का बोही केण ण बुज्झए मरणं ।
केण व अणंतपारे संसारे हिंडए जीश्रो ।।६२।।

की विराधना है वह मरण के ही साहचर्य से है अतः मरण की विराधना से मरण समय सम्यक्त्व की विराधना ऐसा अर्थ लेना चाहिए। अथवा आर्त-रौद्र ध्यान सहित जो मरण है सो ही मरण की विराधना शब्द से विवक्षित है ऐसा समझना। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क आदि देवो मे उत्पत्ति होना देवदुर्गति है। ऐसी देवदुर्गतियों मे उसका जन्म होता है यह अभिप्राय हुआ। 'किल' शब्द अनेक अर्थों मे पाया जाता है किन्तु यहाँ उसको परोक्ष अर्थ मे लेना चाहिए। इससे यह अर्थ निकला कि आगम मे ऐसा कहा है कि उस जीव के सम्यक्त्व या रत्न-त्रय रूप बोधि, बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होने से, अतीव दुर्लभ है। वह जीव अगामी काल मे इस चतुर्गति रूप ससार मे अनन्त काल तक भटकता रहता है।

प्रश्न—एक बार सम्यक्त्व होने पर ससार अनन्त कैसे रहेगा? क्योकि वह अर्द्ध-पुद्गल प्रमाण ही तो है अतः अर्द्धपुद्गल को अनन्त सज्ञा कैसे दी?

उत्तर—यह अर्द्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण काल भी अनन्त नाम से कहा गया है क्योंकि यह केवलज्ञान का ही विषय है।

तात्पर्य यह हुआ कि यदि मरणसमय सम्यक्त्व छूट जावे तो यह जीव देवदुर्गति मे जन्म ले लेता है। पुनः इसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अथवा रत्नत्रय की प्राप्ति बडी मुश्किल से ही हो सकती है अतः यह जीव अनन्तकाल तक ससार मे भ्रमण करता रहता है।

विशेषार्थ—यहाँ ऐसा समझना कि सम्यक्त्वरहित यह जीव भवनत्रिक मे जन्म लेता है तथा आदि शब्द से वैमानिक देवो मे भी आभियोग्य और किल्विषक जाति के देवो मे जन्म ले लेता है। क्योकि वहाँ पर भी अनेक जाति के देवो मे या वाहन जाति के तथा किल्विषक जाति के देवो मे सम्यग्दृष्टि का जन्म नही होता।

पुनः इसी सम्बन्ध मे प्रश्नपूर्वक सूत्र कहते है—

गाथार्थ—देवदुर्गति क्या है? बोधि क्या है? किससे मरण नही जाना जाता है? और किस कारण से यह जीव अनन्तरूप ससार मे परिभ्रमण करता है।।६२।।

का देवदुग्गईओ—का देवदुर्गतयः किंविशिष्टा देवदुर्गतयः । **का बोही**—का बोधिः । **केण व**—केन च । **ण बुज्झए**—न बुध्यते । **मरणं**—मृत्युः । **केण व**—केन च कारणेन । **अणंतपारे**—अनन्तोऽपरिमाण पारं समाप्तिर्यस्यासौ अनन्तपारस्तस्मिन् । **संसारे**—संसरणे । **हिंडए**—हिंडते गच्छति । **जीवो**—जीवः । हे भट्टारक ! का देवदुर्गतयः का च बोधिः, केन च परिणामेन न बुध्यते मरणं, संसारे च केन कारणेन परिभ्रमति जीवः ?

क्षपकेण पृष्ट आचार्य प्राह—

कंदप्पमाभिजोग्गं किब्बिस सम्मोहमासुरत्तं च ।
ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति ॥६३॥

द्रव्यभावयोरभेदं कृत्वा चेदमुच्यते । **कंदप्पं**—कदर्पस्य भाव कान्दर्पमुपप्लवशीलगुण । **आभिजोग्गं**—अभियोगस्य भाव आभियोग्य तन्त्रमन्त्रादिभीरसादिगार्द्ध्य । **किब्बिस**—किल्विषस्य भाव कैल्विष्य प्रतिकूलाचरण । **सम्मोहं**—स्वस्य मोह स्वमोहस्तस्य भाव स्वमोहत्व, शुनो मोह इव मोहो वेदोदयो यस्य स श्वमोहस्तस्य भाव श्वमोहत्व सह मोहन वा वर्तते इति तस्य भाव. समोहत्व[1] मिथ्यात्वभावनातात्पर्यम् । **आसुरत्तं च**—असुरत्व च—असुरस्य भाव असुरत्व रौद्रपरिणामसहिताचरण । **ता**—एता । **देवदुग्गईओ**—देवदुर्गतयस्तैर्गुणैस्ता प्राप्यन्ते इतिकृत्वा तद्व्यपदेश, कारणे कार्योपचारात् । **मरणम्मि**—मरणे मृत्युकाले सम्यक्त्वे,

---

आचारवृत्ति—हे भट्टारक ! देव दुर्गति का क्या लक्षण है ? बोधि का क्या स्वरूप है ? किन परिणाम से मरण नही जाना जाता है ? तथा किन कारणों से यह जीव, जिसका पार पाना कठिन है ऐसे अपार ससार मे भ्रमण करता है ?

क्षपक के द्वारा प्रश्न होने पर आचार्य कहते है—

गाथार्थ—मरण काल मे विराधना के हो जाने पर कान्दर्प, आभियोग्य, किल्विषक, स्वमोह और आसुरी ये देवदुर्गतियाँ होती है ॥६३॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर द्रव्य और भाव मे अभेद करके कहा गया है अर्थात् ये कन्दर्प आदि भावनाएँ भाव है और इनमे होनेवाली उन-उन जाति के देवो की जो पर्यायें है वे यहाँ द्रव्य रूप हैं । इन दोनो मे अभेद करके ही यहाँ पर इन भावनाओ को देवदुर्गति कह दिया है । कन्दर्प का भाव कान्दर्प है अर्थात् उपप्लव स्वभाववाला गुण (शील और गुणो का नाश करने वाला भाव) कान्दर्प है । अभियोग का भाव आभियोग्य है अर्थात् तन्त्र-मन्त्र आदि के द्वारा रस आदि मे गृद्धता का होना । किल्विष का भाव कैल्विष्य है अर्थात् प्रतिकूल आचरण का होना । अपने मे मोह का होना स्वमोह है उसका भाव स्वमोहत्व है, अथवा श्व अर्थात् कुत्ते के मोह के समान मोह वेद का उदय है—जिसके वह श्वमोह है उसका भाव श्वमोहत्व है। अथवा मोह के साथ जो रहता है उसका भाव समोहत्व है अर्थात् मिथ्यात्व का होना । असुर के भाव को असुरत्व कहते है अर्थात् रौद्र परिणाम सहित आचारण का होना । ये देवदुर्गतियाँ हैं । अर्थात् इन पाँच गुणों से इन्ही पाँच प्रकार के देवों मे जन्म लेना पड़ता है । इसीलिए यहाँ पर इन परिणामो को ही देवदुर्गति कह दिया है । यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार समझना

---

१. क ०त्व तस्य भावना ।

विराहिए—विराधिते परिभूते। **होंति**—भवन्ति। सम्यक्त्वे विनाशिते मरणकाले एता कन्दर्पाभियोग्य-किल्विषस्वमोहासुरदेवदुर्गतयो भवन्तीति।

किं तत्कान्दर्पं इत्यत आह—

असत्तमुल्लावेंतो[1] पण्णावेंतो य बहुजणं कुणइं।
कंदप्प रइसमावण्णो कदप्पेसु[2] उववज्जइ ॥६४॥

असत्त—असत्यं मिथ्या। **उल्लावेंतो**[3]—उल्लपन् जल्पन् उल्लापयित्वा, **पण्णावेंतो**—प्रज्ञापन् प्रतिपादयन्, **बहुजण**—बहुजनं बहून् प्राणिनः, **कुणइं**—करोति। **कदप्पं**—कान्दर्पं, **रइसमावण्णो**—रतिं समापन्नः प्राप्तो रतिसमापन्नो रागोद्रेकसहितः। **कदप्पेसु**—कन्दर्पकर्मयोगाद्देवा अपि कन्दर्पा नग्नाचार्यदेवास्तेषु, **उववज्जेइ**—उत्पद्यते। यो रतिमसापन्नः असत्यमुल्लपन् तदेव च बहुजनं प्रतिपादयन् कन्दर्पभावनां करोति स कन्दर्पेषूत्पद्यते इत्यर्थः। अथवा असत्यं जल्पन् तदेव च भावयन्[4] आत्मनो बहुजनं करोति योजयति असत्येन यः स कन्दर्परतिसमापन्नः कन्दर्पेषूत्पद्यत इत्यर्थः।

चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि मरण के समय सम्यक्त्वगुण की विराधना हो जाने पर ये कन्दर्प, अभियोग्य, किल्विष, स्वमोह और असुर इन देवों की पर्यायों में उत्पत्ति हो जाती है।

विशेषार्थ—इन कन्दर्प आदि भावनाओं को करने से साधु को सम्यक्त्व रहित असमाधि होने से इन्हीं जाति के देवों में जन्म लेने का प्रसंग हो जाता है। आगे इन्हीं कन्दर्प आदि भावनाओं का लक्षण स्वयं बताते हैं।

वह कान्दर्प क्या है? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधु असत्य बोलता हुआ और उसी को बहुतजनों में प्रतिपादित करता हुआ रागभाव को प्राप्त होता है, कन्दर्प भाव करता है और वह कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६४॥

आचारवृत्ति—जो राग के उद्रेक से सहित होता हुआ स्वयं असत्य बोलता है और बहुतजनों में उसी का प्रतिपादन करते हुए कन्दर्प-भावना को करता है वह कन्दर्प कर्म के निमित्त से कन्दर्प जाति के जो नग्नाचार्य देव हैं उनमें जन्म लेता है। अथवा जो साधु स्वयं असत्य बोलता हुआ और उसी की भावना करता हुआ बहुतजनों को भी अपने समान करता है अर्थात् उन्हें भी असत्य में लगा देता है वह कन्दर्प भावना-रूप राग से युक्त होता हुआ कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—अन्यत्र देव जातियों में 'नग्नाचार्य' ऐसा नाम देखने में नहीं आता है। 'मूलाचारप्रदीप' अध्याय १० श्लोक ६१-६२ में 'कन्दर्प जाति के देवों को नग्नाचार्य कहते हैं' ऐसा लिखा है। तथा च प० जिनदास फडकुले सोलापुर ने 'मूलाचार' की हिन्दी टीका में कन्दर्प देवों का अर्थ 'स्तुतिपाठक देव' किया है। यह अर्थ कुछ संगत प्रतीत होता है।

---

१. क °विंतो। २ क °सुवव°। ३. क °विंतो। ४ क यन्नात्म°।

अथ किमभियोगकर्मेति तेनोत्पत्तिश्च का चेदत प्राह—

अभिजुंजइ[1] बहुभावे साहू हस्साइयं च बहुवयणं ।
अभिजोगेहिं कम्मेहिं जुत्तो वाहणेसु[2] उववज्जइ ॥६५॥

अभिजुंजइ—अभियुक्ते करोति, **बहुभावे**—बहुभावान् तत्रमत्रादिकान् । **साहू**—साधु । **हस्साइयं च**—हास्यादिक च हास्यकौत्कुच्यपरविस्मयनादिक । **बहुवयणं**—बहुवचन वाग्जाल । **अहिजोगेहिं**—अभियोगै तादर्थ्यात्ताच्छब्द्य आभिचारकै, **कम्मेहिं**—कर्मभि क्रियाभि. । **जुत्तो**—युक्तस्तन्निष्ठ । **वाहणेसु**—वाहनेषु गजाश्वमेषमहिषस्वरूपेषु । **उववज्जइ**—उत्पद्यते जायते । य साधू रसादिषु गृद्ध मंत्रतंत्र-भूतिकर्मादिकमुपयुक्ते हास्यादिक बहुवचन करोति स तैरभियोगै कर्मभिर्वाहनेषु उत्पद्यत इति ।

किल्विषभावनास्वरूप तथोत्पत्ति च प्रतिपादयन्नाह—

तित्थयराणं पडिणीओ संघस्स य चेइयस्स सुत्तस्स ।
अविणीदो णियडिल्लो किब्बिसियेसूववज्जेइ[3] ॥६६॥

---

*अभियोग कर्म क्या है और उससे कहाँ उत्पत्ति होती है ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—

गाथार्थ—जो साधु अनेक प्रकार के भावो का और हास्य आदि अनेक प्रकार के वचनो का प्रयोग करता है वह अभियोग कर्मो से युक्त होता हुआ वाहन जाति के देवो में उत्पन्न होता है ॥६५॥

आचारवृत्ति—जो साधु तन्त्र-मन्त्र आदि नाना प्रकार के प्रयोग करता है और हँसी, काय की कुचेष्टा सहित हँसी—कौत्कुच्य और पर मे आश्चर्य उत्पन्न कराना आदि रूप बहुत से वाग्जाल को करता है वह इन अभियोग क्रियाओ से युक्त होता हुआ हाथी, घोड़े, मेष, महिष आदि रूप वाहन जाति के देवो मे उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह हैं कि जो साधु रस आदि मे आसक्त होता हुआ तन्त्र-मन्त्र और भूकर्म आदि का प्रयोग करता है, हँसी-मजाक आदि रूप बहुत बोलता है वह इन कार्यो के निमित्त से वाहन जाति के देवों मे जन्म लेता है। वहाँ उसे विक्रिया से अन्य देवो के लिए वाहन हेतु हाथी घोड़े आदि के रूप बनाने पडते है।

किल्विष भावना का स्वरूप और उससे होनेवाली उत्पत्ति को कहते है—

गाथार्थ—जो तीर्थंकरो के प्रतिकूल है, सघ, जिन प्रतिमा और सूत्र प्रति अविनयी है और मायाचारी है वह किल्विष जाति के देवों में जन्म लेता है ॥६६॥

---

१ क अभिभुजइ । २. क °णेसूव° । ३.क °वज्जइ ।

*फलटन से प्रकाशित प्रति मे निम्नलिखित गाथा अधिक है।

मताभियोगकोदुगभूदीकम्म पउंजदे जो सो ।

इड्ढिरससादहेदुं अभियोगं भावणं कुणदि ॥३७॥

अर्थ—जो ऋद्धि, रस और साता के निमित्त मन्त्र प्रयोग, कौतुक और भूतिकर्म का प्रयोग करता है वह साधु अभियोग भावना को करता है।

तित्थयराणं—तीर्थं संसारतरणोपायं कुर्वन्तीति तीर्थंकरा अर्हद्भट्टारकास्तेषां। **पडिणीओ**—प्रत्यनीकः प्रतिकूलः। **संघस्स य**—संघस्य च ऋषियतिमुन्यनगाराणां ऋषिश्रावकश्राविकार्यिकाणां सम्यग्दर्शनचारित्रतपसां वा। **चेइयस्स**—चैत्यस्य सर्वज्ञप्रतिमायाः। **सुत्तस्स**—सूत्रस्य द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपस्य। **अविणीओ**—अविनीतः स्तब्धः। **णियडिल्लो**—निकृतिवान् वचनाबहुलः प्रतारणकुशलः। **किब्बिसियेसूववज्जेइ**—किल्विषेषूत्पद्यते। पाटहिकादिषु जायते। तीर्थंकराणां प्रत्यनीकः संघस्य चैत्यस्य सूत्रस्य वा अविनीतः मायावी च यः स किल्विषकर्मभिः किल्विषिकेषु जायते इति।

सम्मोहभावनास्वरूपं तदुत्पत्त्या सह निरूपयन्नाह—

उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ मग्गविपडिवण्णो य।
मोहेण य मोहंतो[1] संमोहेसूववज्जेदि[2] ॥६७॥

उम्मग्गदेसओ—उन्मार्गस्य मिथ्यात्वादिकस्य देशकः उपदेशकर्ता उन्मार्गदेशकः। **मग्गणासओ**—मार्गस्य सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य **णासओ**—नाशकः विराधको मार्गनाशकः। **मग्गविपडिवण्णो य**—मार्गस्य विप्रतिपन्नो विपरीतः स्वतीर्थप्रवर्तकः मार्गविप्रतिपन्नः। **मोहेण य**—मोहेन च मिथ्यात्वेन मायाप्रपंचेन वा। **मोहंतो**—मोहयन् विपरीतान् कुर्वन्, **समोहेसूववज्जेदि**—स्वमोहेषु स्वच्छन्ददेवेषूत्पद्यते। यः उन्मार्गदेशकः

आचारवृत्ति—संसार समुद्र से पार होने के उपाय रूप तीर्थ को करनेवाले तीर्थंकर हैं, उन्हें अर्हन्त भट्टारक कहते हैं उनके जो प्रतिकूल हैं, तथा ऋषि, यति, मुनि और अनगार को संघ कहते हैं अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनको भी चतुर्विध संघ कहते हैं। अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप को भी संघ शब्द से कहा है। सर्वज्ञदेव की प्रतिमा को चैत्य कहते हैं। बारह अंग और चौदह पूर्व को सूत्र कहते हैं। जो ऐसे संघ, चैत्य और सूत्र के प्रति विनय नहीं करते हैं और दूसरों को ठगने में कुशल हैं, वे इस किल्विष कार्यों के द्वारा पटह आदि वाद्य बजानेवाले किल्विषक जाति के देवों में उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेषार्थ—इन किल्विषक जाति के देवों को इन्द्र की सभा में प्रवेश करने का निषेध है। ये देव चाण्डाल के समान माने गये हैं। जो साधु सम्यक्त्व से च्युत होकर तीर्थंकर देव आदि की आज्ञा नहीं पालते हैं, उपर्युक्त दोषों को अपने जीवन में स्थान देते हैं वे पूर्व में यदि देवायु बाँध भी ली हो तो मरकर ऐसी देवदुर्गति में जन्म ले लेते हैं।

सम्मोह भावना का स्वरूप और उससे होने वाली देव दुर्गति को बताते हैं—

गाथार्थ—जो उन्मार्ग का उपदेशक है, सन्मार्ग का विघातक तथा विरोधी है वह मोह से अन्य को भी मोहित करता हुआ सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होता है ॥६७॥

आचारवृत्ति—जो उन्मार्ग अर्थात् मिथ्यात्व आदि का उपदेशकर्ता है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की विराधना करनेवाला है, तथा इसी सन्मार्ग के विपरीत है अर्थात् स्वतीर्थ का प्रवर्तक है। वह साधु मिथ्यात्व अथवा माया के प्रपंच से अन्य लोगों

---
१. क मोहिंतो। २ क ववज्जइ।

मार्गनाशकः मार्गविप्रतिकूलश्च मोहेन मोहयन् स' सम्मोहकर्मभिः स्वमोहेषु जायते इति।

आसुरी भावना तथोत्पत्तिं च प्रपंचयन्नाह—

खुद्दो कोही माणी मायी तह संकिलिट्ठो तवे चरित्ते य।
अणुबद्धवेररोई असुरेसूववज्जदे जीवो ॥६८॥

खुद्दो—क्षुद्र पिशुन। **कोही**—क्रोधी। **माणी**—मानी गर्वयुक्त। **माई**—मायावी। **तह य**—तथा च। **संकिलिट्ठो**—सक्लिष्ट सक्लेशपरायण। **तवे**—तपसि। **चरित्ते य**—चरित्रे च। **अणुबद्धवेररोई**—अनुबद्ध वैरं रोचते अनुबद्धवैररोची कषायबहुलेषु रुचिपर। **असुरेसूववज्जदे**—असुरेषूत्पद्यते अबावरीष-सञ्ज्ञकभवनेषु। **जीवो**—जीव। य क्षुद्र, क्रोधी, मानी, मायावी अनुबद्धवैररोची तथा तपसि, चरित्रे च य सक्लिष्ट सोऽसुरभावतयासुरेषूत्पद्यते इति।

व्यतिरेकद्वारेण बोधिं प्रतिपादयन्नाह—

मिच्छादंसणरत्ता सणिदाणा किण्हलेसमोगाढा।
इह जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥६९॥

को विपरीत बुद्धिवाला करता हुआ समोह कर्म के द्वारा स्वच्छन्द प्रवृत्तिवाले सम्मोह जाति के देवो मे उत्पन्न होता है।

अब आसुरी भावना को और उससे होनेवाली गति को बताते है—

गाथार्थ—जो क्षुद्र, क्रोधी, मानी, मायावी है तथा तप और चारित्र मे सक्लेश रखने वाला है, जो बैर को बाँधने मे रुचि रखता है वह जीव असुर जाति के देवो मे उत्पन्न होता है ॥६८॥

आचारवृत्ति—जो क्षुद्र अर्थात् चुगलखोर है अथवा हीन परिणाम वाला, क्रोध स्वभाव वाला है, मान-कषायी है, मायाचार प्रवृत्ति रखता है, तथा तपश्चरण करते हुए और चारित्र को पालते हुए भी जिसके परिणामो मे सक्लेष भाव बना रहता है अर्थात् परिणामो मे निर्मलता नही रहती, जो अनन्तानुबन्धी रूप बैर को बाँधने मे रुचि रखता है अर्थात् किसी के साथ कलह हो जाने पर उसके साथ अन्तरग मे ग्रन्थि के समान बैरभाव बाँध कर रखता है ऐसा जीव इन असुर भावनाओ के द्वारा असुर जाति मे, अन्तर्भेदरूप एक अंबावरीष जाति है उसमें, जन्मता है। ये अबावरीष जाति के देव ही नरको मे जाकर नारकियों को परस्पर मे पूर्वभव के बैर का स्मरण दिला-दिलाकर लडाया करते है और उन्हे लड़ते-भिडते दुःखी होते देखकर प्रसन्न होते रहते हैं।*

अब व्यतिरेक कथन द्वारा बोधि का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—यहाँ पर जो जीव मिथ्यादर्शन से अनुरक्त, निदान-सहित और कृष्णलेश्या से मरण करते है उनके लिए पुनः बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है ॥६९॥

---

१. क 'स्वस'।

*'भगवती आराधना' मे भी इन भावनाओ का वर्णन किया गया है।

मिच्छादंसणरत्ता—मिथ्यात्वदर्शनरक्ता अतत्त्वार्थरुचय.। **सणिदाणा**—सह निदानेनाकांक्षया वर्तंत इति सनिदाना । **किण्हलेस**—कृष्णलेश्या 'अनन्तानुबन्धिकपायानुरञ्जितयोगप्रवृत्तिम् । **ओगाढा**—आगाढा प्रविष्टा रौद्रपरिणामा । **इह**—अस्मिन् । **जे**—ये । **मरंति**—म्रियन्ते प्राणास्त्यजन्ति । **जीवा**—जीवा. प्राणिन । **तेसिं**--तेषा । **पुण**—पुन । **दुल्लहा**—दुर्लभाः। **बोही**—बोधि सम्यक्त्वसहितशुभपरिणाम । इह ये जीवा मिथ्यात्वदर्शनरक्ता, सनिदाना, कृष्णलेश्या प्रविष्टाश्च म्रियन्ते तेषा पुनरपि, दुर्लभा बोधि । उत्कृष्टतोऽर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्रात्सम्यक्त्वाविनाभावित्वाद्बोधेरतस्तादात्म्य ततो बोधेरेव लक्षण व्याख्यातमिति ।

अन्वयेनापि बोधेर्लक्षणमाह—

*सम्मद्दंसणरत्ता अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इह जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा हवे बोही ॥७०॥

सम्मद्दंसणरत्ता—सम्यग्दर्शनरक्ता तत्त्वरुचय । **अणियाणा**—अनिदाना इहपरलोकानाकाक्षा । **सुक्कलेस्सं**—शुक्ललेश्या। **ओगाढा**—आगाढा प्रविष्टा. । **इह**—अस्मिन् । **जे**—ये । **मरति**—म्रियते । **जीवा**—जीवा । **तेसिं**—तेषा । **सुलहा**--सुलभा सुखेन लभ्या । **हवे**—भवेत् । **बोही**—बोधि । इह ये जीवा सम्यक्त्वदर्शनरक्ता, अनिदाना, शुक्ललेश्या प्रविष्टा सन्तो म्रियन्ते तेषा सुलभा बोधिरिति । यद्यपि पूर्व-

---

आचारवृत्ति—जो अतत्त्व के श्रद्धान सहित है, भविष्य मे ससार-सुख की आकाक्षारूप निदान से सहित है, और अनन्तानुबन्धी कषाय से अनुरजित योग की प्रवृत्तिरूप कृष्णलेश्या से सयुक्त रौद्र-परिणामी है ऐसे जीव यदि यहाँ मरण करते है तो पुन सम्यक्त्व सहित शुभ परिणाम रूप बोधि उनके लिए बहुत ही दुर्लभ है । तात्पर्य यह है कि यदि एक बार सम्यक्त्व होकर छूट जाय तो पुन अधिक से अधिक यह जीव किंचित् कम अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल तक ससार मे भटक सकता है । इसीलिए यहाँ ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि का अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल ही शेष रहता है और बोधि सम्यक्त्व के बिना नही हो सकती है अत बोधि का सम्यक्त्व के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है इसीलिए यहाँ पर बोधि का लक्षण ही कहा गया है । अर्थात् प्रश्नकर्ता ने बोधि का लक्षण पूछा था सो बोधि की दुर्लभता और सुलभता को बतलाते हुए सम्यक्त्व के माहात्म्य को बताकर आचार्य ने प्रकारान्तर से बोधि का लक्षण ही बताया है ऐसा समझना ।

अब अन्वय द्वारा भी बोधि का लक्षण कहते है—

गाथार्थ—जो सम्यग्दर्शन मे तत्पर हैं, निदान भावना से रहित है और शुक्ललेश्या से परिणत है ऐसे जो जीव मरण करते है उनके लिए बोधि सुलभ है ॥७०॥

आचारवृत्ति—जो तत्त्वो मे रुचिरूप सम्यग्दर्शन से युक्त है, इह लोक और परलोक की आकाक्षा से रहित है, शुक्ल लेश्यामय निर्मल परिणामवाले है ऐसे जीव सन्यास विधि से मरते

---

१ सामान्यवचन है ।

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे नही है ।

सूत्रेणास्यार्थस्य प्रतीतिस्तथापि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहार्थं पुनरारम्भ· एकान्तमतनिराकरणार्थं च।

ससारकारणस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससबला कुसीला य।
असमाहिणा मरंते ते होंति अणंतससारा ॥७१॥

जे पुण—ये पुन.। **गुरुपडिणीया**—गुरूणा प्रत्यनीका प्रतिकूला. गुरुप्रत्यनीका·। **बहुमोहा**—मोहप्रचुराः रागद्वेषाभिहता। **ससबला**—सह शबलेन लेपेन वर्तन्ते इति सशबला कुत्सिताचरणा। **कुसीला य**—कुशीला कुत्सित शील व्रतपरिरक्षण येषा ते कुशीलाश्च। **असमाहिणा**—असमाधिना मिथ्यात्वसमन्वितार्त्त-रौद्रपरिणामेन। **मरंते**—म्रियन्ते। **ते**—ते। **होंति**—भवन्ति ते एव विशिष्टा। **अणंतससारा**—अनन्तससारा अर्धपुद्गलप्रमाणससृतय। ये पुन गुरुप्रतिकूला·, बहुमोहा कुशीलास्तेऽसमाधिना म्रियन्ते ततश्चानन्तससारा भवन्तीति।

अथ परीतससारा कथ भवन्तीति चेदत प्राह—

है अत उन्हे बोधि की प्राप्ति सुलभ ही है।

यद्यपि पूर्व की गाथा से ही बोधि के महत्त्व का अर्थबोध हो जाता है फिर भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यो का सग्रह करने के लिए, दोनो प्रकार के शिष्यो को समझाने के लिए ही यहाँ पहले व्यतिरेक मुख से, पुन. अन्वय मुख से, ऐसी दो गाथाओ से बोधि का व्याख्यान किया है। तथा एकान्तमत का निराकरण करने के लिए भी यह दोनो प्रकार का कथन है ऐसा समझना चाहिए।

भावार्थ—कुछेक का कहना है कि केवल अन्वय मुख से अर्थात् अपने विषय को बतलाते हुए ही कथन करना चाहिए तथा कुछेक का कथन है कि व्यतिरेक मुख से अर्थात् पर के निषेध रूप से अथवा वस्तु के दोष प्रतिपादन रूप से ही वस्तु का कथन करना चाहिए। किन्तु जैना-चार्य इन दोनो बातो को महत्त्व देते हुए अनेकान्त की पुष्टि करते है। इसीलिए पहले बोधि की दुर्लभता के कारणो को बताकर पुन अगली गाथा से बोधि की सुलभता के कारणो को बताया है, ऐसा समझना।

अब आचार्य ससार के कारण का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते है—

गाथार्थ—जो पुन गुरु के प्रतिकूल है, मोह की बहुलता से सहित है, शबल—अतिचार सहित चारित्र पालते है, कुत्सित आचरणवाले है वे असमाधि से मरण करते है और अनन्त ससारी हो जाते है ॥७१॥

आचारवृत्ति—जो साधु गुरुओ की आज्ञा नही पालते है, मोह की प्रचुरता से सहित राग-द्वेष से पीडित हो रहे हैं, शबल—लेपसहित अर्थात् कुत्सित आचरण वाले है तथा व्रतो की रक्षा करनेवाले जो शील हैं उन्हें भी कुत्सित रूप से जो पालते है, वे मिथ्यात्व से सहित हो आर्त एवं रौद्रध्यान रूप असमाधि से मरण करके अनन्त नामवाले अर्धपुद्गल प्रमाण काल तक ससार में ही भटकते रहते हैं।

अब, परीत संसारी कैसे होते हैं, ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥७२॥

जिणवयणे—जिनस्य वचनमागम तस्मिन्नर्हत्प्रवचने। **अणुरत्ता**—अनुरक्ता सुष्ठु भक्ता। **गुरु-वयणं**—गुरुवचनमादेश, **जे करंति**—ये कुर्वंति, **भावेण**—भावेन भक्त्या मन्त्रतन्त्रशास्त्रानाकांक्षया। **असबल**—अशवला मिथ्यात्वरहिता। **असंकिलिट्ठा**—असंक्लिष्टा शुद्धपरिणामा। **ते होंति**—ते भवंति। **परित्त-संसारा**—परीत परित्यक्त परिमितो वा ससार चतुर्गतिगमन येषां यैर्वा ते परीतससारा परित्यक्तससृतयो **वा**। जिनप्रवचने येऽनुरक्ता गुरुवचन न भावेन कुर्वन्ति, अशवला, असंक्लिष्टा सन्तस्ते परित्यक्तससारा भवन्तीति।

यदि जिनवचनेऽनुरागो न स्यादत किं स्यादत प्राह—

बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणि मरणाणि।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति ॥७३॥

बालमरणाणि—बालानामतत्त्वश्नीना मरणानि शरीरत्यागा बालमरणानि। **बहुसो**—बहुश बहूनि बहुप्रकाराणि वा। **बहुआणि**—बहुकानि प्रचुराणि। **अकामयाणि**—अकामकृतानि अनभिप्रेतानि। **मर-णाणि**—मृत्यून्। **मरिहंति**—मरिष्यन्ति मृत्यु प्राप्स्यन्तीत्यर्थ। **ते वराया**—त एवभूता वराका अनाथा। **जे जिणवयण**—ये जिनवचन सर्वज्ञागम। **ण जाणंति**—न जानन्ति नावबुध्यन्ते। ये जिनवचन न जानन्ति ते वराका बालमरणानि बहुप्रकाराणि अकामकृतानि च बहूनि मरणानि प्राप्स्यन्तीति।

गाथार्थ—जो जिनेन्द्रदेव के वचनो मे अनुरागी है, भाव मे गुरु की आज्ञा का पालन करते है, शबल—परिणाम रहित है तथा सक्लेशभाव रहित है वे ससार का अन्त करनेवाले होते है ॥७२॥

आचारवृत्ति—जो अर्हन्त देव के प्रवचन रूप आगम के अच्छी तरह भक्त है, मन्त्र-तन्त्र की या शास्त्रो की आकाक्षा से रहित होकर भक्तिपूर्वक गुरुओ के आदेश का पालन करते है, मिथ्यात्व भाव रहित है और शुद्ध-परिणामी है वे चतुर्गति मे गमन रूप ससार को परिमित करनेवाले अथवा ससार को समाप्त करनेवाले हो जाते है।

यदि जिनवचन मे अनुराग नही होगा तो क्या होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—जो जिनवचन को नही जानते है वे बेचारे अनेक बार बालमरण करते हुए अनेक प्रकार के अनिच्छित मरणो मे मरण करते रहेगे ॥७३॥

आचारवृत्ति—जो सर्वज्ञ देव के आगम को नही जानते है वे बेचारे अनाथ प्राणी, जो अपने लिए अभिप्रेत अर्थात् इष्ट नही है ऐसे, अनेक प्रकार के मरण मे बार-बार मरते रहते है।

भावार्थ—यहाँ बालमरण से विवक्षा बालबालमरण की है जो कि मिथ्यादृष्टि जीवो के होता है क्योंकि ऊपर गाथा ५९ मे बालमरण का लक्षण करते हुए टीकाकार ने असयत-सम्यग्दृष्टि के मरण को कहा है। तथा अन्य ग्रन्थो मे भी बालबालमरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि माने गये हैं। उन्ही का यहाँ कथन समझना चाहिए।

अथ कानि तानि बालमरणानीत्यत आह—

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य।
अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणि ॥७४॥

सत्थग्गहण—शस्त्रेणात्मनो ग्रहण मारण शस्त्रग्रहण। शस्त्रग्रहणादुत्पन्न मरणमपि शस्त्रग्रहण कार्ये कारणोपचारात्। **विसभक्खण**—विषस्य मारणात्मकद्रव्यस्य भक्षणमुपयुजन विषभक्षण तथैव सम्बन्ध कर्तव्य। **च**—समुच्चयार्थ। **जलण**—ज्वलनादग्नेरुत्पन्न ज्वलन। **जलप्पवेसो य**—जले पानीये प्रवेशो निमज्जन निरुच्छ्वास जलप्रवेशश्च तस्माज्जात स एव वा मरण। **अणयारभण्डसेवी**—अनाचारभाडसेवी न[1] आचारोऽनाचार पापक्रिया स एव भाड द्रव्य तत्सेवत इत्यनाचारभाडसेवी मरणेन सम्बन्ध। अथवा पुरुषेण सम्बन्ध अनाचारभाडसेवी तस्य। **जम्मणमरणाणुबंधीणि**—जन्म उत्पत्ति, मरण मृत्युस्तयोरनुबन्ध सन्तान स येषा विद्यते तानि जन्ममरणानुबन्धीनि ससारकारणानीत्यर्थ। एतानि मरणानि जन्ममरणानुबन्धीनि अनाचारभाडसेवीनि यतोऽतो बालमरणानीति। अथवा अनाचारसेवीनि एतानि मरणानि ससारकारणानीति न सदाचारस्य।

एव श्रुत्वा क्षपक सवेगनिर्वेदपरायण एव चिन्तयति—

उड्ढमधो तिरियम्हि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि।
दसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥७५॥

वे बालमरण कितने तरह के है? उत्तर मे कहते है—

गाथार्थ—शस्त्रो के घात से मरना, विष भक्षण करना, अग्नि मे जल जाना, जल मे प्रवेशकर मरना और पापक्रियामय द्रव्य का सेवन करके मरना ये मरण—जन्म और मृत्यु की परम्परा को करनेवाले है ॥७४॥

आचारवृत्ति—जो शस्त्र से अपना मरण स्वय करते है या किसी के द्वारा तलवार आदि से जिनका मरण हो जाता है, यहाँ 'शस्त्र ग्रहण' शब्द से स्वय शस्त्र से आत्मघात करना या, शस्त्र के द्वारा मारा जाना दोनो विवक्षित है अत यहाँ पर कार्य मे कारण का उपचार किया गया है। विष अर्थात् मरण करानेवाली वस्तु का भक्षण कर लेना, अग्नि मे जल कर मरना, जल मे प्रवेश कर उच्छ्वास के रुक जाने से प्राणो का त्याग करना, अनाचार—पापक्रिया वही हुआ भाड-द्रव्य उसका सेवन करके मरना अर्थात् पाप-प्रवृत्ति करके मरना। अथवा पापी जीवो का जो मरण है वह अनाचार भाडसेवी मरण है। ये मरण जन्म-मरण की परम्परा को करनेवाले है अर्थात् ससार के लिए कारणभूत है। तात्पर्य यह कि ये सभी मरण संसार के कारण है और पाप क्रियारूप है अत ये बालमरण कहलाते है। अथवा अनाचार—सेवन करने रूप ये मरण ससार के ही हेतु है। ये सदाचारी जीव के नही होते है। यहाँ पर भी बालमरण शब्द से बालबाल-मरण को ही ग्रहण करना चाहिए जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

यह सुनकर क्षपक सवेग और निर्वेद मे तत्पर होता हुआ ऐसा चितवन करता है—

गाथार्थ—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक मे मैने बहुत बार बालमरण किये है। अब मै दर्शन और ज्ञान से सहित होता हुआ पण्डितमरण से मरूँगा ॥७५॥

1 क अनाचारभण्डसेवनाचार.।

उड्ढं—ऊर्ध्वं ऊर्ध्वलोके। **अधो**—अधसि अधोलोके नरकभवनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पे। **तिरियंहि दु**—तिर्यक्षु च एकेन्द्रियादिपचेन्द्रियपर्यन्तजातिषु। **कदाणि**—कृतानि प्राप्तानि बालमरणानि। **बहुगाणि**—बहूनि। **दंसणणाणसह**—दर्शनज्ञानाभ्या सार्धं, **गदो**—गत प्राप्त, **पडियमरणं**—पण्डितमरण शुद्धपरिणाम-चारित्रपूर्वकप्राणत्याग। **अणुमरिस्से**—अनुमरिष्यामि सन्यास करिष्यामि। ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु च बहूनि बाल-मरणानि यतो मया प्राप्तानि, अतो दर्शनज्ञानाभ्या सार्ध पण्डितमरण गतोऽह मरिष्यामीति।

एतानि चाकामकृतानि मरणानि स्मरन् पण्डितमरणमनुमरिष्यामीत्यत आह—

उव्वेयमरणं जादीमरण णिरएसु वेदणाश्रो य।
एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥७६॥

उव्वेयमरण—उद्वेगमरण इष्टवियोगानिष्टसयोगाभ्या त्रासेन वा मरण। **जादीमरणं**—जातिमरण उत्पन्नमात्रस्य मृत्युर्गर्भस्थस्य वा। **णिरएसु**—नरकेषु। **वेदणाओ य**—वेदनाश्च पीडाश्च। **एदाणि**—एतानि। **संभरंतो**—सस्मरन्। **पंडिदमरण**—पण्डितमरण। **अणुमरिस्से**—अनुमरिष्यामि प्राणत्याग करिष्यामि। एतानि उद्वेगजातिमरणानि नरकेषु वेदनाश्च सस्मरन् पण्डितमरण प्राप्त सन् प्राणत्याग करिष्यामि।

आचारवृत्ति—ऊर्ध्वलोक मे—स्वर्गलोक मे तथा अधोलोक मे – नरको मे, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवो मे तथा तिर्यग्लोक मे—एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त जातियो मे मैने बहुत से बालमरण (बालबालमरण) किये है, अब मै दर्शन और ज्ञान के साथ एकता को प्राप्त होता हुआ पण्डितमरण मे मरूँगा। अर्थात् सन्यास विधि से शुद्ध परिणामरूप चारित्र-पूर्वक प्राणो का त्याग करूँगा। तात्पर्य यह है कि मैने तीनो लोको मे अनन्त बार बालबाल-मरण किये है उनसे जन्म परम्परा बढती ही गयी है अत अब मै बालमरण से होने वाली हानि को सुनकर धर्म मे प्रीति तथा शरीरादि से विरक्ति धारण करता हुआ पण्डितमरण को प्राप्त करूँगा।

पुनरपि इन अनभिप्रेत, जो अपने को इष्ट नही, ऐसे मरणो का स्मरण करता हुआ क्षपक 'मै पण्डितमरण से मरूँगा' ऐसा विचार करता है—

गाथार्थ—उद्वेगपूर्वक मरण, जन्मते ही मरण और जो नरको की वेदनाएँ है इन सबका स्मरण करते हुए अब मै पण्डितमरण से प्राणत्याग करूँगा ॥७६॥

आचारवृत्ति—इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग के दु ख से जो मरण होता है अथवा अन्य किसी त्रास से जो मरण होता है उसको उद्वेगमरण कहते है। जन्म लेते ही मर जाना या गर्भ मे मर जाना यह जातिमरण है। तथा नरको मे नारकियो को अनेक वेदनाएँ भोगनी पडती हैं। इन मरणो से होने वाले दु खो का स्मरण करते हुए अब मै पण्डितमरणपूर्वक ही शरीर को छोडूँगा।

भावार्थ—पुत्र, मित्र आदि के मर जाने पर अथवा अनिष्टकर शत्रु या दु खदायी बन्धु आदि के मिलने पर लोग सक्लेश परिणाम मे प्राण छोड देते है। या अपघात भी कर डालते है। इन सभी कुमरणो से दुर्गति मे जाकर अथवा नरक गति मे जाकर नाना दु:खों को चिरकाल तक भोगते है। इन सभी तरह के क्लेश को मैंने भी स्वय अनन्त बार भोगा है इसलिए अब इन

किमर्थं पंडितमरण मरणेषु शुभतम यत —

***एक्कं पंडिदमरणं छिंददि जादीसयाणि बहुगाणि ।**
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥७७॥

एक्क—एक । **पंडिदमरणं**—पंडितमरण । **छिंददि**—छिनत्ति । **जादीसयाणि**—जातिशतानि । **बहुगाणि**—बहूनि । **त**—तत् तेन वा । **मरणं**—शरीरेन्द्रिययोर्वियोग । **मरिदव्वं**—मर्तव्य मरण प्राप्तव्य । **जेण**—येन । **मदं**—मृत । **सुम्मदं**—सुष्ठुमृत । **होदि**—भवति । एक पण्डितमरण जातिशतानि बहूनि छिनत्ति यतोऽतस्तेन मरणेन मर्तव्य येन पुनरुत्पत्तिर्न भवति तद्वानुष्ठातव्य येन न पुनर्जन्म । किमुक्त भवति—पंडित-मरणमनुष्ठेयमिति ॥७७॥

यदि सन्यासे पीडा-क्षुधादिकोत्पद्यते तत कि कर्तव्यमित्याह—

जइ उप्पज्जइ दुःखं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरये ।
कदमं मए ण पत्त संसारे संसरंतेण ॥७८॥

जइ- यदि । **उप्पज्जइ**—उत्पद्यते । **दुक्खं**—दु खमसात । **तो**—तत । **दट्ठव्वो**—द्रष्टव्यो मनसा[1]-लोकनीय । **सभावदो**—स्वभावत स्वरूप "दृश्यतेऽन्यत्रापि" इति तम्, प्राकृतबलादक्षराधिक्य वा । **णिरए**—

दु खो का स्मरण कर, उनसे डरकर मै सल्लेखनापूर्वक ही मरण करना चाहता हूँ ऐसा क्षपक विचार करता है।

मरणो मे पण्डितमरण ही किसलिए अधिक शुभ है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—एक पण्डितमरण सौ-सौ जन्मो का नाश कर देता है अत ऐसे ही मरण से मरना चाहिए कि जिससे मरण सुमरण हो जावे ॥७७॥

आचारवृत्ति—एक वार किया गया पण्डितमरण बहुत प्रकार के सैकडो जन्मो को नष्ट कर देता है। शरीर और इन्द्रियो का वियोग हो जाना जीव का मरण है इसलिए ऐसे मरण से मरना चाहिए कि जिससे यह मरण अच्छा मरण हो जावे अर्थात् ऐसी सल्लेखना विधि से मरण करे कि जिससे पुन जन्म ही न लेना पडे। अथवा ऐसे मरण का अनुष्ठान करना चाहिए कि जिसके बाद पुन मरण ही न करना पडे। इससे क्या तात्पर्य निकला ? मैं अब पण्डितमरण नामक सल्लेखना विधि से मरण करूँगा, क्षपक ऐसा दृढ निश्चय करता है।

यदि सन्यास के समय भूख प्यास आदि पीडाएँ उत्पन्न हो जावे तो क्या करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—यदि उस समय दु ख उत्पन्न हो जावे तो नरक के स्वभाव को देखना चाहिए। संसार में ससरण करते हुए मैंने कौन-सा दु ख नही प्राप्त किया है ॥७८॥

आचारवृत्ति—यदि असातावेदनीय के निमित्त से दु.ख उत्पन्न होता है तो स्वभाव से नरक में देखना चाहिए अर्थात् नरक के स्वरूप का मन से अवलोकन करना चाहिए। यहाँ

---

१. क सहसा।

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे नही है।

नरकस्य नरके वा। **कदम**—कियदिद कतमत्। **मए**—मया। **ण पत्त**—न प्राप्त। अथवा, अण ऋण कृत मया यत्तन्मयैव[1] प्राप्त। **ससारे**—जातिजरामरणलक्षणे। **ससरंतेण**—ससरता परिभ्रमता। सन्यासकाले यदुत्पद्यते क्षुधादि दु ख ततो नरकस्य स्वभावो द्रष्टव्यो यत ससारे ससरता मया किमिद न प्राप्त यावता हि प्राप्तमेवेति चिन्तनीयमिति ॥७८॥

यथा प्राप्त तथैव प्रतिपादयति—

ससारचक्कवालम्मि मए सव्वेवि पुग्गला बहुसो।
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती ॥७९॥

संसारचक्कवालम्मि—ससारचक्रवाले चतुर्गतिजन्मजरामरणावर्ते। **मए**—मया। **सव्वेवि**—सर्वेऽपि। **पुग्गला**—पुद्गला दधिखण्डगुडौदननीरादिका। **बहुसो**—बहुश बहुवारान् अनन्तवारान्। **आहारिदा य**—आहृता गृहीता भक्षिताश्च। **परिणामिदा य**—परिणामिताश्च जीर्णाश्च खलरसस्वरूपेण गमिता इत्यर्थ। **ण य मे**—न च मम। **गदातित्ती**—गता तृप्ति गन्तापो न जात, प्रत्युत आकाक्षा जाता। ससारचक्रवाले सर्वेऽपि पुद्गला बहुश आहृता परिणामिताश्च मया न च मम गता तृप्तिरिति चिन्तनीयम्।

'स्वभावत' मे तस् प्रत्यय है सो 'दृश्यतेऽन्यत्रापि' इस नियम से पचमी अर्थ मे नही, किन्तु वहाँ द्वितीया विभक्तिरूप अर्थ निकल आता है अथवा प्राकृत व्याकरण के नियम से यहाँ अक्षर की अधिकता होते हुए भी 'स्वभाव' ऐसा अर्थ निकलता है। अर्थात् ऐसा सोचना चाहिए कि मैने नरक आदि गतियो मे कौन-सा दु ख नही प्राप्त किया है। अथवा गाथा के 'मए ण' पद को मए अण सधि निकालकर अण का ऋण करके ऐसा समझना चाहिए कि जो मने ऋण अर्थात् कर्जा किया था वही ता मे प्राप्त कर रहा हूँ अर्थात् इस जन्म-मरण और वृद्धावस्थामय ससार मे परिभ्रमण करते हुए जो मैने ऋण रूप मे कर्म सचित किये है उनका फल मुझे ही भोगना पडेगा उस कर्जे को तो पूरा करना, चुकाना ही पडेगा। तात्पर्य यह कि स ल्लेखना के समय यदि भूख प्यास आदि वेदनाएँ उत्पन्न होती है तो उस समय नरको के दु खो के विषय मे विचार करना चाहिए जिससे उन वेदनाओ से धैर्यच्युत नही होता है। ऐसा सोचना चाहिए कि अनादि ससार मे भ्रमण करते हुए मैने क्या यह दु ख नहा पाया है ? अर्थात् इन बहुत प्रकार के अनेक-अनेक दु खो को मैने कई-कई बार प्राप्त किया ही है। अब इस समय धैर्य से सहन कर लेना ही उचित है।

जिस प्रकार से प्राप्त किया है उसी का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—इस ससार रूपी भँवर मे मैने सभी पुद्गलो को अनेक बार ग्रहण किया है और उन्हे आहार आदि रूप परिणमाया भी है किन्तु उनसे मेरी तृप्ति नही हुई है ॥७९॥

आचारवृत्ति—चतुर्गति के जन्म-मरण रूप आवर्त अर्थात् भँवर मे मैने दही, खाण्ड, गुड, भात जल आदि रूप सभी पुद्गल वर्गणाओ को अनन्त बार ग्रहण किया है, उनका आहार रूप से भक्षण किया है और खलभाग रसभाग रूप से परिणमाया भी है अर्थात् उन्हे जीर्ण भी किया है, किन्तु आजतक उनसे मुझे तृप्ति नही हुई, प्रत्युत आकाक्षाएँ बढ़ती ही गयी है, ऐसा विचार करना चाहिए।

---

१. क यत्तन्नैव।

कथ न गता तृप्तिर्यथा—

[1]तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ।।८०।।

[2]तिणकट्ठेण व—तृणकाष्ठैरिव । **अग्गी**—अग्नि । **लवणसमुद्दो**—लवणसमुद्र । **णदीसहस्सेहिं**—नदीसहस्रैश्चतुर्दशभि सहस्रैर्द्विगुणद्विगुणैर्नदीना समन्विताभिर्गंगासिध्वादिचतुर्दशनदीभि सागरो न पूर्ण । **ण इमो जीवो**—नाय जीव । **सक्को**—शक्य । **तिप्पेदुं**—तृप्तु प्रीणयितु । **कामभोगेहिं**—कामभोगै , ईप्सित-सुखाङ्गैराहारस्त्रीवस्त्रादिभि । यथा अग्नि तृणकाष्ठै , लवणसमुद्रश्च नदीसहस्रै प्रीणयितु न शक्य तथा जीवोऽपि कामभोगैरिति ।।८०।।

किं परिणाममात्राद्बन्धो भवति ? भवतीत्याह—

कंखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो ।
अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ ।।८१।।

णिबधदि इति वा पाठान्तरम् । **कंखिद**—काक्षित काक्षास्य सजाता ता करोतीति वा काक्षित ।

---

*क्यो नही हुई तृप्ति ? उसी को दिखाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—तृण और काठ से अग्नि के समान तथा सहस्रो नदियो से लवण-समुद्र के समान इस जीव को काम और भोगो से तृप्त करना शक्य नही है ।।८०।।

आचारवृत्ति—जैसे अग्नि तृण और लकडियो के समूह से तृप्त नही होती है अर्थात् वुझ नही सकती है प्रत्युत वढती जाती है । जैसे हजारो नदियो से लवण समुद्र तृप्त नही होता । अर्थात् गगा-सिधु की तो परिवार नदियाँ चौदह-चौदह हजार हैं, आगे-आगे रोहित रोहितास्या आदि चौदह नदियो मे दूनी-दूनी (तथा आधी आधी) परिवार नदियो के समुदाय से सभी की सभी नदियाँ लवण समुद्र मे हमेशा प्रवेश करती ही रहती है । फिर भी आज तक वह तृप्त नही हुआ । उसी प्रकार से इच्छित सुख के साधन भूत आहार, स्त्री, वस्त्र आदि काम भोगो से इस जीव को तृप्त करना, सतुष्ट करना शक्य नही है ।

विशेषार्थ— पचेन्द्रिय विषयो के उपभोग से तृप्ति की बात तो बहुत दूर है, प्रत्युत इच्छाएँ उत्तरोत्तर वृद्धिगत ही होती हैं, ऐसा समझे ।

क्या परिणाममात्र से भी बन्ध हो सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—आकाक्षा और कलुषता से सहित हुआ यह जीव काम और भोगो मे मूर्च्छित होता हुआ, भोगो को नही भोगता हुआ भी, परिणाममात्र से कर्मो द्वारा बन्ध को प्राप्त होता है ।।८१।।

आचारवृत्ति— कही पर 'णिवज्झेइ' की जगह 'णिवन्धदि' ऐसा भी पाठान्तर है ।

---

१. क तण । २ क तण ।

*८०, ८१ और ८२वी तीन गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति मे पहले ही आ चुकी है ।

कलुसिद—कलुषित रागद्वेषाद्युपहत । **भूदो**—भूत सन् । **कामभोगेसु**—कामभोगेषु । **मुच्छिदो**—मूर्च्छित. । **संतो**—सन् । **अभुंजतो वि य**—अभुञ्जानोऽपि च असेवमानोऽपि च । **भोगे**—भोगान् सांसारिकसुखहेतून् । **परिणामेण**—परिणामेन चित्तव्यापारेण । **णिवज्झेइ**—निबध्यते कर्मणा परवश. क्रियते, कर्म वा बध्नाति । कामभोगेषु मूर्च्छित सन् काक्षित कलुषीभूतश्च भोगानभुजानोऽपि जीव परिणामेन कर्म बध्नाति बध्यते वा कर्मणेति ॥८१॥

किमिच्छामात्रेणाभुजानस्यापि पाप भवतीत्याह—

आहारणिमित्त किर मच्छा गच्छंति सत्तमि पुढवि ।
सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्थेदुं ॥८२॥

आहारणिमित्तं—आहारकारणात् । **किर**—किल आगमे कथित नारुचिवचनमेतत् निश्चयवचनमेव । **मच्छा**—मत्स्या । **गच्छंति**—यान्ति प्रविशन्ति । **सत्तमि**—सप्तमी । **पुढवि**—पृथिवी अवधिस्थान । **सच्चित्तो**—सह चित्तेन वर्तत इति सचित्त सावद्योऽयोग्य प्राणिघातादुत्पन्न । **आहारो**—भोजन । **ण कप्पदि**—न कल्पते न योग्यो भवति । **मणसावि**—मनसापि चित्तव्यापारेणापि । **पत्थेदु**—प्रार्थयितु याचयितु । आहारनिमित्त मत्स्या शालिसिक्थादयो निश्चयेन सप्तमी पृथिवी गच्छति यतोऽतो मनसापि प्रार्थयितु सावद्याहारो न

काक्षा जिसको होती है अथवा जो काक्षा करता है वह काक्षित है । रागद्वेष आदि भावो से सहित जीव कलुषित है । तथा नाना विषयो की इच्छा करता हुआ रागद्वेष युक्त यह जीव काम और भोगो से मूर्च्छित होता हुआ, अत्यधिक आसक्त होता हुआ, सासारिक सुख के कारणभूत भोगो का सेवन नही करते हुए भी मन के व्यापार से, भावमात्र से, कर्मो से बन्ध जाता है अर्थात् कर्मों के द्वारा परवश कर दिया जाता है अथवा यह जीव कर्मो को बाँध लेता है अर्थात् नाना प्रकार की इच्छाओ को करता हुआ जीव भोगो को बिना भोगे भी कर्मो का बन्ध करता रहता है ।

क्या इच्छामात्र से बिना भोगते हुए भी पाप होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—आहार के निमित्त से ही नियम से मत्स्य सातवी पृथ्वी मे चले जाते है इसलिए सचित्र आहार को मन से भी चाहना ठीक नही है ॥८२॥

आचारवृत्ति—यहाँ किल शब्द से ऐसा अर्थ समझना कि आगम मे कहा गया यह अरुचि—अश्रद्धा रूप कथन नही है अर्थात् किल का अर्थ यहाँ निश्चय को ही कहनेवाला है । आहार के कारण से अर्थात् आहार का इच्छामात्र से मत्स्य निश्चय से ही सातवें नरक चले जाते है । जो चित्त अर्थात् जीव सहित है वह सचित्त है । अर्थात् सावद्य-सदोष-अयोग्य आहार, जो कि प्राणियो की हिंसा से उत्पन्न हुआ है, अध कर्म से उत्पन्न हुआ आहार है । हे साधो ! ऐसा आहार तुम्हें मन से भी चाहना योग्य नही है । तात्पर्य यह है कि स्वयभूरमण समुद्र मे महामत्स्य के कर्ण में तन्दुलमत्स्य होते हैं जो कि तन्दुल के समान ही लघु शरीरवाले है किन्तु उनमें भी वज्रवृषभनाराच सहनन होता है । वे मत्स्य आदि जन्तु महामत्स्य के मुख मे प्रवेश करते हुए और निकलते हुए तमाम जीवो को देखते है तो सोचते रहते है कि यदि मेरा बडा शरीर होता तो मैं इन सबको खा लेता, एक को भी नही छोड़ता किन्तु वे खा नही पाते हैं ।

कल्पते इति ॥८२॥

यतो मनसापि सावद्याहारो न योग्योऽतो भवान् शुद्ध-परिणाम कुर्यादित्याचार्यं प्राह—

पुव्वं कदपरियम्मो अणिदाणो ईहिदूण मदिबुद्धी ।
पच्छा मलिदकसाओ सज्जो मरणं पडिच्छाहि ।८३।

पुव्वं कदपरियम्मो—पूर्वं प्रथमतर कृतमनुष्ठित परिकर्म तपोऽनुष्ठान येनासौ पूर्वकृतपरिकर्मा आदावनुष्ठिततपश्चरण । **अणिदाणो**—अनिदान इहलोकपरलोकसुखानाकाक्ष । **ईहिदूण**—ईहित्वा चेष्टित्वा उद्योग कृत्वा । **मदिबुद्धी**—मतिबुद्धिभ्या प्रत्यक्षानुमानाभ्या परोक्षप्रत्यक्षसम्पन्न । **पच्छा**—पश्चात् । **मलिय-कसाओ**—मथितकषाय क्षमासम्पन्न । **सज्जो**—सद्य तत्पर. कृतकृत्यो वा । **मरणं**—समाधिमृत्यु स्वाध्याय-मरण वा । **पडिच्छाहि**—प्रतीच्छानुतिष्ठ । विपरिणामान्नरक गम्यते यतोऽत प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणाभ्यामागमे निश्चय कृत्वा पूर्वकृतपरिकर्मानिदनश्च सन् मथितकषायश्च सन् सद्य मरण प्रतीच्छेति ॥८३॥

पुनरपि शिक्षा ददाति—

तथापि इस भावना मात्र से पापबन्ध करते हुए वे जीव भी सातवे नरक मे चले जाते है। इस-लिए साधुओ को मन से भी, आगम मे कहे गये दोषों सहित अर्थात् सदोष आहार ग्रहण करना युक्त नही है ।

जिस कारण मन से भी सावद्य आहार ग्रहण करना योग्य नहीं है इसलिए हे क्षपक ! शुद्ध परिणाम करो। ऐसा आचार्य कहते है—

गाथार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के द्वारा चेष्टा करके निदान रहित होते हुए हे साधो ! पहले तप का अनुष्ठान करके, अनन्तर कषायो का मथन करके इस समय मरण की प्रतीक्षा करो ॥८३॥

आचारवृत्ति—मति और बुद्धि अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के ज्ञान से सम्पन्न हुआ साधु चेष्टा करके, उद्योग—पुरुषार्थ करके सबसे पहले परिकर्म—तप का अनुष्ठान कर लेता है, वह इहलोक और परलोक के सुखों की अभिलाषा रूप निदान को नहीं करता है। पश्चात् वही साधु कषायो का मथन करके क्षमा गुण से सम्पन्न हो जाता है । वह सद्य समाधि में तत्पर हो जाता है अथवा कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे साधु को आचार्य कहते हैं कि हे क्षपक ! अब तुम समाधिमरण अथवा स्वाध्यायमरण का अनुष्ठान करो। यहाँ स्वाध्याय मरण से अपने अध्ययन, चिन्तन-स्मरण करते हुए मरण करना ऐसा अर्थ है। तात्पर्य यह हुआ कि पूर्व में कहे हुए कन्दर्प आदि भावना रूप या सदोष आहार की इच्छा रूप विपरीत परिणाम से जीव नरक मे चला जाता है इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण द्वारा आगम मे जो कहा गया है उसका निश्चय करके पहले तपश्चरण का अनुष्ठान करो। पुन निदान भाव रहित होते हुए तथा कषायों का त्याग करते हुए तुम इस समय कृतकृत्य होकर समाधिमरण का अनुष्ठान करो।

आचार्य पुनरपि शिक्षा देते हैं—

हुंदि चिरभाविदावि य जे पुरुसा मरणदेसयालम्मि ।
पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण पच्छा परिवडंति ॥८४॥

हुंदि—जानीहि—सामान्यमरण वा। **चिरभाविदावि य**—चिरभाविता अपि देशोनपूर्वकोटी कृताचरणा अपि। **जे**—यस्त्व वा पुरुषै सह सम्बन्धाभावात्। **पुरिसा**—पुरुषा मनुष्या । **मरणदेसया-लम्मि**—मरणकाले मरणदेशे वा अथवा मरणकाल एवानेनाभिधीयते। **पुव्वकदकम्मगरुयत्तणेण**—पूर्वस्मिन् कृतं कर्म पूर्वकृतकर्म तेन गुरुक तस्य भाव पूर्वकृतकर्मगुरुकत्व तेनान्यस्मिन्नर्जितपापकर्मणा। **पच्छा**—पश्चात् । **परिवडंति**—प्रतिपतन्ति रत्नत्रयात् पृथग्भवन्ति यत ॥८४॥

तह्मा चंदयवेज्झस्स कारणेण उज्जदेण पुरिसेण ।
जीवो अविरहिदगुणो कादव्वो मोक्खमग्गम्मि ॥८५॥

तम्हा—तस्मात् । **चदयवेज्झस्स**—चद्रकवेध्यस्य । **कारणेन**—निमित्तेन। **उज्जदेण**—उद्यतेन उपर्युक्तेन। **पुरिसेण**—पुरुषेण। **जीवो**—जीव आत्मा। **अविरहिदगुणो**—अविरहितगुणोऽविराधितपरिणाम । **कादव्वो**—कर्तव्यः। **मोक्खमग्गम्मि**—मोक्षमार्गे सम्यक्त्वज्ञानचारित्रेषु। यतश्चिरभाविता अपि पुरुषा मरणदेशकाले पूर्वकृतकर्मगुरुकत्वेन पश्चात् प्रतिपतन्ति तस्मात् यथा चन्द्रकवेध्यनिमित्त जीवोऽविरहितगुण क्रियते तयोद्यतेन पुरुषेणात्मा मोक्षमार्गे कर्तव्य इत्येव जानीहि निश्चय कुर्विति ॥८५॥

गाथार्थ—जिन्होने चिरकाल तक अभ्यास किया है ऐसे पुरुष भी मरण के देश-काल मे पूर्व मे किये गये कर्मो के भार से पुन च्युत हो जाते है, ऐसा तुम जानो ॥८४॥

आचारवृत्ति जिन्होने चिरकाल तक तपश्चरण आदि का अभ्यास किया है अर्थात् कुछ कम एककोटि वर्ष पूर्व तक जिन्होने रत्नत्रय का पालन किया है ऐसे पुरुष भी मरण के समय अथवा मरण के देश मे अथवा यहाँ इस 'मरणदेश काले' पद का मरणकाल ही अर्थ लेना चाहिए। अर्थात् ऐसे पुरुष भी सल्लेखना के समय पूर्वकृत पापकर्म के तीव्र उदय से रत्नत्रय से पृथक् हो जाते है, च्युत हो जाते है। हे क्षपक ! ऐसा तुम समझो।

गाथार्थ—इसलिए चन्द्रकवेध्य के कारण मे उद्यत पुरुष के समान आत्मा को मोक्षमार्ग मे गुण-सहित करना चाहिए ॥८५॥

आचारवृत्ति—इसलिए चन्द्रकवेध्य का वेध करने मे उद्यत पुरुष के समान तुम्हे अपनी आत्मा के परिणामो की विराधना न करके उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग मे स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जिस कारण से चिरकाल से अभ्यास करनेवाले भी पुरुष मरणकाल मे पूर्व संचितकर्म के तीव्र उदय से रत्नत्रय से च्युत हो जाते है इसलिए जैसे चन्द्रकवेध्य के लिए जीव उस गुण मे प्रवीण किया जाता है अथवा वह चन्द्रकवेध्य का निशाना बनाने के लिए गुण अर्थात् डोरी पर वाण को चढाता है, पुन निशाना लगाकर वेधन करता है उसी प्रकार उद्यमशील पुरुष को अपनी आत्मा मोक्षमार्ग मे स्थिर करना चाहिए, ऐसा तुम जानो अर्थात् निश्चय करो।

चन्द्रकवेध्य के निमित्त जीव डोरी रहित न होने पर 'मैं चन्द्रकवेध्य का करने वाला हूँ'

चन्द्रकवेध्यनिमित्त जीवेऽवरहितगुणे कृते किंकृत तेन चन्द्रकवेध्यस्य कर्ताह—

कणयलदा णागलदा विज्जुलदा तहेव कुंदलदा।
एदा विय तेण हदा मिथिलाणयरिए महिंदयत्तेण ॥८६॥
सायरगो बल्लहगो कुलदत्तो वड्ढमाणगो चेव।
दिवसेणिक्केण हदा मिहिलाए महिंददत्तेण ॥८७॥

मिथिलानगर्यां महेन्द्रदत्तेन एता कनकलतानागलताविद्युल्लतास्तथा कुन्दलता चैकहेलया हता। तथा तस्या नगर्यां तेनैव महेन्द्रदत्तेन सागरक-वल्लभक-कुलदत्तक-वर्धमानका हतास्तस्मात् यतिना समाधिमरणे यत्न कर्तव्य। कथानिका चात्र व्याख्येया आगमोपदेशात् यत्नाभावे पुनर्यथा एतल्लोकाना भवति तथा यतीनामपि ॥८६-८७॥

[1]किं तत् ? इत्याह—

जहणिज्जावयरहिया णावाओ वररदण[2]सुपुण्णाओ।
पट्टणमासण्णाओ खु पमादमूला णिबुड्डंति ॥८८॥

ऐसा समझकर उसने क्या किया ? सो बताते है—

गाथार्थ—कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता—इन चारों को भी उस महेन्द्रदत्त ने मिथिलानगरी मे मार दिया। सागरक, बल्लभक, कुलदत्त और वर्धमानक को भी एक ही दिन मिथिलानगरी मे महेन्द्रदत्त ने मार डाला ॥८६-८७॥

आचारवृत्ति—मिथिलानगरी मे महेन्द्रदत्त ने कनकलता, नागलता, विद्युल्लता और कुन्दलता इनको एक लीलामात्र मे मार डाला। तथा उसी नगरी मे उसी महेन्द्रदत्त ने सागरक, बल्लभक, कुलदत्तक और वर्धमानक इनको भी मार डाला। इसलिए यतियो को समाधिमरण मे प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ पर आगम के आधार से इन कथाओं का व्याख्यान करना चाहिए। अभिप्राय यह हुआ कि जैसे सावधानी के बिना इन लोगो का मरण हो गया वैसे ही सावधानी के बिना यतियो का भी कुमरण हो जाता है।

विशेष—ये कथाएँ आराधना कथाकोश आदि मे उपलब्ध नही हो सकी इसलिए इस विषय का स्पष्टीकरण समझ मे नही आया है। फिर भी इतना अभिप्राय अवश्य प्रतीत होता है कि ये सब मरण कुमरण है क्योंकि इनमे सावधानी नही है। ऐसे दृष्टान्तो के द्वारा आचार्य क्षपक को सावधान रहने का ही पुन पुन: उपदेश दे रहे है।

वह सावधानी क्या है ? सो कहते है—

गाथार्थ—जैसे उत्तम रत्नों से भरी हुई नौकाएँ नगर के समीप किनारे पर आकर भी, कर्णधार से रहित होने से प्रमाद के कारण डूब जाती है—ऐसे ही साधु के विषय में समझो ॥८८॥

---

१. क किं तथा। २. क 'णयु'।

जह—यथा। णिज्जावयरहिया—निर्यापकरहिता कर्णधारविरहिता.। णावाओ—नाव: पोतादिका। वररयणसुपुण्णाओ—श्रेष्ठरत्नसुपूर्णा। पट्टणमासण्णाओ—पत्तनमासन्ना वेलाकूलसमीप प्राप्ता। खु—स्फुट। पमादमूला—प्रमाद शैथिल्य मूल कारण यासा ता. प्रमादमूला। णिबुड्डंति—निमज्जन्ति विनाशमुपयाति। यथा नाव पत्तनमासन्ना कर्णधाररहिता वररत्नसम्पूर्णा, प्रमादकारणात् सागरे निमज्जन्ति तथा क्षपकनाव सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररत्नसम्पूर्णा सिद्धिसमीपीभूतसन्यासपत्तनमासन्ना निर्यापकाचार्यरहिता प्रमादनिमित्तात् ससारसागरे निमज्जन्ति तस्माद्यत्न कर्तव्य इति ॥८८॥

कथ यत्न क्रियते यावता हि तस्मिन् कालेऽभ्रावकाशादिक न कर्तुं शक्यते इत्याह—

बाहिरजोगविरहिओ अब्भंतरजोगझाणमालीणो[1]।
जह तम्हि देसयाले अमूढसण्णो जहसु देहं ॥८९॥

बाहिरजोगविरहिदो—बाह्याश्च ते योगाश्च बाह्ययोगा अभ्रावकाशादयस्तै विरहितो हीनो बाह्ययोगविरहित। अब्भंतरजोगझाणमालीणो[2]—अभ्यतरयोग अन्तरगपरिणाम ध्यान एकाग्रचिन्तानिरोधन आलीन प्रविष्ट। जह—यथा। तम्हि—तस्मिन्। देसयाले—देशकाले सन्यासकाले। अमूढसण्णो—अमूढ-

---

आचारवृत्ति—जैसे उत्तम-उत्तम रत्नो से भरे हुए जहाज आदि पत्तन अर्थात् समुद्र-तट के समीप पहुँच भी रहे है, फिर भी यदि वे जहाज खेवटिया से रहित है अर्थात् उनका कोई कर्णधार नही है तो प्रमाद के कारण निश्चित ही वे समुद्र मे डूब जाते है, नष्ट हो जाते है। वैसे ही क्षपक रूपी नौकाएँ भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नों से परिपूर्ण है और सिद्धि के समीप मे ही रहनेवाला जो सन्यास रूपी पत्तन है उसके पास तक अर्थात् किनारे तक आ चुकी है, फिर भी निर्यापकाचार्य के बिना प्रमाद के निमित्त से वे क्षपक रूपी नौकाएँ संसार-समुद्र मे डूब जाती है, इसलिए सावधानी रखना चाहिए।

भावार्थ—जो सल्लेखना करनेवाले साधु है वे क्षपक है और करानेवाले निर्यापकाचार्य है। एक साधु की सल्लेखना मे अड़तालीस मुनियो की आवश्यकता मानी गयी है।

यहाँ पर इसी बात को स्पष्ट किया है कि निर्यापकाचार्य के बिना क्षपक को मरण काल मे वेदना आदि के निमित्त से यदि किंचित् भी प्रमाद आ गया तो वह पुनः रत्नत्रय से च्युत होकर ससार मे डूब जायेगा किन्तु यदि निर्यापकाचार्य कुशल है तो वे उसे सावधान करते रहेंगे। अत समाधि करने के इच्छुक साधु को प्रयत्नपूर्वक निर्यापकाचार्य की खोज करके उनका आश्रय लेना चाहिए तथा अन्तिम समय तक पूर्ण सावधानी रखना चाहिए।

कैसे प्रयत्न करना चाहिए क्योकि उस काल मे तो अभ्रावकाश आदि को करना शक्य नही है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—बाह्य योगो से रहित भी अभ्यन्तर योग रूप ध्यान का आश्रय लेकर उस सल्लेखना के काल मे जैसे-बने-वैसे सज्ञाओ मे मोहित न होते हुए शरीर का त्याग करो ॥८९॥

आचारवृत्ति—अभ्रावकाश आदि योग बाह्य योग है, इनसे रहित होते हुए भी अभ्यन्तर योगध्यान अर्थात् अन्तरग में एकाग्र—चिन्तानिरोध रूप ध्यान मे प्रविष्ट होकर जैसे

१-२ क मल्लीणो।

सज्ञ: आहारादिसज्ञारहित.। जहसु—जहीहि त्यज। देहं—शरीर। बाह्ययोगविरहितोऽपि, अभ्यन्तरध्यान-योगप्रविष्ट: सन् तस्मिन् देशकाले अमूढसज्ञो यथा भवति तथा शरीरं जहीहि ॥८९॥

अमूढसंज्ञके शरीरत्यागे सति किं स्यात्? इत्यत. प्राह—

हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्मसंखलियं।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहसि ॥९०॥

हंतूण—हत्वा। **रागदोसे**—रागद्वेषौ अनुरागाप्रीती। **छेत्तूण य**—छित्वा च। **अट्ठकम्मसंखलियं**—अष्टकर्मशृखला। **जम्मणमरणरहट्टं**—जन्ममरणारहट्ट जातिमृत्युघटीयत्र। **भेत्तूण**—भित्त्वा। **भवाहि**—भवेभ्यो भवैर्वा। **मुच्चिहिसि**—मोक्ष्यसे मुञ्चसि वा। रागद्वेषौ हत्वा, अष्टकर्म शृखलाश्च छित्वा जन्म-मरणारहट्ट च भित्वा, भवेभ्यो मोक्ष्यसे इत्येतत्स्यादिति ॥९०॥

यद्येव—

सव्वमिदं उवदेसं जिणदिट्ठं सद्दहामि तिविहेण।
तसथावरखेमकरं सारं णिव्वाणमग्गस्स ॥९१॥

हो सके वैसे संन्यास के समय आहार आदि संज्ञाओं से रहित होते हुए तुम शरीर को छोड़ो।

भावार्थ—शीत ऋतु में अभ्र—खुले मैदान में जो अवकाश अर्थात् ठहरना, स्थित होकर ध्यान करना है वह अभ्रावकाश है। ग्रीष्म ऋतु मे आ—सब तरफ से, तापन—सूर्य के सताप को सहना सो आतापन योग है और वर्षा ऋतु मे वृक्षो के नीचे ध्यान करना यह वृक्ष-मूल योग है। सल्लेखना के समय क्षपक इन बाह्य योगो को नही कर सकता है फिर भी अन्तर मे अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हुए जो ध्यान होता है वह अभ्यन्तर योग है। इस योग का आश्रय लेकर क्षपक आहार, भय, मैथुन और परिग्रह सज्ञाओं मे मूर्छित न होता हुआ शरीर को छोडे ऐसा आचार्य का उपदेश है।

सज्ञाओ मे मूर्छित न होते हुए शरीर का त्याग करने पर क्या होता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते है—

गाथार्थ—राग-द्वेष को नष्ट करके, आठ कर्मो की जजीर को काट कर और जन्म-मरण के घटीयन्त्र का भेदन कर तुम सम्पूर्ण भयो से छूट जाओगे ॥९०॥

आचारवृत्ति—राग द्वेष को नष्ट कर, आठ कर्मों की बेड़ी काटकर तथा जन्म-मरण रूप जो अरहट—घटिकायन्त्र है उसको रोक करके हे क्षपक! तुम अनेक भवों से मुक्त हो जाओगे अर्थात् पुन. तुम्हें जन्म नही लेना पड़ेगा।

अब क्षपक कहता है कि हे गुरुदेव! यदि ऐसी बात है तो मैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सम्पूर्ण इस उपदेश का मन-वचन-काय से श्रद्धान करता हूँ। यह निर्वाणमार्ग का सार है और त्रस तथा स्थावर जीवों का क्षेम करनेवाला है ॥९१॥

सव्वमिव—पर्वमिम। **उवदेसं**—उपदेशमागम। **जिणदिट्ठं**—जिनदृष्ट कथित वा। **सद्दहामि**—श्रद्दधे, तस्मिन् रुचि करोमीति। **तिविहेण**—त्रिविधेन। **तसथावरखेमकरं**—त्रसन्ति उद्विजन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादि[1]पचेन्द्रियपर्यन्ता। स्थानशीला स्थावरा पृथिवीकायिकादिवनस्पतिपर्यन्ता। अथवा त्रसनामकर्मोदयात् त्रसा स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावरा तेषा क्षेम दया सुख करोतीति त्रसस्थावरक्षेमकरस्त सर्वजीवदयाप्रतिपादक। **सारं**—प्रधानभूत मारस्य कारणात्सार। **णिव्वाणमग्गस्स**—निर्वाणमार्गस्य मोक्षवर्त्मन। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणा तस्मिन् सति तेषा सद्भावान्निर्वाणमार्गस्य सार त्रसस्थावरक्षेमकर च सर्वमिममुपदेश जिनदृष्ट त्रिविधेन श्रद्दधेऽहमिति ॥६१॥

तस्मिन् काले यथा द्वादशागचतुर्दशपूर्वविषया श्रद्धा क्रियते तथा समस्तश्रुतविषया चिंता पाठश्च कर्तुं किं शक्यते ? इत्याह—

ण हि तम्हि देसयाले सक्को बारसविहो सुदक्खंधो।
सव्वो अणुचितेदुं बलिणावि समत्थचित्तेण ॥६२॥

न—प्रतिषेधवचन। **हि**—यस्मादर्थे। **तम्हि**—तस्मिन्। **देसयाले**—देशकाले। 'दिश् अतिसर्जने'

आचारवृत्ति—जो यह सम्पूर्ण उपदेशरूप आगम है वह जिनेन्द्रदेव द्वारा देखा गया है अथवा कथित है, मै मन-वचन-कायपूर्वक उसी का श्रद्धान करता हूँ, उसी मे रुचि करता हूँ। जो त्रास को प्राप्त होते है—उद्विग्न होते है वे त्रस है। अर्थात् दो इन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त जीव त्रस कहलाते है। जो 'स्थानशीला' अर्थात् ठहरने के स्वभाववाले है वे स्थावर है। पृथ्वी कायिक से लेकर वनस्पति पर्यन्त स्थावर जीव है। अथवा त्रसनाम कर्म के उदय से त्रस होते हैं एव स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर है। अर्थात् ऊपर जो त्रस-स्थावर शब्द की व्युत्पत्ति की है वह सर्वथा लागू नही होती है क्योकि इस लक्षण से तो उद्वेग मे रहित गर्भस्थ, मूछित या अण्डे मे स्थित आदि जीव त्रस नही रहेगे तथा वायुकायिक, अग्निकायिक त्रस हो जावेंगे इसलिए यह मात्र व्याकरण का व्युत्पत्ति अर्थ है। वास्तविक अथ तो यही है कि जो त्रस या स्थावर नाम कर्म के उदय से जन्म लेवे वे ही त्रस या स्थावर है। इन त्रस और स्थावर जीवो का क्षेम—उनकी दया का, उनके सुख का करनेवाला है यह उपदेश है। और, यह सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमय निर्वाण मार्ग का सार है अर्थात् इस उपदेश के होने पर ही मोक्षमार्ग का सद्भाव होता है इसीलिए यह प्रधानभूत है—सारभूत मोक्षमार्ग का कारण होने से यह उपदेश स्वय सारभूत ही है ऐसा समझना।

उस सन्यास के काल मे जैसे द्वादशाग और चतुर्दशपूर्व के विषय मे श्रद्धा की जाती है वैसे ही समस्त श्रुतविषयक चिन्तन और पाठ करना शक्य है क्या ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—उस सन्यास के देश-काल मे बलशाली और समर्थ मनवाले साधु के द्वारा भी सम्पूर्ण द्वादशाग रूप श्रुतस्कन्ध का चिन्तवन करना शक्य नही है ॥६२॥

आचारवृत्ति—'देशकाले' पद का अर्थ कहते है। दिश् धातु अतिसर्जन—त्याग

---

१. क 'यादय. पं°।

दिश्यते अतिसृज्यते इति देश. शरीरं तस्य कालस्तस्मिन् शरीरपरित्यागकाले। **सक्को**—शक्य । **बारसविहो**—द्वादशविध' द्वादशप्रकार **सुदक्खंधो**—श्रुतस्कध श्रुतवृक्ष इत्यर्थ । **सव्वो**—सर्वं समस्त। **अणुचितेदुं**—अनुचिन्तयितु अर्थेन भावयितु पठितु च। **बलिणावि**—बलिनापि शरीरगतबलेनापि[1]। **समत्थचित्तेण**—समर्थचित्तेन एकचित्तेन यतिना। तस्मिन् देशकाले बलयुक्तेन समर्थचित्तेनापि द्वादशविध श्रुतस्कन्ध न शक्यमनुचिन्तयितुम् ॥९२॥

यतस्तत कि कर्तव्य !

एक्कह्मि बिदियह्मि पदे संवेगो वीयरायमग्गम्मि।
वच्चदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्यं ॥९३॥

एक्कह्मि—एकस्मिन् नमोऽर्हद्भ्य इत्येतस्मिन्। **बिदियह्मि**—द्वयो पूरण द्वितीय नम' सिद्धेभ्य इत्येतस्मिन्। **संबेओ**—सवेग धर्मे हर्ष । **पदे**—अर्थपदे ग्रन्थपदे प्रमाणपदे वा पचनमस्कारपदे च। अथवा **एकम्हि वीजम्हि पदे**—एकस्मिन्नपि बीजपदे यस्मिन्निति पाठान्तरम्। **वीयरागमग्गम्मि**—वीतरागमार्गे सर्वज्ञ-

---

अर्थ मे है अत 'दिश्यते अतिसृज्यते इति देश शरीरं' अर्थात् जिसका त्याग किया है वह देश-शरीर है। उस शरीर का जो काल है वह देशकाल है अर्थात् वह शरीर के परित्याग का काल कहलाता है। उस शरीर परित्याग के समय जो साधु शारीरिक बल से सहित भी है तथा समर्थ मनवाला—एकाग्र चित्तवाला भी है तो भी वह बारह प्रकार के सम्पूर्ण श्रुतरूपी वृक्ष का अनुचिन्तन नही कर सकता है अर्थात् सम्पूर्ण श्रुत को अर्थ रूप से अनुभव करने को और उसके पाठ करने को समर्थ नही हो सकता है। तात्पर्य यह है कि कितना भी शरीरबली या मनोबली साधु क्यो न हो तो भी अन्तसमय में वह सम्पूर्ण श्रुतमय शास्त्रो के अर्थो का चिन्तवन नही कर सकता है।

यदि ऐसी बात है तो उसे क्या करना चाहिए ?

गाथार्थ—मनुष्य वीतराग मार्ग स्वरूप अर्हत्प्रवचन के एकपद मे या द्वितीय पद मे निरन्तर सवेग प्राप्त करता है। इसलिए मरणकाल मे इन पदों को नही छोडना चाहिए ॥९३॥

आचारवृत्ति—जो सर्वसग का त्यागी मुनि वीतराग मार्ग—सर्वज्ञदेव के प्रवचन के किसी एक पद मे या 'अर्हद्भ्यो नम' इस प्रथम पद में या द्वितीयपद अर्थात् 'सिद्धेभ्यो नम'

---

१. क 'बलोपेतेनापि।

*फलटन से प्रकाशित प्रति मे निम्नलिखित गाथा अधिक है—

शरीर-त्याग के समय सप्ताक्षरी मन्त्र का चिन्तन श्रेयस्कर है—

सत्तक्खरसज्झाण अरहंताणं णमोत्ति भावेण।
जो कुणदि अणण्णमदी सो पावदि उत्तमं ठाणं ॥८८॥

अर्थ—'णमो अरहताण' यह सप्त अक्षर युक्त मन्त्र है। जो क्षपक एकाग्रचित्त होकर इस मन्त्र का ध्यान करता है, वह उत्तम स्थान—मोक्ष प्राप्त कर लेता है। और, यदि क्षपक अचरम शरीरी है तो स्वर्ग मे इन्द्रादि पद का धारक होता है।

प्रवचने। **वच्चदि**—व्रजति गच्छति प्रवर्तते। **णरो**—नरेण सर्वसगपरित्यागिना। **अभिक्खं**—अभीक्ष्णं नैरन्तर्येण। **तं**—तत्। **मरणंते**—मरणान्ते कण्ठगतप्राणेऽथसमये वा। **ण मोत्तव्वं**—न मोक्तव्य न परित्यजनीयं। एकपदे द्वितीयपदे वा पंचनमस्कारपदे वा वीतरागमार्गे यस्मिन् संवेगोऽभीक्ष्ण गच्छति तत्पदं मरणान्तेऽपि न मोक्तव्यं नरेण; नरो वा सवेग यथा भवति तथा यस्मिन्पदे गच्छति प्रवर्तते तत्पद तेन न मोक्तव्यमिति सम्बन्धः।

किमिति कृत्वा तन्न मोक्तव्य यत—

एदह्मादो एक्कं हि सिलोगं मरणदेसयालह्मि।
आराहणउवजुत्तो चिंतंतो आराधओ होदि ॥९४॥

एदह्मादो—एतस्मात् श्रुतस्कन्धात् पचनमस्काराद्वा। **एक्कं हि** एक ह्यपि एकमपि तथ्य। **सिलोगं**—श्लोक। **मरणदेसयालम्मि**—मरणदेशकाले। **आराहण उवजुत्तो**—आराधनया[1] उपयुक्त सम्यग्ज्ञानदर्शन-चारित्रतपोनुष्ठानपर। **चितंतो**—चितयन्। **आराधओ**—आराधक रत्नत्रयस्वामी। **होइ**—भवति सम्पद्यते। एतस्मात् श्रुतात् पचनमस्काराद्वा मरणदेशकाले एकमपि श्लोक चिंतयन् आराधनोपयुक्त सन् आराधको भवति यतस्ततस्त्वयेद न मोक्तव्यमिति सम्बन्ध ॥९४॥

इस पद मे निरन्तर सवेग को प्राप्त होता है, धर्म मे हर्षभाव को प्राप्त होता है। यहाँ पद शब्द से अर्थपद, ग्रन्थपद या प्रमाणपद या नमस्कारपद को लिया गया है। अथवा 'एकम्हि बीजम्हि पदे' ऐसा पाठान्तर भी है जिसका ऐसा अर्थ करना कि किसी एक बीजपद मे अर्थात् 'ॐ ह्रीं' या 'अ-सि-आ-उ-सा' आदि बीजाक्षर पदो का आश्रय लेता है।

इसलिए मरण के अन्त मे अर्थात् कण्ठगत प्राण के होने पर या अन्तिम समय मे इन पदो का अवलम्बन नही छोडना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि जिस वीतरागदेव के प्रवचन रूप एक—प्रथम पद मे या द्वितीयपद मे अथवा नमस्कार मन्त्र पद मे साधु निरन्तर सवेग को प्राप्त हो जाते है। इस हेतु से इन पदो को मरण के अन्त मे भी नही छोडना चाहिए।

अथवा जो भी कोई साधु जैसे भी बने वैसे जिस पद मे प्रीति को प्राप्त कर सकते हैं, उस पद को उन्हे नही छोडना चाहिए अर्थात् उन्हे उसी पद का आश्रय लेना चाहिए।

क्यों नही छोडना चाहिए उसे? सो ही बताते है—

गाथार्थ—आराधना मे लगा हुआ साधु मरण के काल मे इस श्रुत समुद्र से एक भी श्लोक का चिन्तवन करता हुआ आराधक हो जाता है ॥९४॥

आचारवृत्ति—आराधना से उपयुक्त अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारो आराधनाओ के अनुष्ठान मे तत्पर हुआ साधु द्वादशागरूप श्रुतस्कन्ध से या पचनमस्कार पद से एक भी तथ्य-सत्यभूत श्लोक को ग्रहण कर यदि सन्यास काल मे उसका चिन्तवन करता है तो वह आराधक—रत्नत्रय का स्वामी—अधिकारी हो जाता है। इसलिए तुम्हे भी किसी एक पद का अवलम्बन लेकर उसे नही छोड़ना चाहिए।

---

१ क॰ °नउ°।

यदि पीडोत्पद्यते मरणकाले। किमौषधं ? इत्याह—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं श्रमिदभूदं।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥६५॥

जिणवयणं—जिनवचन। **ओसहं**—औषध रोगापहर द्रव्य। **इणं**—एतत्। **विसयसुहविरेयणं**—विषयेभ्य सुख विषयसुख तस्य विरेचन द्रावक द्रव्य विषयसुखविरेचन। **अमिदभूदं**—अमृतभूत। **जरमरणवाहिवेयण**—जरामरणव्याधिवेदनाना। बहुकालीना व्याधि., आकस्मिका वेदना तयोर्भेद। अथवा व्याधिभ्यो वेदना। **खयकरणं**—विनाशनिमित्त। **सव्वदुक्खाणं**—सर्वदु खाना। विषयसुखविरेचन, अमृतभूत चौषधमेतज्जिनवचनमिति सम्बन्ध ॥६५॥

· कि तस्मिन्काले शरण चेत्याह—

णाणं सरणं मे दंसणं[1] च सरणं चरियसरणं च।
तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो ॥६६॥

णाण—ज्ञान यथावस्थितवस्तुपरिच्छेद। **सरण**—शरण आश्रय। **मे**—मम। **दंसणं**—दर्शन प्रशमसंवेगानुकपास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणपरिणाम। **सरण**—शरण समाराद्रक्षणं। **चरियं**—चरित्र ज्ञानवत. संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णवतोऽनुष्ठान। **सरणं च**—सहाय च। सुखावबोधार्थं पुन पुन शरणग्रहण। **तवं**—तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपो द्वादशप्रकार। **सजमं**—सयम प्राणेन्द्रियसयमन। **[सरण]**—शरण।

यदि मरणकाल मे पीडा उत्पन्न हो जावे तो क्या औषधि है ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—विषय सुख का विरेचन करानेवाले और अमृतमय ये जिनवचन ही औषध है। ये जरा-मरण और व्याधि से होनेवाली वेदना को तथा सर्व दु.खो को नष्ट करनेवाले है ॥६५॥

आचारवृत्ति—दीर्घकालीन रोग व्याधि है। आकस्मिक होनेवाला कष्ट वेदना है। इस प्रकार इन दोनो मे अन्तर भी है अथवा व्याधियो से उत्पन्न हुई वेदना व्याधि वेदना है। अर्थात् जिनेन्द्रदेव की वाणी महान् औषधि है यह विषय सुख का विरेचन करा देती है। वृद्धावस्था और मरणरूप जो महाव्याधियाँ है उनको तथा सम्पूर्ण दु खो को दूर करा देती है। इसीलिए यह जिनवाणी अमृतमय है।

उस समय शरण कौन हैं ? सो बताते है—

गाथार्थ—मुझे ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है, तपश्चरण और संयम शरण है तथा भगवान् महावीर शरण हैं ॥६६॥

आचारवृत्ति—जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप से जानना सो ज्ञान है, वह ज्ञान ही मेरा शरण अर्थात् आश्रय है। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इनकी अभिव्यक्तिलक्षण जो परिणाम हैं वह दर्शन है वही मेरा शरण है अर्थात् संसार से मेरी रक्षा करनेवाला है। ससार के कारणो का अभाव करने के लिए उद्यत हुए ज्ञानवान पुरुष का जो अनुष्ठान है

---

१. क "ण सरणं चरिय च सरण च। तव संजमो य स"।

भगवं भगवान् ज्ञानसुखवान् । सरणो—शरण । महावीरो—वर्धमानस्वामी । ज्ञानदर्शनचारित्रतपासि मम शरणानि तेषामुपदेष्टा च महावीरो भगवान् शरणमिति ।।९६।।

आराधनाया किं फल ? इत्यत आह—

आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं ।
उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ णिव्वाणं ।।९७।।

आराहणउवजुत्तो—आराधनोपयुक्त सम्यग्दर्शनज्ञानादिषु तात्पर्यवृत्ति । **कालं काऊण**—काल कृत्वा । **सुविहिओ**—सुविहित शोभनानुष्ठान । **सम्मं**—सम्यक् । **उक्कस्स**—उत्कृष्टेन । **तिण्णि**—त्रीन् । **भवे**—भवान् । **गन्तूण य**—गत्वा च । **लहइ**—लभते । **णिव्वाण**—निर्वाण । सुविहित सम्यगाराधनोपयुक्त काल कृत्वा उत्कर्षेण त्रीन् भवान् प्राप्य ततो निर्वाण लभते इति ।।९७।।

आचार्यानुशासित श्रुत्वा शास्त्र ज्ञात्वा क्षपक कारणपूर्वक परिणाम कर्तुकाम प्राह—

समणो मेत्ति य पढमं बिदियं सव्वत्थ सजदो मेत्ति ।
सव्वं च वोस्सरामि य एद भणिद समासेण ।।९८।।

समणो मेत्ति य—श्रमण समरसीभावयुक्त, इति च । **पढमं**—प्रथम । **बिदियं**—द्वितीय । **सव्वत्थ-**

वह चारित्र है, वही मेरा सहाय है । जो शरीर और इन्द्रियो को तपाता है, जलाता है वह तप है । वह द्वादश भेदरूप है । प्राणियो की रक्षा तथा इन्द्रियो का सयमन यह सयम है । ये तप और सयम मेरे शरण है तथा ज्ञान और सुखपूर्ण भगवान् वर्धमान स्वामी ही मेरे लिए शरण है । तात्पर्य यह कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये ही मेरे रक्षक है और इनके उपदेष्टा भगवान् महावीर ही मेरे रक्षक है । यहाँ पर जो पुन पुन 'शरण' शब्द आया है सो सुख से—सरलता से समझने के लिए ही आया है । अथवा इन दर्शन, ज्ञान आदि के प्रति अपनी दृढ श्रद्धा को सूचित करने के लिए भी समझना चाहिए ।

आराधना का फल क्या है ? सो बतलाते है—

गाथार्थ—आराधना मे तत्पर हुआ साधु आगम मे कथित सम्यक्प्रकार से मरण करके उत्कृष्ट रूप से तीन भव को प्राप्त कर पुन निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।।९७।।

आचारवृत्ति—शुभ अनुष्ठान से सहित साधु सम्यक् प्रकार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओ मे तत्परता से प्रवृत्त होता हुआ साधुमरण करके उत्कृष्ट से तीन भवो को प्राप्त करके पश्चात् निर्वाण प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार से आचार्य की अनुशास्ति अर्थात् वाणी को सुनकर और शास्त्र को समझकर क्षपक कारणपूर्वक परिणाम को करने की इच्छा रखता हुआ कहता है—

गाथार्थ—पहला तो मेरा श्रमण यह रूप है और दूसरा सभी जगह मेरा सयत—संयमित होना यह रूप है । इसलिए सक्षेप से कहे गये इन सभी का मै त्याग करता हूँ ।।९८।।

आचारवृत्ति—श्रमण—'समरसी भावयुक्त होना' यह मेरी प्रथम स्थिति है । 'सर्वत्र

सजदो—सर्व त्रसयत । **मेत्ति**—मम इति । अथवा श्रमणे मम प्रथम मैत्र्य । द्वितीय च सर्वसयतेषु । **सव्वं च**—सर्व च । **वोस्सरामि य**—व्युत्सृजामि च । **एवं**—ऐतत् । **भणिदं**—भणित । **समासेण**—समासेन सक्षेपत. । प्रथमस्तावत् समानभावोऽह द्वितीयश्च सर्वत्र सयतोऽत सर्वमयोग्य व्युत्सृजामि एतद्भणित सक्षेपतो मयेति सम्बन्ध सक्षेपालोचनमेतत् ॥९८॥

पुनरपि दृढपरिणाम दर्शयति

लद्धं अलद्धपुव्वं जिणवयणसुभासिदं[1] अमिदभूदं ।
गहिदो सुग्गइमग्गो णाहं मरणस्स बीहेमि ॥९९॥

लद्धं—लब्ध प्राप्त । **अलद्धपुव्वं**—अलब्धपूर्व ।[1] **जिणवयणं**—जिनवचन । [2]**सुभासिदं**—सुभाषित प्रमाणनयाविरुद्ध । **अमिदभूद**—अमृतभूत सुखहेतुत्वात् । **गहिदो**—गृहीत. । **सुग्गदिमग्गो**—सुगतिमार्ग । **णाहं मरणस्स बीहेमि**—नाह मरणाद्बिभेमि । अलब्धपूर्वं जिनवचन सुभाषित अमृतभूत लब्ध मया सुगतिमार्गश्च गृहीतोऽत नाह मरणाद्बिभेमीति ॥९९॥

*अतश्च—

सयत होना' यह मेरी दूसरी अवस्था है। अथवा श्रमण—समता भाव मे मेरा मैत्रीभाव है यह प्रथम है और सभी सयतो—मुनियो मे मेरा मैत्रीभाव है यह दूसरी अवस्था है। अभिप्राय यह है कि प्रथम तो मै सुख-दु ख आदि मे समान भाव को धारण करनेवाला हूँ और दूसरी बात यह है कि मै सभी जगह सयत—सयमपूर्ण प्रवृत्ति करनेवाला हूं इसलिए सभी अयोग्य कार्य या वस्तु का मै त्याग करता हूँ यह मेरा सक्षिप्त कथन है। इस प्रकार से वचनो द्वारा क्षपक सक्षेप से आलोचना करता है।

पुनरपि क्षपक अपने परिणामो की दृढता को दिखलाता है—

गाथार्थ—जिनको पहले कभी नही प्राप्त किया था ऐसे अलब्धपूर्व, अमृतमय, जिन-वचन सुभाषित को मैने अब प्राप्त किया है। अब मैने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है। इसलिए अब मै मरण से नही डरता हूँ ॥९९॥

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव के वचन प्रमाण और नयो से अविरुद्ध होने से सुभाषित है और सुख के हेतु होने से अमृतभूत है। ऐसे इन वचनो को मैन पहले कभी नही प्राप्त किया था। अब इनको प्राप्त करके मैने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है। अर्थात् जिनदेव की आज्ञा-नुसार मैंने सयम को धारण करके मोक्ष के मार्ग मे चलना शुरू कर दिया है। अब मैं मरण से नही डरूँगा।

क्योकि—

१-२ क सुहासि° ।

*फलटन से प्रकाशित प्रति की गाथा मे निम्न प्रकार से अन्तर है—

धीरेण वि मरिदव्वं णिव्वीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
अवि दोंहि वि हि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥९६॥

**धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
जदि दोहि वि मरिदव्वं वरं[1] हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥१००॥**

धीरेण वि—धीरणापि सत्त्वाधिकेनापि । **मरियव्व**—मर्तव्य प्राणत्याग कर्तव्य । **णिद्धीरेण वि**—निर्धैर्येणापि धैर्यरहितेनापि कातरेणापि भीतेनापि । **अवस्स**—अवश्य निश्चयन । **मरिदव्व**—मर्तव्य । **जइ-दोहि वि**—यदि द्वाभ्यामपि । **मरिदव्व**—मर्तव्य भवान्तर गन्तव्य विशेषाभावात् । **वरं**—श्रेष्ठ । **हि**—स्फुट । **धीरत्तणेण**—धीरत्वन सक्लेशरहितत्वेन । **मरिदव्व**—मर्तव्य । यदि द्वाभ्यामपि धैर्याधैर्योपेताभ्या प्राणत्याग कर्तव्यो निश्चयेन ततो विशेषाभावात् धीरत्वेन मरण श्रेष्ठमिति ॥१००॥

क्षुधादिपीडितस्य यदि शीलविनाशे कश्चिद्विशेषो विद्यतेऽजरामरणत्व यावता हि—

**सीलेणवि मरिदव्वं णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं ।
जइ दोहि वि मरियव्वं वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं ॥१०१॥**

यदि द्वाभ्यामपि शीलनि शीलाभ्या[2] मर्तव्य अवश्य वर शीलत्वेन शीलयुक्तेन मर्तव्यमिति । व्रत-परिरक्षण शील यदि सुशीलनि शीलाभ्या निश्चयेन मर्तव्य शीलेनैव मर्तव्यम् ॥१०१॥

अत्र कि कृतो नियम ? इत्याह—

गाथार्थ—धीर को भी मरना पडता है और निश्चित रूप मे धैर्य रहित जीव को भी मरना पडता है । यदि दोनो को मरना ही पडता है तब तो धीरता सहित होकर ही मरना अच्छा है ॥१००॥

आचारवृत्ति—सत्त्व अधिक जिसमे है ऐसे धीर वीर को भी प्राणत्याग करना पड़ता है और जो धैर्य से रहित कायर है—डरपोक है, निश्चित रूप से उन्हे भी मरना पडता है । यदि दोनो को मरना ही पडता है, उसमे कोई अन्तर नही है तब तो धीरतापूर्वक—सक्लेश रहित होकर ही प्राणत्याग करना श्रेष्ठ है ।

क्षुधादि से पीड़ित हुए क्षपक के यदि शील के विनाश मे कोई अन्तर हो तो अजर-अमरपने का विचार करना चाहिए—

गाथार्थ—शीलयुक्त को भी मरना पडता है और शील रहित को भी मरना पड़ता है यदि दोनों को ही मरना पडता है तब तो शील सहित होकर ही मरना श्रेष्ठ है ॥१०१।

आचारवृत्ति—व्रतो का सब तरफ से रक्षण करनेवालो को शील कहते है । यदि शील सहित और शीलरहित इन दोनो को भी निश्चितरूप से मरना पडता है तब तो शीलसहित रहते हुए ही मरना अच्छा है ।

यहाँ यह नियम क्यो किया है ? ऐसा पूछने पर कहते है—

---

१. क वर खु धीरेण । २ क 'भ्या निश्चयेन मर्तव्य वर' ।

चिरउसिदबंभयारी पप्फोडेदूण सेसयं कम्मं ।
अणुपुव्वीय विसुद्धो सुद्धो सिद्धिं गदिं जादि ॥१०२॥

चिरउसिद—चिर बहुकाल उषित स्थित । **बंभयारी**—ब्रह्म मैथुनानभिलाष चरति सेवत इति ब्रह्मचारी चिरोषितश्च स ब्रह्मचारी च चिरोषितब्रह्मचारी । अथवा चिरोषित ब्रह्म चरतीति । **पप्फोडेदूण**—प्रस्फोट्य निराकृत्य । **सेसयं कम्मं**—शेष च कर्म ज्ञानावरणादि । **अणुपुव्वीय**—आनुपूर्व्या च क्रमपरिपाट्या अथवायु.क्षयाद्गुणस्थानक्रमेण वा । **विसुद्धो**—विशुद्ध कर्मकलकरहित । **सुद्धो**—शुद्ध केवलज्ञानादियुक्तः । **सिद्धिं गदिं जादि**—सिद्धि गति याति मोक्ष प्राप्नोतीत्यर्थ । अभग्नब्रह्मचारी शेषक कर्म प्रस्फोट्य, असख्यात-गुणश्रेणिकर्मनिर्जरया च विशुद्ध सजातस्तत· शुद्धोभूत्वा सिद्धि गति याति । अथवा अपूर्वापूर्वपरिणाम-सन्तत्या च विशुद्ध शुद्ध केवलोपेत केवलज्ञान प्राप्य परमस्थान गच्छतीति ॥१०२॥

अथ आराधनोपाय कथित , आराधकश्च कि विशिष्टो भवतीत्याह—

गाथार्थ—चिरकाल तक ब्रह्मचर्य का उपासक साधु शेष कर्म को दूर करके क्रम-क्रम से विशुद्ध होता हुआ शुद्ध होकर सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है ॥१०२॥

आचारवृत्ति—जो बहुत काल तक मैथुन की अभिलाषा के त्यागरूप ब्रह्मचर्य मे स्थित रहे है । अथवा जिन्होने चिरकाल तक ब्रह्म—आत्मा का आचरण—सेवन किया है । वे चिरकालीन ब्रह्मचारी साधु ज्ञानावरण आदि शेष कर्मो का प्रस्फोटन करके क्रम की परिपाटी अथवा आयु के क्षय से या गुणस्थानों के क्रम से विशुद्धि को वृद्धिगत करते हुए—कर्मकलक रहित होते हुए केवलज्ञान आदि गुणो से युक्त होकर पूर्ण शुद्ध हो जाते है । पुन. मोक्ष को प्राप्त कर लेते है । अथवा जिनका ब्रह्मचर्य कभी भग नही हुआ है ऐसे अखण्ड ब्रह्मचारी महासाधु उसके अनन्तर बचे हुए शेष कर्मो को दूर करके पुन असख्यातगुण श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होने से विशुद्ध हो जाते हैं । पुन· पूर्ण शुद्ध होकर सिद्धगति को प्राप्त कर लेते है । अथवा अपूर्व-अपूर्व परिणामो की सन्तति-परम्परा से विशुद्धि को प्राप्त होते हुए पूर्ण शुद्ध होकर केवलज्ञान को प्राप्त करके परमस्थान प्राप्त कर लेते है ।

भावार्थ—वह क्षपक दीर्घकाल तक अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन करने से स्वय बहुत से कर्मो की सवर निर्जरा कर चुका है । अनन्तर इस समय बचे हुए ज्ञानावरण आदि कर्मो का नाश करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है अर्थात् यदि वह क्षपक चरम शरीरी है तो वह उसी भव में श्रेणी पर आरोहण कर अपूर्वकरण गुणस्थान मे अपूर्व-अपूर्व परिणामो को प्राप्त करके आगे असख्यात गुणित रूप से कर्मो की मिर्जरा करता हुआ केवली होकर फिर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है । यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि आयु के क्षय के साथ-साथ शेष अघाति को भी समाप्त कर देता है ।

यहाँ तक आराधना के उपाय कहे गये है, अब आराधक कैसा होता है, सो बताते हैं—

णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो ।
अणिदाणो दिठिसपण्णो मरंतो आराहओ होइ ।।१०३।।

णिम्ममो—निर्मम निर्मोह । **णिरहंकारो**—अहकारान्निर्गत गर्वरहित । **णिक्कसाओ**—निष्कषाय क्रोधादिरहित । **जिदिंदिओ**—जितेन्द्रिय नियमितपचेन्द्रिय । **धीरो**—धीर सत्त्ववीर्यसम्पन्न । **अणिदाणो**—अनिदान. अनाकाक्ष । **दिट्ठिसपण्णो**—दृष्टिसम्पन्न[1] सम्यग्दर्शनसप्राप्त । **मरंतो**—म्रियमाण । **आराहओ**—आराधक । **होइ**—भवति । निर्मोहो निर्गर्व निक्रोधादिर्जितेन्द्रियो धीरोऽनिदानो दृष्टिसपन्नो म्रियमाण आराधको भवतीति ।।१०३।।

कुत एतदित्याह—

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो ।
ससारभयभीदस्स पच्चक्खाण सुहं हवे ।।१०४।।

णिक्कसायस्स—निष्कषायस्य कषायरहितस्य । **दंतस्स**—दान्तस्य दान्तेन्द्रियस्य । **सूरस्स**—शूरस्याकातरस्य । **ववसाइणो**—व्यवसायो विद्यतेऽस्येति व्यवसायी तस्य चारित्रानुष्ठानपरस्य । **संसारभयभीदस्स**—ससारभयभीतस्य ससाराद्भय तस्माद्भीतस्त्रस्त ससारभयभीत तस्य ज्ञातचतुर्गतिदु खस्वरूपस्य । **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यान आराधना । **सुह**—सुख सुखनिमित्त । **हवे**—भवेत् । यतो निष्कषायस्य, दान्तस्य, शूरस्य, व्यवसायिन, ससारभयभीतस्य, प्रत्याख्यान सुखनिमित्त भवेत्तत तथाभूतो म्रियमाण आराधको भवतीति सम्बन्ध ।। ०४।।

गाथार्थ—जो ममत्वरहित, अहकाररहित, कषायरहित, जितेन्द्रिय, धीर, निदानरहित और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह मरण करता हुआ आराधक होता है ।।१०३।।

आचारवृत्ति—जो निर्मोह है, गर्व रहित है, क्रोधादि कषायो से रहित है, पचेन्द्रिय को नियन्त्रित कर चुके है, सत्त्व और वीर्य से सम्पन्न होने से धीर है, सासारिक सुखो की आकाक्षा से रहित है और सम्यग्दर्शन से सहित है वे मरण करते हुए आराधक माने गये है ।

ऐसा क्यो ? इसका उत्तर देते है—

गाथार्थ—जो कषाय रहित है, इन्द्रियो का दमन करनेवाला है, शूर है, पुरुषार्थी है और ससार से भयभीत है उसके सुखपूर्वक प्रत्याख्यान होता है ।।१०४।।

आचारवृत्ति—जो कषाय रहित है अर्थात् जिनकी सज्वलन कषाये भी मन्द है, जो इन्द्रियो के निग्रह मे कुशल है, शूर है अर्थात् कायर नही है, व्यवसाय जिनके है वे व्यवसायी है अर्थात् चारित्र के अनुष्ठान मे तत्पर है, चतुर्गतिरूप ससार के दु खो का स्वरूप जानकर जो उससे त्रस्त हो चुके है ऐसे साधु के प्रत्याख्यान—मरण के समय शरीर-आहार आदि का त्याग सुखपूर्वक अथवा सुखनिमित्तक होता है । इसी हेतु से वे साधु सल्लेखना-मरण करते हुए आराधक हो जाते है ।

---

१. क दृष्टि सम्यग्दर्शनसम्पन्न. सप्राप्त ।

उपसंहारद्वारेणाराधनाफलमाह—

एवं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि ।
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥१०५॥

एवं—एतत् । **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यान । **जो काहदि**—य कुर्यात् । **मरणदेसयालम्मि**—मरणदेशकाले । **धीरो**—धैर्योपेत । **अमूढसण्णो**—अमूढसज्ञ आहारादिसज्ञास्वलुब्ध । **सो**—स । **गच्छदि**—गच्छति । **उत्तमं ठाणं**—उत्तम स्थान निर्वाणमित्यर्थ । मरणदेशकाले एतत्प्रत्याख्यान य कुर्यात् धीरोऽमूढसज्ञश्च स गच्छत्युत्तम स्थानमिति ॥१०५॥

अवसानमगलार्थं क्षपकसमाध्यर्थं चाह—

वीरो जरमरणरिऊ वीरो विण्णाणणाणसंपण्णो ।
लोगस्सुज्जोययरो जिणवरचंदो दिसदु बोधिं ॥१०६॥

वीरो—वर्धमानभट्टारकः । **जरमरणरिऊ**—जरामरणरिपु । **विण्णाणणाणसंपण्णो**—विज्ञान चारित्र, ज्ञानमवबोधस्ताभ्या सम्पन्नो युक्त । **वीरो**—वीर. । **लोगस्स**—लोकस्य भव्यजनस्य पदार्थाना वा । **उज्जोययरो**—उद्योतकर प्रकाशकर । **जिणवरचंदो**—जिनवरचन्द्र । **दिसदु**—दिशतु ददातु । **बोधि**—समाधि सम्यक्त्वपूर्वकाचरणं वा। जिनवरचन्द्रो जरामरणशत्रु चारित्रज्ञानादिसयुक्तो लोकस्य चोद्योतकरो वीरो मह्य दिशतु बोधिमिति सम्बन्ध ॥१०६॥

किंचिदपि निदान न कर्तव्य, कर्तव्य चेत्याह—

अब उपसहार द्वारा आराधना का फल कहते है—

गाथार्थ—जो धीर और सज्ञाओ मे मूढ न होता हुआ साधु मरण के समय इस उपयुक्त प्रत्याख्यान को करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥१०५॥

आचारवृत्ति—धैर्यवान्, आहार, भय आदि सज्ञाओ मे लम्पटता रहित जो साधु मरण के समय उपर्युक्त प्रत्याख्यान को करते है वे उत्तम अर्थात् निर्वाण स्थान को प्राप्त कर लेते है ।

अब अन्तिम मगल और क्षपक की समाधि के लिए कहते है—

गाथार्थ—वीर भगवान् जरा और मरण के रिपु है, वीर भगवान् विज्ञान और ज्ञान से सम्पन्न हैं, लोक के उद्योत करनेवाले है। ऐसे जिनवर चन्द्र—वीर भगवान् मुझे बोधि प्रदान करे ॥१०६॥

आचारवृत्ति—विज्ञान को चारित्र और ज्ञान को बोध कहा हैं । अर्थात् विशेष ज्ञान भेद विज्ञान है । वह सराग और वीतराग चारित्रपूर्वक होता है अत. जो यथाख्यात चारित्र और केवलज्ञान आदि से परिपूर्ण है, जरा और मरण को नष्ट करनेवाले है, लोक अर्थात् भव्य जीव के लिए प्रकाश करनेवाले है अथवा पदार्थों के प्रकाशक हैं ऐसे वर्धमान भगवान् मुझे बोधि-समाधि अथवा सम्यक् सहित आचरण को प्रदान करे ।

क्या किंचित् भी निदान नही करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि कुछ निदान कर भी सकते हैं—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी ।
जा गदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ।।१०७।।

जा गदी--या गति । **अरहंताणं**—अर्हता । **णिट्ठिदट्ठाणं च**—निष्ठितार्थाना च या गति. सिद्धानामित्यर्थ । **जा गदी**—या गति । **वीदमोहाणं**—वीतमोहाना क्षीणकषायाणा । **सा मे भवदु**—सा मे भवतु । **सस्सदा**—शश्वत् सर्वदा । अर्हता या गति , या च निष्ठितार्थाना वीतमोहाना च या, सा मे भवतु सर्वदा नान्यत् किंचिद्याचेऽहमिति । नात्र पुनरुक्तादयो दोषा पर्यायार्थिकशिष्यप्रतिपादनात् तत्कालयोग्यकथनाच्च । नापि विभक्त्यादीना व्यत्यय प्राकृतलक्षणेन सिद्धत्वात् । छन्दोभगोऽपि न चात्र गाथाविगाथाश्लोकादिसग्रहात्, तेषा चात्र प्रपचो न कृत ग्रन्थबाहुल्यभयात् सक्षेपेणार्थकथनाच्चेति ।।१०७।।

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां द्वितीयः परिच्छेदः ।

गाथार्थ—अर्हन्त देव की जो गति हुई है और कृतकृत्य--सिद्धों की जो गति हुई है तथा मोहरहित जीवो की जो गति हुई है वही गति सदा के लिए मेरी होवे ।।१०७।।

आचारवृत्ति—हे भगवन्, जो गति अर्हन्तो की, सिद्धो की और क्षीणकषायी जीवो की होती है वही गति मेरी हमेशा होवे, और मै कुछ भी आपसे नही माँगता हूँ ।

इस अधिकार मे पुनरुक्ति आदि दोष नही ग्रहण करना चाहिए क्योकि पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यो को समझाने के लिए और तत्काल--उसकाल के योग्य कथन को कहने के लिए ही पुन पुन एक बात कही गयी है। विभक्ति आदि का विपर्यय भी इसमे नही लेना क्योकि प्राकृत व्याकरण से ये पद सिद्ध हो जाते है । छदभग दोष भी यहाँ नही समझना क्योकि गाथा, विगाथा और श्लोक आदि का सग्रह किया गया है । ग्रन्थ के विस्तृत हो जाने के भय से और सक्षेप से ही अर्थ को कहने की भावना होने से यहाँ इन गाथाओ के अर्थ का अधिक विस्तार से विवेचन नही किया गया है । अर्थात् मैने (टीकाकार वसुनन्दि ने) टीका मे मात्र उन्ही शब्दो का ही अर्थ खोला है किन्तु विशेष अर्थ का विवेचन नही किया है अन्यथा ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाता । और दूसरी बात यह भी है कि हमे सक्षेप से ही अर्थ कहना था ।

इस प्रकार श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार की श्री वसुनन्दि
आचार्य द्वारा विरचित 'आचारवृत्ति' नामक टीका मे
द्वितीय परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

३. अथ संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकारः

बृहत्प्रत्याख्यानं व्याख्यातमिदानी यदि भृशमाकस्मिक सिंहव्याघ्राग्निव्याध्यादिनिमित्त मरणमुपस्थित स्यात् तत्र कस्मिन् ग्रन्थे भावना क्रियते इति पृष्टे तदवस्थाया यद्योग्य सक्षेपतर प्रत्याख्यानं तदर्थं तृतीयमधिकारमाह—

एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेंसि ।।१०८।।

एस—एष आत्मन. प्रत्यक्षवचनमेतत् एषोऽह अतिसक्षेपरूपप्रत्याख्यानकथनोद्यत एव च कृत्वा नात्र संग्रहवाक्य कृत सामर्थ्यलब्धत्वात् तस्येति । **करेमि**—करोमि कुर्वे वा । **पणामं**—प्रणाम स्तुति । **जिणवरवसहस्स**—जिनाना वराः प्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तास्तेषा वृषभ प्रधान सयोगी अयोगी सिद्धो वा तस्य जिनवरवृषभस्य । **वड्ढमाणस्स**—वर्धमानस्य । **सेसाणं च**—शेषाणा च । **जिणाणं**—जिनाना सर्वेषा च । **सगणगणधराणं च**—सह गणेन यतिमुन्यृष्यनगारकदम्बकेन वर्तंते इति सगणास्ते च ते गणधराश्च सगणगणधराः तेषा च श्रीगौतमप्रभृतीना च । **सव्वेंसि**—सर्वेषा । एषोह ग्रन्थकरणाभिप्राय, जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य शेषाणा च जिनाना च सर्वेषा च सगणगणधराणा च प्रणाम कुर्वे अथवा सगणगणधराणा जिनाना विशेषण द्रष्टव्यमिति ।।१०८।।

बृहत्प्रत्याख्यान का व्याख्यान कर चुके हैं। अब यदि पुन सिंह, व्याघ्र, अग्नि या रोग आदि के निमित्त से आकस्मिक मरण उपस्थित हो जाए तो उस समय किस ग्रन्थ में भावना करनी चाहिए ? ऐसा शिष्य के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उस अवस्था मे जो संक्षेपतर—संक्षेप से भी संक्षेप प्रत्याख्यान उचित है उसे बतलाने के लिए आचार्य तीसरा अधिकार कहते हैं—

गाथार्थ—यह मै जिनवर में प्रधान ऐसे वर्धमान भगवान् को, शेष सभी तीर्थंकरों को और गणसहित सभी गणधर देवों को प्रणाम करता हूँ ।।१०८।।

आचारवृत्ति—यहाँ 'एष.' शब्द स्वय को प्रत्यक्ष कहनेवाला है अर्थात् संक्षप रूप से प्रत्याख्यान को कहने में उद्यत हुआ यह मैं—वट्टकेर आचार्य भगवान् महावीर आदि को नमस्कार करता हूँ। 'एषः' शब्द मात्र रख देने से यहाँ संग्रह वाक्य को नही लिया है क्योकि वह अर्थापत्ति से ही आ जाता है। अर्थात् मैंने पहले बृहत्प्रत्याख्यान का निरूपण किया है सो ही मैं अब संक्षेप प्रत्याख्यान को कहूँगा ऐसा 'एष.' पद से जाना जाता है।

जिन—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि में जो वर—श्रेष्ठ हैं ऐसे प्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त मुनि होते हैं। अर्थात् छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनि जिनवर हैं

नमस्कारानन्तरमुररीकृतस्यार्थस्य प्रकटनार्थमाह—

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि अलीयवयणं च।
सव्वमदत्तादाणं मेहुणपरिग्गहं चेव ॥१०६॥

प्रथम तावत् व्रतशुद्धि करोमीति। **सव्वं पाणारंभं**—सर्व निरवशेष प्राणारम्भ हिंसा। **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यामि त्यजामि। **अलीयवयणं च**—व्यलीकवचन च मिथ्यावाद च। **सव्वं**—सर्वं। **अदत्तादाणं**—अदत्तादान। **मेहुण**—मैथुन। **परिग्गहं चेव**—परिग्रह चैव। प्राणारम्भ, मिथ्यावचन, अदत्तादान, मैथुनपरिग्रहौ च प्रत्याख्यामीति ॥१०६॥

उनमे जो वृषभ—प्रधान है वे सयोग केवली, अयोग केवली अथवा सिद्ध परमेष्ठी **जिनवर वृषभ** कहलाते है। वर्धमान भगवान् जिनवर वृषभ है, शेष जिनो मे तेईस तीर्थकर अथवा समस्त अर्हन्त परमेष्ठी आ जाते है। ऋषि, मुनि, यति और अनगार इनके समूह का नाम गण है। गणों से सहित गणधरदेव सगण गणधर कहलाते है। अर्थात् श्री गौतमस्वामी आदि गणसहित गणधर हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ग्रन्थ के करने के अभिप्रायवाला यह मै जिनवरो मे प्रधान वर्धमान भगवान् को, शेष सभी जिनेश्वरो को और अपने-अपने गणसहित सभी गणधरो को प्रणाम करता हूँ। अथवा गण और गणधरो सहित सभी जिनेश्वरो को मै नमस्कार करता हूँ—ऐसा भी अभिप्राय समझना चाहिए। इस अर्थ मे 'सगण गणधर' यह विशेषण जिनेन्द्र का ही कर दिया गया है।

विशेषार्थ—'हरिवशपुराण' मे भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरो के गणो की सख्या पृथक्-पृथक् बतलायी गयी है। पुन सभी सख्या जोडकर ही भगवान् के समवसरण के मुनियो की सख्या निर्धारित की गयी है। यथा 'भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण मे इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर थे। उनमे मे प्रथम गणधर इन्द्रभूति पुन द्वितीयादि गणधर अग्निभूति, वायुभूति, शुचिदत्त, सुधर्म, माडव्य, मौर्यपुत्र, अकपन, अचल, मेदार्य और प्रभास इन नाम वाले थे। इनमे मे प्रारम्भ के पाँच गणधरो की गण अर्थात् शिष्य-सख्या, प्रत्येक की दो हजार एक सौ तीस, उसके आगे छठवे और मातवे गणधर की गणसख्या प्रत्येक की चार सौ पच्चीस, तदनन्तर शेष चार गणधरो की गणसख्या प्रत्येक की छह सौ पच्चीस, इस प्रकार ग्यारह गणधरों की शिष्य-सख्या चौदह हजार थी। इन चौदह हजार शिष्यो मे से तीन सौ मुनि पूर्वे के धारी, नौ सौ विक्रियाऋद्धि के धारक, तेरह सौ अवधिज्ञानी, सात सौ केवलज्ञानी, पाँच सौ विपुलमति मन पर्यय ज्ञान के धारक, चार सौ परवादियो के जीतनेवाले वादी और नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे। इस प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव भगवान् महावीर का, ग्यारह गणधरो मे सहित चौदह हजार मुनियो का सघ नदियो के प्रवाह से सहित समुद्र के समान सुशोभित हो रहा था।' (हरिवश पुराण, सर्ग ३, श्लोक ४१-५०)

नमस्कार के अनन्तर स्वीकृत किये अर्थ को प्रकट करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—सम्पूर्ण प्राणिहिसा को, असत्य वचन को, सम्पूर्ण अदत्त ग्रहण और मैथुन तथा परिग्रह को भी मैं छोडता हूँ ॥१०६॥

टीका का अर्थ सरल है।

सामायिकव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणइ।
आसाए वोसरित्ताणं समाधि पडिवज्जए ॥११०॥

सम्म—समस्य भाव साम्य। **मे**—मम। **सव्वभूदेसु**—सर्वभूतेषु निरवशेषजीवेषु। **वेरं**—वैरं। **मज्झ**—मम। **ण केणइ**—न केनापि। **आसाए**—आशा आकाक्षा। **वोसरित्ताणं**—व्युत्सृज्य। **समाहि**—समाधि शुभपरिणाम। **पडिवज्जए**—प्रतिपद्ये। यत साम्य मम सर्वभूतेषु वैर मम न केनाप्यत आशा व्युत्सृज्य समाधि प्रतिपद्ये इति ॥११०॥

पुनरपि परिणामशुद्ध्यर्थमाह—

सव्वं आहारविहिं सण्णाओ आसए कसाए य।
सव्वं चेव ममत्तिं जहामि सव्वं खमावेमि ॥१११॥

सर्वमाहारविधि अशनपानादिक सज्ञाश्चाहारादिका आशा इहलोकाद्याकाक्षा कषायाश्च सर्व चैव ममत्व **जहामि** त्यजामि सर्व जन क्षामयामीति।

द्विविधप्रत्याख्यानार्थमाह—

एदम्हि देशयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं।
एद पच्चक्खाणं णित्थिण्णे पारणा हुज्ज ॥११२॥

एदम्हि—एतस्मिन्। **देसयाले**—देशकाले। **उवक्कमो**—उपक्रम प्रवर्तन अस्तित्व। **जीविदस्स**—

सामायिकव्रत के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते है—

गाथार्थ—सभी प्राणियो मे मेरा साम्यभाव है। किसी के साथ भी मेरा वैर नही है, मैं सम्पूर्ण आकाक्षाओ को छोडकर शुभ परिणाम रूप समाधि को प्राप्त करता हूँ ॥११०॥

इसकी टीका सरल है।

पुनरपि परिणाम की शुद्धि के लिए कहते है—

गाथार्थ—सर्व आहार विधि को, आहार आदि सज्ञाओ को, आकाक्षाओ और कषायों को तथा सम्पूर्ण ममत्व को भी मै छोड़ता हूँ तथा सभी से क्षमा कराता हूँ ॥१११॥

आचारवृत्ति—अशन, पान आदि सम्पूर्ण आहारविधि को, आहार भय आदि सज्ञाओ को, इस लोक तथा पर लोक आदि की आकाक्षा रूप सभी आशाओ को, कषायो को और सम्पूर्ण ममत्व को मै छोडता हूँ तथा सभी जनो से मैं क्षमा कराता हूँ।

दो प्रकार के प्रत्याख्यान बताते हुए कहते है—

गाथार्थ—यदि मेरा इस देश या काल में जीवन रहेगा तो इस प्रत्याख्यान की समाप्ति करके मेरी पारणा होगी ॥११२॥

आचारवृत्ति—इस देश-काल में उपसर्ग के प्रसंग में यदि मेरा जीवन नही रहेगा तो

जीवितस्य । जइ मज्झं—यदि मम । **एवं**—एतत् । **पच्चक्खाणं**—प्रत्याख्यान । **णित्थिण्णे**—निस्तीर्णे समाप्ति गते । **पारणा**— आहारग्रहण । **हुज्ज**—भवेत् । एतस्मिन् देशकाले सोपसर्गेऽभिप्रेते वा मध्ये यदि जीवितव्य नास्ति चतुर्विधाहारस्यैतत्प्रत्याख्यान मम भवेत तस्मिस्तु देशकाले निम्तीर्णे जीवितव्यस्योपक्रमे च सति पारणा भवेदिति सन्देहावस्थायामेतत् ।

निश्चयावस्थाया तु पुनरेतदित्याह—

सव्वं आहारविहिं पच्चक्खामि पाणयं वज्ज ।
उवहिं च वोसरामि य दुविहं तिविहेण सावज्जं ॥११३॥

सव्वं—सर्व निरवशेप। **आहारविहिं**—भोजनविधि। **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यामि। **पाणयं वज्ज**—पानक वर्जयित्वा । **उवहिं च**—उपधि च । **वोसरामि य**—व्युत्सृजामि च । **दुविहं**—द्विविध बाह्याभ्यन्तरलक्षण । **तिविहेण**—त्रिविधेन मनोवचनकायेन । **सावज्जं**—सावद्य पापकारण । पानक वर्जयित्वा सर्वमाहारविधि प्रत्याख्यामि, बाह्याभ्यन्तरोपधि च व्युत्सृजामि द्विविध त्रिविधेन सावद्य च यदिति ॥११३॥

उत्तमार्थमाह—

जो कोइ मज्झ उवही सब्भतरवाहिरो य हवे ।
आहारं च सरीरं जावज्जीवा य वोसरे ॥११४॥

जो कोइ—य कश्चित् । **मज्झ उवही**—ममोपधि परिग्रह । **सब्भतरवाहिरो य**—साभ्यन्तरबाह्यश्च । **हवे**—भवत् । त सर्व । **आहार च**—चतुर्विकल्पभोजन शरीर च । **जावज्जीवा य**—जीव जीवितव्यमनतिक्रम्य यावज्जीव यावच्छरीर मम जीव इत्यर्थ । **वोसरे**—व्युत्सृजे । य कश्चित् मम सबाह्याभ्यन्तरोपधिर्भवेत् त आहार शरीर च यावज्जीव व्युत्सृजेदित्यर्थ ॥११४॥

आगमस्य माहात्म्य दृष्ट्वोत्पन्नहर्षो नमस्कारमाह—

मेरे यह चतुर्विध आहार का त्याग है और यदि उस देश काल मे उपसर्ग आदि का निवारण हो जाने पर जीवन का अस्तित्व रहता है तो मै आहार ग्रहण करूँगा। जीवित रहने का जब सन्देह रहता है तब साधु इस प्रकार से प्रत्याख्यान ग्रहण करते है।

और जब मरण होने का निश्चय हो जाता है तो पुन क्या करना चाहिए ?—

गाथार्थ—पेय पदार्थ को छोडकर सम्पूर्ण आहारविधि का मै त्याग करता हूँ और मन-वचन-कायपूर्वक दोनो प्रकार की उपाधि का भी त्याग करता हूँ ॥११३॥

टीका-अर्थ सरल है।

अब उत्तमार्थ विधि को कहते है—

गाथार्थ—जो कुछ भी मेरा अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह है उसको तथा आहार और शरीर को मै जीवनभर के लिए छोडता हूँ ॥११४॥

टीका-अर्थ सरल है।

अब आगम के माहात्म्य को देखकर हर्षित चित्त होते हुए नमस्कार करते है—

जम्मालीणा जीवा तरंति संसारसायरमणतं ।
तं सव्वजीवसरण णंददु जिणसासणं सुइरं ॥११५॥

जं—यत् । आलीणा—आलीना आश्रिता । जीवा—प्राणिनः । तरंति—प्लवते पार गच्छंति । संसारसायरं—ससरण ससारः स एव सागरः समुद्रः ससारसागरस्त । अणंत—न विद्यतेऽन्तो यस्यासौ अनन्तस्त अपर्यन्त । तं—तत् । सव्वजीवसरण—सर्वे च ते जीवाश्च सर्वजीवास्तेषा शरण सर्वजीवशरणं । णंददु—नन्दतु वृद्धि गच्छतु । जिणसासण—जिनशासन । सुइरं—सुचिर सर्वकाल । यज्जिनशासनमाश्रिता जीवाः ससारसागर तरन्ति तत्सर्वजीवशरण नन्दतु सर्वकाल, यदनुष्ठानान्मुक्तिर्भवति तस्यैव नमस्कारकरण योग्यमिति ॥११५॥

आराधनाफलार्थमाह—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी ।
जा गदी वीदमोहाण सा मे भवदु सस्सदा[1] ॥११६॥

व्याख्यातार्था गाथेय । अर्हता च या गति. निष्ठितार्थाना वीतमोहाना च या गतिः सा मे भवतु सर्वदा नान्यद्याचेऽहमिति ।

सर्वसगपरित्याग कृत्वा, चतुर्विधाहार च परित्यज्य जिन हृदये कृत्वा किमर्थं म्रियते चेदतः प्राह—

एग पंडियमरण छिंदइ जाईसयाणि बहुगाणि ॥
त मरण मरिदव्व जेण मद सुम्मद होदि ॥११७॥

गाथार्थ—जिसका आश्रय लेकर जीव अनन्त ससार-समुद्र को पार कर लेते है, सभी जीवो का शरणभूत वह जिन शासन चिरकाल तक वृद्धिगत होवे ॥११५॥

आचारवृत्ति—ससरण का नाम ससार है। वह ससार ही एक समुद्र है और उसका अन्त—पार न होने से वह अनन्त है अर्थात् सर्वज्ञ देव के केवलज्ञान का ही विषय है। जिस जिन-शासन के आश्रय लेनेवाले जीव ऐसे अनन्त ससार-समुद्र को भी पार कर जाते हैं वह सभी जीवो को शरण देनेवाला जिनेन्द्रदेव का शासन हमेशा वृद्धि को प्राप्त होता रहे। अर्थात् जिसके अनुष्ठान से मुक्ति होती है उसीको नमस्कार करना योग्य है ऐसा यहाँ अभिप्राय है।

अब आराधना का फल बताते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—अर्हन्तों की जो गति है और सिद्धों की जो गति है तथा वीतमोह जीवों की जो गति है वही गति मेरी सदा होवे ॥११६॥

सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके तथा चार प्रकार के आहार को भी छोड़कर जिनेन्द्रदेव को हृदय में धारण करके ही क्यों मरण करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक ही पण्डितमरण बहुविध सौ-सौ जन्मों को समाप्त कर देता है।

---

१. यह गाथा इसी ग्रन्थ में क्रमांक १०७ पर आ चुकी है।

इयं[1] च व्याख्यातार्था गाथेति । यत एकं पंडितमरणं जातिशतानि बहूनि छिनत्ति येन च मरणेन न पुर्नाम्रियते किन्तु सुमृतं भवति पुनर्नोत्पद्यते तन्मरणमनुष्ठेयमिति ।

मरणकाले समाधानार्थमाह—

[2]एगम्हि य भवगहणे समाहिमरणं लहिज्ज जदि जीवो ।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि ।।११८।।

एकस्मिन् भवग्रहणं समाधिमरणं यदि लभते जीवस्तत सप्ताष्टभवग्रहणेषु व्यतीतेषु निश्चयेन निर्वाणमनुत्तरं लभते यतस्तत समाधिमरणमनुष्ठीयते इति । शरीरे सति जन्मादीनि दुःखानि यतस्ततः सुमरणेन शरीरत्यागः कर्तव्य ।

कानि जन्मादीनि दुःखानीत्याह—

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं ।
जम्मणमरणादंकं छिंदि ममत्तिं सरीरादो ।।११९।।

मरणसम—मृत्युसदृशं भयं जीवस्य नान्यत्, जन्मनोत्पत्त्या समकं च दुःखं च न विद्यते । यतोऽतो

इसलिए ऐसा मरण प्राप्त करना चाहिए जिससे मरण सुमरण हो जावे ।।११७।।

आचारवृत्ति—इस गाथा का अर्थ पहले किया जा चुका है । जिस कारण एक पण्डित-मरण अनेक प्रकार के सैकडो भवो को नष्ट कर देता है और जिस मरण के द्वारा मरण प्राप्त करने मे पुन मरण नही होता है किन्तु सुमरण हो जाता है अर्थात् पुन जन्म ही नही होता है उस पण्डितमरण का ही अनुष्ठान करना चाहिए ।

मरणकाल मे समाधानी करते हुए आचार्य कहते है—

गाथार्थ—यदि जीव एक भव मे समाधिमरण को प्राप्त कर लेता है तो वह सात या आठ भव लेकर पुन सर्वश्रेष्ठ निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।।११८।।

आचारवृत्ति—एक भव मे समाधिमरण के लाभ से यह जीव अधिक से अधिक सात या आठ भव मे नियम से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । इसीलिए समाधिमरण का अनुष्ठान करना चाहिए । क्योकि शरीर के होने पर ही जन्म आदि दुःख होते है इसीलिए सुमरण से ही शरीर का त्याग करना चाहिए ।

जन्म आदि दुःख क्या है ? सो बताते है—

गाथार्थ—मरण के समान अन्य कोई भय नही है और जन्म के समान अन्य कोई दुःख नही है अत जन्म-मरण के कष्ट मे निमित्त ऐसे शरीर के ममत्व को छोडो ।।११९।।

आचारवृत्ति—इस जीव के लिए मरण के सदृश तो कोई भयकारी नही है, और जन्म लेते समय के सदृश अन्य कोई दुःख नही है । इसीलिए जन्म तथा मरण के आतंक का छेदन

---

१. यह गाथा इसी ग्रन्थ मे क्रमांक ७७ पर आ चुकी है ।

२. देखें गाथा ९७

जन्ममरणान्तकं। छिंदि—विदारय। शरीरतश्च ममत्वं छिंधि। शरीरे सति यतः सर्वमेतदिति।

त्रीणि प्रतिक्रमणानि आराधनायामुक्तानि तान्यत्रापि संक्षिप्ते काले सम्भवन्तीत्याह—

पढमं सव्वविचार बिदियं तिविहं भवे पडिक्कमणं।
पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवायमुत्तमट्ठं च ॥१२०॥

क्रमप्रतिपादनार्थं चैतत्। **पढमं**—प्रथमं। **सव्वविचारं**—सर्वातिचारस्य तप कालमाश्रित्य दोषविधानस्य। **बिदियं**—द्वितीयं। **तिविहं**—त्रिविधाहारस्य। **भवे**—भवेत्। **पडिक्कमणं**—प्रतिक्रमणं। परिहरणं। **पाणस्स**—पानकस्य। **परिच्चयणं**—परित्यजनं। **यावज्जीवाय**—यावज्जीवं। **उत्तमट्ठं च**—उत्तमार्थं च तन्मोक्षनिमित्तमित्यर्थः। प्रथमं तावत्सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणं, द्वितीयं प्रतिक्रमणं त्रिविधाहारस्य, तृतीयमुत्तमार्थं पानकस्य परित्यजनं यावज्जीवं चेति तस्मिन् काले त्रिविधं प्रतिक्रमणमेव न केवलं किन्तु योगेन्द्रिय-

---

करो और शरीर-ममत्व को भी छोड़ो, क्योंकि शरीर के होने पर ही ये सब जन्म-मरण आदि दुःख है।

*आराधना मे तीन ही प्रतिक्रमण कहे गये है। अकस्मात् होनेवाले मरण के समय सम्भव उन्ही को यहाँ पर भी संक्षिप्त से कहते है—

गाथार्थ—पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है। दूसरा त्रिविध आहारत्याग प्रतिक्रमण है। यावज्जीवन पानक आहार का त्यागना यह उत्तमार्थ नाम का तीसरा प्रतिक्रमण होता है ॥१२०॥

आचारवृत्ति—क्रम को बतलाने के लिए यह गाथा है। दीक्षाकाल का आश्रय लेकर आज तक जो भी दोष हुए है उन्हे सर्वातिचार कहा गया है। सल्लेखना ग्रहण करके यह क्षपक पहले सर्वातिचार प्रतिक्रमण करता है। पुनः तीन प्रकार के आहार का त्याग करना द्वितीय प्रतिक्रमण है और अन्त मे यावज्जीवन मोक्ष के लिए पानक वस्तु का भी त्याग कर देना सो उत्तमार्थ नामक तृतीय प्रतिक्रमण कहलाता है।

अर्थात् प्रथम सर्वातिचार प्रतिक्रमण, द्वितीय त्रिविधाहार का प्रतिक्रमण और तृतीय

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति मे निम्नलिखित गाथा अधिक है—

सव्वो गुणगणणिलओ मोक्खसुहे सिध हेदु।
सव्वो चाउव्वण्णो ममापराधं·· ॥५॥

अर्थ—जब यह आत्मा सर्वगुणो का घर हो जाता है तब वह शीघ्र ही मोक्षसुख का हेतु हो जाता है, उसे रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है। यह चतुर्वर्ण संघ मेरे आज तक हुए अपराधो को क्षमा करे ऐसी प्रार्थना करता है।

नोट—फलटन से प्रकाशित मूलाचार के हिन्दीकार प० जिनदास फडकुले लिखते हैं: हमे जो हस्तलिखित प्रति मिली है उसमे इस गाथा का 'सव्वो गुणगणणिलओ' इतना ही चरण दिया गया है। परन्तु कन्नड़ टीका मे जो और भी गाथा के पद लिखे है उनको जोडकर गाथा पूर्ण करने का प्रयत्न यथामति किया है तो भी गाथा उसके लक्षण के अनुसार नही हुई है।

शरीरकषायाणां च। तत्र त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो योगप्रतिक्रमण, पचेन्द्रियाणा च निग्रह इन्द्रियप्रतिक्रमणं, पंचविधस्य च शरीरस्य च त्याग कृशता वा शरीरप्रतिक्रमण, षोडशविधकषायस्य नवविधस्य च नोकषायस्य निग्रह कृशता कषायप्रतिक्रमण, हस्तपादानां च ॥१२०॥

ननु कषायशरीरसल्लेखना आराधनाया आगमे कथिता, एतेषा पुनर्योगेन्द्रियहस्तपादानां न श्रुता, नैतत्, एतेषा चागमेऽस्तीत्याह—

पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समए ॥१२१॥

पचानामपि इन्द्रियाणा मुण्डन खण्डन स्वविषयव्यापारान्निवर्तन। **वचिमुण्डा**—वचनस्याप्रस्तुत-प्रलापस्य खण्डन। हस्तपादमनसां वाऽप्रशस्तसकोचप्रसारणचिन्तननिवर्तन तत शरीरस्य च मुण्डन एते दश

यावज्जीवन पानक के त्याग रूप उत्तमार्थ प्रतिक्रमण, ये तीन प्रतिक्रमण ही केवल नही हैं किन्तु योग, इन्द्रिय, शरीर और कषाओ के प्रतिक्रमण भी होते है। उनमे से तीन प्रकार के योगों का निग्रह करना योग प्रतिक्रमण है, पाँचो इन्द्रियो का निग्रह करना इन्द्रिय प्रतिक्रमण है, पाँच प्रकार के शरीर का त्याग करना अथवा उन्हे कृश करना शरीर प्रतिक्रमण है, सोलह भेद रूप कषायों और नव नोकषायो का निग्रह करना—उन्हे कृश करना यह कषाय प्रतिक्रमण है। हाथ-पैरो का भी प्रतिक्रमण होता है।

भावार्थ—सल्लेखना करने वाले क्षपक के लिए उपर्युक्त तीन प्रतिक्रमण तो है ही, किन्तु योग इन्द्रिय आदि का निग्रह करना और हाथ-पैरो को उनकी चेष्टाएँ रोककर स्थिर करना ये सब प्रतिक्रमण ही है।

आगम मे, आराधना मे कषाय सल्लेखना और काय सल्लेखना का वर्णन किया है किन्तु इन योग, इन्द्रिय और हस्त-पाद आदि का प्रतिक्रमण तो मैने नही सुना है, शिष्य के द्वारा ऐसी आशका उठाने पर आचार्य कहते है—ऐसी बात नही है। इन योग, इन्द्रिय आदि के प्रतिक्रमण का वर्णन भी आगम मे है, सो ही बताते है—

गाथार्थ—पाँच इन्द्रियमुण्डन, वचनमुण्डन, और शरीरमुण्डन से सहित हस्त, पाद एव मनोमुण्डन ऐसे दश मुण्डन आगम मे कहे गये है ॥१२१॥

आचारवृत्ति—पाँचो ही इन्द्रियों का मुण्डन करना—खडन करना अर्थात् अपने विषयो के व्यापार से उन्हें अलग करना ये पाँच इन्द्रियमुण्डन है। अप्रासगिक प्रलापरूप वचन का खण्डन करना या रोकना वचनमुण्डन है। हस्त और पाद का अप्रशस्त रूप से सकोचन नही करना और न फैलाना ये हस्तमुण्डन और पादमुण्डन है तथा मन को अप्रशस्त चिन्तन से रोकना यह मनोमुण्डन है। ऐसे ही शरीर का मुण्डन है। मुण्डन के ये दश भेद आगम मे कहे गये हैं। इनका व्याख्यान हमने अपनी बुद्धि से नही किया है ऐसा समझना। अथवा इन दश मुण्डनों से मुण्डधारी मुण्डित कहलाते है, न कि अन्य सदोष प्रवृत्तियो से।

भावार्थ—शिर को मुण्डा लेने या केशलोच कर लेने मात्र से ही कोई मुण्डित नही हो

मुण्डा समये वर्णिता यतोऽतो न स्वमनीषया व्याख्यानमेतदिति। अथवा एतैर्मुण्डैर्मुण्डधारी भवति नान्यैः साव-द्यैरिति।

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

जाते हैं जब तक कि इन दश प्रकार के मुण्डन से सहित नही हैं ऐसा अभिप्राय है। इसलिए इन्द्रियों का नियन्त्रण और हाथ-पैर तथा शरीर की अप्रशस्त क्रियाओं का रोकना एवं मन में अशुभ परिणामों का नही होने देना ये सब संयम शिरोमुण्डन के साथ-साथ ही आवश्यक हैं।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार ग्रन्थ की श्री वसुनन्दि
आचार्य कृत 'आचारवृत्ति' नामक टीका मे तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ।

४. सामाचाराधिकारः

एव सक्षेपस्वरूप प्रत्याख्यानमासन्नतममृत्योर्व्याख्याय यस्य पुन सत्यायुषि निरतिचार मूलगुणा निर्वहति तस्य कथं प्रवृत्तिरिति पृष्टे तदर्थं चतुर्थमधिकार सामाचाराख्य नमस्कारपूर्वकमाह—

तेलोक्कपूयणीए अरहते वदिऊण तिविहेण ।
वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीयं ।।१२२।।

तेलोक्कपूयणीए—त्रयाणा लोकाना भवनवासिमनुष्यदेवानां पूजनीया वन्दनीयास्त्रिलोकपूजनीयास्तान् त्रिकालग्रहणार्थमनीयेन निर्देश । **अरहंते**—अर्हंत घातिचतुष्टयजेतॄन् । **वंदिऊण**—वन्दित्वा । **तिविहेण**—त्रिविधेन मनोवचनकायैः । **वोच्छं**—वक्ष्ये । **सामाचारं**—मूलगुणानुरूपमाचार । **समासदो**—समासत सक्षेपेण 'काया.' तस् । **आणुपुव्वीयं**—आनुपूर्व्या अनुक्रमेण । त्रिविध व्याख्यान भवति पूर्वानुपूर्व्या, पश्चादानुपूर्व्या यत्र तत्रानुपूर्व्या च । तत्र पूर्वानुपूर्व्या ख्यापनार्थमानुपूर्वीग्रहण क्षणिकनित्यपक्षनिराकरणार्थं च । वत्वान्तेन

जिनकी मृत्यु अति निकट है ऐसे साधु के लिए सक्षेपस्वरूप प्रत्याख्यान का व्याख्यान करके अब जिनकी आयु अधिक अवशेष है, जो निरतिचार मूलगुणो का निर्वाह करते हैं, उनकी प्रवृत्ति कैसी होती है ? पुन ऐसा प्रश्न करने पर उस प्रवृत्ति को बताने के लिए श्री वट्टकेर आचार्य सामाचार नाम के चतुर्थ अधिकार को नमस्कारपूर्वक कहते है—

गाथार्थ—तीन लोक मे पूज्य अर्हन्त भगवान् को मन-वचन-काय पूर्वक नमस्कार करके अनुक्रम से सक्षेपरूप मे सामाचार को कहूँगा ।।१२२।।

आचारवृत्ति—अधोलोक सम्बन्धी भवनवासी देव, मध्यलोक सम्बन्धी मनुष्य और ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी देव इन तीनो लोक सम्बन्धी जीवो से पूजनीय—वन्दनीय भगवान् त्रिलोक-पूजनीय कहे गये हैं। यहाँ पर त्रिकाल को ग्रहण करने के लिए अनीय प्रत्यान्त पद लिया है अर्थात् पूज् धातु मे अनीय प्रत्यय लगाकर प्रयोग किया है । घाती चतुष्टय के जीतने वाले अर्हन्त देव हैं ऐसे त्रिलोकपूज्य अर्हन्त देव को मन-वचन-काय से नमस्कार करके मैं मूलगुणों के अनुरूप आचार रूप सामाचार को अनुक्रम से सक्षेप मे कहूँगा । आनुपूर्वी अर्थात् अनुक्रम को तीन प्रकार से माना गया है—पूर्वानुपूर्वी, पश्चात् आनुपूर्वी और यत्रतत्रानुपूर्वी । अर्थात् जैसे चौबीस तीर्थंकरों मे वृषभ आदि से नाम ग्रहण करना पूर्वानुपूर्वी है । वर्धमान, पार्श्वनाथ से नाम लेना पश्चात् आनुपूर्वी है और अभिनन्दन चन्द्रप्रभु आदि किसी का भी नाम लेकर कही से भी कहना यत्रतत्रानुपूर्वी है । यहाँ पर मूलाचार ग्रन्थ में पूर्वानुपूर्वी का प्रयोग है अर्थात् पहले मूलगुणों को बताकर पुनः प्रत्याख्यान सस्तर अधिकार के अनन्तर क्रम से अब सामाचार

नमस्कारकरणपूर्वकं प्रतिज्ञाकरणं। अर्हतस्त्रिलोकपूजनीयांस्त्रिविधेन वन्दित्वा समासादानुपूर्व्या सामाचारं वक्ष्ये इति।

सामाचारशब्दस्य निरुक्त्यर्थं संग्रहगाथासूत्रमाह—

समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो ॥१२३॥

चतुर्भिरर्थैः सामाचारशब्दो व्युत्पाद्यते, तद्यथा—**समदासामाचारो**—समस्य भावः समता रागद्वेषाभावः स समाचारः अथवा त्रिकालदेववन्दना पञ्चनमस्कारपरिणामो वा समता, सामायिकव्रतं वा। **सम्माचारो**—सम्यक् शोभनं निरतिचारं, मूलगुणानुष्ठानमाचरणं समाचारः सम्यगाचारः अथवा सम्यगाचरणमवबोधो निर्दोषभिक्षाग्रहणं वा समाचारः, चरेर्भक्षणगत्यर्थत्वात्। **समो व आचारो**—समो वा आचारः पञ्चाचारः।

को बतलाते हैं, अथवा पूर्वाचार्य की परम्परा के अनुसार कथन करने को भी पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

तथा क्षणिक पक्ष और नित्य पक्ष का निराकण करने के लिए ही पूर्वानुपूर्वी का कथन है, क्योंकि सर्वथा क्षणिक में पूर्वाचार्य परम्परा से कथन और सर्वथा नित्य पक्ष में भी पूर्वाचार्य परम्परा का कथन असम्भव है। अतः इन दोनों एकान्तों का निराकण करके अनेकान्त को स्थापित करने के लिए आचार्य ने आनुपूर्वी शब्द का प्रयोग किया है।

'वंदित्वा' इस पद में क्त्वा प्रत्यय होने से यह अर्थ होता है कि मैं नमस्कार करके अपने प्रतिपाद्य विषय की प्रतिज्ञा करता हूँ अर्थात् नमस्कार करके सामाचार को कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा आचार्य ने की है। तात्पर्य यह कि मैं त्रिभुवन से पूजनीय त्रिकालवर्ती समस्त अर्हन्तों को नमस्कार करके संक्षेप से गुरु परम्परा के अनुसार सामाचार को कहूँगा।

अब सामाचार शब्द के निरुक्ति अर्थ का संग्रह करनेवाला गाथासूत्र कहते है—

गाथार्थ—समता सामाचार सम्यक् आचार अथवा सम आचार या सभी का समान आचार ये सामाचार शब्द के अर्थ है ॥१२३॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर चार प्रकार के अर्थों से सामाचार शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं।

१. समता समाचार—सम का भाव समता है—रागद्वेष का अभाव होना समता समाचार है। अथवा त्रिकाल देव वन्दना करना या पंच नमस्कार रूप परिणाम होना समता है, अथवा सामायिक व्रत को समता कहते है। ये सब समता समाचार हैं।

२ **सम्यक् आचार**—सम्यक् शोभन निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान अर्थात् आचरण आचार। अर्थात् निरतिचार मूलगुणो को पालना यह सम्यक् आचार रूप समाचार है। अथवा सम्यक् आचरण—ज्ञान अथवा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना यह समाचार है। अर्थात् चर् धातु भक्षण करना और गमन करना इन दो अर्थ मे मानी गयी है और गमन अर्थवाली सभी धातुएँ ज्ञान अर्थवाली भी होती है इस नियम से चर् धातु का एक बार ज्ञान अर्थ करना सब समीचीन जानना अर्थ विवक्षित हुआ। और, एक बार भक्षण अर्थ करने पर निर्दोष आहार

सब्वेसिं—सर्वेषां प्रमताप्रमत्तादीना सर्वेषा यतीनामाचार । समो प्राणिबधादिभिर्यत्नोऽत समाचारः। अथवा सम उपसम क्रोधाद्यभावस्तन परिणामेनाचरण समाचार । समशब्देन दशलाक्षणिकधर्मो गृह्यते स समाचारः। अथवा भिक्षाग्रहणदेववन्दनादिभि सह योग. समाचार । **सम्माणं**—सह मानेन परिणामेन वर्तते इति समान सहस्य स , समान वा मान, समानस्य सभाव । अथवा सर्वेषां समान. पूज्योऽभिप्रेतो वा आचारो य. स समाचार. । अथवा समदा सम्यक्त्व, **सम्माचारो**—चारित्र, समाण—ज्ञान, समो वा आचारो—तप. । एतेषां सर्वेषा योऽय समाचार ऐक्य स समाचार, आचारो वा समाचार । यस्तु समाचार. स आचार एवेत्यविनाभाव: । अथवा पञ्चभिरर्थैर्निर्देश समदा समरसीभाव समयाचारो—स्वसमयव्यवस्थयाचार', **सम्माचारो**—

लेना अर्थ हुआ इसलिए समीचीन ज्ञान और निर्दोष आहार ग्रहण को भी सम्यक् आचार रूप समाचार कहा है ।

३. **सम आचार**—पाँच (महाव्रत) आचारों को सम आचार कहा है जो कि प्रमत्त, अप्रमत्त आदि सभी मुनियो का आचार समान रूप होने से सम-आचार है । क्योंकि ये सभी मुनि प्राणिबध आदि के त्याग करने रूप व्रतो से समान है इसीलिए उनका आचार सम-आचार है । अथवा सम—उपशम अर्थात् क्रोधादि कषायो के अभावरूप परिणाम से सहित जो आचरण हैं वह समाचार है । अथवा सम शब्द से दशलक्षण धर्म को भी ग्रहण किया जाता है अतः इन क्षमादि धर्मो सहित जो आचार है वह समाचार है । अथवा आहार ग्रहण और देववन्दना आदि क्रियाओ मे सभी साधुओं को सह अर्थात् साथ ही मिलकर आचरण करना समाचार है ।

४. **समान आचार**—मान (परिणाम) के सह (साथ) जो रहता है वह समान है । यहाँ सह को स आदेश व्याकरण के नियम से सह मान समान बना है । अथवा समान मान को समान कहते है यहाँ पर भी समान शब्द को व्याकरण से 'स' हो गया है अर्थात् समान आचार समाचार है । अथवा सभी का समान रूप से पूज्य या इष्ट जो आचार है वह समाचार है ।

ये चार अर्थ समाचार के अलग-अलग निरुक्ति करके किये गये है अर्थात् प्रथम तो समता आचार से समाचार का अर्थ कई प्रकार से किया है, पुन दूसरी व्युत्पत्ति मे सम्यक् आचार से समाचार शब्द बनाकर उसके भी कई अर्थ विवक्षित किये हैं । तीसरी बार सम आचार से समाचार को सिद्ध करके कई अर्थ बताये है, पुन. समान आचार से समाचार शब्द बनाकर कई अर्थ दिखाये है ।

अब पुन सभी का समन्वय कर निरुक्ति पूर्वक अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं—यथा, समता—सम्यकत्व, सम्यक् आचार—चारित्र, समान—ज्ञान (मान का अर्थ प्रमाण—ज्ञान होता है) और सम-आचार—तप, इन सभी का (चारो का) जो समाचार अर्थात् ऐक्य है वह समाचार है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों की एकता का नाम समाचार है । अथवा आचार अर्थात् मुनियो के आचार—प्रवृत्ति को समाचार कहते हैं क्योंकि जो भी साधुओं का समाचार है वह आचार ही है अर्थात् आचार और समाचार मे अविनाभावी सम्बन्ध है—एक दूसरे के बिना नही रह सकते हैं । तात्पर्य यह है कि जो भी साधुओ का आचार है वह सब समाचार ही है ।

अथवा पाँच अर्थों से समाचार का निर्देश करते हैं—समता समरसी भाव, समयाचार—

सम्यगाचार, समो वा सहाचरणं। स सव्वेसु—सर्वेसु क्षेत्रेषु समाणं—समाचार । सक्षेपार्थ [1]समताचारः सम्यगाचार, समो य आचारो वा सर्वेषा स समाचारो हानिवृद्धिरहित, कायोत्सर्गादिभि समानं मानं यस्याचारस्य स वा समाचार इति ॥१२३॥

अस्यैव समाचारस्य लक्षणभेदप्रतिपादनार्थमाह—

दुविहो सामाचारो ओघोविय पदविभागिओ चेव ।
दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागीय ॥

दुविहो—द्विविध द्विप्रकार । **सामाचारो**—सामाचार सम्यगाचार एव समाचार प्राकृतबलाद्वा

स्वसमय अर्थात् जैन आगम की व्यवस्था के अनुरूप आचार, सम्यक् आचार—समीचीन आचार, सम-आचार—सभी साधुओं का साथ-साथ आचरण या क्रियाओं का करना, सभी में—सभी क्षेत्रों में समान—समाचार होना । अर्थात् गाथा से देखिए . समरसी भाव का होना (समदा), स्वसमय की व्यवस्था से आचरण करना (समयाचारो), समीचीन आचार होना (सम्माचारो), साथ आचरण करना (समोवा), सभी क्षेत्रों में समाचार—समान आचरण करना (सव्वेसु समाणं) ये पाँच अर्थ किये गये हैं । इसीको संक्षेप से समझने के लिए कहते है कि समताचार—समरसी भाव का होना, सम्यक् आचार—समीचीन आचार का होना, सम-आचार—सभी साधुओं का हानि-वृद्धिरहित समान आचरण होना, समान आचार—कायोत्सर्ग आदि से समान प्रमाण रूप है आचार जिसका वह भी, समाचार है ।

भावार्थ—यहाँ पर मूल गाथा में समाचार शब्द के चार अर्थ प्रकट किये हैं । टीकाकार ने इन्हीं चार अर्थों को विशेष रूप से प्रस्फुट किया है । पुनः एक बार चारो अर्थसूचक शब्दो से चार आराधनाओं को लेकर उनकी एकता को समाचार कहा है और अनन्तर गाथा के 'समाचार' पद को भी लेकर पूर्वोक्त चार पदों के साथ मिलाकर समाचार के पाँच अर्थ भी किये हैं । इसके भी तात्पर्य को सक्षेप से स्पष्ट करते हुए उन्ही चार अर्थो को थोड़े शब्दो मे कहा है । सबका अभिप्राय यही है कि मुनियों की जो भी प्रवृत्तियाँ है वे सम्यक्पूर्वक होती है, आगम के अनुसार होती हैं, रागद्वेष के अभावरूप समता परिणाममय होती है और वे मुनि हमेशा सघ के गुरुओं के सान्निध्य में देववन्दना कायोत्सर्ग आदि को साथ-साथ करते हैं । तथा कायोत्सर्ग आदि में सभी के लिए उच्छ्वास आदि का प्रमाण भी समान ही बतलाया गया है जैसे दैवसिक प्रतिक्रमण मे १०८ उच्छ्वास, रात्रिक में ५४ इत्यादि । अहोरात्र सम्बन्धी कायोत्सर्ग भी सभी के लिए २८ कहे गये हैं जिनका वर्णन आगे आवश्यक अधिकार मे आयेगा । ये सभी क्रियाएँ जो साथ-साथ और समान रूप से की जाती है वह सब समाचार ही हैं ।

अब इसी समाचार के लक्षण भेद बतलाते हुए कहते है—

गाथार्थ—औधिक और पदविभागिक के भेद से समाचार दो प्रकार का है । औधिक समाचार दश प्रकार का है और पदविभागी समाचार अनेक प्रकार का कहा गया है ॥१२४॥

आचारवृत्ति—सम्यक् आचार ही सामाचार है । यहाँ प्राकृत व्याकरण के निमित्त से

---

१. क समता समाचारः ।

दीर्घत्वमादे. । **ओघोवि य**—औघिक सामान्यरूप: । **पदविभागीओ**—पदानां अर्थप्रतिपादकानां विभागो भेद: स विद्यते यस्यासौ पदविभागिकश्च । एवकारोऽवधारणार्थ: । स सामाचार: औघिक-पदविभागिकाभ्यां द्विविध एव ।

तयोर्भेदप्रतिपादनार्थमाह—**दसहा**—दशधा दशप्रकार । **ओघो**—औघिक. । **भणिओ**—भणित: । **अणेयधा**—अनेकधाऽनेकप्रकार । **पदविभागी य**—पदविभागी च । य औघिक स दशप्रकारोऽनेकधा च पद-विभागी ।।१२४।।

आद्यस्य ये दशप्रकारास्ते केऽत प्राह—

इच्छा-मिच्छाकारो तधाकारो य आसिआ णिसिही ।
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदणसणिमंतणा य उवसपा ।।

इच्छामिच्छाकारो—इच्छामभ्युपगम करोतीति इच्छाकार आदर, मिथ्या व्यलीक करोतीति मिथ्याकारो विपरिणामस्य त्याग, एकस्य कारशब्दस्य निवृत्ति., समासान्तस्य वा[1] कृदुत्पत्ति । **तधाकारो य**—तथाकारश्च सदर्थे प्रतिपादिते एवमेव वचन । **आसिया**—आसिका आपृच्छ्य गमन । **णिसिही**—निषेधिका परिपृच्छ्य प्रवेश । **आपुच्छा**—आपृच्छा स्वकार्य प्रति गुर्वादिभिप्रायग्रहण । **पडिपुच्छा**—प्रतिपृच्छा निषिद्धस्य अनिषिद्धस्य वा वस्तुनस्तद्ग्रहण प्रति पुन प्रश्न । **छंदण**—छन्दन छन्दानुवर्तित्व यस्य गृहीत किंचिदुपकरण

दीर्घ हो गया है । अर्थात् समाचार को ही प्राकृत मे सामाचार कहा है । सामान्य रूप समाचार औघिक है और अर्थप्रतिपादक पदो का विभाग-भेद, वह जिसमे पाया जाय वह पदविभागी समाचार है । गाथा मे एवकार शब्द निश्चय के लिए है । अर्थात् वह समाचार औघिक—सक्षेप और पदविभागिक—विस्तार के भेद से दो प्रकार का ही है ।

अब इन दोनो के भेद को बताते है—औघिक के दश भेद है तथा पदविभागी के अनेक भेद हैं ।

औघिक समाचार के दश भेद कौन है ? उन्ही को बताते है—

गाथार्थ—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रति-पृच्छा, छन्दन, सनिमन्त्रणा और उपसपत् ये दश भेद औघिक समाचार के हैं ।।१२५।।

आचारवृत्ति—इच्छा—इष्ट या स्वीकृत को करना इच्छाकार है अर्थात् आदर करना । मिथ्या—असत्य करना मिथ्याकार है अर्थात् अशुभ-परिणाम का त्याग करना । यहाँ 'इच्छा-मिच्याकारो' पद मे प्रथम इच्छा शब्द के कार शब्द का व्याकरण के नियम से लोप हो गया है अथवा इच्छा और मिथ्या इन दो पद का समास करके पुन कृदन्त के प्रत्यय का प्रयोग हुआ है यथा—'इच्छा च मिथ्या च इच्छामिथ्ये, इच्छामिथ्ये करोतीति इच्छामिथ्याकार·' ऐसा व्याकरण से सिद्ध हुआ पद है । सत् अर्थात् प्रशस्त अर्थ के प्रतिपादित किये जाने पर 'ऐसा ही है' इस प्रकार वचन बोलना तथाकार है । पूछकर गमन करना आसिका है और पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है । अपने कार्य के प्रति गुरु आदि का अभिप्राय लेना या पूछना आपृच्छा है । निषिद्ध

---

1. क वा सकृ° ।

तदभिप्रायानुवर्तनं। **सनिमंतणा य**—सनिमंत्रणा च सत्कृत्य याचनं च। **उपसंपा**—उपसम्पत् आत्मनो निवेदन। नायं पृच्छाशब्दोऽपशब्दः[1]। उत्सर्गापवादसमावेशात्। एतासामिच्छाकारमिथ्याकार-तथाकारासिका-निषेधिकापृच्छा-प्रतिपृच्छा-छन्दन-सनिमंत्रणोपसम्पदां को विषय इत्यत आह—गाथात्रयेण सम्बन्धः ॥१२५॥

> **इट्ठे इच्छाकारो मिच्छाकारो तहेव अवराहे।**
> **पडिसुणणह्मि तहत्तिय णिग्गमणे आसिया भणिया ॥१२६॥**
> **पविसंते य णिसीही आपुच्छणियासकज्ज आरंभे।**
> **[2]साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठह्मि पडिपुच्छा ॥१२७॥**
> **छंदणगहिदे दव्वे अगिहदव्वे णिमंतणा भणिदा।**
> **तुह्ममहंतिगुरुकुले आदणिसग्गो दु उवसंपा ॥१२८॥**

इट्ठे—इष्टे सम्यग्दर्शनादिके शुभपरिणामे वा। **इच्छाकारो**—इच्छाकारोऽभ्युपगमो हर्षं स्वेच्छया

अथवा अनिषिद्ध जो वस्तु है उनको ग्रहण करने के लिए पुनः पूछना प्रतिपृच्छा है। अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन है अर्थात् जिसका जो कुछ भी उपकरण आदि लिया है उसमें उसके अभिप्राय के अनुकूल प्रवर्तन—उपयोग करना छन्दन है। सत्कार करके याचना करना अर्थात् गुरु को आदरपूर्वक नमस्कार आदि करके उनसे किसी वस्तु या आज्ञा को माँगना सनिमन्त्रणा है और अपना निवेदन करना अर्थात् अपने को 'आपका ही हूँ' ऐसा कहना यह उपसपत् है। यहाँ पर पृच्छा शब्द अपशब्द नहीं है क्योकि उत्सर्ग और अपवाद मे उसका समावेश है।

भावार्थ—इन दशों का अतिसंक्षिप्त अर्थ यहाँ टीकाकार ने लिया है। आगे स्वयं ग्रन्थकार पहले नाम के अनुरूप अर्थ को बतलाते हुए तीन गाथाओ द्वारा इनका विषय बतलायेंगे, पुनः पृथक्-पृथक् गाथाओं द्वारा इन दसों का विवेचन करेंगे।

इन इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, संनिमन्त्रणा और उपसंपत् का विषय क्या है अर्थात् ये किस-किस विषय अथवा प्रसंग में किये जाते है? इस प्रकार प्रश्न होने पर आगे तीन गाथाओं से कहते हैं—

गाथार्थ—इष्ट विषय में इच्छाकार, उसी प्रकार अपराध में मिथ्याकार, प्रतिपादित के विषय में तथा 'ऐसा ही है' ऐसा कथन तथाकार और निकलने में आसिका का कथन किया गया है। प्रवेश करने में निषेधिका तथा अपने कार्य के आरम्भ में आपृच्छा करनी होती है। सहधर्मी साधु और गुरु से पूर्व में ली गई वस्तु को पुनः ग्रहण करने में प्रतिपृच्छा होती है ॥१२६-१२७॥

ग्रहण हुई वस्तु में उसकी अनुकूलता रखना छन्दन है। अगृहीत द्रव्य के विषय में याचना करना निमन्त्रणा है और गुरु के संघ में 'मैं आपका हूँ' ऐसा आत्मसमर्पण करना उपसंपत् कहा गया है ॥१२८॥

आचारवृत्ति—इष्ट अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय में अथवा शुभ परिणाम में

---

१. क 'ब्दो उपशब्दः उपसर्ग उत्स'। २. क साहम्मि'।

प्रवर्तनं। **मिच्छाकारो**—मिथ्याकारः कायमनसा निवर्तन। **तहेव**—तथैव। **च, अवराहे**—अपराधेऽशुभ-परिणामे व्रताद्यतिचारे। **पडिसुणणंहि**—प्रतिश्रवणे सूत्रार्थग्रहणे, **तहत्ति य**—तथेति च यथैव भवद्भिः प्रतिपादित तथैव नान्यथेत्येवमनुराग। **णिग्गमणे**—निर्गमने गमनकाले। **आसिआ**—आसिका देवगृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यान[1] पापक्रियादिभ्यो मनो निर्वर्तन वा। **भणिया**—भणिताः कथिताः। **पविसंते य**—प्रविशति च प्रवेशकाले। **णिसिही**—निषेधिका तत्रस्थानभ्युपगम्य[2] स्थानकरण सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा। **आपुच्छणिया य**—आपृच्छनीय च गुर्वादीना वन्दनापूर्वक प्रश्नकरणं। **सकज्जआरंभे**—स्वस्यात्मनः कार्यं प्रयोजन तस्यारम्भ आदिक्रिया स्वकार्यारम्भस्तस्मिन् पठनगमनयोगादिके। [3]**साधम्मिणा य**—समानो धर्मोऽनुष्ठान गुरुर्वा यस्यासौ सधर्मा तेन सधर्मणा च। **गुरुणा**—दीक्षाशिक्षोपदेशकर्त्रा तपोऽधिकज्ञानाधिकेन वा, **पुव्वणिसिट्ठिम्हि**—पूर्वस्मिन्निसृष्ट प्रतिदत्त समर्पित यद्वस्तूपकरणादिक तस्मिन् पूर्वनिसृष्टे वस्तुनि पुनर्ग्रहणा-

---

इच्छाकार होता है। अर्थात् इनको स्वीकार करना इनमे हर्षभाव होना, इनमें स्वेच्छा से प्रवृत्ति करना ही इच्छाकार है।

अपराध अर्थात् अशुभ परिणाम अथवा व्रतादि में अतिचार होने पर मिथ्याकार होता है। अर्थात् मन-वचन-काय से इन अपराधों से दूर होना मिथ्याकार है।

प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु के द्वारा सूत्र और अर्थ प्रतिपादन होने पर उसे सुनकर 'आपने जैसा प्रतिपादित किया है वैसा ही है, अन्यथा नही' ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है।

वसतिका आदि से निकलते समय देवता या गृहस्थ आदि से पूछकर निकलना अथवा पाप क्रियाओ से मन को हटाना आसिका है।

वसतिका आदि मे प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित देव या गृहस्थ आदि की स्वीकृति लेकर अर्थात् निसही शब्द उच्चारण करके पूछकर वहाँ प्रवेश करना और ठहरना अथवा सम्यग्दर्शन आदि मे स्थिर भाव रखना निषेधिका है।

अपने कार्य—प्रयोजन के आरम्भ मे अर्थात् पठन, गमन या योगग्रहण आदि कार्यों के प्रारम्भ में गुरु आदि की वन्दना—करके उनसे पूछना आपृच्छा है।

समान है धर्म अनुष्ठान जिनका वे सधर्मा है तथा गुरु शब्द से दीक्षागुरु, शिक्षागुरु, उपदेशदाता गुरु अथवा तपश्चरण मे या ज्ञान मे अधिक जो गुरु है—इन सधर्मा या गुरुओ से कोई उपकरण आदि पहले लिये थे पुन उन्हे वापस दे दिये, यदि पुनरपि उनको ग्रहण का अभिप्राय हो तो पुन पूछकर लेना प्रतिपृच्छा है।

जिनकी कोई पुस्तक आदि वस्तुएँ ली हैं उनके अनुकूल ही उनकी वस्तुओ का सेवन उपयोग करना छन्दन है।

अगृहीत—अन्य किसी की पुस्तक आदि वस्तुओ के विषय मे आवश्यकता होने पर गुरुओं से सत्कार पूर्वक याचना करना या ग्रहण कर लेने पर विनयपूर्वक उनसे निवेदन करना निमन्त्रणा है।

गुरुकुल अर्थात् गुरुओ के आम्नाय—संघ मे, गुरुओं के विशाल पादमूल मे 'मैं आपका

---

१. गमनम्। २. अविराधयित्वा। ३ क साहम्मिणा।

णिग्गये । पडिपुच्छा—प्रतिपृच्छा पुनः प्रश्नः । **छंदणं**—छंदन छंदो वा तदभिप्रायेण सेवनं, **गहिदे**—गृहीते द्रव्ये पुस्तकादिके । **अगहिदव्वे**—अगृहीतद्रव्ये अन्यदीयपुस्तकादिवस्तुनि स्वप्रयोजने जाते । **णिमंतणा**—निमत्रणा सत्कारपूर्वक याचन गृहीतस्य विनयेन निवेदनं वा । **भणिदा**—भणिता । **तुम्हं**—युष्माक । **अहंति**—अहमिति । **गुरुकुले**—आम्नाये त्वद्वृहत्पादमूले । **आदणिसग्गो**—आत्मनो निसर्गस्त्यागः तदानुकूल्याचरण । **तु**—अत्यर्थ-वाचक. । **उवसम्पा**—उपसम्पत् ॥१२६-१२८॥

एव दशप्रकारौघिकसामाचारस्य सक्षेपार्थं पदविभागिनश्च विभागार्थमाह—

ओघियसामाचारो एसो भणिदो हु दसविहो णेओ ।
एत्तो य पदविभागी समासदो वण्णइस्सामि ॥१२९॥

एष—औघिक सामाचारो दशप्रकारोऽपि । **भणित**—कथित । **समासत**—सक्षेपतो ज्ञातव्यो अनुष्ठेयो वा । **एत्तो य**—इतश्चोर्ध्व । पदविभागिन समाचार । **समासदो**—समासत । **वण्णइस्सामि**—वर्णयिष्यामि । यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायादिति ॥१२९॥

उग्गमसूरप्पहुदी समणाहोरत्तमंडले कसिणे ।
जं आचरंति सददं एसो भणिदो पदविभागी ॥१३०॥

उग्गमसूरप्पहुदी—उद्गच्छतीत्युद्गम सूर आदित्यो यस्मिन् काले स उद्गमसूर उदयादित्यकालः, अथवा सूरस्योद्गम उद्गमसूर उद्गमस्य पूर्वनिपात स प्रभृतिरादिर्यस्यासौ उद्गमसूरप्रभृतिस्तस्मिन्नु-

---

हूँ, इस प्रकार से आत्म का त्याग करना—आत्म समर्पण कर देना, उनके अनुकूल ही सारी प्रवृत्ति करना यह उपसंपत् है । गाथा में 'तु' शब्द अत्यर्थ का वाचक है अर्थात् अतिशय रूप से गुरु को अपना जीवन समर्पित कर देना । इस प्रकार से ये दश ओघिक समाचार कहे गए हैं ।

इस प्रकार से दशभेद रूप औघिक समाचार को सक्षेप से बताकर अब पदविभागिक के विभाग अर्थ को कहते है—

गाथार्थ—यह कहा गया दश प्रकार का औघिक समाचार जानना चाहिए । अब इसके बाद सक्षेप से पदविभागी समाचार कहूँगा ॥१२९॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार का संक्षेप से कहा गया यह औघिक समाचार जानना चाहिए अथवा इनका अनुष्ठान करना चाहिए । इसके अनन्तर पदविभागी समाचार को कहूँगा । क्योंकि जैसा उद्दश होता है वैसा ही निर्देश होता है ऐसा न्याय है अर्थात् नाम कथन को उद्देश कहते है और उसके लक्षण आदि रूप से वर्णन करने को निर्देश कहते है, सो गाथा मे पहले औघिक फिर पदविभागी को कहा है। इसीलिए औघिक को कहकर अब पदविभागी को कहते हैं।

गाथार्थ—श्रमणगण सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र निरन्तर जो आचरण करते हैं ऐसा यह पदविभागी समाचार है ॥१३०॥

आचारवृत्ति—उदय को प्राप्त होना उद्गम है । जिस काल में सूर्य का उदय होता है उसे उद्गमसूर अर्थात् सूर्योदय काल कहते हैं । अथवा सूर्य का उद्गम होना उद्गमसूर शब्द

दयमूर्यादो। **समणा**—श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणा मुनय । **अहोरत्तमंडले**—अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रस्तस्य मण्डलं सन्ततिरहोरात्रमडलं तस्मिन् दिवसरात्रिमध्यक्षणसमुदये। **कसिणे**—कृत्स्ने निरवशेषे। **जं आच-रंति**—यदाचरन्ति यन्नियमादिक निर्वर्तयन्ति। **सददं**—सतत निरतर। **एसो**—एष प्रत्यक्षवचनमेतत्। **भणिओ**—भणितोऽर्हद्भट्टारकै कथित आप्तकर्तृत्वप्रतिपादनमेतत्। **पदविभागी**—पदस्यानुष्ठानं। उद्गमसूर-प्रभृतौ कृत्स्नेऽहोरात्रमण्डले यदाचरन्ति श्रमणा सतत स एष पदविभागीति कथित । उत्तरपदापेक्षया पुल्लिग-तेति न दोषो लिगव्यत्यय ॥१३०॥

इष्टे वस्तुनीच्छाकार कर्तव्य इत्युक्त पुरस्तात् तत्किमित्याह—

संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे।
जोगग्गहणादीसु य इच्छाकारो दु कादव्वो ॥१३१॥

संजमणाणुवकरणे—सयम इन्द्रियनिरोध प्राणिदया च ज्ञान ज्ञानावरणक्षयोपशमोत्पन्नवस्तु-परिच्छेदात्मकप्रत्यय श्रुतज्ञान वा तयोरुपकरण पिच्छिकापुस्तकादि तस्मिन् सयमज्ञानोपकरणहेतौ विषये वा। **अण्णुवकरणे च**—अन्यस्य तप प्रभृतेरुपकरण कडिकाहारादिक तस्मिश्च तद्विषये च। **जायणे**—याचने भिक्षणे।

का अर्थ है। इस पद में उद्गम शब्द का पूर्व मे निपात हो गया है (यह व्याकरण का विषय है)। उस उद्गम सूर्य को आदि मे लेकर अर्थात् सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र के क्षणो मे श्रमण-गण—मुनिगण निरन्तर जिन नियम आदि का आचरण करते है सो यह प्रत्यक्ष मे पदविभागी समाचार है ऐसा अर्हत भट्टारक ने कहा है। इससे यह समाचार आप्त के द्वारा कथित है ऐसा निश्चय हो जाता है। यहाँ पद के अनुष्ठान का नाम पदविभागी है। श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य ने यहाँ बतलाया है कि जो श्रम करते है अर्थात् तपश्चरण करते है (श्राम्यन्ति तपस्यन्ति) वे श्रमण है अर्थात् मुनिगण ही श्रमण या तपोधन कहलाते है। यहाँ पदविभागी शब्द मे उत्तरपद की अपेक्षा पुल्लिग विभक्ति का निर्देश है इसलिए लिग विपर्यय नाम का दोष व्याकरण से नही होता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रात काल से लेकर वापस सूर्योदय होने तक साधुगण निरन्तर जिन नियम आदि का पालन करते हैं वह सब पदविभागी समाचार कह-लाता है।

विशेषार्थ—श्री वीरनन्दि आचार्य ने आचारसार मे इन दोनों के नाम सक्षेप समाचार और विस्तार समाचार ऐसे भी कहे है।

इष्ट वस्तु मे इच्छाकार करना चाहिए ऐसा आपने पहले कहा है। वह इष्ट क्या है? सो बताते है—

गाथार्थ—संयम का उपकरण, ज्ञान का उपकरण, और भी अन्य उपकरण के लिए तथा किसी वस्तु के मागने मे एव योग-ध्यान आदि के करने में इच्छाकार करना चाहिए ॥१३१॥

आचारवृत्ति—पाँच इन्द्रिय और मन का निरोध तथा प्राणियों पर दयाभाव—इसका नाम संयम है। सयम का उपकरण पिच्छिका है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ जो वस्तु को जानने वाला ज्ञान है अथवा जो श्रुतज्ञान है उसे ज्ञान शब्द से कहा है।

अण्णे—अन्यस्मिन् परविषये औषधादिके परनिमित्ते वा । अथवा[1] च द्रष्टव्य । एतेषां याचने परनिमित्तमात्मनिमित्तं वा इच्छाकार· कर्तव्य मनः प्रवर्तयितव्यं, न केवलमत्र किन्तु, **जोगग्गहणादिसु य**—योगग्रहणादिषु च आतापनवृक्षमूलाभ्रावकाशादिषु च किं बहुना शुभानुष्ठाने सर्वत्र परिणाम कर्तव्य इति ।।१३१।।

अथ कस्यापराधे मिथ्याकार स इत्याह—

जं दुक्कडं तु मिच्छा त णेच्छदि दुक्कडं पुणो कादुं ।
भावेण य पडिकंतो तस्स भवे दुक्कडे मिच्छा ।।१३२।।

यद्दुष्कृत यत्पापं मया कृत तद्दुष्कृत मिथ्या मम भवतु, अह पुनस्तस्य कर्ता न भवामीत्यर्थ. । एवं यन्मिथ्यादुष्कृतं कृत तु तद्दुष्कृत पुन कर्तुं नेच्छेत् न कुर्यात् । भावेन च प्रतिक्रान्तो यो न केवल वचसा किन्तु मनसा कायेन च वर्तमानातीतभविष्यत्काले तस्यापराधस्य यो न कर्ता तस्य दुष्कृते मिथ्याकार इति ।

अथ किं तत्प्रतिश्रवणं यस्मिन् तथाकार इत्यत आह—

इस ज्ञान के उपकरण पुस्तक आदि हैं। अन्य शब्द से तप आदि को लिया है। इन तप आदि के उपकरण कमण्डलु और आहार आदि हैं। इनके लिए याचना करने में या इन के विषयो मे इच्छाकार करना चाहिए। तथा अन्य और जो पर विषय अर्थात् औषधि आदि हैं उनके लिए या अन्य साधु-शिष्य आदि के भी उपर्युक्त वस्तुओ मे इच्छाकार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि इन पिच्छी, पुस्तक आदि को पर के लिए या अपने लिए याचना करने में इच्छाकार करना चाहिए अर्थात् मन को प्रवृत्त करना चाहिए। केवल इनमे ही नही, आतापन वृक्षमूल अभ्रावकाश आदि योगो के करने मे भी इच्छाकार करना चाहिए। अधिक कहने से क्या, सर्वत्र शुभ अनुष्ठान में परिणाम करना चाहिए।

किस अपराध मे मिथ्याकार होता है? सो ही बताते है—

गाथार्थ—जो दुष्कृत अर्थात् पाप हुआ है वह मिथ्या होवे, पुनः उस दोष को करना नही चाहता है और भाव से प्रतिक्रमण कर चुका है उसके दुष्कृत के होने पर मिथ्याकार होता है।।१३२।।

आचारवृत्ति—जो पाप मैने किये है वे मिथ्या होवे, पुनः मैं उनका करने वाला नहीं होऊँगा। इस प्रकार से जिस दुष्कृत को मिथ्या किया है, दूर किया है उसको पुनः करने की इच्छा न करे, इस तरह जो केवल वचन या काम से ही नहीं किन्तु मन से—भाव से भी जिसने प्रतिक्रमण किया है, जो साधु भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल मे भी उस अपराध को नहीं करता है उस साधु के दुष्कृत मे मिथ्याकार नामक समाचार होता है। अर्थात् किसी अपराध के हो जाने पर 'मेरा यह दुष्कृत मिथ्या होवे' ऐसा कहना मिथ्याकार है।

वह प्रतिश्रवण क्या है कि जिसमें तथाकार किया जाय? अर्थात् तथाकार करना चाहिए, सो ही बताते हैं—

---

१. क 'वात्र द्र'।

वायणपडिच्छणाए उवदेसे सुत्तअत्थकहणाए।
अवितहमेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तधाकारो ॥१३३॥

वायणपडिच्छणाए—वाचनस्य जीवादिपदार्थव्याख्यानस्य प्रतीच्छा श्रवण **वाचनाप्रतीच्छा तस्या,** सिद्धान्तश्रवणे। **उवदेसे**—उपदेशे आचार्यपरम्परागतऽविसवादरूपे मन्त्रतन्त्रादिके। **सुत्तअत्थकहणाए—सूचना**-त्सूक्ष्मार्थस्य सूत्र वृत्तिवार्तिकभाष्यनिबन्धन तस्यार्थो जीवादयस्तस्य तयोर्वा कथन प्रतिपादन तस्मिन् सूत्रार्थ-कथने कथनाया वा। **अवितहं**—अवितथ सत्य एवमेव। **एतवेत्ति**—एतदिति यद्भट्टारकै कथित तदेवमेवेति नान्यथेति कृत्वा। **पुणो**—पुन। **पडिच्छणाए**—प्रतीच्छाया पुनरपि यच्छ्रवण क्रियते। **तधाकारो**—तथाकार। वाचनाप्रतिश्रवणे उपदेशे सूत्रार्थयोजने गुरुणा क्रियमाणे अवितथमेतदिति कृत्वा पुनरपि यच्छ्रवण तत्तथाकार इति ॥१३३॥

केषु प्रदेशेषु प्रविशता निषेधिका क्रियते इत्याह—

कंदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसीहिय कुज्जा
तेहितो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥१३४॥

कंदर—कदर उदकदारितप्रदेश। **पुलिणं**—पुलिन जलमध्ये जलरहितप्रदेश। **गुहा—पर्वत**-पार्श्वविवर ता आदिर्येषा ते कन्दरपुलिनगुहादयस्तेषु अन्येषु च निर्जन्तुकप्रदेशेषु नद्यादिषु। **पवेसकाले**—

गाथार्थ—गुरु के मुख से वाचना के ग्रहण करने मे, उपदेश सुनने मे और गुरु द्वारा सूत्र तथा अर्थ के कथन मे यह सत्य है ऐसा कहना और पुन श्रवण की इच्छा में तथाकार होता है ॥१३३॥

आचारवृत्ति—जीवादि पदार्थों का व्याख्यान करना वाचना है, उसकी प्रतीच्छा करना—श्रवण करना वाचनाप्रतीच्छा है। अर्थात् गुरु के मुख से सिद्धान्त-ग्रन्थों को सुनना वाचना है। आचार्य परम्परागत, अविसवाद रूप मन्त्र-तन्त्र आदि जिसका गुरु वर्णन करते हैं, उपदेश कहलाता है। सूक्ष्म अर्थ का सूचित करने वाले वाक्य को सूत्र कहते है जो कि वृत्ति, वार्तिक और भाष्य के कारण है। अर्थात् सूत्र का विशद अर्थ करने के लिए वृत्ति, वार्तिक और भाष्य रूप रचनाएँ होती है उन्हे टीका कहते है। सूत्र के द्वारा जीवादि पदार्थों का प्रतिपादन किया जाता है वह उस सूत्र का अर्थ कहलाता है। इस प्रकार से सूत्र के अर्थ का कथन करना या सूत्र और अर्थ दोनो का कथन करना सूत्रार्थ-कथन है। गुरु ने सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ाया या उपदेश दिया अथवा सूत्रार्थ का कथन किया उस समय ऐसा बोलना कि 'हे भट्टारक! आपने जो कहा है वह ऐसा ही है वह अन्य प्रकार नही हो सकता है', तथा पुनरपि उसे सुनने की इच्छा रखना या सुनना यह तथाकार कहलाता है।

किन प्रदेशो मे प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—कदरा, पुलिन, गुफा आदि में प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए तथा वहाँ से निकलते समय आसिका करना चाहिए ॥१३४॥

आचारवृत्ति—जलप्रवाह से विदीर्ण हुआ—विभक्त प्रदेश कदरा कहलाता है। नदी अथवा सरोवर के जल रहित प्रदेश को पुलिन अथवा सैकत कहते है। अथवा 'सिकतानां समूहः सैकतं' अर्थात् जहाँ बालू का ढेर रहता है वह सैकत है। पर्वत के पार्श्व भाग में जो बिल—बड़े

प्रवेशकाले। णिसीहियं—निषेधिका। कुज्जा—कुर्यात् कर्तव्या। अत आसिका कुतः? तेहिंतो - तेभ्य एव कन्दरादिभ्य। णिग्गमणे—निर्गमने निर्गमनकाले। तहासिया—तथैवासिका। होदि—भवति। कायव्वा—कर्तव्या इति ॥१३४॥

प्रश्नश्च केषु स्थानेषु इत्युच्यते—

बड़े छिद्र हैं उन्हें गुफा कहते हैं। इन कंदरा, पुलिन तथा गुफाओं में, 'आदि' शब्द से और भी अन्य निर्जंतुक स्थानों में या नदी आदि में, प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए और इन कंदरा आदि से निकलते समय उसी प्रकार से आसिका करना चाहिए।

विशेषार्थ—वहाँ के रहनेवाले स्थानों के व्यंतर आदि देवों के प्रति कहना कि 'मैं यहाँ प्रवेश करता हूँ, आप अनुमति दीजिए।' इस विज्ञप्ति का नाम निषेधिका है। अन्यत्र भी कहा है—

वसत्यादौ विशेत्तत्स्थं भूतादि निसहीगिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्त चापृच्छ्यासहीगिरा ॥[1]

अर्थात् वसतिका आदि मे प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित भूत व्यंतर आदि को निसही शब्द से पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है। और वहाँ से निकलते समय असही शब्द से उन्ही को पूछकर निकलना आसिका है। 'आचारसार' मे भी कहा है कि—

स्थिता वयमियत्काल यामः क्षेमोदयोऽस्तु ते।
इतीष्टाशसनं व्यन्तरादेराशीर्निरुच्यते ॥
जीवाना व्यन्तरादीना बाधायै यन्निषेधनम्।
अस्माभि. स्थीयते युष्मद्दिष्ट्यैवेति निषिद्धिका ॥११॥[2]

अर्थात् 'हम यहाँ पर इतने दिन तक रहे, अब जाते हैं। तुम लोगो का कल्याण हो' इस प्रकार व्यंतरादिक देवो को इष्ट आशीर्वाद देना आशीर्वचन है। मुनिराज जिस गुफा में या जिस वसतिका मे ठहरते है उसके अधिकारी व्यन्तरादिक देव से पूछकर ठहरते हैं और जाते समय उनको आशीर्वाद दे जाते है। मुनियो की ये दोनों ही समाचार नीति हैं।

तुम्हारी कृपा से हम यहाँ ठहरते हैं। तुम किसी प्रकार का उपद्रव मत करना, इस प्रकार जीवो को तथा व्यन्तरादिक देवो को उपद्रव का निषेध करना निषिद्धिका नाम की समाचार नीति कहलाती है।

किन-किन स्थानो मे पूछना चाहिए ? सो बताते है—

---

१. अनगार धर्मामृत।
२. आचारसार, अ० २

आदावणादिगहणे सण्णा उब्भामगादिगमणे वा।
विणयेणायरियादिसु आपुच्छा होदि कायव्वा ॥१३५॥

आदावणादिगहणे—आतपन व्रतपूर्वकमुष्णसहनं आदिर्येषा ते आतापनादयस्तेषां ग्रहणमनुष्ठानं तस्मिन्नातपनवृक्षमूलाभ्रावकाशकायोत्सर्गादिग्रहणे। **सण्णा उब्भामगादिगमणे**—वा संज्ञायामाहारकालशोधनादिकेच्छाया उद्भ्रम्यते गम्यते उद्भ्रम, उद्भ्रम एवोद्भ्रमकोऽन्यग्राम स आदिर्येषा ते उद्भ्रमकादयस्तेषां गमन प्रापण तस्मिन्वा, निमित्तवशादन्यग्रामगमने वा। **विणयेण**—विनयेन नमस्कारपूर्वकप्रणामेन। **आइरियादिसु**—आचार्य आदिर्येषा ते आचार्यादयस्तेषु आचार्यप्रवर्तकस्थविरगणधरादिषु। **आपुच्छा**—आपृच्छा। **होदि**—भवति। **कादव्वा**—कर्तव्या। यत्किचित्कार्यं करणीय तत्सर्वमाचार्यादीनापृच्छ्य क्रियते यदि आपृच्छा भवति तत इति ॥१३५॥

प्रतिपृच्छास्वरूपनिरूपणार्थमाह—

ज किंचि महाकज्ज करणीय पुच्छिऊण गुरुआदी।
पुणरवि पुच्छदि साहू त जाणसु होदि पडिपुच्छा ॥१३६॥

जंकिंचि—यत्किंचित् सामान्यवचनमेतत्। **महाकज्जं**—महत्कार्य बृहत्प्रयोजन। **करणीयं**—कर्तव्यमनुष्ठानीय। **पुच्छिऊण**—पृष्ट्वा। **गुरुआदी**—गुरुरादिर्येषा ते गुर्वादयस्तान् गुरुप्रवर्तकस्थविरादीन्। **पुणरवि**—पुनरपि। **पुच्छदि**—पृच्छति। **साहू**—साधून् परिशेषधर्मोद्युक्तान्। अथवा स साधु. पुनरपि पृच्छति येन पूर्वं याचित। **तं जाणसु**—तज्जानीहि बुध्यस्व। **होदि**—भवति। **पडिपुच्छा**—प्रतिपृच्छा। यत्किचित्

गाथार्थ—आतापन आदि के ग्रहण करने मे, आहार आदि के लिए जाने मे अथवा अन्य ग्राम आदि मे जाने के लिए विनय से आचार्य आदि से पूछकर कार्य करना चाहिए ॥१३५॥

आचारवृत्ति—व्रतपूर्वक उष्णता को सहन करना आतापन कहलाता है। आदि शब्द से वृक्षमूलयोग, अभ्रावकाशयोग, और कायोत्सर्ग को ग्रहण करते समय, आहार के लिए जाते समय. शरीर की शुद्धि—मलमूत्र आदि विसर्जन के लिए जाते समय, उद्भ्रामक अर्थात् किसी निमित्त से अन्य ग्राम आदि के लिए गमन करने मे विनय से नमस्कार पूर्वक प्रणाम करके आचार्य, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदि से पूछकर करना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि जो कुछ भी कार्य करना है वह सब यदि आचार्य आदि से पूछकर किया जाता है उसी का नाम आपृच्छा है।

अब प्रतिपृच्छा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते है—

गाथार्थ—जो कोई भी बडा कार्य करना हो तो गुरु आदि से पूछकर और फिर साधओ से जो पूछता है वह प्रतिपृच्छा है ऐसा जानो ॥१३६॥

आचारवृत्ति—मुनियो को यदि कोई बडे कार्य का अनुष्ठान करना है तो गुरु, प्रवर्तक, स्थविर आदि से एक बार पूछकर, पुनरपि गुरुओ से तथा साधुओ से पूछना प्रतिपृच्छा है। अथवा यहाँ साधु को प्रथमान्तपद समझना, जिससे ऐसा अर्थ होता है कि साधु किसी बड़े कार्य

कार्यं महत्करणीयं गुर्वादीन् पृष्ट्वा पुनरपि साधून् पृच्छति साधुर्वा तत्कार्यं तदेव प्रश्नविधानं प्रतिपृच्छा जानीहीति ॥१३६॥

अष्टमं सूत्रं प्रपचयन्नाह—

गहिदुवकरणे विणए वंदनसुत्तत्थपुच्छणादीसु।
गणधरवसहादीणं अणुवुत्ति छंदणिच्छाए ॥१३७॥

गहिदुवकरणे—गृहीते स्वीकृते उपकरणे सयमज्ञानादिप्रतिपालनकारणे आचार्यादिप्रदत्तपुस्तकादिके **विणए**—विनये विनयकाले **वंदण**—वन्दनाया वंदनाकाले क्रियाग्रहणेन कालस्यापि ग्रहणं तदभेदात्। **सुत्तत्थपुच्छणादीसु**—सूत्रस्य अर्थस्तस्य प्रश्नः स आदिर्येषां ते सूत्रार्थप्रश्नादयस्तेषु। **गणधरवसभादीणं**—गणधरवृषभादीनां आचार्यादीना। **अणुवुत्ती**—अनुवृत्तिरनुकूलाचरण। **छन्दणं**—छन्द. छन्दोऽनुवर्तित्व। **इच्छाए**—इच्छया। सूत्रार्थप्रश्नादिषु उपकरणद्रव्ये च गृहीते विनये वदनाया च गणधरवृषभादीनामिच्छयानुवृत्तिश्छन्दनमिति। अथवोपकरणद्रव्यस्वामिन इच्छया गृहीतुरनुवृत्तिश्छदनमाचार्यादीना च प्रश्नादिषु वन्दनाकाले चेति।

नवमस्य सूत्रस्य विवरणार्थमाह—

गुरुसाहम्मियदव्व पुच्छयमण्णं च गेण्हिवुं इच्छे।
तेसिं विणयेण पुणो णिमंतणा होइ कायव्वा ॥१३८॥

मे गुरुओं से एक बार पूछकर पुनरपि जो पूछता है उस प्रश्न की विधि का नाम प्रतिपृच्छा है। हे शिष्य ! ऐसा तुम जानो।

अब छन्दन का लक्षण कहते है—

गाथार्थ—ग्रहण किये हुए उपकरण के विषय मे, विनय के समय, वन्दना के काल मे, सूत्र का अर्थ पूछने इत्यादि मे गणधर प्रमुख आदि की इच्छा से अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन है ॥१३७॥

आचारवृत्ति—सयम की रक्षा और ज्ञानादि के कारण ऐसे आचार्य आदि के द्वारा दिए गये पिच्छी, पुस्तक आदि को लेने पर विनय के समय, वन्दना के समय, सूत्र के अर्थ का प्रश्न आदि करने मे आचार्य आदि की इच्छा के अनुकूल प्रवृत्ति करना छन्दन नामक समाचार है।

अथवा उपकरण की वस्तु के जो स्वामी हैं उनकी इच्छा के अनुकूल ही ग्रहण करनेवाले साधु को उन वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए तथा आचार्य आदि से प्रश्न करते समय उनकी विनय करने में या वन्दना के समय उनके अनुकूल कार्य करना चाहिए।

भावार्थ—गुरु आदि से जो भी उपकरण या ग्रन्थ आदि लिये है उनके उपयोग में उन गुरुओं के अनुकूल ही प्रवृत्त होना तथा गुरुओं की विनय में, उनकी वन्दना में जो गुरुओं की इच्छा के अनुसार वर्तन करता है सो छन्दन है।

नवमें निमन्त्रणा समाचार को कहते हैं—

गाथार्थ—गुरु या सहधर्मी साधु से द्रव्य को, पुस्तक को या अन्य वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा हो तो उन गुरुओ से विनयपूर्वक पुनः याचना करना निमन्त्रणा समाचार है ॥१३८॥

गुरुसाहम्मियदव्वं—गुरुश्च सार्धामिकश्च गुरुसाधर्मिकौ तयोर्द्रव्य गुरुसाधर्मिकद्रव्य । **पुत्थयं**—पुस्तकं ज्ञानोपकारक । **अण्णं च**—अन्यच्च कुण्डिकादिक । **गेण्हिदुं**—ग्रहीतु आदातुं । **इच्छे**—इच्छेद्वाञ्छेत् । **तेसिं**—तेषां गुरुसाधर्मिकद्रव्याणा गृहितुमिष्टाना । **विणएण**—विनयेन नम्रतया । **पुणो**—पुन.। **णिमंतणा**—निमन्त्रणा याचना । **होइ**—भवति । **कायव्वा**—कर्तव्या । यदि गुरुसाधर्मिकादिद्रव्य पुस्तकादिकं गृहीतुमिच्छेत् तदानी तेषा विनयेन याचना भवति कर्तव्या इति ।।१३८।।

उपसम्पत्सूत्रभेदप्रतिपादनार्थमाह—

उवसंपया य णेया पंचविहा जिणवरेंहि णिद्दिट्ठा ।
विणए खेत्ते मग्गे सुहदुक्खे चेव सुत्ते य ।।१३९।।

उपसंपया य—उपसम्पच्चोपसेवात्मनो निवेदनमुपसम्पत् । **णेया**—ज्ञेया ज्ञातव्या । **पंचविहा**—पचविधा पचप्रकारा । **जिणवरेंहि**—जिनवरै । **णिद्दिट्ठा**—निर्दिष्टा कथिता । के ते पच प्रकारा इत्याह—**विणये**—विनये । **खेत्ते**—क्षेत्रे । **मग्गे**—मार्गे । **सुहदुक्खे**—सुखदु खयो । चशब्द समुच्चये । एवकारोऽवधारणे । **सुत्ते य**—सूत्रे च । विषयनिर्देशोऽय विनयादिषु विषयेषूपसम्पत् पचप्रकारा भवति विनयादिभेदैर्वेति ।

तत्र विनयोपसम्पत्प्रतिपादनार्थमाह—

पाहुणविणउवचारो तेसिं चावासभूमिसंपुच्छा ।
दाणाणुवत्तणादी विणये उवसंपया णेया ।।१४०।।

पाहुणविण उपचारो—विनयश्चोपचारश्च विनयोपचारौ प्राघूर्णिकाना पादोष्णाना विनयोपचारौ,

---

आचारवृत्ति—गुरु और अन्य सघस्थ साधुओ से यदि पुस्तक या कमण्डलु आदि लेने की इच्छा हो तो नम्रतापूर्वक पुन उनकी याचना करना अर्थात् पहले कोई वस्तु उनसे लेकर पुन कार्य हो जाने पर वापस दे दी है और पुन आवश्यकता पडने पर याचना करना सो निमन्त्रणा है।

अब उपसपत् सूत्र के भेदो का प्रतिपादन करते हुए कहते है—

गाथार्थ—उपसपत् के पाँच प्रकार है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इन्हे विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुखदु ख और सूत्र के विषय में जानना चाहिए ।।१३९।।

आचारवृत्ति—उपसपत् का अर्थ है उपसेवा अर्थात् अपना निवेदन करना । गुरुओं को अपना आत्मसमर्पण करना उपसपत् है जोकि विनय आदि के विषय में किया जाता है । इसलिए इसके पाँच भेद है—विनयोपसपत्, क्षेत्रोपसपत् मार्गोपसपत्, सुख-दु खोपसपत् और सूत्रोपसपत् ।

उनमे सबसे पहले विनयोपसपत् को कहते है—

गाथार्थ—आगन्तुक अतिथि-साधु की विनय और उपचार करना, उनके निवास स्थान और मार्ग के विषय मे प्रश्न करना, उन्हे उचित वस्तु का दान करना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना आदि—यह विनय-उपसपत् है ।

आचारवृत्ति—आगन्तुक साधु को प्राघूर्णिक या पादोष्ण कहते है। उनका अंगमर्दन

अंगमर्दनप्रियवचनादिको विनय., आसनादिदानमुपचार । **आवासभूमिसंपुच्छा**—आवासः स्थानं गुरुगृह भूमि मार्गोऽध्वा तयो. संपृच्छा संप्रश्न आवासभूमिसप्रश्न । **दाणं**—दान सस्तरपुस्तकशास्त्रोपकरणादिनिवेदन । **अणुवत्तणादी**—अनुवर्तनादयस्तदनुकूलाचरणादय. । **विणये उवसंपया**—विनयोपसम्पत् । **णेया**—ज्ञेया । पादोष्णानां विनयोपचारकरण यत्तेषा चावासभूमिसम्पृच्छा दानानुवर्तनादयश्च ये तेषा क्रियन्ते तत्सर्वं विनयोपसम्पदुच्यते । सर्वत्रात्मनः समर्पण तस्य वा ग्रहणमुपसम्पदिति यत ।

का क्षेत्रोपसम्पदित्यत्रोच्यते—

संजमतवगुणसीला जमणियमादी य जह्मि खेत्तह्मि ।
वड्ढंति तह्मि वासो खेत्ते उवसंपया णेया ॥१४१॥

संजमतवगुणसीला—सयमतपोगुणशीलानि । **यमणियमादी य**—यमनियमादयश्च आमरणात्प्रतिपालनं यम कालादिपरिमाणेनाचरण नियम, व्रतपरिरक्षण शील, कायादिखेदस्तप, उपशमादिलक्षणो गुण, प्राणेन्द्रियसयमन सयम, अतो नैषामैक्य । **जह्मि**—यस्मिन् । **खेत्तंहि**— क्षेत्रे । **वड्ढंति**—वर्द्धन्ते उत्कृष्टा भवति । **तह्मि**—तस्मिन् वासोवसन । **खेत्ते उवसंपया**—क्षेत्रोपसम्पत् । **णेया**—ज्ञेया । यस्मिन् क्षेत्रे सयमतपोगुणशीलानि यमनियमादयश्च वर्द्धन्ते तस्मिन् वासो य सा क्षेत्रोपसम्पदिति ।

तृतीयाया स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

करना, प्रिय वचन बोलना आदि विनय है। उन्हे आसन आदि देना उपचार है। आप किस गुरुगृह के हैं ? किस मार्ग से आये है अर्थात् आप किस सघ मे दीक्षित हुए है या आपके दीक्षा-गुरु का नाम क्या है ? और अभी किस मार्ग से विहार करते हुए यहाँ आये है ? ऐसा प्रश्न करना, तथा उन्हें संस्तर—घास, पाटा, चटाई आदि देना, पुस्तक-शास्त्र आदि देना, उनके अनुकूल आचरण करना आदि सब विनयोपसपत् है। तात्पर्य यह है कि आगन्तुक साधु के प्रति उस समय जो भी विनय-व्यवहार किया जाता है वह विनयोपसपत् है। सब प्रकार से उन्हे आत्मसमर्पण करना या उनको सभी तरह से अपने सघ मे ग्रहण करना यह विनयोपसंपत् है।

अब क्षेत्रोपसंपत् को बतलाते हैं—

गाथार्थ—जिस क्षेत्र में संयम, तप, गुण, शील तथा यम और नियम वृद्धि को प्राप्त होते है उस क्षेत्र मे निवास करना, यह क्षेत्रोपसपत् जानना चाहिए ॥१४१॥

आचारवृत्ति—प्राणियो की रक्षा और इन्द्रिय-निग्रह को सयम कहते हैं। शरीर आदि को जिससे खेद उत्पन्न हो वह तप है। उपशम आदि लक्षणवाले गुण कहलाते है और व्रतों के रक्षक को शील कहते है। जिनका आमरण पालन किया जाय वह यम है तथा काल आदि की अवधि से पाले जानेवाले नियम कहलाते हैं। इस प्रकार से इनके लक्षणों की अपेक्षा भेद हो जाने से इन सभी मे ऐक्य सम्भव नही है। ये सयम आदि जिस क्षेत्र-देश में वृद्धिगत होते हैं उस देश मे ही रहना यह क्षेत्रोपसपत् है।

अब मार्गोपसंपत् का लक्षण बताते हैं—

पाहुणवत्थव्वाणं अण्णोण्णागमणगमणसुहपुच्छा।
उवसंपदा य मग्गे संजमतवणाणजोगजुत्ताणं ॥१४२॥

पाहुणवत्थव्वाणं—पादोष्णवास्तव्याना आगन्तुकस्वस्थानस्थितानां। **अण्णोण्णं**—अन्योन्यं परस्पर। **आगमणगमण**—आगमन च गमन चागमनगमने तयोर्विषये **सुहपुच्छा**—सुखप्रश्न. किं सुखेन तत्र भवान् गत आगतश्च। **उपसंपदा य**—उपसपत्। **मग्गे**—मार्गे पथिविषये। **संजमतवणाणजोगजुत्ताणं**—सयमतपोज्ञानयोगयुक्ताना। पादोष्णवास्तव्याना अन्योऽन्य योऽय गमनागमनसुखप्रश्न सा मार्गविषयोपसम्पदित्यत्रोच्यत इति।

अथ का सुखदु खोपसम्पदित्यत्रोच्यते—

सुहदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं।
तुह्मं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया ॥१४३॥

सुहदुक्खे—सुखदु खयोर्निमित्तभूतयो, अथवा तद्योगात्ताच्छब्द्य सुखदुःखयुक्तयाः पुरुषयोरिति। **उवयारो**—उपचार उपग्रह। **वसहीआहारभेसजादीहिं**—वसतिकाहारभैषज्यादिभि सुखिनो निर्वृत्तस्य शिष्यादिलाभे कुंडिकादिदान, दुखि नो व्याध्युपपीडितस्य सुखशय्यासनौषधान्नपानमर्दनादिभिरुपकार उपचार। **तुम्हं अहंति वयणं**—युष्माकमहमिति वचन युष्माभिर्यदादिश्यते तस्य सर्वस्याह कर्ता इति। अथवा युष्मा-

---

गाथार्थ—सयम, तप, ज्ञान और ध्यान से युक्त आगन्तुक और स्थानीय अर्थात् उस सघ में रहनेवाले साधुओ के बीच जो परस्पर मे मार्ग से आने-जाने के विषय मे सुख समाचार पूछना है वह मार्गोपसपत् है।।१४२॥

आचारवृत्ति—जो सयम, तप, ज्ञान और ध्यान से सहित है ऐसे साधु यदि विहार करते हुए आ रहे है तो वे आगन्तुक कहलाते है। ऐसे साधु यदि कही ठहरे हुए है तो वे वास्तव्य कहलाते है। यदि आगन्तुक साधु किसी सघ मे आये है तो वे साधु और अपने स्थान—वसतिका आदि मे ठहरे हुए साधु आपस मे एक-दूसरे से मार्ग के आने-जाने से सम्बन्धित कुशल प्रश्न करते हैं अर्थात् 'आपका विहार सुख मे हुआ है न ? आप वहाँ से सुखपूर्वक तो आ रहे है न ?' इत्यादि मार्ग विषयक सुख-समाचार पूछना मार्गोपसपत् है।

अब सुखदु खोपसपत् क्या है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—साधु के सुख-दु ख मे वसतिका, आहार और औषधि आदि से उपचार करना और 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा वचन बोलना सुखदु खोपसपत् है॥१४३॥

आचारवृत्ति—यहाँ सुख-दु ख निमित्तभूत है इसलिए साधुओं के सुख-दु ख के प्रसग में अथवा सुख-दु.ख से युक्त साधुओ का वसतिका आदि के द्वारा उपचार करना अर्थात् यदि आगन्तुक साधु सुखी है और उन्हे यदि मार्ग मे शिष्य आदि का लाभ हुआ है तो उन्हे उनके लिए उपयोगी पिच्छी, कमण्डलु आदि देना और यदि आगन्तुक साधु दु खी है, व्याधि आदि से पीड़ित है तो उनके लिए सुखप्रद शय्या, सस्तर आदि आसन, औषध, अन्न-पान से तथा उनके हाथ-पैर दबाना आदि वैयावृत्ति से उनका उपकार करना। 'मैं आपका ही हूँ, आप जो आदेश

कमेतत्सर्वं मदीयमिति वचनं। सुहदुक्खुवसंपया—सुखदु:खोपसंपत्। णेया—ज्ञातव्या। सुखदु:खनिमित्त पिच्छ-वसतिकादिभिरुपचारो युष्माकमिति वचन उपसम्पत् सुखदु खविषयेति।

पंचम्या उपसम्पद स्वरूपनिरूपणार्थमाह—

उवसंपया य सुत्ते तिविहा सुत्तत्थतदुभया चेव।
एक्केक्का विय तिविहा लोइय वेदे तहा समये ॥१४४॥

सूत्रविषयोपसम्पच्च त्रिविधा त्रिप्रकारा। **सुत्तत्थतदुभया चेव**—सूत्रार्थतदुभया चैव सूत्रार्थो यत्न: सूत्रोपसम्पत्, अर्थनिमित्तो यत्नो ऽर्थोपसम्पत्, सूत्रार्थोभयहेतुर्यत्न तदुभयोपसंपत् तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति। एकैकापि च सूत्रार्थोभयसम्पत् लौकिकवैदिकसामायिकशास्त्रभेदात्त्रिविधा। लौकिकसूत्रार्थतदुभयानामवगम.। तथा वैदिकाना सामायिकाना च। हुण्डावसर्पिण्यपेक्षया वैदिकशास्त्रस्य ग्रहण। अथवा सर्वकाल नयाभिप्रायस्य सम्भवाद्वैदिकस्य न दोष। अथवा वेदे सिद्धान्ते समये तर्कादौ इति। त्वद् महद्गुरुकुले आत्मनो निसर्ग. उपसम्पद्युक्ता[1]।

पदविभागिकस्य सामाचारस्य निरूपणार्थमाह—

करेंगे वह सब हम करेंगे', अथवा जो यह सब आपका है वह मेरा ही है ऐसे वचन बोलना यह सब सुख-दु खोपसपत् है।

विशेष—प्रश्न हो सकता है कि साधु साधु के लिए वसितका, आहार, औषधि आदि कैसे देंगे? समाधान यह है कि किसी वसितका आदि मे ठहरे हुए आचार्य उस वसतिका में ही उचित स्थान देंगे या अन्य वसतिकाओं मे उनकी व्यवस्था करा देंगे अथवा श्रावकों द्वारा वसतिका की व्यवस्था करायेंगे, ऐसे ही श्रावको के द्वारा उनके स्वास्थ्य आदि के अनुकूल आहार या रोग आदि के निमित्त औषधि आदि की व्यवस्था करायेंगे। यही व्यवस्था सर्वत्र विधेय है।

अब पचम सूत्रोपसपत् का वर्णन करते है—

गाथार्थ—सूत्र के विषय मे उपसपत् तीन प्रकार की है—सूत्रोपसपत्, अर्थोपसपत् और तदुभयोपसपत्। फिर लौकिक, वेद और समय की अपेक्षा से वह एक-एक भी तीन प्रकार की हो जाती है॥१४४॥

आचारवृत्ति—सूत्रोपसपत् के तीन भेद हैं—सूत्रोपसपत्, अर्थोपसपत् और सूत्रार्थोप-सपत्। सूत्र के लिए प्रयत्न करना सूत्रोपसंपत् है। उसके अर्थ को समझने के लिए प्रयत्न करना अर्थपसपत् है तथा सूत्र और अर्थ दोनो के लिए प्रयत्न करना सूत्रार्थोपसंपत् है। इन एक-एक के भी लौकिक, वैदिक और सामायिक शास्त्रो के भेद की अपेक्षा से तीन-तीन भेद हो जाते है। लौकिक सूत्र का ज्ञान लौकिक सूत्रोपसपत् है, लौकिक सूत्र के अर्थ का ज्ञान लौकिक सूत्र के अर्थ का उपसपत् और लौकिक सूत्र तथा उसका अर्थ इन दोनो का ज्ञान लौकिक सूत्रार्थ उप-संपत् है। ऐसे ही वैदिक और सामायिक के विषय मे भी समझना चाहिए अर्थात् वैदिक सूत्रो-पसंपत्, वैदिकार्थोपसपत् और वैदिकसूत्रार्थोपसपत् ये तीन भेद है। ऐसे ही सामायिकसूत्रोप-संपत्, सामायिकसूत्रसम्बन्धी अर्थोपसपत् और सामायिक सूत्रार्थोपसपत् ये तीन भेद होते हैं।

---

१. क "का सा कथ भवतीत्याह"।

कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं।
विणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥१४५॥

कोई— कश्चित्। **सव्वसमत्थो**—सर्वेऽपि प्रकारैर्वीर्यधैर्यविद्याबलोत्साहादिभि समर्थ कल्पः सर्व-समर्थ। **सगुरुसुद**—स्व गुरुश्रुत आत्मीयगुरूपाध्यायागत शास्त्र। **सव्व**—सर्व निरवशेष। **आगमित्ताणं**—आगम्य ज्ञात्वा। **विणएण**—विनयेन मनोवचनकायप्रणामं। **उवक्कमित्ता**—उपक्रम्य प्रारभ्योपढौक्य। **पुच्छदि**—पृच्छति अनुज्ञा याचते। **सगुरुं**—स्वगुरु। **पयत्तेण**—प्रयत्नेन प्रमाद त्यक्त्वा। कश्चित् सर्वशास्त्राधिगमबलोपेत. स्वगुरुशास्त्रमधिगम्य, अन्यदपि शास्त्रमधिगन्तुमिच्छन् विनयेनोपक्रम्य प्रयत्नेन स्वगुरु पृच्छति गुरुणानुज्ञातेन गन्तव्यमित्युक्त भवति।

यहाँ पर हुण्डावसर्पिणी की अपेक्षा से वैदिक शास्त्र का ग्रहण किया है। अथवा सभी कालो मे नयो का अभिप्राय सम्भव है इसलिए वैदिक को भी सर्वकाल मे माना जा सकता है। अथवा वेद अर्थात् सिद्धान्त और समय अर्थात् तर्कादि सम्बन्धी ग्रन्थ इनके विषय मे उपसपत् समझना। इस प्रकार से महान् गुरुकुल मे अपना आत्म समर्पण करना यह उपसपत् है इसका कथन पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ—व्याकरण, गणित आदि शास्त्रो को लौकिक शास्त्र कहते है। द्वादशाग श्रुत, प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोग, सिद्धान्त ग्रन्थ—षट्खण्डागम, कसायपाहुड, महाबन्ध आदि तथा स्याद्वादन्याय, प्रमेयकमलमार्तण्ड, समयसार आदि अध्यात्मशास्त्र ये सभी समयरूप अर्थात् सामायिक शास्त्र कहलाते है। वैदिक—ऋग्वेद आदि वेदो को वैदिक शास्त्र कहते है यह कथन वर्तमान के हुण्डावसर्पिणी की अपेक्षा है। पुन टीकाकार ने यह भी कहा है कि नयों के अभिप्राय से सभी कालो मे भी ग्रहण कर लिया गया है क्योकि इन वेदो का ज्ञान भी कुनयो मे अन्तर्भूत है। अथवा अन्य लक्षण भी टीकाकार ने किया है यथा—'वेद' से सिद्धान्त शास्त्रों का ग्रहण है और 'समय' से तर्कादि शास्त्रो का ग्रहण किया है। चूकि प्रथमानुयोग आदि चारो अनुयोगो को वेदसज्ञा है ओर स्वसमय परसमय से स्वमत-परमत के विषय मे परमत का खण्डन करके स्वमत का मण्डन करनेवाले न्यायग्रन्थ ही है।

यहाँ तक औघिक समाचार नीति का वर्णन हुआ।

अब पदविभागी समाचार का निरूपण करते हुए कहते है—

गाथार्थ—कोई सर्वसमर्थ साधु अपने गुरु के सम्पूर्ण श्रुत को पढकर, विनय से पास आकर और प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु से पूछता है ॥१४५॥

आचारवृत्ति—वीरता, धीरता, विद्या, बल और उत्साह आदि सभी प्रकार के गुणो से समर्थ कोई मुनि अपने दीक्षागुरु या अपने सघ के उपाध्याय—विद्यागुरु के उपलब्ध सभी शास्त्रों को पढ़कर पुन अन्यान्य शास्त्रो को पढने की इच्छा से उनके पास आकर विनयपूर्वक—मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करके प्रयत्न से उनसे पूछता है अर्थात् अन्य सघ मे जाने की आज्ञा माँगता है। अभिप्राय यह है कि गुरु की आज्ञा मिलने पर ही जाना चाहिए अन्यथा नही।

किं तत्पृच्छति इत्यत्रोच्यते—

तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं।
तिण्णि व पंच व छा वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ ॥१४६॥

तुज्झं पादपसादेण—त्वत्पादप्रसादात् त्वत्पादानुज्ञया। **अण्णं**—अन्यत्। **इच्छामि**—अभ्युपैमि। **गंतु**—यातु। **आयदणं**—सर्वशास्त्रपारगत चरणकरणोद्यतमाचार्यं, यद्यपि षडायतनानि लोके सर्वज्ञ., सर्वज्ञालय, ज्ञानं, ज्ञानोपयुक्त, चारित्र, चारित्रोपयुक्त इति भेदाद्भवन्ति तथापि ज्ञानोपयुक्तस्याचार्यस्य ग्रहणमधिकारात्। किमेकं प्रश्न करोति नेत्याह **तिण्णि व**—तिस्र। **पंच व**—पंच वा। **छा व**—षड् वा। चशब्दाच्चतस्रोऽधिका वा। **पुच्छाओ**—पृच्छा. प्रश्नान्। **एत्थ**—अत्रावसरे। **कुणदि**—करोति। अनेनात्मोत्साहो विनयो वा प्रदर्शित। भट्टारकपादप्रसन्नै अन्यदायतन गतुमिच्छामीत्यनेन प्रकारेण तिस्र पच षड्वा पृच्छा सोऽत्र करोतीति।

तत किंकरोत्यसावित्याह—

एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो।
अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वासो तदो णीदी ॥१४७॥

एवं पूर्वोक्तेन न्यायेन। **आपुच्छित्ता**—आपृच्छ्याभ्युपगमय्य। **सगवरगुरुणा**—स्वकीयवरगुरुभि

वह शिष्य गुरु से क्या पूछता है? सो ही बताते है—

गाथार्थ—'आपके चरणो की कृपा से अब मैं अन्य आयतन को प्राप्त करना चाहता हूँ' इस नरह वह मुनि इस विषय मे तीन बार या पाँच-छह बार प्रश्न करता है ॥१४६॥

आचारवृत्ति—मुनि अपने आचार्य से प्रार्थना करता है, 'हे भगवन्! आप भट्टारक के चरणकमलो की प्रसन्नता से, आपकी आज्ञा से अन्य आयतन को प्राप्त करना चाहता हूँ।' तेरह प्रकार के चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं में उद्यत, सर्वशास्त्रो मे पारगत आचार्य को यहाँ आयतन शब्द से कहा है। यद्यपि लोक में छह आयतन प्रसिद्ध है—सर्वज्ञदेव, सर्वज्ञ का मन्दिर, ज्ञान, ज्ञान से सयुक्त ज्ञानी, चारित्र और चारित्र से युक्त साधु ये छह माने है फिर भी यहाँ प्रकरण वश ज्ञानोपयुक्त आचार्य को ही ग्रहण करना चाहिए क्योकि उन्ही के विषय मे यह अधिकार है। वह मुनि ऐसे ज्ञान मे अधिक किन्ही अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन के लिए जाने हेतु अपने गुरु से एक बार ही नही, तीन चार या पाँच अथवा छह बार पूछता है। प्रश्न यह हो सकता है कि बार-बार पूछने का क्या हेतु है सो आचार्य बताते है कि बार-बार पूछने से अपना उत्साह प्रकट होता है अथवा विशेष विनय प्रकट होती है। अर्थात् पुन. पुन आज्ञा लेने से आचार्य के प्रति विशेष विनय और अपना अधिक ज्ञान प्राप्त करने मे उत्साह मालूम होता है।

पुन वह मुनि क्या करता है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार गुरु से पूछकर और अपने पूज्य गुरु से आज्ञा प्राप्त वह मुनि अपने सहित चार या तीन, दो मुनि होकर वहाँ से विहार करता है ॥१४७॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से वह मुनि अपने दीक्षागुरु, विद्यागुरु आदि से आज्ञा

दीक्षाश्रुतगुर्वादिभि । **विसज्जिदो**—विसृष्टो मुक्त । **सतो**—सन् । किमेकाकयसौ गच्छति नेत्याह—**अप्पच-उत्थो**—चतुर्णां पूरणश्चतुर्थ आत्मा चतुर्थो यस्यासावात्मचतुर्थ । त्रयाणा द्वयोर्वा पूरणस्तृतीयो द्वितीय । आत्मा तृतीयो द्वितीयो वा यस्यासावात्मतृतीय आत्मद्वितीय । त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेन वा सह गतव्य नैकाकिना । **सो तदो**—स साधुस्तत तस्मात् स्वगुरुकुलात् । **णीदि**—निर्गच्छति । एवमापृच्छ्य स्वकीयवरगुरुभिश्च विसृष्टः सन्नात्मचतुर्थो निर्गच्छति, आत्मतृतीय आत्मद्वितीयो वा उत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात् ॥१४७॥

किमिति कृत्वान्येन न्यायेन विहारो न युक्तो यत —

गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव ।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहि ॥१४८॥

गिहिदत्थेय—गृहीतो ज्ञातोऽर्थो जीवादितत्त्व येनासौ गृहीतार्थश्च एक प्रथम । **विहारो**—विहरण देशान्तरगमनेन चारित्रानुष्ठान । अथवा विहरतीति विहार एकश्च विहारश्चैकविहार । **विदिओ**—द्वितीय । अगिहीदत्थससिदो—अगृहीतार्थेन सश्रितो युक्त । अथ को द्वितीय , अगृहीतार्थस्तस्यानेन सहाचरण नैकस्य । **एत्तो**—एताभ्या गृहीतागृहीतार्थसश्रिताभ्यामन्य । **तदियविहारो**—तृतीयविहार । **णाणुण्णादो**—नानुज्ञातो नाभ्युपगतो जिनवरैरर्हद्भि । एको गृहीतार्थस्य विहारोऽपरोगृहीतार्थेन सश्रितस्य तृतीयो नानुज्ञात परमेष्ठिभिरिति ।

लेकर पुन क्या एकाकी जाता है ? नही, किंतु वह तीन को साथ लेकर या दो मुनियो या फिर एक मुनि के साथ जाता है । अर्थात् कम से कम दो मुनि मिलकर अपने गुरु के सघ से निकलते है । वह एकाकी नही जाता है ऐसा समझना । साराश रूप से उत्कृष्ट तो यह है कि वह मुनि अपने साथ तीन मुनियो को लेकर जावे । मध्यम मार्ग यह है कि दो मुनियों के साथ जावे और जघन्य मार्ग यह है कि एक मुनि अपने साथ लेकर जावे । अकेले जाना उचित नही है ।

अन्य रीति से मुनि का विहार क्यो युक्त नही ? इसी बात को बताते है—

गाथार्थ—गृहीतार्थ विहार नाम का विहार एक है और अगृहीतार्थ से सहित विहार दूसरा है। इनसे अतिरिक्त तीसरा कोई भी विहार जिनेन्द्रदेव ने स्वीकार नही किया है ॥१४८॥

आचारवृत्ति—गृहीत—जान लिया है अर्थ—जीवादि तत्त्वो को जिन्होंने उनका विहार गृहीतार्थ कहलाता है। यह पहला विहार है अर्थात् जो जीवादि पदार्थो के ज्ञाता महासाधु देशातर मे गमन करते हुए चरित्र का अनुष्ठान करते है उनका विहार गृहीतार्थ नाम का विहार है । अथवा गृहीतार्थ साधु एक—एकल विहारी होता है । दूसरा विहार अगृहीत अर्थ से सहित है । इनके अतिरिक्त तीसरा विहार अर्हतदेव ने स्वीकार नही किया है ।

भावार्थ—विहार के दो भेद है गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ । तत्त्वज्ञानी मुनि चारित्र मे दृढ़ रहते हुए जो सर्वत्र विचरण करते है उनका विहार प्रथम है और जो अल्प-ज्ञानी चारित्र का पालन करते हुए विचरण करते है उनका विहार द्वितीय है । इनके सिवाय अन्य तरह का विहार जिनशासन मे अमान्य है ।

किंविशिष्ट एकविहारीत्यत आह—

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य ।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥१४६॥

तपो द्वादशविधं सूत्रं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वरूपं कालक्षेत्रानुरूपो वाऽऽगमः प्रायश्चित्ता-दिग्रन्थो वा सत्त्व—कायगतं अस्थिगतं च बलं देहात्मकं वा भावसत्त्व, एकत्वं शरीरादिविविक्ते स्वात्मनि रतिः भाव शुभपरिणाम सत्त्वकार्यं, सहननं अस्थित्वग्दृढता वज्रर्षभनाराचादित्रयं, धृतिः मनोबलं, क्षुधाद्यबाधनं चैतासां द्वंद्व एताभियुक्तस्तप सूत्रसत्त्वैकत्वभावसहननधृतिसमग्र । न केवलमेवविशिष्ट किन्तु **पवियाआगम-बलिओ**—प्रव्रज्यागमबलवांश्च तपसा वृद्ध , आचारसिद्धान्तक्षुण्णश्च य स एकविहारी अनुज्ञातोऽनुमतो जिन-वरैरिति सम्बन्ध ।

न पुनरेवभूत —

सच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे ।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी ॥१५०॥

सच्छंदगदागदी—स्वैरं स्वेच्छया गत्यागती गमनागमने यस्यासौ स्वैरगतागति । केषु स्थानेष्वि-

---

एकलविहारी साधु कैसे होते हैं ? सो बताते है—

गाथार्थ—तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, सहनन और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण दीक्षा और आगम मे बली मुनि एकलविहारी स्वीकार किया गया है ॥१४६॥

आचारवृत्ति—अनशन आदि द्वादश प्रकार का तप है । बारह अग और चौदह पूर्व को सूत्र कहते है अथवा उस काल-क्षेत्र के अनुरूप जो आगम है वह भी सूत्र है तथा प्रायश्चित्त ग्रन्थ आदि भी सूत्र नाम से कहे गए है । शरीरगत बल को, अस्थि की शक्ति को अथवा भावो के बल को सत्त्व कहते है । शरीर आदि से भिन्न अपनी आत्मा मे रति का नाम एकत्व है। और शुभ परिणाम को भाव कहते है यह सत्त्व का कार्य है। अस्थियो की और त्वचा की दृढता वज्रऋषभ आदि तीन सहननो में विशेष रहती है । मनोबल को धैर्य कहते है । क्षुधादि से व्याकुल नही होना धैर्यगुण है । जो इन तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव तथा उत्तम संहनन और धैर्य गुणों से परिपूर्ण है, इतना ही नही, दीक्षा से आगम से भी बलवान है अर्थात् तपश्चर्या से वृद्ध हैं—अधिक तपस्वी हैं, आचार सम्बन्धी सिद्धान्त मे भी अक्षुण्ण है—निष्णात है । अर्थात् आचार ग्रन्थों के अनुकूल चर्या मे निपुण है ऐसे गुणविशिष्ट मुनि को ही जिनेन्द्रदेव ने एकलविहारी होने की अनुमति दी है ।

किन्तु जो ऐसे गुणयुक्त नही है उनके लिए क्या आज्ञा है ?

गाथार्थ—गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मलमूत्रादि विसर्जन करना—इन कार्यो मे जा स्वच्छद प्रवृत्ति करनेवाला है, और बोलने मे भी स्वच्छन्द रुचि वाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे ॥१५०॥

आचारवृत्ति—जिसका स्वैर वृत्ति से गमन-आगमन है । किन-किन स्थानों में ?—

त्याह—**सयणं**—शयन । **णिसयणं**—निषदन आसन । **आदाणं**—आदान ग्रहण । **भिक्ख**—भिक्षा । **वोसरणं**—मूत्रपुरीषाद्युत्सर्ग । एतेषु प्रदेशेषु शयनासनादानभिक्षाद्युत्सर्गकालेषु । **सच्छंदजपिरोचि य**—स्वेच्छया जल्पनशीलश्च स्वेच्छया जल्पने रुचिर्यस्य वा एवभूतो य स । **मे**—मम शत्रुरप्येकाकी माभूत् किं पुनर्मुनिरिति ।

यदि पुनरेवभूतोऽपि विहरति तत कि स्यादत प्राह—

गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा ।
भिंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ॥१५१॥

गुरुपरिवादो—गुरो परिवाद परिभव केनाय नि शीलो लुञ्चित इति लोकवचन । **सुदवुच्छेदो**—श्रुतस्य व्युच्छेदो विनाश स तथाभूतस्त दृष्ट्वा अन्योऽपि भवति अन्योऽपि कश्चिदपि न गुरुगृह सेवते तत श्रुतविनाश । **तित्थस्स**—तीर्थस्य शासनस्य । **मइलणा**—मलिनत्व नमोस्तूना[1] शासने एवभूता सर्वेऽपीति मिथ्यादृष्ट्यो वदन्ति । **जडदा**—मूर्खत्व । **भिभल**—विह्वल आकुल । **कुसील**—कुशील । **पासत्थ**—पार्श्वस्थ एतेषा भाव विह्वलकुशीलपार्श्वस्थता । **उस्सारकप्पम्हि**—उत्सारकल्पे त्याज्यकल्पे गण त्यक्त्वा एकाकिनो विहरणे इत्यर्थ । मुनिनैकाकिना विहरमाणेन गुरुपरिभवश्रुतव्युच्छेदतीर्थमलिनत्वजडता कृता भवन्ति तथा विह्वलत्वकुशीलत्वपार्श्वस्थत्वानि कृतानीति ॥१५१॥

सोने मे, बैठने मे, किसी वस्तु के ग्रहण करने मे, आहार ग्रहण करने मे, और मलमूत्रादि के विसर्जन करने मे—इन प्रसगो मे जो स्वेच्छा से प्रवृत्ति करता है और बोलने मे जो स्वेच्छाचारी है ऐसा मेरा शत्रु भी एकाकी न होवे फिर मुनि की तो बात ही क्या है । अर्थात् आहार, विहार नीहार, उठना, बैठना, सोना और किसी वस्तु का उठाना या धरना इन सभी कार्यो मे जो आगम के विरुद्ध मनमानी प्रवृत्ति करता है ऐसा कोई भी, मेरा शत्रु ही क्यो न हो, अकेला—न रहे, मुनि की तो बात ही क्या है । उन्हे तो हमेशा गुरुओ के सघ मे ही रहना चाहिए ।

और फिर भी यदि ऐसा मुनि अकेला विहार करता है तो क्या होता है ? सो बताते है—

गाथार्थ—स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति मे गुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता मूढता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता ये दोष आते है ॥१५१॥

आचारवृत्ति—उत्सार कल्प मे गण को छोडकर एकाकी विहार करने पर उस मुनि के गुरु का तिरस्कार होता है अर्थात् इस शीलशून्य मुनि को किसने मूड दिया है ऐसा लोग कहने लगते है । श्रुत की परम्परा का विच्छेद हो जाता है अर्थात् ऐसे एकाकी अनर्गल साधु को देखकर अन्य मुनि भी ऐसे हो जाते है, पुन कुछ अन्य भी मुनि देखादेखी अपने गुरुगृह अर्थात् गुरु के सघ मे नही रहते है तब श्रुत—शास्त्रो के अर्थ को ग्रहण न करने से श्रुत का नाश हो जाता है । तीर्थ का अर्थ शासन है । जिनेन्द्रदेव के शासन को 'नमोस्तु शासन' कहते हैं अर्थात् इसी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में मुनियो को 'नमोस्तु' शब्द से नमस्कार किया जाता है । इस नमोस्तु शासन मे—जैन शासन मे सभी मुनि ऐसे ही (स्वच्छन्द) होते है ऐसा मिथ्यादृष्टि लोग कहने लगते है । तथा उस मुनि मे स्वय मूर्खता, विह्वलता, कुशीलता और पार्श्वस्थ रूप दुर्गुण प्रवेश कर जाते है ।

---

१. क °त्व सर्वज्ञाना शा° ।

न केवलमेते दोषा किन्त्वात्मविपत्तिश्चेत्यत आह—

कंटयखण्णुयपडिणियमाणगोणादिसप्पमेच्छेहिं ।
पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव ॥१५२॥

कंटय—कण्टका । **खणुय**—स्थाणु । **पडिणिय**—प्रत्यनीका क्रुद्धा । **साणगोणादि**—श्वगवादयः । **सप्पमेच्छेहिं**—सर्पम्लेच्छा.। एतेषा द्वन्द्वस्तै कण्टकस्थाणुप्रत्यनीकश्वगवादिसर्पम्लेच्छै । **पावइ**—प्राप्नोति। **आदविवत्ती**—आत्मविपत्ति स्वविनाश । **विसेण व**—विषेण च मारणात्मकेन द्रव्येण । **विसूइया चेव**—विसूचिकया वाजीर्णेन । एवकारो निश्चयार्थ । निश्चयेनैकाकी विहरन् कण्टकादिभिर्विषेण विसूचिकया वात्मविपत्ति प्राप्नोति ॥१५२॥

विहरस्तावत्तिष्ठतु तिष्ठन् कश्चित् पुनर्निर्धर्मो गुरुकुलेऽपि द्वितीय नेच्छतीत्याह—

गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो ।
गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ॥१५३॥

गारविओ—गौरवसमन्वित ऋद्धिरससातप्राप्त्या अन्यानधिक्षिपति । **गिद्धीओ**—गृद्धिक आकां-

---

भावार्थ—जो मुनि आगम से विरुद्ध होकर अकेले विहार करते है उनके निमित्त से उनके दीक्षागुरु का अपमान, श्रुत की परम्परा का विच्छेद, जैन शासन की निन्दा ये दोष होते है तथा उस मुनि के अन्दर मूर्खता आदि दोष आ जाते है ।

केवल इतने ही दोष नही होते है, मुनि के आत्मविपत्तियाँ भी आ जाती हैं, सो ही बताते है—

गाथार्थ—ठूँठ, विरोधीजन, कुत्ता, गौ आदि तथा सर्प और म्लेच्छ जनो से अथवा विष से और अजीर्ण आदि रोगो से अपने आपमें विपत्ति को प्राप्त कर लेता है ॥१५२॥

आचारवृत्ति—निश्चय से एकाकी विहार करता हुआ मुनि काँटे से, ठूँठ से, मिथ्या-दृष्टि, क्रोधी या विरोधी जनो से, कुत्ते-गौ आदि पशुओ से या साँप आदि हिंसक प्राणि से अथवा म्लेच्छ अर्थात् नीच-अज्ञानी जनो के द्वारा स्वय को कष्ट मे डाल लेता है। अथवा विषैले आहार आदि से या हैजा आदि रोगो से आत्म विपत्ति को प्राप्त कर लेता है। इसलिए अकेले विहार करना उचित नही है। यहाँ 'एव' शब्द निश्चय अर्थ का वाची है अत. अकेले विहार करनेवाला मुनि निश्चित ही इन कटक, विष आदि निमित्तो से अपनी हानि कर लेता है।

एकाकी विहार करनेवाले की बात तो दूर ही रहने दीजिए, कोई धर्मशून्य मुनि गुरु के सघ मे भी दूसरे मुनिजन को नही चाहता है—

गाथार्थ—जो गौरव से सहित है, आहार मे लम्पट है, मायाचारी है, आलसी है, लोभी है और धर्म से रहित है ऐसा शिथिल मुनि सघ मे रहते हुए भी साधु समूह को नही चाहता है ॥१५३॥

आचारवृत्ति—जो ऋद्धि, रस और साता को प्राप्त करके उनके गौरव से सहित होता

क्षितभोग ग्रहिको वा । **माइल्लो**—मायावी कुटिलभाव । **अलस**—आलस्ययुक्त उद्योगरहित । **लुद्धो**—लुब्ध. अत्यागशील । **णिद्धम्मो**—निर्धर्म पापबुद्धि । **गच्छेवि**—गुरुकुलेऽपि ऋषिसमुदायमध्येऽपि त्रैपुरुषिको गण , साप्तपुरुषिको गच्छ । **संवसंतो**—सवसन् तिष्ठन् । **णेच्छइ**—नेच्छति नाभ्युपगच्छति । **संघाडयं**—सघाटक द्वितीय । **मंदो**—मद शिथिल । कश्चिन्निर्धर्मोऽलसो लुब्धो मायावी गौरविक काक्षावान् गच्छेऽपि सवसन् द्वितीय नेच्छति शिथिलत्वयोगादिति ॥ १५३॥

किमेतान्येव पापस्थानानि एकाकिनो विहरतो भवन्तीत्युतान्यान्यपीत्यत आह—

आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य ।
संजमविराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा ॥ १५४॥

आणा—आज्ञा कोप सर्वज्ञशासनोल्लघन । नन्वाज्ञाग्रहणात्कथमाज्ञाभगस्य ग्रहण, एकदेशग्रहणात् यथा भामाग्रहणात् सत्यभामाया ग्रहण सेनग्रहणाद्वा भीमसेनस्य । अथवोत्तरत्राज्ञाकोपादिग्रहणाद्वा । यद्यत्राज्ञाया एव ग्रहण स्यादुत्तरत्र कथमाज्ञाकोपादिका पचापि दोषा कृतास्तेनेत्याचार्यो भणति तस्मात्प्राकृतलक्षणबलात् कोपशब्दस्य निर्वृत्ति कृत्वा निर्देश कृत । **अणवत्था**—अनवस्था अतिप्रसग , अन्येऽपि तेनैवप्रकारेण प्रवर्तेरन् । **अवि य**—अपि च । **मिच्छत्ताराहणा**—मिथ्यात्वस्याराधना सेवा । **आदणासो य**—आत्मनो नाशश्चात्मीयाना

हुआ अन्य मुनियो की अवहेलना करता है, जो भोगो की आकाक्षा करनेवाला है अथवा हठग्राह है, कुटिल स्वभावी है, आलसी होने से उद्योग—पुरुषार्थ रहित है, लोभी है, पापबुद्धि है और मन्द शिथिलाचारी है ऐसा मुनि गुरुकुल—ऋषियो के समुदाय के मध्य रहता हुआ भी द्वितीय मुनि का ससर्ग नही चाहता है अर्थात् अकेला ही उठना, बैठना, बोलना आदि चाहता है अन्य मुनि के निकट बैठना, उठना पसन्द नही करता है। यहाँ पर मूल मे 'गच्छ' शब्द है । तदनुसार तीन पुरुषो के समूह को गण और सात पुरुषो के समूह को गच्छ कहते है ।

भावार्थ—शिष्य, पुस्तक, पिच्छिका, कमण्डलु इत्यादि पदार्थ मेरे समान अन्य मुनियों के सुन्दर नही है ऐसा गर्व करना तथा दूसरो का तिरस्कार करना ऋद्धिगौरव है । भोजन-पान के पदार्थ अच्छे स्वादयुक्त मिलते है ऐसा गर्व करना यह रसगौरव है । मै बडा सुखी हूँ इत्यादि गर्व करना सातगौरव है । ऐसा गौरव करनेवाला मुनि उपर्युक्त अन्य भी अवगुणो से सहित हो, सघ मे रहकर भी यदि एकाकी बैठना, उठना पसद करता हुआ स्वच्छन्द रहता है तो वह भी दोषी है।

एकाकी विहार करनेवाले मुनि के क्या इतने ही पापस्थान होते है अथवा अन्य भी होते है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते है—

गाथार्थ—एकाकी रहनेवाले के आज्ञा का उलघन, अनवस्था, मिथ्यात्व का सेवन, आत्मनाश और सयम की विराधना ये पाँच पापस्थान माने गए है ॥ १५४॥

आचारवृत्ति—अकेले विहरण करनेवाले मुनि के सर्वज्ञदेव की आज्ञा का उलघन होना यह एक दोष होता है ।

प्रश्न—गाथा मे मात्र 'आज्ञा' शब्द है । इतने मात्र से 'आज्ञा का भंग होना' ऐसा अर्थ आप टीकाकार कैसे करते हैं ?

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा विघात , आत्मीयस्य कार्यस्य वा । **संयमविराहणावि य**—सयमस्य विराधनापि च, इन्द्रियप्रसरोऽविरतिश्च । **एदेदु**—एतानि तु । **णिकाइया**—निकाचितानि पापागमनकारणानि निश्चितानि पुष्टानि वा । **ठाणाणि**—स्थानानि । अपि च शब्दादन्यान्यपि कृतानि भवन्ति इत्यध्याहार । एकाकिनो विहरत एतानि पचस्थानानि भवन्त्येवान्यानि पुनर्भाज्यानीति ।

एवभूतस्य तस्य सश्रुतस्य ससहायस्य विहरत कथभूते गुरुकुले वासो न कल्पते इत्याह—

उत्तर—एक देश ग्रहण से भी पूर्ण पद के अर्थ का ज्ञान होता है जैसे कि 'भामा' के कहने से सत्यभामा का ग्रहण हो जाता है और 'सेन' शब्द के ग्रहण से भीमसेन का ग्रहण होता है। अथवा आगे १७६ वी गाथा मे 'आज्ञाकोपादय पचापि दोषा कृतास्तेन' ऐसा पाठ है। वहाँ पर आज्ञाकोप शब्द लिया है। यदि यहाँ पर आज्ञा का ही ग्रहण किया जावे तो आगे आज्ञाकोप आदि पाँचो भी दोष उसने किये है, ऐसा कैसे कहते ? इसलिए यहाँ पर प्राकृत व्याकरण के नियम से 'कोप' शब्द का लोप करके निर्देश किया है ऐसा जानना।

अनवस्था का अर्थ अतिप्रसग है अर्थात् अन्य मुनि भी उसे एकाकी देखकर वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जावेगे यह अनवस्था दोष आयेगा तब कही कुछ व्यवस्था नही बन सकेगी। तथा मिथ्यात्व का सेवन होना यह तृतीय दोष आवेगा। आत्मनाश अर्थात् अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र का विघात हो जावेगा। अथवा अपने निजी कार्यों का भी विनाश हो जावेगा। सयम की विराधना भी हो जावेगी अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह न होकर उनकी विषयों में प्रवृत्ति तथा अविरत परिणाम भी हो जावेगे। ये पाँच निकाचित स्थान अर्थात् पाप के आने के कारणभूत स्थान निश्चित रूप या पुष्ट हो जावेगे। अपि शब्द से ऐसा समझना कि अन्य भी पापस्थान उस मुनि के द्वारा किये जा सकेंगे अर्थात् जो एकलविहारी बनेगे उनके ये पाँच दोष तो होगे ही होगे, अन्य भी दोष हो सकते है वे वैकल्पिक है।

भावार्थ—जो मुनि स्वच्छन्द होकर एकाकी विचरण करते है सबसे पहले तो वे जिनेन्द्र देव की आज्ञा का उलघन करना—यह एक पाप करते है। उनकी देखा-देखी अन्य मुनि भी एकाकी विचरण करने लगते है। और तब ऐसी परम्परा चलने लग जाती है—यह दूसरा अनवस्था नामक दोष है। लोगो के ससर्ग से अपना सम्यक्त्व छूट जाता है और मिथ्यात्व के ससर्ग से मिथ्यात्व के सस्कार बन जाते है—यह तीसरा दोष है। उस मुनि के अपने निजी गुण सम्यग्दर्शन आदि है जिन्हे बड़ी मुश्किल से प्राप्त किया है, उनकी हानि हो जाती है—यह चौथा पाप होता है और असयमी निरर्गल जीवन हो जाने से सयम की विराधना भी हो जाती है। ये पाँच निकाचित अर्थात् निश्चित रूप से मजबूत पापस्थान तो होते ही होते है, अन्य भी दोष सभव हैं। इसलिए जिनकल्पी—उत्तम सहनन आदि गुणों से युक्त मुनि के सिवाय सामान्य—अल्पशक्तिवाले मुनियो को एकलविहारी होने के लिए जिनेन्द्रदेव की आज्ञा नही है।

इसप्रकार के श्रुत सहित और सहाय सहित जो साधु विहार करता है उसे किस प्रकार के गुरुकुल में निवास करना ठीक नही है ? सो ही बताते हैं—

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥१५५॥

तत्थ—तत्र गुरुकुले। **ण कप्पइ**—न कल्पते न युज्यते। **वासो**—वसन वास. स्थान। **जत्थ**—यत्र यस्मिन् गुरुकुले। णत्थि—न सन्ति न विद्यन्ते। **इमे**—एते। **पच आधारा**—आधारभूता अनुग्रहकुशला.। के तेऽत आह— **आयरिय**—आचार्य। **उवज्झाय**—उपाध्याय, आचर्यतेऽस्मादाचार्य, उपेत्यास्मादधीयते उपाध्याय। **पवत्त**—प्रवर्तक, सघ प्रवर्तयतीति प्रवर्तक। **थविर**—स्थविर यस्मात् स्थिराणि आचरणानि भवन्तीति स्थविर। **गणधरा य**—गणः गच्छ गण धरतीति गणधर। यत्र इमे पचाधारा आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणधरा न सन्ति तत्र न कल्पते वास इति ॥१५५॥

अथ किलक्षणास्तेऽत आह—

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ॥१५६॥

एतेषामाचार्यादीनामेतानि यथासख्येन लक्षणानि। **सिस्साणुग्गहकुसलो**—शिष्यस्य शासितु योग्यस्यानुग्रह उपादान तस्मिस्तस्य वा कुशलो दक्ष शिष्यानुग्रहकुशलो दीक्षादिभिरनुग्राहक परस्यात्मनश्च। **धम्मुवदेसो य**—धर्मस्य दशप्रकारस्योपदेशक कथक धर्मोपदेशक। **संघवट्टवओ**—सघप्रवर्तकश्चर्यादिभिरुपकारक। **मज्जादुवदेसोविय**—मर्यादाया स्थितेरुपदेशको मर्यादोपदेशक। **गणपरिरक्खो**—गणस्य परिरक्षक

गाथार्थ—जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार नही है वहाँ पर रहना उचित नही है ॥१५५॥

आचारवृत्ति—जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हे आचार्य कहते है। पास मे आकर जिनसे अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय है। जो सघ का प्रवर्तन करते है वे प्रवर्तक कहलाते है। जिनसे आचरण स्थिर होते हे वे स्थविर कहलाते हे और जो गण—सघ को धारण करते है वे गणधर कहलाते है। जिस गुरुकुल मे ये पाँच आधारभूत—अनुग्रह करने में कुशल नही है उस गुरुकुल—सघ मे उपर्युक्त मुनि का रहना उचित नही है।

इनके लक्षण क्या क्या है ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—शिष्यो पर अनुग्रह करने मे कुशल को आचार्य, धर्म के उपदेशक को उपाध्याय, सघ की प्रवृत्ति करनेवाले को प्रवर्तक, मर्यादा के उपदेशक को स्थविर और गण के रक्षक को गणधर जानना चाहिए ॥१५६॥

आचारवृत्ति—इन आचार्य आदिको के ये उपर्युक्त लक्षण क्रम से कहे गये है। 'शासितु योग्य शिष्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अनुशासन के योग्य है वे शिष्य कहलाते है। उनके अनुग्रह मे है अर्थात् उनको ग्रहण करने मे जो कुशल होते है, दीक्षा आदि के द्वारा पर के ऊपर और स्वय पर अनुग्रह करनेवाले है वे आचार्य कहलाते है। दश प्रकार के धर्म को कहनेवाले उपाध्याय कहलाते है। चर्या आदि के द्वारा संघ का प्रवर्तन करनेवाले प्रवर्तक होते है। मर्यादा का उपदेश देनेवाले अर्थात् व्यवस्था बनानेवाले स्थविर कहलाते है और गण के पालन

पालकोगणपरिरक्षकश्च । **मुणेयव्वो**—मन्तव्यो ज्ञातव्य.। मन्तव्यशब्द मर्वत्र संबंधनीय । यत्र चैते पचाधारा सन्ति तत्र वास कर्तव्य इति शेष ॥१५६॥

अथ तेन गच्छता यद्यन्तराले किंचिल्लब्ध पुस्तकादिक तस्य कोऽर्हं इत्याह—

जंतेणंतरलद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं दव्वं ।
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवंगुणो सोवि ॥१५७॥

जंतेण—यत्तेन[1] । **अंतरलद्धं**—अन्तराले लब्ध प्राप्त । **सचित्ताचित्तमिस्सय दव्वं**—सचित्ताचित्त-मिश्रक द्रव्य सचित्त छात्रादिक, अचित्त पुस्तकादिक, मिश्र पुस्तकादिसमन्वित जीवद्रव्य । **तस्स य**—तस्य च । **सो आयरिओ**—स आचार्य.। **अरिहदि**—अर्हं । अथवा तद्द्रव्य आचार्योऽर्हति । सचित्ताचित्तमिश्रक द्रव्य यत्तेनान्तराले लब्ध तस्य स आचार्योऽर्होऽर्हति वा तद्द्रव्यमिति वा आचार्योऽपि कथ विशिष्ट **एवंगुणो सोवि**—एवगुण. सोऽपि ।

कथगुणोत आह—

संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती ।
किरिआचरणसुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य ॥१५८॥

सगहणुग्गहकुसलो—सग्रहण सग्रह, अनुग्रहणमनुग्रह., कोऽनयोर्भेदो दीक्षादिदानेनात्मीयकरण

करनेवाले को गणधर कहते है, ऐसा जानना चाहिए । जिस सघ में ये पाँच आधार रहते हैं उसी सघ में निवास करना चाहिए ।

विहार करते हुए मार्ग के मध्य जो कुछ भी पुस्तक या शिष्य आदि मिलते है उनको ग्रहण करने के लिए कौन योग्य है ? ऐसा प्रश्न होने पर बताते हैं—

गाथार्थ—उस मुनि ने सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र ऐसा द्रव्य जो कुछ भी मार्ग के मध्य प्राप्त किया है उसके ग्रहण करने के लिए वह आचार्य योग्य होता है। वह आचार्य भी आगे कहे हुए गुणो से विशिष्ट होना चाहिए ॥१५७॥

आचारवृत्ति—उस मुनि के विहार करते हुए मार्ग के गाँवो मे जो कुछ भी द्रव्य सचित्त—छात्र आदि, अचित्त—पुस्तक आदि और मिश्र—पुस्तक आदि से सहित शिष्य आदि मिलते है उन सब द्रव्य का स्वामी वह आचार्य होता है। आचार्य भी कैसे होना चाहिए ? वह आचार्य भी आगे कहे जानेवाले गुणो से समन्वित होना चाहिए ।

वह आचार्य किन गुणों से युक्त होना चाहिए ? सो ही कहते है—

गाथार्थ—वह आचार्य सग्रह और अनुग्रह मे कुशल, सूत्र के अर्थ में विशारद, कीर्त्ति से प्रसिद्धि को प्राप्त और चरित्र मे तत्पर और ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन बोलनेवाला होता है ॥१५८॥

आचारवृत्ति—संग्रह और अनुग्रह मे क्या अन्तर है ? दीक्षा आदि देकर अपना

---

१. क यत्नेन ।

संग्रह. दत्तदीक्षस्य शास्त्रादिभि सस्करणमनुग्रहस्तयो कर्तव्ये ताभ्या वा कुशलो निपुण । **सुत्तत्थविसारओ**—सूत्र चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोस्ताभ्या वा विशारदोऽवबोधको विस्तारको वा सूत्रार्थविशारद । **पहिदकित्ती**—प्रख्यातकीर्ति । **किरियाचरणसुजुत्तो**—क्रिया त्रयोदशप्रकारा पचनमस्कारावश्यकासिकानिषेधिकाभेदात् । **आचरणमपि**—त्रयोदशविध पचमहाव्रतपचसमितित्रिगुप्तिविकल्पात् । तयोस्ताभ्या वा सुयुक्त आसक्त: क्रियाचरणसुयुक्त । **गाहुयं**—ग्राह्य । **आदेज्जं**—आदेय । ग्राह्य वचन यस्यासौ ग्राह्यादेयवचन. । उक्तमात्रस्य ग्रहण ग्राह्य एवमेवैतदित्यनेन भावेन ग्रहण, आदेय प्रमाणीभूतम् ॥१५८॥

पुनरपि—

गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो ।
खिदिससिसायरसरसो कमेण तं सो दु संपत्तो ॥१५९॥

गंभीरो—अक्षोभ्यो गुणैरगाध । **दुद्धरिसो**—दु खेन धृष्यत इति दुर्धर्ष प्रवादिभिरकृतपरिभव । **सूरो**—शूर शौर्योपेत समर्थ । **धम्मप्पहावणासीलो**—धर्मश्च प्रभावना च धर्मस्य वा प्रभावना तयोस्ताभ्या वा शील तात्पर्येण वृत्तिर्यस्यासौ धर्मप्रभावनाशील । **खिदि**—क्षिति पृथिवी, **ससि**—शशी चन्द्रमा , **सायर**—

बनाना सग्रह है और जिन्हे दीक्षा आदि दे चुके है ऐसे शिष्यो का शास्त्रादि के द्वारा सस्कार करना अनुग्रह है अर्थात् दीक्षा आदि देकर शिष्यो को सघ मे एकत्रित करना सग्रह है और पुन. उन्हे पढा लिखाकर योग्य बनाना अनुग्रह है । इन सग्रह और अनुग्रह के कार्य मे जो कुशल है, निपुण है वे 'सग्रहानुग्रहकुशल' कहलाते है । जो सूत्र ओर अर्थ मे विशारद है, उनको समझाने वाले है अथवा उन सूत्र और अर्थ का विस्तार से प्रतिपादन करनेवाले है वे 'सूत्रार्थविशारद' कहलाते है । जिनकी कीर्त्ति सर्वत्र फैल रही है, जो पाँच नमस्कार, छह आवश्यक, आसिका और निषेधिका—इन तेरह प्रकार की क्रियाओ मे तथा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र मे सम्यक् प्रकार से लगे हुए है, आसक्त है तथा जिनके वचन ग्राह्य और आदेय है, अर्थात् उक्त—कथित मात्र को ग्रहण करना ग्राह्य है जैसे कि गुरु ने कुछ कहा तो 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार के भाव से उन वचनो को ग्रहण करना ग्राह्य है और आदेय प्रमाणीभूत वचन को आदेय कहते है । जिनके वचन ग्राह्य और आदेय है ऐसे उपर्युक्त सभी गुणो से समन्वित ही आचार्य होते है ।

पुनरपि उनमे क्या क्या गुण होते है ?—

गाथार्थ—जो गभीर है, दुर्धर्ष है, शूर है और धर्म की प्रभावना करनेवाले हैं, भूमि, चन्द्र और समुद्र के गुणो के सदृश है इन गुण विशिष्ट आचार्य को वह मुनि क्रम से प्राप्त करता है ॥१५९॥

आचारवृत्ति—जो क्षुभित नही होने से अक्षोभ्य है और गुणो से अगाध हैं वे गभीर कहलाते है । जिनका प्रवादियो के द्वारा परिभव—तिरस्कार नही किया जा सकता है वे दुर्धर्ष कहलाते है । शौर्य गुण से सहित अर्थात् समर्थ को शूर कहते है । जो गम्भीर हैं, प्रवादियो से अजेय हैं, समर्थ है और धर्म की प्रभावना करने का ही जिनका स्वभाव है, जो क्षमागुण मे पृथ्वी के सदृश है, सौम्य गुण से चन्द्रमा के सदृश और निर्मलता गुण से समुद्र के समान हैं—

सागर· समुद्र । क्षमया क्षिति· सौम्येन शशी निर्मलत्वेन सागरोऽस्तस्तै । सरिसो—सदृशः सम· क्षितिशशिसागरसदृश । एवगुणविशिष्टो य आचार्यस्तमाचार्यम् । कम—क्रमेण न्यायेनागमोक्तेन । सो दु—स तु शिष्य. । संपत्तो—सप्राप्त प्राप्तवानिति ॥१५६॥

तस्यागतस्याचार्यादय किं कुर्वन्तीत्याह—

आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे ।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठंति ॥१६०॥

आएसं—आगत पादोष्ण प्राघूर्णक [1]आयस्यायास कृत्वा वा । **एज्जंतं**—आगच्छन्त । **सहसा**—तत्क्षणादेव । **दट्ठूण**—दृष्ट्वा । **संजदा**—सयता । **सव्वे**—सर्वेऽपि । **समुट्ठन्ति**—समुत्तिष्ठते ऊर्ध्वज्ञबो भवन्ति । किहेतोरित्याह—**वच्छल्ल**—वात्सल्यनिमित्त । **आणा**—सर्वज्ञाज्ञापालनकारण । **संगह**—सग्रह[2] आत्मीयकरणार्थं । **पणमणहेदुं**—प्रणमनहेतोश्च ॥१६०॥

पुनरपि—

पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च ।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥१६१॥

पच्चुग्गमणं किच्चा—प्रत्युद्गमन कृत्वा । **सत्तपदं**—सप्तपद यथा भवति । **अण्णमण्णपणमं च**—अन्योऽन्यप्रणाम च परस्परवन्दनाप्रतिवन्दने च । तत. **पाहुणकरणीयकदे**—पादोष्णस्य यत्कर्तव्य तस्मिन् कृते प्रतिपादिते सति पश्चात् । **तिरयणसंपुच्छणं**—त्रिरत्नसप्रश्न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसप्रश्न । **कुज्जा**—कुर्यात्करोतु ॥१६१॥

इन गुण विशिष्ट आचार्य को वह मुनि आगम मे कथित प्रकार से प्राप्त करता है । अर्थात उपर्युक्त गुणसमन्वित के पास वह मुनि पहुँच जाता है ।

इस आगत मुनि के लिए आचार्य आदि क्या करते हैं ? सो कहते है—

गाथार्थ—प्रयास से आते हुए मुनि को देखकर सभी साधु वात्सल्य, जिन आज्ञा, उसका सग्रह और उसे प्रणाम करने के लिए तत्काल ही उठकर खडे हो जाते है ॥१६०॥

आचारवृत्ति—आयासपूर्वक—पर सघ से प्रयास कर आते हुए आगन्तुक मुनि को देखकर सघ के सभी मुनि उठकर खडे हो जाते है। किसलिए ? मुनि के प्रति वात्सल्य के लिए, सर्वज्ञदेव की आज्ञा पालन करने के लिए, आगतुक साधु को अपनाने के लिए, और उनको प्रणाम करने के लिए वे सयत तत्क्षण खडे हो जाते है ।

पुनरपि वास्तव्य साधु क्या करे ?—

गाथार्थ—वे मुनि सात कदम आगे जाकर परस्पर में प्रणाम करके आगन्तुक के प्रति करने योग्य कर्तव्य के लिए उनसे रत्नत्रय की कुशलता पूछे ॥१६१॥

आचारवृत्ति—उठकर खडे होकर ये संयत सात कदम आगे बढ़कर आपस में वन्दना प्रतिवन्दना करें। पुन· आये हुए अतिथि के प्रति जो कर्तव्य है उसको करने के अनन्तर उनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का कुशल प्रश्न करे ।

१. क आशय्यावास' । २ क 'ग्रहमात्मी' ।

पुनरपि तस्यागतस्य किं क्रियत इत्याह—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दायव्वो ।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेऊं ॥१६२॥

आएसस्स—आगतस्य पादोष्णस्य । **तिरत्तं**—त्रिरात्र त्रयो दिवसा । **णियमा**—नियमान्निश्चयेन । **संघाडओ**—सघाटक सहाय । त्वेवकारार्थे । **दायव्वो**—दातव्य । केषु प्रदेशेष्वत आह—**किरिया**—क्रिया स्वाध्यायवन्दनाप्रतिक्रमणादिका । **सथार**—सस्तार शयनीयप्रदेशस्तावादिर्येषा ते क्रियासस्तारादयस्तेषु षडावश्यकक्रियास्वाध्यायसस्तरभिक्षामूत्रपुरीषोत्सर्गादिपु[1] । किनिमित्तमत आह—**सहवास**—सहवसन सहवासस्तेन सार्द्धमेकस्मिन् स्थाने सम्यग्दर्शनादिषु सहाचरण तस्य **परिक्खणाहेऊ**—परीक्षण परीक्षा वा तदेव हेतु कारण सहवासपरीक्षणहेतुस्तस्मात्तेन सहाचरण करिष्याम इति हेतो । आगतस्य नियमात्त्रिरात्र सघाटको दातव्य क्रियासस्तरादिषु सहवासपरीक्षणनिमित्तमिति ॥१६२॥

किं तैरेव परीक्षा कर्तव्या नेत्याह—

आगंतुयवत्थव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णाहिं ।
अण्णोण्णकरणचरणं जाणणहेदु परिक्खंति ॥१६३॥

आगतुयवत्थव्वा—आगन्तुकाश्च वास्तव्याश्चागन्तुकवास्तव्या । **पडिलेहाहि**—अन्याभिरन्याभि क्रियाभि प्रतिलेखनेन[2] भोजनेन स्वाध्यायेन प्रतिक्रमणादिभिश्च । **अण्णमण्णाहि**—परस्पर । **अण्णोण्णं**—त्रयोदशक्रियाचारित्र । अथवान्योऽन्यस्य **करणचरण**—तयोर्ज्ञान तदर्थं अन्योन्यकरणचरणज्ञानहेतो ।

पुनरपि उन आगत मुनि के लिए क्या करते है ? सो बताते है—

गाथार्थ—क्रियाओ मे और सस्तर आदि मे सहवास तथा परीक्षा के लिए आगन्तुक को तीन रात्रि तक नियम मे सहाय देना चाहिए ॥१६२॥

आचारवृत्ति—स्वाध्याय, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ है और शयनीय प्रदेश मे भूमि, शिला, पाटे या तृण को विछाना सो सस्तर है तथा आदि शब्द से आहार ग्रहण, मल-मूत्र विसर्जन आदि मे, छह आवश्यक क्रियाओ मे, स्वाध्याय करने के समय मे उनके साथ एक स्थान मे रहकर उन सभी मे परीक्षा करने के लिए अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि की परीक्षा के लिए आगन्तुक मुनियो को नियम से तीन रात्रिपर्यन्त स्थान देना ही चाहिए ।

ऐसा क्यो करते है ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—आगन्तुक और वास्तव्य मुनि अन्य-अन्य क्रियाओ के द्वारा और प्रतिलेखन के द्वारा परस्पर मे एक-दूसरे की क्रिया और चारित्र को जानने के लिए परीक्षा करते है ॥१६३॥

आचारवृत्ति—अतिथि मुनि और सघ मे रहनेवाले मुनि आपस मे एक-दूसरे की त्रयोदशविध क्रियाओ को और त्रयोदशविध चारित्र को जानने के लिए पिच्छिका से प्रतिलेखन क्रिया मे, आहार मे, स्वाध्याय और प्रतिक्रमण आदि मे एक-दूसरे की परीक्षा करते है । अर्थात्

---

१ क 'षु सहा' । २ क 'नेन स्वा' ।

परिच्छंति—परीक्षन्ते गवेषयन्ति । परस्पर त्रयोदशविधकरणचरण आगन्तुकवास्तव्या. परीक्षन्ते काभिः कृत्वा ? परस्पर दर्शनप्रतिदर्शनक्रियाभि किंहेतोरवबोधार्थमिति ।।१६३।।

केषु प्रदेशेषु परीक्षन्ते तत आह—

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे ।
सज्झाएगविहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति ।।१६४।।

आवासयठाणादिसु—आवश्यकस्थानादिषु षडावश्यकक्रियाकायोत्सर्गादिषु आदिशब्दाद्यद्यपि शेषस्य सग्रह तथापि स्पष्टार्थमुच्यते । **पडिलेहणं**—प्रतिलेखन चक्षुरिद्रियपिच्छिकादिभिस्तात्पर्यं । **वयणं**—वचन । **गहणं**—ग्रहणं । **णिक्खेवो**—निक्षेप एतेषां द्वन्द्व प्रतिलेखनवचनग्रहणनिक्षेपेषु । **सज्झाये**—स्वाध्याये । **एगविहारे**—एकाकिनो गमनागमने । **भिक्खग्गहणे**—भिक्षाग्रहणे चर्यामार्गे । **परिच्छंति**—परीक्षन्तेऽन्वेषयन्ति ।।१६४।।

परीक्ष्यागन्तुको यत्करोति तदर्थमाह—

विस्समिदो तद्दिवसं मीमंसित्ता णिवेदयदि गणिणे ।
विणएणागमकज्जं बिदिए तदिए व दिवसम्मि ।।१६५।।

विस्समिदो—विश्रान्त सन् विश्रम्य पथश्रम त्यक्त्वा । **तद्दिवस**—तस्मिन्वा दिने तद्दिवस विश्रम्य गमयित्वा । **मीमंसित्ता**—मीमासित्वा परीक्ष्य तच्छुद्धाचरण ज्ञात्वा । **णिवेदयइ**—निवेदयति प्रतिबोध-

---

अतिथि मुनि सघस्थ मुनियो की क्रियाओ को देखकर उनके द्वारा उनकी क्रिया और चारित्र का ज्ञान करते है और सघस्थ मुनि आगन्तुक की सभी क्रियाओ को देखते हुए उनके चारित्र आदि की जानकारी लेते है ।

किन-किन स्थानो मे परीक्षा करते है ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आवश्यक क्रिया के स्थान आदि मे, प्रतिलेखन करने, बोलने और उठाने धरने में, स्वाध्याय मे, एकाकी गमन में और आहारग्रहण मे परीक्षा करते हैं ।।१६४।।

आचारवृत्ति—छह आवश्यक क्रिया आदि के कायोत्सर्ग आदि प्रसगों में, किसी वस्तु को चक्षु इन्द्रिय से देखकर पुन पिच्छिका से परिमार्जन कर ग्रहण करते हैं या नही ऐसी प्रतिलेखन क्रिया में, वचन बोलने में और किसी वस्तु के प्रतिलेखनपूर्वक धरने या उठाने में, स्वाध्याय क्रिया में, एकाकी गमन-आगमन करने मे और चर्या के मार्ग मे, ये साधु आपस में एक-दूसरे की परीक्षा करते हैं । अर्थात् इनकी क्रियाएँ आगमोक्त हैं या नही ऐसा देखते है ।

परीक्षा करके आगन्तुक मुनि जो कुछ करता है उसे बताते है—

गाथार्थ—आगन्तुक मुनि उस दिन विश्राति लेकर और परीक्षा करके विनयपूर्वक अपने आने के कार्य को दूसरे या तीसरे दिन आचार्य के पास निवेदित करता है ।।१६५।।

आचारवृत्ति—जिस दिन आए है उस दिन मार्ग के श्रम को दूर करके विश्राति में बिताकर पुनः आपस मे परीक्षा करके आगन्तुक मुनि इस सघ के आचार्यादि के

यति । गणिणे—गणिने आचार्याय । विणएण—विनयेन । आगमकज्जं—आगमनकार्यं स्वकीयागमनप्रयोजनं । बिविए—द्वितीये । तविए—तृतीये । दिवसम्मि—दिवसे । त दिवस विश्रम्य द्वितीये तृतीये वा दिवसे विनयेनोपढौक्याचरण च परीक्ष्याचार्यायागमनकार्यं निवेदयत्यागन्तुक । अथवाचार्यस्य गृह्यास्त[1] परीक्ष्य निवेदयन्ति गणिने इति ॥१६५॥

एव [2]निवेदयते यदाचार्य करोति तदर्थमाह—

आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरिसवासं च ।
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा ॥१६६॥

आगन्तुक णामकुलं—आगन्तुकस्य पादोष्णस्य, **नाम**—सज्ञा, **कुलं**—गुरुसतान, **गुरुः**—प्रव्रज्यायादाता । **दिक्खामाणं**—दीक्षाया मान परिमाण । **वरिसवासं च**—वर्षस्य वास वर्षवासश्च वर्षकालकरण च, **आगमणदिसा**—आगमनस्य दिशा कस्या दिश आगत । **सिक्खा**—शिक्षा श्रुतपरिज्ञान । **पडिक्कमणादीय**—प्रतिक्रमण आदिर्येषा ते प्रतिक्रमणादय । **गुरुपुच्छा**—गुरो पृच्छा गुरुपृच्छा । एव गुरुणा तस्यागतस्य पृच्छा क्रियते कि तव नाम ? कुल च ते कि ? गुरुश्च युष्माक क ? दीक्षापरिमाण च भवत कियत् ? वर्षकालश्च भवद्भि क्व कृत ? कस्या दिशो भवानागत ? किं पठित ? किं च[3] श्रुत त्वया, कियन्त्य प्रतिक्रमणास्तव सजाता, न च[4] भूता, कियन्त्य । प्रतिक्रमणाशब्दो युजन्तोऽय द्रष्टव्य । किंच त्वया श्रवणीय ? कियतोऽध्वन आगतो भवानित्यादि ॥१६६॥

एव तस्य स्वरूप ज्ञात्वा—

आचरण को शुद्ध जानकर, दूसरे दिन या तीसरे दिन आचार्य के निकट आकर विनयपूर्वक अपने विद्या-अध्ययन हेतु आगमन के कार्य को आचार्य के पास निवेदन करते हैं। अथवा सघस्थ आचार्य के शिष्य मुनिवर्ग उस आगन्तुक की परीक्षा करके 'यह ग्रहण करने योग्य हैं' ऐस आचार्य के समीप निवेदन करते हैं।

ऐसा निवेदन करने पर आचार्य जो कुछ करते है उसे कहते है—

गाथार्थ—आगन्तुक का नाम, कुल, गुरु, दीक्षा के दिन, वर्षावास, आने की दिशा, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि के विषय मे गुरु प्रश्न करते है ॥१६६॥

आचारवृत्ति—गुरु आगन्तुक मुनि से प्रश्न करते है। क्या-क्या प्रश्न करते हैं सो बताते हैं। तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारा कुल—गुरुपरम्परा क्या है ? तुम्हारे गुरु कौन हैं ? तुम्हे दीक्षा लिये कितने दिन हुए है ? तुमने वर्षायोग कितने और कहाँ-कहाँ किये हैं ? तुम किस दिशा से आये हो ? तुमने क्या-क्या पढा है ? अर्थात् तुम्हारा श्रुतज्ञान कितना है और तुमने क्या-क्या सुना है ? तुम्हारे कितने प्रतिक्रमण हुए है और कितने नही हुए हैं ? और तुम्हे अभी क्या सुनना है ? तुम किस मार्ग से आए हो ? इत्यादि प्रश्न करते है। तब शिष्य उनको समुचित उत्तर देता है।

प्रश्नों के उत्तर सुनकर और उसके स्वरूप को जानकर आचार्य क्या कहते हैं ? सो बताते है—

---

१. क 'स्तं श्रुत प'। २ क निवेदिते। ३. क वर्षकालकालश्च। ४ क स्तवभूता।

जदि चरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीदमेधावी ।
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥१६७॥

जइ—यदि । **चरणकरणसुद्धो**—चरणकरणशुद्ध चरणकरणयोर्लक्षणं व्याख्यात ताभ्यां शुद्ध. । **णिच्चुज्जुत्तो**—नित्योद्युक्तो विगतातीचार । **विणीद**—विनीत. । **मेधावी**—बुद्धिमान् । **तस्सिट्ठं**—तस्येष्ट यथावाञ्छित । **कधिदव्वं**—कथयितव्य निवेदयितव्य । **सगसुदसत्तीए**—स्वकीयश्रुतशक्त्या यथास्वपरिज्ञान । **भणिऊण**—भणित्वा प्रतिपाद्य । यद्यसौ चरणकरणशुद्धो विनीतो बुद्धिमान् नित्योद्युक्तश्च तदानी तेनाचार्येण तस्येष्ट कथयितव्य स्वकीयश्रुतशक्त्या भणित्वा भणतीति ॥ १६७॥

अथैवमसौ न भवतीति तदानी कि कर्तव्य ? इत्युत्तरमाह—

जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं ।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अध गिण्हदि सोवि छेदरिहो ॥१६८॥

जदि—यदि । **इदरो**—इतरो व्रतचरणैरशुद्ध. । **सो**—स. आगन्तुक. । **अजोगो**—अयोग्यो देववन्दनादिभि', अथवा योग्य प्रायश्चित्तशास्त्रदृष्ट । **छेदो**—छेद तपोयुक्तस्य कालस्य पादत्रिभागार्धादि[1] परिहार । **उवट्ठापणं च**—उपस्थापन च । यदि सर्वथा व्रताद् भ्रष्ट पुनर्व्रतारोपण । **कादव्वो**—कर्तव्य' करणीय. कर्तव्य वा । **जदि णेच्छदि**—यदि नेच्छेत् अथ नाभ्युगच्छति अथवा लडन्तोयं प्रयोग. । **छडेज्जो**—त्यजेत् परिहरेत् । **अध गिण्हदि**—अथ तादृग्भूतमपि छेदार्हत गृह्णाति अदत्तप्रायश्चित्त तदानी । **सोवि**—सोप्याचार्य ।

गाथार्थ—यदि वह क्रिया और चारित्र मे शुद्ध है, नित्य उत्साही विनीत है और बुद्धिमान है तो श्रुतज्ञान के सामर्थ्य के अनुसार उसे अपना इष्ट कहना चाहिए ॥१६७॥

आचारवृत्ति—यदि आगन्तुक मुनि चारित्र और क्रियाओ मे शुद्ध है, नित्य ही उद्यमशील है अर्थात् अतिचार रहित आचरण वाला है, विनयी और बुद्धिमान है तो वह जो पढ़ना चाहता है उसे अपने ज्ञान की सामर्थ्य के अनुसार पढाना चाहिए । अथवा उसे सघ में स्वीकार करके उसे उसकी बुद्धि के अनुरूप अध्ययन कराना चाहिए।

यदि वह मुनि उपर्युक्त गुण विशिष्ट नही है तो क्या करना चाहिए ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—यदि वह अन्य रूप है, अयोग्य है, तो उसका छेद करके उपस्थापन करना चाहिए । यदि वह छेदोपस्थापना नही चाहता है और ये आचार्य उसे रख लेते है तो वे आचार्य भी छेद के योग्य हो जाते है ॥१६८॥

आचारवृत्ति—यदि वह आगन्तुक मुनि व्रत और चारित्र से अशुद्ध है और देववन्दना आदि क्रियाओ से अयोग्य है तो उसकी दीक्षा का एक हिस्सा या आधी दीक्षा या उसका तीन भाग छेद करके पुन उपस्थापना करना चाहिए । यदि सर्वथा वह व्रतों से भ्रष्ट है तो उसे पुनः व्रत अर्थात् पुन दीक्षा देना चाहिए। यहाँ गाथा में जो 'अजोग्गो' पद है उसको 'जोग्गो' पाठ मानकर ऐसा भी अर्थ किया है कि उसे यथा योग्य प्रायश्चित्त शास्त्र के अनुसार छेद आदि प्रायश्चित्त देना चाहिए । यदि वह मुनि छेद या उपस्थापना प्रायश्चित्त नही स्वीकार करे फिर

---

१. क 'देरपहारः।

छेदरिहो—छेदार्हः प्रायश्चित्तयोग्य संजात । यदि स शिष्यः प्रायश्चित्तयोग्यो भवति तदानी तस्य च्छेदः कर्तव्यः उपस्थापन वा कर्तव्य अथ नेच्छति छेदमुपस्थान वा त त्यजेत् । यदि पुनर्मोहात्तं गृह्णाति सोऽप्याचार्यश्छेदार्हो भवतीति ॥१६८॥

तत ऊर्ध्वं कि कर्तव्य ? इत्याह—

> एवं विधिणुववण्णो एवं विधिणेव सोवि संगहिदो ।
> सुत्तत्थं सिक्खतो एव कुज्जा पयत्तेण ॥१६९॥

एव— कथितविधानैनैवविधिना । **उववण्णो**—उत्पन्न उपस्थित पादोष्ण तेनाप्याचार्येण **एवविधिना** कथितविधानेन कृताचरणशोधनेन । **सोवि**— सोऽपि शिक्षक । **संगहिदो**—सगृहीत आत्मीकृत सन् । **एवं कुज्जा**—एव कुर्यात् एव कर्तव्य तेन । **पयत्तेण**—प्रयत्नेनादरेण । कथमेव कुर्यात् ? **सुत्तत्थं**—सूत्रार्थं । **सिक्खतो**—शिक्षमाण । सूत्रार्थ शिक्षमाण कुर्यात् । सूत्रार्थं शिक्षमाणेनैतत् कर्तव्यमिति वा ।

कि तत्तेन कर्तव्यमित्याह—

> पडिलेहिऊण सम्मं दव्वं खेत्तं च कालभावे य ।
> विणयउवयारजुत्तेणज्झेदव्व पयत्तेण ॥१७०॥

पडिलेहिऊण—प्रतिलेख्य निरूप्य । **सम्म**—सम्यक् । **दव्व**—द्रव्य शरीरगत पिड[1]कादिव्रणगत भूमिगत चर्मास्थिमूत्रपुरीषादिक । **खेत्तं च**—क्षेत्र च हस्तशतमात्रभूमिभाग । **कालभावेय**—कालभावौ च

भी यदि सघस्थ आचार्य उसे ग्रहण कर लेव तो वे आचार्य भी प्रायश्चित्त के योग्य हो जाते है। अर्थात् यदि आचार्य शिष्यादि के मोह से उसे यो ही रख लेते है तो वे भी प्रायश्चित्त के पात्र हो जाते हैं।

पुन इससे बाद क्या करना चाहिए ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधि से वह मुनि ठीक है और उपर्युक्त विधि से ही यदि आचार्य ने ग्रहण किया है तब वह प्रयत्नपूर्वक सूत्र के अर्थ को ग्रहण करता हुआ ऐसा करे ॥१६९॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त विधि से वह आगन्तुक मुनि यदि प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेता है और आचार्य भी आगमकथित प्रकार से जब उसे प्रायश्चित्त देकर उसके आचरण को शुद्ध कर लेते हैं, उसको अपना लेते है तब वह मुनि भी आदरपूर्वक गुरु से सूत्र के अर्थ को पढ़ता हुआ आगे कही विधि के अनुसार ही अध्ययन करे।

पुन उस मुनि को क्या करना चाहिए ? सो कहते है—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् प्रकार से शुद्धि करके विनय और उपचार से सहित होकर प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करना चाहिए ॥१७०॥

आचारवृत्ति—शरीरगत शुद्धि द्रव्यशुद्धि है। जैसे शरीर में घाव, पीड़ा कष्ट आदि का नही होना। भूमिगत शुद्धि क्षेत्रशुद्धि है। जैसे चर्म, हड्डी, मूत्र मल आदि का सौ हाथ

---

१. क पिटका'।

संध्यागर्जनविद्युदुत्पातादिसमयविवर्जनं कालशुद्धिः। क्रोधमानमायालोभादिविवर्जनं भावशुद्धिः परिणामशुद्धिः, क्षेत्रगताशुद्ध्यपनयन क्षेत्रशुद्धिः, शरीरादिशोधन द्रव्यशुद्धिः। **विणयउवयारजुत्तेण**—विनयश्चोपचारश्च विनय एवोपचारस्ताभ्यां तेन वा युक्तः समन्वितो विनयोपचारयुक्तस्तेन। **अज्झेयव्वं**—अध्येतव्यं पठितव्यं। **पयत्तेण**—प्रयत्नेन। द्रव्यक्षेत्रकालभावान् सम्यक् प्रतिलेख्य तेन शिष्येण विनयोपचारयुक्तेन प्रयत्नेनाध्येतव्य नोपेक्षणीय-मिति ॥१७०॥

यदि पुन.—

दव्वादिवदिक्कमणं करेदि सुत्तत्थसिक्खलोहेण।
असमाहिमसज्झाय कलहं वाहिं वियोगं च ॥१७१॥

दव्वादिवदिक्कमणं—द्रव्यमादिर्येषा ते द्रव्यादयस्तेषां व्यतिक्रमणमतिक्रमोऽविनयो द्रव्यादिव्यतिक्रमण द्रव्यक्षेत्रकालभावै शास्त्रस्य परिभव। **करेदि**—करोति कुर्यात्। **सुत्तत्थसिक्खलोहेण**—सूत्रं चार्थश्च सूत्रार्थौ तयो शिक्षात्मसस्कारोऽवबोध आगमन तस्या लोभ आसक्तिस्तेन सूत्रार्थशिक्षालोभेन। **असमाहिं**—असमाधि मनसोऽसमाधान सम्यक्त्वादिविराधन। **असज्झायं**—अस्वाध्याय शास्त्रादीनामलाभः शरीरादेर्विघातो वा। **कलहं**—कलह आचार्यशिष्ययो. परस्पर द्वन्द्व, अन्यैर्वा। **वाहिं**—व्याधिः ज्वरश्वासकासभगंदरादि। **वियोगं च**—वियोगश्च। च समुच्चयार्थः। आचार्यशिष्ययोरेकस्मिन्ननवस्थाम। यदि पुनर्द्रव्या-

---

प्रमाण भूमिभाग मे नही होना। सन्ध्याकाल, मेघगर्जन काल, विद्युत्पात और उत्पात आदि काल से रहित समय का होना कालशुद्धि है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों का त्याग करना भावशुद्धि है। अर्थात् इस प्रकार से क्षेत्र मे होनेवाली अशुद्धि को दूर करना उस क्षेत्र से अतिरिक्त क्षेत्र का होना क्षेत्रशुद्धि है। शरीर आदि का शोधन करना अर्थात् शरीर मे ज्वर आदि या शरीर से पीव खून आदि के बहते समय के अतिरिक्त स्वस्थ शरीर का होना द्रव्य-शुद्धि है, संधि काल आदि के अतिरिक्त काल का होना कालशुद्धि है और कषायादि रहित परिणाम होना ही भावशुद्धि है। प्रयत्नपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को सम्यक् प्रकार से शोधन करके विनय और औपचारिक क्रियाओ से युक्त होकर उस मुनि को गुरु के मुख से सूत्रो का अध्ययन करना चाहिए।

यदि पुनः ऐसा नही हो तो क्या होगा ?

गाथार्थ—यदि सूत्र के अर्थ की शिक्षा के लोभ से द्रव्य, क्षेत्र आदि का उल्लंघन करता है तो वह असमाधि, अस्वाध्याय, कलह, रोग और वियोग को प्राप्त करता है ॥१७१॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि सूत्र और उसके निमित्त से होनेवाला आत्मसंस्कार रूप ज्ञान, उसके लोभ से—आसक्ति से पूर्वोक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि को उल्लंघन करके पढ़ता है तो मन में असमाधानी रूप असमाधि को अथवा सम्यक्त्व आदि की विराधनारूप असमाधि को प्राप्त करता है, शास्त्रादि का अलाभ अथवा शरीर आदि के विघात रूप से अस्वाध्याय को प्राप्त करता है। या आचार्य और शिष्य में परस्पर में कलह हो जाती है अथवा अन्य के साथ कलह हो जाती है। अथवा ज्वर, श्वास, खाँसी, भगंदर आदि रोगों का आक्रमण हो जाता है या आचार्य और शिष्य के एक जगह नही रह सकने रूप वियोग हो जाता है।

दिव्यतिक्रमण करोति सूत्रार्थशिक्षालोभेन शिष्यस्तदानी कि स्यात् ? असमाध्यस्वाध्यायकलहव्याधिवियोगा. स्युः ॥१७१॥

न केवल शास्त्रपठननिमित्त शुद्धि क्रियते तेन किंतु जीवदयानिमित्त चेति—

संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे।
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥१७२॥

संथारवासयाणं—सस्तारश्चतुर्धा भूमिशिलाफलकतृणभेदात् आवासोऽवकाश. आकाशप्रदेशसमूह: संस्तरादिप्रदेश इत्यर्थ । सस्तरश्चावकाशश्च सस्तरावकाशौ तावादिर्येषा ते संस्तरावकाशादय. बहुवचननिर्देशादादिशब्दोपादान तेषा सस्तरावकाशादीना। **पाणीलेहाहिं**—पाणिलेखाभिर्हस्ततलगतलेखाभि । **दंसणुज्जोवे**—दर्शनस्य चक्षुष उद्योत प्रकाशो दर्शनोद्योतस्तस्मिन् दर्शनोद्योते पाणिरेखादर्शनहेतुभूते चक्षुप्रकाशे यावता चक्षुरुद्योतेन हस्तरेखा दृश्यन्ते तावति चक्षुप प्रकाशेऽथवा पाणिरेखानामभिदर्शन परिच्छेदस्तस्य निमित्तभूतोद्योते पाणिरेखाभिर्दर्शनोद्योते। अथवा प्राणिनो लिहन्त्यास्वादयन्ति यस्मिन् स प्राणिलेह स चासौ अभिदर्शनोद्योतश्च तस्मिन् प्राणिभोजननिमित्तनयनप्रसरे इत्यर्थ । **जत्तेण**—यत्नेन तात्पर्येण । **उभये काले**—उभयो कालयो पूर्वाह्णेऽपराह्णे च सस्तरादानदानकाल इत्यर्थ । **पडिलेहा**—प्रतिलेखा शोधन सन्मार्जन । **होइ**—भवति । **कायव्व**—कर्तव्या । उभयो कालयो हस्तलेखादर्शनोद्योते सजाते यत्नेन सस्तरावकाशादीना प्रतिलेखा भवति कर्त्तव्येति ॥१७२॥

अर्थात् जो मुनि द्रव्यादि शुद्धि की अवहेलना करके यदि सूत्रार्थ के लोभ से अध्ययन करते है तो उनके उस समय असमाधि आदि हानियाँ हो जाया करती है।

केवल शास्त्रो के पढने के लिए ही शुद्धि की जाती है ऐसी बात नही है, उस मुनि को जीवदया के निमित्त भी शुद्धि करना चाहिए—

गाथार्थ—हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश मे दोनों काल मे यत्नपूर्वक सस्तर और स्थान आदि का प्रतिलेखन करना होता है ॥ १७२॥

आचारवृत्ति—सस्तर चार प्रकार का है—भूमिसस्तर, शिलासस्तर, फलकसस्तर और तृणसस्तर। उस सस्तर के स्थान को आवास कहते है अर्थात् जो आकाश-प्रदेशों का समूह है वही आवास है। शुद्ध, निर्जन्तुक भूमि पर सोना भूमिसस्तर है। सोने योग्य पाषाण की शिला शिलासस्तर है। काष्ठ के पाटे को फलकसस्तर कहते है और तृणो के समूह को तृणसस्तर कहते है। इन चार प्रकार के सस्तर के स्थान को, कमण्डलु पुस्तक आदि को, चक्षु से हाथ की रेखाओ के दिखने योग्य प्रकाश हो जाने पर अथवा जितने प्रकाश मे हाथ की रेखाएँ दिखती है उतने प्रकाश के होने पर पूर्वाण्हकाल मे और अपराण्हकाल मे इनका पिच्छिका से शोधन करना चाहिए। अथवा प्राणियो के भोजन के निमित्त चक्षु का प्रकाश होने पर प्रयत्नपूर्वक दोनो समय सस्तर आदि को शोधन करना चाहिए। अर्थात् सायकाल हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश रहने पर सस्तर आदि के स्थान को पिच्छिका से परिमार्जित करके पाटे आदि विछा लेना चाहिए और प्रात काल भी इतना प्रकाश हो जाने पर सस्तर और स्थान आदि को देख-शोध कर उसे हटा देना चाहिए।

परगणे वसता तेन किं स्वेच्छया प्रवर्तितव्यं ? नेत्याह—

उब्भामगादिगमणे उत्तरजोगे सकज्जआरंभे।
इच्छाकारणिजुत्तो आपुच्छा होइ कायव्वा ॥१७३॥

उब्भामगादिगमणे—उद्भ्रामको ग्राम: चर्या वा स आदिर्येषा ते उद्भ्रामकादयस्तेषामुद्भ्रामकादीनां गमनमनुष्ठान तस्मिन् ग्रामभिक्षाव्युत्सर्गादिके। **उत्तरजोगे**—उत्तर प्रकृष्ट योग वृक्षमूलादिस्तस्मिन्नुत्तरयोगे। **सकज्जआरम्भे**—स्वस्यात्मन कार्यं प्रयोजनं तस्यारम्भ आदिक्रिया तस्मिन् स्वकार्यारम्भे। **इच्छाकारणिजुत्तो**—इच्छाकारेण कर्त्तुमभिप्रायेण नियुक्त उद्युक्त. स्थितस्तेन इच्छाकारनियुक्तेन, अथवा आपृच्छाया विशेषणं इच्छाकारनियुक्ता प्रणामादिविनयनियुक्ता। **आपुच्छा**—आपृच्छा सर्वेषा प्रश्न। होदि—भवति। **कायव्वा**—कर्तव्या कार्या। तेन स्वगणे वसता यथा उद्भ्रामकादिगमने उत्तरयोगे स्वकार्यारम्भे इच्छाकारनियुक्तेनापृच्छा भवति कर्तव्या तथा परगणे वसतापीत्यर्थ. ॥१७३॥

तथा वैयावृत्यमपीत्याह—

गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरु बालबुड्ढसेहाणं।
जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ॥१७४॥

गच्छे—ऋषिसमुदाये चातुर्वर्ण्यश्रमणसघे वा सप्तपुरुषकस्त्रिपुरुषको वा तस्मिन्। **वेज्जावच्चं**—वैयावृत्त्य कायिकव्यापाराहारादिभिरुपग्रहण। **गिलाण**—ग्लान व्याध्याद्युपपीडित., क्षीणशक्तिक। **गुरु**—

आगन्तुक मुनि पर-गण मे रहते हुए क्या स्वेच्छा प्रवृत्ति करता है ? नहीं, इसी बात को कहते है—

गाथार्थ—चर्या आदि के लिए गमन करने में, वृक्षमूल आदि योग करने में और अपने कार्य के प्रारम्भ मे इच्छाकार पूर्वक प्रश्न करना होता है॥१७३॥

आचारवृत्ति—उद्भ्रामक—ग्राम अथवा चर्या, उसके लिए गमन उद्भ्रामक-गमन है। आदि शब्द से मलमूत्र विसर्जन आदि को लिया है। अर्थात् किसी ग्राम में जाते समय या आहार के लिए गमन करने मे, मलमूत्रादि त्याग के लिए जाते समय, उत्तर—प्रकृष्ट योग अर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगो को धारण करते समय, अपने किसी भी कार्य के प्रारम्भ मे और भी किन्ही क्रियाओ के आदि मे आचार्यों की इच्छा के अनुसार पूछकर कार्य करना। अथवा प्रणाम आदि विनयपूर्वक सभी विषय में गुरु से पूछकर कार्य करना होता है। तात्पर्य यह है आगन्तुक मुनि पहले जैसे अपने सघ मे चर्या आदि कार्यों मे विनयपूर्वक अपने आचार्य से पूछकर कार्य करते थे, उसी प्रकार से उसे पर-सघ में यहाँ पर स्थित आचार्य के अभिप्रायानुसार उनसे आज्ञा लेकर ही इन सब क्रियाओं को करना चाहिए।

उसी प्रकार पर-गण में वैयावृत्ति भी करना चाहिए—

गाथार्थ—पर-गण में क्षीणशक्तिक, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्नपूर्वक यथायोग्य वैयावृत्ति करना चाहिए॥१७४॥

आचारवृत्ति—ऋषियों के समूह को अथवा चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ को गच्छ कहते हैं। अथवा सात या तीन पुरुषों की परम्परा को अर्थात् सात या तीन पीढ़ियों के मुनियों को गच्छ

शिक्षादीक्षाद्युपदेशक ज्ञानतपोऽधिको वा । **बालो**—नवक. पूर्वापरविवेकरहितो **वा । बुड्ढ—वृद्धो** जीर्णो जराग्रस्तो दीक्षादिभिरधिको वा । **सेह**—शैक्ष शास्त्रपठनोद्युक्त स्वार्थपर निर्गुणो दुराराध्यो वा एतेषां द्वन्द्वस्तेषां ग्लानगुरुबालवृद्धशैक्षाणां लक्षणनियोगात् पूर्वापरनिपातो द्रष्टव्य । **जहजोगं**—यथायोग्य क्रममनतिलंघ्य तदभिप्रायेण वा । **कादव्वं**—कर्तव्य करणीय । **सगसत्तीए**—स्वशक्त्या स्वशक्तिमनवगूह्य । **पयत्तेण**—प्रयत्नेनादरेण गच्छे ग्लानगुरुबालवृद्धशैक्षाणा प्रयत्नेन स्वशक्तया वैयावृत्य कर्तव्यमिति ॥१७४॥

अथ तेन परगणे वन्दनादिक्रिया किमेकाकिना क्रियते नेत्याह—

दिवसियरादियपक्खियचाउम्मासियवरिस्सकिरियासु ।
रिसिदेववंदणादिसु सहजोगो होदि कायव्वो ॥१७५॥

दिवसिय—दिवसे भवा दैवसिकी अपराह्णनिर्वर्त्या । **राविय**—रात्रौ भवा रात्रिकी पश्चिमरात्रावनुष्ठेया । **पक्खिय**—पक्षान्ते चतुर्दश्यामावस्यायां पौर्णमास्यां वा पक्षशब्द प्रवर्तते तस्मिन् भवा पाक्षिकी । **चाउम्मासिय**—चतुर्थमासेषु भवा चातुर्मासिकी । **वारिसिय**—वर्षेषु भवा वार्षिकी । एताश्च ता. क्रियाश्च । दैवसिकीरात्रिकीपाक्षिकीचातुर्मासिकीवार्षिकीक्रियास्तासु । **रिसिदेववंदणादिसु**—ऋषयश्च ते देवाश्च ऋषिदेवास्तेषा वन्दनादिर्यासा ता ऋषिदेववन्दनादयस्तासु ऋषिदेववन्दनादिषु क्रियासु । **सह**—सार्धं

कहते है । ऐसे सघ मे ग्लानादि मुनि रहते हैं । व्याधि से पीड़ित अथवा क्षीण शक्तिवाले मुनि ग्लान है । शिक्षादीक्षा तथा उपदेश आदि के दाता गुरु है अथवा जो तप मे या ज्ञान मे अधिक हैं वे भी गुरु कहे जाते है । नवदीक्षित या पूर्वापर विवेकरहित मुनि बालमुनि कहे जाते है । पुराने मुनि या जरा से जर्जरित मुनि अथवा दीक्षा आदि से अधिक शैक्ष है, ऐसे ही अपने प्रयोजन को सिद्ध करने मे तत्पर हुए स्वार्थतत्पर मुनि, या निर्गुण मुनि अथवा दुराराध्य आदि मुनि शैक्ष सज्ञक है । इन सभी प्रकार के मुनियो की, यथायोग्य—क्रम का उल्लंघन न करके अथवा उनके अभिप्राय के अनुसार और अपनी शक्ति को न छिपाकर आदरपूर्वक वैयावृत्ति करना चाहिए । अर्थात् आगन्तुक मुनि पर-सघ मे भी सभी प्रकार के मुनियो की वैयावृत्ति करता है ।

पर-गण मे रहते हुए वह आगन्तुक मुनि वन्दना आदि क्रियाएँ क्या एकाकी करता है ? नहीं, सो ही बताते है—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण क्रियाओं मे गुरुवन्दना और देववन्दना आदि मे साथ ही मिलकर करना चाहिए ॥१७५॥

आचारवृत्ति—दिवस में होनेवाली—दिवस के अन्त मे अपराह्ण काल मे की जाने वाली क्रिया दैवसिक क्रिया है अर्थात् सायकाल में किया जानेवाला प्रतिक्रमण दैवसिक क्रिया है । रात्रि मे होनेवाली अर्थात् पिछली रात्रि मे जिसका अनुष्ठान किया जाता है ऐसा रात्रिक-प्रतिक्रमण रात्रिक क्रिया है । चतुर्दशी, अमावस्या या पौर्णमासी को पक्ष कहते हैं । इस पक्ष के अन्त में होनेवाली प्रतिक्रमण क्रिया पाक्षिक कहलाती है । चार मास में होनेवाली प्रतिक्रमण क्रिया चातुर्मासिक है और वर्ष मे हुई क्रिया वार्षिक अर्थात् वर्ष के अन्त में होनेवाला प्रतिक्रमण वार्षिक क्रिया है । इन प्रतिक्रमण क्रियाओ गें ऋषि अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और मुनियों की

एकत्र। जोगो—योग उपयुञ्ज्यात्। अथवाऽखण्डोऽयं शब्दः सहयोगः। दैवसिकादिक्रियासहचरिता वेलाः परिगृह्यन्ते दैवसिकादिवेलासु सहयोगः दैवसिकादिक्रिया सर्वैरेकत्र कर्तव्या भवति। दैवसिकादिषु ऋषिदेव-वन्दनादिषु च क्रियासु सहयोगो भवति कर्तव्य इति ॥१७५॥

अथ यद्यपराधस्तत्रोत्पद्यते किं तत्रैव शोध्यते उतान्यत्र तत्रैवेत्याह—

मणवयणकायजोगेणुप्पण्णवराध जस्स गच्छम्मि।
मिच्छाकारं किच्चा णियत्तणं होदि कायव्वं ॥१७६॥

मणवयकायजोगेण—मनोवचनकाययोगैः। **उप्पण्ण**—उत्पन्न, संजात। **अवराध**—अपराधो व्रता-द्यतिचार। **जस्स**—यस्य। **गच्छम्मि**—गच्छे गणे चतुः प्रकारे संघे। अथवा **जस्स**—यस्मिन् गच्छे। **मिच्छाकारं किच्चा**—मिथ्याकारं कृत्वा पश्चात्तापं कृत्वा। **णियत्तणं**—निवर्तनमप्रवर्तनमात्मनः। **होदि**—भवति। **कायव्वं**—कर्तव्यं करणीयं। यस्मिन् गच्छे यस्य मनोवचनकाययोगैरपराध उत्पन्नस्तेन तस्मिन् गच्छे मिथ्याकारं कृत्वा निवर्तनं भवति कर्तव्यमिति। अथवा **जस्स गच्छे**—यस्य पार्श्वेऽपराध उत्पन्नस्तेन सह मर्षणं कृत्वा तस्मादपराधान्निवर्तनं भवति कार्यमिति ॥१७६॥

तत्र गच्छे वसता तेन किं सर्वैः सहालापोऽवस्थानं च क्रियते नेत्याह—

वन्दना करने में और देववन्दना—सामायिक करने में तथा आदि शब्द से स्वाध्याय आदि क्रियाओं में सह अर्थात् मिलकर एक जगह योग करना चाहिए। अथवा सहयोग शब्द एक अखण्ड पद है। उससे दैवसिक आदि क्रियाओं से सहचरित समय लिया जाता है अर्थात् दैवसिक प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं के समय सहयोगी होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दैवसिक प्रतिक्रमण वन्दना आदि जितनी भी क्रियाएँ है, सभी, मुनियों को एक साथ एक स्थान में ही करनी होती है। दैवसिक आदि प्रतिक्रमणों में और गुरुवन्दना, देववन्दना आदि क्रियाओं में आगन्तुक मुनि सबके साथ ही रहता है।

यदि कोई अपराध इस संघ में हो जाता है तो वहीं पर उसका शोधन करना चाहिए अथवा अन्यत्र संघ में? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हुए कहते हैं कि वहीं पर ही शोधन करना चाहिए—

गाथार्थ—मन, वचन और काय के योगों से जिस संघ में अपराध उत्पन्न हुआ है मिथ्याकार करके वहीं उसको दूर करना होता है ॥१७६॥

आचारवृत्ति—जिस गच्छ—गण या चतुर्विध संघ में व्रतादिकों में अतिचार रूप अपराध हुआ है उसी संघ में उस मुनि को मिथ्याकार—पश्चात्ताप करके अपने अन्तरंग से वह दोष निकाल देना चाहिए। अथवा जिस किसी के साथ अपराध हो गया हो उन्हीं से क्षमा कराके उस अपराध से अपने को दूर करना होता है।

उस संघ में रहते हुए मुनि को सभी के साथ बोलना या बैठना करना होता है या नहीं? सो ही बताते हैं—

अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्व तधेव एक्केण ।
ताहि पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ॥१७७॥

अज्जागमणे काले—आर्याणा सयतीनामुपलक्षणमात्रमेतत् सर्वस्त्रीणा, आगमन यस्मिन् काले स आर्यागमनस्तस्मिन्नार्यागमने काले । **ण अत्थिदव्वं**—नासितव्य न स्थातव्य । **तधेव**—तथैव । **एक्केण**—एकेन एकाकिना विजनेन । **ताहि**—ताभिरार्यिकाभि । **पुण**—पुन बाहुल्येन । **सल्लावो**—सल्लापो वचनप्रवृत्ति । **ण य कायव्वो**—नैव कर्तव्यो न कार्य । **अकज्जेण**—अकार्येण प्रयोजनमन्तरेण धर्मकार्योत्पत्तौ कदाचिद्वद्य[1]। आर्यागमनकाले एकाकिना विजनेन न स्थातव्य, धर्मकार्यमन्तरेण ताभि सहालापोऽपि न कर्तव्य इति ॥१७७॥

यद्येव कथ तासा प्रायश्चित्तादिकथन प्रवर्तत इति प्रश्नेऽत प्राह—

तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु ।
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्व ॥१७८॥

तासि—तासामार्याणा । **पुण**—पुन पुनरपि । **पुच्छाओ**—पृच्छा प्रश्नान् कार्याणि । **इक्किस्से**—एकस्या एकाकिन्या । **ण य कहिज्ज**—नैव कथयेत् नैव कथनीय । **एक्को दु**—एकस्तु एकाकी सन् अपवाद-भयात् । यद्येव कथ क्रियते । **गणिणी**—गणिनी तासा महत्तरिका प्रधाना । **पुरओ**—पुरोऽग्रत । **किच्चा**—कृत्वा । **यदि पुच्छदि**—यदि पृच्छति प्रश्न कुर्यात् । **तो**—ततोऽनेन विधानेन । **कहेदव्वं**—कथयितव्य प्रति-पादयितव्य नान्यथा । तासा मध्ये एकस्या कार्य नैव कथयेदेकाकी सन्, गणिनी पुर कृत्वा यदि पुनः पृच्छति तत कथनीय मार्गप्रभावनामिच्छतेति ॥१७८॥

गाथार्थ—आर्यिकाओ के आने के समय मुनि को अकेले नही बैठना चाहिए, उसी प्रकार उनके साथ विना प्रयोजन वार्तालाप भी नही करना चाहिए ॥१७७॥

आचारवृत्ति—यहाँ 'आर्यिकाणा' शब्द से सयतियो का ग्रहण करना उपलक्षण मात्र है उसमे सम्पूर्ण स्त्रियो को ग्रहण कर लिया गया है। उन आर्यिका और स्त्रियो के आने के काल मे उस मुनि को एकान्त मे अकेले नही बैठना चाहिए और उसी प्रकार से उन आर्यिकाओं और स्त्रियो के साथ अकारण बहुलता से वचनालाप भी नही करना चाहिए। कदाचित् धर्मकार्य के प्रसग मे बोलना ठीक भी है। तात्पर्य यह हुआ कि स्त्रियो के आने के समय मुनि एकान्त मे अकेले न बैठे और धर्मकार्य के बिना उनके साथ वार्तालाप भी न करे।

यदि ऐसी बात है तो उनको प्रायश्चित्त आदि देने की बात कैसे बनेगी ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते है—

गाथार्थ—पुन उनमे से यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर न देवे। यदि गणिनी को आगे करके वह पूछती है तो फिर कहना चाहिए ॥१७८॥

आचारवृत्ति—उन आर्यिकाओ के प्रश्न कार्यो मे यदि एकाकिनी आर्यिका है तो एकाकी मुनि अपवाद के भय से उन्हे उत्तर न देवे। यदि वह आर्यिका अपने सघ की प्रधान आर्यिकागणिनी को आगे करके कुछ पूछे तो इस विधान से उन्हे मार्ग प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रतिपादन करना चाहिए अन्यथा नही।

---

१. क वाच्य ।

व्यतिरेकद्वारेण प्रतिपाद्यान्वयद्वारेण प्रतिपादयन्नाह—

तरुणो तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि कुज्जा।
प्राणाकोवादीया पंचवि दोसा कदा तेण ॥१७९॥

यदि कथितन्यायेन न प्रवर्तते चेत्। **तरुणो**—यौवनपिशाचगृहीत। **तरुणीए**—तरुण्या उन्मत्तयौवनया। **सह**—सार्धं। **कहाव**—कथा वा प्राक्प्रबन्धचरित। **सल्लावणं च**—सल्लाप च अथवा (**असब्भावणं**[1] **च**) प्रहासप्रवचन च। **जदि कुज्जा**—यदि कुर्यात् विधेयाच्चेत्। **आणाकोधा (वा) दीया**—आज्ञाकोपादयः आज्ञाकोपानवस्थामिथ्यात्वाराधनात्मनाशसयमविराधनानि। **पंचवि**—पचापि। **दोसा**—दोषाः पापहेतवः। **कदा**—कृता अनुष्ठिता। **तेण**—तेनैवकुर्वता। यदि तरुणस्तरुण्या सह कथामवसल्लाप च कुर्यात्तत. कि स्यात्? आज्ञाकोपादिकाः पचापि दोषा कृतास्तेन स्युरिति ॥१७९॥

यत्र बह्व्यस्तिष्ठन्ति तत्र किमावासादिक्रिया युक्ता ? नेत्याह—

णो कप्पदि विरदाण विरदीणमुवासयह्मि चिट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारभिक्खवोसरणं ॥१८०॥

णो कप्पदि—न कल्पते न युज्यते। **विरदाणं**—विरताना सयताना पापक्रियाक्षयकरणोद्यताना। **विरदीणं**—विरतीना आर्यिकाणा। **उवासयम्हि**—आवासे वसतिकादौ। **चिट्ठेदुं**—चेष्टियितु स्थातु वसितु न केवल। **तत्थ**—तत्र दीर्घकाला क्रिया न युक्ता किन्तु क्षणमात्राया क्रियास्ता अपि। **णिसेज्ज**—निषद्योप-

---

व्यतिरेक के द्वारा प्रतिपादन करके अब अन्वय के द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि कथा या वचनालाप करे तो उस मुनि ने आज्ञाकोप आदि पाँचों ही दोष किये ऐसा समझना चाहिए ॥१७९॥

ग्राचारवृत्ति—यदि कथित न्याय से मुनि प्रवृत्ति नही करे अर्थात् यौवनपिशाच से गृहीत हुआ तरुण मुनि यौवन से उन्मत्त हुई तरुणी के साथ पहले से सम्बन्धित चरित्र रूप कथा को अथवा संलाप या हँसी वचना आदि वातो को करता है तो पूर्व मे कथित आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और सयमविराधना इन पाप के हेतुभूत पाँच दोषों को करता है ऐसा समझना चाहिए।

जहाँ पर बहुत-सी आर्यिकाएँ रहती है वहाँ पर क्या आवास आदि क्रिया करना युक्त है ? नहीं, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—आर्यिकाओ की वसतिका मे मुनियो का रहना और वहाँ पर बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा व कार्योत्सर्ग करना युक्त नही है ॥१८०॥

ग्राचारवृत्ति—पापक्रिया के क्षय करने मे उद्यत हुए विरत मुनियों का आर्यिकाओ की वसतिका आदि मे रहना उचित नही है। केवल ऐसी ही बात नही है कि वहाँ पर बहुत काल तक होनेवाली क्रियाएँ न करें, किन्तु वहाँ अल्पकालिक क्रियाएँ भी करना युक्त नहीं है।

---

१. क सल्लापनं।

वेशन । उवट्टणं—उद्वर्तन शयन लोटन । सज्झाय—स्वाध्याय शास्त्रव्याख्यान परिवर्तनादयो वा। आहार-भिक्खा—आहारभिक्षाग्रहण । वोसरणं—प्रतिक्रमणादिक अथवा व्युत्सर्जन मूत्रपुरीषाद्युत्सर्ग 'प्रदेशसाहचर्यात् एतेषा द्वन्द्व स । अन्याश्चैवमादयश्च क्रिया न युक्ता । विरताना चेष्टितु आर्यिकाणामावासे न कल्पते, निषद्योद्वर्तनस्वाध्यायाहारभिक्षाव्युत्सर्जनानि च तत्र न कल्पते । आहारभिक्षयो को विशेष इति चेत् तत्कृता-न्यकृतभेदात् ताभिर्निष्पादित भोजन आहार, श्रावकादिभि कृत यत्तत्र दीयते सा भिक्षा । अथवा मध्यान्ह-काले भिक्षार्थं पर्यटन भिक्षा ओदनादिग्रहणमाहार इति ॥१८०॥

किमर्थमेताभि मह स्थविरत्वादिगुणसमन्वितस्यापि ससर्गो वार्यते यत—

थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहुसुद च तवसिं वा ।
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ॥१८१॥

जैसे कि वहाँ पर बैठना, सोना या लेटना, शास्त्र का व्याख्यान या परिवर्तन—पुन पुन पढना-रटना आदि करना, आहार और भिक्षा का ग्रहण करना, वहाँ पर प्रतिक्रमण आदि करना या मलमूत्र विसर्जन आदि करना, और भी इसी प्रकार की अन्य क्रियाएँ करना युक्त नही है ।

आहार और भिक्षा में क्या अतर है ?

उन आर्यिकाओ के द्वारा निष्पादित भोजन आहार कहा गया है और श्रावक आदिको द्वारा बनाया गया भोजन जो वहाँ पर दिया जाता है सो भिक्षा कहलाती है। (अथवा 'ताभि' का अर्थ 'आर्यिकाओ द्वारा' ऐसा न लेकर पूरे वाक्यार्थ को इस प्रकार लिया जाना उपयुक्त होगा —वह भोजन, जो उन्ही श्राविकाओ द्वारा निष्पादित अर्थात् तैयार किया गया है जो दे भी रही होती है, आहार है । तथा वह भोजन, जिसे पडोसी आदि अन्य श्रावकजन तैयार किया हुआ लाकर देते है, वह भिक्षा है ।) अथवा मध्यान्हकाल मे चर्या के लिए पर्यटन करना सो भिक्षा और भात आदि भोजन ग्रहण करना आहार है ऐसा समझना ।

विशेषार्थ—यहाँ पर जो आर्यिकाओ द्वारा निष्पादित भोजन को आहार सज्ञा दी है सो समझ मे नही आया है । क्योंकि आर्यिकाये भी आरम्भ परिग्रह का त्याग कर चुकी है । मूलाचार प्रदीप अ० 7 श्लोक 160 मे कहा है कि—"आर्यिकाएँ स्नान, रोदन, अन्नादि पकाना, सीवना, सूत कातना, गीत गाना, बाजे बजाना आदि क्रियाएँ न करे ।" इससे आर्यिकाओ द्वारा भोजन बनाना सम्भव नही है । अत टीका मे अथवा कहकर जो दूसरा अर्थ किया गया है उसे ही यहाँ सगत समझना चाहिए ।

इन आर्यिकाओ के साथ स्थविरत्व आदि गुणो से समन्वित का भी ससर्ग किसलिए मना किया गया है ? सो ही कहते है—

गाथार्थ—काम से मलिनचित्त श्रमण स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी को भी नही गिनता है, कुल का भी विनाश कर देता है ॥१८१॥

---

१ क प्रदेश सा ।

थेरं—स्थविरं आत्मानं सर्वत्र सम्बध्नीय सामर्थ्यात् सोपस्कारत्वात् सूत्राणां। चिरपव्वइयं—चिरप्रव्रजितं प्रवृद्धव्रत। आयरियं—आचार्यं। बहुसुदं—बहुश्रुत सर्वशास्त्रपारग। तवसिं वा—तपस्विनं वा षष्ठाष्टमादिकयुक्त चकाराद्वात्मन समुच्चय, अथवा स्थविरत्वादयो गुणा गृह्यंते, अथवात्मनोऽन्ये स्थविर-¹ त्वादयस्तान्। ण गणेदि—न गणयति नोऽपेक्षते² नो पश्यति न गणयेद्वा। काममलिणो—कामेन मलिनः कश्मलः काममलिनो मैथुनेच्छोपद्रुत। कुलमवि—कुलमपि कुलं मातृपितृकुल सम्यक्त्वादिक वा। समणो—श्रमणः। विणासेदि—विनाशयति विराधयति। स्थविर चिरप्रव्रजिताचार्यं बहुश्रुत तपस्विनमात्मान केवलं न गणयति काममलिनः सन् श्रमण कुलमपि विनाशयति। अथवा न केवलमात्मन स्थविरत्वादीन् गुणान् न गणयति सम्यक्त्वादिगुणानपि विनाशयति। अथवा न केवल कुल विनाशयति किंतु स्थविरत्वादीनपि³ न गणयति परिभवतीत्यर्थ ॥१८१॥

एता पुनराश्रयन् यद्यपि कुल न विनाशयत्यात्मान वा तथाप्यपवाद प्राप्नोतीत्याह—

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंग वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥१८२॥

आचारवृत्ति—स्थविर, चिरप्रव्रजित आदि सभी के साथ 'आत्मा' शब्द का सम्बन्ध कर लेना चाहिए क्योंकि सूत्र उपस्कार-- अध्याहार सहित होते है। जो स्थविर है, चिरकाल से दीक्षा लेने से व्रतो मे दृढ है, आचार्य है, सर्व शास्त्र का पारगत है अथवा वेला तेला आदि उपवासो का करनेवाला होने से तपस्वी है ऐसी योग्यता विशिष्ट होने पर भी काम से मलिन हुआ मुनि इन सब को कुछ नही गिनता है। अथवा स्थविर आदि शब्दो से यहाँ स्थविरत्व आदि गुणो को ग्रहण किया गया समझना चाहिए अर्थात् काम से पीडित हुआ मुनि अपने इन गुणों को कुछ नही समझता है—तिरस्कृत कर देता है। अथवा अपने से अन्य जो स्थविरत्व आदि हैं उनको लेना चाहिए अर्थात् यह कामेच्छा से पीडित हुआ मुनि उस सघ मे रहनेवाले स्थविर—मुनि, चिरदीक्षित, या आचार्य, उपाध्याय अथवा तपस्विओ को भी कुछ नही समझता है उनको नहीं देखता है, उनकी उपेक्षा कर देता है। और तो और, अपने माता-पिता के कुल को अथवा अपने सम्यक्त्व आदि को भी नष्ट कर देता है, इन गुणो की विराधना कर देता है।

तात्पर्य यह है कि काम से पीडित हुआ मुनि स्थविर आदि रूप अपने को ही केवल नहीं गिनता है ऐसी बात नही, वह कुल को भी नष्ट कर देता है। अथवा वह केवल अपने स्थविरत्व आदि गुणों को ही नही गिनता है ऐसी बात नही, वह सम्यक्त्व आदि गुणों को भी नष्ट कर देता है। अथवा केवल वह कुल का ही नाश करता है ऐसा नहीं, वह तो स्थविरत्व आदि को भी कुछ नही गिनता है, उनका तिरस्कार कर देता है।

पुनः कोई आर्यिकाओं का आश्रय करता हुआ भले ही अपने कुल का अथवा अपना विनाश नही करता हो, लेकिन अपवाद को तो प्राप्त हो ही जाता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—वह मुनि कन्या, विधवा, रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा तपस्विनी महिला का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही उसमे अपवाद को प्राप्त हो जाता है ॥१८२॥

---

१ क °विराद°। २ क नापेक्षते। ३ क °रादी°।

कण्णं—कन्या विवाहयोग्या । **विहवं**—विगतो मृतो गतो धवो भर्ता यस्या सा विधवा तां । **अंतेउरियं**—अन्त.पुरे भवा आन्त पुरिका तामान्त पुरिका स्वार्थे क —राज्ञी राज्ञीसमानां विलासिनीं वा । **तह**—तथा । **सइरिणीं**—स्वेच्छया परकुलानीयर्तीति स्वैरिणी ता स्वेच्छाचारिणी । **सलिंगं वा**—समान लिंगं सलिंग व्रतादिक कुल वा तद्विद्यते यस्या सा सलिंगिनी ता । अथवा सह लिंगेन वर्तते इति सलिगा ता स्वदर्शनेऽन्यदर्शने वा प्रव्रजिता । **अचिरेण**—क्षणमात्रेण मनागपि । **अल्लियमाणो**—आलीयमान. आश्रयमाण' सहवासालापादिक्रिया कुर्वाण । **अववादं**—अपवाद अकीर्ति । **तत्थ**—तत्राश्रयणे । **पप्पोदि**—प्राप्नोति अर्जयतीति । कन्या विधवा आन्त पुरिका स्वैरिणी सलिंगिनी वालीयमानोऽचिरेण तत्र अपवाद प्राप्नोतीति ।।१८२।।

नन्वार्यादिभि सह ससर्ग सर्वथा यदि परित्यजनीय कथ तासा प्रतिक्रमणादिक क एवमाह सर्वथा त्यागो यावतैव विशिष्टेन कर्तव्य इत्याह—

पियधम्मो दढधम्मो सविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो ।
सगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ।।१८३।।
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य ।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाण गणधरो होदि ।।१८४।।

पियधम्मो—प्रिय इष्टो धर्म क्षमादिकश्चारित्र वा यस्यासौ प्रियधर्मा उपशमादिसमन्वित । **दढधम्मो**—दृढ स्थिरो धर्मो धर्माभिप्रायो यस्यासौ दृढधर्मा । **संविग्गो**—सविग्नो धर्मतत्फलविषये हर्ष-

---

आचारवृत्ति—विवाह के योग्य लडकी अर्थात् जिसका अब तक विवाह नही हुआ है कन्या है । वि--विगत—मर गया है धव—पति जिसका वह विधवा है । अन्त पुर—रणवास मे रहनेवाली आन्त पुरिका है, अर्थात् रानी अथवा रानी के समान विलासिनी स्त्रियो को अन्त पुर मे रहनेवाली शब्द से ग्रहण किया है । जो स्वेच्छा से पर-गृहो मे जाती है वह स्वेच्छाचारिणी अर्थात् व्यभिचारिणी है । समान लिग व्रतादि अथवा कुल जिसके है वह सलिगिनी है । अथवा लिग—वेषसहित स्त्री सलिगिनी है वे चाहे अपने सम्प्रदाय की आर्यिका आदि हो या अन्य सम्प्रदाय की साध्वियाँ हो । इन उपर्युक्त प्रकार की महिलाओ का क्षणमात्र भी आश्रय लेता हुआ, उनके साथ सहवास वार्तालाप आदि क्रियाओ को करता हुआ मुनि उनके आश्रय से अपवाद को—अकीर्ति को प्राप्त कर लेता है ऐसा समझना ।

यदि आर्यिकाओ के साथ ससर्ग करना सर्वथा छोडने योग्य है तो उनके प्रतिक्रमण आदि कैसे होगे ? कौन ऐसा कहता है कि सर्वथा उनका ससर्ग त्याग करना, किन्तु जो आगे कहे गये गुणो से विशिष्ट है उन्हे उनका प्रतिक्रमण आदि कराना होता है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो धर्म के प्रेमी है, धर्म मे दृढ है, सवेग भाव सहित है, पाप से भीरू हैं, शुद्ध आचरण वाले है, शिष्यों के सग्रह और अनुग्रह मे कुशल है और हमेशा ही पापक्रिया की निवृत्ति से युक्त है ।।१८३।।

गम्भीर है, स्थितचित्त है, मित बोलनेवाले हैं, किंचित् कुतूहल करते है, चिरदीक्षित है, तत्त्वो के ज्ञाता है—ऐसे मुनि आर्यिकाओ के आचार्य होते है ।।१८४।।

आचारवृत्ति—प्रिय—इष्ट है उत्तमक्षमादि धर्म अथवा चारित्र जिनको वे प्रियधर्मा

सम्पन्न । **अवज्जभीरु**—अवद्यभीरुरवद्यं पाप कुत्स्य तस्माद्भयनशीलोऽवद्यभीरु' । **परिसुद्धो**—परिसमन्ताच्छुद्ध परिशुद्धोऽखण्डिताचरण । **संगह**—सग्रहो दीक्षाशिक्षाव्याख्यानादिभिरुपग्रह , **अणुग्गह**—अनुग्रह' प्रतिपालन आचार्यत्वादिदान याभ्या तयोर्वा (कुसलो) कुशलो निपुण' सग्रहानुग्रहकुशल पात्रभूत गृह्णाति गृहीतस्य च शास्त्रादिभि. संयोजन । **सददं**—सतत सर्वकाल । **सारक्खणाजुत्तो**—सहारक्षणेन वर्तत इति सारक्षणा क्रिया पापक्रियानिवृत्तिस्तया युक्त रक्षायां युक्त हितोपदेशदातेति ॥१८३॥

गंभीरो—गुणैरगाधोऽलब्धपरिमाण । **दुद्धरिसो**—दुर्धर्षोऽकदर्थ्य स्थिरचित्त । **मिदवादी**—मित परिमित वदतीत्येव शीलो मितवादी अल्पवदनशील । **अप्पकोदुहल्लो य**—अल्प स्तोक कुतूहल कौतुक यस्यासावल्पकुतूहलोऽविस्मयनीयो ऽथवा अल्पगुह्य[1]दीर्घस्तब्ध प्रश्रवादिरहित चशब्द समुच्चयार्थ । **चिरपव्वइदो**—चिरप्रव्रजित निर्व्यूढव्रतभारो गुणज्येष्ठ । **गिहिदत्थो**—गृहीतो ज्ञातोऽर्थ पदार्थ स्वरूप येनासौ गृहीतार्थ आचारप्रायश्चित्तादिकुशल । **अज्जाणं**—आर्याणा सयतीना । **गणधरो**—मर्यादोपदेशक प्रतिक्रमणाद्याचार्य । **होदि**—भवति । प्रियधर्मा दृढधर्मा सविग्नोऽवद्यभीरु परिशुद्ध' सग्रहानुग्रहकुशल सतत सारक्षणयुक्तो गम्भीरदुर्धर्षमितवाद्यल्पकौतुकचिरप्रव्रजितगृहीतार्थश्च य स आर्याणा गणधरो भवतीति ॥१८४॥

अथान्यथाभूतो यदि स्यात् तदानी किं स्यादित्यत आह—

है अर्थात् उपशम आदि से समन्वित है । दृढ है धर्म का अभिप्राय जिनका वे दृढ़धर्मा है । जो धर्म और उसके फल मे हर्ष से सहित है वे सविग्न है । जो पाप से डरनेवाले है वे पापभीरू है । जो सब तरफ से शुद्ध आचरणवाले—अर्थात् अखण्डित आचरणवाले है वे परिशुद्ध हैं । दीक्षा, शिक्षा, व्याख्यान आदि के द्वारा उपकार करना सग्रह है और उनका प्रतिपालन करना आचार्य-पद आदि प्रदान करना अनुग्रह है । जो इन सग्रह और अनुग्रह मे निपुण है अर्थात् पात्र—योग्य को ग्रहण करते है और ग्रहण किए गये को शास्त्रज्ञान आदि से सयुक्त करते है और हमेशा सारक्षण क्रिया अर्थात् पाप क्रिया की निवृत्ति से युक्त रहते है अर्थात् सघ के मुनियो की रक्षा मे युक्त होते हुए उन्हे हित का उपदेश देते है,

जो गुणो से अगाध है अर्थात् जिनके गुणो का कोई माप नही है, जो किसी से कदर्थित—तिरस्कृत नही है अर्थात् स्थिरचित्त है, जो थोडा बोलनेवाले हैं, जो अल्प कौतुक करनेवाले है—विस्मयकारी नही है अथवा अल्प गुह्य विषय को छिपानेवाले अर्थात् शिष्यो के दोषो को सुनकर उनको अन्य किसी से न बतानेवाले है. चिरकाल से दीक्षित है अर्थात् व्रतो के भार को धारण करनेवाले है, गुणो मे ज्येष्ठ है, गृहीतार्थ—पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाले है—आचार-शास्त्र और प्रायश्चित्त आदि शास्त्रो में कुशल है ऐसे आचार्य आर्यिकाओ की प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करानेवाले, उनको मर्यादा का उपदेश देनेवाले उनके गणधर होते है । तात्पर्य यह हुआ कि उपर्युक्त गुणविशिष्ट आचार्य ही अपने सघ में आर्यिकाओं को रखते हुए उनको प्रायश्चित्त आदि देते है ।

यदि आचार्य इन गुणो से रहित है और आर्यिकाओ का गणधर बनता है तो क्या होगा ? सो ही बताते है—

---

१. क 'गुह्य. ।

एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्त करेदि अज्जाणं।
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज ॥१८५॥

एवं—अनेन प्रकारेण। एतैर्गुणै। **वदिरित्तो**—व्यतिरिक्तो मुक्त। **जदि**—यदि। **गणधारित्तं**—गणधारित्व प्रतिक्रमणादिक। **करेदि**—करोति। **अज्जाणं**—आर्याणा तपस्विनीना। **चत्तारि**—चत्वार:। **कालगा**—कालका गणपोषणात्मसस्कारसल्लेखनोत्तमार्थकाला आद्या वा विराधिता भवन्तीति वाक्यशेष। अथवा कालग्रहणेन प्रायश्चित्तानि परिगृह्यन्ते चत्वारि प्रायश्चित्तानि च्छेदमूलपरिहारपारचिकानि। अथवा चत्वारो मासा काजिकभक्ताहारेण। **से**—तस्य आर्यागणधरस्य भवन्तीत्यर्थ। **गच्छादि**—गच्छ ऋषिकुल आदिर्येषा ते गच्छादयस्तेषा, **विराहणा**—विराधना विनाशो विपरिणामो वा गच्छादिविराधना गच्छात्मगणकुलश्रावकमिथ्यादृष्ट्यादयो विराधिता भवन्तीत्यर्थ अथवा गच्छात्मविनाश। **होज्ज**—भवेत्। पूर्वोक्तगुणव्यतिरिक्तो यद्यार्याणा गणधरत्व करोति तदानी तस्य चत्वार काला विनाशमुपयान्ति, अथवा चत्वारि प्रायश्चित्तानि लभते गच्छादेर्विराधना च भवेदिति ॥१८५॥*

गाथार्थ—इन गुणो से रहित आचार्य यदि आर्यिकाओ का आचार्यत्व करता है तो उसके चार काल विराधित होते है और गच्छ की विराधना हो जाती है ॥१८५॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त गुणो से रहित मुनि यदि आर्यिकाओ का प्रतिक्रमण आदि सुनकर उन्हे प्रायश्चित्त आदि देने रूप गणधरत्व करता है तो उसके गणपोषण, आत्मसस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ इन चार कालो की अथवा आदि के चार काल—दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसकार इन चारो कालो की विराधना हो जाती है। अथवा 'कलिका' शब्द से प्रायश्चित्तादि का ग्रहण हो जाता है। अर्थात् उस आचार्य को छेद, मूल, परिहार और पारचिक ऐसे चार प्रायश्चित्त लेने पडते है। अथवा उसे चार महीने तक काजिक भोजन का आहार लेना पडता है। तथा ऋषि कुल रूप जो गच्छ—सघ है वह अपना सघ, आदि शब्द से कुल, श्रावक और मिथ्यादृष्टि आदि, इनकी भी विराधना हो जाती है। अर्थात् गुणशून्य आचार्य यदि आर्यिकाओ का पोषण करते है तो व्यवस्था बिगड जाने से सघ के साधु उनकी आज्ञा पालन नही करेंगे। इससे सघ का विनाश हो जायेगा।

तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वोक्त गुणो से रहित आचार्य यदि आर्यिकाओ का आचार्य बनता है तो उसके गणपोषण आदि चार काल नष्ट हो जाते हैं अथवा चार प्रकार के प्रायश्चित्त उसे लेने पडते है और उसके सघ आदि की विराधना—अव्यवस्था हो जाती है।

---

*छेद-प्रायश्चित्त की निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

दीक्षादि कालो मे यदि कोई एक आदि नष्ट हो जावे तो उसका प्रायश्चित्त बताते है—

आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाण तहेव खमण च।
एक्केक्क एकमासं करेदि जदि कालग एक्कं ॥६५॥

अर्थ—दीक्षाकाल आदि छह कालो मे से यदि किसी एक-एक काल का विनाश हुआ है तो वह मुनि आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान और उपवास इन चारो मे से एक-एक को एक-एक महीना तक करे।

तस्मात्तेन परगणस्थेन यत्तस्याचार्यस्यानुमत तत्कर्तव्य सर्वथा प्रकारेणेत्यत. आह—

किबहुणा भणिदेण दु जा इच्छा गणधरस्स सा सव्वा ।
कादव्वा तेण भवे एसेव विधी दु सेसाणं ॥१८६॥

किबहुणा—किं बहुना । **भणिदेण दु**—भणितेन तु किं बहुनोक्तेन । **जा इच्छा**—येच्छा योभिप्राय. । **गणधरस्स**—गणधरस्याचार्यस्य । **सा सव्वा**—सर्वैव सा **कादव्वा**—कर्तव्या । तेण—पादोष्णेन । **भवे**—भवेत् । किं परगणस्थेनैव कर्तव्या नेत्याह । **एसेव विधीदु सेसाणं**—एष एव इत्थंभूत एव विधिरनुष्ठान शेषाणा स्वगण-स्थानामेकाकिनां समुदायव्यवस्थितानां च । किं बहुनोक्तेन येच्छा गणधरस्य सा सर्वा कर्तव्या भवेत् न केवल-मस्य शेषाणामप्येष एव विधिरिति ॥१८६॥

यदि यतीनामय न्याय आर्यिकाणां क इत्यत आह—

एसो अज्जाणपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं ।
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥१८७॥

एसो—एष । **अज्जाणंविय**—आर्याणामपि च । **सामाचारो**—सामाचार. । **जहक्खिओ**—यथा-ख्यातो यथा प्रतिपादित । **पुव्वं**—पूर्वस्मिन् । **सव्वम्मि**—सर्वस्मिन् । **अहोरत्ते**—रात्रौ दिवसे च । **विभा-सिदव्वो**—विभाषयितव्य प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा । **जहाजोग्गं**—यथायोग्य आत्मानुरूपो वृक्षमूला-

---

इसलिए उस परगण में स्थित मुनि को, उन आचार्य को जो इष्ट है सभी प्रकार से वही करना चाहिए, इसी बात को कहते हैं—

गाथार्थ—अधिक कहने से क्या, गणधर की जो भी इच्छा हो वह सभी उसे करनी होती है। यही विधि शेष मुनियो के लिए भी है ॥१८६॥

आचारवृत्ति—बहुत कहने से क्या, उस सघ के आचार्य का जो भी अभिप्राय है उसी के अनुसार आगन्तुक मुनि को उनकी सभी प्रकार की आज्ञा पालन करना चाहिए।

क्या परगण मे स्थित वह आगन्तुक मुनि ही सभी आज्ञा पाले ? नही, ऐसी बात नही है, किन्तु अपने सघ मे एक मुनि अथवा समूह रूप सभी मुनियो के लिए भी यही विधि है अर्थात् संघस्थ सभी मुनि आचार्य की सम्पूर्णतया अनुकूलता रखे ऐसा आदेश है।

यदि मुनियो के लिए ऐसा न्याय है तो आर्यिकाओ के लिए क्या आदेश है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते है—

गाथार्थ—पूर्व मे जैसा कहा गया है वैसा ही यह समाचार आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य करना चाहिए ॥१८७॥

आचारवृत्ति—पूर्व में जैसा समाचार प्रतिपादित किया है, आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण काल रूप दिन और रात्रि मे यथायोग्य—अपने अनुरूप आर्थात् वृक्षमूल, आतापन आदि योगों से रहित वही सम्पूर्ण समाचार विधि आचरित करनी चाहिए।

भावार्थ—इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओ के लिए वे ही अट्ठाईस मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, सस्तर ग्रहण आदि तथा वे ही औघिक पदविभागिक समाचार

विरहित । सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोपि सामाचारो यथायोग्यमार्यिकाणा आर्यिकाभिर्वा प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथाख्यात पूर्वस्मिन्निति ॥१८७॥

वसतिकाया ता कथ गमयन्ति कालमिति पृष्टेऽत आह—

अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजत्ताओ ।
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ ॥१८८॥

अण्णोण्णणुकूलाओ—अन्योन्यस्यानुकूलास्त्यक्तमत्सरा अन्योन्यानुकूला परस्परत्यक्तमात्सर्या । **अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ**—अन्योन्यामा परस्परगाणामभिरक्षण प्रतिपालन तस्मिन्नभियुक्ता उद्युक्ता अन्योन्याभिरक्षणाभियुक्ता । **गयरोसवेरमाया**—रोपश्च वैर च माया च रोषवैरमाया गता विनष्टा रोषवैरमाया यासा ता गतरोषवैरमायास्त्यक्तमोहनीयविशेषक्रोधमारणपरिणामकौटिल्या । **सलज्जमज्जादकिरियाओ**—लज्जा च मर्यादा च क्रिया च लज्जामर्यादक्रिया सह ताभिर्वर्तन्त इति सलज्जमर्यादक्रिया लोकापवादादात्मनो भयपरिणामो लज्जा, रागद्वेषाभ्या न्यायादनन्यथा वर्तन मर्यादा, उभयकुलानुरूपाचरण क्रियते ॥१८८॥

पुनरपि ता कथ विशिष्टा इत्यत आह—

अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए ।
तवविणयसजमेसु य अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ ॥१८९॥

माने गये है जो कि यहाँ तक चार अध्यायो मे मुनियो के लिए वर्णित है। मात्र 'यथायोग्य' पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उन्हे वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तर योगो के करने का अधिकार नही है। और यही कारण है कि आर्यिकाओ के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि-विधान का ग्रन्थ नही है।

वे आर्यिकाएँ वसतिका मे अपना काल किस प्रकार से व्यतीत करती है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते है-

गाथार्थ—परस्पर मे एक दूसरे के अनुकूल और परस्पर मे एक दूसरे की रक्षा में तत्पर, क्रोध, वैर और मायाचार मे रहित तथा लज्जा, मर्यादा और क्रियाओ से सहित रहती है ॥१८८॥

आचारवृत्ति—ये आर्यिकाएँ परस्पर मे मात्सर्य भाव को छोडकर एक दूसरे के अनुकूल रहती है, परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने मे पूर्ण तत्पर रहती है, मोहनीय कर्मविशेष के क्रोधभाव, वैरभाव मारने या बदला लेने के भाव और कौटिल्यभावो से रहित होती हैं। लज्जा से सहित मर्यादा मे रहने वाली और उभयकुल के अनुरूप आचरण क्रिया से सहित होती है। लोकापवाद से डरते रहना लज्जागुण है। राग-द्वेष परिणाम से न्याय का उलघन न करके प्रवृत्ति करना मर्यादा है अर्थात् अनुशासन मे बद्ध रहना मर्यादा है। इन लज्जा और मर्यादा से सहित होती हुई अपने पितृकुल और पतिकुल अथवा गुरुकुल के अनुरूप आचरण मे तत्पर रहती है।

पुनरपि वे किन गुणो से विशिष्ट रहती हैं ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—पढने मे, पाठ करने मे, सुनने मे, कहने मे और अनुप्रेक्षाओ के चिन्तवन में तथा तप में, विनय मे और सयम मे नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहती हैं ॥१८९॥

अज्झयणे—अध्ययनेऽनधीतशास्त्रपठने । **परियट्टे**—परिवर्तने पठितशास्त्रपरिपाट्यां । **सवणे**—श्रवणे श्रुतस्याश्रुतस्य च शास्त्रस्यावधारणे । **कहणे**—कथने आत्मज्ञातशास्त्रान्यनिवेदने । **अणुपेहाए**—अनुप्रेक्षासु श्रुतसर्ववस्तुध्रुवान्यत्वादिचिन्तासु श्रुतस्य शास्त्रस्यानुचिन्तने वा । **तवविणयसंजमेसु य**—तपश्च विनयश्च संयमश्च तपोविनयसंयमास्तेषु चानशनप्रायश्चित्तादिक्रियामनोवचनकाया (य) स्तब्धत्वेन्द्रियनिरोध-जीववधपरित्यागेषु । **अविरहिद**—अविरहिता स्थिता नित्योद्युक्ता. । **उवओग**—उपयोग तात्पर्यं ज्ञानाभ्यास. । [1]**जोग**—योगो मनोवचनकायशुभानुष्ठानमेताभ्यां । **जुत्ताओ**—युक्ताः उपयोगयोगयुक्ता. ॥१८६॥

पुनरपि ता. विशेष्यन्ते—

अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ ॥१६०॥

अविकारवत्थवेसा—न विद्यते विकारो विकृति. स्वभावादन्यथाभावो वा येषा तेऽविकारा. वस्त्राणि च वेषश्च शरीरादिसंस्थान च वस्त्रवेषा, अविकारा वस्त्रवेषा यासा ता अविकारवस्त्रवेषा रक्ताकितादिवस्त्रवगति-भगादिभ्रूविकारादिरहिता । **जल्ल**—सर्वांगीन प्रस्वेदयुक्त रज । अगैकदेशभव मल—ताभ्या **विलित्ता**—विलिप्ता युक्ता जल्लमलविलिप्ता । **चत्तदेहाओ**—त्यक्तोऽसस्कृतो देह शरीर यासा तास्त्यक्तदेहा , जल्लमल-विलिप्ताश्च तास्त्यक्तदेहाश्च तास्तथाभूता । **धम्म**—धर्म । **कुल**—कुल । **कित्ति**—कीर्ति । **दिक्खा**—दीक्षा ।

आचारवृत्ति—विना पढे हुए शास्त्रो का पढ़ना अध्ययन है। पढे हुए शास्त्रों का पुनः पुन. पढ़ना (फेरना) परिवर्तन है। सुने हुए अथवा नही सुने हुए शास्त्रो का अवधारण करना श्रवण है। अपने जाने हुए शास्त्रों को अन्य को सुनाना कथन है। सुनी हुई सभी वस्तुओं के ध्रुवान्यत्व—अनित्य आदि का चिन्तवन करना अथवा सुने हुए शास्त्रों का चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा है। अनशन आदि और प्रायश्चित्त आदि वाह्याभ्यन्तर तप है। मन-वचन-काय की स्तब्धता का न होना अर्थात् नम्रता का होना विनय है और इन्द्रिय निरोध तथा जीव-वध का परित्याग करना सयम है। इन अध्ययन आदि कार्यों मे जो हमेशा लगी रहती हैं, उपयोग अर्थात् ज्ञानाभ्यास तथा योग अर्थात् मन-वचन-काय का शुभ अनुष्ठान, इन उपयोग और योग से सतत युक्त रहती है।

पुन. वे किन विशेषताओ से युक्त होती है?—

गाथार्थ—विकार रहित वस्त्र और वेष को धारण करने वाली, पसीनायुक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुई वे शरीर सस्कार से शून्य रहती है। धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या को करती है ॥१६०॥

आचारवृत्ति—जिनके वस्त्र, वेष और शरीर आदि के आकार विकृति से रहित, स्वाभाविक-सात्त्विक हैं, अर्थात् जो रग-विरगे वस्त्र, विलासयुक्त गमन और भ्रूविकार कटाक्ष आदि मे रहित वेष को धारण करने वाली है। सर्वांग मे लगा हुआ पसीना से युक्त जो रज है वह जल्ल है। अंग के एक देश में होने वाला मैल मल कहलाता है। जिनका गात्र इन जल्ल और मल से लिप्त रहता है, जो शरीर के सस्कार को नही करती हैं ऐसी ये आर्यिकाएँ क्षमा-मार्दव

१ जोग पाठ मूलगाथा से अतिरिक्त है।

ताना, पडिरूव—प्रतिरूपा सदृशा । विसुद्ध—विशुद्धा । चरियाओ—चर्यानुष्ठान यासा ता धर्मकुलकीर्ति-दीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्या क्षमामार्दवादिमातृपितृकुलात्मयशोव्रतसदृशाभग्नाचरणा इति ॥१६०॥

कथ च तास्तिष्ठन्त्यत आह—

अगिहत्थमिस्सणिलए असण्णिवाए विसुद्धसंचारे ।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा [1]सहत्थति ॥१६१॥

अगिहत्थमिस्सणिलए—गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्था स्वदारपरिग्रहासक्तास्तै., **मिस्स**—मिश्रो युक्तो न गृहस्थमिश्रोऽगृहस्थमिश्र स चासौ निलयश्च वसतिका तस्मिन्नगृहस्थमिश्रनिलये यत्रासयतजनै सह सम्पर्को नास्ति तत्र । **असण्णिवाए**—असता पारदारिकचौरपिशुनदुष्टतिर्यक्प्रभृतीना निपातो विनाशोऽभावो यत्र तस्मिन्नसन्निपाते । अथवा सता यतीना निपात प्रसर सन्निकृष्टता सन्निपात स न विद्यते यत्र सोऽसन्निपात-स्तस्मिन् । अथवा असज्ञिना पातोऽसज्ञिपातो बाधारहिते प्रदेशे इत्यर्थ । **विसुद्धसंचारे**—विशुद्ध सक्लेशरहितो गुप्तो वा सचरण सचार मलोत्सर्गप्रदेशयोग्य गमनागमनार्हो वा यत्र स विशुद्धसचारस्तस्मिन् बालवृद्धरोगि-शास्त्राध्ययनयोग्ये । **दो**—द्वे । **तिण्णि**—तिस्र । **अज्जाओ**—आर्या सयतिका । **बहुगीओ वा**—बह्व्यो वा त्रिशच्चत्वारिंशद्वा । **सह**—एकत्र । **अत्थति**—तिष्ठन्ति वसन्तीति । अगृहस्थमिश्रनिलयेऽसन्निपाते विशुद्ध-सचारे द्वे तिस्रो बह्व्यो वार्या अन्योन्यानुकूला परस्परा भिरक्षणा भियुक्ता गतरोषवैरमाया सलज्जमर्याद-क्रिया अध्ययनपरिवर्तनश्रवणकथनतपोविनयसयमेषु अनुप्रेक्षासु च तथास्थिता उपयोगयोगयुक्ताश्चाविकार-

---

आदि धर्म, माता-पिता के कुल, अपना यश, और अपन व्रतो के अनुरूप निर्दोष चर्या करती है अर्थात् अपने धर्म, कुल आदि के विरुद्ध आचरण नही करती है ।

वे अपने आवास मे कैसे रहती है ?

गाथार्थ—जो गृहस्थो से मिश्रित न हो, जिसमे चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध सचरण के योग्य हो ऐसी वसतिका मे दो या तीन या बहुत सी आर्यिकाएँ साथ रहती है । ॥१६१॥

आचारवृत्ति—जो गृह मे रहते है वे गृहस्थ कहलाते है । जो अपनी पत्नी और परिग्रह मे आसक्त है उन गृहस्थो से मिश्र वसतिका नही होनी चाहिए । जहाँ पर असयत जनो का सपर्क नही रहता है, जहाँ पर असज्जन—परदारालपट, चोर, चुगलखोर, दुष्टजन और तिर्यचो आदि का रहना नही है, अथवा जहाँ पर सत्पुरुष—यतियो की सन्निकटता नही है अथवा जहाँ असज्ञियो अज्ञानियो का, पात—आना-जाना नही है अर्थात् जो बाधा रहित प्रदेश है, विशुद्धसचार—जहाँ पर विशुद्ध—सक्लेशरहित अथवा गुप्त सचार है अर्थात् मल विसर्जन के योग्य गुप्त प्रदेश जहाँ पर विद्यमान है, अथवा जो गमन-आगमन के योग्य अर्थात् जो बाल, वृद्ध और रुग्ण आर्यिकाओ के रहने योग्य है और जो शास्त्रो के स्वाध्याय के लिए योग्य है ऐसा स्थान विशुद्ध सचार कहलाता है । इस प्रकार से गृहस्थो के सपर्क से रहित, दुराचारी जनो के सपर्क से रहित, मुनियो की वसतिका की निकटता से रहित और विशुद्ध

---

१ क °ओवा वि अच्छति । २ क असन्निपात ।

वस्त्रवेषा जल्लमलविलिप्तास्त्यक्तदेहा धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः सन्त्यस्तिष्ठन्तीति समुदायार्थः ॥१९१॥

किं ताभिः परगृहं न कदाचिदपि गन्तव्यमित्यतः आह—

ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥१९२॥

णय—न च। **परगेहं**—परगृहं गृहस्थनिलयं यतिनिलयं वा। **अकज्जे**—अकार्येऽप्रयोजने कारणमन्तरेण। **गच्छे**—गच्छेयु. यान्ति। **कज्जे**—कार्ये उत्पन्ने प्रयोजने। **अवस्सगमणिज्जे**—अवश्य गमनीयेऽवश्यं गन्तव्ये भिक्षाप्रतिक्रमणादिकाले। **गणिणीं**—गणिनी महत्तरिकां। **आपुच्छित्ता**—आपृच्छ्यानुज्ञां लब्ध्वा। **संघाडेणेव**—सघाटकेनैवान्याभि सह। **गच्छेज्ज**—गच्छेयु गच्छन्तीति। परगृहं च ताभिर्न गन्तव्य, किं सर्वथा नेत्याह अवश्यगमनीये कार्ये गणिनीमापृच्छ्य सघाटकेनैव गन्तव्यमिति ॥१९२॥

स्ववासे परगृहे वा एता. क्रियास्ताभिर्न कर्तव्या इत्यत आह—

सचरण युक्त वसतिका में ये आर्यिकाएँ दो या तीन अथवा तीस या चालीस पर्यन्त भी एक साथ रहती है।

तात्पर्य यह हुआ कि ये आर्यिकाएँ उपर्युक्त बाधारहित और सुविधायुक्त वसतिका मे कम से कम दो या तीन अथवा अधिक रूप से तीस या चालीस पर्यन्त एक साथ मिलकर रहती हैं। ये परस्पर मे एक-दूसरे की अनुकूलता रखती हुई एक-दूसरे की रक्षा के अभिप्राय को धारण करती हुई, रोष वैर माया से रहित लज्जा, मर्यादा और क्रियाओ से संयुक्त, अध्ययन, मनन, श्रवण, उपदेश, कथन, तपश्चरण, विनय, सयम और अनुप्रेक्षाओं मे तत्पर रहती हुई ज्ञानाभ्यास—उपयोग तथा शुभयोग से सयुक्त, निर्विकार वस्त्र और वेष को धारण करती हुई, पसीना और मैल से लिप्त काय को धारण करती हुई, सस्कार—शृगार से रहित; धर्म, कुल, यश, और दीक्षा के योग्य निर्दोष आचरण करती हुई अपनी वसतिकाओं में निवास करती हैं।

क्या इन्हे परगृह मे कदाचित् भी नही जाना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—बिना कार्य के पर-गृह मे नही जाना चाहिए और अवश्य जाने योग्य कार्य मे गणिनी से पूछकर साथ मे मिलकर ही जाना चाहिए ॥१९२॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाओ के लिए गृहस्थ के घर और यतियों की वसतिकाएँ परगृह है। बिना प्रयोजन के आर्यिकाएँ परगृह न जायें। यदि गृहस्थ के यहाँ भिक्षा आदि लेना और मुनियो के यहाँ प्रतिक्रमण, वन्दना आदि प्रयोजन से जाना है तो गणिनी से पूछकर पुनः कुछ आर्यिकाओं को साथ लेकर ही जाना चाहिए, अकेली नही जाना चाहिए।

अपने निवास स्थान में अथवा पर-गृह मे आर्यिकाओ को निम्नलिखित क्रियाएँ नही करना चाहिए, उन्हे ही बताते हैं—

रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खणधोवणगेयं च ण य कुज्जा ॥१९३॥

रोदण—रोदनमश्रुविमोचन दु खार्तस्य । **ण्हावण**—स्नपन बालादीना मार्जन । **भोयण**—भोजन तेषामेव बल्भनपानादिक्रिया । **पयणं**—पचन ओदनादीना पाकनिर्वर्तन । **सुत्तं च**—सूत्रं सूत्रकरण च । **छव्विहारम्भे**—षट् प्रकारा येषा ते षड्विधास्ते च ते आरम्भाश्चेति षड्विधारम्भा । असिमषिकृषिवाणिज्यशिल्पलेखक्रियाप्रारम्भास्तान् जीवघातहेतून् । **विरदाण**—विरताना सयताना । **पादमक्खणधोवण**—म्रक्षण अभ्यञ्जन धावन प्रक्षालनं पादयोश्चरणयोर्म्रक्षणधावन पादम्रक्षणधावन । **गेय**—गीत च रागपूर्वक गन्धर्व । **णय**—न च । **कुज्जा**—कुर्यु न कुर्वन्ति । परगृह गता आर्यिका रोदनस्नपनभोजनपचनसूत्राणि षड्विधारम्भाश्च न कुर्वन्ति, विरताना पादम्रक्षणधावन वा न कुर्यु स्वावासे परवासे वान्याश्च या अयोग्या क्रियास्ता न कुर्वन्त्यपवादहेतुत्वादिति ॥१९३॥

अथ भिक्षाचर्यायां कथमवतरन्ति ता इत्यत आह—

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥१९४॥

तिण्णि व—तिस्रो वा । **पंच व**—पच वा । **सत्त व**—सप्त वा । **अज्जाओ**—आर्यिका. । **अण्णमण्णरक्खाओ**—अन्योन्यरक्षायामा ता अन्योन्यरक्षा परस्परकृतयत्ना । **थेरीहिं**—स्थविराभि वृद्धाभि । **सह**—सार्धं । **अंतरिदा**—अन्तरिता व्यवहिता काभिर्वृद्धाभिरेवान्यासामश्रुतत्वात् । **भिक्खाय**—भिक्षार्थं भिक्षार्थ भिक्षाश्रमणकाले वोपलक्षणमात्रमेतद् भिक्षाग्रहण यथा काकेभ्यो दधि रक्षनामिति । **समोदरंति**—

गाथार्थ- रोना, नहलाना, खिलाना, भोजन पकाना, सूत कातना, छह प्रकार का आरम्भ करना, यतियो के पैर मे मालिश करना, धोना और गीत गाना, आर्यिकाएँ इन कार्यो को नही करे ॥१९३॥

आचारवृत्ति—दु ख से पीडित को देखकर अश्रु गिराना, बच्चों को नहलाना धुलाना, उन्हे भोजन-पान आदि कराना, भात आदि पकाना, सूत कातना, असि, मषि, कृषि, व्यापार, शिल्पकला और लेखन क्रिया जीवघात के कारणभूत इन छह प्रकार के आरम्भो का करना, सयतो के पैर मे तैल वगैरह का मालिश करना, उनके चरणो का प्रक्षालन करना तथा रागपूर्वक गधर्व गीत गाना इन क्रियाओ को आर्यिकाएँ अपनी वसतिका मे या अन्य के गृह में नही करे क्योकि इससे ये क्रियाएँ उनके अपवाद के लिए कारण है।

आहार के लिए वे कैसे निकलती है ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—तीन या पाँच या सात आर्यिकाएँ मे आपस में रक्षा में तत्पर होती हुई, वृद्धा आर्यिकाओं के साथ मिलकर हमेशा आहार के लिए निकलती है ॥१९४॥

आचारवृत्ति—तीन, पाँच अथवा सात आर्यिकाएँ परस्पर मे एक दूसरे की सँभाल रखती हुई और वृद्धा आर्यिकाओ से अतरित होती हुई आहार के लिए सम्यक् प्रकार से सर्व काल पर्यटन करती हैं। यहाँ भिक्षा शब्द उपलक्षण मात्र है। जैसे किसी ने कहा—'कौवे से दही की रक्षा करना' तो उसका अभिप्राय यह हुआ कि बिल्ली आदि सभी से उसकी रक्षा करना है।

समवतरन्ति सम्यक्पर्यटन्ति। सदा—सर्वकाल। यत्र तासां गमनं भवति तत्रानेन विधानेन नान्यथेति। तिस्र: पंच सप्त वा अन्योन्यरक्षा स्थविराभि: सहान्तरिताश्च भिक्षार्थं समवतरन्ति सदेति ॥१९४॥

आचार्यादीनां च वन्दनां कुर्वन्ति ता: किं यथा मुनयो नेत्याह—

पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥१९५॥

पंचछसत्तहत्थे—पंचषट्सप्तहस्तान्। **सूरीअज्झावगोय**—सूर्यध्यापकौ चाचार्योपाध्यायौ च। **साधूय**—साधूश्च। **परिहरिऊण**—परिहृत्य एतावदन्तरे स्थित्वा। **अज्जाओ**—आर्या:। **गवासणेण**—गवासनेन यथा गौरुपविशति तथोपविश्य एवकारोऽवधारणार्थ:। **वंदंति**—वन्दन्ते प्रणमन्ति। पंचषट्सप्तहस्तैर्व्यवधानं कृत्वा आचार्योपाध्यायौ च साधूश्च गवासनेनैव वन्दन्ते आर्या नान्येन प्रकारेणेत्यर्थ:। आलोचनाध्ययनस्तुति-भेदात् क्रमभेद इति ॥१९५॥

उपसंहारार्थमाह—

एवंविधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥१९६॥

उसी प्रकार से यहाँ ऐसा अर्थ लेना कि आर्यिकाओं का जब भी वसतिका से बाहर गमन होता है तब इसी विधान से होता है अन्य प्रकार से नहीं।

तात्पर्य यह है कि आर्यिकाएँ देववंदना, गुरुवंदना, आहार, विहार, नीहार आदि किसी भी प्रयोजन के लिए बाहर जावें तो दो-चार आदि मिलकर तथा वृद्धा आर्यिकाओं के साथ होकर ही जावें।

जैसे मुनि आचार्य आदि की वंदना करते हैं, क्या आर्यिकाएँ भी वैसे ही करती हैं ? नहीं, सो बताते हैं—

गाथार्थ—आर्यिकाएं आचार्य को पाँच हाथ से, उपाध्याय को छह हाथ से और साधु को सात हाथ से दूर रहकर गवासन से ही वंदना करती हैं ॥१९५॥

आचारवृत्ति—आर्यिकाएँ आचार्य के पास आलोचना करती हैं अत: उनकी वंदना के लिए पाँच हाथ के अंतराल से गवासन से बैठकर नमस्कार करती हैं। ऐसे ही उपाध्याय के पास अध्ययन करना है अत: उन्हें छह हाथ के अंतराल से नमस्कार करती हैं तथा साधु की स्तुति करनी होती है अत: वे सात हाथ के अंतराल से उन्हें नमस्कार करती हैं, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।

अब उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त विधानरूप चर्या का जो साधु और आर्यिकाएँ आचरण करते हैं वे जगत् से पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं।

एवंविधाणचरियं—एवंविधा चर्या एवंप्रकारानुष्ठानं। **चरंति**—आचरन्ति। **जे**—ये। **साधवो य**—साधवश्च मुनयश्च। **अज्जाओ**—आर्या ते साधव आर्याश्च। **जगपुज्जं**—जगत: पूजा जगत्पूजा तां जगत्पूजां। **कित्ति**—कीर्ति यशः। **सुहं च**—सुखं च। **लद्धूण**—लब्ध्वा। **सिज्झंति**—सिद्ध्यन्ति। एवंविधान-चर्या ये चरन्ति साधव आर्याश्च ते ताश्च जगत्पूजां कीर्तिं सुखं च लब्ध्वा सिद्ध्यन्तीति ॥१९६॥

ग्रन्थकर्तात्मगर्वनिरासार्थसमर्पणार्थमाह—

एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण।
वित्थारसमावण्णो वित्थरिदव्वो बुहजणेहिं ॥१९७॥

एवं—अनेन प्रकारेण। **सामाचारो**—सामाचार:—आगमप्रसिद्धानुष्ठानं। **बहुभेदो**—बहवो भेदा यस्यासौ बहुभेदो बहुप्रकार:। **वण्णिदो**—वर्णित: कथित:। **समासेन**—संक्षेपेण। **वित्थारसमावण्णो**—विस्तारं प्रपंचं समापन्न: प्राप्तो विस्तारयोग्य:। **वित्थरियव्वो**—विस्तारयितव्य: प्रपंचनीय:। **बुहजणेहिं**—बुधजनैरा-गमव्याकरणादिकुशलै:। एवं पूर्वस्मिन् यो बहुभेद: सामाचारोऽभूत् स मया संक्षेपेण वर्णितो यतोऽतो विस्तार-योग्यतत्वाद्विस्तारयितव्यो बुधजनैरिति।

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां चतुर्थः परिच्छेदः।

टीका का अर्थ सरल है ॥१९६॥

अब ग्रन्थकर्ता आचार्य अपने गर्व को दूर करने हेतु और समर्पण हेतु निवेदन करते हैं—

गाथार्थ—इस प्रकार से अनेक भेदरूप समाचार को मैंने संक्षेप से कहा है। बुद्धिमानो को इसका विस्तार स्वरूप जानकर इसे विस्तृत करना चाहिए ॥१९७॥

आचारवृत्ति—आगम मे प्रसिद्ध अनुष्ठान रूप यह समाचार विविध प्रकार का है, इसे मैंने कहा है। चूंकि यह विस्तार के योग्य है इसलिए आगम और व्याकरण आदि मे कुशल बुद्धिमान जनों को इसका विस्तार से विवेचन करना चाहिए।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्य विरचित मूलाचार मे
वसुनन्दि आचार्य द्वारा विरचित आचारवृत्ति
नाम की टीका में चौथा परिच्छेद पूर्ण हुआ।

५. पंचाचाराधिकारः

पचाचाराधिकारप्रतिपादनार्थं नमस्कारमाह—

तिहुयणमन्दरमहिदे तिलोगबुद्धे तिलोगमत्थत्थे ।
तेलोक्कविदिदवीरे तिविहेण य पणिविदे सिद्धे ॥१९८॥

तिहुयणमंदरमहिदे—मन्दरे मेरौ महिता पूजिता स्नापिता' मन्दरमहिता' त्रयाणा भुवनाना लोकाना समाहारस्त्रिभुवन तेन मन्दरमहितास्त्रिभुवनमन्दरमहिता । अथवा त्रिभुवनस्य मन्दरा प्रधाना. सौधर्मेन्द्रादयस्तैर्महितास्त्रिभुवनमन्दरमहितास्तांस्त्रिभुवनमन्दरमहितान् । **तिलोगबुद्धे**—त्रिलोकानां त्रिलोकैर्वा बुद्धा ज्ञातार ज्ञाता वा त्रिलोकबुद्धास्तांस्त्रिलोकबुद्धान् । **तिलोगमत्थत्थे**—त्रिलोकस्य मस्तक सिद्धिक्षेत्रं तस्मिंस्तिष्ठन्तीति त्रिलोकमस्तकस्थास्तांस्त्रिलोकमस्तकस्थान् सिद्धिक्षेत्रस्थान् । **तेलोक्कविदिदवीरे**—त्रिषु लोकेषु विदित: ख्यातो वीरो वीर्यं येषा, अथवा त्रिलोकाना विदिता प्रख्यातास्ते च ते वीरा शूराश्च त्रिलोकविदितवीरा त्रैलोक्यविदितवीर्यान् त्रिलोकविदितवीरान्वा । **तिविहेण**—त्रिविधेन त्रिप्रकारेण मनोवचनकर्मभि: । **पणिविदे**—प्रणिपत्य क्त्वान्तोऽय, अथवा प्रणिपतामि मिडन्तोऽय क्रियाशब्द । **सिद्धे**—सिद्धान् निराकृतनिर्मूलकर्माण. । न चात्र तेषामसिद्धता पूर्वापराविरुद्धागमतत्स्वरूपप्रतिपादकप्रमाणसद्भावात्, तत्सद्भावबाध-

---

अब पचाचार अधिकार के प्रतिपादन हेतु नमस्कार-गाथा को कहते है—

गाथार्थ—त्रिभुवन के प्रधान पुरुषो से पूजित, तीन लोक को जाननेवाले, तीन लोक के अग्रभाग पर स्थित, तीन लोक में विख्यात वीर—ऐसे सिद्धो को मन, वचन और काय से प्रणाम करता हूँ ॥१९८॥

आचारवृत्ति—मन्दर—सुमेरु पर जिनका त्रिभुवन के इन्द्र द्वारा अभिषेक किया गया है वे त्रिभुवनमन्दर सहित है । अथवा त्रिभुवन के मन्दर—प्रधान जो सौधर्म आदि देव हैं उनसे जो महित—पूजित है । तीनो लोको के जो जाननेवाले है अथवा तीनो लोकों के द्वारा जो बुद्ध—ज्ञात हैं वे त्रिलोकबुद्ध है । त्रिलोक के मस्तक पर—सिद्ध क्षेत्र पर जो विराजमान है, जिनका वीर्य तीनों लोको मे ख्यात है अथवा तीनो लोको मे वे प्रख्यातवीर—शूर है अथवा तीनों लोकों के वीर्य—शक्ति को जिन्होंने जान लिया है वे त्रिलोकविदितवीर है और जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों को निर्मल कर दिया है वे सिद्ध परमेष्ठी हैं ऐसे उपर्युक्त विशेषण युक्त अर्हंत और सिद्धपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करके पाँच आचारों को कहूँगा । इस तरह यहाँ पर 'वक्ष्ये' क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए । और 'पणिविदे' क्रिया को क्त्वा-प्रत्ययान्त समझकर 'नमस्कार करके' ऐसा अर्थ करना अथवा 'प्रणिपतामि' ऐसा 'मिडन्त' क्रियापद ही समझना ।

कप्रमाणाभावाद्वा। न चेतरेतराश्रयसद्भाव। द्रव्यार्थिकनयार्पणयानादिनिधनस्यागमस्य स्वमहिम्नैव प्रामाण्यात्। पर्यायार्थिकनयाश्रयणाच्च घातिकर्मविनिर्मुक्तार्हत्प्रणीतत्वाद्वा। न च जीवाना कर्मबन्धाभावाभावो हानिवृद्धिदर्शनादिति। त्रिभुवनमन्दरमहितानर्हतस्त्रिलोकमस्तकस्थास्त्रैलोक्यविदितवीर्यान् सिद्धाश्च प्रणिपत्य वक्ष्य, इति सम्बन्ध। अथवा सर्वाणि शास्त्राणि नमस्कारपूर्वाणि, कुत सर्वज्ञपूर्वकत्वात् तेषा यतोऽत स्वतत्रोऽय नमस्कार त्रिभुवनमन्दरमहितानर्हत सिद्धाश्च प्रणिपतामि। शेषाणि विशेषणान्यनयोरेव। अथवा सिद्धानामेव नमस्कारोऽय भूतपूर्वगतिन्यायेन विशेषणाना सद्भावादिति। वक्ष्ये इति क्रियापदमुक्त ॥१८६॥

प्रश्न—सिद्धो का अस्तित्व यहाँ सिद्ध ही नही है इसलिए वे असिद्ध हैं?

उत्तर—ऐसा नही कह सकते, क्योकि पूर्वापर से विरोध रहित आगम और उन सिद्धो के या अर्हतो के स्वरूप का प्रतिपादक प्रमाण विद्यमान है। अथवा सर्वज्ञ के सद्भाव को बाधित करनेवाले प्रमाण का अभाव है।

प्रश्न—इससे तो इतरेतराश्रय दोष आ जावेगा, क्योकि जब सर्वज्ञ की सिद्धि हो तब उनसे प्ररूपित आगम प्रामाणिक सिद्ध हो और जब आगम की प्रामाणिकता सिद्ध हो तब उसके द्वारा सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध हो। इस तरह तो दोनो ही सिद्ध नही हो सकेंगे।

उत्तर—नही, यहाँ इतरेतराश्रय दोष नही आता है, क्योकि द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से यह आगम अनादि-निधन है और वह अपनी महिमा से ही प्रामाणिक है तथा पर्यायार्थिकनय की विवक्षा करने से घातिकर्म से रहित ऐसे अर्हन्तदेव के द्वारा प्रणीत है इसलिए वह प्रमाणभूत है। अत ऐसे आगम से सर्वज्ञदेव की सिद्धि हो जाती है।

प्रश्न—जीवो के कर्मबन्ध का अभाव नही हो सकता है। अर्थात् एक अनादिनिधन ईश्वर को मानने वाले कुछ सप्रदायवादी ऐसे है जो किसी भी कर्मसहित जीवो के सम्पूर्ण कर्मो का अभाव होना स्वीकार नही करते है।

उत्तर—ऐसा नही कह सकते क्योकि ससारी जीवो मे कर्मबन्ध के अभाव की हानि-वृद्धि देखी जाती है। अर्थात् किसी जीव मे राग-द्वेष आदि या दु ख शोक कर्मबन्ध के कार्य कम-कम है, किन्ही जीवो मे अधिक-अधिक है इसलिए ऐसा निश्चय हो जाता है कि किसी-न-किसी जीव मे सम्पूर्णतया कर्मो का अभाव अवश्य हो जाता होगा। इसलिए कर्मबन्ध का अभाव होना प्रसिद्ध ही है।

तात्पर्य यह है कि तीन लोक के जीवो द्वारा मदर पर पूजा को प्राप्त अर्हन्त देव को और तीनलोक के मस्तक पर स्थित तथा तीन लोक मे जिनकी शक्ति प्रसिद्ध है ऐसे सिद्धों को नमस्कार करके मै पचाचार को कहूँगा, ऐसा गाथा मे सम्बन्ध जोड लेना चाहिए।

अथवा सभी शास्त्र नमस्कार पूर्वक ही होते है अर्थात् सभी शास्त्रों के प्रारम्भ में इष्टदेव को नमस्कार किया जाता है इसलिए यहाँ भी किया गया है।

प्रश्न—ऐसा क्यो?

उत्तर—यत वे सभी शास्त्र सर्वज्ञपूर्वक ही होते है अतः यह नमस्कार स्वतन्त्र है।

किं वक्ष्ये ? किमर्थं वा नमस्कार इति पृष्टेऽत आह—

दंसणणाणचरित्ते तवेविरियाचारह्मि पंचविहे ।
वोच्छं अदिचारेऽहं कारिदे अणुमोदिदे अ कदे ॥१९९॥

दंसणं—दर्शन सम्यक्त्व तत्त्वरुचि । **णाण**—ज्ञान तत्त्वप्रकाशन। **चरित्तं**—चरित्र पापक्रिया-निवृत्ति । नात्रविभक्त्यन्तर प्राकृतलक्षणेनाकारस्यैकार कृतो यत । **तवे**—तप तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तप बाह्याभ्यन्तरलक्षण कर्मदहनसमर्थं। **वीरियाचारह्मि**—वीर्यं शक्तिरस्थिशरीरगतबल, एतेषा द्वन्द्व दर्शनज्ञान-चारित्रतपोवीर्याणि तेषा तान्येव वा आचारो अनुष्ठान तस्मिन् दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याचारे । तत्त्वार्थविषय-परमार्थश्रद्धानुष्ठानं दर्शनाचार । नात्रावलोकनार्थवाची दर्शनशब्दोऽनधिकारात् । पंचविधज्ञाननिमित्त शास्त्रा-ध्ययनादिक्रिया ज्ञानाचार । प्राणिवधपरिहारेन्द्रियसयमनप्रवृत्तिश्चारित्राचार । कायक्लेशाद्यनुष्ठान तप

त्रिभुवन के द्वारा मदर पर पूजित अर्हन्तो को और सिद्धो को मै नमस्कार करता हूँ। शेष विशेषण इन दोनो के ही है। अथवा यो समझिए कि सिद्धो को ही नमस्कार किया गया है क्योकि भूतपूर्वगति के न्याय से सभी विशेषण उनमे लग जाते है। अर्थात् भूतपूर्व में वे अर्हन्त थे ही थे, अर्हन्त से ही सिद्ध हुए है। यहाँ पर 'वक्ष्ये' इस क्रियापद का अध्याहार किया गया है।

विशेष—यहाँ गाथा मे सिद्धो को नमस्कार किया गया है, टीकाकार ने उसे अर्हन्तों मे भी घटित किया है और 'वक्ष्ये' क्रिया को ऊपर से लेकर पंचाचार को कहने का सकेत दिया है।

क्या कहूँगा ? सो ही बताते है। अथवा किसलिए नमस्कार किया है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच प्रकार के आचार में कृत, कारित और अनुमोदना से हुए अतीचारो को कहूँगा ॥१९९॥

आचारवृत्ति—सम्यक्त्व—तत्त्वरुचि का नाम दर्शन है। तत्त्व प्रकाशन का नाम ज्ञान है। पापक्रिया से दूर होना चारित्र है। जो शरीर और इन्द्रियो को तपाता है—दहन करता है वह तप है। वह बाह्य और अभ्यन्तर लक्षणवाला है और कर्मो को दहन करने मे समर्थ है। हड्डी और शरीरगत बल को वीर्य कहते हैं। इन पाँचो का आचार—अनुष्ठान अथवा ये पाँच ही आचार—अनुष्ठान पचाचार कहलाते है।

परमार्थभूत जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान करना और उन्ही रूप श्रद्धाविषयक अनुष्ठान करना दर्शनाचार है। यहाँ पर दृश् धातु से दर्शन बना है। उसका अवलोकन अर्थ नही लेना, क्योंकि उसका यहाँ अधिकार नही है।

पाँच प्रकार के ज्ञान के निमित्त अध्ययन आदि क्रियाएँ करना ज्ञानाचार है। प्राणियो के वध का त्याग करना और इन्द्रियो के सयमन—निरोध मे प्रवृत्ति होना चारित्राचार है।

कायक्लेश आदि तपो का अनुष्ठान करना तप-आचार है। शक्ति का नही छिपाना अर्थात् शुभविषय मे अपनी शक्ति से उत्साह रखना वीर्याचार है।

आचार', वीर्यस्यानिह्नवो वीर्याचार शुभविषयस्वशक्त्योत्साह । **पंचविधे**—पचप्रकारे। **वोच्छं**—वक्ष्ये कथयिष्यामि। **अदिचारे**—अतीचारान् प्रमादादन्यथाचरितानि। 'अहंकारादिद अह--आत्मन प्रयोग । **कारिदे**—कारितान् । **अणुमोदिदे**—अनुमतान् । चशब्द. समुच्चयार्थ । **कदे**—कृतान् । **आचारे**—दर्शनज्ञान-चारित्रतपोवीर्यभेदे पचप्रकारे कृतकरितानुमतानतीचारानह वक्ष्ये इति सम्बन्ध ।।१६६।।

दर्शनातिचारप्रतिपादनार्थं तावदाह ते चाष्टौ शकादिभेदेन कुतो यत —

दसणचरणविसुद्धी अट्ठविहा जिणवरेहिं णिद्दिट्ठा ।
दसणमलसोहणयं वोच्छं त सुणह एयमणा ।।२००।।

दंसणचरणविसुद्धी—दर्शनाचरणस्य विशुद्धिर्निर्मलता दर्शनाचरणविशुद्धि । **अट्ठविहा**—अष्ट-विधाऽष्टप्रकारा। **जिणवरेहिं**—कर्मारातीन् जयन्तीति जिनास्तेषा वरा श्रेष्ठा जिनवरास्तै । **णिद्दिट्ठा**—निर्दिष्टा कथिता । **दसणमलसोहणयं**—दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य मलमतीचारस्तस्य शोधनक निराकरण दर्शनमल-शोधनक । **वोच्छं**- वक्ष्ये । त—तत् । **सुणह**—शृणुत जानीध्व । **एयमणा**—एकाग्रमनस तद्गतचित्ता । पूर्वं सग्रहसूत्रेण दर्शनातीचारार्थ जिनवरैर्दर्शनविशुद्धिरष्टप्रकारा निर्दिष्टा यतोऽतस्तद्भेदादशुद्धिरप्यष्टविधा तद्दर्शन-मलशोधनक वक्ष्येऽह यूय शृणुतैकाग्रमनस इति ।।२००।।

अष्टप्रकारा शुद्धिरुक्ता के तेऽष्टप्रकारा इत्यत आह—

प्रमाद से किये गये अन्यथा आचारण--विपरीत आचरण को अतिचार कहते है । उपर्युक्त पाँच प्रकार के आचारों मे स्वय करने से, और कराने और करते हुए को अनुमति देने रूप से जो अतिचार होते है, उन अतिचारो को मै (वट्टकेराचार्य) कहूँगा ।

अब दर्शन के अतिचारों को पहले कहते हैं। वे शका आदि के भेद से आठ हैं। कैसे ? उसे ही बताते है—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव ने दर्शनाचरण की विशुद्धि आठ प्रकार की कही है । अत. दर्शन-मल के शोधन को मै कहूँगा । तुम एकाग्रमन होकर सुनो ।।२००।।

आचारवृत्ति—जो कर्म-शत्रुओ को जीतते है वे जिन है। उनमे वर—श्रेष्ठ जिनवर है अर्थात् तीर्थकर परमदेव को जिनवर कहते है। तीर्थकर जिनेन्द्र ने दर्शनाचरण की विशुद्धि—निर्मलता को आठ प्रकार की कहा है। दर्शन—सम्यक्त्व के मल—अतीचार के शोधनक—निराकरण को मै कहूँगा, उसे एकाग्रचित्त होकर आप सुने ।

पूर्व मे सग्रहसूत्र के द्वारा पाँच आचारो को कहने की प्रतिज्ञा की है। पुनः इस संग्रह-सूत्र से दर्शन के अतिचार को प्ररूपित करने के लिए कहा है । अत. जिनेन्द्रदेव ने दर्शन की विशुद्धि आठ प्रकार की कही है अत उन आठ भेदो से दर्शन की अशुद्धि (अतिचार) भी आठ प्रकार की ही हो जाती है। मैं दर्शनाचार के शोधन को कहूँगा, तुम सावधान होकर सुनो, ऐसा ग्रन्थकार ने कहा है ।

आपने शुद्धि आठ प्रकार की कही है। वे आठ प्रकार कौन है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिंच्छा अमूढदिट्ठीय।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा य ते अट्ठ ॥२०१॥

णिस्संकिद—शका निश्चयाभाव शुद्धपरिणामाच्चलन शकाया निर्गतो नि शंकस्तस्य भावो नि शकता तत्त्वरुचौ शुद्धपरिणाम । **णिक्कंखिद**—कांक्षा इहपरलोकभोगाभिलाष , कांक्षाया निर्गतो निष्काक्षस्तस्य भावो निष्काक्षता सासारिकसुखारुचि । **णिव्विदिगिंछा**—विचिकित्साया जुगुप्सा अस्नानमलधारणनग्नत्वादिव्रतारुचिर्विचिकित्साया निर्गतो निर्विचिकित्सस्तस्य भावो निर्विचिकित्सता द्रव्यभावद्वारेण विपरिणामाभाव । **अमूढदिट्ठीय**—मूढान्यत्रगता न मूढा अमूढा, अमूढा दृष्टि रुचिर्यस्यासावमूढदृष्टिस्तस्य भावोऽमूढदृष्टिता लौकिकसामयिकवैदिकमिथ्याव्यवहारापरिणाम । **उवगूहण**—उपगूहन चातुर्वर्ण्यश्रमणसघदोषापहरण प्रमादाचरितस्य च सवरण । **ठिदिकरणं**—अस्थिर स्थिर क्रियते सम्यक्त्वचारित्रादिषु स्थिरीकरण रत्नत्रये

गाथार्थ—नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ शुद्धि हैं ॥२०१॥

आचारवृत्ति—शका—निश्चय का अभाव होना, या शुद्ध परिणाम से चलित होना। इस शका से जो रहित है वह नि शक है उसका भाव नि शकता है अर्थात् तत्त्वों की रुचि में शुद्ध परिणाम का होना।

इस लोक परलोक सम्बन्धी भोगों की अभिलाषा काक्षा है। कांक्षा जिसकी निकल गई है वह निष्काक्ष है, उसका भाव निष्काक्षता है अर्थात् सासारिक सुखो मे अरुचि का होना।

जुगुप्सा—ग्लानि को विचिकित्सा कहते हैं। अस्नानव्रत, मलधारण और नग्नत्व आदि मे अरुचि होना। इस विचिकित्सा का न होना निर्विचिकित्सा है, उसका भाव निर्विचिकित्सता है अर्थात् द्रव्य और भाव के द्वारा विकाररूप (ग्लानि या निन्दा) परिणाम का नही होना।

अन्यत्र जानेवाली दृष्टि—रुचि मूढदृष्टि है और जिसकी मूढ़दृष्टि नही है वह अमूढदृष्टि है, उसका भाव अमूढदृष्टिता है। लौकिक, सामयिक, वैदिक मूढ़ताओं में मिथ्याव्यवहार रूप परिणाम न होना। अर्थात् अग्नि में जलकर मरना, सत्ती होना आदि लोकमूढता है। अन्य सप्रदाय को समय कहते है उसमे मूढबुद्धि होना तथा वेदो मे रुचि होना यह सब मूढ़दृष्टिता है, इनमें रुचि—श्रद्धा न होना अमूढ़दृष्टिता है।

चातुर्वर्ण्य श्रमण सघ मे हुए किसी भी दोष को दूर करना अर्थात् प्रमाद से कोई दोषरूप आचारण हुआ हो तो उसे ढाँक देना यह उपगूहन है।

अस्थिर को स्थिर करना अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र आदि में उसे स्थिर करना, जो रत्नत्रय मे शिथिल हो रहा है उसको हितमित उपदेश आदि से उसी में दृढ़ कर देना स्थितीकरण है।

वत्सल का भाव वात्सल्य है। चातुर्वर्ण्य श्रमण सघ के अनुकूल ही सर्वथा वर्तन करना, सधर्मी जीवों के ऊपर आपत्ति के आने पर या बिना आपत्ति के भी उनके उपकार के लिए धर्मपरिणाम से प्रासुक द्रव्य व उपदेश आदि के द्वारा उनके हितरूप आचरण करना वात्सल्य है।

शिथिलस्य दृढयन हितमितोपदेशादिभि । **वच्छल्ल**—वत्सलस्य भावो वात्सल्य चातुर्वर्ण्यश्रमणसघे सर्वथानुपवर्तन धर्मपरिणामेनापद्यनापदि सधर्मजीवानामुपकाराय द्रव्योपदेशादिना हितमाचरण। **पभावणाय**—प्रभावना च प्रभाव्यते मार्गोऽ नयेति प्रभावना वादपूजादानव्याख्यानमन्त्रतन्त्रादिभि सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टिरोध कृत्वार्हत्प्रणीतशासनोद्योतन ते एते नि शकितादयो गुणा । **अट्ठ**—अष्टौ वेदितव्या । एतेषां वैपरीत्येन तावन्तोऽतीचारा व्यतिरेकद्वारेण कथिता एवातो नातिचारकथन प्रतिज्ञाय शुद्धिकथन दोषायेति ।।२०१।।

अथ दर्शन किं लक्षण ? यस्य शुद्धयोऽतीचाराश्चोक्ता दर्शन मार्ग सम्यक्त्व कुत इत्यत आह—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफल होइ णिव्वाणं ।।२०२।।

मग्गो—मार्गो मोक्षमार्गोऽभ्युपाय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामन्योन्यापेक्षया वर्तन । **मग्गफलति य**—मार्गस्य फल सम्यक्सुखाद्यवाप्ति.मार्गफलमिति च । इतिशब्दो व्यवच्छेदार्थ नान्यत्त्रैविध्यमित्यर्थ । **दुविहं**—द्वौ प्रकारावस्यद्विविध तस्य भावो द्वैविध्य। **जिणसासणे**—जिनस्य शासनमागमस्तस्मिन् जिनशासने। **समक्खाद**—समाख्यात सम्यगुक्त । अथवा प्रथमान्तमेतज्जिनशासनमिति । **मग्गो**—मार्ग । **खलु**—स्फुट ।

जिसके द्वारा मार्ग प्रभावित किया जाता है वह प्रभावना है। वाद—शास्त्रार्थ, पूजा, दान, व्याख्यान, मन्त्र, तन्त्र आदि के द्वारा और सच्चे उपदेश के द्वारा मिथ्यादृष्टि जनो के प्रभाव को रोककर अर्हन्त देव के द्वारा प्रमाणित जैन शासन का उद्योतन करना प्रभावना है।

ये निशकित आदि आठ गुण है ऐसा जानना चाहिए। इन आठ गुणो से विपरीत उतने ही अतिचार होते है जो कि व्यतिरेक द्वारा कहे ही गए है। इसलिए आचार्य ने अतिचार के कहने की प्रतिज्ञा करके जो यहाँ पर शुद्धियो का कथन किया है वह दोषास्पद नही है।

विशेष—गाथा क्र० २०० मे आचार्य ने तो कहा है कि मै दर्शन के अतिचारों को कहूँगा तथा गाथा क्र० २०१ मे वे दर्शन की आठ शुद्धियो का वर्णन करते है। सो यह कोई दोष नही है क्योकि ये निशंकित आदि आठ गुण कहे गए है। इनसे उल्टे ही आठ दोष हो जाते है जोकि इनके वर्णन से ही जाने जाते है।

उस दर्शन का लक्षण क्या है जिसकी शुद्धियाँ और अतिचारों को कहा गया है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते है कि दर्शन मार्ग है अर्थात् सम्यक्त्व है। यह कैसे? सो ही बताते है—

गाथार्थ—मार्ग और मार्गफल इस तरह दो प्रकार ही जिन शासन में कहे गये है। निश्चित रूप से सम्यक्त्व है मार्ग और मार्ग का फल है निर्वाण ।।२०२।।

आचारवृत्ति—मोक्षमार्ग या मोक्ष के उपाय को यहाँ मार्ग कहा है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का परस्पर मे सापेक्ष वर्तन होना मार्ग है। सच्चे सुख आदि की प्राप्ति हो जाना मार्ग का फल है। इस तरह दो ही प्रकार जिन शासन मे, जैन आगम मे कहे गये है,

सम्मत्तं—सम्यक्त्व । ननु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि समुदितानि मार्गस्तत कथ सम्यक्त्वमेव मार्गः? । नैष दोष अवयवे समुदायोपचारात् मार्गं प्रति सम्यक्त्वस्य प्राधान्याद्वा । **मग्गफलं**—मार्गस्य फल मार्गफल । **होइ**—भवति । **णिव्वाण**—निर्वाण अनन्तचतुष्टयावाप्ति । किमुक्तं भवति, जिनशासने मार्गमार्गफलाभ्यामेव द्वैविध्यमाख्यात कार्यकारणभ्या विनान्यस्याभावात् । अतो मार्ग सम्यक्त्व कारण, मार्गफल च निर्वाणं कार्यरूप । अथवा मार्गमार्गफलाभ्यामिति कृत्वा जिनशासनं द्विविधमेव समाख्यात । स मार्ग. सम्यक्त्व, शेषश्च फल निर्वाणमिति ॥२०२॥

यद्यपि मार्ग सम्यक्त्व इति व्याख्यात तथापि सम्यक्त्वस्याद्यापि स्वरूप न बुध्यते तद्बोधनार्थमाह—

अन्य तीसरा प्रकार नही है । अथवा 'जिन शासन' पद को प्रथमान्त मानकर ऐसा अर्थ करना कि यह जिनशासन दो प्रकार का ही है । और, वह मार्ग सम्यक्त्व ही है ।

शका—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनो का समुदाय ही मार्ग है । पुनः आपने सम्यक्त्व को ही मार्ग कैसे कहा ?

समाधान—यह कोई दोष नही है । अवयव मे समुदाय का उपचार कर लेने से यहाँ पर सम्यक्त्व को ही मार्ग कह दिया गया है । अथवा मार्ग के प्रति सम्यग्दर्शन प्रधान है इसलिए भी यहाँ सम्यक्त्व को ही 'मार्ग' शब्द से कह दिया है ।

मार्ग का फल निर्वाण है जो कि अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति रूप है । अभिप्राय यह है कि जिनशासन मे मार्ग और मार्गफल ये दो प्रकार कहे गये है, क्योकि कार्य और कारण से अतिरिक्त अन्य कुछ तृतीय बात सम्भव नही है । अत. मार्ग तो सम्यक्त्व है वह कारण है और मार्ग का फल निर्वाण है जो कि कार्यरूप है । अथवा मार्ग और मार्गफल के द्वारा जिनशासन दो प्रकार का है । उसमे मार्ग तो सम्यक्त्व है और उसका फल निर्वाण है ।

विशेष—नियमसार मे श्री कुन्दकुन्ददेव की दूसरी गाथा यही है, किंचित् अन्तर के साथ—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं ।

अर्थात् मार्ग और मार्गफल इन दो प्रकार का जिनशासन मे कथन किया गया है । मार्ग तो मोक्ष का उपाय है और उसका फल निर्वाण है । अभिप्राय यह है कि यहाँ पर आचार्य ने मोक्ष के उपाय रूप रत्नत्रय को मार्ग कहा है जिसके विषय मे उपर्युक्त टीका मे प्रश्न उठाकर समाधान किया गया है कि अवयव—एक सम्यग्दर्शन में भी रत्नत्रयरूप समुदाय का उपचार कर लिया गया है अथवा मोक्ष के मार्ग मे सम्यग्दर्शन ही प्रमुख है उसके बिना ज्ञान अज्ञान है और चारित्र भी अचारित्र है ।

मार्ग सम्यक्त्व है, यद्यपि आपने ऐसा बताया है फिर भी सम्यक्त्व का स्वरूप मुझे अभी तक मालूम नहीं है, ऐसा कहने पर आचार्य सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत ॥२०३॥

अवयवार्थपूर्विका वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति कृत्वा तावदवयवार्थो व्याख्यायते । **भूदत्थेण**—भूतश्चा-सावर्थश्च भूतार्थस्तेन । यद्यप्यय भूतशब्द पिशाचजीवसत्यपृथिव्याद्यनेकार्थे वर्तते तथाप्यत्र सत्यवाची परि-गृह्यते, तथार्थशब्दो यद्यपि पदार्थप्रयोजनस्वरूपाद्यर्थे वर्तते तथापि स्वरूपार्थे वर्तमान. परिगृहीतोऽन्यार्थवाचकेन प्रयोजनाभावात्, भूतार्थेन सत्यस्वरूपेण याथात्म्येन । **अभिगदा**—अभिगता अधिगता स्वेन स्वेन स्वरूपेण प्रतिपन्ना जीवाश्चेतनलक्षणा ज्ञानदर्शनसुखदु खानुभवनशीला । तद्व्यतिरिक्ता अजीवाश्च पुद्गलधर्मा-धर्मास्तिकायाकाशकाला रूपादिगतिस्थित्यवकाशवर्तनालक्षणा । **पुण्णं**—शुभप्रकृतिस्वरूपपरिणतपुद्गलपिंडो जीवाह्लादननिमित्त । **पावं**—पाप चाशुभकर्मस्वरूपपरिणतपुद्गलप्रचयो जीवस्यासुखहेतु । **आसव**—आस-मन्तात् स्रवत्युपढौकते कर्मानेनास्रव । **संवर**—कर्मागमनद्वार सवृणोतीति सवरणमात्र वा सवरोऽपूर्वकर्मा-गमननिरोध । **णिज्जर**—निर्जरण निर्जरयत्यनया वा निर्जरा जीवलग्नकर्मप्रदेशहानि । **बंधो**—बध्यतेऽनेन बन्धनमात्र वा बन्धो जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसश्लेषोऽस्वतत्रीकरण । **मोक्खो**—मुच्यतेऽनेन मुक्तिर्वा मोक्षो जीव-

---

गाथार्थ—सत्यार्थरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये ही सम्यक्त्व है ॥२०३॥

आचारवृत्ति—अवयवो के अर्थपूर्वक ही वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिए पहले अवयव के अर्थ का व्याख्यान करते है । अर्थात् पदो से वाक्य रचना होती है इसलिए प्रत्येक पद का अर्थ पहले कहते है जिससे वाक्यो का ज्ञान हो सकेगा ।

भूत और अर्थ इन दो पदो से भूतार्थ बना है । उसमे से यद्यपि भूत शब्द पिशाच, जीव, सत्य, पृथ्वी आदि अनेक अर्थो मे विद्यमान है फिर भी यहाँ पर सत्य अर्थ मे होना चाहिए । उसी प्रकार से अर्थ शब्द यद्यपि पदार्थ, प्रयोजन और स्वरूप आदि अनेक अर्थो का वाचक है फिर भी यहाँ पर स्वरूप अर्थ मे लिया गया है क्योकि यहाँ पर अन्य अर्थ का प्रयो-जन नही है । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ जिस रूप से व्यवस्थित है वे अपने-अपने स्वरूप से ही जाने गये है, सम्यक्त्व है ।

जीव का लक्षण चेतना है । वह चेतना ज्ञान, दर्शन, सुख और दु ख के अनुभव स्वभाव-वाली है, उससे व्यतिरिक्त पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये अजीव द्रव्य है । रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणवाला पुद्गल है । धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलो की गति मे सहायक होने मे गति लक्षणवाला है । अधर्मद्रव्य इनकी स्थिति में सहायक होने से स्थितिलक्षण वाला है । आकाश द्रव्य सभी द्रव्यो को अवकाश देने वाला होने से अवकाश लक्षणवाला है और काल द्रव्य वर्तना लक्षणवाला है । शुभ प्रकृति स्वरूप परिणत हुआ पुद्गल पिण्ड पुण्य कहलाता है जो कि जीवों में आह्लादरूप सुख का निमित्त है । अशुभ कर्म स्वरूप परिणत हुआ पुद्गलपिण्ड पापरूप है जो कि जीव के दु ख का हेतु है । जिससे कर्म आ—सब तरफ से, स्रवति —आते है वह आस्रव है अर्थात् कर्मो का आना आस्रव है । कर्म के आगमन-द्वार को जो रोकता है अथवा कर्मो का रुकना मात्र ही सवर है अर्थात् आनेवाले कर्मों का आना रुक जाना

प्रदेशानां कर्मरहितत्वं स्वतन्त्रीभाव । चशब्द· समुच्चयार्थ· । सम्मत्त·—सम्यक्त्व । एतेषां यथाक्रम एव न्याय·,[1] जीवस्य प्राधान्यादुत्तरोत्तराणां पूर्वपूर्वोपकाराय प्रवृत्तत्वाद्वा । न चैतेषामभावो ज्ञानरूपमुपचारो वा धर्मार्थ-काममोक्षाणामभावादाश्रयाभावात्मुख्याभावाच्च प्रमाणप्रमेयव्यवहाराभावाल्लोकव्यवहाराभावाच्च । जीवा-जीवा[2] भूतार्थेनाधिगता सम्यक्त्व[3] । तथा पुण्यपापं चाधिगत सम्यक्त्व । तथा आस्रवसवरनिर्जराबन्धमोक्षा-श्चाधिगताः सन्त सम्यक्त्व भवति । ननु कथमेतेऽधिगता सम्यक्त्व यावतैषामधिगताना यत्प्रधानं तत् सम्यक्त्वमित्युक्त, नैष दोष., श्रद्धानरूपैवेयमधिगतिरन्यथा परमार्थाधिगतेरभावात् कारणे कार्योपचाराद्वा जीवादयोऽधिगता सम्यक्त्वमित्युक्त । जीवादीना [4]परमार्थाना यच्छ्रद्धान तत्सम्यक्त्व । अनेन न्यायेनाधिगम-लक्षण दर्शनमुक्त भवति ॥२०३॥

संवर है। कर्मों का निर्जीर्ण होना अथवा जिसके द्वारा कर्म निर्जीर्ण होते है, झड़ते हैं, वह निर्जरा है। अर्थात् जीव मे लगे हुए कर्म प्रदेशों की हानि होना निर्जरा है। यहाँ व्याकरण के लक्षण की व्युत्पत्ति से 'निर्जरण अनया निर्जरयति वा' इस प्रकार से भाव अर्थमे और करण-साधन मे विवक्षित है, जिसका ऐसा अर्थ है कि कर्मों का झडना यह तो द्रव्य निर्जरा है और जिन परिणामों से कर्म झडते है वे परिणाम ही भावनिर्जरा है।

जिसके द्वारा कर्म बँधते है अथवा बँधना मात्र ही बन्ध का लक्षण है (बध्यतेऽनेन बन्धनमात्र वा) इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी भावबन्ध और द्रव्यबन्ध विवक्षित है। जीव के प्रदेश और कर्म प्रदेश—परमाणुओ का परस्पर में सश्लेष हो जाना—एकमेक हो जाना बन्ध है, जो जीव और पुद्गलवर्गणा दोनों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर उन्हे परतन्त्र कर देता है।

जिसके द्वारा जीव मुक्त होवे, छूट जाय अथवा छूटना मात्र ही मोक्ष है। इसमें भी व्युत्पत्ति (मुच्यतेऽनेन मुक्तिर्वा) के लक्षण से भावमोक्ष ओर द्रव्यमोक्ष विवक्षित है अर्थात् जिन परिणामों से आत्मा कर्म से छूटता है वह भावमोक्ष है और कर्मों से छूटना ही द्रव्य मोक्ष है सो ही कहते है कि जीव के प्रदेशो का कर्म से रहित हो जाना, जीव की परतन्त्र अवस्था समाप्त होकर उसका पूर्ण स्वतन्त्र भाव प्रकट हो जाना ही मोक्ष है।

इन नव पदार्थों का जो यहाँ क्रम लिया है वही न्यायपूर्ण है, क्योंकि जीव द्रव्य ही प्रधान है अथवा आगे-आगे के पदार्थ पूर्व-पूर्व के उपकार के लिए प्रवृत्त होते है।

शंका—इन पदार्थों का अभाव है अथवा ये पदार्थ ज्ञान रूप ही है या ये उपचार रूप ही हैं? अर्थात् शून्यवादी किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नही मानते हैं सो वे ही सबका अभाव कहते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सभी चर-अचर जगत् को एक ज्ञान रूप ही मानते हैं। तथा सामान्य बौद्ध या ब्रह्माद्वैतवादी सभी वस्तुओं को उपचार अर्थात् कल्पना रूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व अविद्या का ही विलास है। इन सम्प्रदायवादियों की अपेक्षा से ये तीन शंकाएँ उठाई गई हैं।

समाधान—आप ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि जीव पदार्थों को या मात्र जीव को ही न माना जाय तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का अभाव हो जायेगा।

---

१ क न्याय्य इति प्रतिभाति। २ क °वाश्च। ३ क °त्व भवति। ४ क परमार्थतोऽधिगताना।

अथवा यदि जीव को ज्ञानरूप ही मान लोगे तो ज्ञान तो एक गुण है और जीव गुणी है, ज्ञान गुण के ही मानने से उसके आश्रय का अभाव हो जायेगा अर्थात् आश्रयभूत जीव पदार्थ नही सिद्ध हो सकेगा। यदि जीवादि को उपचार कहोगे तो मुख्य का अभाव हो जायेगा और मुख्य के बिना उपचार की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी। तथा इन एकान्त मान्यताओं से प्रमाण और प्रमेय अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय रूप व्यवहार का भी अभाव हो जायेगा। और तो और, लोक-व्यवहार का ही अभाव हो जाता है अर्थात् जो कुछ भी लोकव्यवहार चल रहा है वह सब समाप्त हो जावेगा।

सत्यार्थस्वरूप से जाने गये ये जीव-अजीव सम्यक्त्व है। उसी प्रकार से सत्यार्थ स्वरूप से जाने गये पुण्य और पाप ही सम्यक्त्व है। तथैव सत्यार्थ स्वरूप से जाने गये आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ही सम्यक्त्व है।

शंका—ये जाने गये सभी सम्यक्त्व कैसे है? सत्यार्थरूप से जाने गये इनमे से जो प्रधान है वह सम्यक्त्व है ऐसा कहना तो युक्त हो भी सकता है?

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि यह अधिगति—ज्ञान श्रद्धानरूप ही है अन्यथा—यदि ऐसा नही मानोगे, तो परमार्थ रूप से जानने का अभाव हो जायेगा। अथवा कारण में कार्य का उपचार होने से जाने गये जीवादि पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है। किन्तु वास्तव मे परमार्थरूप जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यक्त्व है। इस न्याय से यहाँ पर अधिगम लक्षण सम्यग्दर्शन को कहा गया है—ऐसा समझना।

विशेषार्थ—यहाँ पर सम्यग्दर्शन के विषयभूत पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। चूंकि परमार्थ रूप मे जाने गये ये पदार्थ ही श्रद्धा के विषय है अत ये श्रद्धान मे कारण है और श्रद्धान होना यह कार्य है जो कि सम्यक्त्व है किन्तु कारणभूत पदार्थों मे कार्यभूत श्रद्धान का अध्यारोप करके उन पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है।

यही गाथा 'समयसार' मे भी है जिसका अर्थ भी श्री अमृतचन्द्र सूरि और श्री जयसेनाचार्य ने इसी प्रकार से किया है। यथा—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जय बधो मोक्खो य सम्मत्त ॥१३॥

अर्थात् परमार्थ रूप जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते है।

तात्पर्यवृत्ति—भूयत्थेण-भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन अभिगदा—अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाता: संत के ते? जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबधो मोक्खो य—जीवाजीवपुण्य-पापास्रवसंवर निर्जरा बन्धमोक्षस्वरुपा नव पदार्थाः सम्मत्तं। त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वा-त्सम्यक्त्वं भवन्ति। निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति।⋯ ⋯

अर्थ—भूतार्थरूप निश्चयनय—शुद्धनय के द्वारा निर्णय किये गये, निश्चय किये गये, जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष स्वरूप जो नव

आदौ निर्दिष्टस्य जीवस्य भेदपूर्वकं लक्षण प्रतिपादयन्नाह—

दुविहा य होंति जीवा संसारत्था य णिव्वुदा चेव ।
छद्धा ससारत्था सिद्धिगदा णिव्वुदा जीवा ।।२०४।।

दुविहा य—द्विप्रकारा द्वौ प्रकारौ येषा ते द्विप्रकारा द्विभेदा जीवा प्राणिन. । **संसारत्था य**—ससारे तिष्ठन्तीति ससारस्थाश्चतुर्गतिनिवासिन । **णिव्वुदा चेव**—निर्वृताश्चेति मुक्ति गता इत्यर्थः । **छद्धा**—षट्धा षट्प्रकारा । **संसारत्था**—ससारस्था । **सिद्धिगदा**—सिद्धिगता उपलब्धात्मस्वरूपा. । **णिव्वुदा**—निर्वृता जीवास्तेषा भेदकारणाभावादभेदास्ते । ससारमुक्तिवासभेदेन द्विविधा जीवा. । ससारस्थाः पुन. षट्प्रकारा एकरूपाश्च निर्वृता इति सम्बन्धः ।।२०४।।

पदार्थ है वे ही अभेद उपचार के द्वारा सम्यक्त्व के विषय होने से, कारण होने से सम्यक्त्व हैं। किन्तु अभेद रूप से निश्चय से देखे तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है।

प्रश्न—भूतार्थ नय के द्वारा जाने हुए नव पदार्थ सम्यक्त्व होते है ऐसा जो आपने कहा, उस भूतार्थ के ज्ञान का क्या स्वरुप है ?

उत्तर—यद्यपि ये नव पदार्थ तीर्थ की प्रवृत्ति निमित होने से प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से भूतार्थ कहे जाते है। फिर भी अभेद रत्नत्रयलक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में वे अभूतार्थ-असत्यार्थ ठहरते है अर्थात् वे शुद्धात्मा के स्वरूप नही होते है। किन्तु इस परम समाधि के काल में तो उन नव पदार्थो मे शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही झलकता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है, अनुभव किया जाता है। और, जो वहाँ पर यह अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चय सम्यक्त्व है। वह अनुभूति ही गुण और गुणी मे निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है ऐसा तात्पर्य है। और जो प्रमाण, नय, निक्षेप है वे केवल प्रारम्भ अवस्था मे तत्त्वो के विचार के समय सम्यक्त्व के लिए सहकारी कारणभूत होते है वे भी सविकल्प अवस्था मे ही भूतार्थ है, किन्तु परमसमाधि काल मे तो वे भी अभूतार्थ हो जाते है। उन सबमे भूतार्थ रूप से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति मे आता है।

अभिप्राय यह है कि आचार्य ने यहाँ पर समीचीनतया जाने गये नव पदार्थो को ही सम्यक्त्व कह दिया है सो अभेदोपचार करके कहा है। वास्तव मे ये सम्यक्त्व के विषय है अथवा सम्यक्त्व के लिए कारण भी हैं।

अब आदि में जिसका निर्देश किया है उस जीव का भेदपूर्वक लक्षण बतलाते हुए आचार्य कहते है—

गाथार्थ—जीव दो प्रकार के होते हैं—संसार में स्थित अर्थात् ससारी और मुक्त। संसारी जीव छह प्रकार के है और मुक्तजीव सिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं।।२०४।।

आचारवृत्ति—संसार और मुक्ति में वास करने की अपेक्षा से जीव के मूल मे दो भेद हैं। 'ससारे तिष्ठन्तीति संसारस्थाः' ससार में जो ठहरे हुए हैं वे ससारी जीव हैं। ये चारों गतियों में निवास करने वाले हैं। मुक्ति को प्राप्त हुए जीव निर्वृत कहलाते हैं। संसारी जीव के छह भेद हैं और, भेद के कारणो का अभाव होने से मुक्त जीव अभेद—एकरूप ही हैं।

के ते षट्प्रकारा इत्याह—

पुढवी आऊ तेऊ वाऊ य वणप्फदी तहा य तसा ।
छत्तीसविहा पुढवी तिस्से भेदा इमे णेया ।।२०५।।

पुढवी—पृथिवी चतुष्प्रकारा पृथिवी, पृथिवीशरीर, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीव । आपोऽप्कायोऽप्कायिकोऽप्जीव । तेजस्तेजस्कायस्तैजस्कायिकस्तेजोजीव । वायुर्वायुकायो वायुकायिको वायुजीव । वनस्पतिर्वनस्पतिकायो वनस्पतिकायिको वनस्पतिजीव । यथा पृथिवी चतुष्प्रकारा तथाप्तेजोवायुवनस्पतय, चशब्दतथाशब्दाभ्या सूचितत्वात् । जीवाधिकाराद् द्वयोर्द्वयोराद्ययोस्त्याग शेषयो सर्वत्र ग्रहणम् । आद्यस्य प्रकारस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह—छत्तीसविहा पुढवी—षडभीरधिका त्रिशत् षट्त्रिशद्विधा प्रकारा यस्या सा षट्त्रिशत्प्रकारा पृथिवी । तिस्से—तस्या । भेदा—प्रकारा । इमे—प्रत्यक्षवचन । णेया—ज्ञेया ज्ञातव्या ।।२०५।।

वे छह प्रकार कौन है ?—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छह भेद हैं। पृथ्वी के छत्तीस भेद है उसके ये भेद जानना चाहिए ।।२०५।।

आचारवृत्ति—पृथिवी के चार प्रकार है—पृथिवी, पृथिवीशरीर, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव। जल, जलकाय, जलकायिक और जलजीव । अग्नि, अग्निकाय, अग्निकायिक और अग्निजीव । वायु, वायुकाय, वायुकायिक और वायुजीव। वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव। अर्थात् जैसे पृथिवी के चार भेद है वैसे ही जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भी चार भेद है यह गाथा के 'च' शब्द और 'तथा' शब्द से सूचित है। यहाँ जीवो का अधिकार-प्रकरण होने से पृथिवी आदि के प्रत्येक के आदि के दो-दो भेद छोडने योग्य है अर्थात् वे निर्जीव है और शेष दो-दो भेदो को सभी मे ग्रहण करना है क्योकि वे ही जीव है। अर्थात् प्रथम भेद सामान्य पृथ्वी रूप है जिसके अन्दर अभी जीव नही है लेकिन आ सकता है । पृथिवीकाय से जीव निकल चुका है पुन उसमे जीव नही आयेगा। जो पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से पृथिवीपर्याय मे पृथिवी शरीर को धारण किये हुए है तथा जिस जीव ने विग्रहगति मे पृथिवी शरीर को अभी ग्रहण नही किया है वह पृथिवीजीव है। इनमे से आदि के दो निर्जीव और शेष दो जीव है। इनमे भी विग्रहगति सम्बन्धी पृथिवीजीव के घात का प्रश्न नही उठता है। एक प्रकार के, मात्र पृथिवीकायिक की ही रक्षा करने की बात रहती है।

जीव के छह भेदों मे जो सर्वप्रथम पृथ्वी का कथन आया है उसी के प्रतिपादन हेतु कहते है—पृथ्वी के छत्तीस भेद होते है, उनके नाम आगे बताते है, ऐसा जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—मार्ग मे पडी हुई धूलि आदि पृथ्वी हैं। पृथ्वीकायिक जीव के द्वारा परित्यक्त ईट आदि पृथ्वीकायिक है। जैसे कि मृतक मनुष्यादि की काया। पृथ्वीकायिक नाम कर्म के उदय से जो जीव पृथिवीशरीर को ग्रहण किये हुए हैं वे पृथिवीकायिक हैं जैसे खान में स्थित पत्थर आदि, और पृथ्वी मे उत्पन्न होने के पूर्व विग्रहगति में रहते हुए एक, दो या तीन समय तक जीव पृथिवीजीव है।

क इमे इत्यत आह—

पुढवी य बालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य।
अय तंब तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥२०६॥
हरिदाले हिंगुलये मणोसिला सस्सगंजण पवालेय।
अब्भपडलब्भवालुय बादरकाया मणिविधीय ॥२०७॥
गोमज्झगेय रुजगे अंके फलिहे लोहिदंकेय।
चंदप्पभेय वेरुलिए जलकते सूरकंतेय ॥२०८॥
गेरुय चंदण वव्वग वय मोए तह मसारगल्ले य।
ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२०९॥

बिलोडा गया, इधर-उधर फैलाया गया और छना हुआ पानी सामान्य जल है। जल-कायिक जीवो से छोडा गया पानी और गरम किया गया पानी जलकाय है। जिसमे जलजीव हैं वह जलकायिक और जल काय मे उत्पन्न होनेवाला विग्रहगतिवाला जीव जलजीव है।

इधर-उधर फैली हुई या जिस पर जल सीच दिया गया है या जिसका बहुभाग भस्म बन चुका है, या किंचित् गरम मात्र ऐसी अग्नि सामान्य अग्नि है। अग्निजीव के द्वारा छोड़ी हुई अग्नि भस्म आदि अग्निकाय है। जिसमे अग्निजीव मौजूद है वह अग्निकायिक और अग्निकाय मे उत्पन्न होने के लिए विग्रह गतिवाला अग्निजीव है।

जिसमें वायुकायिक जीव आ सकता है ऐसी वायु को अर्थात् केवल सामान्य वायु को वायु कहते है। वायुकायिक जीव के द्वारा छोडी गयी, पखा आदि से चलाई गयी, वायु, हमेशा विलोडित की गयी वायु वायुकाय है। वायुकायिक जीव से सहित वायुकायिक है और वायु-कायिकी मे उत्पन्न से पूर्व विग्रहगतिजीव वायुजीव है।

गीली, छेदी गयी, भेदी गयी या मर्दित की गयी लता आदि यह सामान्य वनस्पति है। सूखी आदि वनस्पति जिसमें वनस्पति जीव नही है वह वनस्पतिकाय है। वनस्पतिकायिक जीव सहित वनस्पतिकायिक है और वनस्पतिकाय मे उत्पन्न होनेवाला विग्रहगति वाला जीव वनस्पति जीव है। इस प्रकार से इनके उदाहरण तत्त्वार्थवृत्ति अ० २ सूत्र १३ में दिये गये है।

वे भेद कौन हैं? सो ही बताते है—

गाथार्थ—मिट्टी, बालू, शर्करा, उपल, शिला, लवण, लोहा, ताँबा, रांगा, सीसक चांदी, सोना और हीरा।

हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक, अजन, प्रवाल, अभ्रक और अभ्रबालू ये बादरकाय है। और अब मणियों के भेद कहते है—

गोमेदमणि, रुचकमणि, अंकमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त ये मणि हैं।

गेरु, चन्दन, वप्पक, बक, मोच तथा मसारगल्ल ये मणि है। इन पृथिवीकायिक

पुढवी—पृथिवी मृद्रूपा । **बालुया**—बालुका रूक्षा गंगाद्युद्भवा । **सक्करा**—शर्करा परुषरूपा अत्र चतुरस्रादिरूपा । **उवले**—उपलानि वृत्तपाषाणरूपाणि । **सिला य**—शिला च वृहत्पाषाणरूपा । **लोणे य**—लवणभेदा सामुद्रादय । **अय**—अयो लोहरूप । **तंब**—ताम्र । **तउय**—त्रपुष । **सीसय**—सीसक श्यामवर्णं । **रुप्प**—रूप्यवर्णं शुक्लरूप । **सुवण्णेय**—सुवर्णानि च रक्तपीतरूपाणि । **वइरे य**—वज्र च रत्नविशेष ॥२०७॥

हरिदाले—हरिताल नटवर्णक । **हिंगुलये**—हिंगुलक रक्तद्रव्यं । **मणोसिला**—मन शिला काश-प्रतिकाराय प्रवृत्त । **सस्सग**—सस्यक हरितरूप । **अंजण**—अञ्जन अक्ष्युपकारक (चक्षुरूपकारक) द्रव्य । **पवालेय**—प्रवाल च । **अब्भपडल**—अभ्रपटल । **अब्भबालुग**—अभ्रवालुका चैक्यचिक्यरूपा । **बादरकाया**—स्थूलकाया । **मणिविधीय**—इत ऊर्ध्वं मणिविधयो मणिप्रकारा वक्ष्यन्त इति सम्बन्ध ॥२०७॥

शर्करोपलशिलावज्रप्रवालवर्जिता शुद्धा पृथिवीविकारा पूर्वे एते च खरपृथिवीविकारा । **गोमज्झगेय**—गोमध्यको मणि कर्केतनमणि । **रुजगे**—रुचकश्च मणी राजवर्तकरूप । **अंके**—अंको मणि पुलकवर्ण । **फलिहे**—स्फटिकमणि स्वच्छरूप । **लोहिदंकेय**—लोहिताको मणी रक्तवर्ण पद्म-राग । **चंदप्पभेय**—चन्द्रप्रभो मणि । **वेरुलिए**—वैडूर्यो मणि । **जलकते**—जलकान्तो मणिरुदकवर्ण । **सूर-कंतेय**—सूर्यकान्तो मणि ॥२०८॥

जीवो को जानो और जानकर उनका परिहार करना चाहिए ॥२०६-२०९॥

आचारवृत्ति—सामान्य मिट्टी रूप को पृथिवी कहते है । बालुका—जो रूक्ष है तथा गगानदी आदि मे उत्पन्न होती है। शर्करा—ककरीली रेत जो कठोर होती है और चौकोन आदि आकारवाली होती है । उपल—गोल-गोल पत्थर के टुकडे, शिला—पत्थर की चट्टाने, लवण—पहाड या समुद्र आदि के जल से जमकर होने वाला नमक, लोह—लोहा, रूप्य—चाँदी, सुवर्ण—सोना और वज्र—हीरा ये सब रत्नविशेष है ।

हरिताल—यह नटवर्ण का होता है । हिंगूल—यह लाल वर्ण का होता है । मेनसिल यह पत्थर खाँसी के रोग मे औषधि के काम आता है । सस्यक—(तूतिया) यह हरे वर्ण का होता है । अ जन—यह नेत्रो का उपकार करने वाला द्रव्य है । प्रवाल—इसे मूगा भी कहते है । अभ्र-पटल—अभ्रक, इसे भोडल भो कहते है । अभ्रबालुका—चमकने वाली कोई रेत । ये सब भेद बादर पृथिवीकायिक के है । इसके अनन्तर मणियो के भेदो का कहते हैं ।

शर्करा, उपल, शिला, वज्र और प्रवाल इनको छोडकर बाकी के जो भेद ऊपर कहे हैं शुद्ध पृथिवी के विकार है अर्थात् उन्हे शुद्ध पृथिवी कहते है। इनके पूर्व मे कहे गए(शर्करा आदि) भेद तथा इस गाथा मे और अगली गाथा मे कहे जाने वाले भेद खरपृथिवी के विकार हैं अर्थात् उन्हे खरपृथिवो कहते है। अन्यत्र पृथिवी के शुद्धपृथिवी और खरपृथिवी ऐसे दो भेद किये गये है।

गोमेद—कर्केतनमणि । रुचक—राजावर्तमणि जो अलसी के फूल के समान वर्ण-वाली होती है । अक—पुलकमणि जो प्रवालवर्ण की होती है। स्फटिक—यह स्फटिक मणि स्वच्छ विशेष होती है । लोहिताक—पद्मरागमणि, यह लाल होती है । चन्द्रप्रभ—यह चन्द्रकान्त मणि है । इसमे चन्द्रमा की किरणो के स्पर्श से अमृत झरता है । वैडूर्य—यह नीलवर्ण की होती

गेरुय—गैरिकवर्णो मणी रुधिराक्ष । **चंदण**—चन्दनो मणि: श्रीखंडचन्दनगन्ध: । **वव्वग**—वप्पको मणिर्मरकतमनेकभेद। **बग**—वको मणि वकवर्णाकार पुष्पराग: । **मोए**—मोचो मणि कदलीवर्णाकारो नीलमणि । **तह**—तथा। **मसारगल्लेय**—मसृणपाषाणमणिर्विद्रुमवर्ण । **ते जाण**—तान् जानीहि। **पुढविजीवा** पृथिवीजीवान्। तैर्ज्ञातै किं प्रयोजन ? **जाणित्ता**—ज्ञात्वा। **परिहरेदव्वा**—परिहर्तव्या रक्षितव्या. सयमपालनाय। तानेतान् शुद्धपृथिवीजीवान् तथा खरपृथिवीजीवाश्च मणिप्रकारान् स्थूलान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहर्तव्या.। सूक्ष्मा पुन सर्वत्र ते विज्ञातव्या आगमबलेन। षट्त्रिंशद्भेदेषु पृथिवीविकारेषु पृथिव्यष्टक—मेरु-कुलपर्वत-द्वीप-वेदिका-विमान-भवन प्रतिमा-तोरण-स्तूप--चैत्यवृक्ष-जम्बू-शाल्मलीद्रुमेष्वाकार--मानुषोत्तर--विजयार्ध-काचनगिरि-दधिमुखाञ्जन-रतिकर-वृपभगिरि-सामान्यपर्वत-स्वयभु-नगवरेन्द--वक्षार-रुचक--कुण्डलवर-दष्ट्रा-पर्वतरत्नाकरादयोऽन्तर्भवन्तीति ॥२०६॥

है। जलकान्त—यह मणि जल के समान वर्ण वाली है। सूर्यकान्त—इस मणि पर सूर्य की किरणो के पडने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है।

गैरिक—यह मणि लालवर्ण की होती है। चन्दन—यह मणि श्रीखण्ड और चन्दन के समान गन्धवाली है। वप्पक—यह मरकत मणि है। इसके अनेक भेद है। वक—यह मणि बगुले के समान वर्णवाली है, इसे ही पुष्परागमणि कहते है। मोच—यह मणि कदलीपत्र के समान वर्णवाली है, इसे नीलमणि भी कहते है। मसारगल—यह चिकने-चिकने पाषाणरूप-मणि है और मूगे के वर्णवाली है। इन सबको पृथिवीकायिक जीव समझो।

शका—इनके जानने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान—इन्हे जानकर सयम के हेतु इन जीवों की रक्षा करना चाहिए अर्थात् शुद्ध पृथिवी के जीवों को और खरपृथिवी के जीवों तथा मणियो के नाना प्रकार रूप बादर कायिक जीवों को जानकर उनका परिहार करना चाहिए। क्योंकि बादर-जीवों की ही रक्षा हो सकती है। पुन सूक्ष्म जीव सर्वत्र लोक मे तिल मे तेल के समान भरे हुए हैं, उनको भी आगम के द्वारा जानना चाहिए।

इन छत्तीस भेद रूप पृथिवी के विकारों में सात नरक की पृथिवी और एक ईषत् प्राग्भार नामवाली सिद्धशिला रूप पृथ्वी ये आठ भूमियाँ, मेरुपर्वत, कुलाचल, द्वीप और द्वीपसमूहो की वेदिकाएँ, देवो के विमान, भवन, जिनप्रतिमा आदि प्रतिमाएँ, तोरणद्वार, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मली वृक्ष, इष्वाकारपर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, विजयार्धपर्वत, काचन पर्वत, दधिमुखपर्वत, अजनगिरि, रतिकर पर्वत, वृषभाचल तथा और भी सामान्यपर्वत, स्वयंप्रभ पर्वत, वक्षारपर्वत, रुचकवरपर्वत, कुण्डलवरपर्वत, गजदन्त और रत्नों की खान आदि अन्तर्भूत हो जाते हैं। अर्थात् मध्यलोक में होनेवाले सम्पूर्ण पर्वत, वेदिकाएँ, जिनभवन और जिनप्रतिमाएँ, नरक की भूमियाँ, बिल, भवनवासी, व्यतरवासी, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के विमान, भवन, इसमें स्थित जिनमन्दिर, जिनप्रतिमाएँ तथा सिद्धशिलाभूमि, जम्बूवृक्ष आदि सभी इन छत्तीस भेदों में गर्भित हो जाते है।

भावार्थ—पृथिवी के भेद—१. मिट्टी, २. रेत, ३. कंकड़, ४. पत्थर, ५. शिला,

अप्कायिकभेदप्रतिपादनार्थमाह—

ओसाय हिमग महिगा [1]हरवणु सुद्धोवगे घणुवगे य।
ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१०॥

ओसाय—अवश्यायजल रात्रिपश्चिमप्रहरे निरभ्रावकाशात् पतितसूक्ष्मोदक। **हिमग**—हिमं प्रालेयं जलबन्धकारण। **महिगा**—महिका धूमाकारजल कुहडरूप। **हरद**[2]—हरत्[3] स्थूलविन्दुजल। **अणु**—अणुरूप सूक्ष्मविंदुजल। **सुद्ध**—शुद्धजल चन्द्रकान्तजल। **उदगे**—उदक सामान्यजल निर्झराद्युद्भव। **घणुवगे**—घनोदक समुद्रह्रदघनवाताद्युद्भव घनाकार। अथवा **हरदणु**—महाह्रदसमुद्राद्युद्भव। **घणुवए**—मेघादुद्भव घनाकार, एवमाद्यप्कायिकान् जीवान् जानीहि तत कि ? **जाणित्ता**—ज्ञात्वा। **परिहरिदव्वाः**—परिहर्तव्या पालयितव्या सरित्सागर-ह्रद-कूप-निर्झर-घनोद्भवाकाशज-हिमरूप-धूमरूप-भूम्युद्भव-चन्द्रकान्तजघनवाताद्यप्कायिका अत्रैवान्तर्भवन्तीति ॥२१०॥

---

६ नमक, ७ लोहा, ८ ताबा, ९ रागा, १० सीसा, ११ चाँदी, १२. सोना, १३. हीरा, १४ हरताल, १५ हिंगुल, १६ मन शिला, १७ गेरु, १८. तूतिया, १९ अजन, २०. प्रवाल, २१ अभ्रक, २२ गोमेद, २३ राजवर्तमणि, २४ पुलकमणि, २५ स्फटिकमणि, २६. पद्मरागमणि, २७ वैडूर्यमणि, २८ चन्द्रकातमणि, २९ जलकान्त, ३० सूर्यकान्त, ३१ गैरिकमणि, ३२ चन्दनमणि, ३३ मरकतमणि, ३४ पुष्परागमणि, ३५ नीलमणि और ३६ विद्रुममणि ये छत्तीस भेद है। इसी मे मेरु पर्वत आदि सभी भेद सम्मिलित हो जाते है।

अब जलकायिक जीवो के भेद प्रतिपादित करते हुए कहते है—

गाथार्थ—ओस, हिम, कुहरा, मोटी बूँदे और छोटी बूँदे, शुद्धजल और घनजल—इन्हे जलजीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२१०॥

आचारवृत्ति—रात्रि के पश्चिम प्रहर मे मेघ रहित आकाश से जो सूक्ष्म जलकण गिरते है उसे ओस कहते है। जो पानी घन होकर नीचे ओले के रूप मे हो जाता है वह हिम है, इसे ही वर्फ कहते है। धूमाकार जल जो कि कुहरा कहलाता है, इसे ही महिका कहते है। स्थूल-बिन्दुरूप जल हरत् नामवाला है। सूक्ष्म बिन्दु रूप जल अणुसज्ञक है। चन्द्रकान्त से उत्पन्न हुआ जल शुद्ध जल है। झरना आदि से उत्पन्न हुआ सामान्यजल उदक कहलाता है। समुद्र, सरोवर, घनवात आदि से उत्पन्न हुआ जल, जो कि घनाकार है, घनोदक कहलाता है। अथवा महासरोवर, समुद्र आदि से उत्पन्न हुआ जल हरदणु है और मेघ आदि से उत्पन्न हुआ घनाकार जल घनोदक है। इत्यादि प्रकार के जलकायिक जीवो को तुम जानो।

उससे क्या होगा ? उन जीवो को जानकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। नदी, सागर, सरोवर, कूप, झरना, मेघ से बरसनेवाला, आकाश से उत्पन्न हुआ हिम-बर्फ रूप, कुहरा रूप, भूमि से उत्पन्न, चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न, घनवात आदि का जल, इत्यादि सभी प्रकार के जलकायिक जीवों का उपर्युक्त भेदो मे ही अन्तर्भाव हो जाता है।

१, २, ३, क हरिद।

तेज.कायिकभेदप्रतिपादनायाह—

इगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणीय अगणी य।
ते जाण तेउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२११॥

इगाल—अगाराणि ज्वलितनिर्धूमकाष्ठादीनि। **जाल**—ज्वाला। **अच्चि**—अर्चि प्रदीपज्वालाद्यग्र। **मुम्मुर**—मुर्मुर कारीषाग्नि। **सुद्धागणीय**—शुद्धाग्नि वज्राग्निर्विद्युत्सूर्यकान्ताद्युद्भव.। **अगणीय**—सामान्याग्निर्धूमादिसहित। वाडवाग्निनन्दीश्वरधूमकुण्डिकामुकुटानलादयोऽत्रैवान्तर्भवन्तीति। तानेतास्तेज.-कायिकजीवान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहरणीया एतदेव ज्ञानस्य प्रयोजनमिति ॥२११॥

वायुकायिकस्वरूपमाह—

वादुब्भामो उक्कलि मडलि गुंजा महा घण तणू य।
ते जाण वाउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१२॥

वादुब्भामो—वात सामान्यरूप उद्भ्रमो भ्रमन्नूर्ध्वं गच्छति। **उक्कलि**—उत्कलिरूपो। **मंडलि**—पृथिवी लग्नो भ्रमन् गच्छति। **गुजा**—गुजन् गच्छति। **महा**—महावातो वृक्षादिभगहेतु। **घणतणूय**—घनोदधि घननिलयस्तनुवात, व्यजनादिकृतो वा तनुवातो लोकप्रच्छादक। उदरस्थपचवात—विमानाधार—

अब अग्निकायिक भेदो के प्रतिपादन हेतु कहते है—

गाथार्थ—अगारे, ज्वाला, लौ, मुर्मुर, शुद्धाग्नि और अग्नि—इन्हे अग्निजीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२११॥

आचारवृत्ति—जलते हुए धुएँ रहित काठ आदि अर्थात् धधकते कोयले अँगारे कहलाते है। अग्नि की लपटें ज्वाला कहलाती है। दीपक का और ज्वाला का अग्रभाग (लौ) अर्चि है। कण्डे की अग्नि का नाम मुर्मुर है। वज्र से उत्पन्न हुई अग्नि, बिजली की अग्नि, सूर्यकान्त से उत्पन्न हुई अग्नि ये शुद्ध अग्नि है। धुएँ आदि सहित सामान्य अग्नि को अग्नि कहा है। वडवा अग्नि, नन्दीश्वर के मन्दिरो मे रखे हुए धपघटो की अग्नि, अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि आदि सभी अग्नि के भेदों का उपर्युक्त भेदो मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। इन अग्निकायिक जीवो को जानो और जानकर उनकी रक्षा हेतु उनका परिहार करो, यही इनके जानने का प्रयोजन है।

अब वायुकायिक का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—घूमती हुई वायु, उत्कलि रूप वायु, मंडलाकार वायु, गुजा वायु, महावायु, घनोदधिवातवलय की वायु और तनुवातवलय की वायु वायुकायिक जीव जानो और जानकर उनका परिहार करो ॥२१२॥

आचारवृत्ति—वात शब्द से सामान्य वायु को कहा है। जो वायु घूमती हुई ऊपर को उठती है वह उद्भ्रम वायु है। जो लहरों के समान होती है वह उत्कलिरूप वायु है। पृथ्वी में लगकर घूमती हुई वायु मण्डलिवायु है। गूंजती हुई वायु गुंजावायु है। वृक्षादि को गिरा देने वाली वायु महावायु है। घनोदधिवातवलय, तनुवातवलय की वायु घनाकार है और पंखे आदि

भवनस्थानादिवाता अत्रैवान्तर्भवन्तीति। तानेतान् वायुकायिकजीवान् जानीहि ज्ञात्वा च परिहारः कार्य ॥२१२॥

वनस्पतिकायिकार्थमाह—

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणतकाया य ॥२१३॥

मूल—मूलबीजा जीवा येषा मूल प्रादुर्भवति ते च हरिद्रादय। **अग्ग**—अग्रबीजा जीवाः कोरटक-मल्लिकाकुब्जकादयो येषामग्रं प्रारोहति। **पोरबीया**—पोरबीजजीवा इक्षुवेत्रादयो येषा पोरप्रदेशः प्रारोहति। **कंदा**—कन्दजीवा कदलीपिण्डालुकादयो येषा कन्ददेश प्रादुर्भवति। **तह**—तथा। **खंधबीया**—स्कन्धबीज-जीवा शल्लकीपालिभद्रकादयो येषा स्कन्धदेशो रोहति। **बीयबीया**—बीजबीजा जीवा यवगोधूमादयो येषां क्षेत्रोदकादिसामग्रया प्ररोह। **सम्मुच्छिमाय**—सम्मूर्च्छिमाश्च मूलाद्यभावेऽपि येषां जन्म। **भणिया**—भणिताः कथिता। क आगमे जिनवरै। **पत्तेया**—प्रत्येकजीवा पूगफल-नालिकेरादय। **अणंतकाया य**—अनन्तकायाश्च स्नुहीगुडूच्यादय, ये छिन्ना भिन्नाश्च प्रारोहन्ति, एकस्य यच्छरीर तदेवानन्तानन्ताना साधारणाहारप्राणत्वात् साधाराणाना, एकमेक प्रति प्रत्येक पृथक्कायादया शरीर येषा ते प्रत्येककाया। अनन्तः साधारण कायो येषां तेऽनन्तकाया। एते मूलादय सम्मूर्च्छिमाश्च प्रत्येकानन्तकायाश्च भवन्ति ॥२१३॥

से की गयी वायु अथवा लोक को वेष्टित करने वाली वायु तनुवात है। उदर में स्थित पाँच प्रकार की वायु होती है। अर्थात् हृदय मे स्थित वायु प्राणवायु है, गुद मे अपानवायु है, नाभि-मण्डल मे समानवायु है, कण्ठ प्रदेश मे उदानवायु है और सम्पूर्ण शरीर मे रहनेवाली वायु व्यानवायु है। ये शरीर सम्बन्धी पाँच वायु है। इसी प्रकार से ज्योतिष्क आदि स्वर्गों के विमान के लिए आधारभूत वायु, भवनवासियो के स्थान के लिए आधारभूत वायु इत्यादि वायु के भेद इन्ही उपर्युक्त भेदो मे अन्तर्भूत हो जाते है। इन्हें वायुकायिक जीव जानो और जानकर उनका परिहार करो, ऐसा तात्पर्य है।

अब वनस्पतिकायिक जीवो का वर्णन करते है—

गाथार्थ—पर्व, बीज, कन्द, स्कन्ध तथा बीजबीज, इनसे उत्पन्न होनेवाली और संमूर्च्छिम वनस्पति कही गयी है। ये प्रत्येक और अनन्तकाय ऐसे दो भेदरूप हैं ॥२१३॥

आचारवृत्ति—मूल से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ मूलबीज है, जैसे हल्दी आदि। अग्र से उत्पन्न होने वाली वनस्पति अग्रबीज हैं, जैसे कोरटक, मल्लिका, कुब्जक—एक प्रकार का वृक्ष आदि। इनका अग्रभाग उग जाता है। जिनकी पर्व—पोरभाग से उत्पत्ति होती है वे पर्वबीज हैं, जैसे इक्षु वेत आदि। जिनकी कन्दभाग से उत्पत्ति होती है वे स्कन्धबीज जीव हैं; कदली, पिडालु आदि। कोई स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं वे स्कन्धबीज जीव हैं; जैसे सल्लकी, पालिभद्र' आदि। कोई बीज से उत्पन्न होती हैं वे बीज-बीज कहलाती हैं, जैसे जौ, गेहूँ आदि इनकी खेत में मिट्टी, जल आदि सामग्री से उत्पत्ति होती है।

मूल, अग्र-बीज आदि के अभाव में भी जिनका जन्म होता है वे संमूर्च्छिम वनस्पति हैं। इन वनस्पतियो के प्रत्येक और अनन्तकाय ये दो भेद है। जिनका स्वामी एक है वे प्रत्येक-

[1]अवयविरूप व्याख्यायावयवभेदप्रतिपादनार्थमाह। अथवा वनस्पतिजातिर्द्विप्रकारा भवतीति बीजोद्भवा सम्मूर्च्छिमा च तत्र बीजोद्भवा मूलादिस्वरूपेण व्याख्याता। सम्मूर्च्छिमायाः स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल पुष्फफलं।
गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य ॥२१४॥

कन्दा—कन्दकः सूरणपद्मकन्दकादिः। मूला—मूलं [2]पिण्डाद्यः प्ररोहकं हरिद्रकार्द्रकादिकं। छल्ली—त्वक् वृक्षादिबहिर्वल्कल शैलयुतकादिकं च। खंधं—स्कन्धः [3]पिंडशाखयोरन्तर्भागः पालिभद्रादिकाः।

काय हैं जैसे सुपारी, नारियल आदि के वृक्ष। जो अनन्तजीवों के काय हैं वे अनन्तकाय हैं; जैसे स्नुही, गिलोय—गुरच आदि। ये छिन्नभिन्न हो जाने पर भी उग जाती हैं।

एक-एक के प्रति पृथक्-पृथक् शरीर जिनका होता है वे प्रत्येकशरीर कहलाते हैं और एक जीव का जो शरीर है वही अनन्तानन्त जीवों का शरीर हो, उन का साधारण ही आहार और श्वासोच्छ्वास हो वे अनन्तकाय हैं। अर्थात् जिनके पृथक्-पृथक् शरीर आदि हैं वे प्रत्येककाय जीव हैं और जिनका अनन्त—साधारण काय है वे अनन्तकाय नाम वाले हैं। ये मूल आदि और संमूर्च्छन आदि वनस्पति प्रत्येक और अनन्तकाय भेद से दो प्रकार की होती हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ—जो वनस्पति मूल अग्र पर्व बीज आदि से उत्पन्न होती हैं उनमें ये मूलादि प्रधान हैं। तथा जो मिट्टी, पानी आदि के सयोग से बिना मूल बीज आदि के उत्पन्न होती हैं वे संमूर्च्छन हैं। यद्यपि एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक जीव संमूर्च्छन ही होते है और पंचेन्द्रियों में भी संमूर्च्छन होते हैं, फिर भी यहाँ मूल पर्व बीजादि की विवक्षा का न होना ही संमूर्च्छन वनस्पति मे विवक्षित है, जैसे घास आदि।

अवयवी का स्वरूप बताकर अवयवों के भेद प्रतिपादन करने हेतु कहते हैं—अथवा वनस्पति जाति के दो प्रकार हैं—एक, बीज से उत्पन्न होनेवाली और दूसरी, समूर्च्छन। उसमें से बीज से होनेवाली वनस्पतियाँ मूलज अग्रज आदि के स्वरूप से बतलाई जा चुकी हैं, अब संमूर्च्छन वनस्पतियों का स्वरूप बतलाते हुए अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—कन्द, मूल, छाल, स्कन्ध, पत्ता, कोंपल, फूल, फल, गुच्छा, गुल्म, बेल, तृण और पर्वकाय ये संमूर्च्छन वनस्पति है ॥२१४॥

आचारवृत्ति—सूरण, पद्मकन्द आदि कन्द हैं। मूल अर्थात् पिण्ड के नीचे भाग से जो उत्पन्न होती हैं वे मूलकाय हैं, जैसे हल्दी, अदरख आदि। वृक्षादि के बाहर का वल्कल छाल कहलाता है। पिण्ड और शाखा का मध्यभाग स्कन्ध है, जैसे पालिभद्र* आदि। अंकुर के अनन्तर की अवस्था पत्ता है। पत्तो की पूर्व अवस्था प्रवाल है जिसे कोंपल कहते है। जो फल में कारण

---

१ क अवयवरूपं। २, ३, क पेडा°।

* कोश मे पारिभद्र के अर्थ मे—मूंगे का वृक्ष, देवदारू वृक्ष, सरलवृक्ष और नीम के वृक्ष ऐसे चार तरह के वृक्ष माने हैं।

पत्तं—पत्रं अंकुरोर्ध्वावस्था। पवालं—प्रवाल पल्लव पत्राणां पूर्वावस्था। पुप्फ—पुष्प फलकारण। फलं—पुष्पकार्यं पूगफलतालफलादिक। गुच्छा—गुच्छो बहूना समूह एककालीनोत्पत्ति· जातिमल्लिकादि·। गुम्म—गुल्म करजकथारिकादि। वल्ली—वल्लरी श्यामा लतादिका। तणाणि—तृणानि। तह—तथा। पव्व—पर्व ग्रंथिकयोर्मध्यं वेत्रादि। काया—काय· स प्रत्येकमभिसम्बध्यते कन्दकायो मूलकाय इत्यादि, एते सम्मूर्छिमा. प्रत्येकानन्तकायाश्च मूलमादायपत्रमादायोत्पद्यन्त इत्यर्थ। अथवा मूलकायावयव कन्दकायावयव इत्यादि, पूर्वाणा बीजमुपादान कारण एतेषा पुन पृथिवीसलिलादिक उपादानकारण। तथा च दृश्यते शृङ्गाच्छर गोमयाच्छालूक बीजमन्तरेणोत्पत्ति पुष्पमन्तरेण च यस्योत्पत्ति फलाना स फल इत्युच्यते, यस्य पुष्पाण्येव भवन्ति स पुष्प इत्युच्यते, यस्य पत्राण्येव न पुष्पाणि न फलानि स पत्र इत्युच्यते इत्यादि सम्बन्ध कर्तव्य इति ॥२१४॥

सेवाल पणग केण्णग कवगो कुहणोय बादरा काया।
सव्वेवि सुहुमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे ॥२१५॥

हैं वह पुष्प है। पुष्पों के कार्य को फल कहते है, जैसे सुपारी फल आदि। अनेक के समूह का नाम गुच्छा है, जैसे एक काल मे उत्पन्न होनेवाले जाति पुष्पो के, मालती पुष्पो के गुच्छे। करज और कथारिका आदि गुल्म कहलाते है। लता, बेल आदि बल्ली सज्ञक है। हरित घास आदि तृण नाम वाले है। दो गाँठो के मध्य को, जिससे वेत्रादि उत्पन्न होते है, पर्व कहते है। गाथा के अन्त मे जो काय शब्द है वह प्रत्येक के साथ लगेगा। जैसे कन्दकाय, मूलकाय, स्कन्धकाय, पत्रकाय, पल्लवकाय, पुष्पकाय, फलकाय, गुच्छकाय, गुल्मकाय, वल्लीकाय, तृणकाय और पर्वकाय। ये सम्मूर्च्छन वनस्पतियाँ प्रत्येक और अनन्तकाय होती है। ये मूल या पत्रो का आश्रय लेकर और भी इसी भाँति उत्पन्न होती है। अथवा इनको मूलकाय अवयव, कन्दकायावयव इत्यादि नामो से भी कहते है।

पूर्वगाथा (२१३) मे जिनका वर्णन किया है उनका उत्पादन कारण बीज है। और इस (२१४) गाथा मे जिनका वर्णन है उनका उत्पादन कारण पृथिवी, जल, वायु आदि है। देखा जाता है कि शृग—सीग से शर—दर्भ उत्पन्न होता है, गोबर से शालूक उत्पन्न होता है अर्थात् ये बीज के बिना ही उत्पन्न हो जाते है। पुष्प के बिना भी जिसमे फल उत्पन्न हो जाते है वे फलवनस्पति कहलाती है। जिसमे मात्र पत्ते ही रहते है, न फूल आते है और न फल लगते है वे पत्रवनस्पति है इत्यादि रूप से सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

गाथार्थ—काई, पणक, कचरे मे होनेवाली वनस्पति, छत्राकार आदि फफूंदी—ये बादरकाय वनस्पति हैं। सभी सूक्ष्मकाय वनस्पति सर्वत्र जल, स्थल और आकाश मे व्याप्त हैं ॥२१५॥*

---

* निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

जलकंजियाण मज्झे इट्टय वम्मीय लिंगमज्झेय।
सेवाल पणग केणुग कवगो कुहणो अहाकमं होंति ॥१६॥

सेवाल—शैवल उदकगतकायिका हरितवर्णा। **पणग**—पणक भूमिगत शैवलं इष्टकादिप्रभवा कायिका। **केण्णग**—आलम्बकछत्राणि शुक्लहरितनीलरूपाणि अपस्कारोद्भवानि। **कवगो**—शृंगालम्बकच्छत्राणि जटाकाराणि। **कुहणो य**—आहारकाजिकादिगतपुष्पिका। **बादरा काया**—स्थूलकाया. अन्तर्दीपकत्वात् सर्वैरतीतपृथिव्यादिभि सह सम्बध्यते सर्वेऽपि पृथिवीकायिकादयो वनस्पतिपर्यंता व्याख्यातप्रकारा स्थूलकाया इति। सूक्ष्मकायप्रतिपादनार्थमाह। **सव्वेवि**—सर्वेऽपि पृथिव्यादिभेदा वनस्पतिभेदाश्च **सुहुमकाया**—सूक्ष्मकायाश्चांगुलासख्यातभागशरीरा। **सव्वत्थ**—सर्वत्र सर्वस्मिन्लोके। **जलत्थलागासे**—जले स्थले आकाशे च। **एते**—पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ता बादरकाया· सूक्ष्मकायाश्च भवन्ति, किंतु पृथिव्यष्टकविमानादिकमाश्रित्य स्थूलकाया, सूक्ष्मकाया पुन. सर्वत्र जलस्थालाकाशे ॥२१५॥

सर्वत्र साधारणाना स्वरूपप्रतिपादनायाह—

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥२१६॥

गूढसिरसंधिपव्वं—गूढा अदृश्यमाना शिरा, सन्धयोऽङ्गबन्धा पर्वाणि ग्रन्थयो यस्य तद्गूढशिरा-

---

आचारवृत्ति—जल मे होनेवाली हरी-हरी काई शैवाल है। जमीन पर तथा ईंट आदि पर लग जाने वाली काई पणक है। वर्षाकाल में कूडे-कचरे पर जो छत्राकार वनस्पति हो जाती है वह किण्व कहलाती है। सीग मे उत्पन्न होनेवाली जटाकार वनस्पति कवक है। भोजन और काजी आदि पर लग जाने फूली (फफूंदी) कुहन है। और भी, पीछे जिनका वर्णन किया गया है ये सभी वनस्पतियाँ बादरकाय है। अर्थात् पृथिवीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यन्त जितने भी प्रकार बतलाए गये है वे सभी स्थूलकाय के ही प्रकार हैं।

अब सूक्ष्मकाय का वर्णन करते हुए कहते है—सभी पृथिवी आदि से लेकर वनस्पति पर्यंत पाचो स्थावरकायो मे सूक्ष्मकाय भी होते है। ये अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण शरीर की अवगाहना वाले है और सर्वत्र लोकाकाश में—जल में, स्थल में, आकाश में भरे हुए है। तात्पर्य यह हुआ कि पृथिवी से लेकर वनस्पति पर्यन्त अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँचों प्रकार के स्थावर जीव बादरकाय और सूक्ष्मकाय के भेद से दो प्रकार के होते है। उनमे से जो आठ प्रकार की पृथिवी और विमान आदि का आश्रय लेकर होते हैं वे बादरकाय है और सर्वत्र जल, स्थल, आकाश मे विना आधार से रहनेवाले जीव सूक्ष्मकाय कहलाते है।

सर्वत्र साधारण वनस्पति का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिनकी स्नायु, रेखाबंध और गाँठ अप्रगट हो, जिनका समान भग होवे, और दोनों भंगो में परस्पर हीरुक—अन्तर्गत सूत्र—तंतु नही लगा रहे तथा छिन्न करने पर भी जो उग जावे उसे साधारणशरीर वनस्पति कहते हैं और इससे विपरीत को प्रत्येकवनस्पति कहते हैं ॥२१६॥

आचारवृत्ति—जिसकी शिरा अर्थात् बहिःस्नायु, सधि—रेखाबन्ध, और पर्व—गाँठें

सन्धिपर्व । **समभंगं**—समः सदृशो भंगः छेदो यस्य तत्समभंग त्वग्रहित[1] । अहीरुह—न विद्यते हीरुकं बालरूपं यस्य तदहीरुहं पुनः सूत्राकारादिवर्जित मंजिष्ठादिकं । **छिन्नरुहं**—छेदेन रोहतीति च्छेदरुहं छिन्नो भिन्नश्च सन् रोहमागच्छति । **साहारणं सरीरं**—तत्साधारणं सामान्य शरीर साधारणशरीरं । **तव्विवरीयं (च)**—तद्विपरीत च साधारणलक्षणविपरीत । **पत्तेयं**—प्रत्येकं प्रत्येकशरीर ॥२१६॥

दिखती नहीं हैं वे गूढ़ शिरासंधि—पर्व वनस्पति है। जिनको तोडने पर समान भंग हो जाता है, छाल आदि नहीं रहती है वे समभंग हैं। जिनके तोडने पर हीरुक—बालरूप तंतु नहीं लगा रहता है, अन्तर्गत सूत्र नही लगा रहता है अहीरुक हैं, जैसे कि मंजीठ आदि वनस्पतियाँ। जो छिन्न-भिन्न कर देने पर भी उग जाती हैं, छिन्नरुह है। इन लक्षण वाली वनस्पति को साधारणशरीर कहा है और इनसे विपरीत लक्षणवाली को प्रत्येकशरीर वनस्पति कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ पर जो साधारण वनस्पति का लक्षण किया है इसके विषय मे विशेष बात यह है कि 'गोम्मटसार' मे इसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक का ही लक्षण माना है और आगे साधारण का लक्षण अलग किया है। अर्थात् पहले वनस्पति के प्रत्येक और साधारण दो भेद किये हैं। पुनः प्रत्येक के सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित ऐसे दो भेद कर दिये हैं। इसमें अप्रतिष्ठित प्रत्येक तो वह है जिसके आश्रित निगोदिया जीव नही है और सप्रतिष्ठित वह है जिसके आश्रित अनन्त निगोदिया जीव है। इसे ही अनन्तकाय कहा है और सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के पहचान हेतु यही "गूढसिर सधिपव्व···" गाथा दी है। 'मूलाचार' की गाथा २१३ में भी जो 'अनन्तकाया' शब्द है वहाँ पर टीकाकार ने साधारण वनस्पति अर्थ किया है। किन्तु यही गाथा 'गोम्मटसार' मे भी (गाथा क्रम १८६) है। उसमे 'अनन्तकाय' पद से सप्रतिष्ठित प्रत्येक अभिप्राय ग्रहण किया गया है। आगे साधारणशरीर वनस्पति का लक्षण करते हुए कहा है कि—

> **साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा ।**
> **ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहुमा त्ति विण्णेया ॥१६॥**

अर्थात जिन जीवो का शरीर साधारण नामकर्म के उदय से निगोदरूप होता है उन्ही को सामान्य या साधारण कहते है। इनके दो भेद है, एक बादर और दूसरा सूक्ष्म।*

---

१ क 'हित महीरुहं पुन ।

* निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक ।

> **बीजे जोणीभूदे जीवो उव्वकमदि सो व अण्णो वा ।**
> **जा वियं लसुणादीया पत्तेया पढमदाए ते ॥२२॥**

अर्थात् जिस योनिभूत बीज में वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और लशुन आदि वनस्पति प्रथम अवस्था मे अप्रतिष्ठित प्रत्येक रहते हैं। अर्थात् मूल कन्द आदि सभी वनस्पतियाँ जो कि सप्रतिष्ठित प्रत्येक मानी गई है वे भी अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहती हैं।

किंभूतमिति पृष्टेऽत उत्तरमाह—

होदि वणप्फदि वल्ली रुक्खतणादी तहेव एइंदी ।
ते जाण हरितजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥२१७॥

होदि—भवति । वणप्फदि—वनस्पतिः फलवान् वनस्पतिर्ज्ञेयः । वल्ली—वल्लरी लता । रुक्ख—वृक्ष. पुष्पफलोपगत । तणादी—तृणादीनि । तहेव—तथैव । एइंदी—एकेन्द्रिया. । अथवा साधारणानामेतद्विशेषण पूर्वं प्रत्येककायानां एते मूलादिबीजाः कन्दादिकायाः साधारणशरीराः प्रत्येककायाश्च सूक्ष्मा स्थूलाश्च ये व्याख्यातास्तान् हरितकायान् जानीहि तथा[1] एतेऽन्ये च पृथिव्यादाश्चैकेन्द्रिया ज्ञातव्या. परिहर्तव्याश्चान्तदीपकत्वात् । कथमेते जीवा इति चेन्नैषदोष., आगमादनुमानात्प्रत्यक्षाद्वा, आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्ति-

यह वनस्पति और कैसी है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वेल, वृक्ष, घास आदि वनस्पति है तथा पृथ्वी आदि की तरह ये एकेन्द्रिय जीव हैं इन्हें तुम हरितकाय जीव समझो और ऐसा समझकर इनका परिहार करो ॥२१७॥

आचारवृत्ति—जो फलवाली है वह वनस्पति है। लताओ को बेल कहते हैं। पुष्प और फल जिसमे आते है उसे वृक्ष कहते है। घास आदि को तृण कहते है। ये सब पृथ्वीकायिक

अर्थात् साधारण जीवो मे जहाँ पर एक जीव मरण करता है वहाँ पर अनन्त जीवो का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ पर अनन्त जीवो का उत्पाद होता है ।

भावार्थ—साधारण जीवो मे मरण और उत्पत्ति की अपेक्षा भी सादृश्य है। प्रथम समय मे उत्पन्न होनेवाले साधारण की तरह द्वितीयादि समयो मे भी उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवो का जन्म-मरण साथ ही होता है। यहाँ इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीर मे साथ उत्पन्न होनेवाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक होते है किन्तु मिश्ररूप नही होते है।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥२४॥

अर्थात् इन साधारण जीवो का साधारण (समान) ही तो आहार आदि होता है और साधारण —एक साथ श्वासोच्छ्वास ग्रहण होता है। इस तरह से साधारण जीवो का लक्षण परमागम मे साधारण ही बताया है।

फली वणप्फदी णेया रुक्खफुल्लफलं गदो ।
ओसही फलपक्कंता गुम्मा वल्ली य वीरुधा ॥२५॥

अर्थात् जिसमे फली ही लगती है उसे वनस्पति कहते हैं। जिसमे पुष्प और फल आते हैं उसे वृक्ष कहते है। फलो के पक जाने पर जो नष्ट हो जाते है ऐसी वनस्पति को औषधि कहते है। गुल्म और वल्ली को वीरुध कहते है। जिसकी शाखाएँ छोटी है और जिसके मूल जटाकार होते है ऐसे छोटे झाड़ गुल्म हैं। जो पेड़ पर चढ़ती है और वलयाकार रहती हैं वे वल्ली हैं।

---

१ क तथा हि एतान्येवष्ट' ।

त्वादा। सचेतना एते [1]सज्ञादिभीरागमे निरूप्यमाणत्वात्, सर्वत्वगपहरणे मरणात् उदकादिभिः साड्वलभावात्, स्पृष्टस्य [2]लज्जरिकादे सकोचकारणत्वात्[3] वनितागण्डूषसेकाद्धर्षदर्शनात्[4] वनितापादताडनात्पुष्पाकुरादि-प्रादुर्भावात्, निधानादिदिशि पादादिप्रसारणादिति ॥२१७॥

त्रसस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलेंदिया मुणेयव्वा ।
बितिचउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा ॥२१८॥

जीव आदि के समान ही एकेन्द्रिय है। अथवा यह साधारण वनस्पति जीवो का विशेषण है। पूर्व मे प्रत्येककाय जीवो का वर्णन किया है।

जो ये मूलादि बीज-वनस्पति, कदादिकाय-वनस्पति, साधारणशरीर वनस्पति और प्रत्येककाय वनस्पति बतलायी है जिनका कि सूक्ष्म और स्थूल रूप से वर्णन किया है इनको हरितकाय जीव जानो। तथा इनको और इनसे भिन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायुकायिक एकेन्द्रिय जीवो को भी जानो और जानकर इनकी दया पालो। यह 'परिहर्तव्या' पद अन्तदीपक है इसलिए इसका सम्बन्ध सभी के साथ हो जाता है।

शंका—ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव कैसे है? अर्थात् इनमे जीव किस तरह माना जाय?

समाधान—ऐसा नही कहना, क्योकि आगम से, अनुमान प्रमाण से अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से, या आहार, भय, मैथुन एव परिग्रह इन चारो सज्ञाओ के इनमे पाये जाने से, इन पृथ्वी आदि मे जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ये आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन सज्ञाओ के द्वारा सचेतन है ऐसा आगम मे निरूपण किया गया है। देखा जाता है कि सम्पूर्ण-रूप से छाल को दूर कर दो तो वृक्ष आदि वनस्पति का मरण हो जाता है और जल वायु आदि के मिलने से हरे-भरे हो जाते है इसलिए आहार सज्ञा स्पष्ट है। स्पर्श कर लेने पर लाजवती आदि वनस्पतियाँ सकुचित हो जाती है अत भय सज्ञा भी स्पष्ट है। स्त्रियो के कुल्ले के जल से सिचित होने से कुछ लता आदि हर्षित अर्थात् पुष्पित हो जाती है तथा स्त्रियों के पैरो के ताडन से कुछेक मे पुष्प, अकुर आदि प्रादुर्भूत हो जाते है, इसलिए मैथुन सज्ञा मानी जाती है। निधान—खजाने आदि की दिशा मे पाद—जड आदि फैल जाती है इसलिए परिग्रह सज्ञा भी स्पष्ट ही है। अर्थात् इन चारो सज्ञाओ को वनस्पतिकायिक मे घटित कर देने से पृथ्वी आदि सभी स्थावरो मे जीव है ऐसा निर्णय हो जाता है।

अब त्रसजीवो का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते है—

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से त्रस दो प्रकार के कहे गये हैं ऐसा जानना चाहिए। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय ये विकलेन्द्रिय जीव है। पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय है ॥२१८॥

---

१ क सदादि°। २ क लज्जिरि°। ३ क °णात्। ४ क °काद्वष्मर्द°।

दुविहा—द्विविधा द्विप्रकारा.। तसा—त्रसा उद्वेजनबहुला.। वुत्ता—उक्ताः प्रतिपादिताः। विकला—विकलेन्द्रिया। सकला—सकलेन्द्रिया। इन्द्रियशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। मुणेदव्वा—ज्ञातव्या। बितिचउरिंदिय—द्वे त्रीणि चत्वारीन्द्रियाणि येषां ते द्वित्रिचतुरिन्द्रिया द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाश्चेति। विगला—विकला विकलेन्द्रिया एते। सेसा—शेषा सकलेन्द्रिया सकलानि पूर्णानीन्द्रियाणि येषां ते सकलेन्द्रियाः पंचेन्द्रिया इत्यर्थः। जीवा—जीवा ज्ञानाद्युपयोगवन्तः। द्विप्रकारा विकलेन्द्रियसकलेन्द्रियभेदेन ॥२१८॥

के विकलेन्द्रिया, के सकलेन्द्रिया इत्यत आह—

संखो गोभी भमरादिया दु विगलिंदिया मुणेदव्वा।
सकलिंदिया य जलथलखचरा सुरणारयणरा य ॥२१९॥

संखो—शंख। गोभी—गोपालिका। भमर—भ्रमरः। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, शंखादयो भ्रमरादयः। आदिशब्देन शुक्ति-कृमि-वृश्चिक-मत्कुण-मक्षिका पतंगादयः परिगृह्यन्ते। एते विगलिंदिया—विकलेन्द्रिया। मुणेदव्वा—ज्ञातव्याः। शेषाः पुनः सकलिंदिया—सकलेन्द्रियाः। के ते जलथलखचरा—जले चरन्तीति जलचरा मत्स्यमकरादयः, स्थले चरन्तीति स्थलचराः सिंहव्याघ्रादयः, खे चरन्तीति खचरा हंससारसादयः। सुरणारयणरा य—सुरा देवा भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनः, नारकाः सप्तपृथिवीनिवासिनो दुःखबहुलाः, नरा मनुष्या इति ॥२१९॥

आचारवृत्ति—जो प्रायः उद्विग्न होते रहते हैं वे त्रस कहलाते हैं। उनके विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार हैं। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय कहलाते हैं और सकल अर्थात् पूर्ण हैं इन्द्रियाँ जिनकी ऐसे पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय कहलाते हैं। ये ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग लक्षणवाले होने से जीव हैं ऐसा समझना।

विकलेन्द्रिय कौन हैं और सकलेन्द्रिय कौन हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—शंख, गोपालिका और भ्रमर आदि जीवों को विकलेन्द्रिय जानना चाहिए। जलचर, थलचर और नभचर तथा देव, नारकी और मनुष्य ये सकलेन्द्रिय हैं ॥२१९॥

आचारवृत्ति—'भ्रमर' के साथ में प्रयुक्त 'आदि' शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। यथा—शंख, सीप, कृमि आदि दो-इन्द्रिय जीव हैं। गोपालिका—बिच्छू, खटमल आदि तीन-इन्द्रिय जीव हैं। भ्रमर, मक्खी, पतंग आदि चार-इन्द्रिय जीव हैं। इनमें विकल—न्यून इन्द्रियाँ हैं, पूर्ण नहीं हुई हैं इसलिए ये विकलेन्द्रिय कहे जाते हैं। इन विकलेन्द्रिय तथा पूर्वकथित एकेन्द्रिय से बचे हुए पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय हैं। उनमें से तिर्यंच के तीन भेद हैं—जलचर, थलचर और नभचर। जो जल में रहते हैं वे जलचर हैं, जैसे मत्स्य, मकर आदि। जो थल पर विचरण करते हैं वे थलचर हैं; जैसे सिंह, व्याघ्र आदि। जो आकाश में उड़ते हैं वे नभचर हैं, जैसे हंस, सारस आदि। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी ये चारों प्रकार के देव सुर कहलाते हैं। सात पृथिवी में निवास करनेवाले और दुःख की अत्यन्त बहुलता वाले मनुष्य गति को प्राप्त जीव नरसंज्ञक हैं। ये तीन प्रकार के तिर्यंच—देव, नारकी और मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव हैं।

पुनरपि भेदप्रकरणायाह—

कुलजोणिमग्गणा विय णादव्वा सव्वजीवाणं ।
णाऊण सव्वजीवे णिस्संका होदि कादव्वा ॥२२०॥

कुल—कुल जातिभेद । **जोणि**—योनिरुत्पत्तिकारण । कुलयोन्यो को विशेष इति चेन्न, **वटपिप्पलकृमिशुक्तिमत्कुणपिपीलिकाभ्रमरमक्षिकागोश्वक्षत्रियादि कुल** । कन्दमूलाण्डगर्भरसस्वेदादिर्योनि । **मग्गणावि य**—मार्गणाश्च गत्यादय । **णादव्वा**—ज्ञातव्या । **सव्वजीवाण**—सर्वजीवाना पृथिव्यादीना । **णाऊण**—ज्ञात्वा । **सव्वजीवे**—सर्वजीवान् । **निस्संका**—नि शका सदेहाभाव । **होदि**—भवति । **कादव्वा**—कर्तव्या । कुलयोनिमार्गणाभेदेन सर्वजीवान् ज्ञात्वा नि शका भवति कर्तव्येति ॥२२०॥

कुलभेदेन जीवान् प्रतिपादयन्नाह—

बावीस सत्ततिण्णि य सत्त य कुलकोडिसदसहस्साइं ।
णेया पुढविदगागणिवाऊकायाण पडिसखा ॥२२१॥

बावीस—द्वाविशति । **सत्तय**—सप्त च । **तिण्णि य**—त्रीणि च । **कुलकोडिसदसहस्साइं**—कुलाना कोट्य कुलकोट्य कुलकोटीना शतसहस्राणि तानि कुलकोटीशतसहस्राणि । द्वाविंशति सप्त त्रीणि च सप्त च । **णेया**—ज्ञातव्या । **पुढवि**—पृथिवीकायिकाना । **दग**—अप्कायिकाना । **अगणि**—अग्निकायिकाना । **वाऊ**—वायुकायिकाना । पडिसखा—परिसख्या । पृथिवीकायाना कुलकोटि-

---

पुनरपि इनके भेदो को बतलाते है—

गाथार्थ—सभी जीवो के कुल, उनकी योनि और मार्गणाओ को भी जानना चाहिए। और सभी जीवो को जानकर शका रहित हो जाना चाहिए ॥२२०॥

आचारवृत्ति—जाति के भेद को कुल कहते है और उत्पत्ति के कारण को योनि कहते है ।

कुल और योनि मे क्या अन्तर है ?

बड-पीपल, कृमि-सीप, खटमल-चीटी, भ्रमर-मक्खी, गौ, अश्व क्षत्रिय आदि ये कुल हैं। कन्द, मूल, अड, गर्भ, रस, पसीना आदि योनि कहलाते है । गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाएँ हैं ।

इन कुल योनि और मार्गणाओ के भेद से पृथिवीकायिक से लेकर पचेन्द्रिय त्रस पर्यंत सभी जीवो को जानकर उनके विषय मे सन्देह नही करना चाहिए ।

अब कुल के भेदो का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—पृथिवी जल, अग्नि और वायुकायिक जीवो की संख्या क्रम से बाईस, सात, तीन और सात लाख करोड है । इन्हे कुल नाम से जानना चाहिए ॥२२१॥

आचारवृत्ति—पृथिवीकायिक जीवो के कुलो की सख्या बाईस लाख करोड़ है । जल कायिक जीवो के कुलो की सात लाख करोड है । अग्निकायिक जीवों के कुलो की तीन लाख

लक्षाणि द्वाविंशतिः। अप्कायानां कुलकोटिलक्षाणि सप्त। अग्निकायिकानां कुलकोटी लक्षाणि त्रीणि। वायुकायिकानां कुलकोटी लक्षाणि सप्त यथाक्रमेण परिसंख्या ज्ञातव्येति ॥२२१॥

कोडिसदसस्साइं सत्तट्ठ व णव य अट्ठवीसं च।
वेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ॥२२२॥

अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं।
जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ॥२२३॥

छव्वीसं पणवीसं चउदस कुलकोडिसदसहस्साइं।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होइ णायव्वं ॥२२४॥

कोटीशत सहस्राणि सप्ताष्टौ नवाष्टाविंशतिश्च यथासंख्य द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियहरितकायानां। द्वीन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाणि सप्त। त्रीन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाण्यष्टौ। चतुरिन्द्रियाणां कुलकोटी लक्षाणि नव। हरितकायानां कुलकोटी लक्षाण्यष्टाविंशतिरिति ॥२२२॥

अर्धत्रयोदश, द्वादश, दश च कुलकोटीशतसहस्राणि जलचरपक्षिचतुष्पदां। उरसा परिसर्पन्तीति उरःपरिसर्पा, गोधासर्पादयस्तेषामुरःपरिसर्पाणां **णव होंति**—नव भवति। जलचराणां मत्स्यादीनां कुलकोटीलक्षाण्यर्धत्रयोदश। पक्षिणां हंसभेरुण्डादीनां कुलकोटीलक्षाणि द्वादश। चतुष्पदां सिंहव्याघ्रादीनां कुलकोटी लक्षाणि दश। उरःपरिसर्पाणां कुलकोटी लक्षाणि नव भवन्तीति सम्बन्धः ॥२२३॥

षड्विंशति पंचविंशति चतुर्दश कुलकोटीशतसहस्राणि सुरनारकनराणां च यथाक्रमं भवन्ति ज्ञातव्यं। देवानां कुलकोटी लक्षाणि षड्विंशति नारकाणां कुलकोटी लक्षाणि पंचविंशतिः। मनुष्याणां कुल-

---

करोड़ है और वायुकायिक जीवों के कुलों की संख्या सात लाख करोड़ है ऐसा जानना चाहिए।

गाथार्थ—दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय और हरितकायिक जीवों के कुल क्रमशः सात, आठ, नव और अट्ठाईस लाख करोड़ हैं ॥२२२॥

जलचर, पक्षी, पशु और छाती के सहारे चलनेवाले के कुल क्रम से साढ़े बारह, बारह, दश और नव लाख करोड़ होते है ॥२२३॥

देव, नारकी और मनुष्यों के कुल क्रम से छब्बीस, पचीस और चौदह लाख करोड़ हैं ॥२२४॥

आचारवृत्ति—'यथाक्रम' शब्द २२४वीं गाथा के अन्त में है वह अन्तदीपक है अतः तीनों गाथा के साथ उसका सम्बन्ध करके अर्थ करना चाहिए। अर्थात् द्वीन्द्रिय के कुल सात लाख करोड़, त्रीन्द्रिय के आठ लाख करोड़, चतुरिन्द्रिय के नव लाख करोड़ और वनस्पतिकायिक के अट्ठाईस लाख करोड़ हैं। मत्स्य, मगर आदि जलचर है। हंस भेरुंड आदि पक्षी कहलाते हैं। सिंह, व्याघ्र आदि चार पैर वाले जीव पशुसंज्ञक है और छाती के सहारे चलने वाले गोह, दुमुही, साँप आदि उरःपरिसर्प नामक होते हैं। जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़, पक्षियों के बारह लाख करोड़, पशुओं के दश लाख करोड़ और छाती के सहारे चलने-

कोटीलक्षाणि चतुर्दश सर्वत्र यथाक्रम भवन्ति ज्ञातव्य यथोद्देशस्तथा निर्देश क्रमानतिलङ्घन वेदितव्यम् ॥२२४॥

सर्वकुलसमासार्थं गाथोत्तरेति—

एया य कोडिकोडी णवणवदीकोडिसदसहस्साइं ।
पण्णासं च सहस्सा संवग्गेण कुलाण कोडीम्रो ॥२२५॥

एका कोटीकोटी, नवनवति कोटी शतसहस्राणि पचाशत्सहस्राणि च । संवग्गेण—सर्वसमासेन कुलाना कोट्य । सर्वसमासेन कुलाना एका कोटीकोटी नवनवतिश्च कोटीलक्षाणि पचाशत्सहस्राणि च कोटीनामिति ॥२२५॥

योनिभेदेन जीवान्प्रतिपादयन्नाह—

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदिएसु छच्चेव ।
सुरणरयतिरिय चउरो चउदश मणुएसु सदसहस्सा ॥२२६॥

णिच्च—नित्यनिकोत यैस्त्रसत्व न प्राप्तं कदाचिदपि ते जीवा नित्यनिकोतशब्देनोच्यते । इदर—

वाले दुमुही आदि सर्पो के नव लाख करोड कुल होते है ।

देवो के कुल छब्बीस लाख करोड, नारकियो के पच्चीस लाख करोड और मनुष्यो के कुल चौदह लाख करोड माने गये है ।

अब सभी कुलो का जोड बताते है—

गाथार्थ—एक कोटाकोटि, निन्यानवे लाख करोड, और पचास हजार करोड़ सख्या कुलो की है ॥२२५॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार पृथिवीकायिक से लेकर मनुष्यपर्यन्त समस्त कुलों की संख्या को जोडने से एक कोडाकोडी तथा निन्यानवे लाख और पचास हजार करोड़ है ।

भावार्थ—सम्पूर्ण ससारी जीवो के कुलो की सख्या एक करोड निन्यानवे लाख पचास हजार को एक करोड से गुणने पर जितना प्रमाण लब्ध हो उतना अर्थात् १९९५०००००००००० है । गोम्मटसार से मनुष्यो के १२ लाख कोटि कुल गिनाये है । उस हिसाब से सम्पूर्ण कुलों का जोड एक करोड सत्तानवे लाख पचास हजार करोड होता है ।[1]

अब योनि के भेदो से जीवो का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—नित्य-निगोद, इतर-निगोद और पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार धातु में सात-सात लाख, वनस्पति के दश लाख और विकलेन्द्रियों के छह लाख, देव, नारकी और तिर्यचों के चार-चार लाख और मनुष्य के चौदह लाख योनियां हैं ॥२२६॥

आचारवृत्ति—जिन्होने कदाचित् भी त्रसपर्याय नही प्राप्त की है वे नित्य-

---

१. एया य कोडिकोडी सत्तागउदी सदसहस्साइं .
पण्णं कोडिसहस्सा, सव्वंगीणं कुलाणं य ॥११७॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

इतरन्निकोत चतुर्गतिनिकोत यैस्त्रसत्वं प्राप्त । यद्यप्यत्र निकोतशब्दो नास्ति तथापि द्रष्टव्यो देशामर्शकत्वात्सूत्राणां। धादु—धातव पृथिव्यप्तेजोवायुकायाश्चत्वारो धातव इत्युच्यन्ते। सत्त य—सप्त च। तरु—तरूणां वृक्षाणां। दस—दश। विगलिंदिएसु—विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणां। छच्चेव—षट्चैव। सुरणरयतिरिय—सुरनारकतिरश्चा। चउरो—चत्वार। चोद्दस—चतुर्दश। मणुएसु—मनुष्याणां। सदसहस्सा—शतसहस्राणि। नित्यनिकोताना सप्त लक्षाणि योनीनामिति। चतुर्गतिनिकोतानां सप्तलक्षाणि, पृथिवीकायिकाना सप्तलक्षाणि, अप्कायिकाना सप्तलक्षाणि, तेजःकायिकाना सप्तलक्षाणि, वायुकायानां सप्तलक्षाणि योनीनामिति सम्बन्ध। तरूणा दश लक्षाणि, द्वीन्द्रियाणा द्वे लक्षे, त्रीन्द्रियाणा द्वे लक्षे, चतुरिन्द्रियाणा द्वे लक्षे, सुराणां चत्वारि लक्षाणि, नारकाणां चत्वारि लक्षाणि, तिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां सज्ञिकानामसज्ञिकानां च चत्वारि लक्षाणि। मनुष्याणा चतुर्दश लक्षाणि योनीनामिति। सर्वसमासेन चतुरशीतियोनिलक्षाणि भवन्तीति ॥२२६॥

मार्गणाद्वारेण च जीवभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

तसथावरा य दुविहा जोगगइकसायइंदियविधीहिं।
बहुविह भव्वाभव्वा एस गदी जीवणिद्देसे ॥२२७॥

कायमार्गणाद्वारेण तसथावराय—त्रसनशीलास्त्रसा द्वीन्द्रियादय स्थानशीला स्थावरा पृथिव्यादिवनस्पत्यन्ता। दुविहा—द्विप्रकारास्त्रसस्थावरभेदेन द्विप्रकारा जीवा। जोग—योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपो

निगोद शब्द से कहे जाते हैं। इनसे भिन्न जिन्होंने त्रसपर्याय को प्राप्त कर लिया वे पुनः यदि निगोद जीव हुए हैं तो वे इतर-चतुर्गति निगोद कहलाते है। यद्यपि यहाँ गाथा में नित्य और इतर के साथ निगोद शब्द नही है तो भी उसे जोड़ लेना चाहिए, क्योकि सूत्र देशामर्शक होते है। पृथिवी,जल, अग्नि और वायु इन चारो को धातु शब्द से कहा गया है। नित्य-निगोद, इतरनिगोद और चार धातु, इनकी योनियाँ सात सात लाख है। दो-इन्द्रिय की दो लाख, तीन-इन्द्रिय की दो लाख और चार-इन्द्रिय की दो लाख ऐसे विकलेन्द्रिय जीवों की योनियाँ छह लाख है। देव, नारकी और सञ्ज्ञी-असञ्ज्ञी भेद सहित पचेन्द्रिय तिर्यंचों की चार-चार लाख योनियाँ है। अर्थात् नित्यनिगोद की ७००००० + चतुर्गतिनिगोद की ७००००० + पृथिवीकायिक की ७००००० + जलकायिक की ७००००० + अग्निकायिक की ७००००० + वायुकायिक की ७००००० + वनस्पतिकायिक की १०००००० + द्वीन्द्रिय की २००००० + त्रीन्द्रिय की २००००० + चतुरिन्द्रिय की २००००० + देवो की ४००००० + नारकी की ४००००० + तिर्यंचो की ४००००० + मनुष्यो की १४००००० = ८४००००० योनियाँ होती हैं।

अब मार्गणाओं द्वारा जीवों के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—त्रस और स्थावर के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। योग, गति, कषाय और और इन्द्रियो के प्रकारों से ये भव्य अभव्य जीव अनेक प्रकार के हैं। जीव का वर्णन करने में यही गति है ॥२२७॥

आचारवृत्ति—कायमार्गणा के द्वारा त्रस और स्थावर ऐसे दो भेद होते हैं। त्रसन-स्वभाव—त्रस्त होने रूप स्वभाव वाले जीव त्रस कहलाते है, यहाँ त्रस् धातु त्रसित होने अर्थ में

मनोवाक्कायलक्षणस्त्रिप्रकारस्तस्य विधिर्योगविधिस्तेन जीवास्त्रिप्रकारा मनोयोगिनो वाग्योगिन काययोगिनश्चेति । मनोयोगिनश्चतुष्प्रकारा. सत्यानृतसत्यानृतासत्यानृतभेदेन। एव वाग्योगिनोऽपि चतुष्प्रकारा.। काययोगिन सप्तविधा औदारिकवैक्रियिकाहारकतन्मिश्रकार्मणभेदेन। **गदि**—गतिर्भवान्तरप्राप्ति, गतेर्विधिगतिविधिस्तेन, गतिविधिना चतस्रो गतयस्तद्भेदेन जीवाश्चतुर्विधा भवन्ति नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदेन तेऽपि स्वभेदेनानेकविधा। **कसाय**—कषन्तीति कषाय क्रोधमानमायालोभा, अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसज्वलनभेदेन चतु प्रकारास्तद्भेदेन प्राणिनोऽपि भिद्यन्ते। **इंदिय**—इन्द्र आत्मा तस्य लिंग इन्द्रेण नामकर्मणा वा निर्वर्तितमिद्रिय तस्य विधिरिन्द्रियविधिस्तेनेन्द्रियविधिना जीवा पचप्रकारा एकेन्द्रिय-द्वीद्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियपचेन्द्रियभेदेन। **बहुविहा**—बहुविधा बहुप्रकारा। अनेन किमुक्त भवति स्त्रीपुनपुसकभेदेन, ज्ञान-दर्शन-सयम-लेश्या-सम्यक्त्व-सज्ञाहारभेदेन च बहुविधास्ते सर्वेऽपि। (भव्व) भव्या निर्वाणपुरस्कृता, (अभव्वा—)

है। ये द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय है। जो स्थानशील अर्थात् स्थिर रहने के स्वभाव वाले है वे स्थावर है। यहाँ 'स्था' धातु से स्वभाव अर्थ मे 'वर' प्रत्यय हुआ है। ये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति पर्यन्त एकेन्द्रिय जीव होते है। अर्थात् 'त्रस' और 'स्था' धातु से इन त्रस, स्थावर शब्दो की व्युत्पत्ति होने से उपर्युक्त अर्थ किया है। यह अर्थ औपचारिक है क्योंकि त्रस और स्थावर नाम कर्म के उदय से जो त्रस-स्थावर पर्याय मिलती है वही अर्थ यहाँ विवक्षित है।

आत्मा के प्रदेशो मे परिस्पन्द होना योग का लक्षण हे। उसके मन, वचन और काय की अपेक्षा से तीन प्रकार हो जाते है। उस योग की विधि योगविधि है। इसके निमित्त से जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी ऐसे तीन प्रकार के हो जाते है। सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग के भेद से मनोयोगी के चार भेद है। ऐसे ही वचनयोगी के भी सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग और अनुभय वचनयोग के निमित्त से चार भेद हो जाते है। औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रयोग, वैक्रियिककाय योग, वैक्रियिक मिश्रयोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रयोग और कार्मण काययोग इन सात योगो की अपेक्षा से काययोगी के सात भेद होते है।

भवान्तर की प्राप्ति का नाम गति है। इसके चार भेद है। इन नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के भेदो से जीवो के भी चार भेद हो जाते है। इनमे से भी प्रत्येक गति वाले जीव अनेक प्रकार के होते है।

जो आत्मा को कसती है—दुःख देती है वे कषाय कहलाती है। उनके क्रोध, मान, माया, लोभ से चार भेद है। ये चारो कषाये भी भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन के भेद से चार-चार भेद रूप हो जाती है। इन कषायों के भेद से प्राणियो के भी उतने ही भेद हो जाते है।

इन्द्र अर्थात् आत्मा, उसके लिंग-चिह्न को इन्द्रिय कहते है। अथवा इन्द्र अर्थात् नाम कर्म, उसके द्वारा जो बनाई गई है वे इन्द्रियाँ है। इन इन्द्रियो के भेद से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय इस तरह जीव पाच प्रकार के होते है।

अभव्यास्तद्विपरीता भवन्ति जीवसमासभेदेन गुणस्थानभेदेन च बहुविधा । **एसगदी**—एषा गति । **जीवणिद्दसे**—जीवनिर्देशे जीवप्रपचे । गतीद्रियकाययोगवेदादिविधिभि कुलयोन्यादिभिश्च बहुविधा जीवा इति, जीवनिर्देशे कर्तव्ये एतावती गति ॥२२७॥

ननु जीवभेदा एते ये व्याख्यातास्ते किलक्षणा ? इत्यत आह—

णाणं पंचविधं पिअ अण्णाणतिगं च सागरुव ओगो ।
चवुदंसणमणगारो सव्वे तल्लक्खणा जीवा ॥२२८॥

णाणं—जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञानमात्र वस्तुपरिच्छेदकं । तच्च **पंचविहं**—पचप्रकार मतिश्रुतावधिमन.-पर्ययकेवलभेदेन । षट्त्रिशत्त्रिशतभेदं चावग्रहेहावायधारणाभि षडिन्द्रयाणि प्रगुणितानि तानि चतुर्विंशति-प्रकाराणि भवन्ति तत्र चतुर्षु व्यञ्जनावग्रहेषु प्रक्षिप्तेष्वष्टाविंशतिर्भवन्ति सा चाष्टाविंशतिर्बहुबहुविधक्षिप्रानि-सृतानुक्तध्रुवेतरभेदैर्द्वादशभिर्गुणिता षट्त्रिशत्त्रिशतभेदा भवन्ति मतिज्ञानमेतत् । श्रुतज्ञानमंगागवाह्यभेदेन द्विविध , अगभेदेन द्वादशविध पर्यायाक्षर-पद-सघात-प्रतिपत्तिकानुयोग-प्राभृतकप्राभृतक-प्राभृतक-वस्तु-

---

स्त्री, पुरुष और नपुसक के भेद से ये तीन प्रकार के होते है ।

इस प्रकार जीवों के अनेक प्रकार है । अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सयम, लेश्या, सम्यक्त्व, सज्ञा और आहार इन मार्गणाओं के भेद से भी जीव नाना प्रकार के होते है ।

ये सभी जीव भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार के होते है । जो निर्वाण से पुरस्कृत होने योग्य हैं वे भव्य है और उनसे विपरीत अभव्य है ।

इसी तरह जीवसमास के भेद से और गुणस्थानो के भेद से भी जीव अनेक प्रकार के होते है । जीव का निर्देश करने मे ये सभी प्रकार कहे गए है ।

तात्पर्य यह हुआ कि गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद आदि विधाना से और कुल योनि आदि के भेदों से जीव अनेक प्रकार के होते है । जीव के वर्णन करने मे यही व्यवस्था होती है ।

जिन जीवो के ये भेद बतलाये है उन जीवों का लक्षण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच प्रकार का ज्ञान और तीन प्रकार का अज्ञान ये आठ साकारोपयोग है । चार प्रकार का दर्शन अनाकार उपयोग है । सभी जीव इन ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले है ॥२२८॥

आचारवृत्ति—जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है अथवा जो जानना मात्र है वह ज्ञान है । यह ज्ञान पदार्थों को जानने रूप लक्षणवाला है । मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल के भेद से इसके पाँच भेद हैं ।

उसमें से मतिज्ञान के तोन सौ छत्तीस भेद हैं । पहले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं । इन चारो से पाँच इन्द्रिय और मन—इन छहों का गुणा करने से (६ × ४) चौबीस भेद हो जाते हैं । व्यंजनावग्रह चक्षु और मन से नही होता है अतः चार इन्द्रियो से होने की अपेक्षा इस व्यंजनावग्रह के चार भेद इन चौबीस में मिला देने

पूर्वभेदेन विंशतिविध च। अवधिज्ञान देशावधि-परमावधि-सर्वावधिभेदतस्त्रिप्रकार। मन.पर्ययज्ञान ऋजु-मति-विपुलमतिभेदेन द्विप्रकार। केवलमेकमसहाय। **अण्णाणतिगं**—अज्ञानमयथात्मवस्तुपरिच्छित्तिस्वरूपं तस्य त्रयमज्ञानत्रय मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-विभगज्ञानभेदेन सशयविपर्ययानध्यवसायाकिञ्चित्करादिभेदेन चानेक-प्रकार। **सागरवजोगो**—सहाकारेण व्यत्क्यार्थेन वर्तत इति साकार सविकल्पो गुणीभूतसामान्यविशेषग्रहणप्रवण-

---

से २८ भेद हो जाते है। पुन अट्ठाईस को बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि सृत, अनुक्त, ध्रुव तथा इनसे उल्टे अर्थात् अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, नि सृत, उक्त और अध्रुव इन बारह भेदों से गुणा करने पर (२८ × १२ — ३३६) तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते है। अर्थात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है, उसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद है। अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह की अपेक्षा दो भेद है। व्यक्तपदार्थ को ग्रहण करनेवाला अर्थाव-ग्रह है और अव्यक्त को ग्रहण करनेवाला व्यजनावग्रह है। व्यजनावग्रह चक्षु और मन से नही होता है तथा इस अवग्रह के बाद ईहा आदि नही होते है और अर्थावग्रह पॉच इन्द्रियों तथा मन से भी होता है और इसके बाद ईहा, अवाय, धारणा भी होते है। पुन इन ज्ञान के विषयभूत पदार्थ बहु, बहुविध आदि के भेद से बारह भेद रूप है अत उस सम्बन्धी ज्ञान के भी बारह भेद हो जाते है। इस प्रकार से अवग्रह आदि चार को छह इन्द्रियो से गुणित करके व्यजनावग्रह के चार भेद मिला देने पर पुन उन अट्ठाईस को बारह से गुणा करने पर तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते है।

जो मतिज्ञानपूर्वक होता है वह श्रुतज्ञान है। उसके अग और अगबाह्य की अपेक्षा से दो भेद है। अग के बारह भेद है जो कि आचाराग आदि के नामो से प्रसिद्ध हैं। अगबाह्य के बीस भेद होते हैं।

पर्याय, अक्षर, पद, सघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतक, प्राभृतक-प्राभृतक, वस्तु और पूर्व ये दश भेद हुए। पुन प्रत्येक के साथ समास पद जोडने से दश भेद होकर बीस हो जाते हैं। अर्थात् पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, सघात, संघातसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयागसमास, प्राभृतक, प्राभृतकसमास, प्राभृतक-प्राभृतक, प्राभृतकप्राभृतकसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये बीस भेद माने हैं।

अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार होते हैं।

मन पर्यय ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति की अपेक्षा दो भेद हैं।

केवलज्ञान एक असहाय है। अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता से रहित होने से असहाय है और परिपूर्ण होने से एक है।

अयथात्मक वस्तु—जो वस्तु जैसी है उसको उससे विपरीत जाननेरूप लक्षणवाला ज्ञान अज्ञान कहलाता है। उसके तीन भेद है। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान। तथा सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, और अकिंचित्कर आदि के भेद से यह अज्ञान अनेक प्रकार का भी है।

उपयोगः । ज्ञानं पंचप्रकारमज्ञानत्रयं च साकार उपयोगः चक्खुदंसणं—चत्वारि दर्शनानि चक्षुरचक्षुरवधिकेवल-दर्शनभेदेन । अणायारो—अनाकारोऽविकल्पको गुणीभूतविशेषसामान्यग्रहणप्रधानः, चत्वार्यपि दर्शनान्यनाकार उपयोग । सव्वे—सर्वे । तल्लक्खणा—तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ लक्षणं येषां ते तल्लक्षणाः ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणाः सर्वे जीवा ज्ञातव्या इति ॥२२८॥

जीवभेदोपसंहारादजीवभेदसूचनाय गाथा—

> एवं जीवविभागा बहू भेदा वण्णिया समासेण ।
> एवंविधभावरहियमजीवदव्वेत्ति [1]विण्णेयं ॥२२९॥

एवं—व्याख्यातप्रकारेण । जीवविभागा—जीवविभागाः । बहुभेदा—बहुप्रकाराः । वण्णिया—वर्णिता । समासेण—संक्षेपेण । एवंविधभावरहियं—व्याख्यातस्वरूपविपरीतमजीवद्रव्यमिति विज्ञेयम् ॥२२९॥

अजीवभेदप्रतिपादनायाह—

> अज्जीवा वि य दुविहा रूवारूवा य रूविणो चदुधा ।
> खंधा य खंधदेसो खंधपदेसो अणू य तहा ॥२३०॥

यह ज्ञान साकार है। अर्थात् आकार के साथ, व्यक्तिरूप से पदार्थ को जानता है इसलिए इसे साकार या सविकल्प कहते हैं। अर्थात् सामान्य को गौण करके विशेष को ग्रहण करने मे कुशल जो उपयोग है वह साकारोपयोग है। पाँच प्रकार का ज्ञान और तीन प्रकार का अज्ञान ये आठ प्रकार का साकारोपयोग होता है।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का है। यह अनाकार या अविकल्पक है। जो विशेष को गौण करके सामान्य को ग्रहण करने मे प्रधान है वह अनाकारोपयोग है। ये चारो दर्शन अनाकारोपयोग कहलाते हैं।

ये ज्ञान-दर्शन हैं लक्षण जिनके ऐसे जीव तल्लक्षणवाले होते हैं। अर्थात् सभी जीव ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षणवाले होते है ऐसा जानना चाहिए।

जीव के भेदो को उपसंहार करके अब अजीव के भेदो को सूचित करने हेतु अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—इस तरह से अनेक भेदरूप जीवों के विभाग का मैंने संक्षेप से वर्णन किया है। उपर्युक्त प्रकार के भावों से रहित अजीव द्रव्य है ऐसा जानना चाहिए ॥२२९॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त कहे गये प्रकार से जीव विभागो के विविध प्रकार मैंने संक्षेप में कहे हैं। इन कहे गये लक्षण से विपरीत लक्षणवाले द्रव्य को अजीवद्रव्य जानना चाहिए।

अजीव के भेदो का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—अजीव भी रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। रूपी के स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु ये चार भेद हैं ॥२३०॥

---

१ क विण्णेया।

अज्जीवा विय—अजीवाश्चाजीवपदार्थाश्च । **दुविहा**—द्विप्रकारा । **रूवा**—रूपिणो रूपरसगन्ध-स्पर्शवन्तो यतो रूपाविनाभाविनो रसादयस्ततो रूपग्रहणेन रसादीनामपि ग्रहणं । **अरूवा य**—अरूपिणश्च रूपादिविर्वजिताः । **रूविणो**—रूपिणः पुद्गलाः । **चदुधा**—चतुःप्रकाराः । के ते चत्वारः प्रकारा इत्यत आह—**खंधा य**—स्कन्धः । **खंधदेसो**—स्कन्धदेश । **खंधपदेसो**—स्कन्धप्रदेश । **अणूयतहा**—अणुरपि तथा परमाणु । रूप्यरूपिभेदेनाजीवपदार्था द्विप्रकारा., रूपिण पुन स्कन्धादिभेदेन चतु.प्रकारा इति ॥२३०॥

स्कन्धादिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥२३१॥

खंधं—स्कन्ध. । **सयल**—सह कलाभिर्वर्तते इति सकलं सभेदं परमाण्वन्त । **समत्थं**—समस्त सर्वं पुद्गलद्रव्य । सभेदं स्कन्धः सामान्यविशेषात्मक पुद्गलद्रव्यमित्यर्थ । अतो न सकलसमस्तयोः पौनरुक्त्यं । **तस्स दु**—तस्य तु स्कन्धस्य । **अद्धं**—अर्ध सकल । **भणंति**—वदन्ति । **देसोत्ति**—देश इति तस्य समस्तस्य

आचारवृत्ति—अजीव पदार्थ रूपी और अरूपी के भेद से दो प्रकार का है। रूपी शब्द से रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चारों गुणवाले को लिया जाता है क्योंकि रस, गंध और स्पर्श ये रूप के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाले हैं। इसलिए रूप के ग्रहण करने से रस आदि का भी ग्रहण हो जाता है। जो रूपादि से वर्जित है वे अरूपी कहलाते हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है। उसके चार भेद है—स्कंध, स्कधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु।

तात्पर्य यह हुआ कि रूपी और अरूपी के भेद से अजीव पदार्थ दो प्रकार का है। पुनः रूपी पुद्गल के स्कध आदि के भेद से चार प्रकार होते है।

अब स्कंध आदि का स्वरूप प्रतिपादित करते है—

गाथार्थ—भेद सहित सम्पूर्ण पुद्गल स्कध है, उसके आधे को देश कहते है। उस आधे के आधे को प्रदेश और अविभागी हिस्से को परमाणु कहते है ॥२३१॥

आचारवृत्ति—जो कलाओं के साथ—अपने अवयवों के साथ रहता है वह सकल है अर्थात् परमाणु पर्यंत भेदो से रहित सभी पुद्गल सकल हैं। 'समत्थ' पद का अर्थ समस्त है अर्थात् सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य समस्त है। भेद सहित स्कधरूप, सामान्य विशेषात्मक पुद्गल द्रव्य को यहाँ 'सकलसमस्त' पद से कहा गया है। इसलिए सकल और समस्त इन दोनों में पुनरुक्ति दोष नहीं है अर्थात् सकल और समस्त का अर्थ यदि एक ही सम्पूर्णतावाचक लिया जाय तो पुनरुक्ति दोष आ सकता है किन्तु यहाँ पर तो सकल का अर्थ कलाओं से रहित—परमाणु से लेकर महास्कध पर्यंत ग्रहण किया गया है और समस्त का अर्थ सामान्य विशेष धर्म सहित सर्वपुद्गल द्रव्य विवक्षित किया गया है। इस स्कंध के आधे को स्कधदेश कहते हैं। अर्थात् उस समस्त पुद्गल द्रव्य के आधे को जिनेंद्र देव ने 'देश' शब्द से कहा है। उस आधे के आधे को अर्थात् समस्त पुद्गल द्रव्य के आधे को आधा करना, पुनः उस आधे का आधा करना, इसप्रकार जब तक द्व्य द्वयणुक स्कध न हो जावे तब तक आधा आधा करते जाना, ये १.४। १.८

पुद्गलद्रव्यार्धं देश इति वदन्ति जिना । अद्धद्ध च—अर्धस्यार्धस्यार्धमर्धार्धं तत्समस्तपुद्गलद्रव्यार्धं तावदर्धेनार्धेन कर्तव्यं यावद् द्व्यणुकस्कन्ध ते सर्वे भेदा प्रदेशवाच्या भवन्ति । परमाणूचेव—परमाणुश्च । अविभागी—निरंशो यस्य विभागो नास्ति तत्परमाणुद्रव्यम् ॥२३१॥

अरूपिद्रव्यभेदनिरूपणार्थमाह—

ते पुण धम्माधम्मागासा य अरूविणो य तह कालो ।
खंधा देस पदेसा अणुत्ति विय पोग्गला रूवी ॥२३२॥*

प्रदेश शब्द से कहे जाते है । और निरंश भाग—जिसका दूसरा विभाग अब नही हो सकता है उस अविभागी पुद्गल को परमाणु कहते हैं ।

अरूपी द्रव्य के भेदो का निरूपण करते है—

गाथार्थ—पुन वे धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल अरूपी है तथा स्कध, स्कधदेश, स्कधप्रदेश और अणु इन भेद सहित पुद्गल द्रव्य रूपी हैं ॥२३२॥

---

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार मे दो गाथाएँ किंचित् बदली हुई हैं और एक अधिक है ।

खधा देसपदेसा जाव अणुत्तीवि पोग्गलारूवी ।
वण्णादिमंत जीवेण होंति बधा जहाजोग्गं ॥४१॥

अर्थ—स्कन्ध, स्कन्धदेश स्कन्धप्रदेश आदि अणु तक होनेवाले जो जो विभाग हैं वे सब पुद्गल हैं । वे सब रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों से युक्त होने से रूपी हैं । और जीव के साथ यथायोग्य कर्म-नोकर्म रूप होकर बद्ध होते हैं ।

पुढवी जल च छाया चउरिंदिय विसय कम्मपरमाणू ।
छव्विहभेय भणिय पुग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥४२॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य को जिनेन्द्र देव ने छह प्रकार का बतलाया है । जैसे पृथिवी, जल, छाया, नेत्रेंद्रिय को छोडकर शेष चार इन्द्रियो का विषय, कर्म और परमाणु ।

बादरबादर बादर बादरसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुम सुहुमसुहुम धरादियं होदि छब्भेयं ॥४३॥

अर्थ—जिसका छेदन-भेदन और अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्ध को बादरबादर कहते हैं । जैसे पृथिवी, काष्ठ, पाषाणादि । जिसका छेदन भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र ले जाया जा सके वह स्कन्धबादर है जैसे जल, तैल आदि । जिसका छेदन भेदन और अन्यत्र प्रापण भी न हो सके ऐसे नेत्र से दिखने योग्य स्कन्ध को बादरसूक्ष्म कहते हैं जैसे छाया, आतप, चाँदनी आदि । नेत्र को छोडकर शेषचार इन्द्रियो के विषयभूत पुद्गल स्कन्ध को सूक्ष्मस्थूल कहते हैं जैसे शब्द, रस, गंध आदि । जिसका किसी इन्द्रिय से ग्रहण न हो सके उस पुद्गलस्कन्ध को सूक्ष्म कहते हैं जैसे कर्मवर्गणाएँ । जो स्कन्धरूप नहीं हैं ऐसे अविभागी परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं ।

विशेषार्थ—अन्त की ये दो गाथायें गोम्मटसार जीवकांड में भी हैं जोकि पुद्गलद्रव्य के छह भेद

ते पुणु—तच्छब्द. पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी ते पुनररूपिणोऽजीवाः। धम्माधम्मागासा य—धर्माधर्माकाशानि। किलक्षणानि अरूविणीय—अरूपीणि रूपरसगन्धस्पर्शरहितानि। तह कालो—तथा कालश्चारूपी लोकमात्र सप्तरज्जूना घनीकृताना यावन्त प्रदेशास्तावत्परिमाणानि, अलोकाकाशं पुनरनन्तं। स्कन्धादयः के ते आह—स्कन्धदेश प्रदेशा अणुरिति च पुद्गला पूरणगलनसमर्थाः। रूवी—रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शवन्तोऽनन्तपरिमाणा। ननु काल किमिति कृत्वा पृथग्व्याख्यातश्चेत् नैष दोष., धर्माधर्माकाशान्यस्तिकायरूपाणि काल. पुनरनस्तिकायरूप एकैकप्रदेशरूप, निचयाभावप्रतिपादनार्थ पृथग्व्याख्यात इति। रूपिण. पुद्गला इति ज्ञापनार्थं पुतः स्कंधादिग्रहणमतो न पौनरुक्त्य। धर्मादीना च स्कन्धादिभेदप्रतिपादनार्थं च पुनर्ग्रहणम् ॥२३२॥

आचारवृत्ति—'तत्' शब्द पूर्व प्रकरण का परामर्श करनेवाला है। वे पुन. अरूपी अजीव द्रव्य हे। अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश ये अजीव द्रव्य रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होने से अरूपी हे। उसी प्रकार से काल द्रव्य भी अरूपी है। यह लोकमात्रप्रमाण है अर्थात् घनरूप सात राजू (७×७×७=३४३) के जितने प्रदेश हैं यह काल द्रव्य उतने प्रमाण है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, इनके प्रदेश लोकाकाश प्रमाण हैं। अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है।

जो स्कंधादि हैं वे क्या हैं?

स्कंध, देश, प्रदेश और अणु ये सब पुद्गल द्रव्य हे। यह पूरण और गलन मे समर्थ है अर्थात् पूरण गलन स्वभाववाला है। यह पुद्गलद्रव्य रूप, रस, गध और स्पर्श वाला है अनन्तपरिमाण है।

करके परमाणु तक भेद कर देती हैं। किन्तु कुन्द कुन्द देव ने नियमसार मे स्कन्ध के छह भेद किये हैं और परमाणु के भेद अलग किये हैं। उसमे सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद के उदाहरण मे कर्म के अयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ ली गई हैं।

यथा—

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुम अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥२४॥

अर्थ—अतिस्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म ऐसे पृथिवी आदि स्कन्धों के छह भेद है। भूमि, पर्वत आदि अतिस्थूल स्कन्ध कहे गये है। घी, जल, तेल आदि स्थूल स्कन्ध हैं। छाया, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कन्ध हैं। चार इन्द्रिय के विषय भूत स्कन्ध सूक्ष्मस्थूल हैं। कर्मवर्गणा योग्य स्कन्ध सूक्ष्म हैं। उनसे विपरीत अर्थात् कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कन्ध अतिसूक्ष्म कहे गये हैं।

पंचास्तिकाय में भी स्कन्धों के ही छह भेद और ये ही उदाहरण हैं।

ननु यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थं सत् तदेषां धर्मादीनां किं कार्यं? केषामेतानि कारणान्यत आह—

गदिठाणोग्गाहणकारणाणि कमसो दु वत्तणगुणो य।
रूवरसगंधफासदि कारणा[1] कम्मबंधस्स ॥२३३॥

गदि—गतिर्गमनक्रिया। **ठाणं**—स्थान स्थितिक्रिया। **ओगाहण**—अवगाहनमवकाशदानमेषां। **कारणाणि**—निमित्तानि। **कमसो**—क्रमश यथाक्रमेण। **वत्तणगुणो य**—वर्तनागुणश्च परिणामकारणं। गतेः कारणं धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलानां। तथा तेषामेव स्थितेः कारणमधर्मद्रव्यं। अवकाशदाननिमित्तमाकाशद्रव्यं पंचद्रव्याणां। तथा तेषामपि वर्तनालक्षण कालद्रव्य स्वस्य च परमार्थकालग्रहणात्। धर्माधर्माकाशकाल-द्रव्याणि स्वपरिणामनिमित्तानि परेषां गत्यादीनां निमित्तान्यपि भवन्ति, अनेककार्यकारित्वाद् द्रव्याणां तस्मान्न विरोधी यथा मत्स्यः स्वगते. कारण, जलमपि च कारण तद्गतेः, स्वगतेः कारणं पुरुषः सुख· पन्थाश्च। तथा

प्रश्न—आपने काल का अलग से व्याख्यान क्यों किया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अरूपी द्रव्य अस्तिकाय रूप है और काल अस्तिकाय रूप नही है क्योंकि वह एक-एक प्रदेश रूप ही है उसमें निचय—प्रदेशो के अभाव को बतलाने के लिए ही उसको पृथक्रूप से कहा है।

यहाँ इस गाथा मे जो रूपी है वे पुद्गल हैं ऐसा बतलाने के लिये पुनः स्कध आदि को लिया है इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं आता है। धर्म आदि का प्रतिपादन करके पुद्गल के स्कंध आदि के भेद बतलाने के लिए यहाँ उनका पुनः ग्रहण किया गया है।

जो अर्थक्रियाकारी होता है वही परमार्थ सत् है। इसलिए इन धर्म आदि का क्या कार्य है ? और किनके लिए ये कारण हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—क्रम से अरूपी द्रव्य गमन करने, ठहरने, और अवकाश देने मे कारण है तथा काल वर्तना गुणवाले हैं। रूप, रस, गध और स्पर्शवाला (पुद्गल) द्रव्य कर्मबन्ध का कारण है ॥२३३॥

आचारवृत्ति—जाने की क्रिया का नाम गति है, ठहरने की क्रिया का नाम स्थान है, अवकाश देने का नाम अवगाहन है। परिणमन का कारण वर्तनागुण है। क्रम से चार अरूपी द्रव्य इन गति आदि मे कारण हैं। अर्थात् जीव और पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य कारण है। इन्ही जीव और पुद्गलो के ठहरने मे अधर्मद्रव्य कारण है। पाच द्रव्यो को अवकाश देने में निमित्त आकाश द्रव्य है, तथा इन पाँच द्रव्यों मे परिणमन के लिए कारणभूत वर्तनालक्षण वाला कालद्रव्य है और वह अपने में भी परिणमन का कारण है क्योंकि यहाँ परमार्थ काल को लिया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल मे चारो द्रव्य अपने परिणाम में निमित्त है और पर-द्रव्यों की गति स्थिति आदि में भी निमित्त होते है, क्योकि सभी द्रव्य अनेक कार्य को करने वाले होते है इसलिए कोई विरोध नहीं आता है। जैसे मछली अपने गमन मे कारण है और जल भी उसकी गति मे कारण है। पुरुष अपनी गति में कारण है और सुखकारी मार्ग भी उसके गमन मे कारण

---

१ क कारणाणि।

स्वस्थितेः कारणं पुरुषः, छायादिकं च कारणं। अथ रूपादयः कस्य कारणमिति चेत्, रूपरसगन्धस्पर्शादयः जीवस्वरूपान्यथानिमित्तकर्मबन्धस्योपादानहेतवः रूपादिवन्तः पुद्गलाः। कथं पुद्गला इति लभ्यन्ते, तेनाभेदोपचारात् तात्स्थ्याद्वा बन्धः पुद्गलरूपो भवतीत्यर्थः ॥२३३॥

कर्मबन्धो द्विधा पुण्यपापभेदादतस्तत्स्वरूपं तन्निमित्तं च प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ॥२३४॥

सम्यक्त्वेन, श्रुतेन, विरत्या पंचमहाव्रतपरिणत्या, तथा कषायनिग्रहगुणैरुत्तमक्षमामार्दवार्जवसन्तोषगुणैः चशब्दादिन्द्रियनिरोधैश्च। **जो परिणदो**—यः परिणतो जीवस्तस्य यत्कर्मसंश्लिष्टं तत्पुण्यमित्युच्यते, अथवा सम्यक्त्वादिगुणपरिणतो जीवोऽपि पुण्यमित्युच्यते अभेदात्। **तव्विवरीदेण**—तद्विपरीतेन मिथ्यात्वाज्ञानासंयमकषायगुणैर्यः परिणतः पुद्गलनिचयस्तत्पापमेव। शुभप्रकृतयः पुण्यमशुभप्रकृतयः पापमिति पुण्यपापास्रवको जीवो वानेन व्याख्यातो ॥२३४॥

है। उसी प्रकार से पुरुष अपने ठहरने में कारण है तथा छायादिक भी उसके ठहरने में कारण है।

ये रूपादि किसके कारण है?

ये रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि कर्मबन्ध के लिए कारण हैं, क्योंकि जीव के स्वरूप से अन्यथाभूत जो रागादि परिणाम है उनके निमित्त से जो कर्मबन्ध होता है, उस कर्मबन्ध के लिए उपादानकारण रूपादिमान् पुद्गल द्रव्य वर्गणाएँ हैं।

यहाँ गाथा मे पुद्गल शब्द नहीं है पुन. आपने पुद्गल को कैसे लिया?

रूपादि से अभिन्न उपचार से पुद्गल द्रव्य आ जाता है अथवा ये रूपादि उस पुद्गल में ही स्थित है इसलिए कर्मबन्ध पुद्गल रूप होता है ऐसा समझना।

कर्मबन्ध पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार का है, इसलिये उसका स्वरूप और उसके कारणो को बतलाते हुए कहते है—

गाथार्थ—सम्यक्त्व से, श्रुतज्ञान से, विरतिपरिणाम से और कषायो के निग्रहरूप गुणो से जो परिणत है वह पुण्य है और उससे विपरीत पाप है ॥२३४॥

आचारवृत्ति—सम्यक्त्व से, श्रुतज्ञान से, पाँच महाव्रतो के परिणतिरूप चारित्र से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों को निग्रह करनेवाले उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव तथा संतोष रूप गुणो से, एवं च शब्द से समझना कि इन्द्रियो के निरोध से जो जीव परिणत हो रहा है उसके जो कर्मों का संश्लेष होता है वह पुण्य कहलाता है। अथवा सम्यक्त्व आदि गुणों से परिणत हुआ जीव भी पुण्य कहलाता है क्योकि जीव से उन गुणो मे अभेद पाया जाता है। अथवा सम्यक्त्व आदि कारणों से जो कर्मबन्ध होता है वह पुण्य कहा जाता है। और उससे विपरीत अर्थात् मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम तथा कषायरूप गुणो से जो परिणत हुआ पुद्गल-समूह है वह पाप ही है। शुभ प्रकृतियाँ पुण्य हैं और अशुभ प्रकृतियाँ पाप है। अथवा पुण्यास्रव और पापास्रव को करने वाला जीव है ऐसा इस पुण्य और पाप पदार्थ का व्याख्यान किया गया है।

इत ऊर्ध्वं पुण्यपापास्रवकारणमाह—

पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो।
विवरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणाहि ॥२३५॥

पुण्यस्य सुखनिमित्तपुद्गलस्कन्धस्यास्रवभूता आस्रवत्यागच्छत्यनेनेत्यास्रव· आस्रवणमात्र वास्रव· आस्रवभूता द्वारभूता कारणरूपा अनुकम्पा कृपा दया शुद्धोपयोगश्च शुद्धमनोवाक्कायक्रिया इत्यर्थ. शुद्धज्ञानदर्शनोपयोगश्चाभ्यामनुकम्पा शुद्धोपयोगाभ्यां। **विवरीदं**—विपरीतोऽननुकम्पाऽशुद्धमनोवाक्काय-क्रिया मिथ्याज्ञानदर्शनोपयोग। पावस्स दु—पापस्यैव। **आसव**—आस्रव आगमहेतुस्तमास्रवहेतुं। **वियाणाहि**—विजानीहि बुध्यस्व। पूर्वगाथार्थेनास्य गाथार्थस्य नैकार्थं बन्धास्रवोपकारेण प्रतिपादनात्। पूर्वैः कारणै· पुण्यबन्ध पापबन्धश्च व्याख्यात, आभ्यां पुन कारणाभ्यां शुभकर्मागमोऽशुभास्रवोऽशुभकर्मागमो व्याख्यात·। पुण्यस्यागमनहेतू अनुकम्पाशुद्धोपयोगौ जानीहि, पापागमस्य तु विपरीतावननुकपाऽशुद्धोपयोगौ हेतू विजानीहीति ॥२३५॥

भावार्थ—पुण्य और पाप पदार्थ के जीव और अजीव की अपेक्षा दो-दो भेद हो जाते हैं। सम्यक्त्व आदि परिणामों से युक्त जीव पुण्यजीव है और मिथ्यात्व आदि परिणत जीव पाप जीव है। उसीप्रकार से सातावेदनीय आदि प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ये पौद्गलिक हैं और असाता आदि प्रकृतियाँ पापरूप हैं ये भी पुद्गलरूप हैं।

इसके अनन्तर पुण्यास्रव और पापास्रव के कारणों को बताते हैं—

गाथार्थ—दयाभावना और शुद्ध उपयोग ये पुण्यास्रव के कारण हैं और इससे विपरीत कार्य पाप के आस्रव में कारण हैं ऐसा तुम जानो ॥२३५॥

आचारवृत्ति—सुख के लिए निमित्तभूत पुद्गल स्कन्ध जिसके द्वारा आते हैं वह पुण्य का आस्रव है अथवा सुख निमित्त रूप कर्मों का आना मात्र ही पुण्य का आस्रव है। ऐसे आस्रवभूत कर्मों के आने के लिए द्वारस्वरूप या कारणस्वरूप को बताते हैं। अनुकम्पा—दया, शुद्ध, उपयोग —शुद्ध मनवचनकाय की क्रिया को शुद्धोपयोग कहते हैं। अर्थात् शुद्धज्ञानोपयोग, शुद्धदर्शनोप-योग और अनुकम्पा इनके द्वारा पुण्य का आस्रव होता है। इनसे विपरीत अर्थात् दया न करना, तथा अशुद्ध मनवचनकाय की क्रिया अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानोपयोग रूप से परिणत होना—ये पाप के आस्रव के लिए कारण हैं ऐसा जानो।

पूर्व गाथा के अर्थ से इस गाथा का अर्थ एक नहीं है क्योंकि वहाँ बन्ध को आस्रव के उपकार द्वारा कहा गया है। अर्थात् पूर्व गाथा कथित सम्यक्त्व आदि कारणों से पुण्यबंध और मिथ्यात्वादि कारणों से पाप बंध होता है ऐसा कहा गया है। इस गाथा से अनुकंपा और शुद्ध उपयोग द्वारा शुभ कर्मों के आगमनरूप शुभास्रव और अदया आदि से अशुभकर्मों के आगमन-रूप अशुभास्रव होता है ऐसा कहा गया है। इस गाथा का तात्पर्य यही है कि पुण्य कर्म के आने में हेतु अनुकंपा और शुद्धोपयोग हेतु हैं ऐसा समझो। यहाँ मन-वचन-काय की निर्मल प्रवृत्ति को ही शुद्ध उपयोग शब्द से कहा है।

ननु जीवप्रदेशानाममूर्तानां कथं कर्मपुद्गलैर्मूर्तैः सह सम्बन्धोऽत आह—

णेहोउप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे ।
तह रागदोससिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ।।२३६।।

स्नेहो घृतादिक तेनार्द्रीकृतस्य गात्रस्य शरीरस्य रेणव. पांसवो लगन्ति संश्रयति यथा तथा रागद्वेष-स्नेहार्द्रस्य जीवस्यागे शरीरे कर्मपुद्गला ज्ञातव्यास्तैजसकार्मणयो शरीरयो सतोरित्यर्थः। राग. स्नेह., कामादिपूर्विका रति., द्वेषोऽप्रीति. क्रोधादिपूर्विकाऽरतिरिति ।।२३६।।

तद्विपरीतेन पापस्यास्रव इत्युक्त तन्मुख्यरूपेण किमित्यत आह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
अरिहतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ।।२३७।।

मिथ्यात्वमविरमण कषाया योगश्चैते आस्रवा भवन्ति। अथ मिथ्यात्वस्य किं लक्षणमित्यत आह—अर्हदुक्तार्थेषु सर्वज्ञभाषितपदार्थेषु विमोह सशयविपर्ययानध्यवसायरूपो मिथ्यात्वमिति भवति ।।२३७।।

अविरमणादीन्प्रतिपादयन्नाह—

अमूर्तिक जीव प्रदेशो का मूर्तिक कर्म-पुद्गलो के साथ सबध कैसे होता है ? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—

गाथार्थ—जैसे तेल को मर्दन करने से मर्दन करने वाले के शरीर मे धूलि चिपक जाती है उसी प्रकार से रागद्वेष और स्नेह से लिप्त हुए जीव के कर्म चिपकते हैं ऐसा जानना चाहिए ।।२३६।।

आचारवृत्ति—घृत, तैल आदि को स्नेह कहते हैं। उससे आर्द्र—गीला या चिकना है शरीर जिसका ऐसे मनुष्य के शरीर में जैसे धूलि चिपक जाती है उसी प्रकार से राग द्वेष और स्नेह से लिप्त हुए जीव के अंग मे कर्म पुद्गल चिपक जाते है। अर्थात् जीव के तैजस और कार्मण शरीर से कार्मण वर्गणाएँ सम्बन्धित हो जाती है। राग और स्नेह शब्द से काम पूर्वक रति को लेते हैं और द्वेष—अप्रीति अर्थात् क्रोधादि पूर्वक अरति को द्वेष कहते हैं।

जो आपने कहा है कि अनुकपा आदि के विपरीत कारणों से पाप का आस्रव होता है वे मुख्य रूप से कौन कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव कहलाते हैं। अर्हंत देव के कथित पदार्थों मे विमोह होना मिथ्यात्व है ।।२३७।।

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व का क्या लक्षण है ? सो बताते है। सर्वज्ञ के द्वारा भाषित पदार्थों में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप परिणाम का नाम मिथ्यात्व है।

अब अविरति आदि का लक्षण बतलाते हैं—

अविरमणं हिंसादी पंचवि दोसा हवंति णादव्वा ।
[1]कोधादी य कसाया जोगो जीवस्स चेट्ठा दु ॥२३८॥

हिंसादय पचापि दोषा हिंसासत्यस्तयाब्रह्मपरिग्रहा अविरमण ज्ञातव्य भवति। क्रोधमानमाया-लोभा कषाया । जीवस्य चेष्टा तु योग ॥२३८॥

सवरपदार्थस्य व्याख्यानायाह—

मिच्छत्तासवदारं रु भइ सम्मत्तदढकवाडेण ।
हिंसादिदुवाराणिवि दढवदफलिहेहिं रुब्भंति ॥२३९॥

मिथ्यात्वमेवास्रवद्वार मिथ्यात्वास्रवद्वार। **रुब्भन्ति**—रुन्धन्ति निवारयन्ति । **सम्मत्तदढकवाडेण**—सम्यक्त्वमेव दृढकपाट तेन सम्यक्त्वदृढकपाटेन तत्त्वार्थश्रद्धानविधानेन हिंसादीनि द्वाराणि दृढव्रतफलकै रुन्धन्ति प्रच्छादयन्तीति ॥२३९॥

आसवदि जतु कम्मं कोधादीहिं तु अयदजीवाणं ।
तप्पडिवक्खेहिं विदु रुभंति तमप्पमत्ता दु ॥२४०॥

क्रोधादिभिर्यत्कर्मास्रवत्युपढौकतेऽयत्नपरजीवाना तत्प्रतिपक्षैस्तत्प्रतिकूलै क्षमादिभिरप्रमत्ता

गाथार्थ—हिसादि पाच पाप ही अविरति होते है ऐसा जानना चाहिए। क्रोधादि कषाय है और जीव की चेष्टा का नाम योग है ॥२३८॥

आचारवृत्ति—हिसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच दोष ही अविरति नाम से जाने जाते है। क्रोध मान माया लोभ ये कषाये है तथा जीव की चेष्टा—प्रवृत्ति (आत्म प्रदेशो का परिस्पदन) का नाम योग है। अर्थात इन मिथ्यात्व आदि चार कारणो से कर्मो का आस्रव होता है इस प्रकार से आस्रव पदार्थ का व्याख्यान किया है।

अब सवर पदार्थ का व्याख्यान करते है—

गाथार्थ—मिथ्यात्व रूप आस्रव द्वार को सम्यक्त्वरूपी दृढ कपाट से रोकते हैं और हिंसा आदि अविरति रूप द्वारो को भी दृढ व्रतरूपी दरवाजो से रोक देते है ॥२३९॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व ही कर्मों के आने का द्वार है। सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्वार्थ श्रद्धान रूपी मजबूत कपाट के द्वारा मिथ्यात्व आस्रव को रोक देते है। हिंसा आदि आस्रव द्वारो को व्रतरूपी मजबूत फलको के दरवाजो के द्वारा ढक देते है।

गाथार्थ—अयत्नाचारी जीवो के क्रोधादि द्वारा जो कर्म आते हैं, अप्रमत्त विद्वान उनके प्रतिपक्षो के द्वारा उन्हे रोक देते है ॥२४०॥

आचारवृत्ति—अयत्नाचारी अर्थात् असयत जीव क्रोध आदि के द्वारा जो कर्मों का आस्रव करते है प्रमादरहित विद्वान साधु उनसे प्रतिकूल क्षमा आदि के द्वारा उन आते हुए आस्रव को रोक देते हैं। इस कथन से सवर करनेवाले जीव का व्याख्यान किया है। अर्थात्

---

१. कोहादी य द'

प्रमादरहिता विद्वांसो रुन्धन्ति प्रतिकूलयन्ति । अनेन संवारको जीवो व्याख्यात इति ॥२४०॥

आस्रवसंवरसमुच्चयप्रतिपादनायोत्तरगाथा संवरकारणाय वा—

मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जं च आसवदि ।
दंसणविरमणणिग्गहणिरोधणेहिं तु णासवदि ॥२४१॥

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्यत्कर्मास्रवति, दर्शनविरतिनिग्रहनिरोधनैस्तु नास्रवति । न च पूर्वगाथानां पौनरुक्त्यं बन्धास्रवसंवरभेदेन व्याख्यानाद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसंग्रहाद्वा ॥२४१॥

निर्जरार्थप्रतिपादनायोत्तरप्रबन्धः—

संयमजोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं ।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो ॥२४२॥

निर्जरकनिर्जरानिर्जरोपायास्तत्र निर्जरकः किंविशिष्ट इत्यत आह—संयमो द्विविधः इन्द्रियसंयमः प्राणसंयमश्च । जोगे—योगे यत्न शुभमनोवचनकायो ध्यानं वा । संयमयोगयुक्तो यस्तपसा तपसि वा चेष्टते प्रवर्ततेऽनेकविधे द्वादशविधे वा, द्वादशविधं तपो यः करोति यत्नपरः स कर्मनिर्जराया कर्मविनाशे वर्तते जीवः ।

पदार्थ का व्याख्यान किया गया समझना चाहिए ।

अब आस्रव और संवर को समुच्चय रूप से प्रतिपादित करने हेतु अथवा संवर के कारणों को कहने के लिए अगली गाथा कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनसे जो कर्म आते हैं वे सम्यग्दर्शन, विरतिपरिणाम, निग्रह और निरोध से नहीं आते हैं ॥२४१॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व से जो कर्म आता है वह सम्यग्दर्शन से नहीं आता है। अविरतिपरिणाम से जो कर्म आता है वह व्रतपरिणामों से नहीं आता है । कषायों से जो कर्म आते हैं वे कषायों के निग्रह से अर्थात् क्षमा आदि भावों से नहीं आते हैं और योग से जो कर्म आते हैं वे योग के निरोध से नहीं आते हैं । पूर्व गाथा में और इसमें एक बात होने से पुनरुक्ति दोष होता है ऐसा नहीं कहना, क्योंकि क्रम से बन्ध,आस्रव और संवर के भेद से व्याख्यान किया गया है । अथवा द्रव्यार्थिक नय से और पर्यायार्थिक नय से समझनेवाले शिष्यों के लिए ही ऐसा कथन किया गया है ।

अब निर्जरा पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—संयम के योग से युक्त जो जीव तपश्चर्या से अनेक प्रकार प्रवृत्ति करता है वह जीव विपुल कर्म-निर्जरा में प्रवृत्त होता है ॥२४२॥

आचारवृत्ति—निर्जरा करनेवाला, निर्जरा और निर्जरा के उपाय ये तीन जानने योग्य हैं । उसमें से निर्जरा करनेवाला आत्मा कैसा होता है ? सो ही बताते हैं । संयम दो प्रकार का है—इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम । प्रयत्न को, शुभ मन-वचन-काय को अथवा ध्यान को योग कहते हैं । जो मुनि द्विविध संयम से और शुभ योग से सहित हैं और अनेक प्रकार के अथवा बारह प्रकार के तपश्चरण में प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् जो प्रयत्न पूर्वक बारह प्रकार का तप करते हैं वे बहुत-सी कर्म निर्जरा को करते हैं । इस से निर्जरा के उपायों का कथन किया गया है ।

अनेन निर्जरोपायश्च व्याख्यातः। पूर्वसूत्रेष्वप्येव व्याख्येयं, बन्धको बन्धो बन्धोपाय। आस्रवक आस्रव आस्रवोपाय। सवरक सवर सवरोपाय। अनेन व्याख्यानेन पौनरुक्त्य च न भवतीति ॥२४२॥

दृष्टान्तद्वारेण जीवकर्मणो शुद्धिमाह—

जह धाऊ धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो।
तवसा तधा विसुज्झदि जीवो कम्मेहि कणयं व ॥२४३॥

यथा धातु पाषाण कनकोपलो धम्यमानस्तप्यमान शुद्धयते सोऽग्निना तु संतप्तो दग्ध. किट्टकालिकादिरहित सजायते, तथा तपसा विशुद्धते जीव कर्मभि कनकमिव। यथा धातु कनक अग्निसयोगेन शुद्ध भवति, तथा तपोयोगेन जीव शुद्धो भवति ॥२४३॥

किमर्थं सकारणा निर्जरा व्याख्याता बन्धादयश्च सहेतव. नित्यपक्षेऽनित्यपक्षे च किमर्थमिति। तत्सर्वं न घटते यत कुत ?

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागं कसायदो कुणदि।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥२४४॥

चतुर्विधो बन्ध प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन, कार्मणवर्गणागतपुद्गलाना ज्ञानावरणादिभावेन

अर्थात् सयमी साधु निर्जरक है। कर्मों का निर्जीर्ण होना निर्जरा है और तपश्चरण निर्जरा का उपाय है।

पूर्व सूत्रो मे भी इसी प्रकार से व्याख्यान कर लेना चाहिए। जैसे बन्ध पदार्थ के कथन मे बन्धक, बन्ध और बन्ध के उपाय इन तीनो को समझना चाहिए। आस्रव पदार्थ के कथन मे आस्रवक, आस्रव और आस्रव के उपाय, सवर पदार्थ के कथन मे सवरक, सवर और सवर के उपाय, ऐसा इन सभी को जानना चाहिए। इस कथन से पुनरुक्त दोष नही आता है।

अब दृष्टान्त के द्वारा जीव और कर्म की शुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—जैसे तपाया हुआ स्वर्ण-पाषाण अग्नि से सतप्त होकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार, स्वर्णपाषाण की भाँति ही, यह जीव तप के द्वारा कर्मों से शुद्ध हो जाता है ॥२४३॥

आचारवृत्ति—जैसे धातुपाषाण—स्वर्णपत्थर तपाया हुआ शुद्ध हो जाता है अर्थात् वह अग्नि से दग्ध हुआ कीट और कालिमा से रहित हो जाता है। उसी प्रकार से, स्वर्ण के समान ही, यह आत्मा तपश्चरण के द्वारा कर्मो से शुद्ध हो जाता है। अर्थात् जैसे सुवर्ण धातु अग्नि के संयोग से शुद्ध होती है वैसे ही जीव तप के योग से शुद्ध हो जाता है।

निर्जरा को सहेतुक और बन्ध आदि को भी सहेतुक क्यों बतलाया ? तथा नित्य पक्ष में और अनित्य पक्ष में ये सभी कार्य-कारण सम्बन्ध क्यों नही घटित होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते है—

गाथार्थ—यह जीव योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध करता है। कषायो के अपरिणत और उच्छिन्न हो जाने पर स्थितिबन्ध के कारण नहीं रहते ॥२४४॥

आचारवृत्ति—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा बन्ध के चार भेद हैं।

परिणाम· प्रकृतिबन्ध । तेपा कर्मस्वरूपपरिणातानामनन्तानन्ताना जीवप्रदेशैं सह सश्लेष प्रदेशबन्ध.। तेषां जीवप्रदेशानुश्लिप्टाना जीवस्वरूपान्यथाकरण[1]स्सोऽनुभागबन्ध । तेषामेव कर्मरूपेण परिणताना पुद्गलानां जीवप्रदेशैं सह यावत्कालमवस्थिति स स्थितिबन्ध । योगाज्जीवा प्रकृतिबन्ध च करोति । कषायेण स्थिति-बन्धमनुभागबन्ध च करोति अथवा योग प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध च करोति। कपाया. स्थितिबन्धमनुभागबन्ध च कुर्वन्ति । यतोऽतोऽपरिणतस्य नित्यस्य, उच्छिन्नस्य निरन्वयक्षणिकस्य च बन्धस्थिते कारण नास्ति । अथवा-ऽयमभिसम्बन्ध कर्तव्यो मिथ्यादृष्टयाद्युपशान्तानामेतद् व्याख्यान वेदितव्य । कुतो यतो योग प्रकृतिप्रदेशबन्धौ करोति कपायाश्च स्थित्यनुभागौ कुर्वन्ति, अतोऽपरिणतयोरयोगिसिद्धयो सयोग्ययोगिनोर्वोच्छिन्नस्य क्षीण-

---

कार्मण वर्गणा रूप से आये हुए पुद्गलो का ज्ञानावरण आदि भाव से परिणमन कर जाना प्रकृति-बन्ध है। उन्ही कर्मस्वरूप से परिणत अनन्तानन्त पुद्गलो का जीव के प्रदेशो के साथ संश्लेष सम्बन्ध (गाढ सम्बन्ध) हो जाना प्रदेशबन्ध है। उन्ही जीव के प्रदेशो मे सश्लिष्ट हुए पुद्गलों का जीव के स्वरूप को अन्यथा करना अर्थात् जीव के प्रदेश मे लगे हुए पुद्गल कर्म द्वारा जीव को सुख-दुःख रूप फल का अनुभव होना अनुभागबन्ध है। कर्म रूप से परिणत हुए उन्ही पुद्गलो का जीव के प्रदेशो के साथ जितने काल तक सम्बन्ध रहता है उसे स्थितिबन्ध कहते हैं।

यह जीव योग से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध करता है तथा कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध करता है। अथवा योग प्रकृति और प्रदेशबन्ध करता है और कषाये स्थिति तथा अनुभागबन्ध को करती है। जिस कारण से ऐसी बात है उसी कारण से अपरिणत—नित्य और उच्छिन्न—निरन्वय क्षणिक पक्ष मे अर्थात् आत्मा को सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक मान लेने पर बन्ध स्थिति के कारण नही बनते है।

अथवा ऐसा सम्बन्ध करना कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय नामक दशवे गुणस्थान पर्यन्त यह (बन्ध का) व्याख्यान समझना चाहिए, क्योकि योग प्रकृति और प्रदेश बन्ध करते है तथा कषाये स्थिति और अनुभाग बन्ध करती है इसलिए अपरिणत अर्थात् उपशान्त मोह और उच्छिन्न अर्थात् क्षीणमोह आदि गुणस्थानो मे स्थितिबन्ध के कारण नही है। उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान मे कषाय सत्ता मे तो रहती है परन्तु उदय मे न होने से अपरिणत रहती है और क्षीणमोह आदि गुणस्थानो मे कषाय की सत्ता उच्छिन्न हो जाती है। इस तरह मिथ्यादृष्टि से लेकर दशम गुणस्थान तक चारो बन्ध होते हैं और ११, १२ तथा १३ वें गुणस्थान मे मात्र प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते है। अयोग केवली गुणस्थान में योग और कषाय—दोनो का अभाव हो जाने से पूर्ण अबन्ध रहता है।

शंका—क्षीण कषाय और सयोग केवली के तो योग है। पुन· उनके योग का अभाव होने से बन्ध के कारण का न होना कैसे कहा?

समाधान—आपका कहना सत्य है, किन्तु वहाँ उनके वह योग अकिंचित्कर है अर्थात् कुछ कार्य करने मे समर्थ नही है अतएव उसका अभाव ही कह दिया है। अर्थात् दशवे गुणस्थान में मोहनीय कर्म निर्मूल नाश हो जाने से उसके निमित्त से होनेवाले स्थिति और अनुभागबन्ध

---

१. क 'णशीलस्सोऽ°।

कषायस्य च बन्धस्थितेः कारणं नास्ति । ननु क्षीणकषायसयोगिनोर्योगोऽस्ति, सत्यमस्ति, किंतु तस्याकिंचित्करत्वादभाव एवेति ॥२४४॥

निर्जराभेदार्थमाह—

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजादा य ॥२४५॥

अथ का निर्जरा ? पूर्वकृतकर्मसटन गलन निर्जरेत्युच्यते सा पुनर्निर्जरा द्विविधा द्विप्रकारा भवेत् । प्रथमा विपाकजातोदयस्वरूपेण कर्मानुभवन । द्वितीया निर्जरा भवेदविपाकजातानुभवमन्तरेणैकहेलया कारणवशात् कर्मविनाश ॥२४५॥

विपाकजाताविपाकजातयोर्निर्जरयोर्दृष्टान्तद्वारेण स्वरूपमाह—

कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि ।
तध कालेण [1]उवाएण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥२४६॥

यथा कालेन क्रमपरिणामेनोपायेन च यवगोधूमादेर्वनस्पते फलानि पच्यन्ते तथा कालेनोदयागत-

---

नही होते है । पुन सयोगकेवली तक यद्यपि योग से प्रकृति-प्रदेशबन्ध हो रहा है जो कि एक समय मात्र का है उसकी यहाँ पर विवक्षा नही करने से ही योग का अभाव कहकर बन्ध के कारण का अभाव कह दिया है, क्योकि वहाँ का योग और उसके निमित्त से हुए प्रकृति प्रदेशबन्ध अकिंचित्कर होने से अभाव रूप ही है ।

अब निर्जरा के भेदो को कहते है—

गाथार्थ—पूर्वकृत कर्मो का झडना निर्जरा है । उसके पुन दो भेद है । विपाक से होनेवाली पहली है और अविपाक से होने वाली दूसरी है ॥२४५॥

आचारवृत्ति—निर्जरा किसे कहते है ? पूर्व मे किये गये कर्मो का झड़ना-गलना निर्जरा है । इसके दो भेद होते है । उदयरूप से कर्मो के फल का अनुभव करना विपाकजा निर्जरा है और अनुभव के बिना ही लीलामात्र मे कारणों के निमित्त से—तपश्चरण आदि से जो कर्म झड़ जाते है वह अविपाकजा निर्जरा है ।

इन सविपाक और अविपाक निर्जरा को दृष्टात द्वारा कहते है—

गाथार्थ—जैसे वनस्पति और फल समय के साथ तथा उपाय—प्रयोग से पकते हैं उसी प्रकार सचित किये हुए कर्म समय पाकर तथा उपाय के द्वारा फल देते हैं ॥२४६॥

आचारवृत्ति—जैसे काल से—क्रम परिणाम से अर्थात् समय के अनुसार जौ, गेहूँ आदि वनस्पति तथा फल पकते है और उपाय से भी पकाये जाते है । उसी प्रकार से काल से उदय में आये हुए गोपुच्छरूप से तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणरूप उपाय के द्वारा पूर्वसचित कर्म पकते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते है, ध्वस्त हो जाते हैं ।

---

[1] 'तवेण य' इत्यपि पाठः ।

गोपुच्छैरुपायेन च सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोभि कृतानि कर्माणि पच्यन्ते विनश्यन्ति ध्वस्तीभवन्तीत्यर्थः ॥२४६॥

मोक्षपदार्थं निरूपयन्नाह—

रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसपण्णो ।
एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥२४७॥

अत्रापि मोचको मोक्षो मोक्षकारण च प्रतिपादयति बन्धस्य च बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य । रागी बध्नाति कर्माणि वीतराग पुनर्जीवो मुच्यते । एष जिनोपदेश आगम. समासतः सक्षेपात् कयोर्बन्धमोक्षयो । सक्षेपेणायमुपदेशो जिनस्य, रागी बध्नाति कर्माणि वैराग्य सप्राप्त पुनर्मुच्यते इति ॥२४८॥

अथ पदार्थान् सक्षेपयन् प्रकृतेन च योजयन्नाह--

णव य पदत्था एदे जिणदिट्ठा वण्णिदा मए तच्चा ।
एत्थ भवे जा सका दंसणघादी हवदि एसो ॥२४८॥

अथ का शका नाम, एते ये व्याख्याता नवपदार्था जिनोपदिष्टाः, अनेन किमुक्त भवति वस्तु

भावार्थ—योग्य काल मे जैसे आम, केला आदि पकते है तथा उन्हे पाल से असमय मे भी पका लिया जाता है। उसी प्रकार से जीव के द्वारा बाँधे गये कर्म समय पर उदय मे आकर फल देकर झड़ जाते हैं, यह विपाकजा निर्जरा है, और समय के पहले हो रत्नत्रय और तपश्चरणरूप प्रयोग के द्वारा उन्हे निर्जीर्ण कर दिया जाता है यह अविपाकजा निर्जरा है। इसके अनौपक्रमिक और औपक्रमिक ऐसे भी सार्थक नाम होते है ।

अब मोक्ष पदार्थ का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—रागी कर्मो को बाँधता है और विरागसपन्न जीव कर्मों से छूटता है । बन्ध और मोक्ष के विषय में सक्षेप से यही जिनेन्द्र देव का उपदेश है ॥२४७॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर भी मोचक, मोक्ष और मोक्ष के कारण इन तीनो का प्रतिपादन करते हैं । और बन्ध का भी व्याख्यान करते है क्योकि बन्धपूर्वक ही मोक्ष होता है । रागी जीव कर्मो को बाँधता रहता है जबकि वीतरागी जीव कर्मों से छूट जाता है । बन्ध और मोक्ष के कथन मे सक्षेप से यही जिनेन्द्र देव का उपदेश—आगम है । तात्पर्य यही है कि जिनेन्द्र देव का सक्षेप मे यही उपदेश है कि राग सहित जीव ही कर्मों का बन्ध करता है तथा वैराग्य से सहित हुआ जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

अब पदार्थों के कथन को सकुचित करते हुए अपने प्रकृत विषय नि शकित अग को कहते है—

गाथार्थ—जिनेन्द्र देव द्वारा कथित जो ये नव पदार्थ है मैंने उनका वास्तविक वर्णन किया है । उसमे जो शका हो तो यह दर्शन का घात करनेवाली हो जाती है ॥२४८॥

आचारवृत्ति—शका किसे कहते है ? जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित जो नव पदार्थ हैं

प्रामाण्याद्वचनस्य प्रामाण्य, वर्णिता व्याख्याता मया । तच्चा—तत्त्वभूताः, जिनमतानुसारेण मयानुवर्णिता इत्यर्थ । एत्थभवे—एतेषु पदार्थेषु भवेत् यस्य शका स जीवो दर्शनघात्येष मिथ्यादृष्टिः । अथवा शका सन्दिग्धाभिप्राया सैषा दर्शनघातिनी स्यात् ॥२४७॥

किमेते पदार्था नित्या आहोस्विदनित्या., किं सन्त आहोस्विदविद्यमाना , यथैते वर्णिता एतैरन्यैरपि बुद्धकणादाक्षपादादिभिश्च वर्णिता न ज्ञायन्ते के सत्या इति सशयो दर्शनविनाशहेतुरिति शका प्रतिपाद्याकाक्षां निरूपयन्नाह—

तिविहा य होइ कंखा इह परलोए तधा कुधम्मे य ।
तिविहं पि जो ण कुज्जा दंसणसुद्धीमुवगदो सो ॥२४६॥

उन्ही का यहाँ व्याख्यान किया गया है । इससे क्या समझना ? वक्ता की प्रमाणता से ही वचनों में प्रमाणता मानी जाती है । अर्थात् जिनोपदिष्ट कहने से यह अभिप्राय निकलता है कि अर्हन्त भगवान् वक्ता हैं, वे प्रमाण हैं अतएव उनके वचन भी प्रामाणिक हैं । अभिप्राय यही है कि जिन मत के अनुसार ही मैंने इन नव पदार्थों का वर्णन किया है, स्वरुचि से नहीं । इन पदार्थों मे जिस जीव को 'यह ऐसा है या नही' ऐसी शका हो जावे वह जीव सम्यग्दर्शन का घात करने वाला मिथ्यादृष्टि हो जाता है । अथवा सदिग्ध अभिप्राय को भी शका कहते है सो यह भी दर्शन का घात करनेवाला है ।

क्या ये पदार्थ नित्य हैं अथवा अनित्य ? क्या ये विद्यमान हैं या अविद्यमान ? जैसे ये नव पदार्थ यहाँ बताये गये है वैसे ही अन्य बुद्ध, कणाद ऋषि, आचार्य अक्षपाद आदि ने भी वर्णित किये है । पुन. समझ मे नही आता है कि कौन से सत्य है और कौन से असत्य है इस प्रकार का जो संशय है वह सम्यग्दर्शन के विनाश का कारण है ऐसा समझना । इस शका से रहित साधु नि.शकित शुद्धि को धारण करनेवाले होते है ।

शका का स्वरूप बताकर अब आकाक्षा का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—इह लोक मे, परलोक मे तथा कुधर्म में आकाक्षा होने से यह तीन प्रकार की होती है । जो तीन प्रकार की भी आकाक्षा नही करता है वह दर्शन की शुद्धि को प्राप्त हुआ है ॥२४६॥*

---

*निम्नलिखित गाथाएँ फलटन से प्रकाशित मे अधिक हैं—

अरहंतसिद्धसाहूसुदभत्ती धम्मम्हि जा हि खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं य गुरुणं पसत्थरागोत्ति उच्चदि सो ॥

अर्थात् अरिहत, सिद्ध, साधु और श्रुत इनमें भक्ति रखना, इनके गुणो मे प्रेम करना, धर्म में—व्रतादिको मे उत्साह रखना तथा गुरुओ का स्वागत करना, उनके पीछे-पीछे नम्र होकर चलना, अजलि जोड़ना इत्यादि कार्यों को प्रशस्त राग कहते है । [यह गाथा 'पञ्चास्तिकाय' मे है]

प्रशस्त राग पुण्यसंचय का प्रधान कारण है—

त्रिविधा भवति काक्षाभिलाष इह लोकविषया परलोकविषया तथा कुधर्मविषया च। इह लोके मम यदि गजतुरगद्रव्यपशुपुत्रकलत्रादिक भवति तदानी शोभनोऽय धर्म । परलोके चैतन्मम स्यात्, भोगा मे सन्तु लोकधर्मश्च शोभन सर्वपूज्यस्तमहमपि करोमीति काक्षा। ता त्रिप्रकारामपि यो न कुर्यात् स जीवो दर्शनशुद्धिमुपगत. । काक्षामन्तरेण यदि सर्वं लभ्यते किमिति कृत्वा काङ्क्षा क्रियते। निंद्यते च सर्वै: काङ्क्षावानिति ॥२४६॥

आचारवृत्ति—काक्षा अर्थात् अभिलाषा के तीन भेद है—इह लोक सम्बन्धी, परलोक सम्बन्धी और कुधर्म सम्बन्धी। यदि मुझे इस लोक मे हाथी, घोडे, द्रव्य, पशु, पुत्र, स्त्री आदि मिलते हैं तब तो यह धर्म सुन्दर है ऐसा सोचना इह लोक आकाक्षा है। परलोक में ये वस्तुएँ मुझे मिले, भोग प्राप्त होवे यह सोचना परलोक आकाक्षा है। लौकिक धर्म सुन्दर है, सर्वजनों

अरहतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसपुण्णो।
बज्झदि बहु सो पुण्ण ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥

अर्थात् अर्हत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन—परमागम, गण—चतुर्विध सघ और ज्ञान मे जो भक्ति सम्पन्न है वह बहुत से पुण्य का सचय करता है किन्तु वह कर्मक्षय नही करता है। अर्थात् सम्यक्त्व सहित प्रशस्त राग से परम्परया मुक्ति है साक्षात् नही है। [यह गाथा भी 'पचास्तिकाय' मे है]

अशुभोपयोग का स्वरूप—

विसयकसाओ गाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥

अर्थात् जो विषय और कषायो से आबद्ध है, जो कुशास्त्र के पठन या श्रवण मे लगे है, अशुभ परिणामवाले हैं, दुष्टो की गोष्ठी मे आनन्द मानते है, उग्र स्वभावी है और उन्मार्ग मे तत्पर हैं, उपर्युक्त प्रकार से जिनका उपयोग है वह अशुभ कहलाता है। [यह गाथा 'प्रवचनसार' मे है]

शुद्धोपयोग का लक्षण—

सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति॥

अर्थात् सम्यक्प्रकार से जीवादि पदार्थों को जानकर श्रद्धालु सयम और तप से सयुक्त वैराग्य सम्पन्न या वीतरागी और सुख-दु ख मे समभावी श्रमण शुद्धोपयोगी कहलाता है। [यह गाथा भी 'प्रवचनसार' मे है]

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप—

जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थमिदि भावदो गहणं।
सम्मद्दंसण भावो तं विवरीदं च मिच्छत्त॥

अर्थात् जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पदार्थों का जो स्वरूप है वह सत्य है ऐसा मानकर उसको परमार्थ से ग्रहण करना सम्यग्दर्शन है और उससे विपरीत ग्रहण करना मिथ्यादर्शन है।

इह लोकाकाङ्क्षां परलोकाकांक्षां च प्रतिपादयन्नाह—

बलदेवचक्कवट्टीसेट्ठीरायत्तणादिअहिलासो ।
इहपरलोगे देवत्तपत्थणा दंसणाभिघादी सो ॥२५०॥

बलदेवचक्रवर्तिश्रेष्ठयादीनां राज्याभिलाष इहलोके यो भवति सेहलोकाकाङ्क्षा । परलोके च स्वर्गादौ देवत्वप्रार्थना यस्य स्यात् दर्शनाभिघाती स । इहलोके षट्खण्डाधिपतित्वं, बलदेवत्वं, राजश्रेष्ठित्वं, परलोके इन्द्रत्वं, सामान्यदेवत्वं, महर्द्धिकत्वं, [1]स्वस्वरूपत्वमित्येवमादि प्रार्थयन् मिथ्यादृष्टिर्भवति, निदानशल्यत्वात्कांक्षयेति ॥२५०॥

कुधर्मकांक्षास्वरूपमाह—

रत्तवडचरगतावसपरि[2]हत्तादीणमण्णतित्थीणं ।
धम्मह्मि य अहिलासो कुधम्मकंखा हवदि एसा ॥२५१॥

रक्तपट-चरक-तापस-परिव्राजकादीनामन्यतीर्थिकानां धर्मविषये योऽभिलाषः कुधर्मकांक्षैषा

से पूज्य है इसको मैं भी धारण कर लूँ ऐसी आकांक्षा होना कुधर्माकाक्षा है। इन तीनों कांक्षाओ को जो नही करता है वह जीव दर्शनविशुद्धि प्राप्त कर लेता है।

क्योंकि यदि काक्षा के बिना भी सभी कुछ मिल सकता है तो क्यों कर कांक्षा करना। तथा काक्षावान् मनुष्य सभी के द्वारा निंदित भी होता है इसलिए कांक्षा नहीं करना चाहिए।

अब इह लोकाकांक्षा और परलोकाकांक्षा को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—जिसके इस लोक मे बलदेव, चक्रवर्ती, सेठ, राजा आदि होने की अभिलाषा होती है, और परलोक मे देवपने की चाहना होती है वह सम्यग्दर्शन का घाती है। ॥२५०॥

आचारवृत्ति—जो इस लोक मे बलदेव, चक्रवर्ती आदि के राज्य की अभिलाषा करता है, श्रेष्ठी पद चाहता है उसके वह इह-लोकाकाक्षा है। जिसके परलोक में—स्वर्ग आदि में देवपने की प्रार्थना होती वह परलोकाकांक्षा करता है। ये दोनो आकाक्षाएँ सम्यक्त्व का घात करती हैं। अर्थात् इस लोक में मुझे षट्खण्ड का साम्राज्य, बलदेव पद, राजश्रेष्ठी पद मिले और परलोक में मुझे इन्द्रपद, सामान्य देवपद या महान् ऋद्धिधारी देवपद तथा सुन्दर रूप मिले इत्यादि रूप से प्रार्थना करता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है; क्योंकि कांक्षा निदानशल्य रूप है ऐसा समझना।

अब कुधर्माकांक्षा का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—रक्त पट, चरक, तापसी और परिव्राजक आदि के तथा अन्य सम्प्रदायवालों के धर्म में जो अभिलाषा है वह कुधर्मांकांक्षा है ॥२५१॥

आचारवृत्ति—रक्तवस्त्रवाले साधुओं के चार भेद हैं—वैभाषिक, सौत्रांतिक,

---

१ क स्वरूप°। २ क परिभत्त°।

भवति। चत्वारो रक्तपटा वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकभेदात्। नैयायिकवैशेषिकदर्शने चरकशब्देनोच्येते कणचरादिर्वा। कन्दफलमूलाद्याहारा भस्मोद्गुण्ठनपरा जटाधारिणो विनयपरास्तापसा। सांख्यदर्शनस्था पञ्चविंशतितत्त्वज्ञा परिव्राजकशब्देनोच्यन्ते इत्येवमाद्यन्येष्वपि तैर्थिकमतेष्वभिलाष कुधर्मकांक्षेति। कथमेषां कुधर्मत्व चेत् पदार्थाना तदीयाना विचार्यमाणानामयोगात्सर्वथा नित्यक्षणिकोभयत्वात्। इन्द्रियसयमप्राणसंयमजीवविज्ञानपदार्थसर्वज्ञपुण्यपापादीना परस्परविरोधाच्चेति ॥२५१॥

योगाचार और माध्यमिक। अर्थात् बौद्धों के वैभाषिक आदि चार भेद होते हैं। उन्हीं सम्प्रदायों की अपेक्षा उनके साधुओ के भी चार भेद हो जाते हैं। चरक शब्द से नैयायिक और वैशेषिक दर्शन कहे गये है अत इन सम्प्रदायो के साधु भी चरक कहे जाते हैं। अथवा कणचर आदि भी चरक हैं अर्थात् खेत के कट जाने पर जो उञ्छवृत्ति से—वहाँ से धान्य बीनकर, लाकर उदर-पोषण करते है वे कणचर हैं। ऐसे साधु चरक कहलाते है। कन्दमूल फल आदि खानेवाले, भस्म से शरीर को लिप्त करनेवाले, जटा धारण करनेवाले और सभी की विनम्र करनेवाले तापसी कहलाते है।[1]

सांख्य सम्प्रदाय मे कहे गये पच्चीस तत्त्व को माननेवाले परिव्राजक कहलाते है। इसी प्रकार और भी जो अन्य सम्प्रदाय हैं उनके मतों की अभिलाषा होना कुधर्माकांक्षा है।

इनमें कुधर्मपना कैसे है ?

इन सभी के यहाँ के मान्य पदार्थो का विचार करने पर उनकी व्यवस्था नही बनती है, क्योंकि इनमे कोई पदार्थो को सर्वथा नित्य मानते हैं, कोई सर्वथा क्षणिक मानते है और कोई सर्वथा रूप से ही उभय रूप मानते है। इसलिए इनकी मान्यताएँ कुधर्म है। तथा इन सभी के यहाँ इन्द्रियसयम, प्राणीसयम, जीव का लक्षण, विज्ञान, पदार्थ, सर्वज्ञदेव, पुण्य तथा पाप आदि के विषय मे परस्पर विरोध देखा जाता है।

इस प्रकार से इन तीनों कांक्षाओं को नही करनेवाला जीव निष्कांक्षित अग की शुद्धि का पालन करनेवाला है।

विशेषार्थ—बौद्ध दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है 'सर्वं क्षणिक सत्त्वात्' सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि सत्‌रूप है। अर्थात् वे सभी अन्तरंग बहिरग पदार्थ को सर्वथा एक क्षण ठहरनेवाले मानते हैं। इनके चार भेद है—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रातिक और वैभाषिक। माध्यमिक बाह्य और अभ्यान्तर सभी वस्तुओ का अभाव कहते हैं अत ये शून्यवादी अथवा शून्याद्वैतवादी है। योगाचार बाह्य वस्तु का अभाव मानते है और मात्र एक विज्ञान तत्त्व ही स्वीकार करते हैं अत ये विज्ञानाद्वैतवादी है। सौत्रांतिक बाह्य वस्तु को मानकर उसे अनुमान ज्ञान का विषय कहते हे और वैभाषिक बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष मानते हे। अर्थात् ये दोनों अन्तरग बहिरग वस्तु को तो मानते हे किन्तु सभी को सर्वथा क्षणिक कहते हे।

बौद्ध के इन चार भेदों की अपेक्षा उनके साधुओ मे भी चार भेद हो जाते हे। ये साधु लाल वस्त्र पहनते हे।

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १६।

विचिकित्सास्वरूपमाह—

विदिगिंच्छा वि य दुविहा दव्वे भावे य होइ णायव्वा।
उच्चारादिसु दव्वे खुधादिए भावविदिगिंछा ॥२५२॥

विचिकित्सापि द्विप्रकारा द्रव्यभावभेदात् भवति ज्ञातव्या उच्चारप्रश्रवणादिषु मूत्रपुरीषादिदर्शने विचिकित्सा द्रव्यगता क्षुदादिषु क्षुत्तृष्णानग्नत्वादिषु भावविचिकित्सा व्याधितस्य वान्यस्य वा यतेर्मूत्राशुचिच्छर्दिश्लेष्मलालादिकं यदि दुर्गन्धिविरूपमिति कृत्वा घृणां करोति वैयावृत्त्यं न करोति स द्रव्यविचिकित्सायुक्त

नैयायिक सम्प्रदायवाले ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते है। इनके यहाँ सोलह तत्त्व माने गये हैं—प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान। इन्हे ये पदार्थ भी कहते है।

वैशेषिक भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता सिद्ध करते हैं। इन्होंने सात पदार्थ माने है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

इन पदार्थो के अतिरिक्त अन्य विषयो मे प्रायः नैयायिक और वैशेषिक की मान्यताएँ एक ही हैं।

"एक महर्षि कणाद नाम के हुए है इन्होने ही वैशेषिक दर्शन को जन्म दिया है। कहा जाता है कि ये इतने सतोषी थे कि खेतों से चुने हुए अन्न को लाकर ही अपना जीवन-यापन करते थे। इसलिए उपनाम कणाद या कणचर हो गया। इनका वास्तविक नाम उलूक था।"

तापसियो का लक्षण तो स्पष्ट ही है।

साख्य दर्शन मे पच्चीस तत्त्व माने गये है। इनके यहाँ मूल मे दो तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति से ही तो सारा ससार बनता है और पुरुष भोक्ता मात्र है, कर्ता नही है ॥२५१॥

अब विचिकित्सा का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव के विषय की अपेक्षा विचिकित्सा दो प्रकार की होती है ऐसा जानना। मल-मूत्र आदि द्रव्यो मे द्रव्य विचिकित्सा और क्षुधा आदि भावो मे भाव-विचिकित्सा होती है ॥२५२॥

आचारवृत्ति—विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि के द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं। मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओ को देखकर उनमे ग्लानि करना द्रव्यविचिकित्सा है और भूख, प्यास, नग्नत्व आदि मे ग्लानि करना भावविचिकित्सा है। अर्थात् व्याधि से पीडित अथवा अन्य मुनि के मूत्र, मल, वमन, कफ और थूकलार आदि के विषय मे ये दुर्गंधित हैं, खराब हैं ऐसा सोचकर घृणा करता है, उन मुनि की वैयावृत्ति नही करता है वह द्रव्य विचिकित्सा करनेवाला कहलाता है। जैन मत मे और तो सभी सुन्दर है, किन्तु जो भूख, प्यास

स्यात् । सर्वमेतच्छोभन न क्षुधातृष्णानग्नत्वेन केशोत्पाटनादिना च दुःख भवति एतद्विरूपकमित्येव भावविचिकित्सेति ॥२५२॥

द्रव्यविचिकित्साप्रपचनार्थमाह—

उच्चार पस्सवण खेलं सिंघाणयं च चम्मट्ठी ।
पूयं च मंससोणिदवतं जल्लादि साधूणं ॥२५३॥

उच्चार, प्रश्रवण, खेल—श्लेष्मा, सिहानकं, चर्म, अस्थिपूयं च क्लिन्नरुधिर, मांसं,[1] मलं, शोणितं, वान्त जल्ल सर्वांगीन मल, अगैकदेशाच्छादक, लालादिकं च साधूनामिति ॥२५३॥

भावविचिकित्सा प्रपचयन्नाह—

छुहतण्हा सीदुण्हा दंसमसयमचेलभावो य ।
अरदिरदिइत्थिचरियाणिसीधिया सेज्जअक्कोसो[2] ॥२५४॥
बधजायणं अलाहो रोग तणप्फास जल्लसक्कारो ।
तह चेव पण्णपरिसह अण्णाणमदंसण खमणं ॥२५५॥

छुह—क्षुत् चारित्रमोहनीयवीर्यान्तिरायापेक्षाऽसातावेदनीयोदयादशनाभिलाष । **तण्हा**—तृषा चारित्रमोहनीयवीर्यान्तरायापेक्षाऽसातावेदनीयोदयादुदकपानेच्छा । **सीद**—शीत तद्द्वयपेक्षाऽसातोदयात्प्रावरणे-

---

या नग्नता से तथा केशलोच आदि से दु.ख होता है वह बुरा है—ठीक नही है ऐसा सोचना भावविचिकित्सा है।

द्रव्य विचिकित्सा को प्रतिपादित करते हुए कहते है—

गाथार्थ—साधुओ के मल, मूत्र, कफ, नाक का मल, चर्म, हड्डी, पीव, मास, खून, वमन और पसीने तथा धूलि से युक्त मल को देखकर ग्लानि होना द्रव्य-विचिकित्सा है ॥२५३॥

आचारवृत्ति—मल, मूत्रादि का अर्थ सरल है। सर्वांगीण मल को जल्ल कहते है और शरीर के एक देश को प्रच्छादित करनेवाला मल कहलाता है। आदि शब्द से थूक, लार आदि को देखकर ग्लानि होना द्रव्यविचिकित्सा है।

भाव विचिकित्सा को कहते है—

गाथार्थ—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नता, अरतिरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, बध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इनकी परीषह को सहन नही करना भाव-विचिकित्सा है ॥२५४-२५५॥

आचारवृत्ति—१ चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय कर्म की अपेक्षा लेकर असाता वेदनीय का उदय होने से जो भोजन की अभिलाषा है वह क्षुधा है।

२. चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय की सहायता से तथा असातावेदनीय के उदय से जो जल पीने की इच्छा है वह तृषा है।

---

१ क मास शोणित रक्त जल्ले। २ क आकोसो।

च्छाकारणपुद्गलस्कंधः। **उण्हा**—उष्णं पूर्वोक्तप्रकारेण सन्निधानाच्छीताभिलाषकारणादित्यज्वरादिसन्तापः। **दंसमसयं**—दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकं दंशमशकैः खाद्यमानस्य शरीरपीडा दंशमशकमित्युच्यते कार्ये कारणोपचारात्। **अचेलभावो य**—अचेलकत्वं नाग्न्यमिति यावत्। **अरदिरदि**—अरतिरती चारित्रमोहोदयात् चारित्रद्वेषासंयमाभिलाषौ। **इत्थि**—स्त्रीकटाक्षेक्षणादिभिर्योषिद्बाधा कार्ये कारणोपचारात्। **चरिया**—चर्या आवश्यकाद्यनुष्ठानपरस्यातिश्रान्तस्याप्युपानत्कादिरहितस्यापि मार्गयानं। **निसीधिया**—निषिद्या श्मशानोद्यानशून्यायतनादिषु वीरासनोत्कुटिकाद्यासनजनितपीडा। **सेज्जा**—शय्या स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य खरविषमप्रचुरशर्कराद्याकीर्णभूमौ शयनस्यैकपार्श्वे दण्डशयनादिशय्याकृतपीडा। **अक्कोसो**—आक्रोशस्तीर्थयात्राद्यर्थपर्यटतः मिथ्यादृष्टिविमुक्तावज्ञासघनिन्दावचनकृताबाधा। **वह**—वध मुद्गरादिप्रहरणकृतपीडा। **जायणं**—

---

३. चारित्रमोहनीय और वीर्यान्तराय की अपेक्षा करके और असाता के उदय से जो शरीर को ढकने की इच्छा के कारणभूत पुद्गलस्कन्ध हैं उसे शीत कहते हैं।

४. पूर्वोक्त प्रकार तीनों कर्मों के सन्निधान से ठण्ड की अभिलाषा के लिए कारणभूत सूर्य अथवा ज्वर आदि से जो सताप होता है वह उष्ण कहलाता है।

५ डास और मच्छरों के द्वारा डसने पर जो शरीर मे पीड़ा होती है वह दंसमशक कहलाती है। अर्थात् यहाँ कार्य मे कारण का उपचार किया है। इसलिए दशमशक को ही परिषह कह दिया है।

६. नग्न अवस्था का नाम अचेलकत्व है।

७ चारित्रमोह के उदय से चारित्र मे द्वेष—अरुचि होना और असयम की अभिलाषा होना सो अरतिरति-परिषह है।

८. स्त्रियो का कटाक्ष से देखना आदि द्वारा जो बाधा है यह स्त्री-परीषह है। यहाँ पर भी कार्य से कारण का उपचार किया है।

९ आवश्यक आदि क्रियाओ के अनुष्ठान मे तत्पर, जो कि अत्यन्त थके हुए हैं, उनका पादत्राण आदि से रहित होकर भी—नगे पैरों जो मार्ग में चलना है वह चर्या-परीषह है।

१० श्मशान मे, उद्यान में या शून्य मकान आदि में वीरासन, उत्कुटिकासन आदि आसनो से बैठने पर जो पीड़ा होती है वह निषद्या-परीषह है।

११. स्वाध्याय, ध्यान या मार्ग का श्रम, इनसे थके हुए मुनि तीक्ष्ण, विषम—ऊँची-नीची, या अधिक कंकरीली रेत आदि से व्याप्त भूमि मे जो एक पसवाड़े से या दण्डाकार आदि रूप से शयन करते हैं उस शयन आदि मे जो शय्या के निमित्त से शरीर मे पीड़ा उत्पन्न होती है वह शय्या-परिषह है।

१२. तीर्थ यात्रा आदि के लिए जाते हुए मुनि के प्रति जो मिथ्यादृष्टि जन अवज्ञा करते हैं या संघ की निन्दा के वचन बोलते हैं उससे हुई बाधा आक्रोश-परिषह है।

१३. मुद्गर आदि के प्रहार से की गयी पीड़ा बध-परीषह है।

१४. रोगादि के निमित्त से पीड़ा होने पर भले ही प्राण चले जायें किन्तु

अयाञ्चा अकारोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्य· प्राणात्ययेऽपि रोगादिभि· पीडितस्यायाचयत अयाञ्चापीडा । अथवा वर मृतो न कश्चिद्याचितव्यः शरीरादिसदर्शनादिभिः याचा तु नाम महापीडा । अलाहो—अलाभ· अतरायकर्मोदयादाहाराद्यलाभकृतपीडा । रोय—रोगो ज्वरकासभगन्दरादिजनितव्यथा । तणफास—तृणस्पर्शः शुष्कतृणपरुषशर्कराकण्टकनिशितमृत्तिकाकृतशरीरपादवेदना । जल्ल—सर्वांगीण मलमस्नानादिजनितप्रस्वेदाद्युद्भवा पीडा । सक्कारो—सत्कार पूजाप्रशसात्मक । पुरस्कारो—नमनक्रियारम्भादिष्वग्रतः करणमामत्रण । तह चेव—तथा चैव । पण्ण—प्रज्ञा विज्ञानमदोद्भूतगर्व· । परिसह—परीषह । पीडाशब्द सर्वत्रापि सम्बध्यते । क्षुत्परिषह·, तृणपरिषह·, दशमशकपिपीलिकामत्कुणादिभक्षणपरीषह इत्यादि । अण्णाणं—अज्ञानं सिद्धान्तव्याकरणतर्कादिशास्त्रापरिज्ञानोद्भूतमन सन्तापः । अदसणं—अदर्शन महाव्रतानुष्ठानेनाप्यदृष्टातिशयबाधा, उपलक्षणमात्रमेतत् अन्येप्यत्र पीडाहेतवो द्रष्टव्या । एतै परीषहैर्न ताद्यभगेऽपि सक्लेशकरण भावविचिकित्सा ।

कुछ भी याचना नहीं करते हुए मुनि के अयाचना-परीषह होती है। यहाँ पर 'याञ्चा' पद मे अकार का लोप समझना चाहिए इसलिए याञ्चा शब्द से अयाञ्चा ही ग्रहण करना चाहिए। अथवा मरना अच्छा है किन्तु कुछ भी याचना करना बुरा है क्योकि याचना यह बहुत बड़ा दुःख है ऐसा सोचकर शरीर से या मुख के म्लान आदि किसी सकेत के द्वारा कुछ भी नही मॉगना यह याञ्चा-परीषहजय है।

१५. अतराय कर्म के उदय से आहार आदि का लाभ न होने से जो बाधा होती है वह अलाभ परीषह है।

१६. ज्वर, खासी, भगदर आदि व्याधियो से हुई पीडा रोग-परीषह है।

१७ सूखे तृण, कठिन ककरीली रेत, काँटा, तीक्ष्ण, मिट्टी आदि से जो शरीर या पैर मे वेदना होती है वह तृणस्पर्श परीषह है।

१८. सर्वांगीण मल को जल्ल कहते है अर्थात् स्नान आदि के नही करने से तथा पसीने आदि से उत्पन्न हुआ जो कष्ट है वह जल्ल अथवा मल परीषह है।

१९ पूजा प्रशसा आदि होना सत्कार है और नमन क्रिया या किसी कार्य के प्रारम्भ आदि मे आगे करना—प्रमुख करना, उन्हे आमन्त्रित करना पुरस्कार है। इस सत्कार-पुरस्कार के न होने से जो मानसिक ताप है वह सत्कार-पुरस्कार-परिषह है।

२०. विज्ञान के मद से उत्पन्न हुआ जो गर्व है वह प्रज्ञापरीषह है।

२१ सिद्धान्त, व्याकरण, तर्क आदि शास्त्रों का ज्ञान न होने से जो अन्तरंग में सन्ताप उत्पन्न होता है वह अज्ञान है।

२२ महाव्रत आदि के अनुष्ठान से भी आज तक मुझे कोई अतिशय नहीं दिख रहा है ऐसा सोचना अदर्शन-परीषह है।

इस प्रकार से इन बाईस के नाम गिनाये हैं। यह कथन उपलक्षण मात्र है अतः अन्य भी पीडा के कारणो को यहाँ समझ लेना चाहिए। परीषह का अर्थ पीड़ा है। यह परीषह शब्द प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए, जैसे क्षुधापरीषह, तृषापरीषह आदि।

खमणं—क्षमण सहनं तत्प्रत्येकमभिसम्बध्यते क्षुतपरीषहक्षमणं तृषपरीषहक्षमणमित्यादि। ततः परीषहजयो भवति ततश्च भावविचिकित्सा दर्शनमलं निराकृतं भवतीति ॥२५४-२५५॥

दृष्टिमोहप्रपंचनार्थमाह—

लोइयवेदियसामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्तं ।
णच्चा दंसणघादी ण य कायव्वं ससत्तीए ॥२५६॥

लोइय—लोकः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तस्मिन् भवो लौकिकः आचार इति सम्बन्धः। **वेदेसु**—सामऋग्यजुःषु भवो वैदिक आचारः। **समयेसु**—नैयायिकवैशेषिकबौद्धमीमांसकापिललोकायतिकेषु भव आचारः सामयिकस्तेषु लौकिकवैदिकसामयिकेषु आचारेषु क्रियाकलापेषु तथान्यदेवकेषु। **मूढत्तं**—मूढत्वं मोहः परमार्थरूपेण ग्रहणं तद्दर्शनघाति। सम्यक्त्वविनाशं ज्ञात्वा तस्मात्तन्मूढत्वं सर्वशक्त्या न कर्तव्यं ॥२५६॥

लौकिकमूढत्वप्रपंचनार्थमाह—

इन परीषहों के द्वारा व्रतादि के भंग न होने पर भी जो सक्लेश उत्पन्न होता है वह भाव विचिकित्सा है। इनको क्षमण—सहन करना परीषहक्षमण है। यह क्षमण शब्द भी प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए, जैसे क्षुधापरीषहक्षमण, तृषापरीषहक्षमण इत्यादि। इन क्षुधा आदि बाधाओं के सहने से परीषहजय होता है अर्थात् क्षुधा आदि बाधाओं के आ जाने पर सक्लेश परिणाम नही करने से परीषहजय होता है। और इन परीषहो को जीतने से भाव विचिकित्सा नाम का जो सम्यग्दर्शन का मल—दोष है उसका निराकरण हो जाता है।

भावार्थ—मुनियों के शरीर सम्बन्धी मल-मूत्रादि से ग्लानि नही करना तथा उनकी वैयावृत्ति करना यह द्रव्यनिर्विचिकित्सा है। क्षुधा, तृषा आदि बाधाओ से पीड़ित होकर भी मन मे यह नही सोचना कि जिन मत मे यह बहुत कठिन है कैसे सहन कर सकेंगे इत्यादि तथा व्रतों को भग नही करते हुए सक्लेश भी नही करना यह भाव निर्विचिकित्सा है। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि मुनि इस निर्विचिकित्सा का पालन करने हेतु सम्यक्त्व शुद्ध रखता है।

अब दृष्टिमोह अर्थात् मूढ़दृष्टि का वर्णन करते है—

गाथार्थ—लौकिक, वैदिक और सामयिक के विषय मे तथा अन्य देवताओं मे मूढ़ता को जानकर सर्वशक्ति से दर्शन का घात नहीं करना चाहिए ॥२५६॥

आचारवृत्ति—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को लोक कहते हैं। इनमें होनेवाला या इनसे सम्बन्धित आचार लौकिक आचार है। सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद इनमें कथित आचार वैदिक आचार है। नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसक, सांख्य और चार्वाक इनसे सम्बन्धित आचार सामयिक आचार है। अर्थात् लौकिक आदि क्रियाकलापों में तथा अन्य देवो में जो मूढता—मोह है उसे परमार्थ रूप से जो ग्रहण करता है वह दर्शन का घात करनेवाला है। इस मूढ़ता से सम्यक्त्व का विनाश जानकर सर्वशक्ति से इनमें मोह को प्राप्त नहीं होना चाहिए।

लौकिक मूढ़त्व को कहते है—

कोडिल्लमासुरक्खा भारहरामायणादि जे धम्मा ।
होज्जु व तेसु विसुत्ती लोइयमूढो हवदि एसो ॥२५७॥

कोडिल्ल—कुटिलस्य भाव कौटिल्य तदेव प्रयोजन यस्य धर्मस्य स कौटिल्यधर्म. ठकादिव्यवहारो लोकप्रतारणाशीलो धर्म परलोकाद्यभावप्रतिपादनपरो व्यवहार । **आसुरक्खा**—असव प्राणास्तेषा छेदनभेदन-ताडनत्रासनोत्पाटनमारणादिप्रपचेन वञ्चनादिरूपेण वा रक्षा यस्मिन् धर्मे स आसुरक्षो धर्मो नगराद्यारक्षि-कोपायभूत । अथवा कौटिल्यधर्म , इद्रजालादिक पुत्रबन्धुमित्रपितृमातृस्वाम्यादिघातनोपदेश , चाणक्योद्भव आसुरक्ष मद्यमासखादनाद्युपदेश । बलाधानरोगाद्यपनयनहेतु वैद्यधर्म । भारतरामायणादिका पंचपाण्डवा-नामेका योषित्, कुतिश्च पंचभर्तृका, विष्णुश्च सारथि , रावणादयो राक्षसा , हनुमानादयश्च मर्कटाः इत्येव-मादिका असद्धर्मप्रतिपादनपरा ये धर्मास्तेषु या भवेद्विश्रुतिर्विपरिणाम एतेपि धर्मा इत्येव मूढो लौकिकमूढो भवत्येष इति ॥२५७॥

वैदिकमोहप्रतिपादनार्थमाह—

रिव्वेदसामवेदा वागणुवावादिवेदसत्थाइ ।
तुच्छाणित्तिण[1] गेण्हइ वेदियमूढो हवदि एसो ॥२५८॥

गाथार्थ—कौटिल्य, प्राणिरक्षण, भारत, रामायण आदि सम्बन्धी जो धर्म है, उनमें जो विपरिणाम का होना है—यह लौकिक मूढ़ता है ॥२५७॥

आचारवृत्ति—कुटिल का भाव कुटिलता है। वह कुटिलता ही जिस धर्म का प्रयोजन है वह कौटिल्य धर्म है। जो ठगने आदि का व्यवहार रूप लोगों की वचना मे तत्पर धर्म है अर्थात् जो परलोक आदि के अभाव को कहनेवाला धर्म है वह सब कौटिल्यधर्म है। जिस धर्म मे असु—प्राणो के छेदन, भेदन, ताडन, त्रास देना, उत्पाटन करना, मारना इत्यादि प्रकार से अथवा वंचना आदि प्रकार से प्राणों की रक्षा की जाती है वह आसुरक्ष धर्म है अर्थात् नगर आदि की रक्षा मे नियुक्त हुए कोतवाल आदि के जो धर्म है वे आसुरक्ष धर्म है।

अथवा इन्द्रजाल आदि कार्य, पुत्र, भाई, मित्र, पिता, माता, स्वामी आदि के घात करने का उपदेश जो कि चाणक्य द्वारा उत्पन्न हुआ है, कौटिल्यधर्म है। मद्य पीना, मास खाना इत्यादि का उपदेश आसुरक्ष है। बल को बढाने, रोगादि को दूर करने आदि के लिए उपायभूत वैद्य का धर्म है। भारत और रामायण आदि मे जो कहा गया है कि पाँचो पाण्डवों की एक पत्नी द्रौपदी थी, और कुन्ती भी पाँच पतिवाली थी, पाण्डवों के युद्ध मे विष्णु भगवान सारथी थे, रावण आदि राक्षस थे, हनुमान् आदि बन्दर थे, इत्यादि रूप से असत् धर्म के प्रति-पादन करनेवाले जो धर्म है उन धर्मों के विषय में जो विश्रुति—विपरिणाम है अर्थात् ये भी सब धर्म हैं इत्यादि रूप से मोह को प्राप्त होना लौकिक मूढता है ऐसा समझना।

वैदिक मोह का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—ऋग्वेद, सामवेद, उनके वाक् और अनुवाद आदि से सम्बन्धित तुच्छ जो वेदशास्त्र हैं उन्हें जो ग्रहण करता है वह वैदिक मूढ होता है ॥२५८॥

---

1 तुच्छाणित्तणि—मु०।

रिग्वेद—ऋग्वेद.। **सामवेदः**। **वाग**—वाक्, ऋचः। **आणुवाग**—अनुवाक् कडिकासमुदायः। अथवा वाक्—ऋग्वेदप्रतिबद्धप्रायश्चित्तादिः, अनुवाक् मन्वादिस्मृतय.। आदि शब्देन यजुर्वेदाथर्वणादयः परिगृह्यन्ते। **वेदसत्थाइं**—वेदशास्त्राणि हिंसोपदेशकानि अग्न्यादिकार्यप्रतिपादकानि। गृह्यसूत्रारण्यगर्भाधानपुंसवननामकर्मान्नप्राशनचौलोपनयनव्रतबन्धनसौत्रामण्यादिप्रतिपादकानि नन्दकेशर[1]गौतमयाज्ञवल्क्यपिप्पलादवररुचिनारदबृहस्पतिशुक्रबुद्धा[2]दिप्रणीतानि तुच्छानि धर्मरहितानि निरर्थकानीति यदि न गृह्णाति तदासौ वैदिकाचारमूढो भवत्येष इति ॥२५८॥

सामयिकमोहप्रतिपादनार्थमाह—

रत्तवडचरगतावसपरिहत्ता[3]दीय अण्णपासंडा।
संसारतारगत्ति य जदि गेण्हइ[4] समयमूढो सो ॥२५९॥

रत्तवड—रक्तपट । **चरग**—चरकः। काजवाहेन कणभिक्षाहारा, अथवा भिक्षावेलायां हस्तलेहनशीला उत्सिष्टाः कालमुखादय.। **तावसा**—तापसा. कन्दमूलफलाद्याहारा वनवासिन जटाकौपीनादि-

---

आचारवृत्ति—ऋग्वेद, सामवेद, वाक्—ऋचाएँ, अनुवाक्—कडिका का समूह। अथवा वाक् अर्थात् ऋग्वेद में कहे गये प्रायश्चित आदि तथा अनुवाक् अर्थात् मनु आदि ऋषियों द्वारा बनाये गये मनुस्मृति आदि। आदि शब्द से यर्जुवेद, अथर्ववेद आदि का भी ग्रहण किया जाता है। हिंसा आदि के प्रतिपादक वेदशास्त्र, अग्नि—होम आदि कार्य के प्रतिपादक गृह्यसूत्र, आरण्य, गर्भाधान, पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल—मुंडन, उपनयन, व्रतबन्धन, सौत्रामणि—यज्ञविशेष आदि के प्रतिपादक जो शास्त्र है तथा जो नंदि केश्वर, गौतम, याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद, वररुचि, नारद, बृहस्पति, शुक्र और बुद्ध आदि के द्वारा प्रणीत हैं ये सब शास्त्र तुच्छ है—धर्मरहित, निरर्थक है। यदि कोई मुनि इनको ग्रहण करता है तो वह वैदिकाचारमूढ़ कहलाता है।

भावार्थ—ऋग्वेद आदि वेदों में हिंसा का उपदेश तथा परस्पर विरोधी एकान्त कथन है। ऐसे ही मनुस्मृति भी कुशास्त्र है। इनमें कहे आचरण को मानने वाला वैदिकाचारमूढ़ माना जाता जाता है। वह अपने सम्यक्त्व का नाश कर देता है।

सामयिक मोह का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—रक्तवस्त्रवाले साधु, चरक, तापस, परिव्राजक आदि तथा अन्य भी पाखंडी साधु संसार से तारनेवाले हैं इस तरह यदि कोई ग्रहण करता है तो वह समयमूढ होता है ॥२५९॥

आचारवृत्ति—रक्तपट और चरक साधुओं का लक्षण पहले किया जा चुका है। अर्थात् बौद्ध भिक्षुओं को रक्तपट और नैयायिक वैशेषिक साधुओ को चरक कहते है। अथवा भिक्षा की वेला में हाथ चाटने का जिनका स्वभाव है और जो धान्य का कण बीनकर आहार करनेवाले हैं ऐसे अन्यमतीय साधु 'चरक' है। इनमे कालमुख आदि भेद हैं। कंद, मूल और फल

---

१ क केश्वर। २ क बुधा। ३ क परिभत्तरी। ४ क गिण्हदि।

धारिण । परिहत्ता—परिव्राजका एकदण्डित्रिदण्डधादय. स्नानशीला शुचिवादिनः । आदिशब्देन शैव-पाशुपत-कापालिकादय. परिगृह्यन्ते । (अण्ण पासंडा—) । एते लिगिन संसारतारका शोभनानुष्ठाना यद्येवं गृह्णाति समयमूढोऽसाविति ॥२५९॥

देवमोहप्रतिपादनार्थमाह—

ईसरबभाविण्हूअज्जाखंदादिया य जे देवा ।
ते देवभावहीणा देवत्तणभावणे मूढो ॥२६०॥

ईश्वर-ब्रह्म-विष्णु-भगवती-स्वामिकार्तिकादयो ये देवास्ते देवभावहीनाः चतुर्णिकायदेवस्वरूपेण सर्वज्ञत्वेन च रहितास्तेषूपरि यदि देवत्वपरिणाम करोति तदानीं देवत्वभावेन मूढो भवतीत्यर्थ ॥२६०॥

उपगूहनस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह —

दंसणचरणविवण्णे जीवे दट्ठूण धम्मभत्तीए ।
उपगूहणं करिंतो दंसणसुद्धो हवदि एसो ॥२६१॥

आदि भक्षण करनेवाले वन मे रहनेवाले और जटा, कौपीन आदि को धारण करनेवाले तापस कहलाते है। एकदण्डी, त्रिदण्डी आदि साधु परिव्राजक हैं। ये स्नान मे धर्म माननेवाले और अपने को पवित्र मानतेवाले है। आदि शब्द से शैव पाशुपति, कापालिक आदि का भी सग्रह किया जाता है। और भी अन्य पाखण्डी साधु जो अनेक लिग धारण करनेवाले है। ये ससार से तारनेवाले है, इनके आचरण सुदर है—यदि ऐसा कोई ग्रहण करता है तो वह समयमूढ़ कहलाता है।

देवमोह का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—महेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, पार्वती, कार्तिक आदि जो देव है वे देवपने से रहित है उनमे देवभावना करने पर वह देवमूढ़ होता है ॥२६०॥

आचारवृत्ति—ईश्वर, ब्रह्मा, बिष्णु, भगवती—पार्वती, स्वामी कार्तिक आदि जो कि देव माने गये है। ये चतुर्निकाय के देवो के स्वरूप से भी देव नही है और सर्वज्ञदेव के स्वरूप से भी देव नही है, अत सभी तरह से ये देवभाव से रहित है। यदि कोई इन पर देवत्व परिणाम करता है तब वह देवत्व भाव से मूढ़ हो जाता है।

भावार्थ—अमूढदृष्टि अग से विपरीत मूढदृष्टि होती है जिसका अर्थ है मूढ़दृष्टि का होना। यहाँ पर इसे ही दृष्टिमूढ कहा है और उसके चार भेद किये हैं—लौकिकमोह, वैदिकमोह, सामयिकमोह और देवमोह। इन चारो प्रकार के मोह से रहित होनेवाले साधु अमूढ़दृष्टि अग का पालन करते हुए अपने दर्शनाचार को निर्मल बना लेते है।

अब उपगूहन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन या चारित्र से शिथिल हुए जीवो को देखकर धर्म की भक्ति से उनका उपगूहन करते हुए यह दर्शन से शुद्ध होता है ॥२६१॥

दर्शनचरणविपन्नान् सम्यग्दर्शनचारित्रम्लानान् जीवान् दृष्ट्वा धर्मभक्त्या वा उपगूहयन् उज्ज्वलयन् संवरयन्वा एतेषामुपगूहन संवरण कुर्वन् दर्शनशुद्धो भवत्येष उपगूहनकर्तेति ॥२६१॥

स्थिरीकरणस्वरूपं प्रतिपादनायाह—

> दंसणचरणुवभट्ठे[1] जीवे दट्ठूण धम्मबुद्धीए।
> हिदमिदमवगूहिय ते खिप्पं तत्तो णियत्तेइ ॥२६२॥

दर्शनचरणोपभ्रष्टान् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रेभ्यो भ्रष्टान्निर्गतान् जीवान् दृष्ट्वा धर्मबुद्धया हितमितवचनैः सुखनिमित्तैः पूर्वापरविवेकसहितैर्वचनैरवगूह्य स्वीकृत्य तेभ्यो दोषेभ्यः क्षिप्रं शीघ्रं तान्निर्वर्तयन् निवर्तयति यः स स्थिरीकरणं कुर्वन् दर्शनशुद्धो भवतीति सम्बन्धः ॥२६२॥

वात्सल्यार्थं प्रतिपादयन्नाह—

> चादुव्वण्णे संघे चदुगदिससारणित्थरणभूदे।
> वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी ॥२६३॥

आचारवृत्ति—जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में म्लान है—भ्रष्ट हैं, ऐसे जीवों को देखकर धर्म की भक्ति से उनके दर्शन और चारित्र को उज्ज्वल करते हुए अथवा उनके दोषों को ढकते हुए उनका उपगूहन—दोषों का छादन करते हुए मुनि सम्यक्त्व की शुद्धि को प्राप्त करता है। यह साधु उपगूहन का करनेवाला होता है।

भावार्थ—सम्यक्त्व या चारित्र मे दोष लगानेवालो को देखकर उनके दोषो को दूर करते हुए, उनके गुणो को बढ़ाना और उनके दोषो को प्रकट नही करना उपगूहन अग है। यह सम्यक्त्व को निर्मल बनाना है।

स्थिरीकरण का स्वरूप बताते है—

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवो को देखकर धर्म की बुद्धि से हितमित वचन से 'उन्हे स्वीकार करके उनको शीघ्र ही उन दोषो से हटाना' स्थिरीकरण है ॥२६२॥

आचारवृत्ति—सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवो को देखकर धर्म की बुद्धि से सुख के लिए कारणभूत पूर्वापर विवेक सहित ऐसे हित-मित वचनो से उन्हे स्वीकार करके या समझा करके शीघ्र ही उन दोषो से उनको वापस करना—उन दोषो से उन्हे हटा देना, वापस पुनः उन्ही दर्शन या चारित्र मे स्थिर कर देना स्थिरीकरण है। इस स्थिरीकरण को करते हुए मुनि अपने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध कर लेता है। अर्थात् अन्य को च्युत होते हुए देख उन्हे जैसे-तैसे वापस उसी में दृढ़ करना स्थिरीकरण अंग है।

वात्सल्य का अर्थ प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—चारों गतिरूप ससार से पार करने मे कारणभूत ऐसे चतुर्विध सघ में वात्सल्य करना चाहिए। जैसे, बछड़े में गौ की आसक्ति का होना ॥२६३॥

---

1 क चरणपभट्ठे

चातुर्वर्ण्ये ऋष्यार्जिकाश्रावकश्राविकासमूहे सघे चतुर्गतिसंसारनिस्तरणभूते नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु यत्संसरण भ्रमण तस्य विनाशहेतौ वात्सल्य यथा नवप्रसूता गौर्वत्से स्नेह करोति । एवं वात्सल्यं कुर्वन् दर्शनविशुद्धो भवति । वात्सल्य च कायिक-वाचिक-मानसिकानुष्ठानै सर्वप्रयत्नेनोपकरणौषधाहारावकाशशास्त्रादिदानै सघे कर्तव्यमिति ॥२६३॥

प्रभावनास्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

धम्मकहाकहणेण य बाहिरजोगेहिं चावि [1]णवज्जेहिं ।
धम्मो पहाविदव्वो जीवेसु दयाणुकपाए ॥२६४॥

धर्मकथाकथनेन त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिताख्यानेन सिद्धान्ततर्कव्याकरणादिव्याख्यानेन धर्मपापादिस्वरूपकथनेन वा बाह्ययोगैश्चापि अभ्रावकाशातापनवृक्षमूलानशनाद्यनवद्यैर्हिंसादिदोषरहितैर्धर्म. प्रभावयि-

---

आचारवृत्ति—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में जो ससरण है, भ्रमण है उसी का नाम ससार है। ऐसे ससार के नाश हेतु ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के समूहरूप चतुर्विध सघ में वात्सल्य करना चाहिए। जैसे नवीन प्रसूता गौ अपने बछड़े मे स्नेह करता है उसी तरह वात्सल्य को करते हुए मुनि दर्शनशुद्धि सहित होते हैं। अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक अनुष्ठानो के द्वारा सम्पूर्ण प्रयत्न से सघ में उपकरण, औषधि, आहार, आवास—स्थान और शास्त्र आदि का दान करके वात्सल्य करना चाहिए।

भावार्थ—जैसे गाय का अपने बछड़े हर सहज प्रेम होता है वैसे ही चतुर्विध सघ के प्रति अकृत्रिम प्रेम होना वात्सल्य है। यह धर्मात्माओ का धर्मात्माओं के प्रति होता है। ऐसे वात्सल्य अगधारी मुनि अपने सम्यक्त्व को निर्दोष करते है।

प्रभावना का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—धर्म कथाओं के कहने से, निर्दोष बाह्य योगो से और जीवो मे दया की अनुकम्पा से धर्म की प्रभावना करना चाहिए ॥२६४॥

आचारवृत्ति—चोबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव और नव प्रतिवासुदेव ये त्रेसठ शलाकापुरुष है। इनके चरित्र का आख्यान—वर्णन करना, सिद्धान्त, तर्क, व्याकरण आदि का व्याख्यान करना, अथवा धर्म और पाप आदि के स्वरूप का कथन करना यह धर्मकथा है। शीत ऋतु मे खुले मैदान मे ध्यान करना अभ्रावकाश है। ग्रीष्म ऋतु में पर्वत की चोटी पर ध्यान करना आतापन है। वर्षाऋतु मे वृक्ष के नीचे ध्यान करना वृक्षमूल है।

जीव दया की अनुकम्पा मे युक्त होकर धर्म कथाओ के कहने से, इन बाह्य योगों से, निर्दोष—हिसा आदि दोषरहित अनशन—उपवास आदि तपश्चरणो से धर्म की प्रभावना करना चाहिए अर्थात् जिनमार्ग को उद्योतित करना चाहिए। अथवा जीवदया रूप अनुकम्पा से भी धर्म को प्रभावना करना चाहिए। तथा 'अपि' शब्द से सूचित होता है कि परवादियों से

---

1 क °वि अण्णवज्जो ।

तव्यो मार्गस्योद्योतः कर्तव्यो जीवदयानुकम्पायुक्तेन, अथवा जीवदयानुकम्पया च धर्मः प्रभावयितव्य. तथापि-शब्दसूचितं. परवादिजयाष्टागनिमित्तदानपूजादिभिश्च धर्मं. प्रभावयितव्य इति ।।२६४।।

अधिगमस्वरूप प्रतिपाद्य नैसर्गिकसम्यक्त्वस्वरूपप्रतिपादनायाह—

जं खलु जिणोवदिट्ठं तमेव तत्थित्ति भावदो गहणं।
सम्मद्दंसणभावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तं ।।२६५।।*

यत्तत्व जिनैरुपदिष्ट प्रतिपादित तदेव तथ्यं सत्य खलु व्यक्तमित्येव भावत परमार्थेन ग्रहण यत्सम्यग्दर्शनभाव आज्ञासम्यक्त्वमिति यावत् । तद्विपरीत मिथ्यात्वमसत्यरूपेण जिनोपदिष्टस्य तत्त्वस्य ग्रहण मिथ्यात्व भवतीति ।।२६५।।

दर्शनाचारसमर्पणाय ज्ञानाचारसूचनायोत्तरगाथा—

शास्त्रार्थ करके उन पर जय से अष्टाग निमित्त के द्वारा तथा दान, पूजा आदि के द्वारा भी धर्म की प्रभावना करना चाहिए।

भावार्थ—धर्मोपदेश के द्वारा घोर-घोर तपश्चरण और ध्यान आदि के द्वारा, जीवों की रक्षा के द्वारा तथा परवादियों से विजय द्वारा, अष्टाग निमित्त के द्वारा, आहार, औषधि, अभय और ज्ञान दान द्वारा तथा महापूजा महोत्सव आदि के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना की जाती है।

इस प्रकार से अधिगम सम्यक्त्व का स्वरूप प्रतिपादित करके अब नैसर्गिक सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते है—

गाथार्थ—जो जिनेन्द्र देव ने कहा है वही वास्तविक है इस प्रकार से जो भाव से ग्रहण करना है सो सम्यग्दर्शन है और उससे विपरीत मिथ्यात्व है ।।२६५।।

आचारवृत्ति—जिन तत्त्वों का जिनेन्द्र देव ने उपदेश किया है स्पष्ट रूप से वे ही सत्य हैं इस प्रकार जो परमार्थ से ग्रहण करना है वह आज्ञा सम्यक्त्व है और उससे विपरीत अर्थात् जिनोपदिष्ट तत्त्वों को असत्यरूप से ग्रहण करना मिथ्यात्व है, ऐसा समझना।

भावार्थ—इस सम्यक्त्व मे आठ प्रकार के शकादि दोषों को न लगाकर निर्दोष रूप से आठ अग पूर्वक जो सम्यग्दर्शन का पालन करना है वह दर्शनाचार कहलाता है।

अब दर्शनाचार को पूर्ण करने हेतु और ज्ञानाचार को कहने की सूचना हेतु अगली गाथा कहते है—

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति मे इस गाथा के स्थान पर निम्नलिखित गाथा दी है—

संवेगो वेरग्गो णिंदा गरिहा य उवसमो भत्ती।
अणुकंपा वच्छल्ला गुणा य सम्मत्तजुत्तस्स ।।

अर्थ—संवेग, वैराग्य, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य—सम्यक्त्व के ये आठ गुण होते हैं।

दंसणचरणो एसो णाणाचारं च बोच्छमट्ठविहं ।।
अट्ठविहकम्ममुक्को जेण य जीवो लहइ सिद्धि ।।२६६।।

दर्शनाचार एष मया वर्णित समासेनेऽत ऊर्ध्वं ज्ञानाचार वक्ष्ये कथयिष्याम्यष्टविध येन ज्ञानाचारेणाष्टविधकर्ममुक्तो जीवो लभते सिद्धि, ज्ञानभावनया कर्मक्षयपूर्विका सिद्धिरिति भावार्थ ।।२६६।।

किं ज्ञान यस्याचार कथ्यते इति चेदित्याह—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाण जिणसासणे ।।२६७।।

येन तत्त्व वस्तुयाथात्म्य विबुध्यते परिच्छिद्यते येन च चित्त मनोव्यापारो निरुद्ध्यते आत्मवश क्रियते येन चात्मा जीवो विशुद्ध्यते वीतराग क्रियते परिच्छिद्यते तज्ज्ञान जिनशासने प्रमाण मोक्षप्रापणाभ्युपाय सशयविपर्ययानध्यवसायाकिञ्चित्करविपरीत प्रत्यक्ष परोक्ष च । तत्र प्रत्यक्ष द्विप्रकार मुख्यममुख्य च, मुख्य द्विविध देशमुख्य परमार्थमुख्य, देशमुख्यमवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान च, परमार्थमुख्य केवलज्ञान, सर्वद्रव्यपर्यायपरिच्छेदात्मक । अमुख्य प्रत्यक्षेन्द्रियविषयसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसविकल्पकमीषत्प्रत्यक्षभूत । परोक्ष श्रुतानुमानार्थापत्तितर्कोपमानादिभेदेनानेकप्रकार,श्रुत मतिपूर्वक इन्द्रियमनोविषयादन्यार्थविज्ञान यथाग्निशब्दात् खर्पर-

---

गाथार्थ—यह दर्शनाचार हुआ । अब आठ प्रकार का ज्ञानाचार कहेंगे जिससे जीव आठ प्रकार के कर्मों से मुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।।२६६।।

आचारवृत्ति—मैने यह दर्शनाचार का वर्णन किया है । अब इसके बाद सक्षेप मे आठ प्रकार का ज्ञानाचार कहूँगा जिसके माहात्म्य से यह जीव आठ प्रकार के कमो से मुक्त होकर सिद्धिपद को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् ज्ञान की भावना से कर्मक्षय पूर्वक सिद्धि होती है ऐसा समझना ।

वह ज्ञान क्या है कि जिसका आचार आप कहेगे ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है जिन शासन मे उसका नाम ज्ञान है ।।२६७।।

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिसके द्वारा मन का व्यापार रोका जाता है अर्थात् मन अपने वश मे किया जाता है और जिसके द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाती है, जीव वीतराग हो जाता है, वह ज्ञान जिनशासन मे प्रमाण है, अर्थात् वही ज्ञान मोक्ष को प्राप्त कराने के लिए उपायभूत है । वह ज्ञान सशय, विपर्यय, अनध्वसाय और अकिंचित्कर से रहित है । उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद है । उसमे मुख्य और अमुख्य की अपेक्षा प्रत्यक्ष के भेद है । मुख्य प्रत्यक्ष भी देश मुख्य और परमार्थ मुख्य से दो भेदरूप है । देश मुख्य के अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान ये दो भेद है । केवलज्ञान परमार्थ मुख्य है । वह सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायो को जाननेवाला है । इन्द्रिय और विषयो के सन्निपात के अन्तर उत्पन्न हुआ जो सविकल्पक ज्ञान है वह अमुख्य प्रत्यक्ष है, यह ईषत् प्रत्यक्षभूत है ।

परोक्ष प्रमाण भी आगम, अनुमान, अर्थापत्ति, तर्क, उपमान आदि के भेद से अनेक प्रकार का है । श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है । वह इन्द्रिय और मन के विषय से भिन्न अन्य अर्थ के विज्ञान रूप है, जैसे अग्नि शब्द से खर्पर का विज्ञान होता है ।

विज्ञानं। अंगपूर्वं वस्तुप्राभृतकादि सर्वं श्रुतज्ञानं। अनुमानं त्रिरूपं त्रिविधलिंगादुत्पन्नं साध्याविनाभाविलिङ्गादुत्पन्न वा एतच्छ्रुतज्ञानेप्यन्तर्भवति। एकमर्थं जातं दृष्ट्वाविनाभावेनान्यस्यार्थस्य परिच्छित्तिरर्थापत्तिर्यथा पीनपीनांगो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते अर्थादापन्नं रात्रौ भुंक्ते इति। प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं यथा गौस्तथा गवय इति। साध्य-साधनसम्बन्धग्राहकस्तर्कः सर्वमेतत्परोक्षं ज्ञानम् ॥२६७॥

अंग और पूर्वरूप तथा वस्तु प्राभृतक आदि सभी ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। अनुमान तीन रूप है। तीन प्रकार के लिंग से उत्पन्न अथवा साध्य के साथ अविनाभावी लिंग से उत्पन्न हुआ ज्ञान अनुमान ज्ञान है। यह श्रुतज्ञान मे अन्तर्भूत हो जाता है।

एक अर्थ को हुआ देखकर उसके अविनाभाव से अन्य अर्थ का ज्ञान होना अर्थापत्ति है; जैसे 'हृष्ट-पुष्ट अगवाला देवदत्त दिन में नही खाता है' ऐसा कहने पर अर्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह रात्रि मे खाता है यह अर्थापत्ति है। साधर्म्य अर्थात् सदृशता की प्रसिद्धि से साध्य-साधन का ज्ञान होना उपमान है, जैसे जिसप्रकार की गौ है वैसे ही गवय (रोझ नाम का पशु) है। साध्य-साधन के सम्बन्ध को ग्रहण करनेवाला तर्कज्ञान है। ये सभी परोक्ष हैं।

विशेष—न्यायग्रन्थो में भी स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चायक ज्ञान प्रमाण कहा गया है। परीक्षामुख मे आचार्य ने इस प्रमाण के दो भेद किये हैं- -प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के भी दो भेद किए है—सांव्यवहारिक और मुख्य अर्थात् पारमार्थिक। इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान सांव्यवहारिक है। उसे ही यहाँ अमुख्य प्रत्यक्ष कहा है। तथा मुख्य प्रत्यक्ष के भी देश प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद है। परोक्ष-प्रमाण के पाँच भेद किये है—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

यहाँ पर जो अर्थापत्ति और उपमान को परोक्ष मे लिया है। तथा, और भी अनेक भेद होते है, ऐसा कहा है। सो ये सभी इन्ही पाँचों मे ही सम्मिलित हो जाते है। यथा—

श्री अकलक देव कहते हैं, कि अनुमान, उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये सभी प्रमाण है। इनमें से उपमान आदि प्रमाण अनुमान मे अन्तर्भूत हैं। एवं अनुमान प्रमाण और ये भी स्वप्रतिपत्ति काल में अनक्षर श्रुत में अन्तर्भूत हैं और परप्रतिपत्ति काल मे अक्षरश्रुत में अन्तर्भूत हैं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि परोक्ष प्रमाण के अनेक भेद हैं।

प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान को तीनरूप माना है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट। इन्हें क्रम से केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी भी कहते है। (तत्त्वार्थवार्तिक)

इन तीन प्रकार के लिंग से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमान है। अथवा साध्य के साथ अविनाभावी रहने वाला ऐसा अन्यथानुपत्ति रूप हेतु से होनेवाला साध्य का ज्ञान अनुमान है। ये सभी परोक्षज्ञान हैं। विशेष बात यह है कि यहाँ पर टीकाकार ने न्यायग्रन्थों की अपेक्षा से ही मतिज्ञान को ईषत्प्रत्यक्ष कहा है परन्तु सिद्धान्त ग्रन्थों में मति, श्रुत दोनों को परोक्ष ही कहा है। (तत्त्वार्थवार्तिक प्र० अ०)

सम्यक्त्वसहचरं ज्ञानस्वरूपं व्याख्याय चारित्रसहचरस्य ज्ञानस्य प्रतिपादयन्नाह—

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥२६८॥

येन रागात् स्नेहात् कामक्रोधादिरूपाद्विरज्यते पराङ्मुखो भवति जीव । येन च श्रेयसि रज्यते रक्तो भवति। येन मैत्री द्वेषाभाव प्रभावयेत् तज्ज्ञान जिनशासने। किमुक्तं भवति—अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवताभिप्रायोऽनागमे आगमबुद्धिरचारित्रे चारित्रबुद्धिरनेकान्ते एकान्तबुद्धिरित्यज्ञानम् ॥२६८॥

ज्ञानाचारस्य कति भेदा इति पृष्टेऽत आह—

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥२६९॥

काले—स्वाध्यायवेलायां पठनपरिवर्तनव्याख्यानादिकं क्रियते सम्यक् शास्त्रस्य यत्स कालोऽपि ज्ञानाचार इत्युच्यते, साहचर्यात्कारणे कार्योपचाराद्वा। **विणए**—कायिकवाचिकमानसशुद्धपरिणामैः स्थितस्य तेन वा योऽयं श्रुतस्य पाठो व्याख्यानं परिवर्तनं यत्स विनयाचार। **उवहाणे**—उपधान अवग्रहविशेषेण

सम्यक्त्व के सहचारी ज्ञान का स्वरूप कहकर अब चारित्र के सहचारी ज्ञान का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त होता है, जिसके द्वारा मोक्ष मे राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है जिनशासन मे वह ज्ञान कहा गया है ॥२६८॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा जीव राग—स्नेह से और काम-क्रोध आदि से विरक्त होता है—पराङ्मुख होता है, और जिसके द्वारा मोक्ष मे अनुरक्त होता है, जिसके द्वारा मैत्री भावन अर्थात् द्वेष का अभाव करता है जिनशासन मे वही ज्ञान है। तात्पर्य क्या हुआ ? अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि, अदेव मे देवता का अभिप्राय, जो आगम नही है उनमे आगम की बुद्धि, अचारित्र मे चारित्र की बुद्धि और अनेकान्त मे एकान्त की बुद्धि यह सब अज्ञान है।

ज्ञानाचार के कितने भेद है ? ऐसा पूछने पर कहते है—

गाथार्थ—काल, विनय, उपधान, बहुमान और अनिह्नव सम्बन्धी तथा व्यजन, अर्थ और उभयरूप ऐसा ज्ञानाचार आठ प्रकार का है ॥२६९॥

आचारवृत्ति—काल मे अर्थात् स्वाध्याय की बेला मे सम्यक् शास्त्र का पढ़ना, पढ़े हुए को फेरना, और व्याख्यान आदि कार्य किये जाते है वह काल भी ज्ञानाचार है। साहचर्य से अथवा कारण मे कार्य, का उपचार करने से काल को भी ज्ञानाचार कह दिया है। विनय—अर्थात् काय वचन और मन सम्बन्धी शुद्ध भावो से स्थित हुए मुनि के विनयाचार होता है अथवा कायिक, वाचिक, मानसिक, शुद्ध परिणामो से सहित मुनि के द्वारा जो शास्त्र का पढना, परिवर्तन करना और व्याख्यान करना है वह विनयाचार है। उपधान मे अर्थात् उपधान-अवग्रह नियम विशेष करके पठन आदि करना उपधानाचार है। यहाँ भी साहचार्य से उसे ही

लोभासूयेर्ष्यादीनामभावो भावशुद्धि पठनकाले कर्तव्या अत्यर्थमुपशमादयो भावयितव्या । कालशुद्धयादिभि. शास्त्र पठित कर्मक्षयाय भवत्यन्यथा कर्मबन्धायेति ॥२७६॥

नख और चमडे आदि के अभाव को तथा समीप मे पचेन्द्रिय जीव के शरीर सम्बन्धी गीली हड्डी, चमड़ा, मास और रुधिर के सम्वन्ध के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते है।[1] बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, अकाल-वृष्टि, मेघगर्जन, मेघो के समूह से आच्छन्न दिशाएँ, दिशादाह, धूमिकापात—कुहरा, सन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर महिमा, जिन महिमा इत्यादि के अभाव को कालशुद्धि कहते है। तथा पूर्वाह्न आदि वाचना हेतु दिशा की शुद्धि करना भी कालशुद्धि है जो नव, सात और पाँच गाथाओ द्वारा पहले कही जा चुकी है।

राग-द्वेष, अहकार, आर्त-रौद्र ध्यान इनसे रहित पाँच महाव्रत, समिति और गुप्ति से सहित दर्शनाचार आदि समन्वित मुनियो के भावशुद्धि होती है।"

इस विषय की उपयोगी गाथाएँ दी गयी है यथा—

"यमपटह का शब्द सुनने पर, अग से रक्तस्राव होने पर, अतिचार के हो जाने पर तथा दातारो के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नही करना चाहिए।[2] तिल मोदक, चिउडा, लाई, पुआ आदि चिक्कण एव सुगन्धित भोजनों के करने पर तथा दावानल का धुआँ होने पर, स्वाध्याय नही करना चाहिए। एक योजन के घेरे मे (चार कोश मे) सन्यास विधि होने पर, तथा महोपवास-विधि, आवश्यक क्रिया एव केशलोच के समय अध्ययन नही करना चाहिए। आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक अध्ययन का निषेध है। आचार्य का स्वर्गवास एक योजन दूर होने पर तीन दिन तथा अत्यन्त दूर होने पर एक दिन तक अध्ययन निषिद्ध है।

प्राणी के तीव्र दुःख मे मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा या गुंठा) मात्र मे तिर्यचो का सचार होने पर अध्ययन नही करना चाहिए। उतने मात्र मे स्थावरकाय के घात होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर, दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यन्त सडी गन्ध के आने पर या ग्रन्थ का ठीक अर्थ समझ मे न आने पर अथवा अपने शरीर के शुद्ध न होने पर मोक्ष इच्छुक मुनि को सिद्धान्त का अध्ययन नही करना चाहिए।

मल-विसर्जन भूमि से सौ अरत्नि प्रमाण दूर, मूत्र-विसर्जन के स्थान से पचास अरत्नि दूर, मनुष्य शरीर के लेश मात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष और तिर्यञ्चो के शरीर सम्बन्धी अवयवों के स्थान से उससे आधी मात्र—पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए।

---

१. प्रत्येक दिशा मे सौ-सौ हाथ का प्रमाण भी आया है। यथा—'चतुर्षु दिक्षु हस्तशतचतुष्मात्रेण'······ [मूलाचार, गाथा २७६]

२. धवला पु० ६, पृ० २५५ से २५७।

कालशुद्धया¹ यद्यत्सूत्र पठ्यते तत्तत्केनोक्तमत आह—

सुत्तं गणहरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकहिदं च।
सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्णदसपुव्वकहिदं च ॥२७७॥

व्यन्तरो द्वारा भेरी ताडन करने पर, उनकी पूजा का सकट होने पर, कर्षण के होने पर, चाण्डाल बालको के द्वारा समीप मे झाड़ू-बुहारी करने पर, अग्नि, जल व रुधिर की तीव्रता होने पर तथा जीवो के मास व हड्डियो के निकाले जाने पर क्षेत्र विशुद्धि नही होती, जैसा कि सर्वज्ञो ने कहा है।

मुनि क्षेत्र की शुद्धि करने के पश्चात् अपने हाथ और पैरों को शुद्ध करके तदनन्तर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश में स्थित होकर वाचना को ग्रहण करे। बाजू, कांख आदि अपने अंग का स्पर्श न करता हुआ उचित रीति से अध्ययन करे और यत्नपूर्वक अध्ययन करके, पश्चात् शास्त्रविधि से वाचना को छोड दे। साधुओ ने बारह तपो मे भी स्वाध्याय को श्रेष्ठ तप कहा है।

पर्व दिनो मे—नन्दीश्वर के श्रेष्ठ महिम दिवसो—आष्टाह्निक दिनो मे और सूर्य चन्द्र का ग्रहण होने पर विद्वान् व्रती को अध्ययन नही करना चाहिए।

अष्टमी मे अध्ययन गुरु और शिष्य दोनो के वियोग को करता है। पौर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुर्दशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है। यदि साधु जन कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते है तो विद्या और उपवास विधि सब विनाश को प्राप्त हो जाते है। मध्याह्न काल मे किया गया अध्ययन जिन रूप को नष्ट करता है। दोनो सध्याकालो मे किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि मे किये गये अध्ययन से अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त हो जाते है।

अतिशय दुःख से युक्त और रोते हुए प्राणियो को देखने या समीप मे होने पर, मेघो की गर्जना व विजली के चमकने पर और अतिवृष्टि के साथ उल्कापात होने पर अध्ययन नही करना चाहिए।

...सूत्र और अर्थ की शिक्षा के लोभ से जो मुनि द्रव्य-क्षेत्र आदि की शुद्धि को न करके अध्ययन करते है वे असमाधि अर्थात् सम्यक्त्व की विराधना, अस्वाध्याय—शास्त्र आदिकों का अलाभ, कलह, व्याधि या वियोग को प्राप्त होते हैं।"

काल शुद्धि में जो जो सूत्र पढ़े जाते है वे वे सूत्र किनके द्वारा कथित होते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—गणधर देव द्वारा कथित, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिधारी द्वारा कथित, श्रुतकेवली द्वारा कथित और अभिन्न दशपूर्वी ऋषियो द्वारा कथित को सूत्र कहते है ॥२७७॥

---

१ क °द्धया।

सूत्रं अंगपूर्ववस्तुप्राभृतादि गणधरदेवैः कथितं सर्वज्ञमुखकमलादर्थं गृहीत्वा ग्रन्थस्वरूपेण रचितं गौतमादिभिः। तथैवैक कारण प्रत्याश्रित्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः। धर्मश्रवणाद्युपदेशमन्तरेण चारित्रावरणादि-क्षयोपशमात्, ग्रहणोल्कापातादिदर्शनात् संसारस्वरूप विदित्वा गृहीतसयमा प्रत्येकबुद्धास्तैः कथित। श्रुत-केवलिना कथित रचित द्वादशागचतुर्दशपूर्वधरेणोपदिष्ट। अभिन्नानि रागादिभिरपरिणतानि दशपूर्वाणि उत्पाद-पूर्वादीनि येषा तेऽभिन्नदशपूर्वास्तै कथित प्रतिपादितमभिन्नदशपूर्वकथितं च सूत्रमिति सम्बन्ध ॥२७७॥

तत्सूत्र किम्—

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ॥२७८॥

तत्सूत्र पठितुमस्वाध्याये न कल्पते न युज्यते विरतवर्गस्य सयतसमूहस्य स्त्रीवर्गस्य आर्यिकावर्गस्य

आचारवृत्ति—सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निकले हुए अर्थ को ग्रहण कर गौतम देव आदि गणधर देवो द्वारा ग्रन्थ रूप से रचित जो अग, पूर्व, वस्तु और प्राभृतक आदि है वे सूत्र कहलाते हैं। जो किसी एक कारण को निमित्त करके प्रबुद्ध हुए है वे प्रत्येकबुद्ध है अर्थात् जो धर्म-श्रवण आदि उपदेश के बिना ही चारित्र के आवरण करनेवाले ऐसे चरित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से बोध को प्राप्त हुए हैं, जिन्होने ग्रहण—सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण या उल्कापात आदि देखने से ससार के स्वरूप को जानकर सयम ग्रहण किया है वे प्रत्येकबुद्ध हैं। अर्थात् प्रत्येकबुद्धि नाम की एक प्रकार की ऋद्धि से सहित जो महर्षि हैं उनके द्वारा कथित शास्त्र सूत्रसज्ञक है।

उसी प्रकार से द्वादशाग और चौदहपूर्व ऐसे सम्पूर्ण श्रुत के धारक जो श्रुतकेवली है उनके द्वारा कथित—उपदिष्ट—रचितशास्त्र भी सूत्र सज्ञक है। जो ग्यारह अग और उत्पाद-पूर्व से लेकर विद्यानुवाद नामक दशवे पूर्व को पढकर पुन रागादि भावो मे परिणत नहीं हुए है वे अभिन्न दशपूर्वी है। उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र भी सूत्र है ऐसा समझना।

विशेष—दशवे पूर्व को पढ़ते समय मुनि के पास अनेक विद्यादेवता आती है और उन्हे नमस्कार कर उनसे आज्ञा माँगती है। तब कोई मुनि चारित्रमोहनीय के उदय से चारित्र से शिथिल होकर उन विद्याओं को स्वीकार करके चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं। इनमें रुद्र तो नियम से दशवे पूर्व को पढ़कर भ्रष्ट होकर दुर्गति के भाजन बनते है और, कुछ मुनि वापस चारित्र मे स्थिर हो जाते हैं वे भिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं। और कुछ मुनि इन विद्या देवताओं को वापस कर देते हैं, स्वयं चारित्र से चलायमान नही होते है वे अभिन्न दशपूर्वी कहलाते हैं।

इन सूत्रों के लिए क्या विधान है—

गाथार्थ—अस्वाध्याय काल मे मुनिवर्ग और आर्यिकाओं को इन सूत्रग्रन्थ का पढ़ना ठीक नहीं है। इनसे भिन्न अन्य ग्रन्थ को अस्वाध्याय काल में पढ़ सकते है ॥२७८॥

आचारवृत्ति—विरतवर्ग अर्थात् संयतसमूह को और स्त्रीवर्ग अर्थात् आर्यिकाओं को अस्वाध्यायकाल में—पूर्वोक्त कालशुद्धि आदि से रहित काल में इन सूत्रग्रन्थों का स्वाध्याय

च । इतोऽस्मादन्यो ग्रन्थ कल्प्यते पठितुमस्वाध्यायेऽन्यत्पुन सूत्र कालशुद्ध्याद्यभावेऽपि युक्त पठितुमिति ॥२७८॥

किं तदन्यत्सूत्रमित्यत आह—

आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ ॥२७९॥

आराधना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसामुद्योतनोद्यवननिर्वाहणसाधनादीनि तस्या निर्युक्तिराराधनानिर्युक्ति । मरणविभक्ति सप्तदशमरणप्रतिपादकग्रन्थरचना । सग्रह पचसग्रहादय । स्तुतय देवागमपरमेष्ठ्यादय । प्रत्याख्यान त्रिविधचतुर्विधाहारादिपरित्यागप्रतिपादको ग्रन्थ सावद्यद्रव्यक्षेत्रादिपरिहारप्रतिपादको वा । आवश्यका सामायिकचतुर्विंशतिस्तवबन्दनादिस्वरूपप्रतिपादको ग्रन्थ । धर्मकथास्त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितानि द्वादशानुप्रेक्षादयश्च । ईदृग्भूतोऽन्योऽपि ग्रन्थ पठितुमस्वाध्यायेऽपि च युक्त ॥२७९॥

कालशुद्ध्यनन्तर कस्मिन् ग्रन्थे कस्मिंश्चावसरे का क्रिया कर्तव्या इति पृष्टेऽत आह—

करना युक्त नही है किन्तु इन सूत्रग्रन्थो से अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो को कालशुद्धि आदि के अभाव मे भी पढा जा सकता है ऐसा समझना ।

इनमे भिन्न अन्य सूत्रग्रन्थ कौन-कौन से है ? ऐसा पूछने पर कहते है—

गाथार्थ—आराधना के कथन करने वाले ग्रन्थ, मरण को कहने वाले ग्रन्थ, सग्रह ग्रन्थ, स्तुतिग्रन्थ, प्रत्याख्यान, आवश्यक क्रिया और धर्मकथा सम्बन्धी ग्रन्थ तथा और भी ऐसे ही ग्रन्थ अस्वाध्याय काल मे भी पढ सकते है ॥२७९॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इन चारो के उद्योतन, उद्यवन, निर्वाहण, साधन और निस्तरण आदि का वर्णन जिन ग्रन्थो मे है वे आराधनानिर्युक्ति ग्रन्थ है । सत्रह प्रकार के मरणो के प्रतिपादक ग्रन्थो की जो रचना है वह मरणविभक्ति है । सग्रह ग्रन्थ से 'पचसग्रह' आदि लिये जाते है । स्तुतिग्रन्थ से देवागमस्तोत्र, पचपरमेष्ठीस्तोत्र आदि सम्बन्धी ग्रन्थ होते है। तीन प्रकार और चार प्रकार आहार के त्याग के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्याख्यान ग्रन्थ है । अथवा सावद्य—सदोष द्रव्य, क्षेत्र, आदि के परिहार करने के प्रतिपादक ग्रन्थ प्रत्याख्यान ग्रन्थ है । सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना आदि के स्वरूप को कहनेवाले ग्रन्थ आवश्यक ग्रन्थ है। त्रेसठ शलाकापुरुषो के चरित्र को कहनेवाले ग्रन्थ तथा द्वादश अनुप्रेक्षा आदि ग्रन्थ धर्मकथा ग्रन्थ है । इन ग्रन्थो को और इन्ही सदृश अन्य ग्रन्थो को भी अस्वाध्याय काल मे पढा जा सकता है ।

विशेषार्थ—वर्तमानकाल मे षट्खडागम सूत्र, कसायपाहुड सूत्र और महाबध सूत्र अर्थात् धवला, जयधवला और महाधवला को सूत्रग्रन्थ माना जाता है। चूकि श्री वीरसेनाचार्य ने धवला, जयधवला टीका मे इन्हे सूत्र सदृश मानकर सूत्र-ग्रन्थ कहा है । इनके अतिरिक्त ग्रन्थो को अस्वाध्याय काल मे भी पढा जा सकता है।

कालशुद्धि के अन्तर किस ग्रन्थ के विषय में और किस अवसर पर क्या क्रियाएँ करना चाहिए ? ऐसा पूछने पर कहते है—

उद्देस समुद्देसे अणुणापणए अ होंति पंचेव ।
अंगसुदखंधभेणुवदेसा विय पदविभागी य ॥२८०॥

उद्देशे प्रारम्भकाले, समुद्देशे शास्त्रसमाप्तौ, अनुज्ञार्पणायां गुरोरनुज्ञाया भवन्ति पचैव । नात्र केचन निर्दिष्टास्तथाप्युपदेशादुपवासाः कायोत्सर्गा वा ग्राह्या । अथवा अनुज्ञाया एतावत्पच पणका व्यवहारा. प्रायश्चित्तानि पचैव भवन्ति ते चोपवासा कायोत्सर्गा वा । अग द्वादशाङ्गानि । श्रुत चतुर्दशपूर्वाणि । स्कन्धः वस्तूनि । झेणुव—प्राभृत । देशश्च प्राभृतप्राभृत । पदविभागादेकैकश । अगस्याध्ययनप्रारम्भे समाप्तौ बुद्धिमच्छिष्यानुज्ञायामुपवासा कायोत्सर्गा वा पच कर्तव्या भवन्ति । एव पूर्वाणा, वस्तूना, प्राभृताना, प्राभृतप्राभृताना प्रारम्भे समाप्तौ अनुज्ञायामेकैकश पच पचोपवासा कायोत्सर्गा वा कर्तव्या भवन्तीति ।।२८०।।

गाथार्थ—अग, पूर्व, वस्तु, प्राभृत, प्राभृतक इनमे से किसी एक-एक के प्रारम्भ मे, समाप्ति मे और अनुज्ञा के लेने मे पाँच ही (क्रियाएँ) होती है ॥२८०॥

आचारवृत्ति—अग—बारहअग, श्रुत—चौदहपूर्व, स्कन्ध— वस्तु, प्राभृत—प्राभृतक, देश—प्राभृतप्राभृत, इन ग्रन्थो में से पदविभागी—एक-एक का अध्ययन प्रारम्भ करने मे अर्थात् अग या बारह अगो मे से किसी एक के उद्देश्य—अध्ययन के प्रारम्भ मे, समुद्देश— उस ग्रन्थ के अध्ययन की समाप्ति मे और अनुज्ञा—गुरु से उस विषय मे आज्ञा लेने पर पाँच ही होते है । यहाँ पर पाँच कहकर किसी क्रिया का निर्देश नही किया है कि पाँच क्या होते है । फिर भी उपदेश के निमित्त से पाँच उपवास या पाँच कायोत्सर्ग ग्रहण करना चाहिए । अथवा अनुज्ञा मे इतने ही पाँच पणक—व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त समझना । अर्थात् पाँच ही उपवास या पाँच कायोत्सर्ग रूप प्रायश्चित्त होते है ।

तात्पर्य यह हुआ कि बुद्धिमान शिष्य को अग का अध्ययन प्रारम्भ करने तथा समाप्ति मे और गुरु से आज्ञा लेने मे ये पाँच उपवास अथवा पाँच कायोत्सर्ग करना चाहिए। ऐसे ही पूर्वग्रन्थ, वस्तुग्रन्थ, प्राभृतग्रन्थ, प्राभृतप्राभृत-ग्रन्थ—इन ग्रन्थो मे किसी एक के भी प्रारम्भ मे, समाप्ति मे और उस विषय मे गुरु की आज्ञा लेने पर पाँच-पाँच उपवास या पाँच-पाँच कायोत्सर्ग करना चाहिए ।

विशेषार्थ—"अर्थाक्षर, पद, सघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत, वस्तु और पूर्व ये नव तथा इनमे प्रत्येक के साथ समास पद जोड़ने से हुए नव अर्थात् अक्षरसमास, पदसमास आदि ऐसे ये अठारह भेद द्रव्यश्रुत के होते है। इन्ही मे पर्याय और पर्यायसमास के मिलाने से बीस भेद ज्ञानरूप श्रुत के होते है । ग्रन्थरूप श्रुत की विवक्षा करने पर आचारांग आदि बारहअग और उत्पाद, पूर्व आदि चौदह पूर्व होते है अर्थात् द्रव्यश्रुत और भावश्रुत की अपेक्षा दो भेद किये गये है । उनमे से शब्दरूप और ग्रन्थरूप सब द्रव्यश्रुत है । ज्ञानरूप को भावश्रुत कहते है । तथा अगबाह्य नाम से चौदह प्रकीर्ण भी लिये जाते है ।"

उपर्युक्त अठारह भेदो के अन्तर्गत जो प्राभृतप्राभृत कहे है उनमें से एक-एक वस्तु अधिकार में बीस-बीस प्राभृत होते है और एक-एक प्राभृत मे चौबीस-चौबीस प्राभृत-प्राभृत होते है। आगे पूर्व नामक श्रुतज्ञान के चौदह भेद हो जाते हैं । इन सबका विशेष लक्षण गोम्मटसार जीवकाण्ड की ज्ञानमार्गणा से समझना चाहिए ।[1]

१. गोम्मटसार जीवकाड, ज्ञानमार्गणा, गाथा ३४८-३४९

पदविभागत पृथक्पृथक्कालशुद्धिं व्याख्याय विनयशुद्धचर्थमाह—

पलियंकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अंजलीकदपणामो।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥२८१॥*

पर्यंकेण निषद्यां गत उपविष्ट पर्यंकनिषद्यागत पर्यंकेन वीरासनादिभिर्वा सम्यग्विधानेनोपविष्ट-स्तेन, प्रतिलिख्य चक्षुषा पिच्छिकया शुद्धजलेन च पुस्तक भूमिहस्तपादादिक च सम्मार्ज्य। अञ्जलिना कृत प्रणामो येनासावञ्जलिकृतप्रणामस्तेन करमुकुलाङ्कितचक्षुषा सूत्रार्थसयोग. सम्पर्कस्तेन युक्तः समन्वित. सूत्रार्थयोगयुक्तोऽङ्गादिग्रन्थ पठितव्योऽध्येतव्य। आत्मशक्त्या सूत्रार्थाव्यभिचारेण शुद्धोपयोगेन शक्तिमनवगुह्य यत्नेन जिनोक्त सूत्रमर्थयुक्त पठनीयमिति ॥२८१॥

उपधानशुद्धचर्थमाह—

आयंबिल णिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं।
तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ॥२८२॥

पदविभाग से—एक-एक रूप से पृथक्-पृथक् कालशुद्धि को कहकर अब विनयशुद्धि को कहते है—

गाथार्थ—पर्यंकासन से बैठकर पिच्छिका से प्रतिलेखन करके अजलि जोडकर प्रणाम पूर्वक सूत्र और उसके अर्थ मे उपयोग लगाते हुए अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना चाहिए ॥१८१॥

आचारवृत्ति—मुनि पर्यकासन से अथवा वीरासन आदि से सम्यक् प्रकार की विधि से बैठे कर शुद्ध जल से हाथ-पैर आदि धोकर तथा चक्षु से अच्छी तरह निरीक्षण करके और पिच्छिका से भूमि को, हाथ-पैर आदि को और पुस्तक को परिमार्जित करके मुकुलित हाथ बनाकर अजलि जोडकर प्रणाम करके सूत्र और अर्थ के सयोग युक्त अग आदि ग्रन्थों को पढना चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार सूत्र और अर्थ मे व्यभिचार न करते हुए अर्थात् सूत्र के अनुसार उसका अर्थ समझते हुए शुद्धोपयोग पूर्वक अर्थात् उपयोग को निर्मल बनाकर और शक्ति को न छिपाकर प्रयत्न पूर्वक जिनेन्द्र देव द्वारा कथित सूत्र को अर्थ सहित पढना चाहिए। यह दूसरी विनयशुद्धि हुई है।

अब उपधान का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—आचाम्ल निर्विकृति या अन्य भी कुछ नियम जिस स्वाध्याय के लिए करना होता है उसके लिए उस नियम को कहते हुए ये मुनि उपधान आचार सहित होते है। ॥२८२॥

---

*फलटन से प्रकाशित प्रति मे निम्नलिखित दो गाथाएँ और है—

सुत्तत्थं जप्पंतो अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं।
पयदेण य वाचंतो णाणविणीदो हवदि एसो ॥

अर्थ—अगपूर्वादि सूत्रो को शुद्ध बोलते हुए उसके अर्थ को भी शुद्ध समझते हुए तथा सूत्र और अर्थ दोनो को शुद्ध पढते हुए प्रयत्नपूर्वक जो मुनि वाचना स्वाध्याय करते है वे ज्ञानविनीत होते हैं।

विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।

यह गाथा आगे आठो ज्ञानाचारो के अनन्तर क्र० २८६ की है।

आचाम्ल सौवीरौदनादिकं, विकृतेर्निर्गत निर्विकृतं घृतदध्यादिविरहितौदनः, अन्यद्वा पक्वान्नादिक यस्य शास्त्रस्य कर्तव्यमुपधान सम्यक्सन्मानं तदुपधान कुर्वाणस्तस्य शास्त्रस्योपधानशुद्धो भवत्येष. । साधुनाव-ग्रहादिकं कृत्वा शास्त्र सर्वं श्रोतव्यमिति तात्पर्यं पूजादरश्च कृतो भवति ॥२८२॥

बहुमानस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं ।
आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि बहुमाणं ॥२८३॥

अङ्गश्रुतादीना सूत्रार्थं यथास्थित तथैव जल्पन्नुच्चरन् पाठयन् वाचयश्चापि प्रतिपादयश्चाप्यन्यस्य निर्जराहेतो कर्मक्षयनिमित्त च आचार्यादीनां शास्त्रादीनामन्येषामपि आसादन परिभव न कुर्याद्गर्वितो न भवेत्तेन शास्त्रादीना बहुमान पूजादिक कृत भवति । शास्त्रस्य गुरोरन्यस्य वा परिभवो न कर्तव्य· पूजावच-नादिक च वक्तव्यमिति तात्पर्यार्थ ॥२८३॥

अनिह्नवस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

आचारवृत्ति—सौवीर—काजी के साथ भात आदि को आचाम्ल कहते हैं। जो विकृति से रहित है अर्थात् घी, दूध आदि से रहित भात निर्विकृति है। अथवा अन्य पके हुए अन्न आदि भी निर्विकृति है। अर्थात् जिस चावल या रोटी आदि मे कोई रस—नमक, घी आदि या मसाला आदि कुछ भी नही डाला है वह भोजन निर्विकृति है। कोई एक शास्त्र के स्वाध्याय को प्रारम्भ करके उस शास्त्र के पूर्ण हुए पर्यन्त इन आचाम्ल या निर्विकृति आदि का आहार लेना अर्थात् इस ग्रन्थ के पूर्ण होने तक मेरा आचाम्ल भोजन का नियम है या अमुक रस का त्याग है इत्यादि नियम करना उपधान है। यह उस ग्रन्थ के लिए सम्यक् सम्मान रूप है। ऐसा उपधान-नियम विशेष करके स्वाध्याय करते हुए मुनि उस ग्रन्थ के विषय मे उपधानशुद्धि से युक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि साधु को कुछ नियम आदि करके ग्रन्थ पढने या सुनने चाहिए। इससे उस ग्रन्थ की पूजा और आदर होता है। यह तीसरी शुद्धि हुई।

अब बहुमान का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—निर्जरा के लिए सूत्र और उसके अर्थ को पढते हुए तथा उनकी वाचना करते हुए भी आसादना नही करे। इससे बहुमान होता है ॥२८३॥

आचारवृत्ति—मुनि निर्जरा के लिए—कर्मों के क्षय हेतु—अंग, पूर्व आदि के सूत्र और अर्थ को, जो जैसे व्यवस्थित हैं वैसे ही उनका उच्चारण करते हुए, पढ़ाते हुए, वाचना करते हुए और अन्यो का भी प्रतिपादन करते हुए आचार्य आदि की, शास्त्रो की और अन्य मुनियों की भी आसादना (तिरस्कार) नही करे अर्थात् गर्विष्ठ नही होवे। इससे शास्त्रादि का बहुमान होता है, पूजादिक करना होता है। तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्र का, गुरु का अथवा अन्य किसी मुनि या आचार्य का तिरस्कार नही करना चाहिए बल्कि उनके प्रति पूजा बहुमान आदि सूचक वचन बोलना चाहिए। यह बहुमानशुद्धि चौथी है।

अब अनिह्नव का स्वरूप बतलाते है—

कुलवयसीलविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं ।
कुलवयसीलमहल्ले णिण्हवदोसो दु जप्पतो ॥२८४॥

कुल गुरुसन्तति , व्रतानि हिसादिविरतय , शील व्रतपरिरक्षणाद्यनुष्ठान तैर्विहीना म्लाना कुल-व्रतशीलविहीना । मठादिपालनेनाज्ञानादिना वा गुरु सदोषस्तस्य शिष्यो ज्ञानी तपस्वी च कुलहीन इत्युच्यते । अथवा तीर्थकरगणधरसप्तर्धिमप्राप्तेभ्योऽन्ये यतय कुलव्रतशीलविहीनास्तेभ्य कुलव्रतशीलविहीनेभ्य सम्यक्-शास्त्रमवगम्य ज्ञात्वा कुलव्रतशीलैर्ये महान्तस्तान् यदि कथयति तेभ्यो मया शास्त्र ज्ञातमित्येव तस्य जल्पतो निह्नवदोषो भवति । आत्मनो गर्वमुद्वहता शास्त्रनिह्नवा गुरुनिह्नवश्च कृतो भवति । ततश्च महान् कर्मबन्ध । जैनेन्द्र च शास्त्र पठित्वा श्रुत्वा पश्चाज्जल्पति न मया तत्पठित, न तेनाह ज्ञानीति किन्तु नैयायिक-वैशेषिक-साख्य-मीमासा-धर्मकीर्त्यादिभ्यो मम बोध सजात इति निर्ग्रन्थयतिभ्य शास्त्रमवगम्यान्यान् प्रतिपादयति ब्राह्मणादीन्, कस्माल्लोकपूजाहेतोर्यदा मिथ्यादृष्टिरसौ तदाप्रभृति मन्तव्य निह्नवदोषेणेति । सामान्ययतिभ्यो ग्रन्थ श्रुत्वा तीर्थकरादीन् प्रतिपादयत्येवमपि निह्नवदोष इति ॥२८४॥

गाथार्थ—कुल, व्रत और शील से हीन होते हुए भी सूत्र और अर्थ को ठीक से पढकर कुल, व्रत और शील स महान् कहने लगना—यह निह्नव दोष होता है ॥२८४॥

आचारवृत्ति—गुरु की सतति—परम्परा का नाम कुल है। हिसा आदि पाँच पापो से विरति होना व्रत है। व्रतो के रक्षण आदि हेतु जो अनुष्ठान है उसे शील कहते हे। इन कुल, व्रत और शील से जो हीन है, म्लान हे वे कुल, व्रत और शील विहीन है। अर्थात् मठादिको का पालन करने से अथवा अज्ञान आदि से गुरु सदोष होते है ऐसे गुरु के शिष्य यद्यपि ज्ञानी और तपस्वी हे फिर भी वे शिष्य कुलहीन कहे जाते हे। अथवा तीर्थंकर भगवान, गणधर देव और सप्तऋद्धि सम्पन्न महामुनियो से अतिरिक्त जो अन्य यतिगण हे वे यहा पर कुल, व्रत और शील से विहीन माने गए हे। उन कुलव्रतशील से विहीन यतियो से समीचीन शास्त्रो को समझ-कर, पढ़कर जो ऐसा कहते ह कि 'मैने कुल, व्रत और शील मे महान् ऐसे गुरु स यह शास्त्र पढा है' इस प्रकार से कहनेवाले उन मुनि के निह्नव नाम का दोप होता हे। अपने आप मे गर्व को धारण करते हुए मुनि के शास्त्र-निह्नव और गुरुनिह्नव दोष होता है और इससे महान् कर्मबन्ध होता है।

जिनेन्द्रदेव कथित शास्त्रो को पढकर या सुनकर पुन यह कहता है कि मैने वह शास्त्र नही पढा है, उस शास्त्र से मै ज्ञानो नही हुआ हूँ। किन्तु नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, मीमांसा बौद्ध गुरु धर्मकीर्ति आदि से मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ यतियो से शास्त्र समझकर अन्य का नाम, ब्राह्मण आदि का नाम प्रतिपादित करने लगता है।

ऐसा किसलिए ?

लोक मे पूजा के लिए। अर्थात् लोक मे कोई अन्य ख्यातिप्राप्त है और अपने गुरु कुछ कम ख्यात है इसलिए इनका— प्रसिद्ध गुरु या ग्रन्थ का नाम लेने से मेरी लोक मे पूजा होगी। यदि ऐसा समझकर कोई मुनि गुरुनिह्नव या शास्त्रनिह्नव करते है तो वे निह्नव दोष के निमित्त से उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाते है। सामान्य यतियों से ग्रन्थ को सुनकर जो तीर्थंकर आदि का नाम प्रतिपादित कर देते है ऐसा करने से भी वे निह्नव दोष के भागी होते है। यह अनिह्नव शुद्धि पाँचवी है।

पठनादिकं साहचर्यात् उपधानाचारे (र)। बहुमानं पूजासत्कारादिकेन पाठादिकं बहुमानाचार । तथैवा-निह्नवनं यस्मात्पठितं श्रुतं स एव प्रकाशनीय. यद्वा पठित्वा श्रुत्वा ज्ञानी सञ्जातस्तदेव श्रुत ख्यापनीयमिति[1] अनिह्नवाचार. । व्यञ्जनं—वर्णपदवाक्यशुद्धि , व्याकरणोपदेशेन वा तथा पाठादिर्व्यञ्जनाचार । अर्थ—अर्थोऽभिधेयोऽनेकान्तात्मकस्तेन सह पाठादि अर्थाचार. । शब्दार्थशुद्धया पाठादि तदुभयाचार । सर्वत्र साहचर्यात् कार्ये कारणाद्युपचाराद्वाऽभेद । कालादिशुद्धिभेदेन वा ज्ञानाचारोऽष्टविध एव, अधिकरणभेदेन वाचारस्य भेद । प्रथमा विभक्ति सप्तमी वा द्रष्टव्या ॥२६९॥

कालाचारप्रपचप्रतिपादनार्थमाह—

पादोसियवेरत्तियगोसग्गियकालमेव गेण्हित्ता ।
उभये कालह्मि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो ॥२७०॥

प्रकृष्टा दोषा रात्रिर्यस्मिन् काले स प्रदोष काल रात्रे पूर्वभाग इत्यर्थ । तत्सामीप्याद्दिनपश्चिमभागोऽपि प्रदोष इत्युच्यते । तत प्रदोषग्रहणेन द्वौ कालौ गृह्येते । प्रदोष एव प्रादोषिक । विगता रात्रिर्यस्मिन् काले सा विरात्री रात्रे पश्चिमभाग , द्विघटिकामहितार्धरात्रादूर्ध्वकाल , विरात्रिरेव वैरात्रिक. ।

उपधान-आचार कह दिया है। बहुमान—पूजा सत्कार आदि के द्वारा पठन आदि करना बहुमान आचार है। उसी प्रकार से अनिह्नव अर्थात् जिससे शास्त्र पढा है उसका ही नाम प्रकाशित करना चाहिए। अथवा जिस शास्त्र को पढकर और सुनकर ज्ञानी हुए है उसी शास्त्र का नाम वताना चाहिए यह अनिह्नवाचार है। व्यजन—वर्ण, पद और वाक्य की शुद्धि अथवा व्याकरण के उपदेश से वैसा ही शुद्ध पाठ आदि करना व्यजनाचार है। अर्थ—अभिधेय अर्थात् वाच्य को अर्थ कहते है। वह अर्थ अनेकान्तात्मक है उसके साथ पठन आदि करना अर्थाचार है। शब्द और अर्थ की शुद्धि से पठन आदि करना उभयाचार है। सर्वत्र साहचर्य से अथवा कार्य मे कारण आदि के उपचार से अभेद होने से इन्हीं काल आदि को ही आचार शब्द से कहा है।

ऐसा समझना कि कालादि की शुद्धि के भेद से ज्ञानाचार आठ प्रकार का ही है। अथवा अधिकरण के भेद से आचार मे भेद हो गये हैं। काले, विनये आदि मे प्रथमा या सप्तमी दोनों विभक्तियों का अर्थ किया जा सकता है। इस तरह कालान्तर, विनयाचार आदि ज्ञानाचार के भेद है।

अब कालाचार को विस्तार से प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—प्रादोषिक, वैरात्रिक और गौसर्गिक काल को ही लेकर दोनों कालों में पुनः स्वाध्याय करना होता है ॥२७०॥

आचारवृत्ति—प्रकृष्टरूप दोषा अर्थात् रात्रि है जिस काल में वह प्रदोषकाल कहलाता है। अर्थात् रात्रि के पूर्व भाग को प्रदोष कहते हैं। उस प्रदोषकाल की समीपता से दिन का पश्चिम भाग भी प्रदोष कहा जाता है। इसलिए प्रदोष के ग्रहण करने से दो काल ग्रहण किए जाते हैं। प्रदोष ही प्रादोशिक कहलाता है। विगत—बीत गई है रात्रि जिस काल में वह विरात्रि है।

---

१ क °सि अनिह्नवेन पाठादि अनि°।

गवां पशूनां सर्गो निर्गमो यस्मिन् काले स कालो गोसर्ग । गोसर्ग एव गौसर्गिको द्विघटिकोदयादूर्ध्वकालो द्विघटिकासहित मध्याह्नात्पूर्व । एतत्कालचतुष्टय गृहीत्वोभयकाले दिवसस्य पूर्वाण्हकालेऽपराण्हकाले च तथा रात्रे पूर्वकालेऽपरकाले च पुन अभीक्ष्ण स्वाध्यायो भवति कर्तव्य पठनपरिवर्तनव्याख्यानादीनि कर्तव्यानि भवन्तीति ॥२७०॥

स्वाध्यायस्य ग्रहणकालं परिसमाप्तिकाल च प्रतिपादयन्नाह—

सज्झाये पट्ठवणे जंघच्छाय वियाण सत्तपय ।
पुव्वण्हे अवरण्हे तावदियं चेव णिट्ठवणे ॥२७१॥

स्वाध्यायस्य परमागमव्याख्यानादिकस्य प्रस्थापने प्रारम्भे, जंघयोश्छाया जघच्छाया ता जघच्छाया विजानीहि सप्तपदा सप्तवितस्तिमात्रा पूर्वाण्हेऽपराण्हे च तावन्मात्रा स्वाध्यायसमाप्तिकाले च्छाया विजानीहि । सवितुरुदये यदा जघाच्छाया सप्तवितस्तिमात्रा भवति तदा स्वाध्यायो ग्राह्य. । अपराण्हे च सवितुर-

---

रात्रि के पश्चिम भाग को विरात्रि कहते है अर्थात् दो घड़ी सहित अर्धरात्रि के ऊपर का काल विरात्रि है। विरात्रि ही वैरात्रिक है। गायो का सर्ग —निकलना जिसकाल मे हो वह गोसर्ग काल है। गोसर्ग ही गौसर्गिक है। दो घड़ी सहित उदय काल से उपर का यह काल दो घड़ी सहित मध्याह्न से पूर्व तक होता है।

इन चारो कालो को लेकर के दोनो कालो मे अर्थात् दिवस के पूर्वाह्न काल और अपराह्न काल मे तथा रात्रि के पूर्वकाल और अपरकाल मे अभीक्ष्ण—निरन्तर स्वाध्याय करना होता है अर्थात् पठन, परिवर्तन, व्याख्यान आदि करने होते है।

भावार्थ—चौबीस मिनट की एक घड़ी होती है अत दो घडी से अड़तालीस मिनट विवक्षित है। सूर्योदय के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर मध्याह्न काल के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वाह्न स्वाध्याय का काल है। इसी को 'गौसर्गिक' कहा है। मध्याह्न के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्यास्त के अडतालीस मिनट पहले तक अपराह्न स्वाध्याय का काल है इसे 'प्रादोशिक' कहा है। सूर्यास्त के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट पहले तक पूर्वरात्रि के स्वाध्याय का काल है इसे भी 'प्रादोषिक' कहा है। पुनः अर्धरात्रि के अड़तालीस मिनट बाद से लेकर सूर्योदय के अड़तालीस मिनट पहले तक अपररात्रि के स्वाध्याय का काल है। इसे 'वैरात्रिक' कहा है। अर्थात् चारो सधिकालो मे छयानवे मिनट (लगभग डेढ़ घण्टे) तक का काल अस्वाध्याय काल माना गया है।

अब स्वाध्याय के ग्रहण काल और परिसमाप्ति को कहते है—

गाथार्थ—पूर्वाह्न में, स्वाध्याय-प्रारम्भ काल मे जघाछाया सात पद प्रमाण समझो और अपराह्न मे स्वाध्याय समाप्ति मे उतनी ही जानो ॥२७१॥

आचारवृत्ति—परमागम के व्याख्यान आदि करने रूप स्वाध्याय के प्रारम्भ में पूर्वाह्न काल मे जघा छाया सात पाद वितस्ति प्रमाण है, अपराह्न मे अपराह्निक स्वाध्याय के निष्ठापन में भी सात वितस्ति मात्र है। सूर्य के उदय होने पर जब जघा की छाया सात-

स्तमनकाले यदा जंघाच्छाया सप्तवितस्तिमात्रा तिष्ठति तदा स्वाध्याय उपसंहरणीय इति ॥२७१॥

पूर्वाह्णे स्वाध्यायस्य परिसमाप्तिः कस्यां वेलायां क्रियते इति पृष्टेऽत आह—

आसाढे दुपदा छाया पुस्समासे चदुप्पदा।
वड्ढदे हीयदे चावि मासे मासे दुअंगुला ॥२७२॥

जघाच्छाया इत्यनुवर्तते। मिथुनराशौ यदा तिष्ठत्यादित्य स काल आषाढमास इत्युच्यते। मासस्त्रिंशद्रात्र समुदाये वर्तमानोऽप्यत्र मासावसाने दिवसे वर्तमानो गृह्यते। समुदायेषु हि वृत्ता शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त इति न्यायात्। एव पुष्यमासेऽपि निरूपयितव्य.। आषाढमासे यदा द्विपदा जघाच्छाया पूर्वाह्णे तदा स्वाध्याय उपसहर्त्तव्य। अत्र षडगुल पाद परिगृह्यते। तथा पुष्यमासे मध्याह्नोदये यदा चतुष्पदा जंघाच्छाया भवति तदा स्वाध्यायो निष्ठापयितव्य.। आषाढमासान्तदिवसादारभ्य मासे मासे द्वे द्वे अड्गुले तावद्वृद्धिमागच्छते यावत्पुष्यमासे चतुष्पदाच्छाया सञ्जाता। पुनस्तस्मादारभ्य द्वे द्वे अगुले मासे मासे हानिमुपनेतव्ये यावदाषाढे मासे द्विपदाच्छाया सजाता। कर्कटसक्रान्तेः प्रथमदिवसमारभ्य यावद्धनु संक्रान्तेरन्त्यदिनं

वितस्ति मात्र होती है तब स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए, और अपराह्न में सूर्यास्त के काल में जब जघा छाया सात वितस्ति मात्र रहती है तब स्वाध्याय को समाप्त कर देना चाहिए।

पूर्वाह्न में स्वाध्याय की समाप्ति किस बेला मे की जाती है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—आषाढ मे दो पाद छाया और पौष मास मे चार पाद छाया रहने पर स्वाध्याय समाप्त करे। मास-मास में वह दो-दो अगुल बढती और घटती है ॥२७२॥

आचारवृत्ति—जंघाच्छाया की अनुवृत्ति चली आ रही है। जब सूर्य मिथुनराशि में रहता है वह काल आषाढ मास कहलाता है। तीस रात्रि का माप होता है। इस तरह समुदाय मे रहते हुए भी यहाँ पर मास के अन्तिम दिन मे वर्तमान अर्थ लेना, क्योंकि समुदायों मे रहनेवाले शब्द अवयवो में भी रहते है ऐसा न्याय है। ऐसे ही पुष्य मास मे निरूपण करना चाहिए। अर्थात् यद्यपि मास शब्द का प्रयोग तीस दिन के लिए होता है फिर भी यहाँ मास के अतिम दिन को मास कहा है; क्योंकि समुदायरूप अर्थो को दिखाने वाले शब्दो का प्रयोग अवयव अर्थ में भी होता है। अत यहाँ आषाढ और पौषमास शब्द से मास का अन्तिम दिन लिया गया है।

आषाढ़ मास में पूर्वाह्न काल में जब जघाछाया दो पाद प्रमाण रहे तब स्वाध्याय का उपसंहार कर देना चाहिए। यहाँ पर छह अगुल का पाद लिया गया है। वैसे ही पौष मास मे मध्याह्न के उदयकाल मे जब जंघाछाया चार पाद प्रमाण रहती है तब स्वाध्याय निष्ठापन कर देना चाहिए। अर्थात् आषाढ़ में पौर्वाह्निक स्वाध्याय करके मध्याह्न के पहले जब छाया दो पाद रह जाती है तब स्वाध्याय समाप्ति का काल है। ऐसे ही पौष में इसी समय चार पाद छाया के रहने पर स्वाध्याय समाप्ति का काल होता है।

आषाढ मास के अन्तिम दिन से प्रारम्भ करके महिने-महिने मे दो-दो अंगुल छाया बढ़ते हुए तब तक बढ़ती है जब तक पौष मास में छाया चार पाद प्रमाण नही हो जाती है।

तावद्दिन प्रति दिन प्रति अगुलस्य पञ्चदशभागो वृद्धि गच्छति ततो हानिम्। अत्र त्रैराशिकक्रमेण हानिवृद्धी साधितव्ये। अपराह्न स्वाध्यायप्रारम्भकालस्य रात्रौ स्वाध्यायकालस्य च कालपरिमाण न ज्ञात तज्ज्ञात्वा वक्तव्यम्। मध्याह्नादुपरिघटिकाद्वये स्वाध्यायो ग्राह्य, तथा रात्रौ प्रथमघटिकाद्वये सर्वासु सध्यादावन्ते च घटिकाद्वये वर्जयित्वा स्वाध्यायो ग्राह्यो हातव्यश्चेति ॥२७२॥

दिग्विभागशुद्धयर्थमाह—

णवसत्तपचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोहोए।
पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाए ॥२७३॥

दिशा विभागो दिग्विभागस्तस्य शुद्धिरुल्कापातादिरहितत्व दिग्विभागशुद्धेर्निमित्त कायोत्सर्गमा-

---

पुन पौष सुदी पूर्णिमा के बाद से लेकर महीने-महीने मे छाया दो-दो अगुल तब तक घटती जाती है जब तक कि आषाढ़ मास मे वह दो पादप्रमाण नही हो जावे।

कर्कट सक्राति के प्रथम दिन से प्रारम्भ करके धनु सक्राति के अन्तिम दिनपर्यन्त तक दिन प्रति-दिन अगुल के पन्द्रहवे भाग प्रमाण छाया बढ़ती जाती है। पुन आगे इतनी-इतनी ही घटती जाती है। यहाँ पर त्रैराशिक के क्रम से हानि और वृद्धि को निकाल लेना चाहिए।

अपराह्न काल के स्वाध्याय का प्रारम्भकाल और रात्रि मे स्वाध्याय के काल का प्रमाण नही मालूम हुआ उसको जानकर कहना चाहिए। अर्थात् मध्याह्न काल के ऊपर दो घडी हो जाने पर अपराह्न स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए, तथा रात्रि मे सूर्यास्त के बाद दो घडी बीत जाने पर पूर्वरात्रिक स्वाध्याय करना चाहिए। अर्थात् सभी सध्याओ के आदि और अन्त मे दो-दो घडी छोडकर स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और समाप्त करना चाहिए।

भावार्थ—आषाढ सुदी पूर्णिमा के दिन प्रात काल सूर्योदय के बाद मध्याह्न होने के कुछ पहले जब जघाछाया दोपाद (१२ अगुल) प्रमाण रहती है तब पूर्वाह्न स्वाध्याय निष्ठापन का काल है। पुन श्रावण के अन्तिम दिन १४ अंगुल, भाद्र पद के अन्तिम दिन १६ अगुल, आश्विन के अन्तिम दिन १८ अगुल, कार्तिक को पूर्णिमा को २० अगुल, मगसिर की पूर्णिमा को २२ अगुल और पौष की पूर्णिमा को चार पाद अर्थात् २४ अगुल हो जाती है। तब स्वाध्याय निष्ठापन का काल होता है। आगे पुन दो-दो अगुल घटाइए—माघ के अन्तिम दिन २२ अगुल, फाल्गुन की पूर्णिमा को २० अगुल, चैत्र की पूर्णिमा को १८ अगुल, वैशाख की पूर्णिमा को १६ अगुल, ज्येष्ठ की पूर्णिमा के दिन १४ अगुल, आषाढ़ की पूर्णिमा के दिन दो पाद अर्थात् १२ अगुल जघाछाया रहे तब पूर्वाह्न स्वाध्याय निष्ठापन का काल होता है।

दिग्विभाग की शुद्धि के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—पूर्वाह्न, अपराह्न और प्रदोषकाल के स्वाध्याय करने मे दिशाओं के विभाग की शुद्धि के लिए नव, सात और पाँच बार गाथा प्रमाण णमोकार मन्त्र को पढ़े।

आचारवृत्ति—दिशाओ का विभाग दिग्विभाग है। उसकी शुद्धि अर्थात् दिशाओ का उल्कापात आदि से रहित होना। पूर्वाह्न काल के स्वाध्याय के विषय मे इस दिग्विभाग

स्थाय प्रतिदिशं पूर्वाह्णकाले स्वाध्यायविषये नव नव गाथापरिमाणं जाप्यं। तत्र यदि दिशादाहादीनि भवन्ति तदा कालशुद्धिर्न भवतीति वाचनाभगो भवति। एषा कालशुद्धी रात्रिपश्चिमयाम[1]स्वाध्याये कर्तव्या। एवमपराह्णे स्वाध्यायनिमित्त कायोत्सर्गमास्थाय प्रतिदिशं सप्तसप्तगाथापरिमाण पाठ्यम्। अपराह्णस्वाध्याये तथा प्रदोषवाचनानिमित्त पच पच गाथाप्रमाण प्रतिदिशं घोष्यमिति। सर्वत्र दिशादाहाद्यभावे कालशुद्धिरिति ॥२७३॥*

की शुद्धि के निमित्त प्रत्येक दिशा मे कायोत्सर्ग से स्थित होकर नव-नव गाथा परिमाण जाप्य करना चाहिए। उसमे यदि दिशादाह आदि होते हैं तब कालशुद्धि नही होती है इसलिए वाचनाभग होती है अर्थात् वाचना नामक स्वाध्याय नही किया जाता है। यह कालशुद्धि रात्रि के पश्चिम भाग मे अस्वाध्याय काल मे करना चाहिए। इसी अपराह्ण स्वाध्याय के निमित्त कायोत्सर्ग में स्थित होकर प्रत्येक दिशा मे सात-सात गाथा प्रमाण अर्थात् सात-सात बार णमोकार मन्त्र पढना चाहिए। तथा अपराह्ण स्वाध्याय के अनन्तर प्रदोषकाल की वाचना निमित्त पाँच-पाँच बार णमोकार मन्त्र प्रत्येक दिशा में बोलना चाहिए। सर्वत्र दिशादाह आदि के अभाव मे कालशुद्धि होती है।

विशेष—सिद्धान्तग्रन्थ मे भी कालशुद्धि के करने का विधान है। यथा—"पश्चिम रात्रि में स्वाध्याय समाप्त कर बाहर निकल कर प्रासुक भूमिप्रदेश मे कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओं के उच्चारण काल से पूर्वदिशा को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिणारूप से पलट कर इतने ही काल से दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा को शुद्ध कर लेने पर छत्तीस गाथाओ के उच्चारण काल से अथवा एक सौ आठ उच्छ्वास काल से (एक बार णमोकार मन्त्र मे तीन उच्छवास होने से चार दिशा सम्बन्धी नव नव के छत्तीस ९×४=३६ णमोकार के ३६×३=१०८ एक सौ आठ उच्छवासो से) कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराह्ण काल में भी इसी प्रकार कालशुद्धि करनी चाहिए। विशेष इतना है कि इस समय की कालशुद्धि एक एक दिशा मे सात-सात गाथाओ के उच्चारण से होती है। यहाँ सब गाथाओ का प्रमाण अट्ठाईस अथवा उच्छ्वासों का प्रमाण चौरासी है। पश्चात् सूर्य के अस्त होने से पहले क्षेत्र-शुद्धि कर्के सूर्यास्त हो जाने पर पूर्व के समान कालशुद्धि करना चाहिए। विशेष इतना है कि यहाँ काल बीस गाथाओं के उच्चारण प्रमाण अर्थात् साठ उच्छ्वास प्रमाण है।

---

१ क °यामे स्वाध्याय. कर्तव्य।

*फलटन से प्रकाशित प्रति मे यह गाथा अधिक है—

आसाढे सत्तपदे आउड्ढपदे य पुस्समासम्हि।
सत्तंगुलसयवुड्ढी मासे मासे तविवरम्हि॥

अर्थात् आषाढ मास की पूर्णिमा में जब सूर्योदय के समय मे सात पाद प्रमाण छाया होती है तब स्वाध्याय प्रारम्भ करना और सूर्यास्तकाल मे सात पाद प्रमाण छाया होने पर अपराह्ण स्वाध्याय समाप्त करना। पौष मास की पूर्णिमा मे सूर्योदय के समय साढे तीन पाद प्रमाण छाया होने पर पूर्वाह्ण स्वाध्याय करना और सूर्यास्त के समय साढे तीन पाद प्रमाण छाया होने पर अपराह्ण स्वाध्याय समाप्त करना। तदनन्तर प्रतिमास छाया मे हानि-वृद्धि होती है। अर्थात् आषाढ़मास को प्रारम्भ कर मगसिर

अथ के ते दिग्दाहादय इति पृष्टे तानाह—

दिसदाह उक्कपडण विज्जु चडक्कासणिदधणुग च ।
दुग्गंधसंज्झदुद्दिणचंदग्गहसूरराहुजुज्झं च ॥२७४॥
कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च ।
इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा ॥२७५॥

दिशा दाह उत्पातेन दिशोऽग्निवर्णा । उल्काया पतन गगनात् तारकाकारेण पुद्गलपिण्डस्य पतन । विद्युच्चैक्यचिक्य, चडत्कार वज्र मेघसघट्टोद्भव। अशनि करकनिचय । इन्द्रधनु धनुषाकारेण

अपररात्रि के समय वाचना नही है, क्योकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का उपाय नही है। अवधिज्ञानी, मन.पर्ययज्ञानी समस्त अंगश्रुत के धारक, आकाश स्थित चारणमुनि तथा मेरु व कुलाचलो के मध्य स्थित चारण ऋषियों के अपररात्रिक वाचना भी है, क्योकि वे क्षेत्र-शुद्धि से रहित हैं।"

अभिप्राय यह हुआ कि पिछली रात्रि के स्वाध्याय मे आजकल मुनि और आर्यिकाएँ सूत्रग्रन्थो का वाचना नामक स्वाध्याय न करे। एव उनसे अतिरिक्त आराधनाग्रन्थ आदि का स्वाध्याय करके सूर्योदय के दो घड़ी (४८ मिनट) पहले स्वाध्याय समाप्त कर बाहर निकलकर प्रासुक प्रदेश मे खडे होकर चारो दिशाओं से तीन-तीन उच्छ्वास पूर्वक नव नव बार णमोकार मन्त्र का जाप्य करके दिशा-शुद्धि करे। पुन पूर्वाह्न स्वाध्याय समाप्ति के बाद भी अपराह्न स्वाध्याय हेतु चारो दिशाओ मे सात-सात बार महामन्त्र जपे। तथैव अपराह्न स्वाध्याय के अनन्तर भी पूर्वरात्रिक स्वाध्याय हेतु पाँच-पाँच महामन्त्र से दिशाशोधन कर लेवें। अपररात्रिक के लिए दिक्शोधन का विधान नही है, क्योकि उस काल मे ऋद्धिधारी महामुनि ही वाचना स्वाध्याय करते है और उनके लिए दिशा शुद्धि की आवश्यकता नही है।

वे दिग्दाह आदि क्या है? ऐसा पूछने पर उत्तर देते है—

गाथार्थ—दिशादाह, उल्कापात, विद्युत्पात, वज्र का भयकर शब्द, इन्द्रधनुष, दुर्गन्ध उठना, सध्या समय, दुर्दिन, चन्द्रग्रहण, सूर्य और राहु का युद्ध, कलह आदि तथा धूमकेतु, भूकम्प और मेघगर्जन तथा इसीप्रकार के और भी दोष है जो कि स्वाध्याय मे वर्जित है॥२७४-२७५॥

आचारवृत्ति—दिशादाह—उत्पात से दिशाओ का अग्नि वर्ण हो जाना, उल्कापतन—उल्का का गिरना अर्थात् आकाश से तारे के आकार के पुद्गल पिण्ड का गिरना, बिजली चमकना, मेघ के सघट्ट से उत्पन्न हुए वज्र का चटपट शब्द होना या वज्रपात होना, ओला—

तक सात पाद, प्रमाण छाया मे हानि होती है और पुष्यमास से ज्येष्ठमास तक वृद्धि होते-होते सप्तपाद प्रमाण छाया होती है।

"पच्छिमरत्तियसज्झाय खमाविय वहिं णिक्कलिय पासुवे भूमिपदेसे काओसग्गेण पुव्वाहिमुहो ट्ठाइदूण णवगाहापरियट्टणकालेण पुव्वदिसं सोहिय पुणो पदाहिणेण पल्लट्टिय एदेणेव कालेण जमवरुणसोमदिसासु सोहिदासु छत्तीसगाहुच्चारणकालेण । अट्ठसदुस्सासकालेण वा कालसुद्धी समप्पदि।१०८।

(धवला पुस्तक ९, पृ० २५३,२५४)

पंचवर्णपुद्गलनिचयः । दुर्गंधः पूतिगन्धः । सन्ध्या लोहितपीतवर्णाकारः । दुर्दिनं पतदुदकाभ्रसंयुक्तो दिवसः । चन्द्रयुद्ध, ग्रहयुद्धं, सूरयुद्ध राहुयुद्धं च । चन्द्रस्य ग्रहेण भेदः सघट्टो वा, ग्रहस्यान्योन्यग्रहेण भेदाः संघट्टादिर्वा, सूर्यस्य ग्रहेण भेदादिः, राहोश्चन्द्रेण सूर्येण वा सयोगो ग्रहणमिति । चशब्देन निर्घातादयो गृह्यन्त इति ॥२७४॥

कलहः क्रोधाद्याविष्टानां वचनप्रतिवचनैर्जल्पः महोपद्रवरूपः । आदिशब्देन खड्ग-कृपाणी-लकुटादिभिर्युद्धानि परिगृह्यन्ते । धूमकेतुर्गगने धूमाकाररेखाया दर्शनं । धरणीकम्पः पर्वतप्रासादादिसमन्वितायाः भूमेश्चलनं । चकारेण शोणितादिवर्षस्य ग्रहणं । अभ्रगर्जनं मेघध्वनिः । चकारेण महावातादिवर्षस्य ग्रहणं । अभ्रगर्जनं मेघध्वनिः । चकारेण महावाताग्निदाहादयः परिगृह्यन्ते । इत्येवमाद्यन्येऽपि बहवः स्वाध्यायकाले वर्जिताः परिहरणीया दोषाः सर्वलोकानामुपद्रवहेतुत्वात् । एते कालशुद्धयां क्रियमाणायां दोषाः पठनोपाध्याय-संघराष्ट्रराजादिविघ्नकारिणो यत्नेन त्याज्या इति ॥२७५॥

कालशुद्धिं विधाय द्रव्यक्षेत्रभावशुद्धयर्थमाह—

रुहिरादिपूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं ।
कोधादिसंकिलेसा भावविसोही पढणकाले ॥२७६॥

बर्फ के टुकड़ो का बरसना, इन्द्रधनुष----धनुष के आकार में पाँच बर्ण के पुद्गल समूह का दिखना, दुर्गन्ध आना, लाल-पीले आकार की सध्या का खिलना, जलवृष्टि करते मेघों से युक्त दिन का होना[1] अथवा मेघो से व्याप्त अन्धकारमय दिन का हो जाना । चन्द्रयुद्ध, ग्रहयुद्ध, सूर्ययुद्ध, और राहुयुद्ध का होना । चन्द्र का ग्रह के साथ भेद या सघट्ट होना, ग्रहो का परस्पर मे ग्रहो के साथ भेद या सघट्ट आदि होना, सूर्य का ग्रह के साथ भेद आदि का होना । राहु का चन्द्र के साथ अथवा सूर्य के साथ संयोग होना ग्रहण कहलाता है । 'च' शब्द से निर्घात आदि ग्रहण किये जाते हैं ।

कलह—क्रोध के आवेश मे हुए जनो का वचन और प्रतिवचनो से, बोलने और उत्तर देने से जो जल्प होता है, जो कि महाउपद्रव रूप है, कलहनाम से प्रसिद्ध है । 'आदि' शब्द से तलवार, छुरो, लाठी आदि से जो युद्ध होता है वह भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए । धूमकेतु—आकाश में धूमाकार रेखा का दिखना । धरणीकम्प—पर्वत, महल आदि सहित पृथ्वी का कम्पायमान होना । 'च' शब्द से रुधिर आदि की वर्षा होना, मेघों का गर्जना । पुनः 'चकार' से आँधी, अग्निदाह आदि होना । इत्यादि प्रकार से और भी बहुत से दोष होते है जो कि स्वाध्याय के काल में वर्जित है क्योंकि ये सभी लोगों के लिए उपद्रव में कारण है । कालशुद्धि के करने मे ये दोष पठन, उपाध्याय, संघ, राष्ट्र और राजा आदि के विनाश को करनेवाले है इसलिए इन्हे प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए ।

कालशुद्धि को कहकर अब द्रव्य, क्षेत्र और भाव-शुद्धि को कहते हैं—

गाथार्थ—रुधिर आदि का पीव शरीर मे होना और क्षेत्र मे सौ हाथ प्रमाण तक मांस आदि अपवित्र वस्तु का वर्जन द्रव्य-क्षेत्र शुद्धि है और पठनकाल में क्रोधादि सक्लेश का वर्जन भावविशुद्धि है । यहाँ वर्जन शब्द की अनुवृत्ति ग्रहण करके अर्थ किया गया है ॥२७६॥

१. मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनं, अमरकोषः ।

रुधिर रक्तं । आदिशब्देनाशुचिशुक्रास्थिव्रणादीनि परिगृह्यन्ते, पूय—कुथितक्लेद । मासं आर्द्रं पचेन्द्रियावयव । द्रव्ये आत्मशरीरेऽन्यशरीरे वैतानि वर्जनीयानि । क्षेत्रे स्वाध्यायकरणप्रदेशे चतसृषु दिक्षु हस्तशतचतुष्टयमात्रेण सर्वाणि वर्जनीयानि । यदि शोधयितु न शक्यन्ते तत्क्षेत्र द्रव्य च त्याज्य तस्मिन् सजीवे सति स्वाध्यायो न [1]कर्तव्य । प्रवक्तृश्रोत्रादिभिरुष्णोदकादीनि ग्राह्याणि, वातप्रचुरहेत्वाहारादिर्न ग्राह्यः, अजीर्णादयोऽपि न कर्तव्या. । द्रव्यशुद्धि क्षेत्रशुद्धि चेच्छुभि. क्रोधादयोऽपि सक्लेशा वर्जनीया । क्रोधमानमाया-

आचारवृत्ति—रुधिर आदि शब्द से अपवित्र, शुक्र, हड्डी, और घाव आदि ग्रहण किये जाते है । पीव अर्थात् सडा खून, माँस—पचेद्रिय जीव का अवयव, ये अपने शरीर मे हों या अन्य के शरीर मे हों अर्थात् अपने या पर के शरीर से यदि ये अपवित्र पदार्थ निकल रहे हों तो द्रव्य शुद्धि न होने से स्वाध्याय वर्जित है । क्षेत्र मे—स्वाध्याय करने के प्रदेश मे चारो ही दिशाओ में चार सौ हाथ प्रमाण तक अर्थात् प्रत्येक दिशा मे सौ-सौ हाथ प्रमाण तक इन सब अपवित्र वस्तुओं का वर्जन करना चाहिए । यदि इनका शोधन करना—दूर करना शक्य नही है तो उस क्षेत्र को और द्रव्य को छोड़ देना चाहिए । जीव सहित प्रदेश के होने पर स्वाध्याय नही करना चाहिए ।

प्रवक्ता—प्रवचन करनेवालो या पढ़ानेवालो को तथा श्रोता आदि को उष्ण जल आदि वस्तुएँ आहार मे लेनी चाहिए । जिसमे वात प्रचुर मात्रा मे हो ऐसे आहार आदि नही ग्रहण करना चाहिए । अजीर्ण आदि भी नही करना चाहिए अर्थात् गरिष्ठ भोजन करके अजीर्ण आदि दोष उत्पन्न हो ऐसा नही करना चाहिए । इस तरह द्रव्यशुद्धि और क्षेत्र शुद्धि को चाहनेवाले मुनियो को क्रोधादि सक्लेश परिणामो का भी त्याग कर देना चाहिए । क्योकि क्रोध-मान-माया-लोभ, असूया, ईर्ष्या आदि का अभाव होना भावशुद्धि है । पठनकाल मे इस भावशुद्धि को करते हुए अत्यर्थ रूप से उपशम आदि भाव रखना चाहिए । इस तरह कालशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि और भावशुद्धि के द्वारा पढा गया शास्त्र कर्मक्षय के लिए होता है अन्यथा—इन शुद्धियो के अभाव मे, पढा गया शास्त्र कर्मबन्ध के लिए ही जाता है, ऐसा समझना ।

विशेष—सिद्धान्त ग्रन्थ मे चार प्रकार की शुद्धि का वर्णन है जो निम्न प्रकार है—
"यहाँ व्याख्यान करनेवालो और सुननेवालो को भी अर्थात् सिद्धान्त ग्रन्थ को पढ़ानेवाले गुरुओं एवं पढनेवाले मुनियो को भी द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि से व्याख्यान करना चाहिए—पढ़ाना चाहिए ।

उनमे ज्वर, कुक्षिरोग, शिरोरोग, कुत्सितस्वप्न, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, लेप, अतीसार और पीव का बहना—इत्यादिकों का शरीर मे न रहना द्रव्यशुद्धि कही जाती है । व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश से चारो दिशाओ मे अट्ठाईस हजार प्रमाणक्षेत्र मे विष्ठा, मूत्र, हड्डी, केश,

[1] क कार्य ।

*एत्थ वक्खाणतेहि सुणतेहि वि दव्व-खेत्त काल-भावसुद्धीहि वक्खाण-पढणवावारो कायव्वो । तत्थ······।

[धवला पु० ९, पृ० २५३]

व्यंजनार्थोभयशुद्धिस्वरूपार्थमाह—

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं ।
पयदेण य अप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥२८५॥*

व्यञ्जनशुद्धं अक्षरशुद्धं पदवाक्यशुद्धं च दृष्टव्यं देशामर्षकत्वात्सूत्राणां। अर्थविशुद्ध—अर्थसहित। तदुभयविशुद्धं च व्यंजनार्थसहितं सूत्रमिति सम्बन्ध । प्रयत्नेन च व्याकरणद्वारेणोपदेशेन वा अल्पन् पठन् प्रतिपादयन् वा ज्ञानविशुद्धो भवत्येष । सिद्धांतादीनक्षरविशुद्धानर्थशुद्धान् यथार्थशुद्धांश्च पठन् वाचयन् प्रतिपादयश्च ज्ञानविशुद्धो भवत्येष । अक्षरादिव्यत्ययं न करोति यथा व्याकरणं यथोपदेशं पठतीति ॥२८५॥

किमर्थं विनय क्रियत इत्याह—

व्यजनशद्धि अथशुद्धि और तदुभय शुद्धि का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—व्यजन से शुद्ध अथ से विशुद्ध और इन उभय से विशुद्ध सूत्र को प्रयत्न पूर्वक पढ़ते हुए यह मुनि ज्ञान से विशुद्ध होता है ॥२८५॥

आचारवृत्ति—व्यजनशुद्ध—शब्द से अक्षरो से शुद्धि। पद और वाक्यो से शुद्धि को भी लेना चाहिए क्योंकि सूत्र देशामर्षक होते हैं अर्थात सूत्र में एक अवयव का उल्लेख अनेक अवयवो के उल्लेख के लिए उपलक्षण रूप रहता है। अत व्यजनशुद्ध शब्द से अक्षर पद और वाक्यों की शुद्धि को भी समझना चाहिए। उन सूत्रो का अथ शुद्ध समझना अथशुद्ध है। इन दोनो को शुद्ध पढना तदुभयशुद्ध है। सूत्र का सम्बन्ध तीनो के साथ करना चाहिए अर्थात् सूत्रो को अक्षर मात्रादिक से शुद्ध पढना उन का ठीक ठीक अथ समझना और सूत्र तथा अर्थ दोनों को सही पढना। प्रयत्नपूवक व्याकरण के अनुसार अथवा गुरु के उपदेश के अनुसार इन सूत्र *अर्थ और उभय को पढते हुए अथवा अन्य को वैसा प्रतिपादन करते हुए* मुनि ज्ञान मे विशुद्धि की प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह हुआ कि सिद्धात आदि ग्रन्थों को अक्षर से शुद्ध, अर्थ से शुद्ध और ग्रन्थ तथा अर्थ इन दोनो से शुद्ध पढता हुआ उनकी वाचना करता हुआ और उनको प्रतिपादित करता हुआ मुनि ज्ञानविशुद्ध हो जाता है। वह अक्षर आदि का विपर्यय नही करता है व्याकरण के अनुकूल और गुरु उपदेश के अनुकूल पढ़ता है। इस प्रकार से इन तीन शुद्धियों का अर्थात छठी सातवी और आठवीं शुद्धियों का कथन किया गया है। यहाँ तक ज्ञानाचार के आठ भद रूप आठ शुद्धियों का वर्णन हुआ।

किसलिए ज्ञान किया जाता है ? सो ही बताते हैं—

---

*फलटण से प्रकाशित प्रति में यह अधिक है—

तित्थयरकहिय अत्थं गणहररचिदं यदीहिं अणुचरिदं ।
[illegible] ॥

अर्थ—जो श्रुत तीर्थंकर के द्वारा अर्थरूप से कथित है गणधर देव के द्वारा द्वादशांगरूप से रचित है और अन्य यतियो के द्वारा अनुचरित है अर्थात् परम्परा से कथित है और जो निर्वाण के लिए कारणभूत है ऐसे सम्पूर्ण—द्वादशांगमय श्रुत को मैं नमस्कार करता हूँ।

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि[1] परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥२८६॥

विनयेन श्रुतमधीत यद्यपि प्रमादेन विस्मृत भवति तथापि परभवेऽन्यजन्मनि तत्सूत्रमुपतिष्ठते, केवलज्ञान चावहति प्रापयति तस्मात्कालादिशुद्धया पठितव्य शास्त्रमिति ॥२८६॥

ज्ञानाचारप्रबन्धमुपसहरश्चारित्राचारप्रबन्ध सूचयन्नाह—

णाणाचारो एसो णाणगुणसमण्णिदो मए वुत्तो ।
एत्तो चरणाचारं चरणगुणसमण्णिदं वोच्छं ॥२८७॥

ज्ञानाचारो ज्ञानगुणसमन्वितो मयोक्त. । इत उर्ध्वं चरणाचार चरणगुणसमन्वितं वक्ष्ये कथयिष्ये-ऽनुवदिष्यामीति । तेनात्रात्मकर्तृत्व परिहृतमाप्तकर्तृत्व च ख्यापित ॥२८७॥

[2]तथा प्रतिज्ञानिर्वहन्नाह—

पाणिवहमुसावाद-अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदी ।
एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥२८८॥

गाथार्थ—विनय से पढ़ा गया शास्त्र यद्यपि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाता है तो भी वह परभव में उपलब्ध हो जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है ॥२८६॥

आचारवृत्ति—विनय से जो शास्त्र पढा गया है, प्रमाद से यदि उसका विस्मरण भी हो जावे तो अन्य जन्म में वह सूत्र ग्रन्थ उपस्थित हो जाता है, स्मरण में आ जाता है । और वह पढ़ा हुआ शास्त्र केवलज्ञान को भी प्राप्त करा देता है । इसलिए काल आदि की शुद्धिपूर्वक शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए ।

अब ज्ञानाचार के कथन का उपसंहार करते हुए और चरित्राचार के कथन की सूचना करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञान गुण से सहित यह ज्ञानाचार मैंने कहा है । इससे आगे चारित्र गुण से सहित चारित्राचार को कहूँगा ॥२८७॥

आचारवृत्ति—ज्ञानगुण समन्वित ज्ञानाचार मैंने कहा । अब मैं चरण गुण से समन्वित चरणाचार को कहूँगा । यहाँ पर 'वक्ष्ये' क्रिया का अर्थ ऐसा समझना कि 'जैसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है उसीके अनुसार मैं कहूँगा ।' इस कथन से यहाँ पर ग्रन्थकर्त्ता ने आत्मकर्तृत्व का परिहार किया है और आप्तकर्तृत्व को स्थापित किया है । अर्थात् इस ग्रन्थ में जो भी मैं कह रहा हूँ वह मेरा नहीं है किन्तु आप्त के द्वारा कहे हुए को मैं किंचित् शब्दों में कह रहा हूँ । इससे इस ग्रन्थ की प्रमाणता स्पष्ट हो जाती है ।

उसी चारित्राचार को कहने की प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा और असत्य से तथा अदत्तवस्तुग्रहण, मैथुन और परिग्रह से विरति होना—यह पाँच प्रकार का चारित्राचार है ऐसा जानना चाहिए ॥२८८॥

---

१ क तमुट्ठावदि । २ क यथा

प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहाणां विरतयो निवृत्तय एव चारित्राचारः पंचप्रकारो भवति ज्ञातव्यः। येन प्राण्युपघातो जायते तत्सर्वं मनसा वचसा कायेन च परिहर्तव्यं येनानृतं, येन च स्तैन्यं, येन मैथुनेच्छा, येन च परिग्रहेच्छा तत्सर्वं त्याज्यमिति ॥२८८॥

प्रथमव्रतप्रपंचनार्थमाह—

एइंदियादिपाणा पंचविहावज्जभीरुणा सम्मं।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ॥२८९॥

एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः, एकेन्द्रिया आदिर्येषां प्राणानां जीवानां त एकेन्द्रियादयः प्राणाः, ते कियन्तः पंचविधाः पंचप्रकारास्ते, खलु स्फुटं अवद्यभीरुणा सम्यग्विधानेन न हिंसितव्याः, मनसा वचसा कायेन च सर्वत्र पीडा न कर्तव्या न कारयितव्या नानुमन्तव्येति। सर्वस्मिन् काले, सर्वस्मिन् देशे सर्वस्मिन्वा भावे चेति ॥२८९॥

द्वितीयव्रतस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

हस्सभयकोहलोहा मणिवचिकायेण सव्वकालम्मि।
मोसं ण य भासिज्जो पच्चयघादी हवदि एसो ॥२९०॥

हास्यभयलोभक्रोधैर्मनोवाक्कायप्रयोगेण सर्वस्मिन् कालेऽतीतानागतवर्तमानकालेषु मृषावाद—

आचारवृत्ति—जीववध, असत्यभाषण, अदत्तग्रहण, मैथुनसेवन और परिग्रह से निवृत्त होना यह पाँच प्रकार का चारित्राचार है। जिसके द्वारा प्राणियों का उपघात होता है उन सब का मन से, वचन से और काय से परिहार करना चाहिए। ऐसे ही, जिनसे असत्य बोलना होता है, जिनसे चोरी होती है, जिनसे मैथुन की इच्छा होती है और जिनसे परिग्रह की इच्छा होती है उन सभी कारणों का त्याग करना चाहिए।

अब प्रथम व्रत का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—एकेन्द्रिय आदि जीव पाँच प्रकार के हैं। पापभीरु को सम्यक् प्रकार से मन-वचन-काय पूर्वक सर्वत्र उन जीवों की निश्चितरूप से हिंसा नहीं करना चाहिए ॥२८९॥

आचारवृत्ति—एक इन्द्रिय है जिनकी वे एकेन्द्रिय हैं। यहाँ 'प्राण' शब्द से जीवों को लिया है। वे कितने हैं? पाँच प्रकार के हैं। पापभीरु मुनि को स्पष्टतया, सम्यक् विधान से, उनकी हिंसा नहीं करना चाहिए। मन-वचन-काय से सर्वत्र अर्थात् सर्वकाल में, सर्वदेश में अथवा सभी भावों में इन जीवों को पीड़ित नहीं करना चाहिए, न कराना चाहिए और न करते हुए की अनुमोदना ही करना चाहिए—यह अहिंसा महाव्रत है।

द्वितीय व्रत का स्वरूप निरूपण करने हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—हास्य, भय, क्रोध और लोभ से मन-वचन-काय के द्वारा सभी काल में असत्य नहीं बोले; क्योंकि वैसा करनेवाला असत्यभाषी, विश्वासघाती होता है ॥२९०॥

आचारवृत्ति—हास्य से, भय से, क्रोध से अथवा लोभ से भूत, भविष्यत् और वर्तमान

परपीडाकरं वचनं नो वदेत्। यत एष मृषावादः प्रत्ययघाती भवतीति न कस्यापि विश्वासस्थानं जायते। अतो हास्यात्, क्रोधात्, भयात् लोभाद्वा परपीडाकरं वस्तुयाथात्म्यविपरीतप्रतिपादकं वचनं मनसा न चिन्तयेत्, ताल्वादिव्यापारेण नोच्चारयेत्, कायेन नानुष्ठापयेदिति ॥२६०॥

अस्तेयव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

गामे णगरे रण्णे थूलं सचित्त बहु सपडिवक्खं।
तिविहेण वज्जिदव्वं अदिण्णगहणं च तण्णिच्चं ॥२६१॥

ग्रामो वृत्त्यावृतः। नगरं चतुर्गोपुरोद्भासि शालं। अरण्यं महाटवीगहनं। उपलक्षणमात्रमेतत्। तेन ग्रामे, नगरे, पत्तने, अरण्ये, पथि, खले, मटंबे, खेटे, कर्वटे, सवाहने, द्रोणमुखे, सागरे, द्वीपे, पर्वते, नद्यां वेत्येवमाद्यन्येष्वपि प्रदेशेषु स्थूलं सूक्ष्मं, सचित्तमचित्तं, बहु स्तोकं वा सप्रतिपक्षं द्रव्यं सुवर्णादिकं धनधान्यं वा द्विपदचतुष्पदजातं वा कांस्यवस्त्राभरणादिकं वा पुस्तिकाकपलिकानखरदनपिच्छिकादिकं वा, नष्टं वा विस्मृतं पतितं स्थापितं परसगृहीतं त्रिविधेन मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतैर्वादत्तग्रहणं नित्यं तत्सर्वं वर्जितव्यं। अन्य-

---

रूप त्रिकाल मे भी पर-पीड़ा उत्पन्न करनेवाले तथा वस्तु के यथावत् स्वरूप से विपरीत प्रतिपादक वचनो को मन मे भी नही लावे, तालु आदि व्यापार से उनका उच्चारण नही करे और काय से उन असत्य वचनो का अनुष्ठान नही करे। अर्थात् सदैव मन-वचन-काय पूर्वक असत्य बोलनेवाला सर्वत्र विश्वास का पात्र नही रह जाता। यह द्वितीय महाव्रत हुआ।

अचौर्यव्रत का स्वरूप-निरूपण करने हेतु कहते है —

गाथार्थ—ग्राम मे, नगर मे तथा अरण्य में जो भी स्थूल, सचित्त और बहुत तथा इनसे प्रतिपक्ष सूक्ष्म, अचित्त और अल्प वस्तु है, बिना दिए हुए उसके ग्रहण करने रूप उसका सर्वथा ही मन-वचन-कायपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥२६१॥

आचारवृत्ति—बाड़ से वेष्टित को ग्राम कहते हैं। चार गोपुरवाले परकोटे से सहित को नगर कहते है। महाअटवी को अरण्य कहते हैं। ये उपलक्षण मात्र हैं। इससे ग्राम, नगर, पत्तन, अरण्य, मार्ग, खलिहान, मटम्ब, खेट, कर्वट, सवाहन, द्रोणमुख, सागर, द्वीप, पर्वत और नदी तथा अन्य और भी जो कोई प्रदेश—स्थान हैं उन सब में जो भी वस्तु है वह चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, सचित्त हो या अचित्त, बहुत हो या थोड़ी, अथवा सुवर्ण आदि द्रव्य हो या धनधान्य हो या द्विपद—दासी, दास, चतुष्पद—गौ, भैंस आदि हों, कांस्य के वर्तन आदि या वस्त्र आभरण आदि हो, या पुस्तक, कपलिका—कमण्डलु, नखकतरनी हों, या पिच्छिका आदि हो, इनमे से कोई वस्तु उन स्थानो में नष्ट हुई—किसी की खो गई हो, भूल से रह गई हो, किसी की गिर गई हो या किसी ने रखी हो या किसी अन्य के द्वारा सग्रहीत हो—मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से इनमें से बिना दी हुई किसी भी वस्तु का जो ग्रहण है वह चोरी है। उसका सर्वथा ही त्याग करना चाहिए। अन्य भी जो कुछ इसी प्रकार का धन आदि, जो कि विरोध का कारण हो, की भी इच्छा नही करना चाहिए; क्योंकि वह सब बिना दिया हुआ धनादि चोरी स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थान में कोई भी वस्तु कैसी भी क्यों न हो यदि वह उसके स्वामी द्वारा दी हुई नहीं है तो उसका

दप्येवमादिधनादिक विरोधकारण नेहितव्य । सतत्सर्वमदत्त स्तेयस्वरूपमिति ॥२६१॥

चतुर्थव्रतस्वरूपनिरूपणायाह—

अच्चित्तदेवमाणुसतिरिक्खजादं च मेहुणं चदुधा।
तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चंपि मुणी हि पयदमणो ॥२६२॥

अचित्त, चित्र-लेप-पुस्त-भांड-शैल-बंधादिकर्मनिर्वर्तितस्त्रीरूपाणि, भवनवानव्यन्तरज्योतिष्क-कल्पवासदेवस्त्रिय , ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रस्त्रियश्च, वडवागोमहिष्यादितिरश्च्यश्च, एताभ्यो जातमुत्पन्नं चतुर्धा मैथुनं रागोद्रेकात्कामाभिलाष त्रिविधेन मनोवचनकायकर्मभि कृतकारितानुमतैस्तन्न सेवते । नित्यमपि मुनि प्रयत्नमना । हि स्फुट । स्वाध्यायपरो लोकव्यापाररहित सर्वा स्त्रीप्रतिमाः मातृदुहितृभगिनीवत् चिंतेत् । नैकाकी ताभि सहैकान्ते तिष्ठेत् । न कर्मनि गच्छेत् । न च रहसि मन्त्रयेत् । नाप्येकाकी सन्नेकस्या प्रतिक्रमणादिक कुर्यात् । येन येन जुगुप्सा भवेत् तत्सर्वं त्याज्यमिति ॥२६२॥

पंचमव्रतप्रपंचनार्थमाह—

लेना चोरी है । उस चोरी का त्याग करना यह अचौर्य महाव्रत है ।

चतुर्थव्रत का स्वरूप निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अचेतन, देव, मनुष्य और तिर्यंच इन सम्बन्धी स्त्रियो से होने वाला चार प्रकार का जो मैथुन है, प्रयत्नचित्त वाले मुनि निश्चित रूप से, नित्य ही मनवचनकाय से उसका सेवन नहीं करते हैं ॥२६२॥

आचारवृत्ति—चित्र, लेप, पुस्त, भाड, शैल-बध आदि के बने हुए स्त्री-रूप अचेतन है । अर्थात् वस्त्र, कागज, दीवाल आदि पर बने हुए स्त्रियो के चित्र, लेप से निर्मित स्त्रियो की मूर्तियाँ, सोने-पीतल आदि धातु तथा पाषाण आदि से निर्मित मूर्तियाँ या पत्थर पर उकेरे गये स्त्रियों के आकार ये सब अचेतन स्त्रीरूप हैं । भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी देवो की देवांगनाएँ देवस्त्री हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनकी स्त्रियाँ मनुष्यस्त्री है और घोड़ी, गाय, भैंस आदि तिर्यंच तिर्यंचस्त्री हैं । इन चार प्रकार की स्त्रियो से उत्पन्न हुआ जो मैथुन है अर्थात् राग के उद्रेक से होनेवाली जो कामसेवन की अभिलाषा है, प्रयत्नमना मुनि नित्य ही मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से (अर्थात् ३ × ३ = ९ नव कोटि से) निश्चित ही इस मैथुन का सेवन नहीं करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय मे तत्पर हुए मुनि लोक-व्यापार से रहित होते हुए इन सभी स्त्रियों को माता, पुत्री और बहिन के समान समझे । एकाकी मुनि इन स्त्रियो के साथ एकान्त में नहीं रहे, न मार्ग मे गमन करे और न एकान्त मे इनके साथ किंचित् ही विचार-विमर्श करे । एकाकी हुआ एक आर्यिका के साथ प्रतिक्रमण आदि भी नहीं करे । कहने का सार यही है कि जिस-जिस व्यवहार से निन्दा होवे वह सब व्यवहार छोड देना चाहिए । यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है ।

पाँचवें व्रत का स्वरूप कहते हैं—

गामं णगरं रण्णं थूलं सच्चित्त बहु सपडिवक्खं ।
अज्झत्थ बाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहं वज्जे ॥२६३॥

ग्राम, नगर, अरण्य, पत्तनं, मटवादिक च । स्थूलंक्षेत्रगृहादिक । सचित्त दासीदासगोमहिष्यादिक । बहुमनेकभेदभिन्न । सप्रतिपक्ष सूक्ष्मं[1] चित्रैकरूपं नेत्रचीनकौशेयद्रव्यमणिमुक्ताफलसुवर्णभाण्डादिकं । अध्यात्म मिथ्यात्व-वेद-राग-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-क्रोध-मान-माया-लोभात्मक बहिःस्थं क्षेत्रवास्त्वादिकं दशप्रकार । मनोवाक्कायकर्मभि. कृतकारितानुमतैः परिग्रह श्रामण्यायोग्य वर्जयेत् । सर्वथा मूर्च्छा त्याज्येति नैःसंग्यमाचरेत् ॥२६३॥

अथ महाव्रतानामन्वर्थव्युत्पत्ति प्रतिपादयन्नाह—

साहंति जं महत्थं आचरिदाणी य जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाणि तदो महव्वयाइं भवे ताइं ॥२६४॥

यस्मान्महार्थं मोक्ष साधयन्ति, यस्माच्च महद्भिस्तीर्थकरादिभिराचरितानि सेवितानि, यतश्च स्वत एव महान्ति सर्वसावद्यत्यागात् ततस्तानि महाव्रतानि भवन्ति । न पुन कपालादिग्रहणेनेति ॥२६४॥

गाथार्थ—ग्राम, नगर,, अरण्ड़, स्थूल, सचित्त और बहुत तथा स्थूल आदि से उल्टे सूक्ष्म, अचित्त, स्तोक ऐसे अतरग और बहिरग परिग्रह को मन-वचन-काय से छोड़ देवे ॥२६३॥

आचारवृत्ति—ग्राम, नगर, वन, पत्तन, और मटंव आदि स्थूल अर्थात् खेत घर आदि, सचित्त—दासी, दास, गौ, महिषी आदि; बहु—अनेक भेदरूप; इनसे उलटे सूक्ष्म—नेत्र, चीनपट्ट, रेशम, द्रव्य, मणि, मोती, सोना और भाड—बर्तन आदि परिग्रह, अध्यात्म—अन्तरग परिग्रह; मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चौदह प्रकार का है। बाह्य परिग्रह क्षेत्र वस्तु आदि भेद से दश प्रकार का है। उपर्युक्त ग्राम आदि भेद इन दश मे ही सम्मिलित हो जाते है। मुनिपने के अयोग्य ऐसे इन चौबीस प्रकार के परिग्रह का मुनि मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुरोदना रूप (३ × ३ = ९ नव कोटि) से त्याग कर देवे। अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है, उस मूर्च्छा का सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार से निःसंग प्रवृत्ति का आचरण करना चाहिए।

अब महाव्रतों की अन्वर्थ व्युत्पत्ति प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—जिस हेतु से ये महान् पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं और जिस हेतु से ये महापुरुषों के द्वारा आचरण मे लाये गए हैं और जिस हेतु से ये महान् हैं उसी हेतु से ये महाव्रत कहलाते हैं ॥२६४॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से ये महान् मोक्ष को सिद्ध करते है, जिस कारण से तीर्थंकर आदि महापुरुषों के द्वारा सेवित है और जिस कारण से ये स्वत. ही महान् हैं क्योंकि ये सर्वसावद्य के त्यागरूप हैं उसी कारण से ये महाव्रत कहलाते हैं। किन्तु कपाल आदि पात्रों को ग्रहण करने से कोई महान् नही होते है। अर्थात् कपाल आदि का जैनागम में निषिद्ध है ये महाव्रत के लक्षण नही हैं अपितु उपर्युक्त अर्थ हो महाव्रत का अन्वर्थ है।

---

1 क 'सूक्ष्माचित्तैक'।

अथ रात्रिभोजननिवृत्यादिनिरूपणोत्तरप्रबन्ध किमर्थं इति पृष्टेऽत आह—

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती¹ ।
अट्ठय पवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ ॥२९५॥

तेषामेव महाव्रताना रक्षणार्थं रात्रिभोजननिवृत्ति । रात्रौ भोजन तस्य निवृत्ती रात्रिभोजन-निवृत्ति । बुभुक्षितोऽपि भोजनकालेऽतिक्रान्ते नैवाहार चिन्तयति । नाप्युदकादिक । अष्टौ प्रवचनमातृका पंच समितयस्त्रिगुप्तय । भावनाश्च सर्वा पचविंशतय महाव्रतानां पालनाय वक्ष्यन्त इति ॥२९५॥

यते रात्रौ भोजनक्रियायां प्रविशतो दोषानाह—

तेसिं पंचण्हंपि य ण्हयाणमावज्जणं च संका वा ।
आदविवत्ती अ हवे रादीभत्तप्पसंगेण ॥२९६॥

तेषा पचानामप्यह्नवानां व्रतानामासमन्ताच्चावर्जन भग म्लानता, आशङ्का वा लोकस्य

रात्रिभोजननिवृत्ति आदि निरूपण के लिए जो उत्तरप्रबन्ध है वह किसलिए है? ऐसा पूछने पर कहते है—

गाथार्थ—उन ही व्रतो की रक्षा के लिए रात्रिभोजन का त्याग, आठ प्रवचन मातृकाएँ और सभी भावनाएँ हैं ॥२९५॥

आचारवृत्ति—उन्ही ही पाँच महाव्रतो की रक्षा के लिए रात्रिभोजन-त्याग व्रत है। मुनि क्षुधा से पीडित होते हुए भी भोजनकाल निकल जाने पर आहार का विचार नही करते हैं। प्रवचन-मातृका आठ हैं—पाँच समिति और तीन गुप्ति। सभी भावनाएँ पच्चीस हैं। महाव्रतो के पालन हेतु इन सबको आगे कहेंगे।

यदि मुनि रात्रि मे भोजन के लिए प्रवेश करते हैं तो क्या दोष आते हैं? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—रात्रिभोजन के प्रसग से उन पाँचो व्रतो मे भी मलिनता अथवा आशंका और अपने पर विपत्ति भी हो जाती है ॥२९६॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि रात्रि मे भोजन के लिए निकलते हैं तो उन पाँचो भी अह्नव—व्रतो मे सब तरह से भग, म्लानता—मलिनता हो जाती है। अथवा लोगो को आशका हो सकती है कि यह दीक्षित हुए मुनि किसलिए यहाँ रात्रि मे प्रवेश करते हैं। अर्थात् ये चोरी के लिए आ रहे हैं या व्यभिचार के लिए आ रहे हैं इत्यादि आशकाएँ भी लोगो के मन में उठने लगेंगी। गृहस्थो की विपत्ति अथवा स्वयं को भी विपत्तियाँ आ सकती हैं। अर्थात् ठूँठ लग जाने से, पशुओं के त्रास से, चोरों के द्वारा त्रास देने से या कुत्ते के भौंकने से—काट देने से या कोतवाल द्वारा पकड लिए जाने आदि के प्रसंगों से अपने पर सकट भी आ सकता है। इसलिए रात्रिभोजन का त्याग कर देना चाहिए।

---

१ 'विरत्ती' इत्यादि पाठ।

किमितिकृत्वाय प्रव्रजितो रात्रौ प्रविष्टो दुरारेक स्यात्। गृहस्थानामात्मविपत्तिश्च भवेत्। स्थाणुपशुसिंह-चौरसारमेयनगररक्षकादिभ्यो रात्रिभक्तप्रसंगेन रात्रावाहारार्थं पर्यटतस्तस्माद्रात्रिभोजनं त्याज्यमिति।

पचविधमाचार व्याख्याय समित्यादिद्वारेणाष्टविधं व्याख्यातुकाम प्राह—

पणिधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
एस चरित्ताचारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ॥२९७॥

प्रणिधान परिणामस्तेन योग सम्पर्क प्रणिधानयोग । युक्तो न्याय्य शोभनमनोवाक्कायप्रवृत्तय:। पचसमितिषु त्रिषु गुप्तिषु। एष चारित्राचारोऽष्ट विधो भवति ज्ञातव्य। महाव्रतभेदेन पंचप्रकार. आचार:।

विशेष—मुनियों के लिए रात्रिभोजन त्याग को अन्यत्र आचार्यों ने छठा अणुव्रत नाम दिया है। यथा, मुनियों के जो दैवसिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण हैं वे गौतमस्वामीकृत हैं। उनके विषय में टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य ने ऐसा कहा है कि "श्रीगौतम स्वामी मुनियों को दु:षमकाल में दुष्परिणाम आदि के द्वारा प्रतिदिन उपार्जित कर्मों की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण लक्षण उपाय को कहते हुए उसके आदि मे मगल हेतु इष्ट देवता विशेष को नमस्कार करते हैं—"[1]

इन प्रतिक्रमणों मे स्थल-स्थल पर छठे अणुव्रत का उल्लेख है। जैसे कि "अहावरे छट्ठे अणुव्वदे सव्व भंत्ते। राइभोयण पच्चक्खामि जावज्जोव।"[2]

अकलक देव पाँच व्रतो के वर्णन करनेवाले सूत्र के भाष्य मे कहते हैं—

"रात्रिभोजन विरति को यहाँ पर ग्रहण करना चाहिए क्योंकि यह भी छठा अणुव्रत है? उत्तर देते हैं—नही, क्योकि अहिसाव्रत की भावनाओं मे यह अन्तर्भूत हो जाता है।" इत्यादि।

कहने का मतलब यही है कि इस व्रत को छठा अणुव्रत कहा गया है। इसे अणुव्रत कहने का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि भोजन का सर्वथा त्याग न होकर रात्रि में ही है। अतएव 'अणुव्रत' संज्ञा सार्थक है।

पाँच प्रकार के आचार महाव्रत का व्याख्यान करके अब समिति आदि के द्वारा अष्टविध प्रवचनमातृका को कहने के इच्छुक आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—पाँच समिति और तीन गुप्तियों मे शुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्तिरूप यह चारित्राचार आठ प्रकार का है ऐसा जानना चाहिए ॥२९७॥

आचारवृत्ति—प्रणिधान परिणाम को कहते हैं। उसके साथ योग—संपर्क सो प्रणिधानयोग है। युक्त का अर्थ न्यायरूप है। अर्थात् शोभन मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को प्रणिधानयोग युक्त कहा है। पाँच समिति और तीन गुप्तियो में जो शुभ परिणाम युक्त प्रवृत्ति है सो यह

---

१. श्रीगौतमस्वामी मुनीना दु:षमकाले दुष्परिणामादिभि: प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमण-लक्षणमुपाय विदधान: [प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी]

२. पाक्षिकप्रतिकमण।

अथवा समितिगुप्तिविषयपरिणामभेदेनाष्टप्रकारो न्याय्य आचार इति ॥२९७॥

अथ युक्त इति विशेषण किमर्थमुपात्तमित्याशंकायामाह—

पणिधाणंपि य दुविहं पसत्थ तह अप्पसत्थं च ।
समिदीसु य गुत्तीसु य पसत्थ सेसमप्पसत्थं तु ॥२९८॥

प्रणिधानमपि द्विप्रकार। प्रशस्त शुभ। तथाऽप्रशस्तमशुभमिति। समितिषु गुप्तिषु प्रशस्त प्रणिधान। तथाशेषमप्रशस्तमेव। सम्यगयन जीवपरिहारेण मार्गोद्योते धर्मानुष्ठानाय गमन प्रयत्नपरस्य यतेर्यत् सा समिति। अशुभमनोवाक्कायाना गोपन स्वाध्यायध्यानपरस्य मनोवाक्कायसवृतिर्गुप्ति। एतासु यत्प्रणिधान स युक्तोऽष्टप्रकारश्चारित्राचार इति। शेष पुनर्यदप्रशस्त प्रणिधान तद्द्विविधमिन्द्रियनोइन्द्रियभेदेन ॥२९८॥

इन्द्रियप्रणिधानस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इदरे य ।
ज रागदोसगमणं पंचविहं होइ पणिधाणं ॥२९९॥

आठ प्रकार का चारित्राचार है। और, महाव्रत के भेद से पाँच प्रकार का आचार अथवा समिति गुप्ति विषयक परिणाम के भेद से आठ प्रकार का यह न्याय रूप आचार है।

भावार्थ—चारित्राचार के पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति ऐसे तेरह भेद होते है। उन्हे ही यहाँ पर पृथक्-पृथक् कहा है।

यहाँ 'युक्त' यह विशेषण किसलिए ग्रहण किया है? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—प्रणिधान के भी दो भेद है—प्रशस्त और अप्रशस्त। समितियो और गुप्तियो मे तो प्रशस्त है और शेष प्रणिधान अप्रशस्त है ॥२९८॥

आचारवृत्ति—प्रशस्त—शुभ और अप्रशस्त—अशुभ के भेद से प्रणिधाम भी दो प्रकार का है। समिति और गुप्ति म प्रशस्त प्रणिधान है तथा शेष प्रणिधान अप्रशस्त ही है। सम्यक् प्रकार से अयन अर्थात् गमन को या प्रवृति को समिति कहते हैं। अर्थात् जीवो के परिहारपूर्वक जैनमार्ग के प्रकाश मे, प्रयत्न मे तत्पर हुए यति का धर्मानुष्ठान के लिए जो गमन है या प्रवृत्ति है वह समिति है। गोपन गुप्ति अर्थात् अशुभ मन-वचन-काय को गोपन करना गुप्ति है। स्वाध्याय और ध्यान मे तत्पर यति के जो मन-वचन-काय का सवृत करना या नियन्त्रित करना—रोकना है वह गुप्ति है। इन पाँच समितियो और तीन गुप्तियो मे जो प्रणिधान है वह युक्त अर्थात् न्यायरूप है, प्रशस्त है वही आठ प्रकार का चरित्राचार है।

पुन शेष जो अप्रशस्त प्रणिधान है वह इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के भेद से दो प्रकार का है।

भावार्थ—प्रशस्त परिणाम समिति और गुप्तिरूप से आठ प्रकार का है और अप्रशस्त परिणाम इन्द्रिय और मन के विषय के भेद से दो प्रकार का है।

अब इन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—मनोहर और अमनोहर ऐसे शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श में जो राग-द्वेष को प्राप्त होना है वह पाँच प्रकार का इन्द्रिय प्रणिधान है ॥२९९॥

शब्दरसरूपगन्धस्पर्शेषु मनोहरेषु. शोभनेषु, इतरेष्वशोभनेषु, यद्रागद्वेषयोर्गमन प्रापण तत्पचप्रकारमिन्द्रियप्रणिधान भवति। स्त्रीपुरुषादिप्रवृत्तेषुषड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पचम-धैवत-निषादभेद-भिन्नेषु आरोह्यवरोहिस्थायिसचारिचतुर्वर्णयुक्तेषु षडलकारद्विविधकाकुभिन्नेषु मूर्च्छनास्त्यानादिप्रयुक्तेषु सुस्वरेषु यद्रागप्रापण, तथा कोकिलमयूरभ्रमरादिशब्देषु वीणारावणहस्तवशादिशब्देषु यद्रागकरण, तथोष्ट्रखर-करभादिप्रयुक्तेषु दु स्वरेषु उर कण्ठशिरस्त्रिस्थानभेदभिन्नेष्वनिष्टेषु यद्द्वेषकरण। तथा तिक्तकटुकषायाम्ल-मधुरभेदभिन्नेषु सुप्रयुक्तेषु मनोहरेष्वमनोहरेषु तीव्रतीव्रतरतीव्रतम-मन्दमन्दतरमन्दतमेषु गुडखडदधिघृतपय-पानादिगतेषु निबकाजीरविषखल[1]यवसकुष्ठादिगतेषु च रसेषु यद्रागद्वेपयो करण। तथा स्त्रीपुरुषादिगतेषु गौरश्यामादिवर्णेषु रूपेषु हावभावहेलागजभावप्रयुक्तेषु लीलाविलासविच्छित्तिविभ्रमकिलकिंचित-मोट्टायितकु-ट्टिमितविब्वोकललितविहृतैर्दशभि स्वाभाविकैर्भावैर्युक्तेषु शोभाकान्तिमाधुर्यधैर्यप्रागल्भ्यौदार्यैरयत्नजै. प्रयोजितेषु द्वात्रिंशत्करणयुक्तेषु कटाक्षनिरोक्षणपरेषु नृत्तगीतहास्यादिमनोहरेषु रूपेषु तद्विपरीतेष्वमनोहरेषु रागद्वेषप्रयुक्तेषु

आचारवृत्ति—शब्द, रस, रूप, गध और स्पर्श ये पाँचों इन्द्रियो के विषय मनोहर और अमनोहर ऐसे दो प्रकार के होते है। इन दोनो प्रकार के विषयो मे जो राग-द्वेष का होना है वह पाँच प्रकार का इन्द्रिय प्रणिधान है।

स्त्री-पुरुष आदि के द्वारा प्रयुक्त किये गये षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर है। ये आरोही, अवरोही, स्थायी और सचारी ऐसे चार प्रकार के वर्णों से युक्त है। छह प्रकार के अलकार और दो प्रकार की काकु ध्वनि से भेदरूप है। तथा मूर्च्छना, स्त्यान आदि के द्वारा जो प्रयुक्त किये जाते है ये सुस्वर है। इनमे राग करना तथा कोयल, मयूर, भ्रमर आदि के शब्द और वीणा, रावण के हस्त की वीणा एवं बाँसुरी आदि से उत्पन्न हुए शब्दो मे राग करना, तथा ऊट, गधा, करभ आदि के द्वारा प्रयुक्त दु स्वरो मे जो हृदय, कण्ठ और मस्तक इन तीनो स्थानो से उत्पन्न होने के भेदो से सहित है और अनिष्ट—अमनोहर है इनसे द्वेष करना यह श्रोत्रेन्द्रिय प्रणिधान है।

तिक्त, कटु, कषायला, अम्ल और मधुर ये पाँच प्रकार के रस है। ये मनोहर और अमनोहर होते है। तथा तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर और मन्दतम ऐसे भेदवाले गुड़, खाड दही, घी, दूध, आदि पीने वाले पदार्थ मनोहर है एव नीम, काँजीर, विष, खल, यवस, कुष्ठ, आदि पदार्थ अमनोहर है। इन इष्ट या अनिष्ट रसो मे जो राग-द्वेष करना है वह रस-नेन्द्रिय-प्रणिधान है।

स्त्री-पुरुष आदि मे होनेवाले गौर, श्याम आदि वर्ण रूप कहलाते है। उन रूपों में स्वाभाविक भाव, अगजभाव आदि उत्पन्न होने से वे मनोहर लगते है। यथा—हाव, भाव और हेला ये अगजभाव है। [1]लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित,

---

१ क 'यमकृष्टा°'।

१ 'लीला बिलासो विच्छित्तिर्विभ्रम किलकिञ्चितम्।
मोट्टायित कुट्टमित बिव्वोको ललित तथा॥
विहृत चेति मन्तव्या दश स्त्रीणा स्वभावजा.।' नाटक रत्नकोश।

द्विविधगन्धेषु शोभनाशोभनभेदभिन्नेषु आर्द्रमहिषीयक्षकर्दमकस्तूरीकर्पूरकालागुरुचन्दनकुंकुमजातिमल्लिका-पाटलादिविभिन्नेषु तथा विभीतकाशुचिस्वेदव्रणादिप्रभवेष्वनिष्टेषु यद्रागद्वेषयो. करण। तथाष्टप्रकारेषु स्पर्शेषु मृदुकर्कशशीतोष्णस्निग्धरूक्षगुरुलघुभेदभिन्नेषु स्त्रीवस्त्र[1]सूलीकाविप्रभवेषु तथा भूमिशिलातृणशर्करादिप्रभवेषु यद्रागद्वेषकरण तत्सर्वमिन्द्रियप्रणिधान[2]मस्तीति ॥२९९॥

इन्द्रियप्रणिधानमुक्तमीषदिन्द्रियप्रणिधानं किंस्वरूपमिति पृष्टेऽत आह—

णोइंदियपणिधाणं कोहे माणे तहेव मायाए।
लोहे य णोकसाए मणपणिधाणं तु तं वज्जे ॥३००॥

क्रोधे माने मायाया तथैव लोभे चैकस्मिश्चतुर्विधे एतद्विषये यदेतन्मन प्रणिधान मनोव्यापार-

---

मोहायित, कुट्टिमित, विव्वोक, ललित और विहृत ये दश स्त्रियों के स्वाभाविक भाव हैं। शोभा, कांति, माधुर्य, धैर्य, प्रगल्भता और औदार्य ये अयत्नज भाव हैं।[3] बत्तीस करण होते है। कटाक्ष से देखना, नृत्य, गीत, हास्य आदि का प्रयोग करना इत्यादि सब मनोहर रूप के ही भेद है। इनसे राग करना तथा इनसे विपरीत अमनोज्ञरूप मे द्वेष करना यह चक्षुइन्द्रिय-प्राणिधान है।

गन्ध के भी शोभन और अशोभन दो भेद होते हैं। आद्रमहिषी (सुगंधित पदार्थ), यक्षकर्दम—महासुगधियुक्त द्रव्य, कस्तूरी, कपूर, कालागुरु, चन्दन, कुकुम (केशर), जाति-पुष्प, मल्लिका पुष्प, पाटलपुष्प (गुलाब) आदि से उत्पन्न होनेवाली सुगन्ध अनेक प्रकार है। तथा विभीतक—अपवित्र वस्तु, पसीना या व्रण आदि से उत्पन्न हुआ दुर्गन्ध अनेक प्रकार है। इन सुगन्ध-दुर्गन्ध मे राग-द्वेष करना घ्राणेन्द्रिय-प्रणिधान है।

स्पर्श आठ प्रकार के है—मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु और लघु। स्त्री, वस्त्र, शय्या आदि से उत्पन्न सुखकर स्पर्श मे राग करना तथा भूमि, शिला, तृण, शर्करा (मोटी रेत) आदि से उत्पन्न हुए दु:खकर स्पर्श मे द्वेष करना यह स्पर्शनेन्द्रिय-प्रणिधान है। इस प्रकार से सभी इन्द्रिय सम्बन्धी प्रणिधान का वर्णन किया गया है।

इन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप का कथन किया। ईषत् इन्द्रिय अर्थात् मन:प्रणिधान का क्या स्वरुप है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते है—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया तथा लोभ में नोइन्द्रिय प्रणिधान और नव नोकषायो मे जो मन का प्रणिधान है उनको छोड़ देवे ॥३००॥

आचारवृत्ति—क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाये चार हैं। इन प्रत्येक के भी चार-चार भेद—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन रूप होते हैं। अर्थात् अनन्तानुबन्धी आदि के भेद से क्रोधादि कषाये सोलह भेदरूप हैं। इन

---

१ क 'तूलिका'। २ क 'नमप्रशस्तमिति।

३ 'शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजा: ॥'—साहित्यदर्पण.

स्तन्नोइन्द्रियप्रणिधान। तदेतदिन्द्रियप्रणिधान नोइन्द्रियप्रणिधान चाप्रशस्तमयुक्त वर्जयेत् वर्जयितव्य-मिति ॥३००॥

समितिगुप्तिविषय. प्रणिधानयोगोऽष्टविध आचारोक्त[1] इति प्रतिपादित तत का समितयो गुप्तयश्चेत्याशंकायामाह—

णिक्खेवणं च गहणं इरियाभासेसणा य समिदीश्रो ।
पदिठावणियं च तहा उच्चारादीणि पचविहा ॥३०१॥

निक्षेपण निक्षेप पुस्तिकाकुण्डिकादिव्यवस्थापर्न। तेषामेव ग्रहणमादान समीक्ष्य, सैषादान-निक्षेपणसमिति। धर्मार्थिनो यत्नपरस्य गमनमीर्यासमिति। सावद्यरहितभाषण भाषासमिति कृतकारितानु-मतरहिताहारादानमशनसमिति। समितिशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते। उच्चारादीना मूत्रपुरीषादीना प्रासुक-प्रदेशे प्रतिष्ठापन त्याग प्रतिष्ठापनासमिति। इत्येव पचविधा समितिरिति ॥३०१॥

तत्र तावदीर्यासमितिस्वरूपप्रपचार्थमाह—

कषायों के विषय में जो मन का प्रणिधान अर्थात् व्यापार है वह नोइन्द्रिय-प्रणिधान है तथा जो हास्य आदि नोकषायो मे मन का व्यापार है वह भी नोइन्द्रिय-प्रणिधान है।

पूर्वकथित इन्द्रिय-प्रणिधान और यहाँ पर कथित नोइन्द्रिय-प्रणिधान, ये दोनो ही अप्रशस्त होने से अयुक्त है इसलिए इनका त्याग कर देना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि पाँचों इन्द्रियों के विषयो मे जो राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति होती है और क्रोधादिक विषयो मे जो मन की प्रवृत्ति होती है यह सब अशुभ है इसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

समिति और गुप्ति के विषय में जो प्रणिधानयोग—शुभ परिणाम की प्रवृत्ति है वह आठ प्रकार का आचार कहा गया है ऐसा आपने प्रतिपादन किया। पुन, वे समितियाँ और गुप्तियाँ कौन-कौन है? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ईर्या, भाषा, एषणा तथा निक्षेपणग्रहण और मलमूत्रादि का प्रतिष्ठापन ये समितियाँ पाँच प्रकार की है ॥३०१॥

आचारवृत्ति—यत्न मे तत्पर हुए धर्मार्थी अथवा धर्म की इच्छा रखते हुए मुनि का गमन ईर्यासमिति है। सावद्यरहित वचन बोलना भाषा समिति है। कृत, कारित अनुमोदना से रहित आहार को ग्रहण करना एषणा समिति है। पुस्तक, कमण्डलु आदि का देख-शोधकर रखना तथा उन्हे ग्रहण करना आदान-निक्षेपण समिति है। मलमूत्र का प्रासुक स्थान मे प्रतिष्ठापन- त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है। इस तरह पाँच प्रकार की समिति होती है।

अब पहले ईर्या समिति के स्वरुप को विस्तार से कहते हैं—

---

१ क आचार उक्त।

मग्गुज्जोवुवओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥३०२॥

मग—मार्गः पन्था.। उज्जोव—उद्योतश्चक्षुरादित्यादिप्रकाश.। उवओग—उपयोगो ज्ञानदर्शन-विषयो यत्न। आलंबण—देवतानिर्ग्रन्थयतिधर्मादिकारण। एतेषा शुद्धयस्ताभिर्मार्गोद्योतोपयोगालम्बनशुद्धि-भि:ईर्यतो गच्छतो मुने सूत्रानुवीच्या प्रायश्चित्तादिसूत्रानुसारेण प्रवचने ईर्यासमितिर्भणिता गणधरदेवादि-भिर्भणितेति शेष ॥२०२॥

तावद्गमन विचारयत उत्तरगाथयेति—

इरियावहपडिवण्णेणवलोगंतेण होदि गंतव्वं।
पुरदो जुगप्पमाणं सयापमत्तेण संतेण ॥३०३॥

कैलाशोर्जयन्तचम्पापावादितीर्थयात्रासन्यामदेवधर्मादिकारणेन शास्त्रश्रावणादिकेन वा सप्रतिक्र-मणश्रवणादिप्रयोजनेन बोदिते सवितरि प्रकाशप्रकाशिताशेषदिगन्ते विशुद्धदृष्टिसचारे विशुद्धसस्तरप्रदेशे ईर्या-पथमार्ग प्रतिपन्नेन समीहमानेन कृतस्वाध्यायप्रतिक्रमणदेववन्दनेन पुरतोऽग्रतो युगमात्र हस्तचतुष्टयप्रमाणमव-

---

गाथार्थ—मार्ग मे प्रकाश, उपयोग और अवलम्बन की शुद्धि से गमन करते हुए मुनि के सूत्र के अनुसार आगम मे ईर्या समिति कही गयी है ॥३०२॥

आचारवृत्ति—चलने का रास्ता मार्ग है। चक्षु से देखना और सूर्य का प्रकाश होना आदि उद्योत है। ज्ञानदर्शन विषयक प्रयत्न उपयोग है और देववन्दना, निर्ग्रन्थ यतियों की वन्दना एव धर्म आदि का निमित्त होना आलम्बन है। इनकी शुद्धियाँ अर्थात् आगम के अनुकूल प्रवृत्तियाँ होना चाहिए।

इन मार्ग शद्धि, प्रकाश शुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलम्बन शुद्धि के द्वारा जो मुनि प्रायश्चित्तादि सूत्र के अनुसार गमन करते है उसे ही प्रवचन मे गणधर देव आदि महर्षियो ने ईर्या समिति कहा है।

अब अगली गाथा द्वारा गमन के विषय मे विचार करते हैं—

गाथार्थ—ईर्यापथपूर्वक हमेशा प्रमादरहित होते हुए चार हाथ प्रमाण भूमि को सामने देखते हुए चलना चाहिए ॥३०३॥

आचारवृत्ति—कैलाश पर्वत, ऊर्जयंतगिरि, चपापुरी, पावापुरी आदि तीर्थों की यात्रा के लिए, मुनियों के संन्यास के दखने या कराने के लिए, देवदर्शन या वन्दना के लिए, अन्य किसी धर्म आदि कारणों से अथवा शास्त्र सुनने या सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने आदि प्रयोजन से अथवा प्रतिक्रमण को गुरु से सुनना आदि कार्यों के निमित्त से मुनि को गमन करना चाहिए। सूर्य का उदय हो जाने पर जब सभी दिशाएँ प्रकाश से प्रकाशित हो जाती हैं और अपनी दृष्टि का विशुद्ध संचार हो जाता है अर्थात् नेत्रों से स्पष्ट दिखने लगता है उस समय संस्तर प्रदेश—सोने के स्थान में संस्तर अर्थात् पाटा, चटाई आदि का शोधन कर चुकने पर, ईर्यापथपूर्वक मार्ग में चलने की इच्छा रखते हुए, जिन्होंने अपररात्रिक स्वाध्याय, रात्रिक-प्रतिक्रमण और पौर्वाह्णिक देवबन्दना कर ली है ऐसे मुनि को चाहिए कि वह आगे चार हाथ प्रमाण पृथ्वी को

लोकयता सम्यक्पश्यता स्थूलास्थूलजीवानप्रमत्तेन यत्नपरेण श्रुतशास्त्रार्थं स्मरता परिशुद्धमनोवाक्कायक्रियेण स्वाध्यायध्यानोपयुक्तेन सता सदा भवति गन्तव्यमिति ।।३०३।।

पुनरपि श्लोकत्रयेण मार्गशुद्धिस्वरूपप्रतिपादनायाह—

सयड जाण जुग्ग वा रहो वा एवमादिया ।
बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फ़ासुओ हवे ।।३०४।।

शकट वलीवर्दादियुक्त काष्ठमयं यत्र । यान मत्तवारणयुक्त पल्यङ्कजात, हस्त्यश्वमनुष्यादिभिरूह्यमान युग्य पीठिकादिरूप मनुष्यद्वयेनोह्यमान । रथो विशिष्टचक्रादियुक्तो मुद्गरभुषुढितोमरादिप्रहरण-

---

अर्थात् चार हाथ प्रमाण तक पृथ्वी पर स्थित स्थूल और सूक्ष्म जीवो को सम्यक् प्रकार से अवलोकन करते हुए, उनकी रक्षा करते हुए सावधानीपूर्वक गमन करे ।

वह श्रुत और शास्त्रो के अर्थ का स्मरण करते हुए, मन-वचन-काय को निर्मल बनाकर, अपने उपयोग को स्वाध्याय और ध्यान मे उपयुक्त—तत्पर रखते हुए ही गमन करे ।

भावार्थ—मुनि तीर्थयात्रा, देव वन्दना, गुरु वन्दना, साधुओ की सल्लेखना या गुरु के पास शास्त्र पढना, गुनना तथा उनके पास प्रतिक्रमण करना आदि प्रयोजन के निमित्त से ही गमन करते है । व्यर्थ ही टहलने आदि के हेतु से नही चलते है । पहले ये मुनि पिछली रात्रि मे अपररात्रिक स्वाध्याय करके रात्रिक प्रतिक्रमण करते हैं और पौर्वाह्लिक देववन्दना—सामायिक करते है । अनन्तर ही जब विहार करते है, वे अपने शयन के स्थान का भी पिच्छिका से परिशोधन करके पाटा, चटाई, घास आदि को देख-शोधकर एक तरफ करके बाहर निकलते है । चलते समय मार्ग मे अपने उपयोग को धर्मध्यान मे तन्मय रखते हुए गमन करना होता है, न कि इधर-उधर देखते हुए या मनोरजन करते हुए । जीवरक्षा हेतु चार हाथ आगे की जमीन देखते हुए और जीवदया पालने हुए चलना ही ईर्यासमिति है ।

इस गाथा के द्वारा आचार्य ने प्रकाशशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बनशुद्धि का वर्णन कर दिया है । आगे मार्गशुद्धि पर प्रकाश डाल रहे हैं ।

पुनरपि तीन श्लोक के द्वारा मार्गशुद्धि का स्वरुप कहते हैं—

गाथार्थ—बैलगाड़ी, अन्य वाहन, पालकी या रथ अथवा ऐसे ही और भी अनेकों वाहन जिस मार्ग से बहुत बार गमन कर जाते है वह मार्ग प्रासुक है ।।३०४।।

आचारवृत्ति—बैल आदि से युक्त काठी का यत्र—वाहन बैलगाड़ी है । इसे ही शकट कहते है । मत्त हाथी पर रखे हुए हौदा आदि यान है । अथवा हाथी-घोड़े या मनुष्य आदि द्वारा ले जाये जानेवाले यान नाम के वाहन है । दो मनुष्यो के द्वारा ले जाये जानेवाले पालकी, डोली आदि युग्य है । विशेष चक्र—पहिए आदि से युक्त को रथ कहते हैं । इसमें मुद्गर भुषुढि, तोमर आदि शस्त्रों भरे रहते हैं और ये उत्तम जाति के घोड़ों आदि द्वारा ले जाये जाते हैं । इसी प्रकार के और भी वाहन है । वे सभी अनेक बार जिस मार्ग से चलते रहते है वह मार्ग प्रासुक हो जाता है ।

पूर्णो जात्यश्वादिभिरुह्यमानः इत्येवमादयोऽन्येऽपि बहुशोऽनेकवार येन मार्गेण गच्छन्ति स मार्ग. प्रासुको भवेदिति ॥३०४॥

के ते एवमादिका इत्यत आह—

हत्थी अस्सो खरोट्ठो वा गोमहिसगवेलया।
बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ हवे ॥३०५॥

हस्तिनोऽश्वा गर्दभा उष्ट्रा गावो महिष्य गवेलिका अजा अविकादयो बहुशो येन मार्गेण गच्छन्ति स मार्गः प्रासुको भवेत् ॥३०५॥

इत्थी पुंसा व गच्छंति आदवेण य जं हदं।
सत्थपरिणदो चेव सो मग्गो फासुओ हवे ॥३०६॥

स्त्रिय पुरुषाश्च येन वा गच्छन्ति। आतापेनादित्यदावानलतापेन यो हत। शस्त्रपरिणत. कृषीकृत स मार्ग प्रासुको भवेत्। तेन मार्गेण यत्नवता स्वकार्येणोद्योतेन गन्तव्यमिति ॥३०६॥

विशेष—यहाँ पर बैलगाड़ी, हाथी घोड़े, पालकी, रथ आदि वाहन को लिया है तथा और भी अन्यो के लिए कहा है। इससे आजकल की बसे, कारे, साइकिल आदि जिस मार्ग पर चलते है वह भी प्रासुक हो जाता है, ऐसा समझें।

'इसी प्रकार से और भी जो कुछ होवे' ऐसा जो आपने कहा है वे और क्या क्या है ? सो ही आचार्य बताते है—

गाथार्थ—हाथी, घोड़ा, गधा, ऊँट अथवा गाय, भैंस, बकरी या भेड़े जिस मार्ग से बहुत बार चलते है वह मार्ग प्रासुक हो जाता है ॥३०५॥

आचारवृत्ति—हाथी, घोड़े, गधे, ऊँट, गाये, भैंसे, बकरे और भेड़ आदि जिस मार्ग से बार बार निकलते है वह मार्ग प्रासुक—जीवरहित शुद्ध हो जाता है।

गाथार्थ—जिस पर स्त्री-पुरुष चलते रहते हैं, जो आताप अर्थात् सूर्य की किरण आदि से सतप्त हो चुका है और जो शस्त्रो से क्षुण्ण हो गया है वह मार्ग प्रासुक हो जाता है ॥३०६॥

आचारवृत्ति—जिस मार्ग से स्त्री-पुरुष गमन करते रहते हैं, जो सूर्य के घाम से अथवा दावानल से सतप्त या दग्ध हो चुका है अर्थात् जिस मार्ग पर सूर्य की किरणे पड़ चुकी हैं या जो अग्नि आदि के ससर्ग से जल चुका है, जिसमे हल आदि चलाये जा चुके हैं अर्थात् जहाँ से किसानो के हल निकल चुके होते है वे सभी मार्ग प्रासुक हो जाते है। इन-इन प्रासुक मार्गो से सावधानीपूर्वक अपने कार्य के निमित्त से प्रकाश मे मुनि को गमन करना चाहिए। यह ईर्यासमिति का लक्षण हुआ।

विशेष—उपर्युक्त प्रकार से जो मार्ग प्रासुक हो जाते हैं। उन मार्गों से चलते हुए भी मुनि दिवस में ही चले, न कि रात्रि में। सूर्य के प्रकाश में और चक्षु-इन्द्रिय के प्रकाश मे ही चलें, वह भी प्रयत्नपूर्वक। इसी का नाम ईर्यासमिति है।

भाषासमितिस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

सच्च असच्चमोस अलियादीदोसवज्जमणवज्ज ।
वदमाणस्सणवीचो भासासमिदी हवे सुद्धा ॥३०७॥

सच्चं—सत्यं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयास्ति, परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया नास्ति, उभयापेक्षयास्ति च नास्ति च, अनुभयापेक्षयावक्तव्यमित्येवमादि वदतोऽवितथ वचन। तथा प्रमाणनयनिक्षेपैर्वदत सत्य वचन । **असच्चमोसं**—असत्यमृषा यत्सत्य न भवति, अनृत च न भवति सामान्यवचनं । **अलीको**—मृषावाद आदिर्येषा दोषाणा ते व्यलीकादिदोषास्तैर्वर्जित व्यलीकादिदोषवर्जित परमतारणादिदोषरहित। **अणवज्जं**—अनवद्य हिंसादिपापागमनवचनरहित । इत्येव सूत्रानुवीच्या प्रवचनानुसारेण वाचनापृच्छनानुप्रेक्षादिद्वारेणान्येनापि धर्मकार्येण वदतो भाषासमितिभवेच्छुद्धति ॥३०७॥

सत्यस्वरूप विवृण्वन्नाह—

जणवदसम्मदठणा णामे रूवे पडुच्चसच्चे य ।
संभावणववहारे भावे[1] ओपम्मसच्चे य ॥३०८॥

अब भाषा समिति का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—असत्य आदि दोषो से वर्जित निर्दोष, ऐसा सत्य और असत्यमृषा वचन अगम के अनुकूल बोलते हुए मुनि के निर्दोष भाषासमिति होती है ॥३०७॥

आचारवृत्ति—प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से अस्ति रूप है । वही वस्तु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से नास्ति रूप है । स्वपर की अपेक्षा से अस्ति और नास्ति इस तृतीय भग रूप है । अनुभय—स्वपर की अपेक्षा नही करने से वही वस्तु अवक्तव्य है । इत्यादि शब्द भगी रूप या ऐसे ही अन्य भी यथार्थ वचन बोलना सत्य है । तथा प्रमाण, नय और निक्षेपो के द्वारा वचन बोलना भी सत्य है ।

जो सत्य भी नही है और असत्य भी नही है ऐसे सामान्य वचन असत्यमृषा अर्थात् अनुभय वचन है । ऐसे सत्य और अनुभय वचन बोलना भाषासमिति है ।

अलीक—झूठवचन आदि दोषो से रहित अर्थात् पर को ठगने आदि के वचनो से रहित और हिसा आदि पाप का आगमन कराने वाले वचनो से रहित ऐसे निर्दोष वचन बोलना । सूत्र के अनुसार अर्थात् आगम के अनुकूल वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा आदि के द्वारा या अन्य भी किसी धर्म कार्य के निमित्त बोलना या अनुभयवचन बोलना अथवा शास्त्रों के पढ़ने-पढाने रूप, उनके विषय मे प्रश्न रूप या अनुप्रेक्षा आदि रूप वचन बोलना अथवा अन्य भी किसी धर्म कार्य रूप वचन बोलना—यह निर्दोष भाषासमिति है ।

अब सत्य का स्वरूप बतलाते है—

गाथार्थ—जनपद, सम्मत, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीत्य, संभावना, व्यवहार, भाव और उपमा इनके विषय मे वचन सत्यवचन है ॥३०८॥

---

१ क 'वेणोप' ।

सत्यशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। जनपदसत्यं, बहुजनसम्मतसत्यं, स्थापनासत्यं, नामसत्यं, रूपसत्यं, प्रतीतिसत्यमन्यापेक्षसत्यमित्यर्थः, संभावनासत्यं, व्यवहारसत्य, भावसत्य उपमानसत्यं इति दशधा सत्य वाच्यमिति सम्बन्धः ॥३०८॥

एतानि दशसत्यानि विवृण्वन्नाह—

जणपदसच्चं जध ओदणादि ववुच्चदि य सव्वाभसेण[1]।
बहुजणसम्मदमवि होदि जं तु लोए जहा देवी ॥३०९॥

जनपदसत्य देशसत्य। यथौदनादिरुच्यते सर्वभाषाभि द्रविडभाषया चौर इत्युच्यते। कर्णाटभाषया कूल इत्युच्यते। गौडभाषया भक्तमित्युच्यते। एव नानादेशभाषाभिरुच्यमान ओदनो जनपदसत्यमिति जानीहि। बहुभिर्जनैर्यत्सम्मत तदपि सत्यमिति भवति। यथा महादेवी, मानुष्यपि लोके महादेवीति। यथा देवो वर्षतीत्यादिकं वचन लोकसम्मत सत्यमिति वाच्य। न प्रतिबन्धः कार्यः एवं न भवतीति कृत्वा। प्रतिबन्धे सत्यमसत्यं स्यादिति ॥३०९॥

ठवणा ठविद जह देवदादि णामं च देवदत्तादि।
उक्कडदरोत्ति वण्णे रूवे सेओ जध बलाया ॥३१०॥

आचारवृत्ति—सत्य शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। जनपदसत्य, बहुजनसम्मतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य—अन्य की अपेक्षा सत्य, संभावनासत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य और उपमानसत्य। इस प्रकार से दशभेद रूप इन सत्य वचनों को बोलना चाहिए।

इन दशभेदरूप सत्य का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—जनपदसत्य, जैसे सभी भाषाओ में व्यवहृत ओदन आदि शब्द। बहुजन-सम्मत सत्य भी यह है कि जैसे लोक मे मानुषी को महादेवी कहना ॥३०९॥

आचारवृत्ति—जनपदसत्य अर्थात् देशसत्य। जैसे जनपद की सभी भाषाओं में ओदन (भात) आदि को अन्य-अन्य शब्दो से कहा जाता है। द्रविड़ भाषा में ओदन को 'चौर' कहते हैं, कर्णाटक भाषा मे 'कूल' कहते हैं और गौड़ भाषा में 'भक्त' कहते हैं। ऐसे ही नाना देशो में उन-उन भाषाओं के द्वारा कहा गया 'ओदन' जनपद सत्य है ऐसा तुम जानो। जो बहुत जनों को सम्मत है वह भी सत्य है। जैसे किसी मनुष्य-स्त्री को भी लोक में महादेवी कहते हैं, और जैसे 'देव बरसता है' इत्यादि वचन लोकसम्मत सत्य है। अर्थात् मेघ बरसता है किन्तु व्यवहार में लोग कहते हैं कि देव बरसता है यह सम्मत सत्य है। इन वचनों मे 'यह ऐसा नहीं है' ऐसा कहकर आप प्रतिबन्ध नही लगा सकते; और यदि आप प्रतिबन्ध लगायेंगे तो आपके सत्यवचन भी असत्य कहे जायेंगे। इस गाथा में जनपद सत्य और सम्मतसत्य को कहा है।

गाथार्थ—जिसमें स्थापना की गई है वह स्थापना-सत्य है; जैसे यह देवता है, इत्यादि। नामकरण को नाम सत्य कहते है, जैसे देवदत्त आदि। रूप में वर्ण की उत्कृष्टता से कहना रूपसत्य है; जैसे बगुला सफेद है ॥३१०॥

---

1. क सव्वभासाए।

यद्यपि देवतादिप्रतिरूप या स्थापना स्थापित । तथा च देवदत्तादिनाम । न हि तत्र देवतादिस्वरूप विद्यते । नापि त (?) देवैर्दत्तोऽसौ । तथापि व्यवहारनयापेक्षया स्थापनासत्य, नामसत्य च सत्यमित्युच्यते सद्भिरिति । अर्हत्प्रतिमा-सिद्धप्रतिमादि तथा नागयक्षेन्द्रादिप्रतिमाश्च तत्सर्व स्थापनासत्य । तथा देवदत्त इन्द्रदत्तो यज्ञदत्तो विष्णुमित्र इत्येवमादिवचन नामसत्यमिति । तथा वर्णेनोत्कटतरेति श्वेता बलाका । यद्यपि तत्रान्यानि रक्तादीनि सम्भवन्ति रूपाणि, तथापि श्वेतेन वर्णेनोत्कृष्टतरा बलाका, अन्येषामविवक्षितत्वादिति रूपसत्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षया वाच्यमिति ॥३१०॥

अण्णं अपेक्खसिद्धं पडुच्चसच्च जहा हवदि दिग्घं ।
ववहारेण य सच्च रज्झदि कूरो जहा लोए ॥३११॥

अन्यद्वस्तुजातमपेक्ष्य किंचिदुच्यमान प्रतीत्यसत्य भवति । यथा दीर्घोऽयमित्युच्यते । वितस्तिमात्राद्ध-स्तमात्र दीर्घ तथा द्विहस्तमात्रात्पचहस्तमात्र । पचहस्तमात्राद्दशहस्तमात्र । एव यावन्मेरुमात्र । तथैव (व)

आचारवृत्ति—यद्यपि देवता आदि की प्रतिमाएँ स्थापना निक्षेप के द्वारा स्थापित की गई है। उसी प्रकार से देवदत्त आदि नाम रखे जाते हे। उनमे देवता आदि का स्वरूप विद्यमान नही है और न ही देवदत्त आदि पुरुष देवो के द्वारा दिये गये है। फिर भी, व्यवहार नय की अपेक्षा से सज्जन पुरुषो द्वारा वे स्थापनासत्य और नामसत्य कहे जाते है। अर्थात् अर्हन्त प्रतिमा, सिद्ध प्रतिमा आदि तथा नागयक्ष की प्रतिमा और इन्द्र की प्रतिमा आदि जो है वे सभी स्थापना-सत्य है। तथा देवदत्त, इन्द्रदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र इत्यादि प्रकार के वचन नाम सत्य है अर्थात् देवदत्त को देव ने नही दिया है, इन्द्रदत्त को इन्द्र ने नही दिया है इत्यादि, फिर भी नामकरण से उन्हे उसी नाम से जाना जाता है।

उसी प्रकार से वर्ण से उत्कृष्टतर होने से बगुला को सफेद कहते है। यद्यपि उस बगुला मे लाल चोच, काली आँख आदि अन्य अनेक रूप सम्भव है, फिर भी श्वेत वर्ण इसमे उत्कृष्टतर होने से इसे श्वेत कहते है, क्योकि अन्य वर्ण वहाँ पर अविवक्षित है इसलिए यह रूपसत्य द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से वाच्य है।

विशेषार्थ—किसी वस्तु मे यह वही है ऐसी स्थापना स्थापनासत्य है, जैसे पाषाण की प्रतिमा में यह महावीर प्रभु है। किसी मे जाति आदि गुण की अपेक्षा न करके नाम रख देना यह नाम सत्य है, जैसे किसी बालक का नाम आदीश कुमार रखा जाना। किसी वस्तु में अनेक वर्ण होने पर भी उसमे जो प्रधान है, अधिक है उसी की अपेक्षा रखना यह रूपसत्य है जैसे बगुला सफेद होता है। यहाँ तीन प्रकार के सत्य का वर्णन हुआ।

गाथार्थ—अन्य की अपेक्षा करके जो सिद्ध हो वह प्रतीति सत्य है, जैसे यह दीर्घ है। व्यवहार से कथन व्यवहार सत्य है, जैसे भात पकाया जाता है ऐसा कथन लोक मे देखा जाता है ॥३११॥

आचारवृत्ति—अन्य वस्तु की अपेक्षा करके जो कुछ कहा जाता है वह प्रतीत्य सत्य है, जैसे किसी ह्रस्व की अपेक्षा करके कहना कि यह दीर्घ है। एक वितस्ति के प्रमाण से एक हाथ दीर्घ है, उसी प्रकार से दो हाथ प्रमाण से पाँच हाथ का प्रमाण बड़ा है और पाँच हाथ मात्र से दश हाथ का प्रमाण बड़ा है, इस प्रकार से मेरुपर्यन्त तक भी आप बड़े की व्यवस्था

ह्रस्ववृत्तचतुरस्रादि कुरूप सुरूप पडित-मूर्ख-पूर्वापरादिकमपेक्ष्यसिद्ध निष्पन्नमपेक्ष्य सत्यमित्युच्यते। न तत्र विवाद कार्य । तथा, रध्यदे पच्यते कूर ओदन मण्डका घृतपूरा इत्यादि लोके वचन व्यवहारसत्यमिति वाच्यं। न तत्र विवाद कार्य । यद्यौदन पच्यते भस्म भवति, मण्डका यदि पच्यन्ते भस्मीभवन्तीति कृत्वेति व्यवहारसत्य वचन सत्यमिति ॥३११॥

सभावणा य सच्च जदि णामेच्छेज्ज एव कुज्जति।
जदि सक्को इच्छेज्जो जबूदीव हि पलहत्थे ॥३१२॥

यदि नामैतदेवमिच्छेत एव कुर्यात् यदेतत्सभावना सत्य। सभाव्यत इति सभावना । सा द्विविधा-भिनीतानभिनीतभेदेन । शक्यानुष्ठानाभिनीता। अस्ति सामर्थ्यं यदुत नाम तथा न सम्पादयेदभिनीता। यथा यदि नाम शक्र इच्छेज्जम्बूद्वीप परिवर्तयेत । संभाव्यत एतत्सामर्थ्यमिन्द्रस्य यज्जम्बूद्वीपमन्यथा कुर्यात् । अपि शिरसा पवत भिन्द्यात । सवमेतदभिनीता सभावना सत्य। अपि भवान् प्रस्थ भक्षयेत् । बाहुभ्या गगा तरेदेतद-भिनीत सम्भावनासत्यमिति सम्पाद्यासम्पाद्यभेदेनेति ॥३१२॥

कर सकते हैं। तीन लोक मे सबसे बडा मेरुपर्वत है।

उसी प्रकार से ह्रस्व, गोल और चौकोन आदि भी एक दूसरे की अपेक्षा से ही हैं। तथा कुरूप-सुरूप, पण्डित मूर्ख, पूर्व-पश्चिम ये सब एक-दूसरे को अपेक्षित करके होते है अत इनका कथन अपेक्ष्य सत्य या प्रतीत्य सत्य है। इसमे किसी को विवाद नही करना चाहिए।

उसी प्रकार भात पकाया जाता है मडे—रोटी या पुआ पकाये जाते हैं। इत्यादि प्रकार के वचन लोक मे देखे जाते हैं यह सब व्यवहार सत्य है। इसमे भी विवाद नही करना चाहिए। वास्तव मे यदि भात पकाया जावे तो वह भस्म हो जाए, और यदि रोटी पकायी जावे तो वे भी भस्मीभूत हो जाएँ, किन्तु फिर भी व्यवहार में वैसा कथन होता है अत यह व्यवहार सत्य है। यहाँ पर प्रतीत्य सत्य और व्यवहार सत्य इन दो का लक्षण बताया है।

गाथार्थ—'यदि चाहे तो ऐसा कर डालें ऐसा कथन सम्भावना सत्य है। यदि इन्द्र चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट दे ॥३१२॥

आचारवृत्ति—यदि यह ऐसी इच्छा करे तो कर डाले' जो ऐसा कथन है वह सम्भावना सत्य है। जो सम्भावित किया जाता है उसे सम्भावना कहते है। इसके दो भेद हैं—अभिनीत और अनभिनीत। जो शक्यानुष्ठानरूप वचन हैं अर्थात् जिनका करना शक्य है वे वचन अभिनीत सम्भावना सत्य हैं और जिसकी सामर्थ्य तो है किन्तु वैसा करते नही हैं ऐसे (अशक्यानुष्ठान) वचन अनभिनीत सम्भावना सत्य है। जैसे इन्द्र चाहे तो जम्बूद्वीप को पलट दे इस वचन मे इन्द्र की यह सामर्थ्य सम्भावित की जा रही है 'कि यह चाहे तो जम्बूद्वीप को अन्य रूप कर सकता है किन्तु वह ऐसा कभी करता नहीं है। और भी उदाहरण हैं, जैसे यह शिर से पर्वत को फोड सकता है, ये सभी वचन अनभिनीत सम्भावना सत्यरूप हैं। यदि यह चाहे तो प्रस्थ (सेर भर) खा जावे, यह अपनी भुजाओ से गगा को तिर सकता है। यह सब वचन अभिनीत सम्भावना सत्य हैं। इस प्रकार से सम्पाद्य और असम्पाद्य के भेद से सम्भावना सत्य दो प्रकार का है। अर्थात् सम्पादित होने योग्य और न होने योग्य की अपेक्षा अथवा अभिनीत—शक्य और अनभिनीत—अशक्य की अपेक्षा से इस सत्य के दो भेद हो जाते है।

हिंसादिदोसविजुदं सच्चमकप्पियवि भावदो भावं।
ओवम्मेण दु सच्चं जाणसु पलिदोवमादीया ॥३१३॥

हिंसा आदिर्येषा दोषाणां ते हिंसादयस्तैर्वियुक्त विरहित हिंसादिदोषवियुक्त। हिंसास्तैन्याब्रह्मपरिग्रहादिग्राहकवचनरहित सत्य। अकल्पितमपि भावतोऽयोग्यमपि भावयत परमार्थत. सत्य तत्। केनचित् पृष्टस्त्वया चौरो दृष्टो न मया दृष्ट एव वक्तव्य। यद्यपि वचनमेतदेवासत्यं तथापि परमार्थत सत्यं हिंसादिदोषरहितत्वात्। यथा येन येन परपीडोत्पद्यते परलोक प्रतीहलोक च प्रति, तत्तद्वचन सत्यमपि त्याज्य रागद्वेषसहितत्वात्। सत्यमपि हिंसादिदोषसहित न वाच्यमिति भावसत्य। औपम्येन च युक्त यद्वचन तदपि सत्य जानीहि। यथा पल्योपमादिवचन। उपमामात्रमेतत्। न हि कुशलो याजनमात्र केनापि रोमच्छेदै. पूर्यते। एव सागरो रज्जु प्रतरागुल सूच्यगुल घनागुल श्रेणी लोकप्रतरो लोकश्चन्द्रमुखी कन्या इत्येवमादय. शब्दा: उपमानवचनानि उपमासत्यानीति वाच्यानि। न तत्र विवाद. कार्य। इत्येतद्दशप्रकार सत्य वाच्य।

तथा सन्धिनामतद्धितसमासाख्यातकृदौणादियुक्त, पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनसहित, छलजातिनिग्रहस्थानादिविवर्जित, लोकसमयस्ववचनविरोधरहित, प्रमाणोपपन्न, नैगमादिनयपरिगृहीतं, जातियुक्ति-

गाथार्थ—हिंसा आदि दोष से रहित भाव से अकल्पित भी वचन भाव सत्य है और उपमा से कहे गये पल्योपम आदि उपमा सत्य है॥३१३॥

आचारवृत्ति—हिंसा, चौर्य, अब्रह्म, परिग्रह आदि को ग्रहण करने वाले वचनो से रहित वचन हिंसादि दोष रहित हैं, अकल्पित भी है अर्थात् अयोग्य भी वचन परमार्थ से सत्य होने से भाव सत्य हैं। जैसे किसी ने पूछा, 'तुमने चोर देखा है तो कहना कि मैंने नही देखा है' यद्यपि ये वचन असत्य ही हैं फिर भी परमार्थ से सत्य हैं क्योंकि हिंसादि दोषों से रहित हैं। इसी तरह जिन किन्हीं वचनो से इहलोक और परलोक के प्रति पर को पीडा उत्पन्न होती है अर्थात् जिन वचनों से इहलोक परलोक बिगडता है और पर को कष्ट होता है वे सभी वचन सत्य होकर भी त्याग करने योग्य है, क्योकि रागद्वेष से सहित है। तात्पर्य यह है कि हिंसादि दोषो से सहित वचन सत्य भी हों तो भी नही बोलना चाहिए। इसी का नाम भावसत्य है।

उपमा से युक्त जो वचन हैं वे भी सत्य हैं ऐसा समझो। जैसे पल्योपम आदि वचन; ये वचन उपमा मात्र ही हैं। क्योंकि किसी के द्वारा भी योजन प्रमाण का गड्ढा रोमों के अतीव सूक्ष्म-सूक्ष्म टुकड़ों से भरा नही जा सकता है। इसी प्रकार से सागर, राजू, प्रतरागुल, सूच्य-' गुल, घनागुल, श्रेणी, लोकप्रतर और लोक ये सभी उपमावचन है। तथा 'चन्द्रमुखी कन्या इत्यादि वचन भी उपमान वचन होने से उपमासत्य वचन हैं। इसमें विवाद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ तक दश तरह के सत्यों का वर्णन हुआ।

तात्पर्य यह है कि सन्धि, नाम—लिग, तद्धित, समास, आख्यात, कृदन्त और औणादि से युक्त अर्थात् व्याकरण से शुद्ध, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन से सहित —अर्थात् न्याय ग्रन्थ के आधार से पाँच अवयव वाले अनुमान वाक्य रूप, छल, जाति, निग्रह स्थान आदि दोषों से वर्जित अर्थात् तर्क ग्रन्थो मे कथित इन छल आदि दोषो से रहित, लोक-

१ क सच्चमकमविजमभा°।

युक्त, मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थवचनसहितं, अनिष्ठुरमकर्कशमनुद्धतमर्थवत्, श्रवणकान्तं, सुललिताक्षरपद-वाक्यविरचित, हेयोपादेयसंयुक्त—इत्थभूतं सत्यं वाच्यं। लिगसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहसमेत धातुनिपात-बलाबलच्छन्दोऽलंकारादिसमन्वितं, वाच्यमिति सम्बन्ध ॥३१३॥

एतद्व्यतिरिक्तमसत्यमिति प्रतिपादयन्नाह—

तब्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं।
तब्विवरीदा भासा असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ॥३१४॥

तद्दशप्रकारसत्यविपरीत पूर्वोक्तस्य सर्वस्य प्रतिकूलमसत्य मृषा। तयो सत्यासत्ययोरुभय यत्र पदे वाक्ये वा सत्यमृषावचन तत् गुणदोषसहितत्वात्। तस्मात्सत्यमृषावादाद्विपरीता भाषा वचनोक्तिरसत्य-मृषोक्ति। सा भवति दृष्टा जिनै। न सा सत्या न मृषेति सम्बन्ध ॥३१४॥

असत्यमृषाभाषा विवृण्वन्नाह—

विरोध, समय—आगमविरोध और स्ववचन विरोध से रहित, प्रमाण से उपपन्न—प्रमाणीक, नैगम आदि नयों की अपेक्षा सहित, जाति और मुक्ति से युक्त; मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ वचनो से सहित, निष्ठुरता रहित, कर्कशता रहित, उद्धता रहित, अर्थ सहित, कानों को सुनने मे मनोहर से ले,सुललित अक्षर, पद और वाक्यों से विरचित, हेय और उपादेय से संयुक्त ऐसे सत्य वचन बोलना चाहिए। तथा लिग, सख्या, काल, कारक, उत्तम-मध्यम-जघन्य पुरुष, उपग्रह से सहित धातु निपात, बलाबल, छन्द, अलकार आदि से समन्वित भी सत्य वचन बोलना चाहिए अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से व्याकरण, न्याय, छन्द, अलकार आगम और लोकव्यवहार आदि के अनुरूप सत्य वचन बोलना ही श्रेयस्कर है।

इनसे व्यतिरिक्त जो वचन हैं वे असत्य हैं ऐसा प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—उपर्युक्त सत्य वचन से जो विपरीत है वह असत्य है। जिसमें सत्य और असत्य दोनों हैं वह सत्यमृषा है। इन उभय से विपरीत अनुभय वचन असत्यमृषा कहे गये है॥३१४॥

आचारवृत्ति—पूर्वोक्त सभी दश प्रकार के सत्य वचनों से प्रतिकूल वचन को मृषा कहते हैं। जिस पद या वाक्य में ये सत्य और असत्य दोनों ही वचन मिश्र हों वह सत्यमृषा नाम को प्राप्त होता है, क्योंकि वह उभयवचन गुण-दोष, दोनों से सहित है। इस सत्यमृषा कथन से विपरीत भाषा असत्यमृषा है, क्योंकि यह न सत्य है न असत्य है अतः अनुभय रूप है। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने देखा है अर्थात् कहा है।

तात्पर्य यह है कि सत्य, असत्य, उभय और अनुभय के भेद से वचन चार प्रकार के हैं। उनमें से असत्य वचन और उभयवचन को छोड़ देना चाहिए और सत्यवचन तथा अनुभय वचन बोलना चाहिए। इसी बात को भाषा समिति के लक्षण (गाथा ३०७) में कहा है।

अब असत्यमृषा भाषा का वर्णन करते हैं—

आमंतणि आणवणी जायणिसंपुच्छणी य पण्णवणी ।
पच्चक्खाणी भासा छट्ठी इच्छाणुलोमा य ॥३१५॥
ससयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ।
णवमी अणक्खरगया असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ॥३१६॥

आमन्त्र्यतेऽनयामन्त्रणी । गृहीतवाच्यवाचकसबन्धो व्यापारान्तर प्रत्यभिमुखी क्रियते यया सामन्त्रणी भाषा । यथा हे देवदत्त इत्यादि । आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञापना । आज्ञा तवाह ददामीत्येवमादि वचनमाज्ञापनी भाषा । याच्यतेऽनया याचना । यथा याचयाम्यह त्वा किंचिदिति । पृच्छ्यतेऽनयेति पृच्छना । यथा पृच्छाम्यहं त्वामित्यादि । प्रज्ञाप्यतेऽनयेति प्रज्ञापना । यथा प्रज्ञापनाम्यह त्वामित्यादि । प्रत्याख्यायतेऽनयेति प्रत्याख्याना यथा प्रत्याख्यान मम दीयतामित्यादि भाषासमिति सर्वत्र सबन्ध । इच्छया [1]लोमानुकूलेच्छा[2]लोमा सर्वत्रानुकूला । यथा एव करोमीत्यादि ॥३१५॥

सशयमव्यक्त वक्तीति सशयवचनी । सशयार्थप्रख्यापनानभिव्यक्तार्था यस्माद्वचनात्सदेहरूपादर्थो न प्रतीयते तद्वचन सशयवचनी भाषेत्युच्यते । यथा दन्तरहितातिबालातिवृद्धवचन, महिष्यादीना च शब्दः ।

गाथार्थ—आमन्त्रण करनेवाली, आज्ञा करनेवाली, याचना करनेवाली, प्रश्न करनेवाली, प्रज्ञापन करनेवाली, प्रत्याख्यान करानेवाली छठी भाषा और इच्छा के अनुकूल बोलने वाली भाषा सातवी है ।

उसी प्रकार सशय को कहनेवाली असत्यमृषा भाषा आठवी है तथा नवमी अनक्षरी भाषा रूप असत्यमृषा भाषा देखी गई है ॥३१५-३१६॥

आचारवृत्ति—जिसके द्वारा आमन्त्रण किया जाता है वह आमन्त्रणी भाषा है। जिसने वाच्य-वाचक सम्बन्ध जान लिया है उस व्यक्ति को अन्य कार्य से हटाकर अपनी तरफ उद्यत करना आमन्त्रणी भाषा है। जैसे, हे देवदत्त ! इत्यादि सम्बोधन वचन बोलना। इस शब्द से वह देवदत्त अन्य कार्य को छोडकर बुलानेवाले की तरफ उद्यत होता है।

जिसके द्वारा आज्ञा दी जाती है वह आज्ञापनी भाषा है। जैसे, 'मैं तुम्हे आज्ञा देता हूँ।' इत्यादि वचन बोलना।

जिसके द्वारा याचना की जाती है वह याचनी भाषा है। जैसे, 'मै तुमसे कुछ माँगता हूँ।'

जिसके द्वारा प्रश्न किया जाता है वह पृच्छना है। जैसे, 'मै आपसे पूछता हूँ' इत्यादि।

जिसके द्वारा प्रज्ञापना की जाये वह प्रज्ञापनी भाषा है। जैसे, 'मै आपसे कुछ निवेदन करता हूँ' इत्यादि।

जिसके द्वारा कुछ त्याग किया-जाता है वह प्रत्याख्यानी है। जैसे, 'मुझे प्रत्याख्यान दीजिए' इत्यादि।

---

१ क 'यानुलो' । २ क 'छानुलो' ।

तथैवासत्यमृषा साष्टमी भाषा। नवमी पुनरनक्षरगता। यस्या नाक्षराण्यभिव्यक्तानि ककारचकारमकारादीनामनभिव्यक्तिर्यत्र सा नवमी भाषानक्षरगता। सा च द्वीन्द्रियादीनां भवत्येव। सासत्यमृषा भाषा नव प्रकारा भवति। विशेषाप्रतिपत्तेरसत्या सामान्यस्य प्रतिपत्तेर्न मृषा। आमन्त्रणरूपेणाभिमुखीकरणेन न मृषा पश्चादन्यस्यार्थस्याप्रतिपत्तेरसत्या। तथाज्ञादानेन न मृषा पश्चात्किं दास्यतीति न ज्ञायते तेन न सत्या। तथा याच्ञामात्रेण न मृषा, उत्तरकाले किं याचयिष्यतीति न ज्ञायते ततो न सत्या। तथा प्रश्नमात्रेण न मृषा पश्चान्न ज्ञायते किं पृच्छ्यतेऽनेनेति न सत्या। तथा प्रत्याख्यानसामान्यरूपस्य याचनाया प्रतीतेर्न मृषा पश्चात्कस्य प्रत्याख्यानं दास्यतीति न ज्ञायते तेन न सत्या। तथेच्छाया एव करोमीति भणनेन न मृषा किंचित् पश्चात्किं करिष्यतीति न ज्ञायते तेन न सत्या। तथाक्षराणि सदिग्धानि

जो इच्छा के अनुकूल है वह इच्छानुलोमा है जो कि सर्वत्र अनुकूल रहती है। जैसे, 'मैं ऐसा करता हूँ।' इत्यादि।

इन सभी के साथ भाषा समिति का सम्बन्ध लगा लेना चाहिए अर्थात् ये सातों भेद भाषासमिति के अन्तर्गत हैं।

जो सशय अर्थात् अव्यक्त अर्थ को कहती है वह सशयवचनी भाषा है।

अर्थात् जिन सन्देह रूप वचनो से अर्थ की प्रतीति नही हो पाती है वे वचन सशयवचनी है। जैसे, दाँत रहित अतिबाल और अतिवृद्ध के वचन तथा भैंस आदि पशुओं के शब्द। यह आठवी भाषा है।

नवमी भाषा अनक्षरी है। जिसमें ककार चकार मकार आदि अक्षर अभिव्यक्त नही हैं, स्पष्ट नही हैं वह अनक्षरी भाषा है। यह द्वीन्द्रिय आदि जीवों मे तो होती ही है।

इस प्रकार से असत्यमृषा भाषा के नौ भेद कहे गये है। इन भाषाओं से विशेष का ज्ञान नही हो पाता है अत इन्हे सत्य भी नही कह सकते और सामान्य का ज्ञान होता रहता है अत. इन्हे असत्य भी नही कह सकते। इसी कारण 'न सत्यमृषा इति असत्यमृषा' ऐसा नञ् समास होने से वह शब्द सत्य और मृषा दोनों का निषेध कर रहा है।

इसी अर्थ को और स्पष्ट करते है—आमन्त्रणी भाषा में आमन्त्रण—सम्बोधन रूप से अपनी तरफ अभिमुख करने से यह असत्य नही है, पश्चात् किसलिए सम्बोधन किया ऐसा कोई अन्य अर्थ ज्ञात न होने से यह सत्य नही है। अतः असत्यमृषा है।

उसी प्रकार आज्ञापनी में आज्ञा देने से असत्य नही है, पश्चात् क्या आज्ञा देंगे यह जाना नही जाता है इसलिए सत्य भी नही है। वैसे ही याचनी में याचना मात्र से असत्य नही है, उत्तर काल में क्या माँगेगा यह नही जाना गया है अत. सत्य भी नही है। पृच्छना भाषा में प्रश्न मात्र से वह झूठ भी नहीं है, पुनः यह नहीं जाना जाता है कि यह क्या पूछेगा अतः सत्य भी नहीं है। वैसे ही प्रत्याख्यानी भाषा में प्रत्याख्यान सामान्य के त्यागने की प्रतीति होने से असत्य भी नही है, पश्चात् किस वस्तु का त्याग देंगे यह नही जाना जाता है अतः सत्य भी नही है। वैसे ही इच्छानुलोमा में इच्छा के अनुकूल 'मैं ऐसा करता हूँ' कहने से असत्य भी नहीं है, पश्चात् क्या करेगा यह नही जाना जाता है अतः सत्य भी नहीं है। वैसे ही अनक्षरगता में

प्रतीयन्ते तेन न मृषा, अर्थ सन्दिग्धो न प्रतीयते तेन न सत्या । यथा शब्दमात्रं प्रतीयते तेन न मृषा, अक्षराणामर्थस्य चाप्रतीतेर्न सत्येति । अनेन न्यायेन नवप्रकारा असत्यमृषाभाषा व्याख्यातेति ॥३१६॥

पुनरपि यद्वचनं सत्यमुच्यते तदर्थमाह—

सावज्जजोग्गवयणं वज्जंतोऽवज्जभीरु गुणकंखी ।
सावज्जवज्जवयणं णिच्चं भासेज्ज भासंतो ॥३१७॥

यदि मौनं कर्तुं न शक्नोति तत एव भाषेत—सावद्य सपापमयोग्यं यकारभकारादियुक्त वचन वर्जयेत् । अवद्यभीरु पापभीरुः । गुणाकाक्षी हिंसादिदोषवर्जनपर । सावद्यवर्जं वचन नित्य सर्वकाल भाषयन् भाषयेत् । अन्वयव्यतिरेकेण वचनमेतत् । नैतस्य पौनरुक्त्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यानुग्रहपरादिति ॥३१७॥

अशनसमितिस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

अक्षर सदिग्ध प्रतीति में आ रहे है इसलिए असत्य भी नही है और अर्थ संदिग्ध होने से स्पष्ट प्रतीति में नही आता है इसलिए सत्य भी नही है। अर्थात् शब्द मात्र तो प्रतीति मे आ रहे हैं इसलिए असत्य नही है और अक्षरो का अर्थ प्रतीति में नही आ रहा है इसलिए सत्य भी नही है। इस न्याय से नव प्रकार की असत्यमृषा भाषा का व्याख्यान किया गया है। भाषा-समिति मे इन वचनो को बोलना वर्जित नही है।

पुनरपि जो वचन सत्य कहे जाते है उन्ही को बताते है—

गाथार्थ—पापभीरु और गुणाकांक्षी मुनि सावद्य और अयोग्य वचन को छोड़ता हुआ तथा नित्य ही पाप योग से वर्जित वचन बोलता हुआ वर्तता है ॥३१७॥

आचारवृत्ति—यदि मुनि मौन नही कर सकता है तो इस प्रकार से बोले—पाप सहित वचन और यकार मकार आदि सहित अर्थात् 'रे', 'तू' आदि शब्द अथवा गालीगलौज आदि अभद्र शब्द से युक्त वचन नही बोले । पापभीरु और गुणों का आकांक्षी अर्थात् हिंसादि दोषो के वर्जन मे तत्पर होता हुआ मुनि यदि बोले तो हमेशा ही उपर्युक्त दोष रहित सत्य वचन बोले । यह अन्वय और व्यतिरेक रूप से कहा गया है इसलिए इसमे पुनरुक्त दोष नही आता है क्योकि द्रव्यार्थिकनयापेक्षी और पर्यायार्थिकनयापेक्षी शिष्यों के प्रति अनुग्रह करना ही गुरुओं का कार्य है ।

विशेष—पहले जो दश प्रकार के सत्य और नव प्रकार के अनुभय वचन बताये और उनके बोलने का आदेश दिया वह तो अन्वय कथन है अर्थात् विधिरूप कथन है और यहाँ पर सावद्य और अयोग्य वचनो का त्याग के लिए कहा गया व्यतिरेक अर्थात् निषेधरूप कथन है । द्रव्यार्थिक नयापेक्षी शिष्य एक प्रकार के वचन से ही दूसरे प्रकार का बोध कर लेते हैं किन्तु पर्यायार्थिक नयापेक्षी शिष्यो को विस्तारपूर्वक कहना पड़ता है ।

अब अशनसमिति का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं—

उग्गम उप्पादण एसणेहिं पिंडं च उवधि सज्जं च।
सोधंतस्स य मुणिणो परिसुज्झइ एसणासमिदी ॥३१८॥

उद्गच्छत्युत्पद्यत आहारो यैर्दोषैस्त उद्गमदोषाः । उत्पाद्यते निष्पाद्यत आहारो यैस्त उत्पादनादोषाः । अश्यते भुज्यते आहारो वसत्यादयो वा यैस्तेऽशनदोषास्तैः । पिण्ड आहार । उपधि पुस्तकपिच्छकादि । शय्या वसत्यादीन् शोधयत सुष्ठु सावद्यपरिहारेण निरूपयतो, मुने परिशुद्धयतेऽशनसमिति । अशनस्य सम्यग्विधानेन दोषपरिहारेणेति वा चरणमशनसमिति । उद्गमोत्पादनाशनदोषैः पिण्ड उपधि शय्यां शोधयतो मुने परिशुद्धयतऽशनसमितिरिति । एत उद्गमादयो दोषा सप्रपंचेन पिण्डशुद्धौ वक्ष्यन्त इति नेह प्रपंच्यन्ते, पुनरुक्तदोषभयात् ।

कथमेतान् दोषान्परिहरति मुनिरित्याशंकायामाह चकार (र) सूचितार्थं। सवितुरुदये देववन्दना

गाथार्थ—उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों के द्वारा आहार, उपकरण, और वसति आदि का शोधन करते हुए मुनि के एषणा समिति शुद्ध होती है ॥३१८॥

आचारवृत्ति—जिन दोषों से आहार उद्गच्छति अर्थात् उत्पन्न होता है वे उद्गम दोष है। जिन दोषों से आहार उत्पाद्यते अर्थात् उत्पन्न कराया जाता है वे उत्पादन दोष हैं, और जिन दोषों से सहित आहार अथवा वसति आदि का अश्यते भुज्यते अर्थात्—उपभोग किया जाता है वे अशन दोष है।

पिण्ड आहार को कहते है। उपधि से पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण लिये जाते हैं और शय्या शब्द से वसतिका आदि ग्राह्य है। इन आहार, उपकरण और वसतिका आदि का शोधन करते हुए अर्थात् अच्छी तरह से सावद्य का त्याग करके इन्हे स्वीकार करते हुए मुनि के विशुद्ध अशन समिति होती है। अथवा अशन—भोजन को सम्यग्विधान से सहित दोषों का परिहार करके ग्रहण करना अशनसमिति है।

तात्पर्य यह हुआ कि उद्गम उत्पादन और अशन दोषों से रहित आहार, उपकरण और वसतिका की शुद्धि करनेवाले मुनि शुद्ध अशनसमिति का पालन करते हैं। ये उद्गम आदि दोष विस्तार सहित पिण्डशुद्धि अधिकार मे कहे जायेंगे, इसलिए पुनरुक्त दोष के भय से यहाँ पर इनका विस्तार नही करते हैं। स्पष्टीकरण यह है कि—उत् उपसर्ग पूर्वक गम् धातु से उदगम शब्द बना है जिसका अर्थ है उत्पन्न होना। ये उद्गम दोष श्रावक के आश्रित है। उत् उपसर्ग पूर्वक पद् धातु से णिजन्त मे उत्पादन शब्द बना है जिसका अर्थ है उत्पन्न कराया जाना। ये उत्पादन दोष मुनि के आश्रित माने गये है। अश् धातु का अर्थ है भोजन करना। इसी से अशन बना है। ये अशन सम्बन्धी दोष मुनि के भोजन के सम्बन्ध मे है। ये ही दोष पुस्तक, पिच्छी, वसतिका आदि में भी निषिद्ध किये गये हैं। यहाँ पर अशन के स्थान में भुज् धातु से भोग या उप उपसर्ग पूर्वक उपभोग बनाकर उसका अर्थ ऐसा हो जाता है कि पिच्छी, पुस्तक आदि वस्तु के उपभोग के ये दोष हैं।

शंका—मुनि इन दोषों का परिहार कैसे करते है ?

समाधान—गाथा में 'चकार' शब्द से जो अर्थ सूचित किया है उसे ही हम कहते हैं।

१ पिंडमुवधिं च इत्यपि पाठः।

कृत्वा घटिकाद्वयेऽतिक्रान्ते श्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं स्वाध्यायं गृहीत्वा वाचनापृच्छनानुप्रेक्षापरिवर्तनादिकं सिद्धान्तादेर्विधाय घटिकाद्वयमप्राप्त[1]मध्याह्लादरात् स्वाध्याय श्रुतभक्तिपूर्वकमुपसंहृत्यावसथो[2] दूरतो मूत्रपुरीषादीन् कृत्वा पूर्वापरकायविभागमवलोक्य हस्तपादादिप्रक्षालन विधाय कुण्डिका पिच्छिका गृहीत्वा मध्याह्लदेववन्दना कृत्वा पूर्णोदरबालकान् भिक्षाहारान् काकादिवलीनन्यानपि लिगिनो भिक्षावेलाया ज्ञात्वा प्रशान्ते धूममुशलादिशब्दे गोचर प्रविशेन्मुनि। तत्र गच्छन्नातिद्रुत, न मन्द, न विलम्बित गच्छेत्। ईश्वरदरिद्रादिकुलानि न विवेचयेत्। न वर्त्मनि जल्पेत्तिष्ठेत्। हास्यादिकान् विवर्जयेत्। नीचकुलेषु न प्रविशेत्। सूतकादिदोषदूषितेषु शुद्धेष्वपि कुलेषु न प्रविशेत्। द्वारपालादिभिर्निषिद्धो न प्रविशेत्। यावन्त प्रदेशमन्ये भिक्षाहारा प्रविशन्ति तावन्त प्रदेश प्रविशेत्। विरोधनिमित्तानि स्थानानि वर्जयेत्। दुष्टखरोष्ट्रमहिषगोहस्तिव्यालादीन् दूरत. परिवर्जयेत्। मत्तोन्मत्तमदावलिप्तान् सुष्ठु वर्जयेत्। स्नानविलेपनमण्डनरतिक्रीडाप्रशक्ता योषितो नाव-

---

सूर्योदय होने पर देववन्दना करके दो घड़ी (४८ मिनट) के बीत जाने पर श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके सिद्धान्त आदि ग्रन्थो की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और परिवर्तन आदि करके मध्याह्न काल से दो घड़ी पहले श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर देवे। पुन· वसतिका से दूर जाकर मल-मूत्र आदि विसर्जित करके अपने शरीर के पूर्वापर अर्थात् आगे-पीछे के भाग का अवलोकन—पिच्छका से परिमार्जन करके हस्तपाद आदि का प्रलाक्षन करके मध्याह्नकाल की देववन्दना—सामायिक करे अर्थात् मध्याह्न के पहले दो घडी जो शेष रही थी उसमे सामायिक करे। पुन जब बालक भोजन करके निकलते है, काक आदि को बलि (दाने आदि) भोजन डाला जाता है और भिक्षा के लिए अन्य सम्प्रदायवाले साधु भी विचरण कर रहे होते है, तथा गृहस्थो के घर मे धुआँ और मूसल आदि शब्द शान्त हो चुका होता है अर्थात् भोजन बनाने का कार्य पूर्ण हो चुका होता है, इन सब कारणो से मुनि आहार की बेला जानकर गोचरी के लिए निकले।

उस समय चलते हुए न ही अधिक जल्दी-जल्दी और न अधिक धीरे-धीरे तथा न ही विलम्ब करते हुए चले। धनी और निर्धन आदि के घरो का विचार-भेदभाव न करे। न मार्ग में किसी से बात करे और न ठहरे अर्थात् आहार के लिए निकल कर आहार-ग्रहण कर चुकने तक मौन रहे। मार्ग मे हास्य आदि भी न करे, हँसते हुए या अन्य कोई चेष्टा करते हुए न चले। नीच कुलो के घर मे प्रवेश न करे और सूतक, पातक आदि दोषो से दूषित शुद्ध कुल वाले घरों मे भी नही जावे। द्वारपाल आदि के द्वारा रोके जाने पर वहाँ प्रवेश न करे। जितने प्रदेश—स्थान तक अन्य लोग भिक्षा के लिए प्रवेश करते है, मुनि भी उतने प्रदेश तक प्रवेश करे। जिन स्थानों में आहारार्थ जाने का विरोध है उन स्थानो को छोड देवे। दुष्टजन, गधे, ऊँट, भैंस, गाय, सर्प आदि जीवो को दूर से ही छोड़ देवे अर्थात् इनसे दूर से बचकर निकले। मत्त अर्थात् पागल या उन्मत्त अर्थात् मदिरा आदि से उन्मत्त या गर्विष्ठ जनों को भी बिलकुल छोड़ देवे। स्नान, विलेपन, मण्डन अर्थात् शृगार या रतिक्रीड़ा मे आसक्त हुई महिलाओं का अवलोकन न करे।

श्रावक यदि विनय पूर्वक ठहराये—पड़गाहन करे तो वहाँ ठहरे। सम्यग्विधि—नवधा-

---

1 क मप्राप्त मध्याह्नदारात् इ०। २ क 'वसरोद्'।

लोकयेत्। विनयपूर्वकं विधृतस्तिष्ठेत्। सम्यग्विधानेन दीयमानमाहारं प्रासुकं सिद्धभक्तिं कृत्वा प्रतीच्छेत्। स (श) तनपतनगलनमकुर्वन् निश्छिद्रं पाणिपात्रं नाभिप्रदेशे कृत्वा शुरशुरशब्दादिवर्जितं भुञ्जीत। योषितां स्तनजघनोरुनाभिकटिनयनललाटमुखदन्तौष्ठबाहुकक्षान्तरजंघापादलीलागतिविलासगीतनृत्तहासस्निग्धदृष्टिकटाक्षनिरीक्षणादीन्नावलोकयेत्। एवं भुक्त्वा पूर्णोदरोऽन्तरायादपूर्णोदरो वा मुखहस्तपादान् प्रक्षाल्य शुद्धोदकपूर्णां कुण्डिकां गृहीत्वा निर्गच्छेत्। धर्मकार्यमन्तरेण न गृहान्तरं प्रविशेत्। एवं जिनालयादिप्रदेशं सम्प्राप्य प्रत्याख्यानं गृहीत्वा प्रतिक्रामेदिति ॥३१८॥

आदाननिक्षेपणसमितिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो।
दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू ॥३१९॥

भक्ति से दिये गये प्रासुक आहार को सिद्धभक्ति करके (सिद्धभक्ति पूर्वक पूर्व दिन गृहीत प्रत्याख्यान का निष्ठापन करके) ग्रहण करे। नीचे भोज्य वस्तु आदि न गिराते हुए या पेय वस्तु न झराते—गिराते हुए छिद्र रहित अपने पाणिपात्र को नाभि प्रदेश के पास करके शुर-शुर शब्द आदि को न करते हुए आहार करे। स्त्रियों के स्तन, जघन, घुटनों, नाभि, कमर, नेत्र, ललाट, मुख, दाँत, ओठ, काँख, जघा, पैर आदि अवयवों का या उनके लीलापूर्वक गमन, विलास, गीत, नृत्य, हास्य, स्नेह दृष्टि, कटाक्षपूर्वक देखना आदि चेष्टाओं का अवलोकन न करे।

इस प्रकार पूर्ण उदर आहार करके अथवा अन्तराय आ जाने पर अपूर्ण उदर आहार-करके, मुख-हाथ-पैरो का प्रक्षालन करके,शुद्ध प्रासुक जल से भरे हुए कमण्डलु को लेकर आहार, गृह से निकले। धर्म कार्य के बिना अन्य किसी के घर में प्रवेश न करे। इस तरह से जिनालय आदि स्थान मे आकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके गोचर प्रतिक्रमण करे।

विशेष—मध्याह्न की सामायिक करके १२ बजे के बाद मुनि आहारार्थ निकलें। यहाँ ऐसा आदेश है, किन्तु वर्तमान में साधु ९ बजे से लेकर ११ बजे तक आहारार्थ निकलते है, पश्चात् आहार के बाद मध्याह्न की सामायिक करते है ऐसी परम्परा चल रही है। वर्तमान मे श्रावको के भोजन की दो बेलाएँ है—प्रात और साय (सूर्यास्त मे पहले तक)। प्रात. की भोजनबेला प्रायः ९ बजे से ११ बजे है तथा सायं की ४ बजे से सूर्यास्त तक। यही कारण है कि साधु प्रात की भोजनबेला मे आहारार्थ निकलते है। कदाचित् विशेष प्रसगवश यदि प्रातः नही निकले हैं तो मध्याह्न सामायिक के उपरान्त सूर्यास्त से तीन घटिका पहले तक भी निकलते हैं क्योंकि सूर्योदय से तीन घड़ी बाद और सूर्यास्त से तीन घड़ी पहले तक साधु दिन में एक बार ही आहार ग्रहण करें ऐसा इसी मूलाचार की गाथा ३५ में कहा है। अतः आहार के लिए भी यदि प्रात. नही निकले हैं तो मध्याह्न सामायिक के बाद निकलते है ऐसा देखा जाता है।

अब आदान-निक्षेपण समिति का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—संयमलब्धि से सहित वह भिक्षु ग्रहण करते और रखते समय वस्तु को और उसके स्थान को चक्षु से देखकर पुन: पिच्छी से परिमार्जित करे ॥३१९॥

आदाने ग्रहणे। निक्षेपे त्यागे। प्रतिलेख्य सुष्ठु निरीक्षयित्वा चक्षुषा पश्चात्पिच्छिकया सम्मार्जयेत् प्रतिलेखयेत्। द्रव्यं द्रव्यस्थान च। कवलिका कुण्डिकादि द्रव्य, यत्र तद्व्यवस्थित तत्स्थान। सयमलब्ध्या स भिक्षुर्यति। श्रामण्ययोग्यवस्तुनो ग्रहणकाले निक्षेपकाले वा चक्षुषा द्रव्य द्रव्यस्थान च प्रतिलेख्य पिच्छिकया सम्मार्जयेदिति ॥३१९॥

येन प्रकारेणादाननिक्षेपसमिति शुद्धा भवति तमाह—

सहसाणाभोइयदुप्पमज्जिद अप्पच्चुवेक्खणा दोसा।
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥३२०॥

सहसा शीघ्र व्यापारान्तर प्रत्युद्गतमनसा निक्षेपमादान वा। अनाभोगितमनालोकन स्वस्थचित्तवृत्त्याग्रहणमादान वा अनालोक्य द्रव्य द्रव्यस्थान यत्क्रियते तदानाभोगित। दुष्टप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित पिच्छिकयावष्टभ्य प्रतिलेखन। अप्रत्युपेक्षण किंचित् सस्थाप्य पुन कालान्तरेणालोकन। एतान् दोषान् परिहरतो भवेदादाननिक्षेपसमितिरिति। किमुक्त भवति, स्वस्थवृत्त्या द्रव्य द्रव्यस्थान च चक्षुषावलोक्य मृदुप्रति-

---

आचारवृत्ति—कवलिका—शास्त्र रखने की चौकी आदि तथा कमण्डलु आदि वस्तुएँ द्रव्य है। जहाँ पर ये रखी है वह द्रव्य स्थान है। मुनि किसी भी वस्तु को उठाने मे या रखने मे पहले उसको अपनी आँखो से अच्छी तरह देख ले, फिर पिच्छिका से परिमार्जित करे। तभी उस वस्तु को ग्रहण करे या वहाँ पर रखे। इस तरह सयम की उपलब्धि से वह भिक्षु यति कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि श्रमणपने के योग्य ऐसी वस्तु को ग्रहण कर। समय अथवा उन्हे रखते समय अपनी आँखो से वस्तुओं और स्थान का अवलोकन करके पुन पिच्छिका मे झाड़-पोंछ कर उन वस्तुओ को ग्रहण करे या रखे।

जिन दोषो के छोडने से आदान निक्षेपण समिति शुद्ध होती है उन्हे कहते हैं—

गाथार्थ—सहसा, अनाभोगित, दुष्प्रमार्जित और अप्रत्युपेक्षित दोषो को छोड़ते हुए मुनि के आदान निक्षेपण समिति होती है ॥३२०॥

आचारवृत्ति—अन्य व्यापार के प्रति मन लगा हुआ होने से सहसा किसी वस्तु को उठा लेना या रख देना सहसा दोष है। स्वस्थ चित्त की प्रवृत्ति से अवलोकन न करके कोई वस्तु ग्रहण करना या रखना अथवा कमण्डलु आदि वस्तु और उसके स्थान को बिना देखे ही वस्तु का रखना-उठाना आदि यह अनाभोगित दोष है। पिच्छिका से ठीक-ठीक परिमार्जन न करके, जैसे-तैसे कर देना यह दुष्प्रमार्जित दोष है। कुछेक पुस्तक आदि वस्तु कही पर रखकर पुन: कई दिन बाद उनका अवलोकन—प्रतिलेखन करना यह अप्रत्युपेक्षण दोष है। इन दोषों का परिहार करते हुए मुनि के आदाननिक्षेपण समिति होती है।

तात्पर्य क्या हुआ ? मन की स्वस्थवृत्ति से उपयोग को स्थिर करके पुस्तक आदि वस्तुएँ और उनके रखने-उठाने के स्थान को अपनी आँखों से देखकर पुनः कोमल मयूर पंख की पिच्छिका से उसे झाड़-पोछ कर उस वस्तु को ग्रहण करना या रखना चाहिए। तथा रखी हुई पुस्तक आदि का थोड़े दिनों मे ही पुन अवलोकन सम्मार्जन करना चाहिए।

लेखनेन सम्माज्यादान ग्रहण वा कर्तव्य। स्थापितस्य पुस्तकादेः पुनः कतिपयदिवसैरालोकनं कर्तव्य-मिति ॥३२०॥

उच्चारप्रस्रवणसमितिस्वरूपनिरूपणायाह—

वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुप्परोध वित्थिण्णे।
अवगदजंतु विवित्ते उच्चारादी विसज्जेज्जो ॥३२१॥

वनदाहो दावानल। कृषिः शीरेणाऽनेकवारभूमेर्विदारण। मषी श्मशानागारानलादिप्रदेशः। कृतशब्दः प्रत्येकमभिगम्बध्यते। वनदाहीकृते, कृषीकृते, मषीकृते, स्थण्डिलीकृते, ऊषरीकृते। अनुपरोधे लोको-परोधवर्जिते। विस्तीर्णे विशाले। अपगता अविद्यमाना जन्तवो द्वीन्द्रियादयो यत्र सोऽपगतजन्तुस्तस्मिन्नपगत-जन्तौ। विविक्तेऽशुच्याद्यपस्कररहिते जनरहिते वा उच्चारादीन् विसर्जयेत् परित्यज्येत्। अचित्तभूमिदेश इत्यनेन सह सम्बन्ध कर्तव्य इति ॥३२१॥

अथ के ते उच्चारादय इत्याशंकायामाह—

भावार्थ—दिन मे जितनी बार भी पुस्तक, कमण्डलु, चौकी आदि वस्तुओं को उठाना या रखना हो तो भलीभाँति देखकर और पिच्छी से परिमार्जित करके ही ग्रहण करना चाहिए। यदि रात्रि मे प्रसगवश या करवट आदि लेना हो तो भी पिच्छिका से परिमार्जन करना चाहिए। तथा जिनका प्रतिदिन उपयोग नही होता ऐसी पुस्तक आदि यदि वसतिका मे रखी हुई है तो उन्हे भी कुछ दिनो में पुन देखकर, पिच्छिका से परिमार्जित करके रहना चाहिए, अन्यथा उनमे मकडी के जाले या वर्षा की सीलन से फफूँदी आदि लग जाने का अथवा सूक्ष्म त्रस जन्तु उत्पन्न हो जाने का भय रहता है। उन्हे दूसरे तीसरे दिन सँभालते रहने से ऐसा प्रसग नही आता है।

उच्चारप्रस्रवण-प्रतिष्ठापन समिति का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—दावानल से, हल से या अग्नि आदि से दग्ध हुए, बजरस्थान, विरोधरहित, विस्तीर्ण, जन्तुरहित और निर्जन स्थान मे मलमूत्र आदि का विसर्जन करे ॥३२१॥

आचारवृत्ति—दावानल को वनदाह कहते हैं। हल से अनेक बार भूमि का विदारण होना कृषि है। श्मशान प्रदेश, अँगारो के प्रदेश और अग्नि आदि से जले प्रदेश को मषि कहते हैं। कृत शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। अर्थात् जहाँ दावानल (अग्नि) लग चुकी है ऐसा प्रदेश, जहाँ हल चल चुका है ऐसा प्रदेश, तथा श्मशान भूमि, अंगारों से अग्नि आदि से जला हुआ प्रदेश,स्थण्डिलीकृत—ऊसर प्रदेश, जिसे बंजर भी कहते है अर्थात् जहाँ पर घास आदि नहीं उगती है ऐसी कडी भूमि का प्रदेश, जहाँ पर लोगों का विरोध नहीं है ऐसा प्रदेश, विशाल—खुला हुआ बड़ा स्थान, जहाँ पर दो-इन्द्रिय आदि (चिंवटी आदि) जन्तु नही है ऐसा निर्जंतुक स्थान और विविक्त अर्थात् अपवित्र विष्ठा तथा कूड़ा-कचरा आदि रहित स्थान या जनरहित स्थान इन उपर्युक्त प्रकार के स्थानों मे मुनि मल-मूत्रादि का त्याग करे अर्थात् अचित्त भूमि प्रदेश में शौचादि के लिए जावे ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए।

मलमूत्रादि से क्या-क्या लेना ? सो ही बताते हैं—

उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयादियं दव्वं ।
अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो ॥३२२॥

उच्चार अशुचि । प्रस्रवणं मूत्र । खेल श्लेष्माण । सिंघाणक नासिकापस्कर । आदिशब्देन केशोत्पाटबालान् मदप्रमादवातपित्तादिदोषान् सप्तमधातु छर्द्यादिक च पूर्वोक्तविशेषणविशिष्ट अचित्तभूमिदेशे हरिततृणादिरहिते प्रतिलेखयित्वा सुष्ठु निरूप्य विसर्जयेत् । पूर्वं सामान्यव्याख्यातमिद तु सप्रपचमिति कृत्वा न पौनरुक्त्यमिति ॥३२३॥

अथ रात्रौ कथमिति चेदित्यत आह—

रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे[1] ।
आसंकविसुद्धीए अवहत्थगफासणं कुज्जा ॥३२३॥

रात्रौ तु प्रज्ञाश्रवणेन वैयावृत्यादिकुशलेन साधुना विनयपरेण सर्वसंघप्रतिपालकेन वैराग्यपरेण जितेन्द्रियेण प्रेक्षिते सुष्ठुदृष्टेऽवकाशैकप्रदेशे पुनरपि सचक्षुषा प्रतिलेखनेनं प्रमार्जयित्वोच्चारादीन् विसृजेत् ।

गाथार्थ—मल, मूत्र, कफ, नाकमल आदि वस्तु को अचित्त भूमि प्रदेश मे देख-शोधकर विसर्जित करे ॥३२२॥

आचारवृत्ति—उच्चार—विष्ठा, प्रस्रवण—मूत्र, खेल—कफ, सिघाणक—नाक का मल, 'आदि' शब्द से लोच करके उखाडे गये बाल, मद, प्रमाद या वात-पित्त आदि से उत्पन्न हुए दोष—विकार, वीर्य और वमन आदि अनेक प्रकार के शरीर के मल सगृहीत है। इन सभी मलो का पूर्वोक्त गाथा कथित विशेषणो से विशिष्ट हरे तृण अकुर आदि रहित अचित्त भूमिप्रदेश मे पहले देखकर पुन पिच्छिका से परिमार्जित करके त्याग करे। पूर्व मे सामान्य कथन था और इस गाथा मे सविस्तार कथन है इसलिए यहाँ पुनरुक्ति दोष नही है अर्थात् पूर्व गाथा मे निर्जतुक स्थान के अनेक विशेषण बताये थे किन्तु वहाँ मलमूत्रादि का विसर्जन करे ऐसा सामान्य कथन किया था। यहाँ पर शरीर मल के अनेको प्रकार बताकर विशेष कथन कर दिया है, इस लिए पुन एक ही बात को कहने रूप पुररुक्ति दोष नही आता है।

अब रात्रि मे कैसे मलमूत्रादि विसर्जन करे ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—रात्रि मे बुद्धिमान मुनि के द्वारा देखकर बताये गए स्थान मे परिमार्जन करके जीवो की आशका दूर करने हेतु वायें हाथ से स्पर्श करे, पुन मलमूत्रादि विसर्जन करे। ॥३२३॥

आचारवृत्ति—जो साधु वैयावृत्ति आदि मे कुशल है, विनयशील है, सर्व संघ के प्रतिपालक हैं, वैराग्य में तत्पर है, जितेन्द्रिय है उन्हे प्रज्ञाश्रमण कहते हैं। ये प्रज्ञाश्रमण मुनि रात्रि के लिए किसी एक स्थान को अच्छी तरह देखकर अन्य साधुओ को बता देते हैं। ऐसे इन मुनि के द्वारा देखे हुए स्थान मे रात्रि मे मुनि पुनरपि अपनी दृष्टि से देखकर और पिच्छिका से परिमार्जित करके मलमूत्रादि का त्याग करे। और यदि वहाँ पर सूक्ष्मजीव आदि की

---

१ क 'स्थान'। २ क उवगासे।

अथ यदि तत्र सूक्ष्मजीवाद्याशंका भवेत्तत आशंकाविशुद्धये आशंकाविशुद्धयर्थं अपहस्तकस्पर्शनं कुर्यात्—विपरीतकरतलेन मृदुना स्पर्शनं कर्तव्यमिति ॥३२३॥

तेन प्रज्ञाश्रवणेन सति सवितरि चक्षुर्विषये च सति त्रीणि स्थानानि द्रष्टव्यानि भवन्ति किमर्थमित्याह—

जदि तं हवे असुद्धं बिदियं तदियं अणुण्णए साहू ।
लहुए अणिच्छयारे ण देज्ज साधम्मिए गुरुए ॥३२४॥

यदि तत्प्रथमस्थान प्रेक्षितमशुद्धं भवेद् द्वितीय स्थानमनुजानात्यनुमन्येत । तदपि यद्यशुद्धं तृतीय स्थानमनुजानाति जानीत (ते) गच्छेद्वा साधु संयतः । अथ कदाचित्तस्य साधोर्व्याधितस्यान्यस्य वा लघुशीघ्रमशुद्धेऽपि प्रदेशे मलच्युतिरनिच्छया विनाभिप्रायेण भवेत् ततस्तस्मिन् सधर्मिणि धार्मिके साधौ [1]अए अय प्रायश्चित्त तद्गुरु न दातव्य । अय. पुण्य, अयनिमित्तत्वात् प्रायश्चित्तमप्ययमित्युच्यते । यत्नपरस्य न बहु

आशका होते तो आशका की विशुद्धि के लिए बाये हाथ से उस स्थान का स्पर्श करना चाहिए ।

विशेष—यदि जीवो का विकल्प है तो बाये हाथ से स्पर्श करने से जीवो का पता चल जायेगा, पुन वह मुनि उस स्थान से हटकर किंचित् दूर जाकर मलमूत्रादि विसर्जित करे ऐसा अभिप्राय समझना ।

उन प्रज्ञाश्रमण को सूर्य के रहते हुए प्रकाश मे अपने नेत्रो के द्वारा तीन स्थान देखना चाहिए । ऐसा क्यो ? सो बताते है—

गाथार्थ—यदि वह स्थान अशुद्ध हो तो साधु दूसरे या तीसरे स्थान की अनुमति देवे । जल्दी मे किसी की इच्छा बिना अशुद्ध स्थान मे मलादि च्युत हो जाने पर उस धर्मात्मा मुनि को बड़ा प्रायश्चित नही देवे । ॥३२४॥

आचारवृत्ति—प्रज्ञाश्रमण ने पहले जो स्थान देखा है यदि वह अशुद्ध हो तो वे मुनि दूसरे स्थान को देखकर उसकी स्वीकृति देवे । यदि वह भी अशुद्ध हो तो वे प्रज्ञाश्रमण साधु तीसरे स्थान का निरीक्षण करके स्वीकृति देवे । अथवा तीसरे स्थान मे सयत शौच आदि के लिए जावें । यदि कदाचित् कोई साधु अस्वस्थ है अथवा अन्य कोई साधु जो कि अस्वस्थ नही भी है, उससे बाधा हो जाने से अकस्मात् अशुद्ध भी प्रदेश मे शीघ्र ही बिना अभिप्राय के मलच्युति हो जावे, उसे मल विसर्जन करना पड जावे तब उस धार्मिक साधु के लिए आचार्यदेव को बड़ा प्रायश्चित नही देना चाहिए ।

अयः का अर्थ पुन्य है है पुण्य का निमित्त होने से प्रायश्चित्त को भी यहाँ गाथा में 'अयः' शब्द से कहा गया है । प्र+अयः चित्त इति प्रायश्चित्तं अर्थात् संस्कृत में प्रकृष्टरूप से अयः अर्थात् पुण्यरूप चित्त—परिणाम को प्रायश्चित्त कहा है ।

---

१ क अय एव अयः ।

प्रायश्चित्त भवति यत । अथवा लहुए—लघु शीघ्र । अणिच्छयारे अनिच्छया कुर्वंति मलच्युति सधर्मिणि महत्प्रायश्चित्त न दातव्य । यद्यपि प्रायश्चित्त नात्रोपात्त तथापि सामर्थ्याल्लभ्यतेऽन्यस्याश्रुतत्वात् । अथवा लघुकेन कुशलेनेच्छाकारेणानुकूलेन प्रज्ञाश्रवणेन यदि प्रथमस्थान शुद्ध द्वितीय तृतीय स्थान वानुज्ञाप्य सम्बोध्य सधर्मिणि साधौ गुरौ वा प्रासुक स्थान दातव्यमिति ॥३२४॥

अनेन क्रमेण किंकृत भवतीति चेदत आह—

पदिठवणासमिदीवि य तेणेव कमेण वण्णिदा होदि ।
वोसरणिज्जं दव्व तु थंडिले वोसरंतस्स ॥३२५॥

तनैवोक्तक्रमेण प्रतिष्ठापनासमितिरपि वर्णिता व्याख्याता भवति । तेनोक्तक्रमेण व्युत्सर्जनीय त्यजनीय । स्थडिले व्यावर्णितस्वरूपे व्युत्सृजत परित्यजत. प्रतिष्ठापनाशुद्धि स्यादिति ॥ ३२५॥

यहाँ पर कहना यह है कि जो साधु प्रयत्न मे तत्पर है,सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले है उनके द्वारा यदि कदाचित् विना इच्छा मे अकस्मात् रात्रि मे अशुद्ध अप्रासुक भी स्थान मे मल विसर्जित हो जाता है तो भी उन्हे उसे बडा प्रायश्चित्त नही देना चाहिए।

यद्यपि यहाँ गाथा में प्रायश्चित्त शब्द का ग्रहण नही है फिर भी सामर्थ्य से उसी का ज्ञान होता है, क्योकि अन्य और कुछ इस विषय मे सुनने मे नही आता है। अथवा 'लहुए अणिच्छायारेण' इस पाठ को ऐसा सधिरूप कर दीजिए 'लहुएण इच्छाकारेण' और अर्थ ऐसा कीजिए लघुक—कुशल, इच्छाकार—अनुकूल ऐसा प्रज्ञाश्रमण मुनि यदि प्रथम स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा या तीसरा स्थान बताकर सहधर्मी साधु या गुरु को प्रासुक स्थान देवे।

विशेष—सघ मे उस उस कार्यभार मे कुशल मुनि को ही वह वह कार्य सौपा जाता है। इसलिए गाथा ३२३ मे प्रज्ञाश्रमण मुनि के विशेषण बताये गए है। उन गुणो से विशिष्ट मुनि रात्रि मे साधुओ के दीर्घशका या लघुशका आदि के हेतु जाने के लिए स्थान का दिन मे निरीक्षण कर लेते है और गुरुदेव को तथा अन्य मुनियो को बता देते है। अत कदाचित् ऐसा प्रसग किसी को आ जावे कि सहसा बाधा हो जाने पर लाचारी मे अशुद्ध स्थान मे भी मलादि त्याग करना पड जावे तो गुरु उसे बडा प्रायश्चित्त न देवे। दूसरा एक अर्थ यह किया है कि प्रज्ञाश्रमण मुनि द्वारा एक, दो या तीन ऐसे स्थान भी देखकर शुद्ध प्रासुक स्थान गुरु के लिए या मुनियो के लिए बताना चाहिए जहा कि वे रात्रि मे बाधा निवृत्ति करके भी दोष के भागी न न बने। उनके बताए अनुसार ही सघस्थ मुनियो को प्रवृत्ति करना चाहिए। इससे सघ मे व्यवस्था बनी रहेगी।

इस क्रम से क्या विशेषता होती है ? ऐसा पूछने पर कहते है—

गाथार्थ—त्याग करने योग्य मलादि को अचित्त स्थान मे त्याग करते हुए मुनि के उसी क्रम से प्रतिष्ठापना समिति कही जाती है। ॥३२५॥

आचारवृत्ति—उपर्युक्त कथित क्रम से त्याग करने योग्य मलमूत्रादि को पूर्वोक्त निर्जन्तुक स्थान मे विसर्जित करते हुए मुनि के प्रतिष्ठापना नाम की पाँचवीं समिति शुद्ध होती है ऐसा समझना। इस प्रकार से पाँचो समितियो का व्याख्यान हुआ।

एताभि समितिभि: सह विहरन् किंविशिष्ट स्यादित्याह—

एदाहिं सया जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणो' दु।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआउले साहू ॥३२६॥

एताभि समितिभि सया—सदा सर्वकाल युक्तो मह्या सर्वत्र विहरमाण. साधुर्हिंसादिभिर्न लिप्यते जीवनिकायाकुले लोके इति ॥३२६॥

ननु जीवसमूहमध्ये क थ साधुर्हिंसादिभिर्न लिप्यते ? चेदित्थ न लिप्यते इति दृष्टान्तमाह—

पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्त ।
तह समिदीहिं ण लिप्पदि साहू काएसु इरियंतो ॥३२७॥

पद्मिनीपत्र जले वृद्धिगतमपि यथोदकेन न लिप्यते, स्नेहगुणयुक्त यत तथा समितिभि सह विहरन् साधु. पापेन न लिप्यते कायेषु जीवेषु तेषां वा मध्ये विहरन्नपि यत्नपरो यत: इति ॥३२७॥

पुनरपि दृष्टान्तेन पोषयन्नाह—

इन समितियों के साथ विहार करते हुए मुनि के कौन-सी विशेषता प्राप्त होती है ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—इन समितियो से युक्त साधु हमेशा ही जीव समूह से भरे हुए भूतल पर विहार करते हुए भी हिसादि पापो से लिप्त नही होते है। ॥३२६॥

आचारवृत्ति—इन समितियो से सदाकाल युक्त हुए मुनि जीव-समूह से भरे हुए इस लोक में पृथ्वी पर सर्वत्र विहार करते हुए भी हिसा आदि पापो से लिप्त नही होते हैं।

जीव-समूह के मध्य रहते हुए साधु हिसादि दोषो से कैसे लिप्त नही होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य दृष्टान्त पूर्वक कहते है कि इस प्रकार से वह लिप्त नही होता है—

गाथार्थ—जैसे चिकनाई गुण से युक्त कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार से साधु जीवो के मध्य समितियों से चर्या करता हुआ लिप्त नही होता है। ॥३२७॥

आचारवृत्ति—जैसे कमलिनी का पत्ता जल में वृद्धिगत होते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह स्नेह गुण से युक्त है अर्थात् उस पत्ते मे चिकनाई पाई जाती है। उसी प्रकार से समितियो के साथ विहार करता हुआ साधु पाप से लिप्त नही होता है। यद्यपि वह जीवो के समूह मे रहता है अथवा जीवों के मध्य विहार करता है तो भी वह प्रयत्नपूर्वक क्रियाएँ करता है अर्थात् सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करता है। यही कारण है कि वह पापों से नही बँधता है।

पुनरपि दृष्टांत के द्वारा इसी का पोषण करते हुए कहते हैं—

---

१ क 'मोथि।

सरवासेहिं पडंते हिं जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ॥३२८॥

शरवर्षे पतद्भिः सग्रामे यथा दृढकवचो दृढवर्म न भिद्यते शरैस्तीक्ष्णनाराचतोमरादिभिस्तथा षड्जीवनिकायेषु समितिभिर्हेतुभूताभिः साधु पापेन न लिप्यते पर्यटन्नपीति ॥३२८॥

यत्नपरस्य गुणमाह—

जत्थेव चरदि बालो परिहारण्हूवि चरदि तत्थेव।
वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू विमुच्चदि[1] सो ॥३२९॥

यत्रैव चरति भ्रमत्याचरतीति वा वालोऽज्ञानी जीवादिभेदातत्त्वज्ञ ।परिहरमाणोऽपि चरत्यनुष्ठान करोति भ्रमतीति वा तत्रैव लोके बध्यते कर्मणा लिप्यते पुनरसौ बाल अज्ञान । परिहरमाणो यत्नपर पुन स विमुच्यते कर्मणा यस्मादेवगुणा समितय ॥३२९॥

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो।
समिदो हु अण्ण णादियदि खवेदि पोराणय कम्मं ॥३३०॥

गाथार्थ—पडती हुई वाण की वर्षा के द्वारा जैसे मजबूत कवच वाला मनुष्य वाणो से नही भिदता उसी प्रकार साधु समितियो से सहित हो जीव-निकायो मे चलते हुए भी पाप से लिप्त नही होता है ॥३२८॥

आचारवृत्ति—जैसे सग्राम मे वाणों की वर्षा होते हुए भी, जिसने मजबूत कवच धारण किया है वह मनुष्य तीक्ष्ण वाण या तोमर आदि शस्त्रो से नही भिदता है उसी प्रकार छह जीव-निकायों मे पर्यटन करता हुआ भी समितियो के द्वारा प्रवृत्त हुआ साधु पाप से लिप्त नही होता है।

जो प्रयत्न मे तत्पर है उनके गुणो को बताते है—

गाथार्थ—जहाँ पर अज्ञानी विचरण करता है वही पर जीवो का परिहार करता हुआ ज्ञानी भी विचरण करता है। किन्तु कर्मबन्धन से वह अज्ञानी तो बँध जाता है लेकिन जीवो का परिहार करता हुआ वह मुनि कर्मबध से मुक्त रहता है ॥३२९॥

आचारवृत्ति—जो जीवादि के भेदरूप तत्त्व को जानने वाला नही है ऐसा बाल—अज्ञानी जीव जिस स्थान पर विचरण करता है, भ्रमण करता है या आचरण करता है, और जो जीवो का परिहार करनेवाला है वह मुनि भी वही पर उसी लोक मे विचरण करता है, अनुष्ठान करता है अथवा भ्रमण करता है किन्तु अज्ञानी जीव तो कर्मो से बँध जाता है, और जीवो का परिहार करता हुआ प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्तिवाला मुनि कर्मों के बन्धन से मुक्त रहता है। यह समितियों का ही गुण अर्थात् माहात्म्य है, ऐसा समझना।

गाथार्थ—इसलिए जब तुम चेष्टा करना चाहो तब समितिपूर्वक प्रवृत्त होओ। निश्चितरूप से समिति सहित मुनि अन्य कर्म ग्रहण नहीं करता है और पुराने कर्म का क्षय कर देता है ॥३३०॥

---

१ क विमुचदि।

तस्माच्चेष्टितुकाम पर्यटितुमना यदा तदा यत्र तत्र यथा तथा भव त्वं समितः समितिपरिणतः। हि यस्मात् समितोऽन्यन्नवं कर्म नाददाति न गृह्णाति। पुराणक सत्कर्म च क्षपयति निर्जरयतीति ॥३३०॥

एवं समितिस्वरूप व्याख्याय गुप्तीना सामान्यविशेषभूत च लक्षणमाह—

मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता।
खिप्प णिवारयंतो तीहि दु गुत्तो हवदि एसो ॥३३१॥

प्रवृत्तिशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते। मन प्रवृत्ति वाक्प्रवृत्ति कायप्रवृत्ति च। किंविशिष्टा, सावद्यकार्यसयुक्ता हिंसादिपापविषया। भिक्षु साधु शीघ्र निवारयस्त्रिगुप्तो भवत्येष। गुप्ते सामान्यलक्षणमेतत् ॥३३१॥

विशेषलक्षणमाह—

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती ॥३३२॥

रागद्वेषादिभ्यो मनसो या निवृत्तिश्चेतसा तेषा परिहारस्ता जानीहि मनोगुप्ति मन सवृत्ति।

आचारवृत्ति—इसलिए जब चेष्टा करने की इच्छा हो, पर्यटन करने की इच्छा हो अर्थात् कोई भी प्रवृत्ति करने की इच्छा हो तब तुम समिति से परिणत होओ, क्योकि समिति मे तत्पर हुए मुनि अन्य नवीन कर्मों को ग्रहण नही करते है तथा पुराने—सत्ता मे स्थित हुए कर्मों की निर्जरा कर देते हैं।

इस प्रकार से समिति का स्वरूप बताकर अब गुप्तियो का सामान्य-विशेष लक्षण कहते है—

गाथार्थ—पापकार्य से युक्त मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को शीघ्र ही निवारण करता हुआ यह मुनि तीन गुप्तियो से गुप्त होता है। ॥३३१॥

आचारवृत्ति—प्रवृत्ति शब्द को प्रत्येक के साथ लगा लेना चाहिए। अत जो मुनि सावद्य कार्य सयुक्त—हिंसादि पापविषयक मन की प्रवृत्ति को, वचन की प्रवृत्ति को और काय की प्रवृत्ति को शीघ्र ही दूर करता है वह तीन गुप्तियो से गुप्त अर्थात् रक्षित होता है। यह गुप्ति का सामान्य लक्षण है।

अब गुप्तियों का विशेष लक्षण कहते है—

गाथार्थ—मन से जो रागादि निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो। असत्य आदि से निवृत्ति होना या मौन रहना वचन गुप्ति है। ॥३३२॥

आचारवृत्ति—राग-द्वेष आदि से मन का जो रोकना है अर्थात् मन से जो रागादि भावो का त्याग करना है उसे मन की सवरणरूप मनोगुप्ति जानो। और, जो असत्य अभिप्रायों से वचन को रोकना है, अथवा मौन रहना है, ध्यान-अध्ययन, चिंतनशील होना अर्थात् वचन के

अलीकादिभ्यश्चासत्याभिप्रायेभ्यश्च वचसो या निवृत्ति मौन ध्यानाध्ययनचिंतन च यत्तूष्णीभावेनासौ वा वाग्गुप्तिर्भवति ॥३३२॥

कायगुप्त्यर्थमाह—

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि एसा ॥३३३॥

कायक्रियानिवृत्ति शरीरचेष्टाया अप्रवृत्ति शरीरगुप्ति कायोत्सर्गो वा कायगुप्ति । हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिर्भवत्येषा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि गुप्यन्ते रक्ष्यन्ते यकाभिस्ता गुप्तय । अथवा मिथ्यात्वासयमकषायेभ्यो गोप्यते रक्ष्यते आत्मा यकाभिस्ता गुप्तय इति ॥३३३॥

दृष्टान्तद्वारेण तासां माहात्म्यमाह—

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीउ साहुस्स ॥३३४॥

यथा क्षेत्रस्य शस्यस्य वृति रक्षा नगरस्य वा खातिकाथवा प्राकारो यथा गुप्तिस्तथा पापस्याशुभकर्मणो निरोध. सवृतिस्ता गुप्तय साधो सयतस्येति ॥३३४॥

यस्मादेवंगुणा गुप्तय —

व्यापार को रोककर मौन धारण करना अथवा असत्य वचन नही बोलना, यह वचनगुप्ति का लक्षण है।

अब काय गुप्ति का लक्षण कहते है—

गाथार्थ—काय की क्रिया का अभावरूप कायोत्सर्ग करना काय से सम्बन्धित गुप्ति है। अथवा हिंसादि कार्यों से निवृत्त होना कायगुप्ति होती है। ॥३३३॥

आचारवृत्ति—शरीर की चेष्टा को प्रवृत्ति नही होना अथवा कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है। अथवा हिंसा आदि से निवृत्ति होना शरीर गुप्ति है। जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गोपित किये जाते है, रक्षित किये जाते है वे गुप्तियाँ है। अथवा जिनके द्वारा मिथ्यात्व असयम और कषायो से आत्मा गोपित होती है, रक्षित होतो है वे गुप्तियाँ हैं।

अब दृष्टान्त के द्वारा उन गुप्तियो का माहात्म्य दिखलाते हैं—

जैसे क्षेत्र की बाड, नगर की खाई अथवा परकोटा होता है उसी प्रकार से पाप का निरोध होने रूप से साधु की वे गुप्तियाँ हैं। ॥३३४॥

आचारवृत्ति—जैसे खेत की रक्षा के लिए बाड़ है, और नगर की रक्षा के लिए खाई अथवा परकोटा है उसी प्रकार से जो अशुभ कर्म को रोकना है या संवृत होना है वही सयत की गुप्तियाँ कहलाती हैं।

क्योंकि इन गुणोंवाली गुप्तियाँ हैं—

तम्हा तिविहेण तुमं णिच्चं मणवयणकायजोगेहिं ।
होहिसु समाहिदमई णिरंतरं झाण सज्झाए ॥३३५॥

तस्मात्त्रिविधेन कृतकारितानुमतैस्त्व साधो ! मनोवाक्काययोगैर्भव सुसमाहितमतिः सम्यक्स्थापितबुद्धि । निरन्तरमभीक्ष्ण ध्याने स्वाध्याये चेति ॥३३५॥

समितिगुप्तिस्वरूप सक्षेपयन्नाह—

एताओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं ।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥३३६॥

एता अष्टप्रवचनमातृका पचसमितयस्त्रिगुप्तय प्रवचनमातरो मुनेर्ज्ञानदर्शनचारित्राणि रक्षन्ति पालयन्ति । कथ ? यथा माता जननी पुत्र पालयति तथैषाः पालयन्तीति सम्बन्ध अत्रोकारस्य ह्रस्वत्व प्राकृतबलाद् द्रष्टव्य ॥३३६॥

अष्टप्रवचनमातृका प्रतिपाद्य भावनास्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती ।
आलोयभोयणंपि य अहिंसाए भावणा पंच ॥३३७॥

अशनसमितिर्निक्षेपादानसमितिरीर्यासमितिस्तथा मनोगुप्तिरालोक्यभोजनमपि चाहिंसाव्रतस्यैता

गाथार्थ—इसलिए तुम त्रिविध पूर्वक नित्य मन-वचन-काय योगो द्वारा सतत ध्यान और स्वाध्याय मे एकाग्रमति होओ ! ॥३३५॥

आचारवृत्ति—इसलिए हे साधु ! तुम मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से सम्यक्प्रकार से एकाग्रमना होओ। निरन्तर ध्यान मे और स्वाध्याय में तत्पर होओ !

अब समिति और गुप्ति का स्वरूप सक्षिप्त करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—ये आठ प्रवचन-माताएँ, जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही, सदा मुनि के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करती है। ॥३३६॥

आचारवृत्ति—पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप ये आठ प्रवचन-माताएँ मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सदा रक्षा करती है अर्थात् उनका पालन करती है। कैसे ? जैसे माता पुत्र का पालन करती है वैसे ही ये मुनि के रत्नत्रय का पालन करती है। इसीलिए इनका प्रवचनमातृका यह नाम सार्थक है। यहाँ पर गाथा मे ओकार शब्द में ह्रस्वत्व प्राकृत व्याकरण के बल से समझना चाहिए।

आठ प्रवचन-माताओं का स्वरूप बताकर अब भावनाओं के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्या समिति तथा मनोगुप्ति और आलोकित भोजन—अहिंसाव्रत की ये पाँच भावनाएँ है ॥३३७॥

आचारवृत्ति—एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्यासमिति तथा मनोगुप्ति

भावना. पंच । एता भावयन् जीवदया प्रतिपालयति । प्रथममहाव्रत परिपूर्णं तिष्ठति । तस्य साधनत्वेन पच भावना जानीहीति ॥३३७॥

द्वितीयस्य निरूपयन्नाह—

कोहभयलोहहासपइण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।
बिदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥३३८॥

क्रोधभयलोभहास्याना प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान। क्रोधस्य प्रत्याख्यान भयस्य प्रत्याख्यान लोभस्य प्रत्याख्यान हास्यस्य प्रत्याख्यान । अनुवीचिभाषण चैव सूत्रानुसारेण भाषण च द्वितीयस्य सत्यव्रतस्य भावना. पचैव भवन्ति । पचैता भावना भावयत. सत्यव्रत सम्पूर्णं स्यादिति ॥३३८॥

तृतीयव्रतस्य भावनास्वरूप विवृण्वन्नाह—

जायणसमणुण्णमणा अणण्णभावोवि चत्तपडिसेवी ।
साधम्मिओवकरणस्सणुवीचीसेवणं चावि ॥३३९॥

याञ्चा प्रार्थना समनुज्ञापना यस्य सम्बन्धि किंचिद्वस्तु तमनुमन्य ग्रहण गृहीतस्य वा सम्बोधन । अनन्यभावोऽदुष्टभावोऽनात्मभाव परवस्तुन परिगृहीतस्यात्मभावो न कर्तव्य । त्यक्त श्रामण्ययोग्य, अन्ये

और आलोक्य भोजन अर्थात् आगम और सूर्य के प्रकाश में देख-शोधकर भोजन करना अहिंसा-व्रत की ये पाँच भावनाएँ है । मुनि इन भावनाओ को भाते हुए जीवदया का पालन करते है । अर्थात् उनके प्रथम महाव्रत परिपूर्ण होता है। तुम इन पाँच भावनाओ को उस व्रत के साधन हेतु जानो ।

अब द्वितीय व्रत की भावना का निरूपण करते है—

गाथार्थ—क्रोध, भय, लोभ और हास्य का त्याग तथा अनुवीचिभाषण द्वितीय व्रत की ये पाँच ही भावनाएँ होती है ॥३३८॥

आचारवृत्ति—क्रोध का त्याग, भय का त्याग, लोभ का त्याग और हास्य का त्याग तथा सूत्र के अनुसार वचन बोलना ये पाँच भावनाएं सत्य महाव्रत की है। अर्थात् इन भावनाओ को भाते हुए सत्यव्रत परिपूर्ण हो जाता है ।

विशेषार्थ—ये भावनाएँ श्रीगौतम स्वामी और उमास्वामी ने इसी रूप मानी है।

अब तृतीय व्रत की भावना का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—याचना, समनुज्ञापना, अपनत्व का अभाव, व्यक्तप्रतिसेवना और सार्धर्मिकों के उपकरण का उनके अनुकूल सेवन ये पाँच भावनाएँ तृतीय व्रत की हैं ॥३३९॥

आचारवृत्ति—याञ्चा—प्रार्थना करना अर्थात् अपेक्षित वस्तु के लिए गुरु या सहधर्मी मुनि से विनय पूर्वक माँगना।

समनुज्ञापना—किसी मुनि की कोई भी वस्तु उनकी अनुमति लेकर ग्रहण करना। अथवा कदाचित् बिना अनुमति के ले भी ली हो तो पुन उनसे निवेदन कर देना।

चार्थिनो न तस्य, सावद्यरहित च व्यक्तमित्युच्यते। अथवा वियत्त आचार्य इत्युच्यते। प्रतिसेवयतीति प्रतिसेवी। स प्रत्येकमभिसम्बध्यते। याचया प्रतिसेवी समनुज्ञापनया प्रतिसेवी अनात्मभावप्रतिसेवी, निरवद्यस्य श्रामण्येयोग्यस्य त्यक्तस्याचार्यस्य वा प्रतिसेवी। समानो धर्मोऽनुष्ठानं यस्य सधर्मा तस्य यदुपकरण पुस्तकपिच्छिकादि

अनन्यभाव—अदुष्ट भाव या अनात्मभाव रखना अर्थात् जो परवस्तु—परके उपकरण कण्मडलु, शास्त्र आदि लिये हैं उनमें आत्मभाव—अपनापन नही रखना।

व्यक्तपरिसेवना—व्यक्त अर्थात् जो मुनिपने के योग्य है और जिसके अन्य कोई इच्छुक नही हैं ऐसी सावद्यरहित अर्थात् निर्दोष वस्तु व्यक्त कहलाती है। गाथा से 'वियत्त' पाठ निकाल कर उसका 'आचार्य' अर्थ करना चाहिए। इस प्रकार से श्रमण योग्य वस्तु का अथवा आचार्य का जो अनुकूलतया सेवन है वह व्यक्त प्रतिसेवना है। अथवा निर्दोष वस्तु या आचार्य को उनके अनुकूल सेवन करनेवाला—आश्रय लेनेवाला मुनि व्यक्तप्रतिसेवी है।

यह प्रतिसेवी शब्द उपर्युक्त भावनाओ के साथ भी लगा लेना। जैसे, याचनापूर्वक उपकरण आदि वस्तु का प्रतिसेवन करना। अनुमतिपूर्वक उनकी वस्तु का प्रतिसेवन करना—प्रयोग करना। अन्य के शास्त्र आदि को अपनेपन की भावना से रहित, अनात्मभाव से, सेवन या उपयोग करना तथा निर्दोष, मुनि अवस्था के योग्य व्यक्त-वस्तु का अथवा आचार्य का प्रतिसेवन करना—ये चार भावनाएँ हुई।

साधर्मिकोपकरण अनुवीचिसेवन—समान है धर्म अर्थात् अनुष्ठान जिनका वे सधर्मा या सहधर्मी मुनि कहलाते है। उनके पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरणो का अनुवीचि अर्थात् आगम के अनुसार सेवन करना।

ये पाँच भावनाएँ तृतीय महाव्रत की है। अर्थात् इन भावनाओ से अचौर्यव्रत परिपूर्ण होता है।

विशेषार्थ—श्री गौतमस्वामी ने कहा है कि—

> **अदेहणं भावणं चावि ओग्गहं च परिग्गहे।**
> **संतुट्ठो भत्तपाणेसु तदियं वदमस्सिदो॥**

अर्थात् तृतीय व्रत का आश्रय लेने वाले जीव के ये पाँच भावनाएँ होती है—देहधन—शरीर ही मेरा धन—परिग्रह है और कुछ मेरा परिग्रह नही है। भावना चापि—शरीर में भी ऐसी भावना करना कि यह अशुचि और अनित्य है इत्यादि। परिग्रहे अवग्रह—परिग्रह के विषय मे त्याग की भावना करना। भक्तपानेषु संतुष्ट—भोजन और पान मे सतोष धारण करता हूँ।

श्री उमास्वामी ने शून्यागारवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सहधर्मियों में अविसंवाद ये पाँच भावनाएँ मानी हैं। जिनका स्पष्टीकरण—गिरि, गुफा, वृक्ष की कोटर आदि में निवास करना; परकीय—छोड़े या छुड़ाये हुए में रहना; दूसरों को नही

तस्यानुवीच्यागमानुसारेण सेवनं सधर्मोपकरणस्य सूत्रानुकूलतया सेवन चापि। एता पंच भावनास्तृतीयव्रतस्य भवन्तीति। एताभिरस्तेयाख्य व्रत सम्पूर्णं भवतीति ॥३३६॥

चतुर्थव्रतस्य भावनास्वरूप विकल्पयन्नाह—

महिलालोयण पुव्वरदिसरणसंसत्तवसधिविकहाहिं।
पणिदरसेहिं य विरदी य भावणा पच बह्महि ॥३४०॥

महिलाना योषितामवलोकन दुष्टपरिणामेन निरीक्षण महिलालोकन। पूर्वस्य [स्या] रते. गृहस्थावस्थाया चेष्टितस्य स्मरण चिन्तन पूर्वरतिस्मरणं। ससक्तवसतिः सद्रव्या सरागा वा। विकथा दुष्टकथा। **पणिदरस**—प्रणीतरसा इष्टाहार[1]समदकरा। विरतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। महिलालोकनाद्विरति पूर्वरतिस्मरणाद्विरति ससक्तवसतेर्विरति विकथाभ्य स्त्रीचौरराज्यभक्तकथाभ्यो विरति समीहितरसेभ्यो विरतिः। एता पच भावना चतुर्थस्य ब्रह्मव्रतस्य भावना भवन्ति। एताभिश्चतुर्थब्रह्मव्रत सम्पूर्णं तिष्ठतीति ॥३४०॥

रोकना, आचार शास्त्र के अनुसार शुद्ध आहार लेना, और 'यह मेरा है यह तेरा है' ऐसा सहधर्मियों के साथ विसवाद नही करना।

अब चतुर्थव्रत की भावनाओ का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—स्त्रियो का अवलोकन, पूर्वभोगो का स्मरण तथा ससक्त वसतिका से विरति, एव विकथा से और प्रणीतरसो से विरति ये ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ है ॥३४०॥

आचारवृत्ति—दुष्ट परिणामो से—कुशील भाव से महिलाओ का अवलोकन करना महिलालोकन है। पूर्व मे अर्थात् गृहस्थावस्था मे जो भोगो का अनुभव किया है उसका स्मरण करना, चिन्तन करना पूर्वरतिस्मरण है। द्रव्य सहित वसतिका या सरागी वसतिका ससक्तवसति है। अर्थात् जहाँ स्त्रियों का निवास है या सोना, चाँदी आदि गृहस्थों का धन रखा हुआ है या जहाँ पर रागोत्पादक वस्तुएँ विद्यमान है वह स्थान यहाँ ससक्त वसति नाम से कही गयी है। दुष्टकथा अथवा स्त्रीकथा, भक्तकथा, चोरकथा और राज्यकथा आदि को विकथा कहते है। प्रणीतरस—इष्ट आहार अथवा मद को करनेवाला आहार अर्थात् इद्रियो को उत्तेजित करनेवाला, विकार को जागृत करनेवाला आहार। यह 'विरति' शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। अर्थात् महिलालोकन से विरति, पूर्वरतिस्मरण से विरति, ससक्तवसतिका से विरति, विकथा से विरति ओर प्रणीतरसो से विरति—ये पाँच भावनाएँ चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की होती है अर्थात् इन भावनाओ से चौथा ब्रह्मव्रत परिपूर्ण स्थिर रहता है।

विशेषार्थ—श्री गौतमस्वामी के अनुसार स्त्रीकथा, स्त्रीससर्ग, स्त्रियों के हास्य विनोद, स्त्रियों के साथ क्रीडा और उनके मुख आदि का रागभाव से अवलोकन—इन सबकी विरति रूप ये पाँच भावनाएँ है। श्रीउमास्वामी ने स्त्रियो की कथाओं का रागपूर्वक सुनने का त्याग, उनके मनोहर अगो के अवलोकन का त्याग, पूर्व के भोगे हुए विषयो के स्मरण का त्याग, कामोद्दीपक गरिष्ठ रसो के सेवन का त्याग और स्वशरीर के संस्कार का त्याग—ये पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्यव्रत की मानी है।

---

१ क 'रामद'।

पंचमव्रतभावना विकल्पयन्नाह—

अपरिग्गहस्स मुणिणो सद्दप्फरिसरसरूवगंधेसु ।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा पंच ॥३४१॥

अपरिग्रहस्य मुने. शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु रागद्वेषादीना परिहार· भावना पच भवन्ति । शब्दादिविषये रागद्वेषादीनामकरणानि यानि तं सम्पूर्ण पचम महाव्रत स्यादिति ॥३४१॥

किमर्थमेता भावना भावयितव्या यस्मात्—

ण करेदि भावणाभाविदो हु पीलं वदाण सव्वेसिं ।
साधू पासुत्ता स 'मणागवि किं दाणि वेदंतो ॥३४२॥

हु यस्मात् पचविंशतिभावनाभावित साधु. प्रसुप्तोऽपि निद्रागतोऽपि समुदहोऽपि मूर्छांगतोऽपि सर्वेषा व्रताना मनागपि पीडा विराधना न करोति किं पुनश्चेतयमानः । स्वप्नेऽपि ता एव भावना. पश्यति, न व्रतविराधना पश्यतीति ॥३४२॥

अब पाँचवे व्रत की भावना को कहते है—

गाथार्थ—परिग्रहरहित मुनि के शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गध—इनमे राग-द्वेष आदि का त्याग करना—ये पाँच भावनाएँ हैं। ॥३४१॥

आचारवृत्ति—पाँच इन्द्रियो के शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध—ये पाँच प्रकार के विषय है। इनमे राग-द्वेष आदि का नही करना—ये पाँचों भावनाएँ है। इन भावनाओं से पाँचवाँ महाव्रत पूर्ण होता है।

विशेषार्थ—श्री गौतमस्वामी ने कहा है कि सचित्त—दासीदास आदि से विरति, अचित्त— धन-धान्य आदि से विरति, बाह्य—वस्त्र, आमरण आदि से विरति, अभ्यतर—ज्ञानावरण आदि से विरति और परिग्रह—गृह क्षेत्र आदि से विरति अर्थात् मै इन पाँचो से विरत होता हूँ।

श्रीउमास्वामी ने कहा है कि इष्ट और अनिष्ट ऐसे पाँच इन्द्रिय सम्बन्धो विषयो से राग-द्वेष का छोडना ये पांच भावनाएँ है।

किसलिए इन भावनाओं को मानना चाहिए ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—भावना को भानेवाला वह साधु सोता हुआ भी किंचित् मात्र भी सम्पूर्ण व्रतो मे विराधना को नही करता है। फिर जो इस समय जाग्रत है उसके प्रति तो क्या कहना ! ॥३४२॥

आचारवृत्ति—इन पच्चीस भावनाओ को जिसने भाया हुआ है ऐसा साधु यदि निद्रा को अथवा मूर्च्छा को प्राप्त हुआ है तो भी वह अपने सभी व्रतो मे किंचित् मात्र भी विराधना नही करता है। पुन जब वह जाग्रत है—सावधानी से प्रवृत्त हो रहा है तब तो कहना ही क्या ! अर्थात् स्वप्न मे भी वह मुनि इन भावनाओ को ही देखता है, किन्तु व्रतो की विराधना को नहीं करता।

---

१ क समुहदो च किं।

एदाहि भावणाहिं दु तम्हा भावेहि अप्पमत्तो त्तं ।
अच्छिद्दाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ।।३४३।।

तस्मादेताभिर्भावनाभि भावयात्मानमप्रमत्त. स त्व । ततोऽच्छिद्राण्यखण्डानि सम्पूर्णानि भविष्यन्ति हि स्फुट ते तव व्रतानीति ।।३४३।।

चारित्राचारमुपसहरस्तप आचार च सूचयन्नाह—

एसो चरणाचारो पंचविधो वण्णिदो समासेण ।
एत्तो य तवाचारं समासदो वण्णयिस्सामि ।।३४४।।

एष चरणाचार पचविधोऽष्टविधश्च वर्णितो मया समासेन इत ऊर्ध्वं तप आचार समासतो वर्णयिष्यामीति ।।३४४।।

दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो ।
एक्कक्को विय छद्धा जधाकमं तं परूवेमो ।।३४५।।

द्विप्रकारस्तप आचारस्तपोऽनुष्ठान । बाह्यो बाह्यजनप्रकट । अभ्यन्तरोऽभ्यन्तरजनप्रकट ।

गाथार्थ—इसलिए तुम अप्रमादी होकर इन भावनाओ से आत्मा को भावो । निश्चित रूप से तुम्हारे व्रत छिद्र रहित और अखण्ड परिपूर्ण हो जावेगे । ।।३४३।।

आचारवृत्ति—इसलिए तुम प्रमाद छोडकर अप्रमत्त होते हुए इन भावनाओ के द्वारा अपनी आत्मा को भावो । इससे तुम्हारे व्रत निश्चित रूप से छिद्र रहित अर्थात् दोषरहित, **अखण्ड**—परिपूर्ण हो जावेगे, ऐसा समझो ।

चारित्राचार का उपसहार करते हुए और तप-आचार को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं—

भावार्थ—सक्षेप से यह पाँच प्रकार का चारित्राचार मैंने कहा है। इसमे आगे संक्षेप से तप आचार को कहूँगा । ।।३४४।।

आचारवृत्ति—यह पाँच महाव्रत रूप पाँच प्रकार का और अष्ट प्रवचनमातृका रूप आठ प्रकार का चारित्राचार मैंने सक्षेप से कहा है, इसके बाद अब मैं तप-आचार को सक्षेप मे कहूँगा ।

भावार्थ—चारित्राचार के मुख्यतया पाँच ही भेद हैं जो कि महाव्रतरूप हैं। अत. गाथा मे पचविध शब्द का उल्लेख है । किन्तु जो आठ प्रवचनमातृका है वे तो उन व्रतों की रक्षा के लिए ही विवक्षित है । अथवा चारित्राचार के अन्यत्र ग्रन्थो मे तेरह भेद भी माने हैं ।

अब तप आचार को कहते है—

गाथार्थ—बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप-आचार दो प्रकार का जानना चाहिए । उसमें एक-एक भी छह प्रकार का है । उनको मै क्रम मे कहूँगा । ।।३४५।।

आचारवृत्ति—तप के अनुष्ठान का नाम तप-आचार है । उसके दो भेद हैं—**बाह्य और**

एकैकोऽपि च बाह्याभ्यन्तरश्चैकैक. षोढा षट्प्रकारः यथाक्रमं क्रममनुल्लंघ्य प्रवक्ष्यामि कथयिष्या-मीति ॥३४५॥

बाह्यं षड्भेद नामोद्देशेन निरूपयन्नाह—

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं ॥३४६॥

अनशन चतुर्विधाहारपरित्याग । अवमौदर्यमतृप्तिभोजनं । रसाना परित्यागो रसपरित्यागः स्वाभि-लषितस्निग्धमधुराम्लकटुकादिरसपरिहार । वृत्ते परिसख्या वृत्तिपरिसंख्या गृहदायकभाजनौदनकालादीना परिसख्यानपूर्वको ग्रह । कायस्य शरीरस्य परिताप कर्मक्षयाय बुद्धिपूर्वकं शोषण आतापनाभ्रावकाशवृक्ष-मूलादिभि । विविक्तशयनासन स्त्रीपशुषण्डकविवर्जित स्थानसेवन षष्ठमिति ॥३४६॥

अनशनस्य भेद स्वरूप च प्रतिपादयन्नाह—

इत्तिरियं जावजीवं दुविहं पुण अणसणं मुणेयव्वं।
इत्तिरियं साकंखं णिरावकंखं हवे बिदियं ॥३४७॥

आभ्यन्तर। जो बाह्य जनो मे प्रकट है वह बाह्य तप है और जो आभ्यन्तर जनों—अपने धार्मिक जनो मे प्रकट है उसे आभ्यन्तर तप कहते है। ये बाह्य-आभ्यन्तर दोनों ही तप छह-छह प्रकार के है। मैं इन सभी का क्रम से वर्णन करूँगा।

बाह्य तप के छहो भेदो के नाम और उद्देश्य का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शयनासन ये छह बाह्य तप हैं ॥३४६॥

आचारवृत्ति—चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अतृप्ति भोजन अर्थात् पेटभर भोजन न करना अवमौदर्य है। रसो का परित्याग करना—अपने लिए इष्ट स्निग्ध, मधुर, अम्ल, कटुक आदि रसो का परिहार करना रसपरित्याग है। वृत्ति—आहार की चर्या में परिसख्या—गणना अर्थात् नियम करना। गृह का, दातार का, बर्तनो का, भात आदि भोज्य वस्तु का या काल आदि का गणनापूर्वक नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान है अर्थात् आहार को निकलते समय दातारो के घर का या किसी दातार आदि का नियम करना वृत्तिपरिसख्यान तप है। काय अर्थात् शरीर को परिताप—क्लेश देना, आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल आदि के द्वारा कर्मक्षय के लिए बुद्धिपूर्वक शोषण करना कायक्लेश तप है। स्त्री, पशु और नपुसक से वर्जित स्थान का सेवन करना विविक्तशयनासन तप है। ऐसे इन छह बाह्य तपों का नाम निर्देशपूर्वक सक्षिप्त लक्षण किया है। आगे प्रत्येक का लक्षण आचार्य स्वयं कर रहे हैं।

अनशन का स्वरूप और उसके भेद बतलाते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—काल की मर्यादा सहित और जीवनपर्यन्त के भेद से अनशन तप दो प्रकार जानना चाहिए। काल की मर्यादा सहित साकांक्ष है और दूसरा यावज्जीवन अनशन निराकांक्ष होता है ॥३४७॥

अनशनं पुनरित्तिरिययावज्जीवभेदाभ्यां द्विविधं ज्ञातव्यं इत्तिरियं साकाक्षं कालादिभिः सापेक्षं एतावन्तं कालमहमशनादिकं नानुतिष्ठामीति। निराकाक्षं भवेद् द्वितीयं यावज्जीवं आमरणान्तादपि न सेवनम् ॥३४७॥

साकांक्षानशनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं मासद्धमासखमणाणि।
कणगेगावलिआदी तवोविहाणाणि णाहारे[1] ॥३४८॥

अहोरात्रस्य मध्ये द्वे भक्तवेले तत्रैकस्यां भक्तवेलायां भोजनमेकस्याः परित्याग एकभक्तं। चतसृणां भक्तवेलानां परित्यागे चतुर्थं। षण्णां भक्तवेलानां परित्यागे षष्ठो द्विदिनपरित्यागः। अष्टानां परित्यागेऽष्टमस्त्रय उपवासाः। दशानां त्यागे दशमश्चत्वार उपवासाः। द्वादशानां परित्यागे द्वादशं पंचोपवासाः। मासार्धं-पंचदशोपवासाः पंचदशदिनान्याहारपरित्यागः। मास—मासोपवासास्त्रिंशदहोरात्रमात्रा अशनत्यागः। क्षमणान्युपवासाः। आवलीशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। कनकावली चैकावली च कनकावल्येकावल्यौ तौ विधी आदिर्येषां तपोविधानानां कनकैकावल्यादीनि। आदिशब्देन मुरजमध्य-विमानपंक्ति-सिंहनिःक्रीडितादीनां

आचारवृत्ति—इत्तिरिय—इतने काल तक और यावज्जीव—जीवनपर्यन्त तक के भेद से अनशन तप दो प्रकार का है। उसमें 'इतने काल पर्यन्त मैं अनशन अर्थात् भोजन आदि का अनुष्ठान नहीं करूँगा' ऐसा काल आदि सापेक्ष जो अनशन होता है वह इत्तिरिय—साकांक्ष अनशन तप है। जिसमें मरण पर्यन्त तक अनशन का त्याग कर दिया जाता है वह यावज्जीवन निराकांक्ष नाम का दूसरा तप होता है।

अब साकांक्ष अनशन का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—वेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन और महीने भर का उपवास कनकावली, एकावली आदि तपश्चरण के विधान अनशन में कहे गये हैं। ॥३४८॥

आचारवृत्ति—अहोरात्र के मध्य भोजन की दो वेला होती हैं। उनमें से एक भोजन वेला में भोजन करना और एक भोजन वेला में भोजन का त्याग करना यह एकभक्त है। चार भोजन वेलाओं में चार भोजन का त्याग करना चतुर्थ है। अर्थात् धारणा और पारणा के दिन एकाशन करना तथा व्रत के दिन दोनों समय भोजन का त्याग करके उपवास करना—इस तरह चार भोजन का त्याग होने से जो उपवास होता है उसे चतुर्थ कहते हैं। छह भोजन वेलाओं के त्याग में षष्ठ कहा जाता है। अर्थात् धारणा-पारणा के दिन एकाशन तथा दो दिन का पूर्ण उपवास इसे ही षष्ठ-वेला कहते हैं। आठ भोजन वेलाओं में आठ भोजन का त्याग करने से अष्टम अर्थात् तेला कहा जाता है। दश भोजन वेलाओं के त्याग करने पर दशम—चार उपवास होते हैं। बारह भुक्तियों के त्याग से द्वादश—पाँच उपवास हो जाते हैं। पन्द्रह दिन तक आहार का त्याग करने से अर्धमास का उपवास होता है। तीन दिनरात तक भोजन का त्याग करने से एक मास का उपवास होता है। तथा कनकावली, एकावली आदि भी तपो-

---

1 क णाहारो।

ग्रहण । कनकावल्यादीनां प्रपंचः टीका[1]राधनाया द्रष्टव्यो विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते । अनाहारोऽनशनं षष्ठाष्टमदशमद्वादशैर्मासार्धमासादिभिश्च यानि क्षमणानि कनकैकावल्यादीनि च यानि तपोविधानानि तानि सर्वाण्यनाहारो यावदुत्कृष्टेन षण्मासास्तत्सर्वं साकांक्षमनशनमिति ॥३४८॥

निराकांक्षस्यानशनस्य स्वरूपं निरूपयन्नाह—

भत्तपइण्णा इंगिणि पाउवगमणाणि जाणि मरणाणि ।
अण्णेवि एवमादी बोधव्वा णिरवकंखाणि ॥३४९॥

भक्तप्रत्याख्यान द्वयाद्यष्टचत्वारिंशन्निर्यापकैः परिचर्यमाणस्यात्मपरोपकारसव्यपेक्षस्य यावज्जीवमाहारत्याग । इङ्गणीमरण नामात्मोपकारसव्यपेक्ष परोपकारनिरपेक्ष प्रायोपगमनमरण नामात्मपरोपकारनिरपेक्ष । एतानि त्रीणि मरणानि । एवमादीन्यन्यान्यपि प्रत्याख्यानि निराकाक्षाणि यानि तानि सर्वाण्यनिराकाक्षमनशन बोद्धव्य ज्ञातव्यमिति ॥३५०॥

अवमौदर्यस्वरूप निरूपयन्नाह—

विधान है। यहाँ आदि शब्द से मुरजबन्ध, विमानपक्ति, सिहनिष्क्रीडित आदि व्रतो को ग्रहण करना चाहिए। इन कनकावली आदि व्रतो का विस्तृत कथन आराधना टीका मे देखना चाहिए। विस्तार के भय से उनको यहाँ पर हम नही कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि आहार का त्याग करना अनशन है। वेला, तेला, चौला, पाँच उपवास, पन्द्रह दिन, एक महीने आदि के उपवास, कनकावली, एकावली आदि व्रतों का आचरण ये सब उपवास उत्कृष्ट से छह मास पर्यन्त तक होते है। ये सब साकाक्ष अनशन हैं।

अब निराकाक्ष अनशन का स्वरूप निरूपित करते है—

गाथार्थ—भक्त प्रतिज्ञा, इगिनी और प्रायोपगमन जो ये मरण है ऐसे और भी जो अनशन हैं वे निराकाक्ष जानना चाहिए ॥३४९॥

आचारवृत्ति—दो से लेकर अड़तालीस पर्यन्त निर्यापको के द्वारा जिनकी परिचर्या की जाती है, जो अपनी और पर के उपकार की अपेक्षा रखते है ऐसे मुनि का जो जीवन पर्यन्त आहार का त्याग है वह भक्त प्रत्याख्यान नाम का समाधिमरण है। जो अपने उपकार की अपेक्षा सहित है और पर के उपकार से निरपेक्ष है वह इगिनीमरण है। जिस मरण मे अपने और पर के उपकार की अपेक्षा नही है वह प्रायोपगमन मरण है। ये तीन प्रकार के मरण होते है। अर्थात् छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक के जीवो के मरण का नाम पण्डितमरण है उसके ही ये तीनो भेद हैं। इसी प्रकार से और भी जो अन्य उपवास होते हैं वे सब निराकाक्ष अनशन कहलाते हैं।

अब अवमौदर्य का स्वरूप कहते है—

---

१ संस्कृतहरिवंशपुराणे च द्रष्टव्यं।

बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादिहिं[1] तत्तो ऊणियगहणं उमोदरियं ॥३५०॥

द्वात्रिंशत्कबला पुरुषस्य प्रकृत्याहारो भवति। ततो द्वात्रिंशत्कवलेभ्य एककबलेनोन द्वाभ्यां त्रिभिः, इत्येव यावदेककवल शेष एकसिक्थो वा। किलशब्द आगमार्थसूचक आगमे पठितमिति। एककवलादिभिर्नित्यस्याहारस्य ग्रहणं यत् सावमौदर्यवृत्ति। सहस्रतदुलमात्र कवल आगमे पठित द्वात्रिंशत्कबला, पुरुषस्य स्वाभाविक आहारस्तेभ्यो यन्न्यूनग्रहण तदवमोदर्यं तप इति ॥३५१॥

किमर्थमवमोदर्यवृत्तिरनुष्ठीयत इति पृष्टे उत्तरमाह—

धम्मावासयजोगे णाणादीए उवग्गहं कुणदि।
ण य इंदियप्पदोसयरी उम्मोदरितवोवुत्ती ॥३५१॥

धर्मे क्षमादिलक्षणे दशप्रकारे। आवश्यकक्रियासु समतादिषु षट्सु। योगेषु वृक्षमूलादिषु। ज्ञानादिके स्वाध्याये चारित्रे चोपग्रहमुपकार करोतीत्यवमोदर्यतपोवृत्तिः। न चेन्द्रियप्रद्वेषकरी न चावमोदर्यवृत्त्येन्द्रियाणि प्रद्वेष गच्छन्ति किन्तु वशे तिष्ठन्तीति। बह्वाशीर्धर्मं नानुतिष्ठति। आवश्यकक्रियाश्च न सम्पूर्णा

गाथार्थ—पुरुष का निश्चित रूप से स्वभाव से बत्तीस कवल आहार होता है। उस आहार मे से एक कवल आदि रूप मे कम ग्रहण करना अवमौदर्य तप है ॥३५०॥

आचारवृत्ति—पुरुष का प्राकृतिक आहार त्तीस कवल प्रमाण होता है। उन बत्तीस ग्रासों मे से एक ग्रास कम करना, दो ग्रास कम करना, तीन ग्रास कम्ना, इस प्रकार से जब तक एक ग्रास न हो जाय तब तक कम करते जाना अथवा एक सिक्थ—भात का कण मात्र रह जाय तब तक कम करते जाना यह अवमौदर्य तप है। गाथा मे आया 'किल' शब्द आगमअर्थ का सूचक है अर्थात् आगम मे ऐसा कहा गया है। एक ग्रास आदि से प्रारम्भ करके एक ग्रास कम तक जो आहार का ग्रहण करना है वह अवमौदर्य चर्या है। आगम मे एक हजार चावल का एक कवल कहा गया है। अर्थात् बत्तीस ग्राम पुरुष का स्वाभाविक आहार है उसमे जो न्यून है वह अवमौदर्य तप है।

किसलिए अवमौदर्य तप का अनुष्ठान किया जाता है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते है—

गाथार्थ—धर्म, आवश्यक क्रिया और योगों मे तथा ज्ञानादिक मे उपकार करता है, क्योकि अवमौदर्य तप की वृत्ति इन्द्रियो से द्वेष करनेवाली नही है ॥३५१॥

आचारवृत्ति—उत्तम क्षमा आदि लक्षणवाले दशप्रकार के धर्म में, समता वन्दना आदि छह आवश्यक क्रियाओं मे, वृक्षमूल आदि योगो मे, ज्ञानादिक—स्वाध्याय और चारित्र मे यह अवमौदर्य तप उपकार करता है। इस तपश्चरण से इन्द्रियाँ प्रद्वेष को प्राप्त नहीं होती हैं किन्तु वश मे रहती है। बहुत भोजन करनेवाला धर्म का अनुष्ठान नही कर सकता है। परिपूर्ण आवश्यक क्रियाओ का पालन नही कर पाता है। आतापन, अभ्रावकाश और वृक्षमूल इन तीन काल

---

१ क °दितत्तो।

पालयति । त्रिकालयोगं च न क्षेमेण समानयति । स्वाध्यायध्यानादिकं च न कर्तुं शक्नोति । तस्येन्द्रियाणि च स्वेच्छाचारीणि भवन्तीति । मिताशिन. पुनर्धर्मादय स्वेच्छया वर्तन्त इति ॥३५२॥

रसपरित्यागस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च ज परिच्चयणं ।
तित्तकटुकसायंबिलमधुररसाणं च जं चयणं ॥३५२॥

अथ को रसपरित्याग इति पृष्टेऽत आह—क्षीरदधिसर्पिस्तैलगुडलवणाना घृतपूरलड्डुकादीना च यत् **परिच्चयणं**—परित्यजन एकैकश. सर्वेषां वा तिक्तकटुकषायाम्लमधुररसाना च यत्त्यजन स रसपरित्याग. । एतेषा प्रासुकानामपि तपोबुद्धचा त्यजनम् ॥३५२॥

या पुनर्महाविकृतयस्ता· कथमिति प्रश्नेऽत आह—

चत्तारि महावियडी य होंति णवणीदमज्जमंसमधू ।
कखापसंगदप्पासंजमकारीओ[1] एदाओ ॥३५३॥

सम्बन्धी योगो को भी सुख से नही धारण कर सकता है तथा स्वाध्याय और ध्यान करने मे भी समर्थ नही हो पाता है । उस मुनि की इन्द्रियाँ भी स्वेच्छाचारी हो जाती है । किन्तु मितभोजी साधु मे धर्म, आवश्यक आदि क्रियाएँ स्वेच्छा से रहती है ।

भावार्थ—भूख से कम खानेवाले साधु के प्रमाद नही होने से ध्यान, स्वाध्याय आदि निर्विघ्न होते है किन्तु अधिक भोजन करनेवाले के, प्रमाद से, सभी कार्यो मे बाधा पहुँचती है । इसलिए यह तप गुणकारी है ।

अब रस-परित्याग का स्वरूप प्रतिपादित करते है—

गाथार्थ—दूध, दही, घी, तेल, गुड और लवण इन रसो का जो परित्याग करना है और तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल तथा मधुर इन पाँच प्रकार के रसो का त्याग करना है वह रस-परित्याग है । ॥३५२॥

आचारवृत्ति—रसपरित्याग क्या है ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—दूध, दही, घी, तेल, गुड और नमक तथा घृतपूर्ण पुआ, लड्डू आदि का जो त्याग करना है । इनमे एक-एक का या सभी का छोड़ना, तथा तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे इन रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप है । इस तप मे इन प्रासुक वस्तुओं का भी तपश्चरण की बुद्धि से त्याग किया जाता है ।

जो महाविकृतियाँ हैं वे कौन सी है ? ऐसे प्रश्न होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चार महाविकृतियाँ होती है । ये अभिलाषा, प्रसंग—व्यभिचार, दर्प और असयम को करनेवाली हैं । ॥३५३॥

---

१ क °री दुए° ।

या पुनश्चतस्रो महाविकृतयो महापापहेतवो भवन्तीति नवनीतमद्यमासमधूनि, काक्षाप्रसगदर्पास-यमकारिण्य एता । नवनीत काक्षा—महाविषयाभिलाष करोति । मद्य—सुराप्रसगमगम्यगमन करोति । मास-पिशित दर्प करोति । मधु असयम हिसा करोति ॥३५३॥

एता किकर्तव्या इति पृष्टेऽत आह—

आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ।
ताओ जावज्जीव णिव्वुड्ढाओ पुरा चेव ॥३५४॥

सर्वज्ञाज्ञाभिकाक्षिणा—सर्वज्ञमतानुपालकेन । अवद्यभीरुणा—पापभीरुणा, तपःकामेन—तपो-नुष्ठानपरेण, **समाधिकामे**—न च ता नवनीतमद्यमासमधूनि विकृतयो **यावज्जीवं**—सर्वकाल **निर्व्यूढाः**—निमृष्टा त्यक्ता पुरा चैव पूर्वस्मिन्नेव काले सयमग्रहणात्पूर्वमेव । आज्ञाभिकाक्षिणा नवनीत सर्वथा त्याज्य दुष्टकाक्षाकारित्वात् । अवद्यभीरुणा मास सर्वथा त्याज्य दर्पकारित्वात् । तत तप कामेन मद्य सर्वथा त्याज्य प्रसगकारित्वात् । समाधिकामेन मधु सर्वथा त्याज्य, असयमकारित्वात् । व्यस्तं समस्त वा योज्य-मिति ॥३५४॥

आचारवृत्ति—मक्खन, मद्य, मास और मधु ये चारो ही महाविकृति पाप की हेतु है । नवनीत विषयो की महान् अभिलाषा को उत्पन्न करता है । मद्य, प्रसग, अगम्य अर्थात् वेश्या या व्याभिचारिणी स्त्री का सहवास कराता है । मास अभिमान को पैदा करता है और मधु हिसा मे प्रवृत्त कराता है ।

इन्हे क्या करना चाहिए ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—आज्ञापालन के इच्छुक, पापभीरु, तप और समाधि की इच्छा करनेवाले ने पहले ही इनका जीवन-भर के लिए त्याग कर दिया है ॥३५४॥

आचारवृत्ति—सर्वज्ञदेव की आज्ञा पालन करनेवाले, पापभीरु, तप के अनुष्ठान मे तत्पर और समाधि की इच्छा करनेवाले भव्य जीव ने सयम ग्रहण करने के पूर्व मे ही इन मक्खन, मद्य, मास और मधु नामक चारो विकृतियो का जीवन भर के लिए त्याग कर दिया है ।

आज्ञापालन करने के इच्छुक को नवनीत का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योकि वह दुष्ट अभिलाषा को उत्पन्न करनेवाला है । पापभीरु को मास का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योकि वह दर्प—उत्तेजना का करनेवाला है । तपश्चरण की इच्छा करनेवाले को चाहिए कि वह मद्य को सर्वथा के लिए छोड दे, क्योकि वह अगम्या—वेश्या आदि का सेवन करानेवाला है तथा समाधि को इच्छा करनेवाले को मधु का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योकि वह असयम को करनेवाला है । इनको पृथक्-पृथक् या समूहरूप से भी लगा लेना चाहिए ।

भावार्थ—एक-एक गुण के इच्छुक को एक-एक के त्यागने का उपदेश दिया है । वैसे ही एक-एक गुण के इच्छुक को चारो का भी त्याग कर देना चाहिए अथवा चारों गुणों के इच्छुक को चारो वस्तुओ का सर्वथा ही त्याग कर देना चाहिए ।

वृत्तिपरिसंख्यानस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

गोयरपमाण दायगभायण णाणाविहाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविहस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥३५५॥

गोचरस्य प्रमाण गोचरप्रमाण गृहप्रमाण, एतेषु गृहेषु प्रविशामि नान्येषु बहुष्विति। दायका दातारो भाजनानि परिवेष्यपात्राणि तेषा यन्नानाविधान नानाकरण तस्य ग्रहण स्वीकरण—दातृविशेषग्रहण पात्र-विशेषग्रहण च। यदि वृद्धो मा विधरेत् तदानी तिष्ठामि नान्यथा। अथवा बालो युवा स्त्री उपानत्करहितो वर्त्मनि स्थितोऽन्यथा वा विधरेत् तदानी तिष्ठामीति। कास्यभाजनेन रूप्यभाजनेन सुवर्णभाजनेन मृन्मय-भाजनेन वा ददाति तदा गृहीष्यामीति,यदेवमाद्य। तथाशनस्य,विविधस्य नानाप्रकारस्य यद्ग्रहणमवग्रहोपादान, अद्य मकुष्ठ भोक्ष्ये नान्यत्। अथवाद्य मडकान् सक्तून् ओदन वा ग्रहीष्यामीति यदेवमाद्य[1] ग्रहण तत्सर्वं वृत्ति-परिसंख्यानमिति ॥३५५॥

कायक्लेशस्वरूप विवृण्वन्नाह—

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—गृहों का प्रमाण, दाता का, वर्तनों का नियम ऐसे अनेक प्रकार का जो नियम ग्रहण करना है तथा नाना प्रकार के भोजन का नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान-व्रत है।॥३५५॥

आचारवृत्ति—गृहो के प्रमाण को गोचर प्रमाण कहते हैं। जैसे 'आज मैं इन गृहों में आहार हेतु जाऊँगा, और अधिक गृहो मे नही जाऊँगा' ऐसा नियम करना। दायक अर्थात् दातार और भाजन अर्थात् भोजन रखने के या भोजन परोसने के वर्तन—इनकी जो नाना प्रकार से विधि लेना है वह दायक-भाजन विधि अर्थात् दाता विशेष और पात्र विशेष की विधि ग्रहण करना है। जैसे, 'यदि वृद्ध मनुष्य मुझे पड़गाहेगा तो मैं ठहरूँगा अन्यथा नही, अथवा बालक, युवक, महिला, या जूते अथवा खड़ाऊँ आदि से रहित कोई पुरुष मार्ग मे खड़ा हुआ मुझ पड़गाहे तो मै ठहरूँगा अथवा ये अन्य अमुक विधि से मुझे पड़गाहे तो मैं ठहरूँगा' इत्यादि नियम लेकर चर्या के लिए निकलना। ऐसे ही बर्तन सम्बन्धी नियम लेना . जैसे, 'मुझे आज यदि कोई कासे के बर्तन से, सोने के बर्तन से या मिट्टी के बर्तन से आहार देगा तो मैं ले लूगा, या इसी प्रकार से अन्य और भी नियम लेना। तथा नाना प्रकार के भोजन सम्बन्धी जो नियम लेना है वह सब वृत्तिपरिसंख्यान है। जैसे, 'आज मैं मोठ ही खाऊँगा अन्य कुछ नही', इत्यादि रूप से जो भी नियम लिये जाते है वे सब वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाते है।

भावार्थ—इन्द्रिय और मन के निग्रह के लिए नाना प्रकार के तपश्चरणो का अनुष्ठान किया जाता है। और इस वृत्तिपरिसंख्यान के नियम से भी इच्छाओं का निरोध होकर भूख-प्यास को सहन करने का अभ्यास होता है।

कायक्लेश तप का स्वरूप बतलाते हैं—

---

१ क 'माद्यग्र'।

ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं ।
अणुवीचोपरितावो कायकिलेसो हवदि एसो ।।३५६।।

स्थान—कायोत्सर्ग । शयन —एकपार्श्वमृतकदण्डादिशयन । आसन—उत्कुटिका-पर्यंक-वीरासन-मकरमुखाद्यासन । स्थानशयनासनैर्विविधैश्चावग्रहैर्धर्मोपकारहेतुभिरभिप्रायैर्बहुभिरनुवीचीपरिताप सूत्रानुसारेण कायपरितापो वृक्षमूलाभ्रावकाशातापनादिरेप कायक्लेशो भवति ।।३५६।।

विविक्तशयनासनस्वरूपमाह—

तेरिक्खिय माणुस्सिय सविगारियदेवि गेहि संसत्ते ।
वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे ।।३५७।।

गाथार्थ—खडे होना—कायोत्सर्ग करना, सोना, बैठना और अनेक विधिनियम ग्रहण करना, इनके द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना— यह कायक्लेश नाम का तप है ।।३५६।।

आचारवृत्ति—स्थान—कायोत्सर्ग करना । शयन—एक पसवाडे से या मृतकासन से या दण्डे के समान लम्बे पडकर सोना । आसन—उत्कुटिकासन, पर्यंकासन, वीरासन, मकर-मुखासन आदि तरह-तरह के आसन लगाकर बैठना । इन कायोत्सर्ग, शयन और आसनो द्वारा तथा अनेक प्रकार के धर्मोपकार हेतु नियमो के द्वारा सूत्र के अनुसार काय को ताप देना अर्थात् शरीर को कष्ट देना, वृक्षमूल अभ्रावकाश और आतापन आदि नाना प्रकार के योग धारण करना यह सब कायक्लेश तप है ।

भावार्थ—इस तश्चरण द्वारा शरीर मे कष्ट-सहिष्णुता आ जाने से, घोर उपसर्ग या परीषहो के आ जाने पर भी साधु अपने ध्यान से चलायमान नही होते है । इसलिए यह तप भी बहुत ही आवश्यक है ।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है—

अदु खभावित ज्ञान क्षीयते दु.खसन्निधौ ।
तस्माद् यथाबल दु खैरात्मान भावयेद् मुनि. ।।१०२।।

(समाधिशतक)

—सुखी जीवन मे किया गया तत्त्वज्ञान का अभ्यास दु ख के आ जाने पर क्षीण हो जाता है, इसलिए मुनि अपनी शक्ति के अनुसार दु खों के द्वारा अपनी आत्मा की भावना करे अर्थात् कायक्लेश आदि के द्वारा दु खो को बुलाकर अपनी आत्मा का चिन्तवन करते हुए अभ्यास दृढ करे ।

विवक्तशयनासन तप का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—अप्रमादी मुनि सोने, बैठने और ठहरने मे तिर्यचिनी, मनुष्य-स्त्री, विकार-सहित देवियाँ और गृहस्थो से सहित मकानो को छोड देते हैं ।।३५७।।

तिर्यंचो—गोमहिष्यादय । **मानुष्यः**—स्त्रियो वेश्याः स्वेच्छाचारिण्यादयः । **सविकारिण्यो**—देव्यो भवनवानव्यन्तरादियोषित । गेहिनो गृहस्था । एतैः **सप्रकान्**—सहितान्, निलयानावसान् **वर्जयन्ति**—परिहरन्त्यप्रमत्ता यत्नपराः सन्तः शयनासनस्थानेषु कर्तव्येषु एवमनुतिष्ठतो विविक्तशयनासन नाम तप इति ॥३५७॥

बाह्य तप उपसहरन्नाह—

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि ।
जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते ॥३५८॥

तन्नाम बाह्य तपो येन मनोदुष्कृत-चित्तसक्लेशो नोत्तिष्ठति नोत्पद्यते । येन च श्रद्धा शोभनानुरागो जायत उत्पद्यते येन च योगा मूलगुणा न हीयन्ते ॥३५८॥

एसो दु बाहिरतवो बाहिरजणपायडो परम घोरो ।
अब्भंतरजणणादं वोच्छ अब्भंतरं वि तवं ॥३५९॥

तद्बाह्य तप षड्विध बाह्यजनाना मिथ्यादृष्टिजनानामपि प्रकट प्रख्यात परमघोर सुष्ठु दुष्करं प्रतिपादित । अभ्यन्तरजनज्ञात आगमप्रविष्टजनैर्ज्ञात वक्ष्ये कथयिष्याम्यभ्यन्तरमपि षड्विध तप ॥३५९॥

आचारवृत्ति—अप्रमत्त अर्थात् यत्न मे तत्पर होते हुए सावधान मुनि सोना, बैठना और ठहरना इन प्रसगो मे अर्थात् अपने ठहरने के प्रसग में—जहाँ गाय, भैस आदि तिर्यच है; वेश्या, स्वेच्छाचारिणी आदि महिलाये हैं, भवनवासिनी, व्यतरवासिनी आदि विकारी वेषभूषावाली देवियाँ है अथवा गृहस्थजन है । ऐसे इन लोगो से सहित गृहो को, वसतिकाओं को छोड़ देते हैं । इस तरह इन तिर्यच आदि से रहित स्थानों में रहनेवाले मुनि के यह विविक्त शयनासन नाम का तप होता है ।

अब बाह्य तपो का उपसहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—बाह्य तप वही है जिससे मन अशुभ को प्राप्त नही होता है, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिससे योगहीन नही होते है । ॥३५८॥

आचारवृत्ति—बाह्य तप वही है कि जिससे मन मे सक्लेश नही उत्पन्न होता है, जिससे श्रद्धा—शुभ अनुराग उत्पन्न होता है और जिससे योग अर्थात् मूलगुण हानि को प्राप्त नही होते है । अर्थात् बाह्य तप का अनुष्ठान वही अच्छा माना जाता है कि जिसके करने से मन में सक्लेश न उत्पन्न हो जावे या शुभ परिणामो का विघात न हो जावे अथवा मूलगुणों की हानि न हो जावे ।

गाथार्थ—यह बाह्य तप बाह्य (जैन मत से बहिर्भूत) जनों में प्रगट है, परम घोर है, सो कहा गया है । अब मैं अभ्यन्तर—जैनदृष्टि लोगों में प्रसिद्ध ऐसे अभ्यन्तर तप को कहूँगा ॥३५९॥

आचारवृत्ति—यह छह प्रकार का बाह्य तप का, जो मिथ्या दृष्टिजनों मे भी प्रख्यात है और अत्यन्त दुष्कर है, मैंने प्रतिपादन किया है । अब आगम मे प्रवेश करने वाले ऐसे सम्यग्दृष्टिजनों के द्वारा जाने गये छह भेद वाले अभ्यन्तर तप को भी मैं कहूँगा ।

के ते षट्प्रकारा इत्याशंकायामाह—

पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो ॥३६०॥

प्रायश्चित्त—पूर्वापराधशोधन। विनयमनुद्धतवृत्ति। वैयावृत्य स्वशक्त्योपकार। तथैव स्वाध्याय सिद्धान्ताद्यध्ययन। ध्यान चैकाग्रचितानिरोध व्युत्सर्ग। अभ्यन्तरतप एतदिति ॥३६०॥

प्रायश्चित्तस्वरूप निरूपयन्नाह—

पायच्छित्तं त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविहं तु ॥३६१॥

प्रायश्चित्तमपराध प्राप्त सन् येन तपसा पूर्वकृतात्पापात् विशुद्धयते हु—स्फुट पूर्वं व्रतै. सम्पूर्णो भवति तत्तपस्तेन कारणेन दशप्रकार प्रायश्चित्तमिति ॥३६१॥

के ते दशप्रकारा इत्याशंकायामाह—

आलोयणपडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं वि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥३६२॥

अभ्यन्तर तप के वे छह प्रकार कौन से है ? ऐसी आशंका होने पर कहते है—

गाथार्थ—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग— ये अभ्यन्तर तप हैं ॥३६०॥

आचारवृत्ति—पूर्व के किये हुए अपराधो का शोधन करना प्रायश्चित है। उद्धतपन-रहित वृत्ति का होना अर्थात् नम्र वृत्ति का होना विनय है। अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्य है। सिद्धात आदि ग्रन्थो का अध्ययन करना स्वाध्याय है। एक विषय पर चिन्ता का निरोध करना ध्यान है और उपधि का त्याग करना व्युत्सर्ग है। ये छह अभ्यन्तर तप हैं।

अब प्रायश्चित्त का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिसके द्वारा पूर्वकृत पाप से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त तप है। इस कारण से वह प्रायश्चित्त दश प्रकार का कहा गया है ॥३६१॥

आचारवृत्ति—अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पूर्वसंचित पापों से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्त्ति है। जिससे स्पष्टतया पूर्व के व्रतो से परिपूर्ण हो जाता है वह तप भी प्रायश्चित्त कहलाता है। वह प्रायश्चित्त दश प्रकार का है।

वे दश प्रकार कौन से हैं ऐसी आशंका होने पर कहते है—

गाथार्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश भेद हैं ॥३६२॥

आलोचना—आचार्याय देवाय वा चारित्राचारपूर्वकमुत्पन्नापराधनिवेदन । **प्रतिक्रमणं**—रात्रिभोजनत्यागव्रतसहितपंचमहाव्रतोच्चारण संभावन दिवसप्रतिक्रमण पाक्षिक वा । **उभयं**—आलोचनप्रतिक्रमणे । **विवेको**—द्विप्रकारो गणविवेक. स्थानविवेको वा । तथा **व्युत्सर्गः**—कायोत्सर्ग । तपोऽनशनादिक । **छेदो**—दीक्षाया पक्षमासादिभिर्हानि: । **मूलं**—पुनरद्य प्रभृति व्रतारोपण । अपि च परिहारो द्विप्रकारो गणप्रतिबद्धोऽप्रतिबद्धो वा । यत्र प्रश्रवणादिक कुर्वन्ति मुनयस्तत्र तिष्ठन्ति पिच्छिकामग्रत. कृत्वा यतीना वन्दना करोति तस्य यतयो न कुर्वन्ति, एव या गणे क्रिया गणप्रतिबद्ध. परिहार । यत्र देशे धर्मो न ज्ञायते तत्र गत्वा मौनेन तपश्चरणानुष्ठानकरणमगणप्रतिबद्ध परिहार । तथा श्रद्धान तत्त्वरुचौ परिणाम. क्रोधादिपरित्यागो वा । एतद्दशप्रकार प्रायश्चित्त दोषानुरूप दातव्यमिति । कश्चिद्दोष. आलोचनमात्रेण निराक्रियते । कश्चित्प्रतिक्रमणेन कश्चिदालोचनप्रतिक्रमणाभ्या कश्चिद्विवेकेन कश्चित्कायोत्सर्गेण कश्चित्तपसा कश्चिच्छेदेन कश्चिन्मूलेन कश्चित्परिहारेण कश्चिच्छ्रद्धानेनेति ॥३६२॥

प्रायश्चित्तस्य नामानि प्राह—

पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं ।
पुंच्छणमुछिवण छिदणं त्ति पायच्छित्तस्स णामाइं ॥३६३॥

आचारवृत्ति—आचार्य अथवा जिनदेव के समक्ष अपने मे उत्पन्न हुए दोषो का चारित्राचारपूर्वक निवेदन करना आलोचना है । रात्रिभोजनत्याग व्रत सहित पाँच महाव्रतो का उच्चारण करना, सम्यक् प्रकार से उनको भाना अथवा दिवस और पाक्षिक सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण है । आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो को करना तदुभय है । विवेक के दो भेद है— गण विवेक और स्थानविवेक । कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग कहते है । अनशन आदि तप है । पक्ष-मास आदि से दीक्षा की हानि कर देना छेद है । आज से लेकर पुन. व्रतो का आरोपण करना अर्थात फिर से दीक्षा देना मूल है । परिहार प्रायश्चित्त के भी दो भेद है— गणप्रतिबद्ध और गण अप्रतिबद्ध । जहाँ मुनिगण मूत्रादि विसर्जन करते है, इस प्रायश्चित्त वाला पिच्छिका को आगे करके वहाँ पर रहता है, वह यतियो की वंदना करता है किन्तु अन्य मुनि उसको वन्दना नही करते है । इस प्रकार से जो गण में क्रिया होती है वह गणप्रतिबद्ध-परिहार प्रायश्चित्त है । जिस देश मे धर्म नही जाना जाता है वहाँ जाकर मौन से तपश्चरण का अनुष्ठान करते है उनके अगण-प्रतिबद्ध परिहार प्रायश्चित होता है । तत्त्वरुचि में जो परिणाम होता है अथवा क्रोधादि का त्याग रूप जो परिणाम है वह श्रद्धान प्रायश्चित्त है ।

यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त दोषो के अनुरूप देना चाहिए । कुछ दोष आलोचनामात्र से निराकृत हो जाते हैं, कुछ दोष प्रतिक्रमण से दूर किये जाते हैं तो कुछेक दोष आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के द्वारा नष्ट किये जाते है, कई दोष विवेक प्रायश्चित्त से, कई कायोत्सर्ग से, कई दोष तप से, कई दोष छेद से, कई मूल प्रायश्चित्त से, कई परिहार से एव कई दोष श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त से दूर किये जाते हैं ।

विशेष— आजकल 'परिहार' नाम के प्रायश्चित्त को देने की परिपाटी नही रही ।

प्रायश्चित के पर्यायवाची नामों को कहते हैं—

गाथार्थ—पुराने कर्मों का क्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुछन, उत्क्षेपण और छेदन ये सब प्रायश्चित्त के नाम हैं ॥३६३॥

पुराणस्य कर्मणः क्षपणं विनाशः, क्षेपणं, निर्जरणं, शोधनं, धावनं, पुच्छणं, निराकरणं, उत्क्षेपणं, छेदनं द्वैधीकरणमिति प्रायश्चित्तस्यैतान्यष्टौ नामानि ज्ञातव्यानि भवन्तीति ॥३६३॥

विनयस्य स्वरूपमाह—

दंसणणाणेविणओ चरित्ततवओचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ ॥३६४॥

दर्शने विनयो ज्ञाने विनयश्चारित्रे विनयस्तपसि विनय औपचारिको विनयः पंचविधः खलु विनयः पंचमीगतिनायकः प्रधानः भणितः प्रतिपादित इति ॥३६४॥

दर्शनविनयं प्रतिपादयन्नाह—

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण ॥३६५॥

उपगूहनस्थिरीकरणवात्सल्यप्रभावना पूर्वोक्ता। तथा भक्त्यादयो गुणाः पंचपरमेष्ठिभक्त्यानुरागस्तेषामेव पूजा तेषामेव गुणानुवर्णनं, नाशनमवर्णवादस्यासादनापरिहारो भक्त्यादयो गुणाः। शंकाकांक्षा-

---

आचारवृत्ति—पुराने कर्मों का क्षपण—क्षय करना अर्थात् विनाश करना, क्षेपण—दूर करना, निर्जरण—निर्जरा करना, शोधन—शोधन करना, धावन—धोना, पुछन—पोंछना अर्थात् निराकरण करना, उत्क्षेपण—फेंकना, छेदन—दो टुकड़े करना इस प्रकार ये प्रायश्चित्त के ये आठ नाम जानने चाहिए।

अब विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तपोविनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय पंचम गति का कहा गया है ॥३६४॥

आचारवृत्ति—दर्शन में विनय, ज्ञान में विनय, चारित्र में विनय, तप में विनय और औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का विनय निश्चित रूप से पाँचवीं गति अर्थात् मोक्षगति में ले जाने वाला प्रधान कहा गया है, ऐसा समझना। अर्थात् विनय मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है।

दर्शन विनय का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पूर्व में कहे गये उपगूहन आदि तथा भक्ति आदि गुणों को धारण करना और शंकादि दोष का वर्जन करना यह संक्षेप से दर्शन विनय है ॥३६५॥

आचारवृत्ति—उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये पूर्व में कहे गये हैं। तथा पंच परमेष्ठियों में अनुराग करना, उन्हीं की पूजा करना, उन्हीं के गुणों का वर्णन करना, उनके प्रति लगाये गये अवर्णवाद अर्थात् असत्य आरोप का विनाश करना, और उनकी आसादना अर्थात् अवहेलना का परिहार करना—ये भक्ति आदि गुण कहलाते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और अन्य दृष्टि मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा—इनका त्याग करना यह संक्षेप

विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशसाना वर्जन परिहारो दर्शनविनय समासेनेति ॥३६५॥

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे ।
ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो ॥३६६॥

येऽर्थपर्याया जीवाजीवादयः सूक्ष्मस्थूलभेदेनोपदिष्टाः स्फुट जिनवरैः श्रुतज्ञाने द्वादशागेषु चतुर्दश-पूर्वेषु, तान् पदार्थांस्तथैव तेन प्रकारेण याथात्म्येन रोचयति नरो भव्यजीवो येन परिणामेन स एष दर्शन-विनयो ज्ञातव्य इति ॥३६६॥

ज्ञानविनय प्रतिपादयन्नाह—

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजणअत्थतदुभय विणओ णाणम्हि अट्ठविहो ॥३६७॥

द्वादशागचतुर्दशपूर्वाणा कालशुद्ध्या पठन व्याख्यान परिवर्तन वा । तथा हस्तपादौ प्रक्षाल्य पर्यकेऽव-स्थितस्याध्ययन । अवग्रहविशेषेण पठन । बहुमान यत्पठति यस्माच्छृणोति तयो पूजागुणस्तवन । तथैवा-

---

से दर्शन विनय है।

भावार्थ—शकादि चार दोषो का त्याग, उपगूहन आदि चार अग जो विधिरूप हैं उनका पालन करना तथा पच परमेष्ठी की भक्ति आदि करना यही सब दर्शन की विशुद्धि को करनेवाला दर्शनविनय है।

गाथार्थ—जिनेन्द्र देव ने आगम मे निश्चित रूप से जिन द्रव्य और पर्यायों का उपदेश किया है, उनका जो मनुष्य वैसा ही श्रद्धान करता है वह दर्शन विनयवाला होता है ॥३६६॥

आचारवृत्ति—सूक्ष्म और बादर के भेद से जिन जीव अजीव आदि पदार्थो का जिनेन्द्र देव ने द्वादशाग और चतुर्दशपूर्व रूप श्रुतिज्ञान मे स्पष्टरूप से उपदेश दिया है, जो भव्य जीव उन पदार्थो का उसी प्रकार से जैसे का तैसा विश्वास करता है, तथा जिस परिणाम से श्रद्धान करता है वह परिणाम ही दर्शनविनय है।

ज्ञानविनय का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—काल उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यजन, अर्थ और तदुभय—इनमें विनय विनय करना यह ज्ञान सम्बन्धी विनय आठ प्रकार का है ॥३६७॥

आचारवृत्ति—द्वादशाग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन—फेरना कालविनय है।

उन्ही ग्रन्थो का (या अन्य ग्रन्थों का) हाथ पैर धोकर पर्यकासन से बैठकर अध्ययन करना विनयशुद्धि नाम का ज्ञानविनय है। विनय विशेष लेकर पढ़ना उपधान है। जो ग्रन्थ पढ़ते है और जिनके मुख से सुनते है उस पुस्तक और उन गुरु इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुमान है। उसी प्रकार से जिस ग्रन्थ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते है उनका नाम कीर्तित करना अर्थात् उस ग्रन्थ या उन गुरु के नाम को नहीं छिपाना यह अनिह्नव है। शब्दों को शुद्ध पढ़ना व्यजनशुद्ध विनय है। अर्थ शुद्ध करना अर्थशुद्ध विनय है

-निह्नवो यत्पठति यस्मात्पठति तयो कीर्तन । व्यञ्जनशुद्ध , अर्थशुद्ध व्यञ्जनार्थोभयशुद्ध च यत्पठन । अनेन न्यायेनाष्टप्रकारो ज्ञाने विनय इति ।।३६७।।

तथा—

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ।।३६८।।

ज्ञानं शिक्षते विद्योपादान करोति । ज्ञान गुणयति परिवर्तन करोति । ज्ञान परस्मै उपदिशति प्रतिपादयति । ज्ञानेन करोति न्यायमनुष्ठान । य एव करोति ज्ञानविनीतो भवत्येष इति । अथ दर्शनाचारदर्शनविनययो को भेदस्तथा ज्ञानाचारज्ञानविनययो कश्चन भेद इत्याशकायामाह—शकादिपरिणामपरिहारे यत्न उपगूहनादिपरिणामानुष्ठाने च यत्नो दर्शनविनय । दर्शनाचार पुन. शकाद्यभावेन तत्त्वश्रद्धानविषयो यत्न इति । तथा कालशुद्ध्यादिविषयेऽनुष्ठाने यत्न कालादिविनय , तथा द्रव्यक्षेत्रभावादिविषयश्च यत्न । ज्ञानाचार पुन कालशुद्ध्यादिषु सत्सु श्रुत पठनयत्न । ज्ञानविनय श्रुतोपकरणेषु च यत्न श्रुतविनय । तथापनयति तपसा तमोऽज्ञान उपनयति च मोक्षमार्गे आत्मान तपोविनय नियमितमति सोऽपि तपोविनय इति ज्ञातव्य इति ।।३६८।।

और इन दोनो को शुद्ध रखना व्यजनार्थ उभयशुद्ध विनय है। इस न्याय से ज्ञान का विनय आठ प्रकार से करना चाहिए ।

उसी ज्ञान की विशेषता को कहते है—

गाथार्थ—ज्ञान शिक्षित करता है, ज्ञान गुणी बनाता है, ज्ञान पर को उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय किया जाता है । इस प्रकार यह जो करता है वह ज्ञान से विनयी होता है ।।३६८।।

आचारवृत्ति—ज्ञान विद्या को प्राप्त कराता है । ज्ञान अवगुण को गुणरूप से परिवर्तित करता है । ज्ञान पर को उपदेश का प्रतिपादन करता है । ज्ञान से न्याय—सत्प्रवृत्ति करता है जो ऐसा करता है वह ज्ञानविनीत होता है।

प्रश्न—दर्शनाचार और दर्शनविनय मे क्या अन्तर है ? उसी प्रकार ज्ञानाचार और ज्ञानविनय मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—शंकादि परिणामो के परिहार मे प्रयत्न करना और उपगूहन आदि गुणों के अनुष्ठान मे प्रयत्न करना दर्शनविनय है। पुन. शंकादि के अभावपूर्वक तत्त्वो के श्रद्धान मे यत्न करना दर्शनाचार है । उसी प्रकार कालशुद्धि आदि विषय अनुष्ठान मे प्रयत्न करना काल आदि विनय हैं तथा द्रव्य क्षेत्र और भाव आदि के विषय मे प्रयत्न करना यह सब ज्ञानाचार है। कालशुद्धि आदि के होने पर श्रुत के पढ़ने का प्रयत्न करना ज्ञान विनय है और श्रुत के उपकरणो मे अर्थात् ग्रन्थ, उपाध्याय आदि मे प्रयत्न करना श्रुतविनय है ।

उसी प्रकार से जो तप से अज्ञान तम को दूर करता है और आत्मा को मोक्ष मार्ग के समीप करता है वह तपोविनय है और नियमितमति होना है वह भी तप का विनय है ऐसा जानना चाहिए ।

चारित्रविनयस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

इंदियकसायपणिहाणपि य गुत्तीओ चेव समिदीओ।
एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥३६६॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि कषायाः क्रोधादयः तेषामिन्द्रियकषायाणां प्रणिधानं प्रसरहानिरिन्द्रियकषायप्रणिधानं इन्द्रियप्रसरनिवारणं कषायप्रसरनिवारणं। अथवेन्द्रियकषायाणां अपरिणामस्तद्गतव्यापारनिरोधनं। अपि च गुप्तयो मनोवचनकायशुभप्रवृत्तयः। समितयः ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोच्चारप्रस्रवणप्रतिष्ठापनाः। एष चारित्रविनयः समासतः संक्षेपतो भवति ज्ञातव्यः। अत्रापि। समितिगुप्तय आचारः। तद्रक्षणोपाये यत्नश्चारित्रविनय इति ॥३६६॥

तपोविनयस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

उत्तरगुणउज्जोगो सम्मं अहियासणा य सद्धा य।
आवासयाणमुचिदाणं अपरिहाणीयणुस्सेहो ॥३७०॥

आतापनाद्युत्तरगुणेषूद्योग उत्साहः। सम्यगध्यासनं तत्कृतश्रमस्य निराकुलतया सहनं। तद्गतश्रद्धा—तानुत्तरगुणान् कुर्वतः शोभनपरिणामः। आवश्यकानां समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानकायोत्स-

---

चारित्र विनय का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—इन्द्रिय और कषायों का निग्रह, गुप्तियाँ और समितियाँ संक्षेप से यह चारित्र विनय जानना चाहिए। ॥३६६॥

आचारवृत्ति—चक्षु आदि इन्द्रियाँ और क्रोधादि कषायों का प्रणिधान—प्रसार की हानि का होना अर्थात् इन्द्रिय के प्रसार का निवारण करना और कषायों के प्रसार का निवारण करना। अथवा इन्द्रिय और कषायों का परिणाम अर्थात् उनमें होने वाले व्यापार का निरोध करना—यह इन्द्रिय कषाय प्रणिधान है। मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति गुप्तियाँ हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उच्चार प्रस्रवण प्रतिष्ठापना ये पाँच समितियाँ हैं। यह सब चारित्र विनय संक्षेप से कहा गया है। यहाँ पर भी समिति और गुप्तियाँ चारित्राचार हैं और उनकी रक्षा के उपाय में जो प्रयत्न है वह चारित्र विनय है।

भावार्थ—इन्द्रियों का निरोध और कषायों का निग्रह होना तथा समिति गुप्ति की रक्षा में प्रयत्न करना यह सब चारित्रविनय है।

अब तपो विनय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—उत्तर गुणों में उत्साह, उनका अच्छी तरह अभ्यास, श्रद्धा, उचित आवश्यकों में हानि या वृद्धि न करना तपोविनय है। ॥३७०॥

आचारवृत्ति—आतापन आदि उत्तर गुणों में उद्यम—उत्साह रखना, उनके करने में जो श्रम होता है उसको निराकुलता से सहन करना, उन उत्तर गुणों को करने वाले के प्रति श्रद्धा—शुभ भाव रखना। समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक हैं। ये उचित हैं, कर्मक्षम के लिए निमित्त है। ये परिमित हैं, इनकी हानि और वृद्धि

र्गाणामुचिताना कर्मक्षयनिमित्ताना परिमितानामपरिहाणिरनुत्सेध न हानि कर्तव्या नापि वृद्धि । षडेव भावाश्चत्वार पच वा न कर्तव्या । तथा सप्ताष्टौ न कर्तव्या. । या यस्यावश्यकस्य वेला तस्यामेवासौ कर्तव्यो नान्यस्या वेलाया हानि वृद्धि प्राप्नुयात् । तथा यस्यावश्यकस्य यावन्त. पठिता: ायोत्सर्गास्तावन्त एव कर्तव्या न तेषा हानिर्वृद्धिर्वा कार्या इति ॥३७०॥

भत्ती तवोधियम्हि[1] य तवम्हि अहोलणा य सेसाणं।
एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचारित्तसाहुस्स ॥३७१॥

भक्ति स्तुतिपरिणाम सेवा वा। तपसाधिकम्तपोऽधिक तस्मिंस्तपोधिके । आत्मनोऽधिकतपसि तपसि च द्वादशविधतपोऽनुष्ठाने च भक्तिरनुराग । शेषाणामनुत्कृष्टतपसामहेलना अपरिभव । एष तपसि विनय सर्वसयतेषु प्रणामवृत्तिर्यथोक्तचारित्रस्य साधोर्भवति ज्ञातव्य इति ॥३७१॥

पचमौपचारिकविनय प्रपंचयन्नाह—

नहीं करना अर्थात् ये आवश्यक छह ही है, इन्हे चार वा पाँच नही करना तथा सात या आठ भी नही करना। जिस आवश्यक की जो वेला है उसी वेला मे वह आवश्यक करना चाहिए, अन्य वेला मे नही। अन्यथा हानि वृद्धि हो जावेगी। तथा, जिस आवश्यक के जितने कायोत्सर्ग बताये गये हैं उतने ही करना चाहिए, उनकी हानि या वृद्धि नही करना चाहिए।

भावार्थ—उत्तर गुणो के धारण करने मे उत्साह रखना, उनका अभ्यास करना और उनके करनेवालों मे आदर भाव रखना तथा आवश्यक क्रियाओ को आगम की कथित विधि से उन्ही उन्ही के काल मे कायोत्सर्ग की गणना से करना यह सब तपोविनय है। जैसे दैवसिक प्रतिक्रम मे वीरभक्ति मे १०८ उच्छ्वास पूर्वक ३६ कायोत्सर्ग, रात्रिक प्रतिक्रमण मे ५४ उच्छ्वास पूर्वक १८ कायोत्सर्ग, देववदना मे चैत्य पचगुरु भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग इत्यादि कहे गये हैं सो उतने प्रमाण से विधिवत् करना।

गाथार्थ—तपोधिक साधु मे और तप मे भक्ति रखना तथा और दूसरे मुनियों की अवहेलना नही करना, आगम मे कथित चारित्र वाले साधु का यह तपोविनय है। ॥३७१॥

आचारवृत्ति—जो तपश्चर्या में अपने से अधिक है वे तपोधिक होते है। उनमें तथा बारह प्रकार के तपश्चरण के अनुष्ठान मे भक्ति अर्थात् अनुराग रखना। स्तुति के परिणाम को अथवा सेवा को भक्ति कहते है सो इनकी भक्ति करना। शेष जो मुनि अनुत्कृष्ट तप वाले है अर्थात् अधिक तपश्चरण नही करते है उनका तिरस्कार- अपमान नही करना। सभी सयतों में प्रणाम की वृत्ति होना—यह सब तपोविनय है जो कि आगमानुकूल चारित्रधारी साधु के होता है।

पाँचवे औपचारिक विनय का विस्तारपूर्वक वर्णन करते है—

---

१ क °म्हि अ°।

कायिगवाइयमाणसिओ त्ति अ तिविहो दु पंचमो विणओ।
सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो य ॥३७२॥

काये भवः कायिकः। वाचि भवो वाचिकः। मनसि भवो मानसिकः। त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तु पंचमो विनयः। स्वर्गमोक्षादीन् विशेषेण नयतीति विनयः। कायाश्रयो वागाश्रयो मानसाश्रयश्चेति। स पुनः सर्वोऽपि कायिको वाचिको मानसिकश्च द्विविधो द्विप्रकारः प्रत्यक्षश्चैव परोक्षश्च। गुरोः प्रत्यक्षश्चक्षुरादिविषयः। चक्षुरादिविषयादतिक्रान्तः परोक्ष इति ॥३७२॥

कायिकविनयस्वरूपं दर्शयन्नाह—

अब्भुट्ठाणं किदिअम्मं णवण अंजलीय मुंडाणं।
पच्चूगच्छणमेत्ते पछिदस्सणुसाहणं चेव ॥३७३॥

अभ्युत्थानमादरेणासनादुत्थानं। क्रियाकर्म सिद्धभक्तिश्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं कायोत्सर्गादिकरणं। नमनं शिरसा प्रणामः। अञ्जलिना करकुड्मलेनाञ्जलिकरणं वा मुण्डानामृषीणां। अथवा मुण्डा सामान्य-

---

गाथार्थ—कायिक, वाचिक और मानसिक इस प्रकार पाँचवाँ औपचारिक विनय तीन भेद रूप है। पुन. वह तीन भेद रूप विनय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष की अपेक्षा से दो प्रकार का है। ॥३७२॥

आचारवृत्ति—काय से होनेवाला कायिक है, वचन से होने वाला वाचिक और मन से होने वाला मानसिक विनय है। जो स्वर्ग मोक्षादि में विशेष रूप से ले जाता है वह विनय है। इस तरह औपचारिक नामक पाँचवाँ विनय तीन प्रकार का है। अर्थात् काय के आश्रित, वचन के आश्रित और मन के आश्रित से यह विनय तीन भेद रूप है। वह तीनो प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार है अर्थात् प्रत्यक्ष विनय के भी तीन भेद हैं और परोक्ष के भी तीन भेद हैं। जब गुरु प्रत्यक्ष मे है, चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर है तब उनका विनय प्रत्यक्षविनय है तथा जब गुरु चक्षु आदि से परे दूर है तब उनकी जो विनय की जाती है वह परोक्षविनय है।

कायिक विनय का स्वरूप दिखलाते हैं—

गाथार्थ—केशलोच से मुण्डित हुए अतः जो मुण्डित कहलाते हैं ऐसे मुनियों के लिए उठकर खड़े होना, भक्तिपाठ पूर्वक वन्दना करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, आते हुए के सामने जाना और प्रस्थान करते हुए के पीछे-पीछे चलना ॥३७३॥

आचारवृत्ति—मुण्ड अर्थात् ऋषियो को सामने देखकर आदरपूर्वक आसन से उठकर खड़े हो जाना, क्रियाकर्म—सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करके वन्दना करना, अंजलि जोड़कर शिर झुकाकर नमस्कार करना नमन है। यहाँ मुण्ड का अर्थ ऋषि है अथवा 'मुण्ड' का अर्थ सामान्य वन्दना है अर्थात् भक्तिपाठ के बिना नमस्कार करना मुण्ड-वन्दना है। जो साधु सामने आ रहे हैं उनके सम्मुख जाना, प्रस्थान करने वाले के पीछे-पीछे चलना। तात्पर्य यह है कि साधुओं का आदर करना चाहिए। उनके प्रति भक्तिपाठ

वन्दना । **पच्चूगच्छणमेत्तं**—आगच्छत प्रतिगमनमभिमुखयान । प्रस्थितस्य प्रयाणके व्यवस्थितस्यानुसाधन चानुव्रजन च साधूनामादर कार्य । तथा तेषामेव क्रियाकर्म कर्तव्यम् । तथा तेषामेव कृताञ्जलिपुटेन नमन कर्तव्य । तथा साधोरागत प्रत्यभिमुखगमन कर्तव्य तथा तस्यैव प्रस्थितस्यानुव्रजन कर्तव्यमिति ॥३७३॥ तथा—

णीच ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं ।
आसणदाणं उवगरणदाण ओगासदाणं च ॥३७४॥

देवगुरुभ्य पुरतो नीच स्थान वामपार्श्वे स्थान । नीच च गमन गुरोर्वामपार्श्वे पृष्ठतो वा गन्तव्य । नीच च न्यग्भूत चासन पीठादिवर्जन । गुरोरासनस्य पीठादिकस्य दान निवेदन । उपकरणस्य पुस्तिकाकुडिका-पिच्छिकादिकस्य प्रासुकस्यान्विष्य दान निवेदन । अथवा नीच स्थान करचरणसकुचितवृत्तिर्गुरो सधर्मणोऽन्यस्य वा व्याधितस्येति ॥३७४॥ तथा—

पडिरूवकायसफासणदा य पडिरूपकालकिरिया य ।
पेसणकरणं संथरकरणं उवकरण पडिलिहणं ॥३७५॥

प्रतिरूपं शरीरवलयोग्य कायस्य शरीरस्य सम्पर्शन मर्दनमभ्यगन वा । **प्रतिरूपकालक्रिया** चोष्ण-

---

करते हुए कृति कर्म करना चाहिए तथा उन्हे अजलि जोडकर नमस्कार करना चाहिए। साधुओ के आते समय सन्मुख जाकर स्वागत करना चाहिए और उनके प्रस्थान करने पर कुछ दूर पहुँचाने के लिए उनके पीछे-पीछे जाना चाहिए।

गाथार्थ—गुरुओं से नीचे खडे होना, नीचे अर्थात् पीछे चलना, नीचे बैठना, नीचे स्थान मे सोना, गुरु को आसन देना, उपकरण देना और ठहरने के लिए स्थान देना—यह सब कायिक विनय है ॥३७४॥

आचारवृत्ति—देव और गुरु के सामने नीचे खडे होना (विनय से एक तरफ खड़े होना), गुरु के साथ चलते समय उनके बायें चलना या उनके पीछे चलना, गुरु के नीचे आसन रखना अथवा पीठ पाटे आदि आसन को छोड़ देना। गुरु को आसन आदि देना, उनके लिए आसन देकर उन्हे विराजने के लिए निवेदन करना। उन्हे पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका आदि उपकरण देना, वसतिका या पर्वत की गुफा आदि प्रासुक स्थान अन्वेषण करके गुरु को उसमें ठहरने के लिए निवेदन करना। अथवा 'नीच स्थान' का अर्थ यह है कि गुरु, सहधर्मी मुनि अथवा अन्य कोई व्याधि ग्रसित मुनि के प्रति हाथ-पैर सकुचित करके बैठना। तात्पर्य यही कि प्रत्येक प्रवृत्ति मे विनम्रता रखना।

उसी प्रकार से—

गाथार्थ—गुरु के अनुरूप उनके अग का मर्दनादि करना, उनके अनुरूप और काल के अनुरूप क्रिया करना, आदेश पालन करना, उनके सस्तर लगाना तथा उपकरणो का प्रतिलेखन करना ॥३७५॥

आचारवृत्ति—गुरु के शरीर बल के योग्य शरीर का मर्दन करना अथवा उनके शरीर में तैल मालिश करना, उष्ण काल मे शीत क्रिया, शीतकाल में उष्णक्रिया करना, और वर्षाकाल

काले शीतक्रिया शीतकाले उष्णक्रिया वर्षाकाले तद्योग्यक्रिया। प्रेष्यकरणं—आदेशकरण। संस्तरकरणं पट्टकादिप्रस्तरणं। उपकरणाना पुस्तिकाकुण्डिकादीनां प्रतिलेखन सम्यग्निरूपणम् ॥३७५॥

इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण।
एसो काइयविणओ जहारिहं साहुवग्गस्स ॥३७६॥

इत्येवमादिरूपकारो गुरोरन्यस्य वा साधुवर्गस्य य शरीरेण क्रियते यथायोग्य स एष कायिको विनय कायाश्रितत्वादिति ॥३७६॥

वाचिकविनयस्वरूप विवृण्वन्नाह—

पूयावयण हिदभासणं मिदभासणं च मधुरं च।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥३७७॥

पूजावचन बहुवचनोच्चारण यूय भट्टारका इत्येवमादि। हितस्य पथ्यस्य भाषण इहलोकपरलोकधर्मकारण वचन। मितस्य परिमितस्य भाषण चाल्पाक्षरबह्वर्थं। मधुर च मनोहर श्रुतिसुखद। सूत्रानुवीचिवचनमागमदृष्ट्या भाषण यथा पाप न भवति। अनिष्ठुर दग्धमृतप्रलीनेत्यादिशब्दै रहित। अकर्कश वचनं च वर्जयित्वा वाच्यमिति ॥३७७॥

मे उस ऋतु के योग्य क्रिया करना। अर्थात् गुरु की सेवा आदि ऋतु के अनुकूल और उनकी प्रकृति के अनुकूल करना। उनके आदेश का पालन करना, उनके लिए सस्तर अर्थात् चटाई, घास, पाटा आदि लगाना, उनके पुस्तक कमण्डलु आदि उपकरणो को ठीक तरह से पिच्छिका से प्रतिलेखन करके उन्हे देना।

गाथार्थ—साधु वर्ग का इसी प्रकार से और भी जो उपकार यथायोग्य अपने शरीर के द्वारा किया जाता है यह सब कायिक विनय है ॥३७६॥

आचारवृत्ति—इसी प्रकार से अन्य और भी जो उपकार गुरु या साधु वर्ग का शरीर के द्वारा योग्यता के अनुसार किया जाता है वह सब कायिक विनय है, क्योंकि वह काय के आश्रित है।

वाचिक विनय का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—पूजा के वचन, हित वचन, मितवचन और मधुर वचन, सूत्रों के अनुकूल वचन, अनिष्ठुर और कर्कशता रहित वचन बोलना वाचिक विनय है ॥३७७॥

आचारवृत्ति—'आप भट्टारक !' इत्यादि प्रकार बहुवचन का उच्चारण करना पूजा वचन हैं। हित—पथ्य वचन बोलना अर्थात् इस लोक और परलोक के लिए धर्म के कारणभूत वचन, हितवचन है। मित—परिमित बोलना जिसमें अल्प अक्षर हो किन्तु अर्थ बहुत हो मित वचन हैं। मधुर—मनोहर अर्थात् कानो को सुखदायी वचन मधुर वचन है। आगम के अनुकूल बोलना कि जिस प्रकार से पाप न हो सूत्रानुवीचि वचन हैं। तुम जलो मरो, प्रलय को प्राप्त हो जाओ इत्यादि शब्दों से रहित वचन अनिष्ठुर वचन हैं और कठोरता रहित वचन अकर्कश वचन हैं। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के वचन बोलना ही वाचिक विनय है।

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं ।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो ।।३७८।।

उपशान्तवचन क्रोधमानादिरहित । अगृहस्थवचन गृहस्थाना मकारवकारादि यद्वचन तेन रहित बन्धनत्रासनताडनादिवचनरहित । अकिरियं असिमसिकृष्यादिक्रिया (दि) रहित अथवा सक्रियमिति पाठ । सक्रिय क्रियायुक्तमन्यच्चिन्तान्यदोषयोरिति न वाच्य, तदुच्यते यन्निष्पाद्यते। अहील—अपरिभववचन । इत्येवमादिवचन यत्र स एष वाचिको विनयो यथायोग्य भवति कर्तव्य इति ।।३७८।।

मानसिकविनयस्वरूपमाह—

पापविसोत्तिअपरिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ।
णादव्वो संखेवेणेसो माणसिओ विणओ ।।३७९।।

पापविश्रुतिपरिणामवर्जन पाप हिंसादिक विश्रुति सम्यग्विराधना तयो परिणामस्तस्य वर्जन परिहार । प्रिये धर्मोपकारे हिते च सम्यग्ज्ञानादिके च परिणामो ज्ञातव्य. । सक्षेपेण स एष मानसिकश्चित्तोद्भवो विनय इति ।।३७९।।

इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओवि जं गुरुणो ।
विरहम्मिवि वट्टिज्जदि आणाणिद्देसचरियाए ।।३८०।।

गाथार्थ—कषायरहित वचन, गृहस्थी सम्बन्ध से रहित वचन, क्रिया रहित और अवहेलना रहित वचन बोलना—यह वाचिक विनय है जिसे यथायोग्य करना चाहिए ।।३७८।।

आचारवृत्ति—क्रोध, मान, आदि से रहित वचन उपशान्त वचन है । गृहस्थो के जो मकार-वकार आदि रूप वचन है उनसे रहित वचन, तथा बन्धन, त्रासन, ताडन आदि से रहित वचन अगृहस्थ वचन है । असि, मषि, कृषि आदि क्रियाओ मे रहित वचन अक्रियवचन है । अथवा 'सक्रिय' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि क्रियायुक्त वचन बोलना किन्तु अन्य की चिन्ता और अन्य के दोष रूप वचन नही बोलना चाहिए। जैसा करना वैसा ही बोलना चाहिए । किसी का तिरस्कार करने वाले वचन नही बोलना अहीलन वचन है। और भी ऐसे ही वचन जहाँ होते है वह सब वाचिक विनय है जो कि यथायोग्य करना चाहिए ।

मानसिक विनय का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—पापविश्रुत के परिणाम का त्याग करना, और प्रिय तथा हित मे परिणाम करना सक्षेप से यह मानसिक विनय है ।।३७९।।

आचारवृत्ति—हिंसादि को पाप कहते है और सम्यक्त्व की बिराधना को विश्रुति कहते हैं । इन पाप और विराधना बिषयक परिणामो का त्याग करना। धर्म और उपकार को प्रिय कहते है तथा सम्यग्ज्ञानादि के लिए हित सज्ञा है । इन प्रिय और हित मे परिणाम को लगाना । संक्षेप से यह चित्त से उत्पन्न होनेवाला मानसिक विनय कहलाता है ।

गाथार्थ—इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है । तथा जो गुरु के न होने पर भी उनकी आज्ञा, निर्देश और चर्या मे रहता है उसके परोक्ष सम्बन्धी विनय होता है ।।३८०।।

इत्येष प्रत्यक्षविनय. कायिकादि, गुर्वादिषु सत्सु वर्तते यतः, पारोक्षिकोऽपि विनयो यद्गुरोर्विरहेऽपि गुर्वादिषु परोक्षीभूतेषु यद्वर्तते। आज्ञानिर्देशेन चर्यायां वार्हद्भट्टारकोपदिष्टेषु जीवादिपदार्थेषु श्रद्धानं कर्तव्य तथा तैर्या चर्योद्दिष्टा व्रतसमित्यादिका तथा च वर्तनं परोक्षो विनय। तेषां प्रत्यक्षतो यः क्रियते स प्रत्यक्षमिति ॥३८०॥

पुनरपि त्रिविध विनयमन्येन प्रकारेणाह—

अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहो समासदो भणिओ।
सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए ॥३८१॥

अथौपचारिको विनय उपकारे धर्मादिकपरचित्तानुग्रहे भव औपचारिक खलु स्फुट त्रिविधस्त्रिप्रकार. कायिकवाचिकमानसिकभेदेन समासत सक्षेपतो भणित कथित। सप्तविधश्चतुर्विधो द्विविधो बोद्धव्य.। आनुपूर्व्यानुक्रमेण कायिक सप्तप्रकारो वाचिकश्चतुर्विध. मानसिको द्विविध इति ॥३८१॥

कायिकविनय सप्तप्रकारमाह—

आचारवृत्ति—यह सब ऊपर कहा गया कायिक आदि विनय प्रत्यक्ष विनय है, क्योकि यह गुरु के रहते हुए उनके पास मे किया जाता है। और, गुरुओ के विरह मे— उनके परोक्ष रहने पर अर्थात् अपने से दूर है उस समय भी जो उनका विनय किया जाता है वह परोक्ष विनय है। वह उनकी आज्ञा और निर्देश के अनुसार चर्या करने से होता है। अथवा अर्हन्त भट्टारक द्वारा उपदिष्ट जीवादि पदार्थो मे श्रद्धान करना तथा उनके द्वारा जो भी व्रत समिति आदि चर्याएँ कही गई हैं, उनरूप प्रवृत्ति करना यह सब परोक्ष विनय है। अर्थात् उनके प्रत्यक्ष मे किया गया विनय प्रत्यक्ष विनय तथा परोक्ष मे किया गया नमस्कार, आज्ञा पालन आदि विनय परोक्ष विनय है।

पुन इन्ही तीन प्रकार की विनय को अन्य रूप से कहते है—

गाथार्थ—यह औपचारिक संक्षेप से कायिक, वाचिक और मानसिक ऐसा तीन प्रकार कहा गया है। वह क्रम से सातभेद, चार भेद और दो भेदरूप जानना चाहिए ॥३८१॥

आचारवृत्ति—जो उपचार अर्थात् धर्मादि के द्वारा पर के मन पर अनुग्रह करनेवाला होता है वह औपचारिक विनय कहलाता है। यह औपचारिक विनय प्रकट रूप से कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों की अपेक्षा संक्षेप मे तीन प्रकार का कहा गया है। उसमें क्रम से सात, चार और दो भेद माने गये हैं अर्थात् कायिक विनय सात प्रकार का है, वाचिक विनय चार प्रकार का है और मानसिक विनय दो प्रकार का है।

कायिक विनय के सात प्रकार को कहते हैं—

अब्भुट्ठाणं सण्णदि आसणदाणं अणुप्पदाणं च ।
किदियम्मं पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं ।।३८२।।*

अभ्युत्थानम् आदरेणोत्थान । **सन्नतिः** शिरसा प्रणाम । **आसनदानं** पीठाद्युपनयन । **अनुप्रदानं च** पुस्तकपिच्छिकाद्युपकरणदान । **क्रियाकर्म** श्रुतभक्त्यादिपूर्वककायोत्सर्ग **प्रतिरूपं** यथायोग्य, अथवा शरीरप्रतिरूपं कालप्रतिरूप भावप्रतिरूप च क्रियाकर्म शीतोष्णमूत्रपुरीषाद्यपनयन । **आसनपरित्यागो** गुरो पुरत उच्चस्थाने न स्थातव्यं । **अनुव्रजनं** प्रस्थितेन सह किंचिद्गमनमिति । अभ्युत्थानमेक सन्नतिर्द्वितीय आसनदानं तृतीयः अनुप्रदान चतुर्थ प्रतिरूपक्रियाकर्म पचम आसनत्याग, षष्ठोऽनुव्रजन सप्तम प्रकार कायिकविनयस्येति ।।३८२।।

वाचिकमानसिकविनयभेदानाह—

गाथार्थ—गुरुओ को आते हुए देखकर उठकर खडे होना, उन्हें नमस्कार करना, आसन देना, उपकरणादि देना, भक्ति पाठ आदि पढकर वन्दना करना, या उनके अनुकूल क्रिया करना, आसन को छोड देना और जाते समय उनके पीछे जाना ये सात भेदरूप कायिकविनय है ।।३८२।।

आचारवृत्ति—अभ्युत्थान—गुरुओ को सामने आते हुए देखकर आदर से उठकर खड़े हो जाना । सन्नति—शिर से प्रणाम करना । आसनदान—पीठ, काष्ठासन, पाटा आदि देना । अनुप्रदान—पुस्तक, पिच्छिका आदि उपकरण देना । प्रतिरूप क्रियाकर्म यथायोग्य—श्रुत भक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्ग करके वन्दना करना, अथवा गुरुओ के शरीर के प्रकृति के अनुरूप, काल के अनुरूप और भाव के अनुरूप सेवा शश्रूषा आदि क्रियाएँ करना, जैसे कि शीतकाल में उष्ण कारी और उष्णकाल मे शीतकारी आदि परिचर्या करना, अस्वस्थ अवस्था में उनके मल-मूत्रादि को दूर करना आदि । आसनत्याग—गुरु के सामने उच्चस्थान पर नही बैठना । अनुव्रजन—उनके प्रस्थान करने पर साथ-साथ कुछ दूर तक जाना । इसप्रकार से (१) अभ्युत्थान, (२) सन्नति, (३) आसनदान, (४) अनुप्रदान, (५) प्रतिरूपक्रियाकर्म, (६) आसनत्याग और (७) अनुव्रजन—ये सात प्रकार कायिकविनय के होते है ।

वाचिक और मानसिक विनय के भेदो को कहते है—

---

*फलटन से प्रकाशित मे ये गाथाएँ इसके पहले है । ये गाथाएँ मूल मे नही है—

उपचार विनय के दो भेदो का वर्णन—

अहवोवचारिओ खलु विणओ दुविहो समासदो होदि ।
पडिरूवकालकिरियाणासादणसीलदा चेव ।।

पडिरूवो काइगवाचिगमाणसिगो दु बोधव्वो ।
सत्त चदुव्विह दुविहो जहाकम होदि भेदेण ।।

अर्थात् धर्मात्मा के चित्त पर अनुग्रह करने वाला औपचारिक विनय संक्षेप से दो प्रकार का है । प्रतिरूपकाल क्रिया विनय—गुरुओ के अनुरूप काल आदि को देखकर क्रिया अर्थात् भक्ति सेवा आदि करना । अनासादनशीलता विनय—आचार्यों आदि की निन्दा नही करने का स्वभाव होना, ऐसे दो भेद हैं । प्रतिरूप विनय कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार का है । कायिकविनय सात प्रकार का, वाचिक चार प्रकार का और मानसिक विनय दो प्रकार का है ।

हिदमिदपरिमिदभासा अणवीचीभासणं च बोधव्वं।
अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव ॥३८३॥*

हितभाषणं मितभाषणं परिमितभाषणमनुवीचिभाषणं च। हितं धर्मसंयुक्तं। मितमल्पाक्षरं बह्वर्थं। परिमितं कारणसहितं। अनुवीचीभाषणमागमाविरुद्धवचनं चेति चतुर्विधो वचनविनयो ज्ञातव्यः। तथा **ऽकुशलमनसो रोधः** पापादानकारकचित्तनिरोधः। **कुशलमनसो** धर्मप्रवृत्तचित्तस्य **प्रवर्तकश्चेति** द्विविधो मनोविनय इति ॥३८३॥

स एव द्विविधो विनयः साधुवर्गेण कस्य कर्तव्य इत्याशंकायामाह—

रादिणिए उणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥३८४॥

रादिणिए—रात्र्यधिके दीक्षागुरौ श्रुतगुरौ तपोधिके च। **उणरादिणिएसु अ**—ऊनरात्रिकेषु च तपसा कनिष्ठेषु गुणकनिष्ठेषु वयसा कनिष्ठेषु च साधुषु। **अज्जासु**—आर्यिकासु। **गिहिवग्गे**—गृहिवर्गे

गाथार्थ—हितवचन, मितवचन, परिमितवचन और सूत्रानुसार वचन, इन्हें वाचिक विनय जानना चाहिए। अशुभ मन को रोकना और शुभ मन की प्रवृत्ति करना ये दो मानसिक विनय हैं ॥३८३॥

आचारवृत्ति—हित भाषण—धर्मसंयुक्त वचन बोलना, मित भाषण—जिसमें अक्षर अल्प हों अर्थ बहुत हो ऐसे वचन बोलना, परिमित भाषण—कारण सहित वचन बोलना अर्थात् बिना प्रयोजन के नही बोलना, अनुवीचिभाषण—आगम से अविरुद्ध वचन बोलना, इस प्रकार से वचन विनय चार प्रकार का है। पाप आस्रव करनेवाले अशुभ मन का रोकना अर्थात् मन में अशुभ विचार नहीं लाना तथा धर्म मे चित्त को लगाना ये दो प्रकार का मनोविनय है।

यह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दोनों प्रकार का विनय साधुओं को किनके प्रति करना चाहिए ? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—एक रात्रि भी अधिक गुरु में, दीक्षा में एक रात्रि न्यून भी मुनि मे, आर्यिकाओं में और गृहस्थों में अप्रमादी मुनि को यथा योग्य यह विनय करना चाहिए ॥३८४॥

आचारवृत्ति—जो दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं वे रात्र्यधिक गुरु हैं। यहाँ रात्र्यधिक शब्द से दीक्षा गुरु, श्रुतगुरु और तप मे अपने से बड़े गुरुओं को लिया है। जो दीक्षा से एक रात्रि भी छोटे हैं वे ऊनरात्रिक कहलाते हैं। यहाँ पर ऊनरात्रिक से जो तप मे कनिष्ठ—लघु है, गुणों मे लघु हैं, और [illegible] लघु हैं उन साधुओं को लिया है। इस प्रकार से दीक्षा आदि बड़े गुरुओं

---

*फलटन से प्रकाशित [illegible] कुछ अन्तर है—

हिदमिदमदुवअणुवीचिभासणो वाचिगो हवे विणओ।
असुहमणसण्णिरोहो सुहमणसंकप्पगो तदिओ ॥

अर्थात् हितभाषण, मितभाषण, मृदुभाषण और आगम के अनुकूल भाषण यह वाचिक विनय है। अशुभमन का निरोध करना और शुभ मे मन लगाना ये दो मानसिक विनय के भेद हैं।

श्रावकलोके च । विनयो यथार्हो यथायोग्यः कर्तव्यः । अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन । साधूनां यो योग्य आर्यिकाणां यो योग्यः, श्रावकाणां यो योग्यः, अन्येषामपि यो योग्य स तथा कर्तव्यः, केन ? साधुवर्गेणाप्रमत्तेनात्म-तपोऽनुरूपेण प्रासुकद्रव्यादिभि स्वशक्त्या चेति ।

किमर्थं विनयः क्रियते इत्याशंकायामाह—

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥३८५॥

विनयेन विप्रहीणस्य विनयरहितस्य भवति शिक्षा श्रुताध्ययन **निरर्थिका** निष्फला सर्वा सकला विनयः पुनः शिक्षा या विद्याध्ययनस्य फल, विनयफल सर्वकल्याणान्यभ्युदयनिःश्रेयससुखानि । अथवा स्वर्गा-वतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणादीनि कल्याणादीनीति ॥३८५॥

विनयस्तवमाह—

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य ॥३८६॥

में, अपने से छोटे मुनियो में, आर्यिकाओ में और श्रावक वर्गों में प्रमादरहित मुनि को यथायोग्य विनय करना चाहिए । अर्थात् साधुओ के जो योग्य हो, आर्यिकाओ के जो योग्य हो, श्रावकों के जो योग्य हो और अन्यों के भी जो योग्य हो वैसा ही करना चाहिए । किसको ? प्रमादरहित हुए साधु को अपने तप अर्थात् अपने व्रतो के, अपने पद के अनुरूप ही प्रासुक द्रव्यादि के द्वारा अपनी शक्ति से उन सबका विनय करना चाहिए ।

विशेष—यहाँ पर जो मुनियों द्वारा आर्यिकाओं की और गृहस्थों की विनय का उपदेश है सो नमस्कार नही समझना, प्रत्युत् यथायोग्य शब्द से ऐसा समझना कि मुनिगण आर्यिकाओं का भी यथायोग्य आदर करे, श्रावको का भी यथायोग्य आदर करे, क्योकि 'यथायोग्य' पद उनके अनुरूप अर्थात् पदस्थ के अनुकूल विनय का वाचक है । उससे आदर, सन्मान और बहुमान ही अर्थ सुघटित है ।

विनय किसलिए किया जाता है ? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—विनय से हीन हुए मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है । विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सर्व कल्याण है ॥३८५॥

आचारवृत्ति—विनय से रहित साधु का सम्पूर्ण श्रुत का अध्ययन निरर्थक है । विद्या-अध्ययन का फल विनय है और अभ्युदय तथा निःश्रेयसरूप सर्वकल्याण को प्राप्त कर लेना विनय का फल है । अथवा स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलज्ञानोत्पत्ति और परिनिर्वाण ये पाँचकल्याणक आदि कल्याणो की प्राप्ति का होना भी विनय का फल है ।

अब विनय की स्तुति करते है—

गाथार्थ—विनय मोक्ष का द्वार है । विनय से सयम, तप और ज्ञान होता है । विनय के द्वारा आचार्य और सर्वसघ आराधित होता है ॥३८६॥

विनयो मोक्षस्य द्वारं प्रवेशक.। विनयात्संयम.। विनयात्तप:। विनयाच्च ज्ञानं। भवतीति सम्बन्धः। विनयेन चाराध्यते आचार्य सर्वसंघश्चापि ॥३८६॥

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंजा।
अज्जवमद्दवलाहवभत्तीपल्हादकरणं च ॥३८७॥

आचारस्य गुणा जीदप्रायश्चित्तस्य कल्पप्रायश्चित्तस्य गुणास्तद्गतानुष्ठानानि तेषां दीपन प्रकटन। आत्मशुद्धिश्चात्मकर्मनिर्मुक्ति। निर्द्वन्द्व. कलहाद्यभाव.। ऋजोर्भाव आर्जव स्वस्थता, मृदो भावो मार्दवं मायामानयोर्निरास। लघोर्भावो लाघव नि:सगता लोभनिरास.। भक्तिर्गुरुसेवा। प्रह्लादकरण च सर्वेषा सुखोत्पादन। यो विनय करोति तेनाचरजीदकल्पविषया ये गुणास्ते दीपिता उद्योतिता भवति। आर्जव-मार्दवलाघवभक्तिप्रह्लादकरणानि च भवति विनयकर्तुरिति ॥३८७॥

कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ॥३८८॥

कीर्ति सर्वव्यापी प्रताप ख्यातिश्च। मैत्री सर्व सह मित्रभाव.। मानस्य गर्वस्य भजनमामर्दनं। गुरुजने च बहुमान पूजाविधान। तीर्थंकराणामाज्ञा पालिता भवति। गुणानुमोदश्च कृतो भवति। एते विनय-

---

आचारवृत्ति—विनय मोक्ष का द्वार है अर्थात् मोक्ष मे प्रवेश करानेवाला है। विनय से संयम होता है, विनय से तप होता है और विनय से ज्ञान होता है। विनय से आचार्य और सर्वसघ आराधित किये जाते हैं अर्थात् अपने ऊपर अनुग्रह करनेवाले हो जाते है।

गाथार्थ—विनय से आचार, जीव, कल्प आदि गुणो का उद्योतन होता है तथा आत्म-शुद्धि, निर्द्वंद्वता, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और आह्लादगुण प्रकट होते है ॥३८७॥

आचारवृत्ति—विनय से आचार के गुण, जीदप्रायश्चित्त और कल्पप्रायश्चित्त के गुण तथा उनमें कहे हुए का अनुष्ठान, इन गुणों का दीपन अर्थात् प्रकटन होता है। विनय से आत्म-शुद्धि अर्थात् आत्मा की कर्मों से निर्मुक्ति होती है, निर्द्वंद्व—कलह आदि का अभाव हो जाता है। आर्जव—स्वस्थता आती है, मृदु का भाव मार्दव अर्थात् माया और मान का निरसन हो जाता है, लघु का भाव लाघव—नि:संगपना होता है अर्थात् लोभ का अभाव हो जाने से भारीपन का अभाव हो जाता है। भक्ति—गुरु के प्रति भक्ति होने से गुरु सेवा भी होती है और विनय से प्रह्लादकरण—सभी में सुख का उत्पन्न करना आ जाता है। तात्पर्य यह है कि जो विनय करता है उसके उस विनय के द्वारा आचार जीद और कल्पविषयक जो गुण हैं वे उद्योतित होते हैं। आर्जव, मार्दव, लाघव, भक्ति और आह्लादकरण ये गुण विनय करनेवाले में प्रकट हो जाते हैं।

गाथार्थ—कीर्ति, मैत्री, मान का भंजन, गुरुजनों में बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन ये सब विनय के गुण हैं ॥३८८॥

आचारवृत्ति—विनय से सर्वव्यापी प्रताप और ख्याति रूप कीर्ति होती है। सभी के साथ मित्रता होती है, गर्व का मर्दन होता है, गुरुजनों में बहुमान अर्थात् पूजा या आदर मिलता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और गुणों की अनुमोदना की जाती है। ये सब विनय

गुणा भवन्तीति। विनयस्य कर्ता कीर्ति लभते। तथा मैत्रीं लभते। तथात्मनो मानं निरस्यति। गुरुजनेभ्यो बहुमानं लभते। तीर्थंकराणामाज्ञां च पालयति। गुणानुरागं च करोतीति ॥३८८॥

वैयावृत्यस्वरूपं निरूपयन्नाह—

आइरियादिसु पंचसु सबालवुड्ढाउलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए ॥३८९॥

आचार्योपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरेषु पचसु। बाला नवकप्रव्रजिताः। वृद्धा वयोवृद्धास्तपोवृद्धा गुणवृद्धास्तैराकुलो गच्छस्तथैव बालवृद्धाकुले गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने। वैयावृत्यमुक्तं यथोक्तं कर्तव्यं सर्वशक्त्या सर्वसामर्थ्येन उपकरणाहारभैषजपुस्तकादिभिरुपग्रहः कर्तव्य इति ॥३८९॥

पुनरपि विशेषार्थं श्लोकेनाह—

गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुब्बले।
साहुगण कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥३९०॥

गुणैरधिको गुणाधिकस्तस्मिन् गुणाधिके। उपाध्याये श्रुतगुरौ। तपस्विनि कायक्लेशपरे। शिक्षके

के गुण हैं। तात्पर्य यह है कि विनय करने वाला मुनि कीर्ति को प्राप्त होता है, सबसे मैत्री भाव को प्राप्त हो जाता है, अपने मान का अभाव करता है, गुरुजनों से बहुमान पाता है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करता है और गुणों में अनुराग करता है।

अब वैयावृत्य का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—आचार्य आदि पाँचों में, बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में वैयावृत्य को कहा गया है सो सर्वशक्ति से करनी चाहिए ॥३८९॥

आचारवृत्ति—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर ये पाँच हैं। नव-दीक्षित को बाल कहते हैं। वृद्ध से वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और गुणों से वृद्ध लिये गये हैं। सात पुरुष की परम्परा को अर्थात् सात पीढ़ी को गच्छ कहते हैं। इन आचार्य आदि पाँच प्रकार के साधुओं की तथा बाल, वृद्ध से व्याप्त ऐसे संघ की आगम में कथित प्रकार से सर्वशक्ति से वैयावृत्य करना चाहिए। अर्थात् अपनी सर्व समर्थ्य से उपकरण, आहार, औषधि, पुस्तक आदि से इनका उपकार करना चाहिए।

भावार्थ—तप और त्याग में आचार्यों ने शक्ति के अनुसार करना कहा है किन्तु वैयावृत्ति में सर्वशक्ति से करने का विधान है। इससे वैयावृत्ति के विशेष महत्त्व को सूचित किया गया है।

पुनरपि विशेष अर्थ के लिए आगे के श्लोक (गाथा) द्वारा कहते हैं—

गाथार्थ—गुणों से अधिक, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, साधुगण, कुल, संघ और मनोज्ञतासहित मुनियों पर आपत्ति के प्रसंग में वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३९०॥

आचारवृत्ति—गुणाधिक—अपनी अपेक्षा जो गुणों में बड़े हैं, उपाध्याय—श्रुतगुरु, तपस्वी कायक्लेश में तत्पर, शिक्षक—शास्त्र के शिक्षण में तत्पर, दुर्बल—दुःशील अर्थात् दुष्टपरिणाम-

शास्त्रशिक्षणतत्परे दुःशीले वा दुर्बले व्याध्याक्रान्ते वा। साधुगणे ऋषियतिमुन्यनगारेषु। कुले 'गुरुकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने। सघे चातुर्वर्ण्ये श्रवणसघे। समनोज्ञे सुखासीने सर्वोपद्रवरहिते। आपदि चोपद्रवे सजाते वैयावृत्य कर्तव्यमिति ॥३९०॥

कैः कृत्वा वैयावृत्यं कर्तव्यमित्याह—

सेज्जोग्गासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणा[2]हि उवग्गहिदे।
आहारोसहवायण विकिचणं वंदणादीहिं[3] ॥३९१॥

शय्यावकाशो वसतिकावकाशदान निषद्याऽऽसनादिक। उपधि. कुण्डिकादि। प्रतिलेखन पिच्छिकादि। इत्येतैरुपग्रह उपकार। अथवैतैरुपगृहीते स्वीकृते। तथाहारौषधवाचनाव्याख्यानविकिंचनमूत्रपुरीषादिव्युत्सर्गवन्दनादिभि। आहारेण भिक्षाचर्यया। औषधेन शुंठिपिप्पल्यादिकेन। शास्त्रव्याख्यानेन। च्युतमलनिर्हरणेन। वन्दनया च। शय्यावकाशेन निषद्ययोपधिना प्रतिलेखनेन च पूर्वोक्तानामुपकार. कर्तव्य। एतैस्ते प्रतिगृहीता आत्मीकृता भवन्तीति ॥३९१॥

केषु स्थानेषूपकार क्रियतेऽत आह—

वाले अथवा व्याधि से पीडित, साधुगण—ऋषि, यति, मुनि और अनगार, कुल—गुरुकुल-परम्परा, संघ—चतुर्विध श्रमण सघ, समनोज्ञ—सुख से आसीन या सर्वोपद्रव से रहित ऐसे साधुओ पर आपत्ति या उपद्रव के आने पर वैयावृत्ति करना चाहिए।

विशेष—यहाँ पर कुल का अर्थ गुरुकुल-परम्परा से है। तीन पीढ़ी की मुनिपरम्परा को कुल तथा सात पीढ़ी की मुनिपरम्परा को गच्छ कहते है। 'मूलाचार-प्रदीप' (अध्याय ७ गाथा ६८-६९) के अनुसार, जिस मुनि-संघ मे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणाधीश ये पाँच हों उस सघ की कुल सज्ञा है।

क्या करके वैयावृत्ति करना चाहिए ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—वसति, स्थान, आसन तथा उपकरण इनका प्रतिलेखन द्वारा उपकार करना, आहार, औषधि आदि से; मलादि दूर करने से और उनकी वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३९१॥

आचारवृत्ति—शय्यावकाश—मुनियो को वसतिका का दान देना, निषद्या—मुनियों को आसन आदि देना, उपधि—कमण्डलु आदि उपकरण देना, प्रतिलेखन—पिच्छिका आदि देना, इन कार्यों से मुनियों का उपकार करना चाहिए, अथवा इनके द्वारा उपकार करके उन्हे स्वीकार करना। आहारचर्या द्वारा, सोंठ पिप्पल आदि औषधि द्वारा, शास्त्र-व्याख्यान द्वारा, कदाचित् मल-मूत्र आदि च्युत होने पर उसे दूर करने द्वारा, और वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वसतिका-दान, आसनदान, उपकरण-दान प्रतिलेखन आदि के द्वारा पूर्वोक्त साधुओं का उपकार करना चाहिए। इन उपकारो से वे अपने किये जाते हैं।

किन स्थानो में उपकार करना ? सो ही बताते हैं—

---

१ क कुले गुरुकुले। 'कुले—गुरुकुले स्त्रीपुरुषसन्ताने' इति पाठान्तरम्। २ क 'णा उवग्गहिदो। ३ क 'दीणं।

अद्धाणतेसावदरायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्च वुत्तं संगहसारक्खणोवेदं ॥३६२॥

अध्वनि श्रान्तस्य। **स्तेनैश्चौरै**रुपद्रुतस्य। **श्वापदैः** सिंहव्याघ्रादिभि: परिभूतस्य। **राजभिः** खंचितस्य। **नदीरोधेन** पीडितस्य। **अशिवेन** मारिरोगादिव्यथितस्य। **ओमे**—दुर्भिक्षपीडितस्य। **वैयावृत्यमुक्तं संग्रहसारक्षणोपेतं**। तेषामागताना सग्रह कर्तव्यः। सगृहीतस्य रक्षण कर्तव्य। **अथचैव** सम्बन्ध. कर्तव्य:। एतेषु प्रदेशेषु सग्रहोपेत सारक्षणोपेत च वैयावृत्य कर्तव्यमिति। अथवा रोधशब्दाः प्रत्येक मभिसम्बध्यते। पथिरोधश्चौररोध: श्वापदरोध राजरोधो नदीरोध एतेषु रोधेषु तथा अशिवे दुर्भिक्षे च वैयावृत्य कर्तव्यमिति ॥३९४॥

स्वाध्यायस्वरूपमाह—

परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ ॥३६३॥

परिवर्तनं पठितस्य ग्रन्थस्यानुवेदन। **वाचना** शास्त्रस्य व्याख्यान। **पृच्छना** शास्त्रश्रवण। **अनुप्रेक्षा** द्वादशानुप्रेक्षाऽनित्यत्वादि। **धर्मकथा** त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितानि। स्तुतिर्मुनिदेववन्दना मगल इत्येव सयुक्तः

गाथार्थ—मार्ग, चोर, हिंस्रजन्तु, राजा, नदी का रोध और मारी के प्रसग में, दुर्भिक्ष मे, सारक्षण से सहित वैयावृत्ति करना चाहिए ॥३६२॥

आचारवृत्ति—मार्ग मे चलने से जो थक गये हैं, जिन पर चोरों ने उपद्रव किया है, सिंह-व्याघ्र आदि हिसक जन्तुओ से जिनको कष्ट हुआ है, राजा ने जिनको पीड़ा दी है, नदी की रुकावट से जिनको बाधा हुई है, अशिव अर्थात् मारी-रोग आदि से जो पीडित हैं, दुर्भिक्ष से पीड़ित है ऐसे साधु यदि अपने सघ मे आये है तो उनका सग्रह करना चाहिए। जिनका सग्रह किया है उनकी रक्षा करनी चाहिए। इसका ऐसा सम्बन्ध करना कि इन स्थानों में सग्रह से सहित और उनकी रक्षा से सहित वैयावृत्य करना चाहिए। अथवा रोध शब्द को प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे मार्ग मे जिन्हे रोका गया हो, चारो ने रोक लिया है, हिंस्र जन्तुओं ने रोक लिया हो, राजा ने रुकावट डाली हो, नदी से रुकावट हुई हो ऐसे रोध के प्रसग में, तथा दु:ख मे दुर्भिक्ष मे वैयावृत्ति करना चाहिए।

स्वाध्याय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति-मंगल सयुक्त पांच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए ॥३६३॥

आचारवृत्ति—पढ़े हुए ग्रन्थ को पुन पुनः पढ़ना या रटना परिवर्तन है। शास्त्र का व्याख्यान करना वाचना है। शास्त्र का श्रवण करना पृच्छना है। अनित्यत्व आदि बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओ का चितवन करना अनुप्रेक्षा है। त्रेसठ शलाकापुरुषों के चरित्र पढ़ना धर्मकथा है। स्तुति—मुनि वन्दना, देव-वन्दना और मंगल इनसे संयुक्त स्वाध्याय पांच प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि (१) परिवर्तन, (२) वाचना, (३) पृच्छना, (४) अनुप्रेक्षा

पंचप्रकारो भवति स्वाध्यायः । परिवर्तनमेको वाचना द्वितीयः पृच्छना तृतीयोऽनुप्रेक्षा चतुर्थो धर्मकथास्तुतिमंगलानि समुदितानि पंचमः प्रकारः । एवं पंचविधं स्वाध्यायः सम्यगुपयुक्तोऽनुष्ठेय इति ॥३६३॥

ध्यानस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि ।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ॥३६४॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानेन सहितं । एते द्वे ध्याने अप्रशस्ते नरकतिर्यग्गतिप्रापके । धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चैते द्वे प्रशस्ते देवगतिमुक्तिगतिप्रापके । इत्येवंविधानि ज्ञातव्यानि । एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति ॥३६५॥

आर्तध्यानस्य भेदानाह—

अमणुण्णजोगइट्ठविओगपरीसहणिदाणकरणेसु ।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण ॥३६५॥

अमनोज्ञेन ज्वरशूलशत्रुरोगादिना योगः सम्पर्कः । इष्टस्य पुत्रदुहितृमातृपितृबन्धुशिष्यादिकस्य वियोगोऽभावः । परीषहाः क्षुत्तृट्छीतोष्णादयः । निदानकरणं इहलोकपरलोकभोगविषयोऽभिलाषः । इत्येतेषु प्रदेशेष्वार्तमनःसंक्लेशः कषायसहितं ध्यानं भणितं समासेन संक्षेपतः । कदा ममानेनामनोज्ञेन वियोगो भविष्य-

---

और (५) समूहरूप धर्मकथा स्तुतिमंगल—इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करना चाहिए।

ध्यान का स्वरूप वर्णन करते है—

गाथार्थ—आर्त और रौद्र सहित दो ध्यान अप्रशस्त हैं। धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान हैं ऐसा जानना चाहिए ॥३६४॥

आचारवृत्ति—आर्तध्यान और रौद्र ध्यान ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं। ये नरकगति और तिर्यंचगति को प्राप्त करानेवाले हैं। धर्म ध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त है। ये देवगति और मुक्ति को प्राप्त करानेवाले है, ऐसा समझना। एकाग्रचिन्तानिरोध—एक विषय पर चिन्तन का रोक लेना यह ध्यान का लक्षण है।

आर्तध्यान के भेदो को कहते हैं—

गाथार्थ—अनिष्ट का योग, इष्ट का वियोग, परीषह और निदानकरण इनमें कषाय सहित जो ध्यान है वह संक्षेप से आर्तध्यान कहा गया है ॥३६५॥

आचारवृत्ति—अमनोज्ञयोग—ज्वर, शूल, शत्रु, रोग आदि का सम्पर्क होना, इष्ट-वियोग—पुत्र, पुत्री, माता, पिता, बन्धु, शिष्य आदि का वियोग होना, परिषह—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि बाधाओं का होना, निदान—इस लोक या परलोक में भोग-विषयों की अभिलाषा करना। इन स्थानों में जो आर्त अर्थात् मन का संक्लेश होता है वह कषाय सहित ध्यान आर्तध्यान कहलाता है। इनका वर्णन यहाँ संक्षेप से किया गया है। जैसे—कब मेरा इस अनिष्ट से वियोग होगा इस प्रकार से चिन्तन करना पहला आर्तध्यान है। इष्टजनों के साथ यदि मेरा

तीत्येवं चिन्तनमार्तध्यान प्रथम । इष्टै सह सर्वदा यदि मम सयोगो भवति वियोगो न कदाचिदपि स्यादेवं चिन्तनमार्तध्यान द्वितीय। क्षुत्तृट्छीतोष्णादिभिरहं व्यथितः कदैतेषा ममाभाव. स्यात्। कथ मयौदनादयो लभ्या येन मम क्षुधादयो न स्यु । कदा मम वेलाया प्राप्ति. स्यादेनाह भुजे पिबामि वा। हाकार पूत्कारं जलसेक च कुर्वतोऽपि न तेन मम प्रतीकार इति चिन्तनमार्तध्यान तृतीयमिति। इहलोके यदि मम पुत्राः स्युः परलोके यदहं देवो भवामि स्त्रीवस्त्रादिक मम स्यादित्येव चिन्तन चतुर्थमार्तध्यानमिति ॥३६५॥

रौद्रध्यानस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणिय समासेण ॥३६६॥

स्तैन्य परद्रव्यापहरणाभिप्राय । मृषाऽनृते तत्परता। सारक्षण यदि मदीय द्रव्य चोरयति तमहं निहन्मि, एवमायुधव्यग्रहस्तमारणाभिप्राय । स्तैन्यमृषावादसारक्षणेषु। तथा चैव षड्विधारम्भे पृथिव्यप्तजोवायुवनस्पतित्रसकायिकविराधने च्छेदनभेदनबधताडनदहनेषूद्यम रौद्र कषायसहित ध्यान भणित । समासेन सक्षेपेण। परद्रव्यहरणे तत्परता प्रथम रौद्र । परपीडाकरे मृषावादे यत्न द्वितीयं रौद्र । द्रव्यपशुपुत्रादिरक्षण-

---

सयोग होता है तो कदाचित् भी वियोग न होवे ऐसा चिन्तन होना दूसरा आर्तध्यान है। क्षुधा, तृषा, आदि के द्वारा मै पीडित हो रहा हूँ, मुझसे कब इनका अभाव होवे ? मुझे कैसे भात—भोजन आदि प्राप्त होवे कि जिससे मुझे क्षुधा आदि बाधाएँ न होवे ? कब मेरे आहार की बेला आवे कि जिससे मैं भोजन करूँ अथवा पानी पिऊँ ? हाहाकार या पूत्कार और जल-सिञ्चन आदि करते हुए भी उन बाधाओ से मेरा प्रतीकार नही हो रहा है अर्थात् घबराने से, हाय-हाय करने से, पानी छिडकने से भी प्यास आदि बाधाएँ दूर नही हो रही है इत्यादि प्रकार से चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्तध्यान है। इस लोक मे यदि मेरे पुत्र हो जावे, परलोक मे यदि मै देव हो जाऊँ तो ये स्त्री, वस्त्र आदि मुझे प्राप्त हो जावे इत्यादि चिन्तन करना चौथा आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते है—

गाथार्थ—चोरो, असत्य, परिग्रहसरक्षण और छह प्रकार की जीव हिसा के आरम्भ मे कषाय सहित होना रौद्रध्यान है, ऐसा सक्षेप से कहा है ॥३६६॥

आचारवृत्ति—स्तैन्य—परद्रव्य के हरण का अभिप्राय होना, मृषा—असत्य बोलने में तत्पर होना, सारक्षण- -यदि मेरा द्रव्य कोई चुरायेगा तो मैं उसे मार डालूंगा इस प्रकार से आयुध को हाथ में लेकर मारने का अभिप्राय करना, षड्विधारम्भ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवो की विराधना करने मे, इनका छेदन-भेदन करने मे, इनको बाँधने मे, इनका बध करने मे, इनका ताडन करने मे और इन्हे जला देने में उद्यम का होना अर्थात् इन जीवों को पीडा देने में उद्यत होना—कषाय सहित ऐसा ध्यान रौद्र कहलाता है। यहाँ पर इसका संक्षेप से कथन किया गया है।

तात्पर्य यह है कि परद्रव्य के हरण करने मे तत्पर होना प्रथम रौद्रध्यान है। पर को पीड़ा देनेवाले असत्य वचन के बोलने मे यत्न करना दूसरा रौद्रध्यान है। द्रव्य अर्थात् धन, पशु,

विषये चौरदायादिमारणोद्यमे यत्नस्तृतीय रौद्र । तथा षड्विधे जीवमारणारम्भे कृताभिप्रायश्चतुर्थं रौद्र-मिति ॥३९७॥ ततः—

अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभए सुग्गदीयपच्चूहे ।
धम्मे वा सुक्के वा होहि समण्णागदमदीओ ॥३९७॥

यत एवभूते आर्तरौद्रे । किंविशिष्टे, महाभये महासंसारभीतिदायिनि (नी) सुगतिप्रत्यूहे—देवगतिमोक्षगतिप्रतिकूले । अपहृत्य निराकृत्य । धर्मध्याने शुक्लध्याने वा भव सम्यग्विधानेन गतमति । धर्मध्याने शुक्लध्याने च सादरो सुष्ठु विशुद्ध मनो विधेहि समाहितमतिर्भवेति ॥३९७॥

धर्मध्यानभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि ।
आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च ॥३९८॥

एकाग्रेण पचेन्द्रियव्यापारपरित्यागेन कायिकवाचिकव्यापारविरहेण च । मनो मानसव्यापार ।

पुत्रादि के रक्षण के विषय मे, चोर, दायाद अर्थात् भागीदार आदि के मारने मे प्रयत्न करना यह तीसरा रौद्रध्यान है और छह प्रकार के जीवो के मारने के आरम्भ में अभिप्राय रखना यह चौथा रौद्रध्यान है ।

विशेष—इन्हीं ध्यानो के हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी ऐसे नाम भी अन्य ग्रन्थों मे पाये जाते है। जिसका अर्थ है हिसा मे आनन्द मानना, झूठ में आनन्द मानना, चोरी में आनन्द मानना और परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानना। यह ध्यान रुद्र अर्थात् क्रूर परिणामो से होता है। इसमें कषायों की तीव्रता रहती है अतः इसे रौद्रध्यान कहते है।

इसके बाद—क्या करना? सो कहते है—

गाथार्थ—सुगति के रोधक महाभयरूप इन आर्त, रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान मे अथवा शुक्लध्यान से एकाग्रबुद्धि करो ॥३९७॥

आचारवृत्ति—महासंसार भय को देनेवाले और देवगति तथा मोक्षगति के प्रतिकूल ऐसे इन आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोडकर धर्मध्यान शुक्लध्यान मे अच्छी तरह अपनी मति लगाओ। अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान मे आदर सहित होकर अच्छी तरह अपने विशुद्ध मन को लगाओ, उन्ही मे एकाग्रबुद्धि को करो।

धर्मध्यान के भेदो को कहते हैं—

गाथार्थ—एकाग्रता पूर्वक मनको रोककर उस धर्म का ध्यान करो जिसके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद है ॥३९८॥

आचारवृत्ति—पंचेन्द्रिय विषयो के व्यापार का त्याग करके और कायिक वाचिक व्यापार से भी रहित होकर, एकाग्रता से मानस-व्यापार को रोककर अर्थात् मनको अपने वश करके, चार प्रकार के धर्मध्यान का चिन्तवन करो। वे चार भेद कौन हैं? ऐसी आशंका होने

निरुध्यात्मवश कृत्वा । धर्मं चतुर्विध चतुर्भेद । ध्याय चिन्तय । के ते चत्वारो विकल्पा इत्याशंकायामाह—आज्ञाविचयोऽपायविचयो विपाकविचय सस्थानविचयश्चेति ॥३९८॥

तत्राज्ञाविचय विवृण्वन्नाह—

पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥३९९॥

पचास्तिकाया जीवास्तिकायोऽजीवास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायो वियदास्तिकाय इति तेषां प्रदेशबन्धोऽस्तीति कृत्वा काया इत्युच्यन्ते । षड्जीवनिकायश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसा । कालद्रव्य-मन्यत् । अस्य प्रदेशबन्धाभावादस्तिकायत्व नास्ति । एतानाज्ञाग्राह्यान् भावान् पदार्थान् । आज्ञाविचयेनाज्ञा-स्वरूपेण । विचिनोति विवेचयति ध्यायतीति यावत् । एते पदार्था सर्वज्ञनाथेन वीतरागेण प्रत्यक्षेण दृष्टा न कदाचिद् व्यभिचरन्तीत्यास्तिक्यबुद्धया तेषा पृथक्पृथग्विवेचनेनाज्ञाविचय । यद्यप्यात्मन प्रत्यक्षबलेन हेतुबलेन

पर कहते है—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय ये चार भेद धर्म-ध्यान के है।

भावार्थ—यहाँ एकाग्रचिन्तानिरोध लक्षणवाला ध्यान कहा गया है। पंचेन्द्रियों के विषय का छोडना और काय की तथा वचन की क्रिया नही करना 'एकाग्र' है, तथा मन का व्यापार रोकना चिन्तानिरोध है। इस प्रकार से ध्यान के लक्षण मे इन्द्रियो के विषय से हटकर तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से छूटकर जब मन अपने किसी ध्येय विषय में टिक जाता है, रुक जाता है, स्थिर हो जाता है उसी को ध्यान यह सज्ञा आती है।

गाथार्थ—उसमे से पहले आज्ञाविचय का वर्णन करते है—पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय और कालद्रव्य ये आज्ञा से ग्राह्य पदार्थ है। इनको आज्ञा के विचार से चिन्तवन करना है ॥३९९॥

आचारवृत्ति—जीवास्तिकाय, अजीवास्तिकाय, (पुद्गलास्तिकाय) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय है। इन पाँचो मे प्रदेश का बन्ध अर्थात् समूह विद्यमान है अत इन्हे काय कहते है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये षट्जीवनिकाय है। और अन्य—छठा कालद्रव्य है। इसमे प्रदेशबन्ध का अभाव होने से यह अस्तिकाय नही है। अर्थात् काल एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी कहलाता है इसलिए यह 'अस्ति' तो है किन्तु काय नही है। ये सभी पदार्थ जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से ग्रहण करने योग्य होने से आज्ञाग्राह्य है। आज्ञाविचय से अर्थात् आज्ञारूप से इनका विवेचन करना—ध्यान करना आज्ञा-विचय है।

तात्पर्य यह कि वीतराग सर्वज्ञदेव ने इन पदार्थों को प्रत्यक्ष से देखा है। ये कदाचित् भी व्यभिचरित नही होते है अर्थात् ये अन्यथा नही हो सकते है। इस प्रकार से आस्तिक्य बुद्धि के द्वारा उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करना, चिन्तवन करना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। यद्यपि ये पदार्थ स्वय को प्रत्यक्ष से या तर्क के द्वारा स्पष्ट नही हैं फिर भी सर्वज्ञ की आज्ञा के

वा न स्पष्टा तथापि सर्वज्ञाज्ञानिर्देशेन गृह्णाति नान्यथावादिनो जिना यत इति ॥३९९॥

अपायविचयं विवृण्वन्नाह—

कल्लाणपावगाओ पाए विचिणादि जिणमदमुविच्च ।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहे य ॥४००॥

कल्याणप्रापकान् पंचकल्याणानि यैः प्राप्यन्ते तान् प्राप्यान् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । विचिनोति ध्यायति । जिनमतमुपेत्य जैनागममाश्रित्य । विचिनोति वा ध्यायति वा । अपायान् कर्मापगमान् स्थितिखण्डानुभागखण्डानुत्कर्षापकर्षभेदान् । जीवाना सुखानि जीवप्रदेशसतर्पणानि । असुखानि दुःखानि चात्मनस्तु विचिनोति भावयतीति । एतैः कर्तव्यैर्जीवा दूरतो भवन्ति शासनात्, एतैस्तु शासनमुपढौकते, एतैः परिणामैः संसारे भ्रमन्ति जीवा., एतश्च ससाराद्विमुञ्चन्तीति चिन्तनमपायचिन्तन नाम द्वितीय धर्मध्यानमिति ॥४००॥

विपाकविचयस्वरूपमाह—

एगाणेयभवगयं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ।
उदओदीरणसंकमबंधं च विचिणादि ॥४०१॥

निर्देश से वह उनको ग्रहण करता है, क्योंकि 'नान्यथावादिनो जिना' जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नही है ।

अपायविचय का वर्णन करते है ।

गाथार्थ—जिनमत का आश्रय लेकर कल्याण को प्राप्त करानेवाले उपायो का चिन्तन करना अथवा जीवों के शुभ और अशुभ का चिन्तन करना अपायविचय है ॥४००॥

आचारवृत्ति—जिनके द्वारा पचकल्याणक प्राप्त किये जाते है वे सम्यग्दर्शन और चारित्र प्राप्य है अर्थात् उपायभूत है । जैनागम का आश्रय लेकर इनका ध्यान करना उपायविचय धर्म ध्यान है, क्योकि इसमें पंचकल्याणक आदि कल्याणको के प्राप्त करानेवाले उपायो का चिन्तन किया जाता है । इसी प्रकार अपाय अर्थात् स्थिति खडन, अनुभागखडन, उत्कर्षण और अपकर्षण रूप से कर्मों का अपाय—अपगम—अभाव का चिन्तवन करना यह अपायविचय धर्मध्यान है । जीव के प्रदेशों को सतर्पित करनेवाला सुख है और आत्मा के प्रदेशों में पीड़ा उत्पन्न करनेवाला दु.ख है । इस तरह से जीवो के सुख और दु ख का चिन्तवन करना । अर्थात् जीव इन कार्यों के द्वारा जिनशासन से दूर हो जाते है और इन शुभ कार्यो के द्वारा जिनशासन के निकट आते है, उसे प्राप्त कर लेते हैं । या इन परिणामो से ससार मे भ्रमण करते हैं और इन परिणामों से संसार से छूट जाते हैं । इस प्रकार से चिन्तवन करना यह अपायविचय नाम का दूसरा धर्मध्यान है ।

भावार्थ—कल्याण के लिए उपायभूत रत्नत्रय का चिन्तवन करना उपायविचय तथा कर्मों के अपाय—अभाव का चिन्तवन करना अपायविचय है ।

अब विपाकविचय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जीवों के एक और अनेक भव में होनेवाले पुण्य-पाप कर्म के फल को तथा

एकभवगतमनेकभवगत च जीवाना पुण्यकर्मफल पापकर्मफल च विचिनोति। उदय स्थितिक्षयेण गलन विचिनोति य कर्मस्कन्धा उत्कर्षापकर्षादिप्रयोगेण स्थितिक्षय प्राप्यात्मन. फल ददते तेषा कर्मस्कन्धानामुदय इति सज्ञा त ध्यायति। तथा चोदीरणमपक्वपाचन। ये कर्मस्कन्धा. सत्सु स्थित्यनुभागेषु अवस्थिता. सन्त आकृष्याकाले फलदा क्रियन्ते तेषा कर्मस्कन्धानामुदीरणमिति सज्ञा तद् ध्यायति। सक्रमण परप्रकृतिस्वरूपेण गमन विचिनोति। तथा बन्ध जीवकर्मप्रदेशान्योन्यसश्लेष ध्यायति। मोक्ष जीवकर्मप्रदेशविश्लेषमनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूप विचिनोतीति सम्बन्ध.। तथा शुभ प्रकृतीना गुडखण्डशर्करामृतस्वरूपेणानुभागचिन्तनम् अशुभप्रकृतीना निम्बकाजीरविषहालाहलस्वरूपेणानुभागचिन्तनम् तथा घातिकर्मणा लतादार्वस्थिशिलासमानानुचिंतन। नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिप्रापककर्मफलचिन्तन इत्येवमादिचिन्तनं विपाकविचयधर्म्यध्यान नामेति ॥४०१॥

सस्थानविचयस्वरूप विवृण्वन्नाह—

उड्ढमहतिरियलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थेव अणुगदाओ अणुपेक्खाओ य विचिणादि ॥४०२॥

कर्मों के उदय, उदीरणा, बन्ध और मोक्ष को जो ध्याता है उसके विपाकविचय धर्मध्यान होता है ॥४०१॥

आचारवृत्ति—मुनि विपाकविचय धर्म्यध्यान मे जीवो के एक भव मे होनेवाले या अनेक मे भव होनेवाले पुण्यकर्म के और पापकर्म के फल का चिन्तन करते है। कर्मों के उदय का विचार करते है। स्थिति के क्षय से गलन होना उदय है अर्थात् जो कर्मस्कन्ध उत्कर्षण या अपकर्षण आदि प्रयोग द्वारा स्थिति क्षय को प्राप्त करके आत्मा को फल देते है उन कर्मस्कन्धो की उदय यह सज्ञा है। वे जीवो के कर्मोदय का विचार करते है। अपक्वपाचन को उदीरणा कहते है अर्थात् जो कर्मस्कन्ध स्थिति और अनुभाग के अवशेष रहते हुए विद्यमान है उनको खीच करके जो अकाल मे ही उन्हे फल देनेवाला कर लेना है सो उदीरणा है अर्थात् प्रयोग के बल से अकाल मे ही कर्मों को उदयावली मे ले आना उदीरणा है। इसका ध्यान करते हैं। किसी प्रकृति का पर-प्रकृतिरूप से होना बन्ध हे। जीव और कर्म के प्रदेशो का पृथक्करण होकर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तमुख और अनन्तवीर्य स्वरूप को प्राप्त हो जाना मोक्ष है। इस सक्रमण का, बध और मोक्ष का चिन्तवन करते है।

उसी प्रकार से शुभ प्रकृतियो के गुड, खाड, और शर्करा अमृत रूप अनुभाग का चिन्तवन करना तथा अशुभ प्रकृतियो का नीम, काजीर, विष और हालाहलरूप अनुभाग का विचार करना तथा घातिकर्मों का लता, दारू, हड्डी और शिला के समान अनुभाग है ऐसा सोचना नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति को प्राप्त करानेवाले ऐसे कर्मों के फल का चिन्तन करना इत्यादि प्रकार से जो भी कर्मसम्बन्धी चिन्तन करना है। यह सब विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

सस्थानविचय का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—भेदसहित और आकार सहित ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्लोक का ध्यान करते है और इसी से सम्बन्धित द्वादश अनुप्रेक्षा का भी विचार करते हैं ॥४०२॥

ऊर्ध्वलोक सपर्यय सभेद ससंस्थानं त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तदीर्घायतमृदंगसंस्थान पटलेन्द्रकश्रेणीबद्धप्रकीर्णक-विमानभेदभिन्न विचिनोति ध्यायति। तथाधोलोक सपर्यय ससस्थान वेत्रासमाद्याकृति त्र्यस्रचतुरस्रवृत्तदीर्घा-यतादिसस्थानभेदभिन्न सप्तपृथिवीन्द्रकश्रेणिविश्रेणिबद्धप्रकीर्णकप्रस्तरस्वरूपेण स्थित शीतोष्णनारकसंहितं महा-वेदनारूप च विचिनोति। तथा तिर्यग्लोक सपर्ययं सभेद ससस्थान झल्लर्याकार मेरुकुलपर्वतादि ग्रामनगरपत्तन-भेदभिन्न पूर्वविदेहापरविदेहभरतैरावतभोगभूमिद्वीपसमुद्रवननदीवेदिकायतनकूटादिभेदभिन्नं दीर्घह्रस्ववृत्ताय-तत्र्यस्रचतुरस्रसस्थानसहित विचिनोति ध्यायतीति सम्बन्ध। अत्रैवानुगता अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षा विचि-नोति ॥४०२॥

कस्ता अनुप्रेक्षा इति नामानीति दर्शयन्नाह—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण ससारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चिंतिज्जो ॥४०३॥

अध्रुवमनित्यता। अशरणमनाश्रय। एकत्वमेकोऽह। अन्यत्व शरीरादन्योऽह। ससारश्चतुर्गति-संक्रमण। लोक ऊर्ध्वाधोमध्यवेत्रासनझल्लरीमृदगरूपश्चतुर्दशरज्ज्वायत। अशुचित्व। आस्रव कर्मास्रव।

आचारवृत्ति—ऊर्ध्वलोक पर्याय सहित अर्थात् भेदों सहित तथा आकार सहित—त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, दीर्घ, आयत और मृदग के आकारवाला है। इसमें पटलो मे इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमानो से अनेक भेद है। इसका मुनि ध्यान करते है। अधोलोक भी भेद सहित और वेत्रासन आदि आकार सहित है। त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, दीर्घ आदि आकार इसमे भी घटित होते है। इसमे सात पृथिवियाँ है। इन्द्रक, श्रेणी, विश्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक प्रस्तार है। कुछ नरकविल शीत है और कुछ उष्ण है। ये महावेदनारूप है इत्यादि का ध्यान करना। उसी प्रकार से तिर्यग्लोक भी नाना भेदो सहित और अनेक आकृतिवाला है, झल्लरी के समान है, मेरु पर्वत, कुलपर्वत आदि तथा ग्राम नगर पत्तन आदि से भेद सहित है। पूर्वविदेह, अपरविदेह, भरत, ऐरावत, भोगभूमि, द्वीप, समुद्र, वन, नदी, वेदिका, आयतन और कूटादि से युक्त है। दीर्घ, ह्रस्व, गोल, आयत, त्रिकोण, चतुष्कोण आकारों से सहित है। मुनि इसका भी ध्यान करते है। अर्थात् मुनि तीनो लोक सम्बन्धी जो कुछ आकार आदि का चिन्तवन करते हैं वह सब सस्थानविचय धर्मध्यान है। और इन्ही के अन्तर्गत द्वादश अनुप्रेक्षाओं का भी चिन्तवन करते है।

उन अनुप्रेक्षाओं के नाम बताते हैं—

गाथार्थ—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म, और बोधि इनका चिन्तवन करना चाहिए ॥४०३॥

आचारवृत्ति—अध्रुव—सभी वस्तुएँ अनित्य है। अशरण—कोई आश्रयभूत नहीं है। एकत्व—मै अकेला हूँ। अन्यत्व—मै शरीर से भिन्न हूँ। ससार—चतुर्गति में ससरण करना—भ्रमण करना ही ससार है। लोक—यह ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोक की अपेक्षा वेत्रासन, झल्लरी और मृदग के आकार का है और चौदह राजू ऊँचा है। अशुचि—शरीर अत्यन्त अपवित्र है। आस्रव—कर्मों का आना आस्रव है। संवर—महाव्रत आदि से आते हुए कर्म रुक

संवरो महाव्रतादिक । निर्जरा कर्मसातन । धर्मोऽपि दशप्रकार क्षमादिलक्षण. । बोधि च सम्यक्त्वसहिता भावना एता द्वादशानुप्रेक्षाश्चिन्तय । तत् एतच्चतुर्विध धर्मध्यान नामेति ॥४०३॥

शुक्लध्यानस्य स्वरूप भेदाश्च विवेचयन्नाह—

उवसंतो दु पुहुत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं ।
खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कवीचारं ॥४०४॥

उपशान्तकषायस्तु पृथक्त्वं ध्यायति ध्यान । द्रव्याण्यनेकभेदभिन्नानि त्रिभिर्योगैर्यतो ध्यायति तत. पृथक्त्वमित्युच्यते । वितर्क श्रुत यस्माद्वितर्केण श्रुतेन सह वर्तते यस्माच्च नवदशचतुर्दशपूर्वधरैरारभ्यते तस्मात्सवितर्क तत् । विचारोऽर्थव्यजनयोग (ग) सक्रमण । एकमर्थं त्यक्त्वार्थान्तर ध्यायति मनसा संचिन्त्य वचसा प्रवर्तते कायेन प्रवर्तते एव परपरेण संक्रमो योगाना द्रव्याणां व्यजनाना च स्थूलपर्यायाणामर्थाना सूक्ष्मपर्यायाणा वचनगोचरातीताना संक्रम सवीचार यानमिति । अस्य त्रिप्रकारस्य ध्यानस्योपशान्तकषाय. स्वामी।

जाते है। निर्जरा—कर्मों का झडना निर्जरा है। धर्म—उत्तम क्षमा आदि लक्षणरूप धर्म दशप्रकार का है। बोधि—सम्यक्त्व सहित भावना ही बोधि है। इस प्रकार से इन द्वादश अनुप्रेक्षाओ का चिन्तवन करना चाहिए।

शुक्ल ध्यान का स्वरूप और उसके भेदो को कहते है—

गाथार्थ—उपशान्तकषाय मुनि पृथक्त्व वितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान को ध्याते है। क्षीणकषाय मुनि एकत्व वितर्क अवीचार नामक ध्यान करते है ॥४०४॥

आचारवृत्ति—उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान को ध्याते है। जीवादि द्रव्य अनेक भेदो से सहित है, मुनि इनको मन, वचन और काय इन तीनो योगो के द्वारा ध्याते हैं। इसलिए इस ध्यान का पृथक्त्व यह सार्थक नाम है। श्रुत को वितर्क कहते है। वितर्क—श्रुत के साथ रहता है अर्थात् नवपूर्वधारी, दशपूर्वधारी या चतुर्दश पूर्वधरो के द्वारा प्रारम्भ किया जाता है इसलिए वह वितर्क कहलाता है। अर्थ, व्यजन और योगो के सक्रमण का नाम वीचार है अर्थात् जो एक अर्थ-पदार्थ को छोड़कर भिन्न अर्थ का ध्यान करता है, मन से चिन्तवन करके वचन से करता है, पुनः काययोग से ध्याता है। इस तरह परम्परा से योगो का सक्रमण होता है। अर्थात् द्रव्यो का सक्रमण होता है और व्यजन अर्थात् पर्यायो का सक्रमण होता है। पर्यायो में स्थूल पर्याये व्यजन पर्याय है और जो वचन के अगोचर सूक्ष्म पर्याय हैं वे अर्थ पर्याये कहलाती है। इनका सक्रमण इस ध्यान मे होता है इसलिए यह ध्यान वीचार सहित है। अत इसका सार्थक नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार है। इस ध्यान मे तीन प्रकार हो जाते है अर्थात् पृथक्त्व—नाना भेदरूप द्रव्य, वितर्क—श्रुत और वीचार—अर्थ व्यजन, योग का सक्रमण इन तीनो की अपेक्षा से यह ध्यान तीन प्रकार रूप है। इस ध्यान के स्वामी उपशान्तकषायी महामुनि है।

क्षीणकषायगुणस्थान वाले मुनि एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान को ध्याते है। वे एक द्रव्य को अथवा एक अर्थपर्याय को या एक व्यजन पर्याय को किसी एक योग के द्वारा ध्याते हैं, अत. यह ध्यान एकत्व कहलाता है। इसमे वितर्क-श्रुत पूर्वकथित ही है अर्थात् नव, दश या

तथा क्षीणकषायो ध्यायत्येकत्व वितर्कमवीचारं । एकं द्रव्यमेकार्थपर्यायमेकं व्यंजनपर्यायं च योगमेकेन ध्यायति तद्ध्यानमेकत्वं वितर्कः श्रुत पूर्वोक्तमेव, अवीचार अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिरहितं । अस्य त्रिप्रकारस्यैकत्व-वितर्कवीचारभेदभिन्नस्य क्षीणकषाय स्वामी ॥४०४॥

तृतीयचतुर्थशुक्लध्यानस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सुहुमकिरियं सजोगी झायदि झाणं च तदियसुक्कंतु ।
ज केवली अजोगी झायदि झाणं समुच्छिण्णं ॥४०५॥

सूक्ष्मक्रियामवितर्कमवीचार श्रुतावष्टम्भरहितमर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिवियुक्त सूक्ष्मकायक्रियाव्यव-स्थित तृतीय शुक्ल सयोगी ध्यायति ध्यानमिति । यत्केवल्ययोगी ध्यायति ध्यान तत्समुच्छिन्नमवितर्कमवि-

---

चतुर्दश पूर्वो के वेत्ता मुनि ही ध्याते है। अर्थ, व्यजन और योगों की संक्रांति से रहित होने से यह ध्यान अवीचार है। इसमे भी एकत्व, वितर्क और अवीचार ये तीन प्रकार होते है। इस तीन प्रकाररूप एकत्व, वितर्क, अवीचार ध्यान को करनेवाले क्षीणकषाय महामुनि ही इसके स्वामी है।

विशेषार्थ—यहाँ पर उपशान्तकषायवाले के प्रथम शुक्लध्यान और क्षीणकषाय-वाले के द्वितीय शुक्लध्यान माना है। अमृतचन्द्रसूरि ने भी 'तत्त्वार्थसार' मे कहा है—

'द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत्त्रिभिः ।
शान्तमोहस्ततो ह्येतत्पृथक्त्वमिति कीर्तितम् ॥४८॥
द्रव्यमेक तथैकेन योगेनान्यतरेण च ।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ॥४८॥

अभिप्राय यही है कि उपशान्तमोह मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्ल ध्यान को ध्याते है और क्षीणमोह मुनि एकत्ववितर्कवीचार को ध्याते हैं।

तृतीय और चतुर्थ शुक्लध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते है—

गाथार्थ—सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान सयोगी ध्याते है। जो अयोगी केवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न ध्यान है॥४०५॥

आचारवृत्ति—जो सूक्ष्मकाय क्रिया में व्यवस्थित है अर्थात् जिनमे काययोग की क्रिया भी सूक्ष्म हो चुकी है वह सूक्ष्मक्रिया ध्यान है। यह अवितर्क और अविचार है अर्थात् श्रुत के अवलम्बन से रहित है, अतः अवितर्क है और इसमें अर्थ, व्यंजन तथा योगों का सक्रमण नही है अतः यह अविचार है। ऐसे इस सूक्ष्मक्रिया नामक तृतीय शुक्लध्यान को सयोग केवली ध्याते हैं।

जिस ध्यान को अयोग केवली ध्याते हैं वह समुच्छिन्न है। वह अवितर्क, अविचार, अनिवृत्तिनिरुद्ध योग, अनुत्तर, शुक्ल और अविचल है, मणिशिखा के समान है। अर्थात् इस समुच्छिन्न ध्यान में श्रुत का अवलम्बन नही है अतः अवितर्क है। अर्थ व्यंजन योग की सक्राति भी नही है अतः अविचार है। सम्पूर्ण योगों का—काययोग का भी निरोध हो जाने से यह

चारमनिवृत्तिनिरुद्धयोगमपश्चिमं शुक्लमविचलं मणिशिखावत्। तस्य चतुर्थध्यानस्यायोगी स्वामी। यद्यप्यत्र मानसो व्यापारो नास्ति तथाप्युपचारक्रिया ध्यानमित्युपचर्यते। पूर्वप्रवृत्तिमपेक्ष्य घृतघटवत् पुंवेदवद्वेति ॥४०५॥

व्युत्सर्गनिरूपणायाह—

दुविहो य विउस्सग्गो अब्भंतर बाहिरो मुणेयव्वो।
अब्भंतर कोहादी बाहिर खेत्तादियं दव्वं ॥४०६॥

द्विविधो द्विप्रकारो व्युत्सर्ग परिग्रहपरित्यागोऽभ्यन्तरबाहिरो अभ्यन्तरो बाह्यश्च ज्ञातव्य । क्रोधादीना व्युत्सर्गोऽभ्यन्तर । क्षेत्रादिद्रव्यस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति ॥४०६॥

अभ्यन्तरस्य व्युत्सर्ग भेदप्रतिपादनार्थमाह—

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि यह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा ॥४०७॥

अनिवृत्तिनिरोध योग है। सभी ध्यानो में अन्तिम है इसमे उत्कृष्ट अब और कोई ध्यान नही रहा है अत यह अनुत्तर है। परिपूर्णतया स्वच्छ उज्ज्वल होने से शुक्लध्यान इसका नाम है। यह मणि के दीपक की शिखा के समान होने से पूर्णतया अविचल है। इस चतुर्थ ध्यान के स्वामी चौदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली है।

यद्यपि इन तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे मन का व्यापार नही है तो भी उपचार क्रिया से ध्यान का उपचार किया गया है। यह ध्यान का कथन पूर्व मे होनेवाले ध्यान की प्रवृत्ति की अपेक्षा करके कहा गया है, जैसे कि पहले घडे मे घी रखा था पुन उस घड़े से घी निकाल देने के बाद भी उसे घी का घडा कह देते है अथवा पुरुषवेद का उदय नवमे गुणस्थान मे समाप्त हो गया है फिर भी पूर्व की अपेक्षा वेद से मोक्ष की प्राप्ति कह देते हैं।

भावार्थ—इन सयोगी और अयोग केवली के मन का व्यापार न होने से इनमे 'एकाग्र-चिन्ता निरोधो ध्यान' यह ध्यान का लक्षण नही पाया जाता है। फिर भी कर्मों का नाश होना यह ध्यान का कार्य देखा जाता है अतएव वहाँ पर उपचार से ध्यान माना जाता है।

अब अन्तिम व्युत्सर्ग तप का निरूपण करते है—

गाथार्थ—आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से व्युत्सर्ग दो प्रकार जानना चाहिए। क्रोध-आदि अभ्यन्तर है और क्षेत्र आदि द्रव्य बाह्य है ॥४०६॥

आचारवृत्ति—परिग्रह का परित्याग करना व्युत्सर्ग तप है। वह दो प्रकार का है—अभ्यन्तर और बाह्य। क्रोधादि अभ्यन्तर परिग्रह है, इनका परित्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। क्षेत्र आदि बाह्य द्रव्य का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग हैं।

अभ्यन्तर व्युत्सर्ग का वर्णन करते है—

गाथार्थ—मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य आदि छह दोष और चार कषाये ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं ॥४०७॥

मिथ्यात्वं । स्त्रीपुनपुंसकवेदास्त्रयः । रागा हास्यादयः षट् दोषा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः चत्वारस्तथा कषाया क्रोधमानमायालोभाः । एते चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था । एतेषां परित्यागोऽभ्यन्तरो व्युत्सर्ग इति ॥४०७॥

बाह्यव्युत्सर्गभेद प्रतिपादनार्थमाह—

खेत्तं वत्थुं धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च ।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति ॥४०८॥

क्षेत्र सस्यादिनिष्पत्तिस्थान । वास्तु गृहप्रासादादिक । धनगत सुवर्णरूप्यद्रव्यादि । धान्यगत शालियवगोधूमादिक द्विपदा दासीदासादय । चतुष्पदगत गोमहिष्याजादिगत । यान शयनमासन । कुप्य कार्पासादिक । भाण्ड हिंगुमरीचादिक । एवं बाह्यपरिग्रहो दशप्रकारस्तस्य त्यागो बाह्यो व्युत्सर्ग इति ॥४०८॥

द्वादशविधस्यापि तपस स्वाध्यायोऽधिक इत्याह—

बारसविधह्मिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥४०९॥*

द्वादशविधस्यापि तपस सबाह्याभ्यन्तरे कुशलदृष्टे सर्वज्ञगणधरादिप्रतिपादिते नाप्यस्ति नापि च

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह हैं। इनका परित्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

बाह्य व्युत्सर्ग भेद का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन-आसन, कुप्य और भांड ये दश परिग्रह होते है ॥४०८॥

आचारवृत्ति—धान्य आदि की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र—खेत कहते हैं। घर, महल आदि वास्तु हैं। सोना, चाँदी आदि द्रव्य धन है। शालि, जौ, गेहूं आदि धान्य है। दासी, दास आदि द्विपद है। गाय, भैंस, बकरी आदि चतुष्पद है। वाहन आदि यान है। पलंग, सिंहासन आदि शयन-आसन हैं। कपास आदि कुप्य कहलाते है और हींग, मिर्च आदि को भांड कहते हैं। ये बाह्य परिग्रह दश प्रकार के है, इनका त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है।

बारह प्रकार के तप मे भी स्वाध्याय सबसे श्रेष्ठ है ऐसा निरूपण करते है—

गाथार्थ—कुशल महापुरुष के द्वारा देखे गये अभ्यन्तर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के भी तप में स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न है और न ही होगा ॥४०९॥

आचारवृत्ति—सर्वज्ञ देव और गणधर आदि के द्वारा प्रतिपादित इन बाह्य और

---

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार मे यह गाथा बदली हुई है—

कोहो माणो माया लोहो रागो तहेव दोसो य ।
मिच्छत्तवेदरतिअरदि हाससोगभयदुगुंछा य ॥

भविष्यति स्वाध्यायसमान तप कर्म । द्वादशविधेऽपि तपसि मध्ये स्वाध्यायसमान तपोनुष्ठानं न भवति न भविष्यति ॥४०६॥

सज्झायं कुव्वतो पंचेदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एग्रग्गमणो विणएण समाहिम्रो भिक्खू ॥४१०॥*

स्वाध्याय कुर्वन् पचेन्द्रियसवृत त्रिगुप्तश्चेन्द्रियव्यापाररहितो मनोवाक्कायगुप्तश्च, भवत्येकाग्रमना शास्त्रार्थतन्निष्ठो विनयेन समाहितो विनययुक्तो भिक्षु साधु । स्वाध्यायस्य माहात्म्य दर्शितमाभ्या गाथाभ्यामिति ॥४१०॥

तपोविधानक्रममाह—

सिद्धिप्पासादवदंसयस्स करण चदुव्विहं होदि ।
दव्वे खेत्ते काले भावे वि य आणुपुव्वीए ॥४११॥

तस्य द्वादशविधस्यापि तपस किंविशिष्टस्य, सिद्धिप्रासादावतसकस्य मोक्षगृहकर्णपूरस्य मण्डनस्याथवा सिद्धिप्रासादप्रवेशकस्य करणमनुष्ठान चतुर्विध भवति । द्रव्यमाहारशरीरादिक । क्षेत्रमनूपमरुजागलादिक स्निग्धरूक्षवातपित्तश्लेष्मप्रकोपक। काल शीतोष्णवर्षादिरूप । भाव (व) परिणामश्चित्तसक्लेश ।

अभ्यन्तर रूप बारह प्रकार के तपो मे भी स्वाध्याय के समान न कोई अन्य तप है ही और न ही होगा । अर्थात् बारह प्रकार के तपों मे स्वाध्याय तप सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

गाथार्थ—विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पचेन्द्रिय से सवृत्त और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्रमनवाला हो जाता है ॥४१०॥

आचारवृत्ति—जो मुनि विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करते है वे उस समय स्वाध्याय को करते हुए पचेन्द्रियो के विषय व्यापार से रहित हो जाते है और मन-वचन-कायरूप तीन गुप्ति से सहित हो जाते है । तथा शास्त्र पढ़ने और उसके अर्थ के चिन्तन में तल्लीन होने से एकाग्रचित्त हो जाते है । इन दो गाथाओ के द्वारा स्वाध्याय का माहात्म्य दिखलाया है ।

तप के विधान का क्रम बतलाते हैं—

गाथार्थ—मोक्षमहल के भूषणरूप तप के करण चार प्रकार के है जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप क्रम से है ॥४११॥

आचारवृत्ति—यह जो बारह प्रकार तप है वह सिद्धिप्रासाद का भूषण है, मोक्षमहल का कर्णफूल है अर्थात् मोक्षमहल का मडनरूप है । अथवा मोक्षमहल में प्रवेश करने का साधन है । ऐसा यह तपश्चरण का अनुष्ठान चार प्रकार का है अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारो का आश्रय लेकर यह तप होता है। आहार और शरीर आदि को द्रव्य कहते हैं । अनूप—जहाँ पानी बहुत पाया जाता है, मरु—जहाँ पानी बहुत कम है, जागल—जलरहित प्रदेश, ये स्थान स्निग्ध रूक्ष है एव वात, पित्त या कफ को बढानेवाले हैं । ये सब क्षेत्र कहलाते हैं । शीत, ऊष्ण, वर्षा आदि रूप काल होता है, और चित्त के सक्लेश आदि रूप परिणाम को

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित कृति मे नही है।

द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य तपः कुर्यात् । यथा वातपित्तश्लेष्मविकारो न भवति । आनुपूर्व्यानुक्रमेण क्रमं त्यक्त्वा यदि तपः करोति चित्तसक्लेशो भवति सक्लेशाच्च कर्मबन्ध. स्यादिति ॥४११॥

तपोऽधिकारमुपसहरन् वीर्या सूचयन्नाह—

अब्भंतरसोहणओ एसो अब्भतरो तओ भणिओ ।
एत्तो विरियाचारं समासओ वण्णइस्सामि ॥४१२॥

अभ्यन्तरशोधनकमेतदभ्यन्तरतपो भणित भावशोधनार्थंतत्तप. तथा बाह्यमप्युक्त। इत ऊर्ध्वं वीर्याचार वर्णयिष्यामि सक्षेपत इति ॥४१२॥

भाव कहते हैं । अपनी प्रकृति आदि के अनुकूल इन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देखकर तपश्चरण करना चाहिए। जिस प्रकार से वात, पित्त या कफ का विकार उत्पन्न न हो, अनुक्रम से ऐसा ही तप करना चाहिए। यदि मुनि क्रम का उलल्घन करके तप करते है तो चित्त मे सक्लेश हो जाता है और चित्त में संक्लेश के होने से कर्म का बन्ध होता है ।

भावार्थ—जिस आहार आदि द्रव्य से वात आदि विकार उत्पन्न न हो, वैसा आहार आदि लेकर पुन· उपवास आदि करना चाहिए । किसी देश में वात प्रकोप हो जाता है, किसी देश मे पित्त का या किसी देश में कफ का प्रकोप बढ जाता है ऐसे क्षेत्र को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल देखकर ही तपश्चरण करना चाहिए । जैसे, जो उष्ण प्रदेश है वहाँ पर उपवास अधिक होने से पित्त का प्रकोप हो सकता है । ऐसे ही शीत काल, ऊष्णकाल, और वर्षा काल मे भी अपने स्वास्थ्य को सभालते हुए तपश्चरण करना चाहिए । सभी ऋतुओ मे समान उपवास आदि से वात,पित्त आदि विकार बढ़ सकते है। तथा जिस प्रकार से परिणामो में सक्लेश न हो इतना ही तप करना चाहिए। इस तरह सारी बाते ध्यान मे रखते हुए तपश्चरण करने से कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की सिद्धि होती है। अन्यथा, परिणामो मे क्लेश हो जाने से कर्म बन्ध जाता है । यहाँ इतना ध्यान मे रखना आवश्यक है कि प्रारम्भ मे उपवास, कायक्लेश आदि को करने में परिणामों मे कुछ क्लेश हो सकता है। किन्तु अभ्यास के समय उससे घबराना नहीं चाहिए। धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ाते रहने से बड़े-बडे उपवास और कायक्लेश आदि सहज होने लगते हैं।

अब तप आचार के अधिकार का उपसहार करते हुए और वीर्याचार को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—अन्तरंग को शुद्ध करनेवाला यह अन्तरंग तप कहा गया है। इसके बाद संक्षप से वीर्याचार का वर्णन करूँगा ॥४१२॥

आचारवृत्ति—भावों को शुद्ध करने के लिए यह अभ्यन्तर तप कहा गया है और इसकी सिद्धि के लिए बाह्य तप को भी कहा है। अब इसके बाद मैं वीर्याचार को थोड़े रूप में कहूँगा।

अणुगूहियबलविरिओ परिक्कमदि जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारोत्ति णादव्वो ॥४१३॥*

अनुगूहितबलवीर्य अनिगूहितमसवृतमपह्नुत बलमाहारौषधादिकृतसामर्थ्यं, वीर्य वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनित सहननापेक्ष स्थामशरीरावयवकरणचरणजघोरुकटिस्कन्धादिघनघटितबन्धापेक्ष । अनिगूहिते बलवीर्ये येनासावनिगूहितबलवीर्य । पराक्रमते चेष्टते समुत्सहते यो यथोक्त तपश्चारित्र त्रिविधानुमतिरहित सप्तदशप्रकारसयमविधान प्राणसयम तथेन्द्रियसयम चैतद्यथोक्त । अनिगूहितबलवीर्यो य कुरुते युनक्ति चात्मान यथास्थान यथाशरीरावयवाष्टभ य स वीर्याचार इति ज्ञातव्यो भेदात् । अथवा तस्य वीर्याचारो ज्ञातव्य इति ॥४१३॥

त्रिविधानुमतिपरिहारो यथोक्तमित्युक्तस्तथा सप्तदशप्रकार प्राणसयमनमिन्द्रियसयमन च यथोक्तमित्युक्त । तत्र का त्रिविधानुमति कश्च सप्तदशप्रकार प्राणसयम को वेन्द्रियसयम इति पृष्टे उत्तरमाह—

पडिसेवा पडिसुणणं संवासो चेव अणुमदी तिविहा।
उद्दिट्ठं जदि भुंजदि भोगदि य होदि पडिसेवा ॥४१४॥

गाथार्थ—अपने बल वीर्य को न छिपाकर जो मुनि यथोक्त तप मे यथास्थान अपनी आत्मा को लगाता है उसे वीर्याचार जानना चाहिए ॥४१३॥

आचारवृत्ति—आहार तथा औषधि आदि से होनेवाली सामर्थ्य को बल कहते हैं। जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और सहनन की अपेक्षा रखता है तथा स्वस्थ शरीर के अवयव—हाथ, पैर, जघा, घुटने, कमर, कधे आदि को मजबूत बन्धन की भी अपेक्षा से सहित है वह वीर्य है। जो मुनि अपने बल और वीर्य को छिपाते नही हैं, वे ही उपर्युक्त तपश्चरण मे उत्साह करते है। तीन प्रकार की अनुमति से रहित, आगम मे कथित सत्रह प्रकार के सयम—प्राणी सयम तथा इन्द्रिय सयम को पालते है। तात्पर्य यह है कि जो साधु अपने बल वीर्य को नही छिपाते है, वे अपने शरीर अवयव के अवलम्बन से यथायोग्य आगमोक्त चारित्र मे अपनी आत्मा को लगाते है वही उनका वीर्याचार कहलाता है।

जो आपने तीन प्रकार की अनुमति का परिहार कहा है, तथा सत्रह प्रकार का सयम प्राण सयम और इन्द्रिय सयम कहा है उनमे से तीन प्रकार की अनुमति क्या है? तथा सत्रह प्रकार का प्राणसयम क्या है? अथवा इन्द्रिय सयम क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते है—

गाथार्थ—प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण, और सवास इस प्रकार अनुमति तीन प्रकार की है। यदि उद्दिष्ट भोजन और उपकरण आदि सेवन करता है तो उसके प्रतिसेवा होती है ॥४१४॥

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

बलवीरियसत्तिपरक्कमधिदिबलमिदि पंचधा उत्तं।
तेसिं तु जहाजोग्गं आचरणं वीरियाचारो ॥

अर्थात् बल, वीर्य, शक्ति, पराक्रम और धृतिबल ये पाँच प्रकार कहे गये हैं। इनके आश्रय से जो यथायोग्य आचरण किया जाता है उसे वीर्याचार कहते है।

प्रतिसेवा प्रतिश्रवण संवासश्चैवानुमतिस्त्रिविधा । अथ किं प्रतिसेवाया लक्षण ? आह—उद्दिष्ट दात्रा पात्रमुद्दिश्यं पात्राभिप्रायेणाहारादिकमुपकरणादिक चोपनीत तदानीतमाहारादिकं यदि भुक्तेऽनुभवति । उपकरणादिक च प्रासुकमानीत दृष्ट्वा भोगयति सेवते यदि तदा तस्य पात्रस्य प्रतिसेवानामानुमतिभेद: स्यात् ॥४१४॥ तथा—

उद्दिट्ठं जदि विचरदि पुव्वं पच्छा व होदि पडिसुणणा ।
सावज्जसंकिलिट्ठो ममत्तिभावो दु संवासो ॥४१५॥

पूर्वमेवोपदिष्ट यावत्तद्वस्तु न गृह्णाति साधुस्तावदेव पूर्वं प्रतिपादयति दाता, भवतो निमित्त मया संस्कृतमाहारादिक प्रासुकमुपकरण वा तद्भवान् गृह्णातु । एव पूर्वमेव श्रुत्वा यदि विचरति गृह्णाति । अथवा दत्वाहारादिकमुपकरण पश्चान्निवेदयति युष्मन्निमित्त मया सस्कृत तद्भवद्भिर्गृहीत अद्य मे संतोष सजात. इति श्रुत्वा तूष्णीभावेन सन्तोषेण वा तिष्ठति तदा तस्य प्रतिश्रवणानामानुमतिभेदो द्वितीय स्यादिति । तथा सावद्यसंक्लिष्टो योऽय ममत्वभाव स सवास । गृहस्थै सह सवसति ममेदमिति भावं च करोत्याहाराद्युपकरण-निमित्त सर्वदा सक्लिष्ट: सन् संवासनामानुमतिभेदस्तृतीय एव त्रिप्रकारामनुमतिं कुर्वता यथोक्त नाचरित

आचारवृत्ति—प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण और संवास मे तीन प्रकार की अनुमति है। प्रतिसेवा का क्या लक्षण है? दाता यदि पात्र का उद्देश्य करके अर्थात् पात्र के अभिप्राय से जो आहार आदि और उपकरण आदि बनाता है या लाता है और पात्र यदि उस आहार आदि को ग्रहण करता है । तथा लाये गये उपकरण आदि को प्रासुक समझकर यदि सेवन करता है तब उस पात्र के प्रतिसेवा नाम का अनुमति दोष होता है । तथा—

गाथार्थ—पूर्व मे कथित उद्दिष्ट को अथवा बाद मे कथित को यदि मुनि ग्रहण करता है तो प्रतिश्रवणा दोष होता है। इसी प्रकार सावद्य से सक्लिष्ट ममत्व भाव सवास दोष है॥४१५॥

आचारवृत्ति—पूर्व मे उपदिष्ट वस्तु जब तक साधु ग्रहण नही करता है उसके पहले ही आकर यदि दाता कह देता है कि आपके निमित्त मैने यह प्रासुक आहार आदि अथवा उप-करण आदि बनाये है, इनको आप ग्रहण कीजिये और साधु पूर्व मे ही ऐसा सुनकर यदि उस आहार को अथवा उपकरण आदि को ग्रहण कर लेता है अथवा यदि दाता आहार या उपकरण आदि देकर के पश्चात् निवेदन करता है कि आपके निमित्त मैंने यह बनवाया था आपने उसे ग्रहण कर लिया इसलिए आज मुझे बहुत ही सतोष हो गया, ऐसा सुनकर यदि मुनि मौन से या सतोष से रह जाते हैं तब उनके प्रतिश्रवण नाम का दूसरा अनुमति दोष होता है ।

उसी प्रकार से जो यह सावद्य से संक्लिष्ट ममत्व भाव है वह संवास कहलाता है । जो मुनि गृहस्थो के साथ सवासं करता है और आहार तथा उपकरण आदि के निमित्त हमेशा सक्लिष्ट होता हुआ 'यह मेरा है' ऐसा भाव करता है उसके सवास नाम का तीसरा अनुमति दोष होता है ।

इस प्रकार की अनुमति को करते हुए आगमोक्त चारित्र का जिन्होंने आचरण नही किया है और जिन्होने अपने बल-वीर्य को छिपा रखा है उन मुनि ने वीर्याचार का अनुष्ठान

बलवीर्यं चावगूहित तेन वीर्याचारो नानुष्ठित· स्यात्तस्मात् सानुमतिस्त्रिप्रकारापि त्याज्या वीर्याचार-मनुष्ठतेति ॥४१५॥

सप्तदशप्रकारसयम प्रतिपादयन्नाह—

पुढविदगतेउवाऊवणप्फदीसंजमो य बोधव्वो ।
वि गतिगचदुपंचेंदिय अजीवकायेसु संजमणं ॥४१६॥

पृथव्युदकतेजोवायुवनस्पतिकायिकाना सयमन रक्षण सयमो ज्ञातव्य । तथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपचेन्द्रियाणा सयमन रक्षण सयम । अजीवकायाना शुष्कतृणादीनामच्छेदन । कायभेदेन पचप्रकार. सयमस्त्रसभेदेन चतुर्विधोऽजीवरक्षणेन चैकविध इति दशप्रकार सयम ॥४१६॥ तथा—

अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेखुअवहट्टु संजमो चेव ।
मणवयणकायसंजम सत्तरसविहो दु णादव्वो ॥४१७॥

अप्रतिलेखश्चक्षुषा पिच्छिकया वा द्रव्यस्य द्रव्यस्थानस्याप्रतिलेखनमदर्शन तस्य सयमन दर्शनं प्रतिलेखन वा प्रतिलेखसयम । दु प्रतिलेखो दुष्ठुप्रमार्जन जीवघातमर्दनादिकारक तस्य सयमन यत्नेन प्रति-

---

नही किया है ऐसा समझना । इसलिए वीर्याचार का अनुष्ठान करनेवाले आचार्यों को इन तीनो प्रकार की अनुमति का त्याग कर देना चाहिए ।

सत्रह प्रकार के सयम का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इनका सयम जानना चाहिए और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय तथा अजीव कायो का सयम करना चाहिए ॥४१६॥

आचारवृत्ति—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति इन पाँच प्रकार के स्थावर कायिक जीवों का सयमन अर्थात् रक्षण करना, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय इन चार प्रकार के त्रसकायिक जीवो का रक्षण करना तथा सूखे तृण आदि अजीव कायो का छेदन करना—इस प्रकार से पाँच स्थावरकाय, चार त्रसकाय और एक अजीव काय इनके रक्षण से यह दश प्रकार का सयम होता है । तथा—

गाथार्थ—अप्रतिलेख, दुष्प्रतिलेख, उपेक्षा और अपहरण इनमे सयम करना तथा मन-वचन-काय का सयम ऐसे सत्रह प्रकार का सयम जानना चाहिए ॥४१७॥

आचारवृत्ति—चक्षु के द्वारा अथवा पिच्छिका से द्रव्य का और द्रव्य स्थान का प्रति लेखन नहीं करना अप्रतिलेख है । तथा शास्त्र आदि वस्तु को चक्षु से देखकर, उनका और उनके स्थानों का पिच्छी के द्वारा प्रतिलेखन करना प्रतिलेख सयम कहलाता है । इन शास्त्रादि द्रव्य का और उनके स्थानो का ठीक से प्रमार्जन नही करना अर्थात् जीव घात या मर्दन आदि करनेवाला प्रमार्जन करना दुष्प्रतिलेख है । किन्तु उसका सयम करना, ठीक से प्रमार्जन करना, यत्नपूर्वक प्रमाद के बिना प्रतिलेखन करना दुष्प्रतिलेख का सयम हो जाता है । उपकरण आदि को किसी जगह स्थापित करके पुन कालान्तर मे भी उन्हें नही देखना अथवा

लेखनं जीवप्रमादमंतरेण दुष्प्रतिलेखसंयमः। उपेक्षोपेक्षणं—उपकरणादिकं व्यवस्थाप्य पुनः कालान्तरेणाप्य-दर्शनं जीवसम्मूर्छनादिकं दृष्ट्वा उपेक्षण तस्या उपेक्षाया सयमन दिनं प्रति निरीक्षणमुपेक्षासयम.। अवहट्टु—अपहरणमपनयन [1]पचेन्द्रियद्वीन्द्रियादीनामपनयनमुपकरणेभ्योऽन्यत्र संक्षेपणमुपवर्तन तस्य संयम (मः) निराकरण उदरकृम्यादिकस्य वा निराकरणमपहरण सयम। एव चतुर्विध सयमः। तथा मनस. संयमन वचनस्य सयमन कायस्य संयमन मनोवचनकायसयमस्त्रिप्रकारः। एव पूर्वान् दशभेदानिमाश्च सप्तभेदान् गृहीत्वा, सप्तदशप्रकार सयम प्राणसयम। अस्य रक्षणेन यथोक्तमाचरित भवति ॥४१७॥

तथेन्द्रियसयम प्रतिपादयन्नाह—

पंचरसपंचवण्णा दो गंधे[2] अट्ठ फास सत्त सरा।
मणसा चोद्दसजीवा इन्दियपाणा य संजमो णेओ ॥४१८॥*

पच रसास्तिक्तकषायाम्लकटुकमधुरा रसनेन्द्रियविषयाः। पचवर्णा. कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लाश्चक्षु-

---

उनमे समूर्च्छन आदि जीवो को देखकर उपेक्षा कर देना यह सब उपेक्षा नाम का असंयम है। किन्तु इस उपेक्षा का सयम करके प्रतिदिन उन वस्तुओ का निरीक्षण करना, पिच्छिका से उनका परिमार्जन करना उपेक्षा सयम है। अपहरण करना अर्थात् उपकरणों से द्वीन्द्रिय, पचेन्द्रिय आदि जीवो को दूर करना, उन्हे निकालकर अन्यत्र क्षेपण करना अर्थात् उनकी रक्षा का ध्यान नहीं रखकर, उन्हे कही भी डाल देना यह अपहरण नाम का असयम है। किन्तु ऐसा न करके उन्हे सुरक्षित स्थान पर डालना यह सयम है। अथवा उदर के कृमि आदि का निराकरण करना अपहरण सयम है। इस तरह यह चार प्रकार का सयम हो जाता है।

तथा—मन को सयमित करना, वचन को सयमित करना और काय को सयमित करना यह तीन प्रकार का सयम है।

इस तरह पूर्व के दश भदों को और इन सात भेदो को मिलाने से सत्रह प्रकार का प्राण सयम हो जाता है। इनके रक्षण से आगमोक्त आचारण होता है।

भावार्थ—अप्रतिलेख सयम, दुष्प्रतिलेख सयम, उपेक्षा सयम, अपहरण सयम, मनः-संयम, वचन संयम और कय सयम ये सात सयम हैं।

अब इन्द्रिय सयम का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—पांच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श, सात स्वर, और मन का विषय तथा चौदह जीव समास ये इन्द्रिय सयम और प्राण सयम हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥४१८॥

आचारवृत्ति—तिक्त, कषाय, अम्ल, कटुक और मधुर ये पाँच रस हैं, चूंकि ये रसना इन्द्रिय के विषय हैं। कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल ये पाँच वर्ण है ये चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध है ये घ्राणेन्द्रिय के विषय है। स्निग्ध, रूक्ष, कर्कश, मृदु, शीत,

---

१ क एकेन्द्रिय'। २ क व 'गधा

*निम्नलिखित चार गाथाएँ फलटन से प्रकाशित संस्करण मे अधिक हैं—

जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

रिन्द्रियविषया । द्वौ गधौ सुगधदुर्गंधौ घ्राणेंद्रियविषयौ । अष्टौ स्पर्शा. स्निग्धरूक्षकर्कशमृदुशीतोष्णलघुगुरुकाः स्पर्शनेन्द्रियविषया । सप्तस्वरा षड्गर्षभगान्धारमध्यमपचमधैवतनिषादा श्रोत्रेन्द्रियविषयाः । एतेषां मनसा सहाष्टाविंशतिभेदभिन्नाना सयमनमात्मविषयनिरोधन सयमः । मनसो नोइंद्रियस्व सयम । तथा चतुर्दशजीव-समासाना रक्षण प्राणसयमः । एवमिन्द्रियसयम. प्राणसयमश्च ज्ञातव्यो यथोक्तमनुष्ठेय इति ॥४१८॥

पचाचारमुपसहरन्नाह—

दसणणाणचरित्ते तव विरियाचारणिग्गहसमत्थो ।
अत्ताणं जो समणो गच्छदि सिद्धि धुदकिलेसो ॥४१९॥

उष्ण, लघु और गुरु ये आठ स्पर्श है, ये स्पर्शन इन्द्रिय के विषय है। षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर है, ये कर्णेन्द्रिय के विषय हैं। और मन, इस तरह पाँच इन्द्रियों के ये अट्ठाईस विषय होते हैं। इनका सयमन करना अर्थात् अपने-अपने विषयो से इन्द्रियो का रोकना यह इन्द्रियसयम है।

तथा चौदह प्रकार के जीवसमासो का रक्षण करना प्राण सयम है। इस तरह—इन्द्रियसयम और प्राणिसयम को जानना चाहिए तथा आगम के अनुरूप उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

अब पचाचार का उपसहार करते हुए कहते है—

गाथार्थ—जो श्रमण अपनी आत्मा को दर्शन ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारो से निग्रह करने मे समर्थ है वह क्लेश रहित होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥४१९॥

—जीव मरे या न मरे, अयत्नाचारी के निश्चित ही हिसा होती है तथा समिति से युक्त साव-धान मुनि के हिंसामात्र से बन्ध नही होता है।

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकालं हिसा सांतत्तिया त्ति मता ॥

—जिस साधु की सोना, बैठना, चलना, भोजन करना इत्यादि कार्यों मे होने वाली प्रवृत्ति यदि प्रमाद सहित है तो उस साधु को हिसा का पाप सतत लगेगा।

अयदाचारो समणो छसु वि कायेसु बंधगोत्ति मदो ।
चरदि यदं यदि णिच्चं कमलं व जलं णिरुवलेओ ॥

—प्रमाद युक्त मुनि षड्काय जीवो का वध करने वाला होने से नित्य बधक है और जो मुनि यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह जल मे रहकर भी जल से निर्लेप कमल की तरह कर्मलेप से रहित होता है।

असिअसणिपरूसवणग्गिवग्घगहकिण्णसप्पसरिसस्स ।
मा देहि ठाणवास दुग्गदिमग्ग च रोचिस्स ॥

—तलवार, बिजली, तीव्र, वनाग्नि, व्याघ्र, ग्रह, काला सर्प इत्यादि के समान जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह दुर्गति मार्ग को ही प्रिय समझता है। उसे हे साधो ! स्थान और निवास नही देना चाहिए क्योकि वह तलवार आदि के समान आत्मा को नष्ट करने वाला है।

एवं दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्याचारैरात्मान निग्रहयितुं नियत्रयितुं य समर्थः श्रवणः साधुः स गच्छति सिद्धि धुतक्लशो विधूताष्टकर्मा। एवं पचाचारो व्याख्यातः ॥४१६॥

इति वसुनन्दिविरचितायामाचारवृत्तौ पचाचारविवर्णन नाम
पंचम. प्रस्ताव. समाप्त. ॥५॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार के द्वारा जो साधु अपनी आत्मा को नियत्रित करने के लिए समर्थ है वह अष्टकर्मों को नष्ट करके सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह पाँच आचारो का व्याख्यान किया गया है।

इस प्रकार श्री वट्टकेर आचार्य कृत मूलाचार की
श्री वसुनंदि आचार्य कृत आचारवृत्ति नामक टीका मे पचाचार का
वर्णन करने वाला पाँचवाँ प्रस्ताव समाप्त हुआ।

६. अथ पिण्डशुद्धि-अधिकारः

पिंडशुद्धयाख्य षष्ठमाचार विधातुकामस्तावन्नमस्कारमाह—

तिरदणपुरुगुणसहिदे अरहंते विदिदसयलसब्भावे।
पणमिय सिरिसा वोच्छं समासदो पिण्डसुद्धी दु ॥४२०॥

त्रिरत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तानि च तानि **पुरुगुणाश्च** ते महागुणाश्च ते त्रिरत्नपुरुगुणा। अथवा **त्रिरत्नानि** सम्यक्त्वादीनि **पुरुगुणा** अनन्तसुखादयस्तै सहितास्तान्। **अरहते** अर्हत सर्वज्ञान् विदितसकलसद्भावान् विदितो विज्ञात सकल. समस्त सद्भाव स्वरूप यैस्तान् परिज्ञातसर्वपदार्थस्वरूपान् प्रणम्य शिरसा, वक्ष्ये समासत पिण्डशुद्धिमाहारशुद्धिमिति ॥४२०॥

यथाप्रतिज्ञ निर्वहन्नाह—

उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजण पमाणं च।
इगाल धूम कारण अट्ठविहा पिण्डसुद्धी दु ॥४२१॥

उद्गच्छत्युत्पद्यते यैरभिप्रायैर्दातृपात्रगतैराहारादिस्ते उद्गमोत्पादनदोषा आहारार्थानुष्ठानविशेषा।

पिडशुद्धि नामक छठे आचार को कहने के इच्छुक आचार्य सबसे प्रथम नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—तीन रत्नरूपी श्रेष्ठ गुणो से सहित सकल पदार्थों के सद्भाव को जानने वाले अर्हन्त परमेष्ठी को शिर झुकाकर नमस्कार करके सक्षेप से पिडशुद्धि को कहूँगा। ॥४२०॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन रत्न है और ये ही पुरुगुण अर्थात् महागुण कहलाते है। अथवा सम्यक्त्व आदि तीन रत्न है, और अनन्त सुख आदि पुरु—महान् गुण है। जो इन तीन रत्न और पुरुगुण से सहित है, जिन्होने समस्त पदार्थों के सद्भाव—स्वरूप को जान लिया है, ऐसे अर्हन्त परमेष्ठी को शिर झुकाकर प्रणाम करके मै सक्षेप से पिड-शुद्धि—आहार शुद्धि अधिकार को कहूँगा।

अपनी की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजना, प्रमाण, अगार, धूम और कारण इस तरह पिडशुद्धि आठ प्रकार की है ॥४२१॥

आचारवृत्ति—दाता में होनेवाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उद्गच्छति—

अश्यते भुज्यते येभ्यः परिवेषकेभ्यस्तेषामशुद्धयोऽशनदोषाः। संयोज्यते संयोजनमात्रं वा संयोजनदोष.। प्रमाणातिरेकः प्रमाणदोषः। अङ्गारमिवाङ्गारदोष। धूम इव धूमदोषः। कारणनिमित्तं कारणदोषः। एव एतैरष्टभिर्दोषै रहिताष्टप्रकारा पिण्डशुद्धिरिति सग्रहसूत्रमेतत् ॥४२१॥

उद्गमदोषाणां नामनिर्देशायाह—

आधाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्झेय पूदिमिस्से य।
ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे य कीदे य ॥४२२॥
पामिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिण्ण[1] मालआरोहे।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे ॥४२३॥

गृहस्थाश्रितं पचसूनासमेत तावत्सामान्यभूतमष्टविधपिण्डशुद्धि बाह्य महादोषरूपमध.कर्म कथ्यते। **आधाकम्म**—अध.कर्म निकृष्टव्यापार. षड्जीवनिकायवधकर.। उद्दिश्यते इत्युद्देश उद्देशे भव औद्देशिकः। **अज्झोवज्झेय** अध्यधिसयत दृष्ट्वा पाकारम्भ। **पूदि**—पूतिरप्रासुकप्रासुकमिश्रण सहेतुक।

उत्पन्न होता है—वह उद्गम दोष है और पात्र मे होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उत्पन्न होता है या कराया जाता है वह उत्पादन दोष है। जिन पारिवेशक—परोसने वालों से भोजन किया जाता है उनकी अशुद्धियाँ अशनदोष कहलाती है। जो मिलाया जाता है अथवा किसी वस्तु का मिलाना मात्र ही सयोजना दोष है। प्रमाण का उल्लघन करना प्रमाणदोष है। जो अगारो के समान है वह अगार दोष है, जो धूम के समान है वह धूमदोष है और जो कारण—निमित्त से होता है वह कारणदोष है। इस प्रकार इन आठ दोषो से रहित आठ प्रकार की पिडशुद्धि होती है। इस तरह यह सग्रहसूत्र है। अर्थात् इस गाथा मे सपूर्ण शुद्धियो का संग्रह हो जाता है।

उद्गम दोषो के नाम निर्देश हेतु कहते हैं—

गाथार्थ—अधःकर्म महादोष है। औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्रावर्तित, प्राडुष्कार, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्तक, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोह, अच्छेद्य और अनिसृष्ट ये सोलह उद्गम दोष है ॥४२२-२३॥

आचारवृत्ति—अधःकर्म नाम का एक दोष इन सभी दोषो से पृथक् ही है। जो यह सामान्य रूप आठ प्रकार की पिंडशुद्धि कही गई है, इनमे बाह्य महादोषरूप अधःकर्म कहा गया है, जो कि पाँच सूना से सहित है और गृहस्थ के आश्रित है अर्थात् गृहस्थो के द्वारा ही करने योग्य है। यह अधःकर्म छह जीवनिकायो का वध करनेवाला होने से निकृष्ट व्यापार रूप है।

जो उद्देश करके—निमित्त करके किया जाता है अथवा जो उद्देश से हुआ है वह औद्देशिक दोष है। संयत को आते देखकर भोजन पकाना प्रारम्भ करना अर्थात् संयत को देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना अध्यधि दोष है। अप्रासुक और प्रासुक

---

1. क °मुब्भिण्णमालआरोहे।

मिस्सेय—मिश्रश्चासंयतमिश्रण । **ठविदे**—स्थापितं स्वगृहेऽन्यगृहे वा । **बलिनिवेद्य** देवार्चना वा । **पाहुडियं**—प्रावर्तितं कालस्य हानिवृद्धिरूप । **पादुक्कारेय**—प्राविष्करण मण्डपादे प्रकाशनं । **कीदेय**—क्रीतं वाणिज्य-रूपमिति ॥४२२॥ तथा—

पामिच्छे—प्रामृष्य सूक्ष्मर्णमुद्धारक । **परियट्टे**—परिवर्तक दत्वा ग्रहण । **अभिहड**—अभिघटो देशान्तरादागत । **उब्भिण्ण**—उद्भिन्न बन्धनापनयन । **मालारोहे**—मालारोहण गृहोर्ध्वमाक्रमण । **अच्छिज्जे**—अच्छेद्य त्रासहेतु । **अणिसट्ठे**—अनीशार्थेऽप्रधानदाता । उद्गमदोषा षोडशेमे ज्ञातव्या ॥४२३॥

गृहस्थाश्रितस्याध कर्मण स्वरूप विवृण्वन्नाह—

छज्जीवणिकायाणं विराहणोद्दावणादिणिप्पण्णं ।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥४२४॥

षड्जीवनिकायाना पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकाना विराधन दु खोत्पादन । **उद्दावणं**—

वस्तु का सहेतुक मिश्रण करना यह पूतिदोष है। असंयतो से मिश्रण करके—साथ मे भोजन कराना मिश्रदोष है। भोजन पकाने वाले पात्र से निकालकर अपने घर में अथवा अन्य के घर में रख देना स्थापित दोष है। नैवेद्य या देवार्चना के भोजन को आहार मे देना बलिदोष है। काल की हानि या वृद्धि करके आहार देना प्रावर्तित दोष है। मडप आदि का प्रकाशन करना प्रादुष्करण दोष है। खरीदकर लाकर देना क्रीत दोष है।

सूक्ष्म ऋण—कर्जा लेकर अथवा उधार लाकर आहार देना प्रामृष्य दोष है। कोई वस्तु बदले मे लाकर आहार मे देना परिवर्तक दोष है। अन्य देश से लाया हुआ भोजन देना अभिघट दोष है। सीढ़ी से—निसैनी से गृह के ऊपरी भाग मे चढकर लाकर कुछ देना मालारोहण दोष है। त्रासहेतु—डर से आहार देना अच्छेद्य दोष है। अनीशार्थ—अप्रधान दाता के द्वारा दिये हुए भोजन को लेना अनीशार्थ दोष है। ये सोलह उद्गम दोष जानने चाहिए।

भावार्थ—ये उद्गम आदि सोलह दोष श्रावक के निमित्त से साधु को लगते है। जैसे श्रावक ने उनके उद्देश्य से आहार बनाया या उनको आते देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला दिया इत्यादि यह सब कार्य यदि श्रावक करता है और मुनि वह आहार जानने के बाद भी, ले लेते है तो उनके ये औद्देशिक, अध्यधि आदि दोष हो जाते हैं। इसमें प्रारम्भ मे जो अध कर्म दोष बतलाया है वह इन सभी—छयालीस दोषो से से अलग एक महा-दोष माना गया है। इन सभी दोषो के लक्षण स्वयं ग्रन्थकार आगे गाथाओं द्वारा कहते है।

गृहस्थ के आश्रित होनेवाले अध कर्म का स्वरूप बतलाते हैं—

गाथार्थ—छह जीव-निकायो की विराधना और मारण आदि से बनाया हुआ अपने निमित्त स्व या पर से किया गया जो आहार है वह अध.कर्म दोष से दूषित है ऐसा जानना चाहिए ॥४२४॥

आचारवृत्ति—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की विराधना से—उनको दु ख उत्पन्न करके या उनका उद्दावन—मारण करके, घात करके

उद्द्वनं मारणं। विराधनोद्द्वनाभ्यां निष्पन्नं संजात विराधनोद्द्वननिष्पन्नं यदाहारादिकं वस्तु तदध.कर्म ज्ञातव्यं। स्वकृत परकृतानुमत कारितमात्मन सम्प्राप्त:। आत्मनः समुपस्थितं। विराधनोद्द्वने अध कर्मणी पापक्रिये ताभ्यां यन्निष्पन्न तदप्यध.कर्मेत्युच्यते। कार्ये कारणोपचारात्। स्वेनात्मना कृत परेण कारित वा परेण वा कृतं, आत्मनानुमत। विराधनोद्द्वननिष्पन्नमात्मने सम्प्राप्तं वैयावृत्यादिविरहित तदध कर्मं दूरत सयतेन परिहरणीयं गार्हस्थ्यमेतत्। वैयावृत्यादिविमुक्तमात्मभोजननिमित्त पचन षड्जीवनिकायबधकर न कर्तव्यं न कारयितव्यमिति। एतत् षट्चत्वारिंशद्दोषवहिर्भूत सर्वप्राणिसामान्यजात गृहस्थानुष्ठेय सर्वथा मुनिना वर्जनीय। यद्येतत् कुर्यात्[1] श्रवणो गृहस्थ स्यात्। किमर्थमेतदुच्यत इति चेन्नैष दोष, अन्येषु पाखण्डि-

---

जो आहार आदि उत्पन्न हुआ है, जो स्वयं अपने द्वारा बनाया गया है या पर से कराया गया है अथवा पर के द्वारा करने में अनुमोदना दी गयी है ऐसा जो अपने लिए भोजन बना हुआ है वह अध कर्म कहलाता है। विराधना और उद्द्रावन ये अध कर्म है, क्योंकि ये पापक्रिया रूप हैं। इनसे निष्पन्न हुआ भोजन भी अधःकर्म कहा जाता है। यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया गया है। जीवों को दु ख देकर या घात करके जो भोजन अपने लिए बनता है जिसमें अन्य साधुओ की वैयावृत्य आदि कारण नहीं हैं ऐसा अध.कर्म सयतों को दूर से ही छोड देना चाहिए क्योकि यह गृहस्थो का कार्य है। अर्थात् वैयावृत्य आदि से रहित, अपने भोजन के निमित्त षट्जीव निकाय का वध करनेवाला ऐसा पकाने का कार्य न स्वय करना चाहिए और न अन्य से ही कराना चाहिए। यह छयालीस दोषो से बहिर्भूत दोष सभी प्राणियो मे सामान्यरूप से पाया जाता है और गृहस्थों के द्वारा किया जाता है इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यदि कोई श्रमण इस दोष को करेगा तो वह गृहस्थ ही जैसा हो जावेगा।

प्रश्न—तो पुन यह दोष किसलिए कहा गया है?

उत्तर—ऐसा कहना कोई दोष नही है, क्योकि अन्य पाखडी साधुओं मे ये आरम्भकार्य देखे जाते है। जैसे उन लोगो के वह आरम्भ अनुष्ठेय—करने योग्य है, इसके विपरीत जैन साधुओं में उसका करना अयोग्य है। इसीलिए इसके करनेवाले गृहस्थ होते हैं। और फिर साधु तो अनगार हैं और नि.सग हैं इसलिए उन्हें अधःकर्म का अनुष्ठान नही करना चाहिए। इस बात को बतलाने के लिए ही यह अधःकर्म दोष कहा गया है।

भावार्थ—प्रश्न यह होता है कि जब यह षट्जीवनिकायों को बाधा देकर या घात करके आरम्भ द्वारा भोजन स्वत. बनाया जाता है अथवा अन्य किसी से कराया जाता है उसे आपने अध.कर्म कहा तो कोई भी दिगम्बर मुनि या आर्यिकाएँ यह दोष करेंगे ही नही और यदि करेंगे तो वे गृहस्थ ही हो जायेंगे। पुनः साधु के लिए यह दोष कहा ही क्यों है? उसका उत्तर आचार्य ने दिया है कि अन्य पाखण्डी साधु नाना तरह के आरम्भ करते है। उनकी देखादेखी अगर कोई दिगम्बर साधु भी ऐसा करने लग जावे तो वे इस दोष के भागी हो जावेंगे। और ऐसा निषेध करने से ही तो नही करते हैं ऐसा समझना।

दूसरी बात यह है कि यदि साधु अन्य साधुओं की वैयावृत्ति आदि के निमित्त औषधि

---

१ क कुर्यान्न

स्वाध्यासकर्मणो दर्शनाद्यथा' तेषा तदनुष्ठेय तथा साधूनां तदनुष्ठानमयोग्य । तेन गृहस्था । साधव. पुनरनागार निसंगा यतो अतो नानुष्ठेयमध.कर्मेति ज्ञापनार्थमेतदिति ।।४२४।।

उद्गमदोषाणां स्वरूपं प्रतिपादयन् विस्तरसूत्राण्याह—

देवदपासंडट्ठ किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिसियं।
कदमण्णसमुद्देसं चदुव्विह वा समासेण ।।४२५।।

अध.कर्मण [पश्चात्] औद्देशिक सूक्ष्मदोषमपि परिहर्तुकाम प्राह—देवता नागयक्षादय, पाषण्डा जैनदर्शनबहिर्भूतानुष्ठाना लिगिन· कृपणका दीनजना । देवतार्थ पाखण्डार्थ कृपणार्थं चोद्दिश्य यत्कृतमन्न तन्निमित्त निष्पन्न भोजन तदौद्देशिक अथवा चतुर्विध सम्यगौद्देशिक समासेन जानीहि वक्ष्यमाणेन न्यायेन ।।४२५।।

या आहार बनाने के लिए कदाचित् श्रावक से कह भी देता है अर्थात् आहार बनवाता भी है तो भी वह अध·कर्म दोष का भागी नही होता है। क्योकि यहाँ पर वैयावृत्ति से अतिरिक्त यदि मुनि स्वय के आहार हेतु आरम्भ करता या कराता तो अध कर्म है ऐसा स्पष्ट किया है। 'भगवती आराधना' मे समाधि मे स्थित साधुओ की परिचर्या मे अडतालीस साधुओ की व्यवस्था बतलाई गयी है। इनमे चार मुनि क्षपक के लिए उद्गमादि दोष रहित भोजन के लिए, तथा चार मुनि उद्गमादि दोष रहित पान के लिए नियुक्त होते है। इससे यह प्रतीत होता है कि जब तक क्षपक का शरीर आहार-ग्रहण के योग्य है, पान-ग्रहण के योग्य है किन्तु अतीव कृश हो चुका है, तब तक उनके भोजन-पान की व्यवस्था भिक्षा मे सहायक ये चार-चार मुनि करते है। वह उनकी वैयावृत्य है और वैयावृत्य मे श्रावक के यहाँ ऐसी व्यवस्था कराने मे भाग लेने वाले साधु वैयावृत्य कारक होने से दोष के भागी नही है। हाँ, यदि वे अपने लिए कृत-कारित-अनुमोदना से कोई व्यवस्था श्रावक के माध्यम से बनावे तो वह अर्ध कर्म दोष का भागी है कि सर्वथा त्याज्य है। विशेष जिज्ञासु 'भगवती आराधना' (गाथा ६५ मे ६२) का अवलोकन करे।

अब उद्गम दोषो के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए विस्तार से कहते है—

गाथार्थ—देवता के और पाखण्डी के लिए या दोनो के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है वह औद्देशिक है अथवा सक्षेप से चार प्रकार का समुद्देश होता है ।।४२५।।

आचारवृत्ति—अब अध·कर्म के पश्चात् औद्देशिक दोष को कहते है। यद्यपि यह सूक्ष्मदोष है तो भी इसके परिहार करने की इच्छा से आचार्य कहते है—नागयक्ष आदि को देवता कहते है। जैन दर्शन से बहिर्भूत अनुष्ठान करनेवाले जो अन्य भेषधारी लिगी है वे पाखण्डी कहलाते हैं। दीनजनो को—दुखी अंधे-लगडे आदि को कृपण कहते है। इन देवताओ के लिए, पाखण्डियों के लिए, और कृपणो को उद्देश्य करके अर्थात् इनके निमित्त से बनाया गया जो भोजन है वह औद्देशिक है। अथवा आगे कहे गये न्याय से सक्षेप से समीचीन औद्देशिक चार प्रकार का होता है।

---

२. क यथास्तैम्तदनु ।

तमेव चतुर्विध प्रतिपादयन्नाह—

जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो ।।४२६।।

यावान् कश्चिदागच्छति तस्मै सर्वस्मै दास्यामीत्युद्दिश्य यत्कृतमन्न स यावानुद्देश इत्युच्यते। ये केचन पाखण्डिन आगच्छन्ति भोजनाय तेभ्य. सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्न स पाखण्डिन इति च भवेत्स-मुद्देशः। ये केचन श्रवणा आजीवकतापसरक्तपटपरिव्राजकाश्छात्रा वागच्छन्ति भोजनाय तेभ्य सर्वेभ्योऽह-माहार दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्न स श्रवण इति कृत्वादेशो भवेत्। ये केचन निर्ग्रन्था साधव आगच्छन्ति तेभ्य सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्दिश्य कृतमन्न निर्ग्रन्था इति च भवेत्समादेशः। सामान्यमुद्दिश्य पाषण्डानुद्दिश्य श्रवणानुद्दिश्य यत्कृतमन्न तच्चतुर्विधमौद्देशिकं भवेदन्नमिति। उद्देशेन निर्वर्तितमौद्देशिकमिति ।।४२६।।

अध्यधिदोषस्वरूप प्रतिपादयन्नाह—

उन्ही चार भेदों को प्रतिपादित करते है—

गाथार्थ—हर किसी को उद्देश्य करके बनाया गया अन्न उद्देश है, पाखण्डियों को निमित्त करके समुद्देश है, श्रमण को निमित्त करके आदेश और निर्ग्रन्थ को निमित्त कर समादेश होता है ।।४२६।।

आचारवृत्ति—जो कोई भी आयेगा उन सभी को मै दे दूंगा ऐसा उद्देश्य करके बनाया गया जो अन्न है वह उद्देश कहलाता है। जो भी पाखण्डी लोग आयेंगे उन सभी को मैं भोजन कराऊँगा ऐसा उद्देश्य करके बनाया गया भोजन समुद्देश कहलाता है। जो कोई श्रवण अर्थात् आजीवक तापसी, रक्तपट-बौद्ध साधु परिव्राजक या छात्र जन आयेंगे उन सभी को मैं आहार देऊँगा इस प्रकार से श्रमण के निमित्त बनाया हुआ अन्न आदेश कहलाता है। जो कोई भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु आयेंगे उन सभी को मैं देऊँगा ऐसा मुनियो को उद्देश्य कर बनाया गया आहार समादेश कहलाता है। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य को उद्देश्य करके, पाखण्डियों को उद्देश्य करके, श्रवणों को निमित्त करके और निर्ग्रन्थों को निमित्त करके बनाया गया जो भोजन है वह चार प्रकार का औद्देशिक अन्न है। चूँकि उद्देश से बनाया गया है इसलिए यह औद्देशिक कहलाता है।

भावार्थ—ऐसे औद्देशिक अन्न को जानकर भी जो मुनि ले लेते हैं वे इस दोष से दूषित होते है। यदि वे मुनि कृत-कारित-अनुमोदना और मन-वचन-काय इन तीनों से गुणित (३ × ३ = ९) नव कोटि से रहित रहते है तो उन्हे यह दोष नही लगता है। श्रावक अतिथि-संविभाग व्रत का पालन करते हुए सामान्यतया शुद्ध भोजन बनाता है और मुनियों को पड़गाहन करके आहार देता है। तथा साधु भी अपने आहार हेतु कृत-कारित अदि नवभेदों को न करते हुए आहार लेते हैं वही निर्दोष आहार है।

अध्यधि दोष का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

जलतंदुलपक्खेवो दाणट्ठं संजदाण 'सयपयणे ।
अज्झोवज्झं णेयं अहवा पागं तु जाव रोहो वा ॥४२७॥

जलतदुलानां प्रक्षेप दानार्थं, सयत² दृष्ट्वा स्वकीयपचने सयताना दानार्थं स्वस्य निमित्त यज्जल पिठरे निक्षिप्त तदुलाश्च स्वस्य निमित्त ये स्थापितास्तस्मिन् जलेऽन्यस्य जलस्य प्रक्षेप तेषु च तदुलेष्वन्येषा तदुलाना प्रक्षेपण यदेवविध तदध्यधि दोषरूप ज्ञेय । अथवा पाको यावता कालेन निष्पद्यते तस्य कालस्य रोधस्तावन्त कालमासीन उदीक्षत एतदध्यधि दोषजातमिति ॥४२७॥

पूतिदोषस्वरूप निगदन्नाह—

अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तं ।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ॥४२८॥

प्रासुकमप्यप्रासुकेन सचित्तादिना मिश्र यदाहारादिकं स पूतिदोष । प्रासुकद्रव्य तु पूतिकर्म यत्तदपि पूतिकर्म, पचप्रकार **चुल्ली** रन्धनी । **उक्खलि** उदूखल । **दव्वी**—दर्वी । **भायण**—भाजन । **गन्धत्ति**—गन्ध-

---

गाथार्थ—मुनियो के दान के लिए अपने पकते हुए भोजन मे जल या चावल का और मिला देना यह अध्यधि दोष है। अथवा भोजन बनने तक रोक लेना यह भी अध्यधि दोष है ॥४२७॥

आचारवृत्ति—अपने निमित्त बटलोई आदि पात्र मे जो जल चढाया है या अपने निमित्त जो चावल चूल्हे पर चढाये है, सयतो को आते हुए देखकर उनके दान के लिए उस जल मे और अधिक जल डाल देना या चावल मे और अधिक चावल मिला देना यह अध्यधि नाम का दोष है। अथवा जब तक भोजन तैयार होता है तब तक उन्हे रोक लेना, तब तक वे मुनि बैठे हुए प्रतीक्षा करते रहे अर्थात् किसी हेतु से उन्हे रोके रखना यह भी अध्यधि दोष है।

पूतिदोष का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—अप्रासुक द्रव्य से मिश्र हुआ प्रासुकद्रव्य भी पूतिकर्म दोष से दूषित हो जाता है। यह चूल्हा, ओखली, कलछी या चम्मच, वर्तन और गन्ध के निमित्त ये पाँच प्रकार का है ॥४२८॥

आचारवृत्ति—प्रासुक भी आहार आदि यदि अप्रासुक-सचित्त आदि से मिश्रित है तो वे पूतिदोष से दूषित हो जाते है। इस पूतिकर्म के पाँच प्रकार है। चूल्हा, ओखली, कलछी, वर्तन और गन्ध। इस नये चूल्हे या सिगडी आदि मे भात आदि बनाकर पहले मुनियो को दूँगा पश्चात् अन्य किसी को दूँगा इस प्रकार प्रासुक भी भात आदि द्रव्य पूतिकर्म अप्रासुक रूप भाव से बनाया हुआ होने से पूति कहलाता है। ऐसे ही, इस नयी ओखली मे कोई चीज चूर्ण करके जब तक मुनियो को नही दूँगा तब तक अन्य किसी को नही दूँगा और न मै ही अपने प्रयोग मे लूँगा इस प्रकार से बनाई हुई वह प्रासुक भी वस्तु अप्रासुक हो जाती है। इसी तरह इस कलछी या चम्मच से जब तक यतिओ को नही दे दूँगा तब तक अपने या अन्य के प्रयोग में नही

---

१ क सपयणे। २ क सयतान्।

इति । अनेन प्रकारेण रन्धन्युदूखलदर्वीभाजनगन्धभेदेन पंचविध । रन्धनी कृत्वैव महानस्यां रन्धन्यामोदनादिक निष्पाद्य साधुभ्यस्तावद्दास्यामि पश्चादन्येभ्य इति प्रासुकमपि द्रव्यं पूतिकर्मणा निष्पन्नमिति पूतीत्युच्यते । तथोदूखल कृत्वैवमस्मिन्नुदूखले चूर्णयित्वा यावदृषिभ्यो न दास्यामि तावदात्मनोऽन्येभ्यश्च न ददामीति निष्पन्न प्रासुकमपि तत् तथाऽनया दर्व्या यावद्यतिभ्यो न दास्यामि तावदात्मनोऽन्येषा न तद्योग्यमेतदपि पूति । तथा भाजनमप्येतद्यावदृषिभ्यो न ददामि तावदात्मनोऽयेषा च न तद्योग्यमिति पूति । तथाय गन्धो यावदृषिभ्यो न दीयते भोजनपूर्वकस्तावदात्मनोऽन्येषा च न कल्पते इत्येव हेतुना निष्पन्नमोदनादिक पूतिकर्म । तत्पचप्रकारं दोषजात प्रथममारम्भकरणादिति ॥४२८॥

मिश्रदोषस्वरूप निरूपयन्नाह—

पासंडेहि य सद्धं सागारेहिं य जदण्णमुद्दिसियं ।
दादुमिदि संजदाणं सिद्धं मिस्सं वियाणाहि ॥४२९॥

प्रासुक सिद्ध निष्पन्नमपि यदन्नमोदनादिक पाषण्ड सार्धं सागारै सह गृहस्थैश्च सह सयतेभ्यो दातुमुद्दिष्ट त मिश्रदोप विजानीहि । स्पर्शनादिनानादरादिदोषदर्शनादिति ॥४२९॥

स्थापितदोषस्वरूपमाह—

पागादु भायणाओ अण्णह्मि य भायणह्मि पक्खविय ।
सघरे व परघरे वा णिहिद ठविद वियाणाहि ॥४३०॥

लूंगा यह भी पूति है । तथा वर्तनो मे भी इस नये वर्तन से जब तक ऋषियों को न दूँगा तब तक अपने या अन्यो के लिए नही लूँगा । इसी तरह कोई सुगन्धित वस्तु है उस विषय में भी ऐसा सोचना कि जब तक यह सुगन्ध वस्तु मुनियों को आहार मे नही दे दूँगा तब तक अपने या अन्य के प्रयोग मे नही लूँगा । इन पाँच हेतुओं से बने हुए भात आदि भोज्य पदार्थ पूतिकर्म कहलाते है । यदि मुनि ऐसे भोजन को ग्रहण कर लेते है तो उन्हे पूतिदोष लगता है । क्योकि इन पाँचों प्रकारो मे प्रथम आरम्भ दोष किया जाता है अत. दोष है ।

मिश्र दोष का स्वरूप बतलाते है—

गाथार्थ—पाखण्डियों और गृहस्थो के साथ सयत मुनियो को जो सिद्ध हुआ अन्न दिया जाता है उसे मिश्र जानो ॥४२९॥

आचारवृत्ति—जो ओदन आदि अन्न प्रासुक भी बना हुआ है किन्तु यदि दाता पाखण्डी साधुओं के साथ या गृहस्थो के साथ मुनियो को देता है तो उसे मिश्र दोष जानो । ऐसा इसलिए कि उनके साथ आहार देने से उनका स्पर्श आदि हो जाने से आहार अशुद्ध हो जावेगा तथा सयमी मुनियों को और उनको साथ देने से उनका अनादर भी होगा इत्यादि दोष होने से ही यह दोष माना गया है ।

स्थापित दोष का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—पकानेवाले वर्तन से अन्य वर्तन मे निकालकर, अपने घर में या अन्य के घर में रखना यह स्थापित दोष है ऐसा जानो ॥४३०॥

पाकाद्भाजनात् पाकनिमित्त यद्भाजनं यस्मिन् भाजने पाको व्यवस्थितस्तस्माद्भाजनात् पिठरा-दोदनादिकमन्यस्मिन् भाजने पात्र्यादौ प्रक्षिप्य व्यवस्थाप्य स्वगृहे वा नीत्वा निहित स्थापित यत् स्थापितमिति दोष जानीहि। सभयेन दात्रा दीयमानत्वाद्विरोधादिदोषदर्शनाद्वेति ॥४३०॥

बलिदोषस्वरूप निरूपयन्नाह—

जक्खयणागादीण बलिसेस [1] स बलित्ति पण्णत्त ।
सजदआगमणट्ठं बलियकम्मं वा बलिं जाणे ॥४३१॥

यक्षनागादीना निमित्त यो बलि[2]स्तस्य बलि (ले) शेप स बलिशेषो बलिरिति प्रज्ञप्त । सर्वत्र कारणे कार्योपचारात् । सयतानामागमनार्थं वा बलिकर्म त बलि विजानीहि । सयतान् धृत्वार्चनादिकमुदक-

आचारवृत्ति—जिस वर्तन मे भात आदि आहार बनाया है उस वर्तन से अन्य वर्तन मे रखकर अपने घर मे (रसोईघर से अन्यत्र) अथवा पर के घर मे ले जाकर रख देना यह स्थापित दोष है। अर्थात् जो दाता उसे उठाकर देगा वह उस रखनेवाले से डरते हुए देगा अथवा कदाचित् जिसने अन्यत्र रखा था वह विरोध भी कर सकता है इत्यादि दोष होने से ही यह दोष माना गया है।

बलि दोष का स्वरूप निरूपित करते है—

गाथार्थ—यक्ष, नाग आदि के लिए नैवद्य मे जो शेष बचा वह बलि कहा गया है। अथवा सयतो के आने के लिए बलिकर्म करना बलिदोष जानो ॥४३१॥

आचारवृत्ति—यक्ष, मणिभद्र आदि अथवा नाग आदि देवो के निमित्त जो नैवेद्य बनाया है उसे बलि संज्ञा है। उसमे से कुछ शेष बचे हुए को भी बलि कहते है। यहाँ सर्वत्र कारण मे कार्य का उपचार किया गया है। ऐसा शेष बचा नैवेद्य यदि मुनि को आहार में दे देवे तो वह बलिदोष है। अथवा सयतो के आने के लिए बलिकर्म करना अर्थात् 'यदि आज मेरे घर मे मुनि आहार को आ जावेगे तो मै यक्ष को अमुक नैवेद्य चढाऊँगा' इत्यादि रूप से सकल्प करना बलिकर्म है। ऐसा करके आहार देने से भी बलिनाम का दोष होता है।

सयतों का पडगाहन करके अर्चन आदि करना, जल-क्षेपण करना, पत्रिकादि का खण्डन करना आदि, तथा यक्षादि की पूजा से बचा हुआ नैवेद्य आहार मे देना यह सब बलिदोष है क्योंकि इसमें सावद्य दोष देखा जाता है।

भावार्थ—यहाँ पर सयतो को पड़गाहन करके अर्चन आदि करना, जल-क्षेपण करना आदि दोष बतलाया है तथा सयत का पडगाहन कर नवधा-भक्ति मे उच्चासन देना, तत्पश्चात् प्रक्षालन करना, जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य से पूजन करना आदि भी आवश्यक है। सो यहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिए कि सयतो के आने के बाद तत्काल सावद्य कार्य जैसे फूल तोड़ना, दीप जलाना आदि नही करना चाहिए। पहले से ही सब अष्टद्रव्य सामग्री तैयार रखनी चाहिए। क्योंकि पड़गाहन के बाद, उच्चासन पर बिठाकर,

१ क °स त ब°। २ क बलि कृतस्त°।

क्षेपण पत्रिकादिखण्डन यत् यक्षादिवलिशेषश्च यस्त बलिदोष विजानीहि सावद्य दोषदर्शनादिति ॥४३१॥

प्राभृतदोषस्वरूप विवृण्वन्नाह—

पाहुडिहं पुण दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्केक्कं ।
ओकस्सणमुक्कस्सण महकालोवट्टणावड्ढी ॥४३२॥

पहुडिय—प्रावर्तित । **पुण**—पुन । **दुविहं**—द्विविध । **बादरं**—स्थूल । **सुहुमं**—सूक्ष्म । पुनरप्येकैक द्विविध । **ओक्कस्सण**—अपकर्षण । **उक्कस्सणं**—उत्कर्षण । अथवा कालस्य हानिर्वृद्धिर्वा । अपकर्षणं कालहानि । उत्कर्षण कालवृद्धिरिति । स्थूल प्राभृत कालहानिवृद्धिभ्या द्विप्रकार तथा सूक्ष्मप्राभृत तदपि द्विप्रकार कालवृद्धिहानिभ्यामिति ॥४३२॥

बादर च द्विविध सूक्ष्म च द्विविध निरूपयन्नाह—

दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं ।
पुव्वपरमज्झबेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च ॥४३३॥

परावृत्यशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते, दिवस परावृत्य, पक्ष परावृत्य, मास परावृत्य, वर्ष परावृत्य यद्दान दीयते तद्बादर प्राभृत द्विविध भवति । शुक्लाष्टम्या वा दास्यामीति स्थित[1] उत्कृष्टा-(उत्कर्ष्या) ष्टम्यां

पाद-प्रक्षालन करके पुन अष्टद्रव्य से अर्चना करना नवधाभक्ति है। वर्तमान मे भी यही विधि अपनायी जाती है।

प्राभृत दोष का स्वरूप बताते है—

गाथार्थ—प्राभृत के दो भेद है बादर और सूक्ष्म। एक-एक के भी दो-दो भेद है—अपकर्षण और उत्कर्षण अथवा काल की हानि और वृद्धि करना ॥४३२॥

आचारवृत्ति—प्राभृत दोष के बादर और सूक्ष्म दो भेद हैं। उनमें भी बादर प्राभृत के काल की हानि और वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार है और सूक्ष्म के भी काल की हानि और वृद्धि से भी दो प्रकार हो जाते है।

दो प्रकार के बादर और दो प्रकार के सूक्ष्म दोषो का निरूपण करते है—

गाथार्थ—दिवस, पक्ष, महिना और वर्ष का परावर्तन करके आहार देने से बादर दोष दो प्रकार है। इसी प्रकार पूर्व, अपर तथा मध्य की वेला का परावर्तन करके देने से सूक्ष्म दोष दो प्रकार का होता है ॥४३३॥

आचारवृत्ति—'परावर्तन करके' यह शब्द प्रत्येक के साथ सम्बन्धित करना चाहिए। अर्थात् दिवस का परावर्तन करके, पक्ष का परावर्तन करके, मास का परावर्तन करके और वर्ष का परावर्तन करके जो आहार दान दिया जाता है वह बादर प्राभृत हानि और वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का हो जाता है। जैसे शुद्ध अष्टमी में देना था किन्तु उसको अपकर्षण करके—घटा करके शुक्लापंचमी के दिन जो दान दिया जाता है अथवा शुक्ला पंचमी को दूंगा

---

१ क °तमपकृष्य उत्कृष्टाष्टम्या ।

ददात्येतद्दिवस परावृत्य जात प्राभृतं तथा चैत्रशुक्लपक्षे देयं यत्तच्चैत्राधकारपक्षे ददाति । अन्धकारपक्षे वा देय शुक्लपक्षे ददाति पक्षपरावृत्तिजात प्राभृत । तथा चैत्रमासे देयं फाल्गुने ददाति फाल्गुने देय वा चैत्रे ददाति तन्मासपरिवृत्तिजात प्राभृत । तथा परुत्तने वर्षे देय यत्तदधुनातने वर्षे ददाति । अधुनातने वर्षे यदिष्ट परुत्तने ददाति तद्वर्षपरावृत्तिजात प्राभृत । तथा सूक्ष्म च प्रावर्तित द्विविध पूर्वाह्णवेलायामपराह्णवेलाया मध्याह्न-वेलायामिति । अपराह्णवेलाया दातव्यमिति स्थित प्रकरण मंगल सयतागमनादिकारणेनापकृष्य पूर्वाह्णवे-लाया ददाति पूर्वाह्णवेलाया दातव्यमित्युत्कृष्यापराह्णवेलायां ददाति तथा मध्याह्ने दातव्यमिति स्थित पूर्वाह्णे ऽपराह्णे वा ददाति एन प्रावर्तितदोष कालहानिवृद्धिपरिवृत्त्या बादरसूक्ष्मभेदभिन्न जानीहि क्लेशबहुवि[1]-घातारंभदोषदर्शनादिति ।।४३३।।

प्रादुष्कारदोषमाह—

पादुक्कारो दुविहो संकमण पयासणा य बोधव्वो ।
भायणभोयणदीणं[2] मंडवविरलादियं कमसो ।।४३४।।

प्रादुष्कारो द्विविधो बोधव्यो ज्ञातव्य । भाजनभोजनादीना सक्रमणमेक । तथा भाजनभोजनादीना

ऐसा सकल्प किया था पुन उसका उत्कर्षण करके—बढा करके शुक्ला अष्टमी को देना आदि सो यह दिवस का परिवर्तन हुआ । वैसे ही चैत्र के शुक्ल पक्ष मे देना था किन्तु चैत्र के कृष्णपक्ष मे जो देता है अथवा कृष्ण पक्ष मे देने योग्य को शुक्ल पक्ष मे देता है सो यह पक्ष परिवर्तन दोष है । तथा चैत्र मास मे देना था सो फाल्गुन मे दे देता है अथवा जो फाल्गुन मे देना था उसे चैत्र मे देता है सो यह मास परिवर्तन नाम का दोष है । तथा गतवर्ष मे देना था सो वर्तमान वर्ष मे देता है और वर्तमान वर्ष मे जो देना इष्ट था सो पूर्व के वर्ष मे दे दिया जाना सो यह वर्ष परिवर्तन नाम का दोष है ।

उसी प्रकार से सूक्ष्मप्राभृत भी दो प्रकार का है । अपराह्ण वेला मे देने योग्य ऐसा कोई मगल प्रकरण था किन्तु सयत के आगमन आदि के कारण से उस काल का अपकर्षण करके पूर्वाह्ण वेला मे आहार दे देना, वैसे ही मध्याह्न मे देना था किन्तु पूर्वाह्ण अथवा अपराह्ण मे दे देना सो यह सूक्ष्मप्राभृत दोष काल की हानि-वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का हो जाता है ।

इसे प्रावर्तित दोष भी कहते है । चूँकि इसमे काल की हानि और वृद्धि से परिवर्तन किया जाता है । इस तरह आहार देने मे दातार को क्लेश, बहुविघात और बहुत आरम्भ आदि दोष देखे जाते है अत यह दोष है ।

प्रादुष्कार दोष को कहते है—

गाथार्थ—सक्रमण और प्रकाशन ऐसे प्रादुष्कार दो प्रकार का जानना चाहिए, जो कि भाजन, भोजन आदि का और मण्डप का उद्योतन करना आदि है ।।४३४।।

आचारवृत्ति—प्रादुष्कार के दो भेद जानना चाहिए । वर्तन और भोजन आदि का सक्रमण करना यह एक भेद है, तथा वर्तन व भोजन आदि का प्रकाशन करना यह दूसरा भेद है । किसी भी वर्तन या भोजन आदि को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना यह तो

---

१ क 'विधाता' । २ क 'णमादी म ।

प्रकाशन द्वितीय । सक्रमणमन्यस्मात्प्रदेशादन्यत्र नयन प्रकाशन भाजनादीनां भस्मादिनोदकादिना वा निर्माजन भाजनादेर्वा विस्तरणमिति । अथवा मण्डपस्य विरलनमुद्योतन मण्डपादिविरलनं । आदिशब्देन कुड्यादिकस्य ज्वलन प्रदीपद्योतनमिति सक्रम. सर्व. प्रादुष्कारो दोषोऽय । ईर्यापथदोषदर्शनादिति ।।४३४।।

क्रीततरदोषमाह[1]—

कीदयडं पुण दुविहं दव्वं भावं च सगपरं दुविहं ।
सच्चित्तादी दव्वं विज्जामतादि भाव च ।।४३५।।

क्रीततर पुनर्द्विविध द्रव्य भावश्च । द्रव्यमपि द्विविध स्वपरभेदेन स्वद्रव्य परद्रव्य स्वभाव परभावश्च । सचित्तादिक गोमहिष्यादिक द्रव्य । विद्यामत्रादिक च भाव । सयते भिक्षायां प्रविष्टे स्वकीयं परकीय वा सचित्तादिद्रव्य दत्त्वाहार प्रगृह्य ददाति तथा स्वमत्र वा स्वविद्या परविद्या वा दत्त्वाहार[2] प्रगृह्य ददाति यत् स क्रीतदोष कारुण्यदोषदर्शनादिति । प्रज्ञप्त्यादिर्विद्या । चेटकादिर्मत्र इति ।।४ ५।।

ऋणदोषस्वरूपमाह—

सक्रमण कहलाता है, तथा वर्तनो को भस्म आदि से माजना या जल आदि से धोना अथवा वर्तन आदि का विस्तरण करना—उन्हे फैलाकर रख देना यह प्रकाशन कहलाता है। अथवा मण्डप का उद्योतन करना अर्थात् मण्डप वगैरह खोल देना आदि शब्द से दीवाल वगैरह को उज्ज्वल करना अर्थात् लीप-पोत कर साफ करना, दीपक जलाना, यह सब प्रादुष्कार नाम का दोष है क्योकि इन सभी कार्यों में ईर्यापथ दोष देखा जाता है अर्थात् इन सब कार्य हेतु उस समय चलने-फिरने से ईर्यापथ शुद्धि नही रह सकती है।

क्रीततर दोष को कहते है—

गाथार्थ—क्रीततर दोष दो प्रकार का है— द्रव्य और भाव । वह द्रव्य भाव भी स्व और पर की अपेक्षा से दो-दो प्रकार का है। उसमे सचित्त आदि वस्तु द्रव्य है और विद्या-मन्त्र आदि भाव है ।।४३५।।

आचारवृत्ति—द्रव्य और भाव की अपेक्षा क्रीततर दोष दो प्रकार का है। स्वद्रव्य-परद्रव्य और स्वभाव तथा परभाव इस तरह द्रव्य और भाव के भी दो-दो भेद हो जाते है। गाय, भैस आदि सचित्त वस्तुएँ द्रव्य है। विद्या, मन्त्र आदि भाव है। अर्थात् सयत मुनि आहार के लिए प्रवेश कर चुके है, उस समय अपने अथवा पराये सचित्त—गाय, भैस आदि किसी को देकर और उससे आहार लाकर साधु को दे देना। उसी प्रकार से स्वमन्त्र या परमन्त्र को अथवा स्व-विद्या या पर-विद्या को किसी को देकर उसके बदले आहार लाकर दे देना यह क्रीत दोष है; क्योंकि इस कार्य मे करुणाभाव आदि दोष देखे जाते हैं।

विद्या और मन्त्र मे क्या अन्तर है ? प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ है तथा चेटक आदि मन्त्र हैं।

ऋण दोष का स्वरूप कहते है—

---

१ क °दोषस्वरूपमाह° । २ क °हारादिक प्रगृह्य ।

डहरियरिणं तु भणियं पामिच्छं ओवणादिअण्णदरं ।
तं पुण दुविहं भणिदं सवड्ढियमवड्ढिय चावि ॥४३६॥

डहरियरिणं तु—लघुऋण स्तोकर्णं भणित । **पामिच्छं**—प्रामृष्य ओदनादिकं भक्त मण्डकादि-मन्यतरत्। तत्पुनर्द्विविध सवृद्धिकमवृद्धिक चापि। भिक्षौ चर्याया प्रविष्टे दातान्यदीय गृह गत्वा भक्त्या भक्तादिक याचते वृद्धि समिष्य वृद्धयाविना वा साधुहेतो । तवौदनादिक वृद्धिसहितमन्यथा दास्यामि मम भक्त पान खाद्य मण्डकाश्व प्रयच्छ । एव भणित्वा मण्डकादीन् गृहीत्वा सयतेभ्यो ददाति तदृणसहित प्रामृष्य दोष जानीहि । दातु क्लेशायासकरणादिदर्शनादिति ॥४३६॥

परावर्तदोषमाह—

ब्रीहीकूरादीहि य सालीकूरादिय तु ज गहिद ।
दातुमिति सजदाण परियट्ट होदि णायव्व ॥४३७॥

सयतेभ्यो दातु ब्रीहिकूरादिभिर्यच्छालिकूरादिक सगृहीत तत्परिवर्त भवति ज्ञातव्य । मदीय

गाथार्थ—भात आदि कोई वस्तु कर्जरूप मे दूसरे के यहाँ से लाकर देना लघुऋण कहलाता है । इसके दो भेद है—ब्याज सहित और ब्याज रहित ॥४३६॥

आचारवृत्ति—लघु ऋण अर्थात् स्तोक ऋण । ओदन आदि भोजन तथा मण्डक—रोटी आदि अन्य वस्तुओं का प्रामृष्य कहते हैं । इस ऋण दोष के वृद्धिसहित और वृद्धिरहित की अपेक्षा दो भेद हो जाते है । जब मुनि आहार के लिए आते है उस समय दाता श्रावक अन्य किसी के घर जाकर भक्ति से उससे भात आदि माँगता है और कहता है कि मै आपको इससे अधिक भोजन दे दूँगा या इतना ही भोजन वापस दे दूँगा । अर्थात् इस समय मेरे घर पर साधु आये हुए है तुम मुझ भात, रोटी, पानक आदि चोजे दे दो, पुन मै तुम्हे इससे अधिक दे दूँगा या इतना ही लाकर दे दूँगा, ऐसा कहकर पुन उसके यहाँ से लाकर यदि श्रावक मुनि को आहार देता है तो वह ऋण सहित प्रामृष्य दोष कहलाता है । इसमे दाता को क्लेश और परिश्रम आदि करना पडता है अत यह दोष है ।

भावार्थ—यदि दाता किसी से कुछ खाद्य पदार्थ उधार लाकर मुनियो को आहार देता है तो यह ऋण दोष है । उसमे भी उधार लाये हुए को पीछे ब्याज समेत देना या बिना ब्याज के उतना ही देना ऐसे दो भेद हो जाते है ।

परावर्त दोष को कहते है—

गाथार्थ—संयतो को देने के लिए ब्रीहि के भात आदि से शालि के भात आदि को ग्रहण करना इसे परिवर्त दोष जानना चाहिए ॥४३७॥

आचारवृत्ति—सयत मुनियो को देने के लिए जो ब्रीहि जाति के धान के भात को देकर उससे शील जाति के धान के भात आदि को लाना यह परिवर्त दोष है । जैसे, मेरे ब्रीहि धान के भात को आप ले लो और मुझे शालि धान का भात दे दो, मै साधुओ को दूँगा ।

व्रीहिभक्त गृहीत्वा मम शाल्योदनं प्रयच्छ साधुभ्योऽहं दास्यामीति मण्डकान्वा दत्वा व्रीहिभक्तादिकं गृह्णाति साधुनिमित्त यत्तत्परिवर्तन नाम दोष जानीहि। दातु क्लेशकारणादिति ।।४३७।।

अभिघटदोषस्वरूप विवृण्वन्नाह—

देसत्ति य सव्वत्ति य दुविह पुण अभिहडं वियाणाहि।
आचिण्णमणाचिण्णं देसाविहड हवे दुविहं ।।४३८।।

देश इति सर्व इति द्विविधं पुनरभिघटं विजानीहि। एकदेशादागतमोदनादिक देशाभिघटं। सर्व-स्मादागतमोदनादिक सर्वाभिघट। देशाभिघट पुनर्द्विविध। आचिन्नानाचिन्नभेदात्। आचिन्न योग्य। अनाचि-न्नमयोग्यमिति ।।४३८।।

आचिन्नानाचिन्नस्वरूपमाह—

उज्जु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं ।।४३९।।

ऋजुवृत्या पक्तिस्वरूपेण यानि त्रीणि सप्त गृहाणि वा व्यवस्थितानि। तेभ्यस्त्रिभ्य सप्तभ्यो वा गृहेभ्यो यद्यागतमोदनादिक वाचिन्न ग्रहणयोग्य दोषाभावात्। परतस्त्रिभ्य सप्तगृहेभ्य ऊर्ध्वं यद्यागतमोदना-

---

अथवा इसी प्रकार से मण्डक—रोटी को देकर साधु के हेतु जो शालि का भात आदि लाता है, यह परिवर्त दोष है। इसमे दाता को क्लेश होता है।

अभिघट दोष का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—देश और सर्व की अपेक्षा से अभिघट के दो भेद होते है ऐसा जानो। उसमे देशाभिघट आचिन्न और अनाचिन्न दो प्रकार का होता है ।।४३८।।

आचारवृत्ति—देशाभिघट और सर्वाभिघट ऐसे अभिघट के दो भेद होते है। एक देश से आये हुए भात आदि देशाभिघट है और सब तरफ से आये हुए भात आदि सर्वाभिघट हैं। देशाभिघट के भी दो भेद है—आचिन्न और अनाचिन्न। योग्य वस्तु आचिन्न है और अयोग्य को अनाचिन्न कहते हैं।

आचिन्न और अनाचिन्न का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—सरल पक्ति से तीन या सात घर से यदि आयी हुई वस्तु है तो वह आचिन्न है। उन घरों से अतिरिक्त या सरल पक्ति से विपरीत जो आयी हुई वस्तु है वह अनाचिन्न है ।।४३९।।

आचारवृत्ति—सरल वृत्त से—पक्तिरूप से जो तीन घर है अथवा सात घर है, उनसे आया हुआ भात आदि आचिन्न है—ग्रहण करने योग्य है उसमे दोष नही है। किन्तु इन से भिन्न तीन या सात घरो से अतिरिक्त घरों से आया हुआ भात आदि भोजन अनाचिन्न है—ग्रहण के अयोग्य है।

उससे विपरीत—सरल पंक्ति से अतिरिक्त, सात घरों से आया हुआ भोजन भी

दिकमनाचिन्न ग्रहणायोग्य तद्विपरीत वा ऋजुवृत्या विपरीतेभ्य सप्तभ्यो यद्यागत तदप्यनाचिन्नमादातुमयोग्य । यत्र तत्र स्थितेभ्यो सप्तभ्यो गृहेभ्योऽप्यागत न ग्राह्य दोषदर्शनादिति ॥४३९॥

सर्वाभिघटभेद प्रतिपादयन्नाह—

सव्वाभिहडं चदुधा सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
पुव्वपरपाडणयड पढमं सेसपि णादव्व ॥४४०॥

सर्वाभिघट चतुर्विध जानीहि । स्वग्रामपरग्रामस्वदेशपरदेशभेदात् । स्वग्रामादागत परग्रामादागत स्वदेशादागत परदेशादागतमोदनादिक यत् तच्चतुर्विध सर्वाभिघट । यस्मिन् ग्रामे आस्यते स स्वग्राम इत्युच्यते । तस्माद्येभ्य स परग्राम इत्युच्यते । एव स्वदेश परदेशोऽपि ज्ञातव्य । ननु स्वग्रामात्कथमागच्छतीत्येतस्यामाशकायामाह—पूर्वपाटकात् परस्मिन् पाटके नयन परपाटकाद्वा[1]परस्मिन् नयनमोदनादिकस्य यत्तत्स्वग्रामाभिघट प्रथम जानीहि । तथाशेषमपि जानीहि परग्रामात्स्वग्राम आनयन स्वदेशात् स्वग्राम आनयन परदेशात्स्वग्रामे स्वदेशे वानयनमिति सर्वाभिघटदोष चतुर्विध जानीहि । प्रचुरेर्यापथदर्शनात् ॥३४०॥

अनाचिन्न है—ग्रहण करने के लिए अयोग्य है अर्थात् यत्र-तत्र स्थित घरो से आया हुआ भोजन ग्रहण करने योग्य नही है, क्योकि उनमे दोष देखा जाता है ।

भावार्थ—बिना पक्ति के घरो से लाया गया भोजन मुनि के लिए अभिघट दोषयुक्त है क्योकि जहाँ कही से आने मे ईर्यापथ शुद्धि नही रहती है ।

सर्वाभिघट दोष को कहते है—

गाथार्थ—स्वग्राम और परग्राम, स्वदेश और परदेश की अपेक्षा से सर्वाभिघट चार प्रकार का है । पूर्व और अपर मोहल्ले से वस्तु का लाना प्रथम अभिघट है ऐसे ही शेष भी जानना चाहिए ॥४४०॥

आचारवृत्ति—स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश और परदेश की अपेक्षा से सर्वाभिघट के चार भेद हो जाते है । अर्थात् स्वग्राम से लाया गया भात आदि ऐसे ही परग्राम से लाया गया, स्वदेश से लाया गया या परदेश से लाया गया अन्न आदि अभिघट दोष से सहित है । जिस ग्राम में मुनि ठहरे हुए है वह स्वग्राम है, उससे भिन्न को परग्राम समझना । ऐसे ही स्वदेश और परदेश को भी समझ लेना चाहिए ।

स्वग्राम से कैसे आता है ? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

पूर्वपाटक अर्थात् एक गली से या मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले मे भात आदि को ले जाकर मुनि को देना या दूसरे से अन्य किसी मोहल्ले मे ले जाकर देना यह स्वग्राम से आगत अभिघट दोष है । ऐसे ही परग्राम से लाकर स्वग्राम मे देना, स्वदेश से स्वग्राम में लाकर देना, परदेश से लाकर स्वग्राम में देना अथवा स्वदेश मे देना । इस प्रकार से सर्वाभिघट दोष को चार प्रकार का जानो । इसमें प्रचुर मात्रा मे ईर्यापथ दोष देखा जाता है । अर्थात् दूर से लेकर आनेवाले

---

१ क °द्वापूर्वस्मिन् ।

उद्भिन्नदोषमाह—

पिहिदं लंछिदयं वा ओसहघिदसक्करादि जं दव्वं।
उब्भिण्णिऊण देय उब्भिण्णं होदि णादव्वं ॥४४१॥

पिहितं पिधानादिकेनावृत कर्दमजतुना वा सवृत । लाछित मुद्रित नामबिंबादिना च यदौषध घृतशर्करादिक गुडखडलड्डुकादिक द्रव्यमुद्भिद्योघाट्य देय स उद्भिन्नदोषो भवति ज्ञातव्य पिपीलिकादि-प्रवेशदर्शनादिति ॥४४१॥

मालारोहण दोष निरूपयन्नाह—

णिस्सेणीकट्ठादिहि णिहिद पूयादियं तु घेत्तूण।
मालारोहं किच्चा देय मालारोहणं णाम ॥४४२॥

नि श्रेण्या काष्ठादिभिर्हेतुभूतैर्मालारोहण कृत्वा मालं द्वितीयगृहभूमिमारुह्य गृहोर्ध्वभाग चारुह्य निहित स्थापितमपूपादिक मडकलड्डुकशर्करादिक गृहीत्वा यद्देय स मालारोहो नाम दोष । दातुरपायदर्श-नादिति ॥४४२॥

अच्छेद्यदोषस्वरूपमाह—

श्रावक ईर्यापथ शुद्धि का पालन नही कर पायेगे।

उद्भिन्न दोष को कहते है—

गाथार्थ—ढके हुए या मुद्रा से बन्द हुए जो औषधि, घी, शक्कर आदि है उन्हे खोल कर देना सो उद्भिन्न दोष होता है ऐसा जानना ॥४४१॥

आचारवृत्ति—जो ढक्कन आदि से ढकी हुई है अथवा जिस पर लाख या चपडी लगी हुई है, जो नाम या बिब आदि से मुद्रित है अर्थात् जिसपर शील-मुहर लगी हुई है ऐसी जो कोई भी वस्तु, औषधि, घी, शक्कर या गुड, खाड, लड्डुक आदि चीजे है उन्हे उसी समय खोलकर देना सो उद्भिन्न दोष है, क्योंकि उनमें चीटी आदि का प्रवेश हो सकता है। अर्थात् कदाचित् ऐसी वस्तुओ में चिवटी वगैरह प्रवेश कर गई हों तो उस समय उन्हे बाधा पहुँचेगी।

मालारोहण दोष को कहते है—

गाथार्थ—नसैनी, काठ आदि के द्वारा चढकर रखी हुई पुआ आदि वस्तु को लाकर देना सो मालारोहण दोष है ॥४४२॥

आचारवृत्ति—नसैनी (काठ आदि की सीढी) से माल अर्थात् घर के दूसरे भाग पर—ऊपरी भाग पर चढ़कर वहाँ पर रखे हुए पुआ, मडक, लड्डू, शक्कर आदि लाकर जो उस समय देना है, सो वह मालारोहण दोष है। इसमे दाता के गिरने का भय देखा जाता है।

अच्छेद्य दोष को कहते हैं—

रायाचोरादीहिं य संजदभिक्खासमं तु दठ्ठूण।
बीहेदूण णिजुज्ज अच्छिज्ज होदि णादव्वं ॥४४३॥

संयतानां भिक्षाश्रमं दृष्ट्वा राजा चौरादयः एवमाहुः कुटुम्बिकान् यदि संयतानामागतानां भिक्षादानं न कुरु (र्व) ते तदानीं युष्माकं द्रव्यमपहरामो ग्रामाद्वा निर्वासयाम इति। एवं राज्ञा चौरादिभिर्वा कुटुम्बिकान् भावयित्वा नियुक्तं नियोजितं यद्दानं नाम तदाच्छेद्यं नाम दोषो भवति ज्ञातव्यः। कुटुम्बिनां भयकरणादिति ॥४४३॥

अनीशार्थदोषस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सरमह णिस्सरं चदुवियप्पं।
पढमिस्सर सारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ॥४४४॥

अनीशार्थोऽप्रधानहेतुः। स पुनर्द्विविधः ईश्वरो वानीश्वरश्च। अथवाऽ धनेश्वर इति पाठः। अनीशोऽप्रधानोऽर्थः कारणं यस्यौदनादिकस्य तदौदनादिकमनीशार्थं तद्ग्रहणे यो दोषः सोऽप्यनीशार्थः कारणे कार्योपचारादिति। स चानीशार्थो द्विविधः ईश्वरानीश्वरभेदेन। द्विविधोऽपि चतुर्विधः। प्रथमः ईश्वरो दानस्य सारक्षः सहारक्षैर्वर्तते इति सारक्षः यद्यपि दातुमिच्छति तथापि दातुं न लभतेऽन्ये विघातं कुर्वन्ति ततस्य ददत

गाथार्थ—संयत को भिक्षा के लिए देखकर और राजा या चोर आदि से डरकर जो उन्हें आहार देना है वह आछेद्य दोष है ॥४४३॥

आचारवृत्ति—संयतों को भिक्षा के लिए आते देखकर राजा या चोर आदि कुटुम्बियों को ऐसा कहे कि यदि आप आए हुए संयतों को आहार दान नहीं दोगे तो मैं तुम्हारा द्रव्य अपहरण कर लूंगा या तुम्हें ग्राम से बाहर निकाल दूंगा। इस प्रकार से राजा या चोर आदि के द्वारा कुटुम्ब को डराकर जो आहार देने में लगाया जाता है, उस समय उन दातारों के द्वारा दिया गया दान आछेद्य दोष वाला होता है, क्योंकि वह कुटुम्बियों को भय का करने वाला है।

अनीशार्थ दोष का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—अनीशार्थ दोष दो प्रकार का है—ईश्वर और अनीश्वर। ईश्वर भी सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक इन चार भेदरूप है ॥४४४॥

आचारवृत्ति—जो अप्रधान हेतु है वह अनीशार्थ कहलाता है। उसके दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। अथवा धनेश्वर ऐसा भी पाठ है। अनीश—अप्रधान, अर्थ—कारण है जिस ओदनादिक भोज्य पदार्थ का वह भोजन अनीशार्थ है। उस भोजन के ग्रहण में जो दोष है वह भी अनीशार्थ है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया है। और वह अनीशार्थ दोष ईश्वर और अनीश्वर के भेद से दो प्रकार का है। इन दोनों भेद के भी चार भेद हैं—

प्रथम अनीशार्थ ईश्वर दोष को कहते हैं—इसका नाम सारक्षईश्वर दोष भी है। जो आरक्षों के साथ रहे वह सारक्ष है, वह यद्यपि दान देना चाहता है फिर भी नहीं दे पाता है, अन्य लोग विघात कर देते हैं। वह ईश्वर—स्वामी देता है और अन्य अमात्य पुरोहित आदि

स ईश्वरो ददाति अन्ये चामात्यपुरोहितादयो विघात कुर्वन्ति, एवं यदि तदान्न गृह्णते प्रथम ईश्वरो नामैकभेदोऽनीशार्थो दोष इति। तथानीश्वरोऽप्रधानहेतुर्यस्य दानस्य तद्दानमनीशार्थं दोषोऽप्यनीशार्थः इत्युच्यते कार्ये कारणोपचारात्। स चानीशार्थस्त्रिप्रकारो व्यक्तोऽव्यक्त. सघाटक.। दानादिकस्यानीश्वरः स्वामी न भवति किन्तु व्यक्त प्रेक्षापूर्वकारी तेन दीयमान यदि गृह्णाति तदा व्यक्तोऽनीश्वरो नामानीशार्थो दोष इति। तथा दानस्यानीश्वरस्तथा (दा) व्यक्तोऽप्रेक्षापूर्वकारी भवति तेन दीयमान यदि गृह्णाति तदाव्यक्तानीश्वरो नामानीशार्थ इति। तथा संघाटकेन व्यक्ताव्यक्तानीश्वरेण दीयमान यदि गृह्णाति तदाव्यक्ताव्यक्तसघाटानीश्वरो नामानीशार्थो दोषाऽपायदर्शनादिति। अथवैव ग्राह्य, ईश्वरेण प्रभुणा व्यक्तेनाव्यक्तेन वा यत्सारक्ष यत्प्रतिषिद्ध तद्दान यदि साधु गृह्णाति तदा व्यक्ताव्यक्तेश्वरो नामानीशार्थो दोष। तथानीश्वरेण प्रभुणा व्यक्तेनाव्यक्तेन वा यत्प्रतिषिद्ध सारक्ष्य दान तद्यदि गृह्णाति साधुस्तदा व्यक्ताव्यक्तानीश्वरो नामानीशार्थो दोष। तथा सघाटक. समवाय एको ददात्यपरो निषेधयति दानं तत्तथाभूत यदि गृह्णाति साधुस्तदा सघाटको नामानी-

---

विघ्न करते है। यदि ऐसा दान मुनि ग्रहण करते हैं तो उनके यह अनीशार्थ ईश्वर का प्रथम भेद रूप दोष होता है।

तथा जिस दान का अप्रधान पुरुष हेतु होता है वह दान अनीशार्थ है और दोष भी अनीशार्थ है। यहां पर कार्य मे कारण का उपचार किया जाता है। यह अनीशार्थ तीन प्रकार का है—व्यक्त, अव्यक्त और सघटक। अनीश्वर दानादि का स्वामी नही होता है, किन्तु व्यक्त—प्रेक्षापूर्वकारी अर्थात् बुद्धि से—विवेक से कार्य करने वाले को व्यक्त अनीश्वर कहते हैं। उसके द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते है तो उनके व्यक्त अनीश्वर नाम का अनीशार्थ दोष होता है।

अनीश्वर दान का स्वामी नही होता है, किन्तु वही यदि अव्यक्त अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला होने से अप्रेक्षापूर्वकारी है, उसके द्वारा दिया गया दान यदि मुनि लेते हैं तो उन्हे अव्यक्त अनीश्वर अनीशार्थ नाम का दोष होता है।

तथा सघाटक अर्थात् व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते लेते है तो उनके 'व्यक्ताव्यक्त सघाटक अनीश्वर' नाम का अनीशार्थ दोष होता है, क्योंकि इसमे अपाय देखा जाता है। अथवा इस दोष का इस तरह भी ग्रहण करना चाहिए कि ईश्वर अर्थात् स्वामी जो दान देने वाला है, व्यक्त हो या अव्यक्त, उसके द्वारा जिसका निषेध कर दिया गया है वह दान यदि साधु ग्रहण करेंगे तो उन्हें 'व्यक्त-अव्यक्त ईश्वर' नामक अनीशार्थ दोष होता है। तथा जो अनीश्वर-अप्रधान स्वामी दानपति है वह व्यक्त-बुद्धिमान हो या अव्यक्त-अबुद्धिमान, उसके द्वारा दिये गये सारक्ष्य दान को यदि मुनि ग्रहण करते हैं तो उन्हे व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर नाम का अनीशार्थ दोष होता है। तथा कोई एक पुरुष दान देता है और अन्य निषेध करता है यदि ऐसे दान को मुनि ग्रहण कर लेते है तो उन्हे सघाटक नाम का अनीशार्थ दोष होता है।

ईश्वर व्यक्ताव्यक्त और सघाटक के भेद से दो प्रकार का है और अनीश्वर भी व्यक्ताव्यक्त तथा संघाटक के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ पर गाथा में 'च' शब्द समुच्चयार्थक है जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर दो प्रकार का है और अनीश्वर भी दो प्रकार का है।

शार्थो दोष इति । ईश्वरो व्यक्ताव्यक्तसघाटभेदेन द्विविध. । अनीश्वरो व्यक्ताव्यक्तसघाटभेदेन द्विविध इति । अत्र चशब्द समुच्चयार्थो द्रष्टव्य । ईश्वरो द्विविध । अनीश्चरो द्विविधः । प्रथम ईश्वरेण व्यक्ताव्यक्तसघाटकेन वा सारक्षोऽनीशार्थ । द्वितीयोऽनीश्चरेण व्यक्ताव्यक्तसघाटकेन वा सरक्ष्योऽनीशार्थ इति अथवा व्यक्तेनाव्यक्तेन चेश्वरेण सारक्ष्य प्रथम ईश्वरानीशार्थो द्विविधः । तथा व्यक्तेनाव्यक्तेन चानीश्वरेण सारक्ष्य, द्वितीयोऽनीश्वरोऽ नीशार्थो द्विविध इति । तथा सघाटकेन च सारक्ष्य पृथग्भूतोऽय दोषोऽनीशार्थो द्रष्टव्य सर्वत्र विरोधदर्शनादिति । अथवा निसृष्टो मुक्तो न निसृष्टो ऽनिसृष्टो निवारित स च द्विविधः ईश्वरोऽनीश्वरश्च । ईश्वरेण निसृष्टोऽनीश्वरेणऽनिसृष्ट ईश्वरश्चतुर्भेदोऽनीश्वर इति । प्रथम ईश्वर सारक्षो व्यक्तोऽव्यक्त सघाटक । तथानीश्वरो ऽपि सारक्षो व्यक्तोऽव्यक्त सघाटक. । मन्त्रादियुक्त सारक्ष बालो व्यक्त द्वयो स्वामित्व सघाटक । एवमनीश्वरोऽपि द्रष्टव्य इति । एतैरनिसृष्ट निषिद्ध दत्त वा दान यदि गृह्यते तदा निसृष्टो नाम दोषो भवति विरोधदर्शनादिति ॥४४४॥

उत्पादनदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

प्रथम—ईश्वर दान देता है और व्यक्त, अव्यक्त या सघाटक उसका निषेध करते है। वह ईश्वर सारक्ष अनीशार्थ है। दूसरा- -अनीश्वर अर्थात् अप्रधान दाता दान देता है और व्यक्त या सघाटक उसका निषेध करते है तो वह दान अनीश्वर सारक्ष अनीशार्थ है।

अथवा व्यक्त और अव्यक्त ईश्वर के द्वारा निषिद्ध प्रथम ईश्वर अनीशार्थ दो प्रकार का है। तथा व्यक्त और अव्यक्त अनीश्वर के द्वारा निषिद्ध दूसरा अनीश्वर अनीशार्थ दोष दो प्रकार का है।

तथा सघाटक के द्वारा निषिद्ध अनीशार्थ एक पृथक् दोष है ऐसा जानना, क्योंकि सर्वत्र विरोध देखा जाता है।

अथवा निसृष्ट—मुक्त अर्थात् जो त्याग किया गया है वह निसृष्ट है, जो निसृष्ट नही है वह अनिसृष्ट—निवारित किया गया है। यह भी ईश्वर और अनीश्वर के भेद से दो प्रकार का है। ईश्वर के द्वारा निसृष्ट, अनिसृष्ट तथा अनीश्वर के द्वारा निसृष्ट, अनिसृष्ट ऐसे चार भेद हो जाते है।

प्रथम ईश्वर इन सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और सघाटक से चार प्रकार का है। तथा अनीश्वर भी सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त और सघाटक से चार प्रकार का है। मत्रादियुक्त स्वामी को सारक्ष कहते है, बालक-अज्ञानी स्वामी को अव्यक्त कहते हैं, प्रेक्षापूर्वकारी--बुद्धिमान स्वामी व्यक्त है और अव्यक्त रूप पुरुष सघाटक है। ऐसे ही अनीश्वर में भी समझना चाहिए।

इनके द्वारा अनिसृष्ट निषिद्ध दान यदि साधु लेते है तो उन्हें निसृष्ट दोष होता है, क्योंकि विरोध देखा जाता है।

अब उत्पादन दोषो को कहते है—

धादीदूदणिमित्ते आजीवं वणिवग्गे य तेगिछे ।
कोधी माणी मायी लोही य हवंति दस एदे ॥४४५॥

धादी—धात्री माता । **दूद**—दूतो लेखधारकः । **णिमित्ते**—निमित्त ज्योतिष । **आजीवे**—आजीव-नमाजीविका । **वणिवग्गेय**—वनीपकवचनं दातुरनुकूलवचन । **तेगिछे**—चिकित्सा वैद्यशास्त्र । **कोधी**—क्रोधी । **माणी**—मानी । **माई**—मायी । **लोही**—लोभी । **हवंति दस एदे**—भवन्ति दशैत उत्पादनदोषाः । ॥४४५॥ तथा—

पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य ।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ॥४४६॥

स स्तुतिशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते । पूर्व सस्तु तित्पश्चात् संस्तुतिः । पूर्वसंस्तुतिः दानग्रहणात्प्राग्दातु. सस्तव , दान गृहीत्वा पश्चाद् दातु सस्तवन । **विज्जा**—विद्याकाशगामिनीरूपपरिवर्तिनी शस्त्रस्तम्भिन्यादिका । **मंते च**—मन्त्रश्च सर्पवृश्चिकविषापहरणाक्षराणि । **चुण्णजोगेय**—चूर्णयोगश्च गात्रभूषणादिनिमित्त द्रव्यधूलि । **उप्पादणा य दोसो**—उत्पादनायोत्पादननिमित्त दोष उत्पादनदोष. । स प्रत्येकमभिसम्बध्यते । **सोलसमो**—षोडशाना पूरण षोडश । **मूलकम्मेय**—मूलकर्मावशाना वशीकरण । धात्रीकर्मणा सहचरितो दोषोऽपि धात्रीत्युच्यत ॥४४६॥

त धात्रीदोष विवृण्वन्नाह—

गाथार्थ—धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी ये दस दोष है ॥४४५॥

आचारवृत्ति—धात्री अर्थात् माता के समान बालक का लालन आदि करके आहार ग्रहण करना, दूत—लेखधारक अर्थात् समाचार को पहुँचाने वाला, निमित्त—ज्योतिष, आजीवन—आजाविका, वनीपक—दाता के अनुकूल वचन, चिकित्सा—वैद्यशास्त्र, क्रोधी—क्रोध युक्त, मानी, मायी और लोभी अर्थात् इन-इन कार्यों को करके दाता से आहार ग्रहण करना ये दस उत्पादन दोष हुए । तथा—

गाथार्थ—पूर्व स्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मन्त्र, चूर्णयोग और मूलकर्म ये सब सोलह उत्पादन दोष है ॥४४६॥

आचारवृत्ति—दान ग्रहण के पहले दाता की स्तुति करना सो पूर्वसस्तुति है । दान ग्रहण करने के बाद दाता की स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति है । आकाशगामिनी, रूप परिवर्तिनी, शस्त्रस्तभिनी आदि विद्याएँ है । सर्प, बिच्छू आदि के विष दूर करनेवाले अक्षर मन्त्र कहलाते है । शरीर को भूषित करने आदि के लिए निमित्तभूत धूलि आदि वस्तुचूर्ण हैं । और, जो वश नही हैं उन्हे वशीकरण करना मूल कर्म है । ये सोलह उत्पादन दोष हैं । अर्थात् धात्री कर्म से सहचरित दोष भी धात्री नाम से कहा जाता है । इसी प्रकार सभी में समझना ।

धात्री दोष को कहते है—

मज्जणमंडणधादी खेल्लावणखीरअंबधादी य ।
पंचविधधादिकम्मेणुप्पादो धादिदोसो दु ॥४४७॥

धापयति दधातीति वा धात्री । **मार्जनधात्री**—बालं स्नपयति या सा मार्जनधात्री । मण्डयति विभूषयति तिलकादिभिर्या सा मण्डनधात्री मण्डननिमित्तं माता । बालं क्रीडयति रमयति क्रीडनधात्री क्रीडा-निमित्तं माता । क्षीरं स्तन्यं धारयति दधाति या सा क्षीरधात्री स्तनपायिनी । अम्बधात्री जननी, स्वापयति या साप्यम्बधात्री । एतासां पंचविधानां [1]धात्रीणां क्रियया कर्मणा य आहारादिरुत्पद्यते स धात्रीनामोत्पादन-दोषः । बालं स्नापयानेन प्रकारेण बालः स्नाप्यते येन सुखी नीरोगी च भवतीयेत्वं मार्जननिमित्तं वा कर्म गृहस्थायोपदिशति, तेन च कर्मणा गृहस्थो दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य धात्रीनामोत्पादन-दोषः । तथा बालं स्वयं मण्डयति मण्डननिमित्तं वा कर्मोपदिशति यस्मै दात्रे स तेन भक्तः सन् दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य मण्डनधात्रीनामोत्पादनदोषः । तथा बालं स्वयं क्रीडयति क्रीडानिमित्तं च क्रियामुपदिशति यस्मै दात्रे स दाता दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति साधुस्तस्य क्रीडनधात्री नामोत्पादन-दोषः । तथा येन क्षीरं भवति येन च विधानेन बालाय क्षीरं दीयते तदुपदिशति यस्मै दात्रे स भक्तः सन् दाता

गाथार्थ—मार्जनधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडनधात्री, क्षीरधात्री और अम्बधात्री इन पाँच प्रकार के धात्री कर्म द्वारा उत्पन्न कराया गया आहार धात्री दोष है ॥४४७॥

आचारवृत्ति—जो दूध पिलाती है अथवा पालन-पोषण करती है वह धात्री कहलाती है। जो बालक को स्नान कराती है वह मार्जनधात्री है। जो तिलक आदि लगाकर बालक को भूषित करती है वह मण्डन के निमित्त माता है अतः उसे मण्डनधात्री कहते हैं। जो बालक को क्रीडा कराती है, रमाती है वह क्रीडन निमित्त माता है अतः उसे क्रीडनधात्री कहते हैं। जो दूध पिलाती है वह स्तनपायिनी क्षीरधात्री है। जननी—जन्म देनेवाली को अम्बधात्री कहते हैं अथवा जो सुलाती है वह भी अम्बधात्री कहलाती है। जो साधु इन पाँच प्रकार की धात्री की क्रिया करके आहार आदि उत्पन्न कराते हैं उनको धात्री नाम का उत्पादन दोष लगता है। अर्थात् बालक को इस प्रकार से नहलाओ, ऐसे स्नान कराने से यह बालक सुखी और निरोग रहेगा, इत्यादि प्रकार से बालकों के नहलाने सम्बन्धी कार्य को जो गृहस्थ के लिए बताते हैं और उस कार्य से गृहस्थ दान के लिए प्रवृत्ति करता है, पुनः साधु यदि उस आहार को ले लेता है तब उसके यह मार्जनधात्री नामक उत्पादन दोष होता है।

उसी प्रकार से जो बालक को स्वयं विभूषित करता है अथवा विभूषित करने के तरीके गृहस्थ को बतलाता है पुनः वह दाता मुनि का भक्त होकर यदि उन्हें आहार देता है और मुनि यदि ले लेता है तो उनके यह मण्डनधात्री नाम का उत्पादन दोष होता है। उसी प्रकार से जो स्वयं बालक को क्रीडा कराता है या क्रीड़ा निमित्त जिसके उपदेश देता है वह दाता यदि दान के लिए प्रवृत्त होता है और मुनि उससे आहार ले लेता है तब उन मुनि के क्रीडनधात्री नामक उत्पादन दोष होता है। जिस प्रकार से स्तन में दूध होता है और जिस विधान से बालक को दूध पिलाया जाता है उस प्रकार का उपदेश जिसको दिया जाय, वह

[1] क धात्रीकर्मणा क्रियया च ।

दानाय प्रवर्तते तद्दानं यदि गृह्णाति तदा तस्य क्षीरधात्रीनामोत्पादनदोष.। तथा स्वय स्वापयति स्वापननिमित्तं विधान चोपदिशति यस्मै दात्रे स दाता दानाय प्रवर्तते तद्दान यदि गृह्णाति तदा तस्याम्बधात्रीनामोत्पादन-दोष । कथमय दोष इति चेत् स्वाध्यायविनाशमार्गदूषणादिदर्शनादिति ॥४४७॥

दूतनामोत्पादनदोष विवृण्वन्नाह—

जलथलआयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
संबंधिवयणणयण दूदीदोसो हवदि एसो ॥४४८॥

स्वग्रामात्परग्राम गच्छति जले नावा तथा स्वदेशात्परदेश गच्छति जले नावा तत्र तस्य गच्छत कश्चिद् गृहस्थ एवमाह—भट्टारक ! मदीय सदेश गृहीत्वा गच्छ स साधुस्तत्सम्बन्धिनो वचन नीत्वा निवेदयति यस्मै प्रहित स परग्रामस्थ परदेशस्थश्च तद्वचन श्रुत्वा तुष्ट सन् दानादिक ददाति तद्दानादिक यदि साधु-र्गृह्णाति तदा तस्य दूतकर्मणोत्पादनदोष.। तथा स्थले गच्छत आकाशे च गच्छत. साधोर्यत्सम्बन्धिवचननयन स्वग्रामात्परग्रामे स्वदेशात्परदेशे, यस्मिन् ग्रामे तिष्ठति स स्वग्राम इत्युच्यते, तथा यस्मिन् देशे तिष्ठति बहूनि

गृहस्थ भक्त होकर आहार दान देवे और यदि मुनि वह आहार ले लेवे तब उनके क्षीरधात्री नामक उत्पादन दोष होता है। ऐसे ही बालक को स्वयं जो सुलाता है अथवा सुलाने के प्रकार का उपदेश देता है और वह दाता उससे प्रभावित होकर मुनि को आहार देता है, यदि मुनि उसमे आहार ग्रहण कर लेते है तब उनके अम्बधात्री नाम का उत्पादन दोष होता है।

प्रश्न—यह दोष क्यो है ?

उत्तर—इससे साधु के स्वाध्याय का विनाश होता है और मार्ग अर्थात् मुनिमार्ग मे दूषण आदि लगते हैं। अत यह दोष है।

दूत नामक उत्पादन दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—स्व से पर ग्राम में या स्वदेश से परदेश मे जल, स्थल या आकाश से जाते समय किसी के सम्बन्धो के वचनों को ले जाना यह दूत दोष होता है ॥४४८॥

आचारवृत्ति—नाव के द्वारा जल को पार करके स्वग्राम से या परग्राम को जाते हो या जल, नदी आदि को पार करने मे नाव से बैठकर स्वदेश से परदेश को जाते हों उस समय यदि कोई ग्रहस्थ ऐसा कहे कि हे भट्टारक ! मेरा सन्देश लेते जाइए और तब वे साधु भी उसके सन्देश को ले जाकर जिसको कहें वह श्रावक परग्राम का हो या परदेश में मुनि के वचन को सुनकर उन पर सन्तुष्ट होकर उन्हें दान आदि देता है और यदि मुनि वह आहार ले लेते हैं तो उनके दूतकर्म नाम का उत्पादन दोष होता है।

इसी तरह साधु स्थल से जाते हो या आकाश मार्ग से जा रहे हों, यदि गृहस्थ के सन्देश वचन को ले जाकर अन्य ग्राम या देश में किसी गृहस्थ को कहते हैं और वह गृहस्थ सन्देश को सुनकर प्रसन्न होकर यदि मुनि को दान देता है तथा वे ले लेते हैं तो दूत कर्म दोष होता है।

जिस ग्राम में साधु रहते हैं वह उस समय उनका स्वग्राम है और जिस देश में बहुत

दिनानि स स्वदेश इत्युच्यते। इत्येव जलगत स्थलगतमाकाशगत च तद्दूतेन नीयते इति तद्दूतमित्युच्यते। यदेतत्सम्बन्धिनो वचनस्य नयन स एष दूतदोषो भवति। दूतकर्म शासनदोषायेति दोषदर्शनादिति ॥४४८॥

निमित्तस्वरूपमाह—

वजणमंग च सरं छिण्णं भूमं च अंतरिक्खं च।
लक्खण सुविणं च तहा अट्ठविहं होइ णेमित्त ॥४४९॥

व्यञ्जन मशकतिलकादिक। अङ्ग च शरीरावयव। स्वर शब्द। छिन्न छेद, खड्गादिप्रहारो वस्त्रादिच्छेदो वा। भूमि भूमिविभाग। अन्तरिक्षमादित्यगृहाद्युदयास्तमन। लक्षण नन्दिकावर्तपद्मचक्रादिक। स्वप्नश्च सुप्तस्य हस्तिविमानमहिषारोहणादिदर्शन च तथाष्टप्रकार भवति निमित्त। व्यञ्जनं दृष्ट्वा यच्छुभाशुभ ज्ञायते पुरुषस्य तद्व्यञ्जननिमित्तमित्युच्यते। तथाङ्ग शिरोग्रीवादिक दृष्ट्वा पुरुषस्य यच्छुभाशुभं ज्ञायते तदङ्गनिमित्तमिति। तथा य स्वर शब्दविशेष श्रुत्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभ ज्ञायते तत्स्वरनिमि-

---

दिन रहते हैं वह स्वदेश कहलाता है। जल से पार होते समय, स्थल से जाते समय या आकाश मार्ग से गमन करते समय जो दूत के द्वारा समाचार ले जाया जाता है वह दूतकर्म है उस सम्बन्धी वचन को लेजाने वाले साधु को भी दूत नाम का दोष होता है। क्योकि यह दूतकर्म जिन शासन मे दोष का कारण है अत दोष रूप है।

निमित्त का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—व्यंजन, अग, स्वर, छिन्न, भूमि, अतरिक्ष और स्वप्न इस तरह निमित्त आठ प्रकार का होता है ॥४४९॥

आचारवृत्ति—मशक तिलक आदि व्यजन है। शरीर के अवयव अग है। शब्द को स्वर कहते हैं। छन्द का नाम छिन्न है। खड्ग आदि का प्रहार अथवा वस्त्रादि का छिन्न होना—कट-फट जाना यह सब छिन्न है। भूमिविभाग को भूमि कहते है। सूर्य, ग्रह आदि के उदय-अस्त सम्बन्धी ज्ञान को अतरिक्ष कहते हैं, नन्दिका वर्त, पद्मचक्र आदि लक्षण है। सोते में हाथी, विमान, भैस पर आरोहण आदि देखना स्वप्न है। इस तरह निमित्त ज्ञान आठ प्रकार का होता है। उसका स्पष्टीकरण—

किसी पुरुष के व्यजन-मसा तिल आदि को देखकर जो शुभ या अशुभ जाना जाता है वह व्यजन निमित्त है। किसी पुरुष के सिर, ग्रीवा आदि अवयव देखकर जो उसका शुभ या अशुभ जाना जाता है वह अग निमित्त है। किसी पुरुष या अन्य प्राणी के शब्द विशेष को सुनकर जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह स्वर निमित्त है। किसी प्रहार या छेद को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह छिन्न निमित्त है। किसी भूमिविभाग को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है वह भौमनिमित्त है। आकाश में होने वाले ग्रह युद्ध, ग्रहों का अस्तमन, ग्रहो का निर्घात आदि देखकर जो प्रजा का शुभ या अशुभ जाना जाता है वह अतरिक्ष निमित्त है। जिस लक्षण को देखकर पुरुष या अन्य का शुभ-अशुभ जाना जाता है वह लक्षणनिमित्त है। जिस स्वप्न को देखकर पुरुष या अन्य किसी का

त्तमिति । यं प्रहारं छेदं वा दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तच्छिन्ननिमित्तं नाम। तथा यं भूमि-विभागं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तद्भौमनिमित्तं नाम । यदन्तरिक्षस्य व्यवस्थित ग्रहयुद्ध ग्रहास्तमनं ग्रहविघातादिक समीक्ष्य प्रजायाः शुभाशुभं विबुध्यते तदन्तरिक्ष नाम। यल्लक्षणं दृष्ट्वा पुरुष-स्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तल्लक्षणनिमित्त नाम । य स्वप्न दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं परिच्छिद्यते तत्स्वप्ननिमित्त नाम । तथा चशब्देन भूमिगर्जनदिग्दाहादिकं परिगृह्यते । एतेन निमित्तेन भिक्षामुत्पाद्य यदि भुक्ते तदा यस्य निमित्तनामोत्पादनदोषः । रसास्वादनदैन्यादिदोषदर्शनादिति ।।४४९।।

आजीवं दोषं निरूपयन्नाह—

जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीव ।
तेहिं पुण उप्पादो आजीव दोसो हवदि एसो ।।४५०।।

जातिर्मातृसन्तति । कुल पितृसन्ततिः । मातृशुद्धिः । पितृशुद्धिर्वा । शिल्पकर्म लेपचित्रपुस्तकादि-कर्म हस्तविज्ञानं । तप कर्म तपोऽनुष्ठान । ईश्वरत्वं च । आजीव्यतेऽनेनाजीव । आत्मनो जाति कुल च निर्दिश्य शिल्पकर्म तप कर्मेश्वरत्वं च निर्दिश्याजीवनं करोति यतोऽत आजीववचनान्येतानि तेभ्यो जातिकथनादिभ्यः पुनरुत्पाद आहारस्य योऽय स आजीवदोषो भवत्येष वीर्यगूहनदीनत्वादिदोषदर्शनादिति ।।४५०।।

शुभ या अशुभ जाना जाता है वह स्वप्न निमित्त है। तथा च शब्द से भूमि, गर्जना, दिग्दाह आदि को भी ग्रहण करना चाहिए अर्थात् इनके निमित्त से भी जो जनता का शुभ-अशुभ जाना जाता है वह सब इनमें ही शामिल हो जाता है।

इन निमित्तों के द्वारा जो भिक्षा को उत्पन्न कराकर आहार लेते हैं अर्थात् निमित्त ज्ञान के द्वारा श्रावकों को शुभ-अशुभ बतलाकर पुन. बदले मे उनसे दिया हुआ आहार जो मुनि ग्रहण करते है उनके यह निमित्त नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमे रसों का आस्वा-दन अर्थात् गृच्छता और दीनता आदि दोष आते है।

आजीव दोष का निरूपण करते हैं—

गाथार्थ—जाति, कुल, शिल्प, तप और ईश्वरता ये आजीव है। इनसे पुन. (आहार का) उत्पन्न करना यह आजीव दोष है ।।४५०।।

आचारवृत्ति—माता की सतति जाति है। पिता की सतति कुल है। अर्थात् माता के पक्ष की शुद्धि अथवा पिता के पक्ष की शुद्धि को ही यहाँ जाति या कुल कहा है। लेप, चित्र, पुस्तक आदि कर्म या हस्त विज्ञान शिल्पकर्म है। तप का अनुष्ठान तपकर्म है। और ईश्वरता, इनके द्वारा जो आजीविका की जाती है वह 'आजीव' कहलाती है।

कोई साधु अपनी जाति और कुल का निर्देश करके, या शिल्पकर्म या तपश्चरण अथवा ईश्वरत्व को बतलाकर यदि आजीविका करता है अर्थात् जाति आदि के कथन द्वारा अपनी विशेषता बतलाकर पुन: उस दाता के द्वारा दिये गये आहार को जो ग्रहण करता है उसके यह आजीव नाम का दोष होता है; क्योंकि उसमें अपने वीर्य का छिपाना, दीनता आदि करना ऐसे दोष आते हैं।

वनीपकवचनं निरूपयन्नाह—

साणकिविणतिधिमांहणपासंडियसवणकागदाणादी ।
पुण्णं णवेति पुट्ठे पुण्णेत्ति य वणीवयं वयणं ॥४५१॥

शुना, कृपणादीनां कुष्ट[1]व्याध्याद्यार्तादीनां अतिथीनां मध्याह्नकालागतानां भिक्षुकाणां, ब्राह्मणानां मासादिभक्षिणां पाखण्डिनां दीक्षोपजीविनां, श्रवणानामाजीवकानां छात्राणां वा काकादीनां च यद्दानादिकं दीयते तेन पुण्यं भवति किं वा न भवतीत्येवं पृष्टे दानपतिना, 'भवति पुण्यमिति' यद्येवं ब्रूयात्तद्वनीपकं वचनं दानपत्यनुकूलवचनं प्रतिपाद्य यदि भुञ्जीत तस्य वनीपकनामोत्पादनदोषः दीनत्वादिदोषदर्शनादिति ॥४५१॥

चिकित्सां प्रतिपादयन्नाह—

कोमारतणुतिगिछारसायणविसभूदखारतंतं च ।
सालकिय च सल्लं तिगिछदोसो दु अट्ठविहो ॥४५२॥

कौमारं बालवैद्यं मासिकसांवत्सरिकादिग्रहत्रासनहेतु शास्त्रं तनुचिकित्साज्वरादिनिराकरणं कण्ठोदरशोधनकारणं च, रसायनं बलिपलितादिनिराकरणं बहुकालजीवित्वं च, विषं स्थावरजंगमं सकृत्रिम-भेदभिन्नं । तस्य विषस्य चिकित्सा विषापहारः भूत (त) पिशाचादि तस्य चिकित्सा भूतापनयनशास्त्रं ।

वनीपक वचन का निरूपण करते है—

गाथार्थ—कुत्ता, कृपण, अतिथि, ब्राह्मण, पाखण्डी, श्रमण और कौवा इनको दान आदि करने से पुण्य है या नही । ऐसा पूछने पर पुण्य है ऐसा बोलना वनीपक वचन है ॥४५१॥

आचारवृत्ति—कुत्ते, कृपण आदि—कुष्ठ व्याधि आदि से पीडित जन, अतिथि—मध्याह्न काल मे आगत भिक्षुकजन, ब्राह्मण—मासादि भक्षण की प्रवृत्तिवाले ब्राह्मण, पाखण्डी—दीक्षा से उपजीविका करनेवाले, श्रमण—आजीवक नाम के साधु अथवा छात्र और कौवे आदि इनको जो दान दिया जाता है,उससे पुण्य होता है या नही ? ऐसा दानपति के द्वारा पूछने पर, 'पुण्य होता है' यदि इस प्रकार से मुनि दाता के अनुकूल वचन बोल देते है, पुन दाता प्रसन्न होकर उन्हे आहार देता है और वे ग्रहण कर लेते है तो उनके यह वनीपक नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमे भी दीनता आदि दोष दिखाई देते है ।

चिकित्सा दोष का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—कौमार, तनुचिकित्सा, रसायन, विष, भूत, क्षारतन्त्र, शालाकिक और शल्य ये आठ प्रकार का चिकित्सा दोष है ॥४५२॥

आचारवृत्ति—कौमार—बाल वैद्य शास्त्र अर्थात् मासिक, सांवत्सरिक आदि पीडा देने वाले ग्रहो के निराकरण के लिए उपायभूत शास्त्र । तनुचिकित्सा—ज्वर आदि को दूर करनेवाले, और कण्ठ, उदर के शोधन करनेवाले शास्त्र । रसायन—शरीर की सिकुड़न वृद्धावस्था आदि को दूर करनेवाली और बहुत काल तक जीवन दान देनेवाली औषधि । विष—स्थावरविष और जगम विष तथा कृत्रिम विष और अकृत्रिमविष, इन

---

[1] क 'कव्याद्या'

क्षारतंत्र क्षारद्रव्य दुष्टव्रणादिशोधनकरं। शलाकया निर्वृत्तं शालाकिकं अक्षिपटलाद्युद्घाटनं। शल्यं भूमिशल्यं शरीरशल्यं च तोमरादिकं शरीरशल्यं अस्थ्यादिकं भूमिशल्यं तस्यापनयनकारकं शास्त्रं शल्यमित्युच्यते। तथा विषापनयनशास्त्रं विषमिति। भूतापनयननिमित्तं शास्त्रं भूतमिति, कार्ये कारणोपचारादिति। अथवा चिकित्साशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते काकाक्षितारकवदिति। एवमष्टप्रकारेण चिकित्साशास्त्रेणोपकारं कृत्वाहारादिकं गृह्णाति तदानीं तस्याष्टप्रकारश्चिकित्सादोषो भवत्येव सावद्यादिदोषदर्शनादिति ॥४५२॥

क्रोधमानमायालोभदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

कोधेण य माणेण य मायालोभेण चावि उप्पादो।
उप्पादणा य दोसो चदुव्विहो होदि णायव्वो ॥४५३॥

क्रोधमानमायालोभेन[1] च योऽयं भिक्षाया उत्पाद. स उत्पादनदोषश्चतुष्प्रकारस्तैर्ज्ञातव्य इति। क्रोध कृत्वा भिक्षामुत्पादयति आत्मनो यदि तदा क्रोधो नामोत्पादनदोष तथा मान गर्व कृत्वा यद्यात्मनो भिक्षादिकमुत्पादयति तदा मानदोष। माया कुटिलभावं कृत्वा यद्यात्मनो भिक्षादिकमुत्पादयति मायानामो-

---

विषो से होनेवाली बाधा की चिकित्सा करना अर्थात् विष को दूर करना। भूत—भूत-पिशाच आदि की चिकित्सा करना अर्थात् भूत आदि को निकालने का शास्त्र। क्षारतन्त्र—सड़े हुए घाव आदि का शोधन करने वाली चिकित्सा। शालाकिक—शलाका से होने वाली चिकित्सा शालाकिक है अर्थात् नेत्र के ऊपर आए हुए पटल—मोतियाबिन्दु आदि को दूर करके नेत्र को खोलनेवाली चिकित्सा शालाकिक कहलाती है। शल्य—भूमि-शल्य और शरीर-शल्य ऐसे दो भेद है, तोमर आदि को शरीरशल्य कहते हैं और हड्डी आदि को भूमिशल्य कहते है, इन शल्यों को दूर करनेवाले शास्त्र भी शल्य नाम से कहे जाते है।

यहाँ पर इन आठ चिकित्सा विषयक शास्त्रों को लिया गया है जैसे, विष को दूर करनेवाले शास्त्र 'विष' नाम से कहे गये है। और भूत को दूर करनेवाले शास्त्र 'भूत' नाम से कहे गये हैं। क्योंकि कारण मे कार्य का उपचार किया गया है। अथवा काकाक्षितारक न्याय के समान चिकित्सा शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। इन आठ प्रकार के चिकित्सा शास्त्र के द्वारा जो मुनि गृहस्थ का उपकार करके उनसे यदि आहार आदि लेते हैं तो उनके यह आठ प्रकार का चिकित्सा नाम का दोष होता है, क्योंकि इसमे सावद्य आदि दोष देखे जाते हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ दोषो का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से भी आहार उत्पन्न कराना—यह चार प्रकार का उत्पादन दोष होता है ॥४५३॥

आचारवृत्ति—क्रोध को करके अपने लिए यदि भिक्षा उत्पन्न कराते हैं तो क्रोध नाम का उत्पादन दोष होता है। उसी प्रकार से गर्व को करके अपने लिए आहार उत्पन्न कराते हैं तो मान दोष होता है। कुटिल भाव करके यदि अपने लिए आहार उत्पन्न कराते हैं तो माया

---

१ क क्रोधेन मानेन मायया लोभेन च।

त्पादनदोष.। तथा लोभ काक्षा प्रदर्श्य भिक्षा यद्यात्मन उत्पादयति तदा लोभोत्पादनदोषो भावदोषादि-दर्शनादिति ॥४५३॥

पुनरपि तान् दृष्टान्तेन पोपयन्नाह—

कोधो य हत्थिकप्पे माणो [1]बेणायडम्मि णयरम्मि।
माया वाणारसिए लोहो पुण रासियाणम्मि ॥४५४॥

हस्तिकल्पपत्तने कश्चित्साधु क्रोधेन भिक्षामुत्पादितवान्। तथा वेन्नातटनगरे कश्चित्सयतो मानेन भिक्षामुत्पादितवान्। तथा वाराणस्या कश्चित्साधुः माया कृत्वा भिक्षामुत्पादितवान्। तथान्य सयतो लोभ प्रदर्श्य राशियाने भिक्षामुत्पादितवानिति। तेन क्रोधो हस्तिकल्पे, मानो वेन्नातटनगरे माया वाराणस्या लोभो राशियाने इत्युच्यते। अत्र कथा उत्प्रेक्ष्य वाच्या इति ॥४५४॥

पूर्वसस्तुतिदोषमाह—

दायगपुरदो कित्ती त दाणवदी जसोधरो वेत्ति।
पुव्वीसंथुदि दोसो विस्सरिदे बोधणं चावि ॥४५५॥

ददातीति दायको दानपति तस्य पुरत कीर्ति ख्याति ब्रूते। कथ, त्व दानपतिर्यशोधर त्वदीया

दोष होता है और यदि लोभ-काक्षा को दिखाकर भिक्षा उत्पन्न कराते है तो लोभ नाम का उत्पादन दोष होता है। इन चारो दोषो मे भावो का दोष आदि देखा जाता है। अर्थात् परिणाम दूषित होने से ये दोष माने गये है।

पुनरपि इनको दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते है—

गाथार्थ—हस्तिकल्प मे क्रोध, वेन्नतट नगर मे मान, वाराणसी मे माया और राशि-यान में लोभ के—इस प्रकार इन चारो के दृष्टान्त प्रसिद्ध है ॥४५४॥

आचारवृत्ति—हस्तिकल्प नाम के पत्तन मे किसी साधु न क्रोध करके आहार का उत्पादन कराकर ग्रहण किया। वेन्नतट नगर मे किसी सयत ने मान करके आहार को बनवाकर ग्रहण किया। बनारस मे किसी साधु ने माया करके आहार को उत्पन्न कराया तथा राशियान देश में अन्य किसी सयत ने लोभ दिखाकर आहार उत्पन्न कराकर लिया। इसलिए हस्तिकल्प मे क्रोध इत्यादि ये चार दृष्टान्त कहे गये है। यहाँ पर इन कथाओ को मानकर कहना चाहिए।

पूर्व-सस्तुति दोष को कहते है—

गाथार्थ—तुम दानपति हो अथवा यशस्वी हो, इस तरह दाता के सामने उसकी प्रशसा करना और उसके दान देना भूल जाने पर उसे याद दिलाना पूर्व-सस्तुति नाम का दोष है ॥४५५॥

आचारवृत्ति—जो दान देता है, वह दायक कहलाता है, उसके समक्ष उसकी ख्याति करना। कैसे? तुम दानपति हो, यश को धारण करनेवाले हो, लोक मे तुम्हारी कीर्ति फैली

---

1 क विण्णाय

कीर्तिर्विश्रुता लोके। यद्दातुरग्रतो दानग्रहणात्प्रागेव ब्रूते तस्य पूर्वसस्तुतिदोषो नाम जायते। विस्मृतस्य च दानसम्बोधनं त्वं पूर्वं महादानपतिरिदानीं किमिति कृत्वा विस्मृत इति सम्बोधनं करोति यस्तस्यापि पूर्वसस्तुतिदोषो भवतीति। या कीर्तिं ब्रूते, यच्च स्मरणं करोति तत्सर्वं पूर्वसस्तुतिदोषो नग्नाचार्यकर्तव्यदोषदर्शनादिति ॥४५५॥

पश्चात्सस्तुतिदोषमाह—

पच्छा सथुदिदोसो दाणं गहिदूण तं पुणो कित्ति।
विक्खादो दाणवदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंति ॥४५६॥

पश्चात्सस्तुतिदोषो दानमाहारादिकं गृहीत्वा ततः पुनः पश्चादेव कीर्तिं ब्रूते विख्यातस्त्वं दानपतिस्त्वं, तव यशोविश्रुतमिति ब्रूते यस्तस्य पश्चात् सस्तुतिदोषः, कार्पण्यादिदोषदर्शनादिति ॥४५६॥

विद्यानामोत्पादनदोषमाह—

विज्जा साधितसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो ॥४५७॥

विद्या नाम साधितसिद्धा साधिता सती सिद्धा भवति तस्या विद्याया आशाप्रदानकरणेन तुभ्यमहं विद्यामिमां दास्यामि तस्याश्च माहात्म्येन यो जीवति तस्य विद्योत्पादनो नाम दोषः आहाराद्याकांक्षया

हुई है। इस तरह आहार ग्रहण के पहले ही यदि मुनि दाता के सामने बोलते है तो उनके पूर्व-सस्तुति नाम का दोष होता है। यदि वह भूल गया है तो उसको याद दिलाना कि तुम पहले महादानपति थे इस समय किस कारण से भूल गये हो। इस तरह यदि कहते है तो भी उन मुनि के पूर्व-सस्तुति नाम का दोष होता है। यह नग्नाचार्य-स्तुतिपाठक भाटो का कार्य है। इस तरह स्तुति-प्रशसा करना यह मुनियो का कार्य नही है अत यह दोष है।

पश्चात्-सस्तुति दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—दान को लेकर पुनः कीर्ति को कहते हैं। तुम दानपति विख्यात हो, तुम्हारा यश प्रसिद्ध है यह पश्चात्सस्तुति दोष है ॥४५६॥

आचारवृत्ति—आहार आदि दान ग्रहण करने के पश्चात् जो इसतरह कीर्ति को कहते है कि 'तुम दानपति हो, तुम विख्यात हो, तुम्हारा यश प्रसिद्ध हो रहा है' यह पश्चात्सस्तुति दोष है, चूँकि इसमें कृपणता आदि दोष देखे जाते हैं।

विद्या नामक उत्पादन-दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो साधितसिद्ध है वह विद्या है। उसकी आशा प्रदान करने या उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना विद्या दोष है ॥४५७॥

आचारवृत्ति—जो साधित करने पर सिद्ध होती है उन्हे विद्या कहते है। उन विद्याओ की आशा देना अर्थात् 'मैं तुम्हें इस विद्या को दूँगा', अथवा उस विद्या के माहात्म्य से जो अपना जीवन चलाते हैं उनके विद्या नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमें आहार आदि की

दर्शनादिति ।।४५७।।

मन्त्रोत्पादनदोषमाह—

सिद्धे पढिदे मंते तस्य य आसापदाणकरणेण।
तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु ।।४५८।।

सिद्धे पठिते मन्त्रे पठितमात्रेण यो मन्त्रः सिद्धिमुपयाति स पठितसिद्धो मन्त्रस्तस्य मन्त्रस्याशाप्रदानकरणेन तवेमं मन्त्रं दास्यामीत्याशाकरणयुक्त्या तस्य माहात्म्येन च यो जीवत्याहारादिकं च गृह्णाति तस्य मन्त्रोत्पादनदोषः । लोकप्रतारणजिह्वागृद्ध्यादिदोषदर्शनादिति ।।४५८।।

अथवा विद्योत्पादनदोषो मन्त्रोत्पादनदोषश्चैवं ग्राह्य इत्याशंक्याह—

आहारदायगाणं विज्जामंतेहिं देवदाणं तु।
आहूय साधिदव्वा विज्जामंतो हवे दोसो ।।४५९।।

आहारदात्री भोजनदानशीला देवता व्यंतरादिदेवान् विद्यया मन्त्रेण चाहूयानीय साधितव्यास्तासां साधनं क्रियते यद्दानार्थं स विद्यादोषो मन्त्रदोषश्च भवति । अथवाऽऽहारदायकानां निमित्तं विद्यया मन्त्रेण वाहूय देवतानां साधितव्यं साधनं क्रियते तत् स विद्यामन्त्रदोषः । अस्य च पूर्वयोर्विद्यामन्त्रदोषयोर्मध्ये निपातः इति कृत्वा नायं पृथग्दोषः पठितस्तयोरन्तर्भावादिति ।।४५९।।

आकांक्षा देखी जाती है।

मन्त्र नामक उत्पादन दोष कहते हैं—

गाथार्थ—जो पढ़ते ही सिद्ध हो वह मन्त्र है। उस मन्त्र के लिए आशा देने से और उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना सो मन्त्रदोष है ।।४५८।।

आचारवृत्ति—जो मन्त्र पढ़ने मात्र से सिद्ध हो जाता है वह पठितसिद्ध मन्त्र है। उस मन्त्र की आशा प्रदान करना अर्थात् 'तुम्हें मैं यह मन्त्र दूँगा' ऐसी आशा प्रदान करने की युक्ति से और उस मन्त्र के माहात्म्य से जो जीते हैं, आहार उत्पन्न कराकर लेते हैं उनके मन्त्र नाम का उत्पादन दोष होता है, क्योंकि इसमें लोकप्रतारणा, जिह्वा की गृद्धता आदि दोष देखे जाते हैं।

अथवा विद्या-उत्पादन दोष और मन्त्र-उत्पादन दोष का ऐसा अर्थ करना—

गाथार्थ—आहार दायक देवताओं को विद्या मन्त्र से बुलाकर सिद्ध करना विद्यामन्त्र दोष होता है ।।४५९।।

आचारवृत्ति—आहार देने वाली देवियाँ हुआ करती हैं, ऐसे आहार-दायक व्यंतर देवों को विद्या या मन्त्र के द्वारा बुलाकर उनको आहार के लिए सिद्ध करना, सो यह विद्यादोष और मन्त्रदोष है। अथवा आहार दाताओं के लिए विद्या या मन्त्र से देवताओं को बुलाकर उनको सिद्ध करना सो यह विद्यामन्त्र दोष है। इस दोष का पूर्व के विद्यादोष और मन्त्रदोष में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः यह पृथक् दोष नहीं है।

चूर्णदोषमाह—

णेत्तस्संजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयर।
चुण्णं तेणुप्पादो चुण्णयदोसो हवदि एसो ॥४६०॥

नेत्रयोरञ्जन चूर्णं चक्षुषोनिर्मलीकरणनिमित्तमञ्जन द्रव्यरज.। तथा भूषणनिमित्त चूर्णं येन चूर्णेन तिलकपत्र[1]स्थल्यादय क्रियन्ते तद्भूषणद्रव्यरजः। गात्रस्य शरीरस्य शोभाकर च चूर्ण येन चूर्णेन शरीरस्य शोभाकर दीप्त्यादयो भवन्ति तच्छरीरशोभानिमित्त चूर्णमिति । तेन चूर्णेन योयमुत्पादो भोजनस्य क्रियते स चूर्णोत्पादनामदोषो भवत्येष जीविकादिक्रियया जीवनादिति ॥४६०॥

मूलकर्मदोष प्रतिपादयन्नाह—

अवसाणं वसियरणं संजोजयणं च विप्पजुत्ताणं।
भणिदं तु मूलकम्मं एदे उप्पादणा दोसा ॥४६१॥

अवशानां वशीकरण यद्विप्रयुक्ताना च सयोजन यत्क्रियते तद्भणित मूलकर्म । अनेन मूलकर्मणोत्पादो यो भक्तादिकस्य स मूलकर्मदोष सुष्ठु लज्जाद्याभोगस्य करणादिति । एते उत्पादनदोषास्तथोद्गमदोषाश्च सर्व एते परित्याज्या अध कर्मांशदर्शनात् । एतेष्वध कर्मांशस्य सद्भावोऽस्ति यत । तथान्ये च दोषा

चूर्ण दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—नेत्रो के लिए अंजनचूर्ण और शरीर को भषित करनेवाले भूषणचूर्ण ये चूर्ण है। इन चूर्णो से आहार उत्पन्न कराना सो यह चूर्ण दोष होता है ॥४६०॥

आचारवृत्ति—चक्षु को निर्मल करने के लिए जो अजन या सुरमा आदि होता है वह अजनचूर्ण है, जिस चूर्ण से तिलक या पत्रवल्ली आदि की जाती है वह भूषणचूर्ण है, शरीर शोभित करनेवाला चूर्ण अर्थात् जिस चूर्ण से शरीर मे दीप्ति आदि होती है वह शरीर शोभा निमित्त चूर्ण है। इन चूर्णो के द्वारा जो भोजन बनवाते है वह चूर्ण नामक उत्पादन दोष है। इससे जीविका आदि करने से यह दोष माना जाता है।

मूलकर्म दोष को कहते है—

गाथार्थ—अवशों का वशीकरण करना और वियुक्त हुए जनों का सयोग कराना यह मूलकर्म कहा गया है। इस प्रकार ये सोलह उत्पादन दोष है ॥४६१॥

आचारवृत्ति—जो वश मे नही है उनका वशीकरण करना और जिनका आपस में वियोग हो रहा है उनका सयोग करा देना यह मूलकर्म दोष है। इस मूलकर्म के द्वारा आहार उत्पन्न कराकर जो मुनि लेते है उनके मूलकर्म नाम का दोष होता है। यह स्पष्टतया लज्जा आदि का कारण है।

ये सोलह उत्पादन दोष कहे गये है तथा सोलह ही उद्गम दोष भी कहे गये हैं। ये सभी दोष त्याग करने योग्य है, क्योंकि इनमे अधःकर्म का अश देखा जाता है अर्थात् इन दोषो

१ क पत्रावल्यादयः°।

जुगुप्सादयो दर्शनदूषणाश्च सम्भवन्ति येभ्यस्तेऽपि परित्याज्या इति ॥४६१॥

अशनदोषान् प्रतिपादयन्नाह—

संकिदमक्खिदणिक्खिदपिहिदं 'संववहरणदायगुम्मिस्से ।
अपरिणदलित्तछोडिद एषणदोसाइं' दस एदे ॥४६२॥

शकयोत्पन्न शकित, किमयमाहारोऽध कर्मणा निष्पन्न उत नेति शका कृत्वा भुंक्ते यस्तस्य शकितनामाशनदोष । तथा म्रक्षितस्तैलाद्यभ्यक्तस्तेन भाजनादिना दीयमानमाहार यदि गृह्णाति म्रक्षितदोषो भवति । तथा निक्षिप्त स्थापित, सचित्तादिषु परिनिक्षिप्तमाहार यदि गृह्णाति साधुस्तदा तस्य निक्षिप्त-दोष । तथा पिहितश्छादित अप्रासुकेन प्रासुकेन च महता यदवष्टब्धमाहारादिक तदावरणमुत्क्षिप्य दीयमान यदि गृह्णाति तदा तस्य पिहितनामाशनदोष । तथा सव्यवहरण दानार्थ सव्यवहार कृत्वा यदि ददाति तद्दान यदि साधुर्गृह्णाति तदा तस्य सव्यवहरणनामाशनदोष । तथा दायक परिवेषक, तेनाशुद्धेन दीयमानमाहार यदि गृह्णाति साधुस्तदा तस्य दायकनामाशनदोष । तथोन्मिश्रोऽप्रासुकेन द्रव्येण पृथिव्यादिसच्चित्तेन मिश्र उन्मिश्र इत्युच्यते त यद्याददते उन्मिश्रनामाशनदोष । यथाऽपरिणतोऽविध्वस्तोऽग्न्यादिकेनापक्वस्तमाहार

मे अध कर्म के अश का सद्भाव है अतएव त्याज्य है। तथा सम्यग्दर्शन आदि मे दूषण उत्पन्न करनेवाले है। अन्य भी जुगुप्सा आदि दोष इन्ही के निमित्त से सभव है उनका भी त्याग कर देना चाहिए।

अब अशन दोषो का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—शकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, सव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और व्यक्त ये दश अशन दोष है ॥४६२॥

आचारवृत्ति—शका से उत्पन्न हुआ आहार शकित है। 'क्या यह आहार अध कर्म से बना हुआ है ?' ऐसी शका करके जो आहार ग्रहण करते है उनके शकित नाम का अशन दोष है। तेल आदि से चिकने ऐसे बर्तन आदि के द्वारा दिया गया आहार यदि ग्रहण करते है तो उनके म्रक्षित दोष होता है। स्थापित को निक्षिप्त कहते है। सचित्त आदि पर रखा हुआ आहार यदि साधु ग्रहण करते है तो उन्हे निक्षिप्त दोष लगता है। ढके हुए को पिहित कहते है। अप्रासुक अथवा प्रासुक ऐसी किसी बडे वजनदार ढक्कन आदि से ढके हुए आहार आदि को, उसपर का आवरण खोलकर दिया जाये और जिसे मुनि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके पिहित नाम का अशन दोष होता है। तथा दान के लिए यदि सव्यवहार करके वस्त्र या पात्रादि को जल्दी से खीच करके जो दान दिया जाता है और यदि साधु उसे लेते है तो उनके सव्यवहरण नाम का अशन दोष होता है।

परोसने वाले को दायक कहते है। अशुद्ध दायक के द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि लेते है तो उनके दायक नाम का दोष होता है। अप्रासुक द्रव्य से अर्थात् पृथ्वी आदि सचित्त वस्तु से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र है। उसे जो मुनि ग्रहण करते हैं उन्हे उन्मिश्र दोष लगता

---

१ क आहारण। २ क दोसा दु।

पानादिक वा यद्यादत्तेऽपरिणतनामाशनदोष । तथा लिप्तोऽप्रासुकवर्णादिसंसक्तस्तेन भाजनादिना दीयमान-माहारादिक यदि गृह्णाति तदा तस्य लिप्तनामाशनदोषः। तथा छोडिद परित्यजन भुजानस्यास्थिरपाणिपात्रे-णाहारस्य परिशतन गलन परित्यजन यत्क्रियते तत्परित्यजननामाशनदोषः। एतेऽशनदोषा दशैव भवंति ज्ञातव्या इति ॥४६२॥

शंकितदोषं विवृण्वन्नाह—

असणं च पाणयं वा खादीयमध सादियं च अज्झप्पे।
कप्पियमकप्पियत्ति य संदिद्धं संकियं जाणे ॥४६३॥

अशन भक्तादिक, पानक दधिक्षीरादिक खाद्य लड्डुकाशोकवर्त्यादिक, अथ स्वाद्य एलाकस्तूरीलवन-कक्कालादिक। वाशब्देरत्र स्वगतभेदा ग्राह्या । अध्यात्मे आगमे चेतसि वा कल्पित योग्यमकल्पितमयोग्यमिति सन्दिग्ध सशयस्थ शंकित जानीहि, आगमे किमेतन्मम कल्प्यमुत नेति यद्येव संदिग्धमाहार भुंक्ते तदा शंकित-नामाशनदोष जानीहि। अथवाध्यात्मे चेतसि किमध कर्मसहितमुत नेति सन्दिग्धमाहार[1] यदि गृह्णीयाच्छंकित जानीहि ॥४६३॥

है। जो परिणत नही हुआ है, जिसका रूप रस आदि नही बदला है ऐसे आहार या पान आदि जो कि अग्नि आदि के द्वारा अपक्व है उनको जो मुनि ग्रहण करते है उनके अपरिणत नाम का दोष होता है। अप्रासुक वर्ण आदि से ससक्त वस्तु लिप्त है। उस गेरु आदि से लिप्त हुए वर्तन आदि से दिया गया आहार आदि मुनि लेते है तो उनके लिप्त नाम का अशन दोष होता है। तथा छोटित—गिराने को परित्यजन कहते है। आहार करते हुए साधु के यदि अस्थिर—छिद्र सहित पाणि पात्र से आहार या पीने की चीजे गिरती रहती है तो मुनि के परित्यजन नाम का अशन दोष होता है। ये दश अशन दोष होते हैं। इनका विस्तार से वर्णन आगे गाथाओं द्वारा करते है।

शंकित दोष का वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार भेद रूप आहार है। आगम में या मन मे ऐसा सदेह करना कि यह योग्य है या अयोग्य ? सो शंकित दोष है ॥४६३॥

आचारवृत्ति—भात आदि भोजन अशन कहलाते है। दही, दूध आदि पदार्थ पानक है। लड्डू आदि वस्तुएँ खाद्य हैं। इलायची, कस्तूरी, लवग, कक्कोल आदि वस्तुएँ स्वाद्य हैं। 'वा' शब्द से इनमे स्वगत भेद ग्रहण करना चाहिए।

अध्यात्म में अर्थात् आगम मे इन्हे मेरे योग्य कहा है या अयोग्य ? इस प्रकार से संदेह करते हुए उस संदिग्ध आहार को ग्रहण करना शंकित दोष है। अथवा अध्यात्म अर्थात् चित्त में ऐसा विचार करना कि यह भोजन अध.कर्म से सहित है या नही ऐसा सदेह रखते हुए उसी आहार को ग्रहण कर लेना सो शंकित दोप है।

---

१ क 'हारं भुक्ते तदा शंकित नामाशनदोष जानीहि।

द्वितीय म्रक्षितदोषमाह—

ससिणिद्धेण य देयं हत्थेण य भायणेण दव्वीए ।
एसो मक्खिददोसो परिहरदव्वो सदा मुणिणा ।।४६४।।

सस्निग्धेन हस्तेन भाजनेन दर्व्या कटच्छुकेन च यद्देय भक्तादिक यदि गृह्यते तदा म्रक्षितदोषो भवति । तस्मादेष म्रक्षितदोष परिहर्तव्यो मुनिना सम्मूर्च्छनादिसूक्ष्मदोषदर्शनादिति ।।४६४।।

तृतीय निक्षिप्तदोषमाह—

सच्चित्त पुढविग्राऊ तेऊहरिदं च बीयतसजीवा ।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्त होदि छब्भेय ।।४६५।।

सचित्तपृथिव्या सचित्ताप्सु सचित्ततेजसि हरितकायेषु बीजकायेषु त्रसजीवेषु तेषूपरि यत्स्थापितमाहारादिक तन्निक्षिप्त भवति षड्भेद । अथवा सह चित्तेनाप्रासुकेन वर्तते इति सचित्त । सचित्त च पृथिवीकायाश्चाप्कायाश्च तेज कायाश्च हरितकायाश्च बीजकायाश्च त्रसजीवाश्च तेषामुपरि यन्निक्षिप्त सचित्त तत् षड्भेद भवति ज्ञातव्य ।।४६५।।

द्वितीय म्रक्षित दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—चिकनाई युक्त हाथ से या वर्तन से या कलछी-चम्मच से दिया गया भोजन म्रक्षित दोष है । मुनि को हमेशा इसका परिहार करना चाहिए ।।४६४।।

आचारवृत्ति—घी, तेल आदि के चिकने हाथ से या चिकने हुए वर्तन से या कलछी चम्मच से दिया गया जो भोजन आदिक है उसे यदि मुनि ग्रहण करते है तो उनके म्रक्षित दोष होता है । सो यह दोष मुनि को छोड देना चाहिए क्योकि इसमे समूर्च्छन आदि सूक्ष्म जीवो की विराधना का दोष देखा जाता है अर्थात् छोटे-मोटे मच्छर आदि जन्तु चिकने हाथ आदि मे चिपककर मर सकते है अत यह दोष है ।

निक्षिप्त दोष को कहते है—

गाथार्थ—सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति तथा बीज और त्रस जीव—उनके ऊपर जो आहार रखा हुआ है वह छह भेद रूप निक्षिप्त होता है ।।४६५।।

आचारवृत्ति—सचित्त पृथ्वी, सचित्त जल, सचित्त अग्नि, हरित काय वनस्पति, बीज काय और त्रस जीव इन पर रखा हुआ जो आहार आदि है वह छह भेद रूप निक्षिप्त कहलाता है । अथवा चित्तकर सहित अप्रासुक वस्तु को सचित्त कहते हैं । ऐसे पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, हरितकाय, बीजकाय और त्रसकाय जीव होते हैं । उन पर रखी हुई वस्तु सचित्त हो जाती है । इन जीवकायों की अपेक्षा से वह छह भेद रूप हो जाती है । ऐसे आहार को लेना निक्षिप्त दोष है ।

भावार्थ—अकुर शक्ति के योग्य गेहूँ आदि धान्य को बीज कहते हैं । ये बीज जीवो की उत्पत्ति के लिए योग्य हैं, योनिभूत है इसलिए सचित्त है, यद्यपि वर्तमान में इनमें जीव नही है ।

पिहितदोषमाह—

सच्चित्तेण व पिहिद अथवा अचित्तगुरुगपिहिदं वा।
तं छंडिय जं देयं पिहिदं तं होदि बोधव्वो ॥४६६॥

सचित्तेन पिहितमप्रासुकेन पिहित। अथवाऽचित्तगुरुकपिहित वा प्रासुकेण (न) गुरुकेण यद्वावृत तत्त्यक्त्वा यद्देयमाहारादिक यदि गृह्यते पिहित नाम दोष भवति बोद्धव्य ज्ञातव्यमिति ॥४६६॥

सव्यवहारदोषमाह—

संववहरणं किच्चा पदादुमिवि चेल भायणादीणं।
असमक्खिय जं देयं [1]संववहरणो हवदि दोसो ॥४६७॥

सव्यवहरणं संझटिति व्यवहारं कृत्वा, प्रदातुमिति चेलभाजनादीनां संभ्रमेणाहरणं वा कृत्वा, प्रकर्षेण दाननिमित्त[2] वसुभाजनादीना झटिति संव्यवहरण कृत्वाऽसमीक्ष्य यद्देय पानभोजनादिकं तद्यदि संगृह्यते सव्यवहरण दोषो भवत्येष इति ॥४६७॥

दायकदोषमाह—

सूदी सुंडी रोगी मदयणपुंसय पिसायणग्गो य।
उच्चारपडिदवंतरुहिरवेसी समणी अंगमक्खीया ॥४६८॥

पिहित दोष को कहते है—

गाथार्थ—जो सचित्त वस्तु से ढका हुआ है अथवा जो अचित्त भारी वस्तु से ढका हुआ है उसे हटाकर जो भोजन देना है वह पिहित है, ऐसा जानना चाहिए ॥४६६॥

आचारवृत्ति—अप्रासुक वस्तु से ढका हुआ या प्रासुक किन्तु वजनदार से ढका हुआ है, उसे खोलकर जो आहार आदि दिया जाता है और यदि मुनि उसे लेते है तो उन्हे वह पिहित नाम का दोष होता है।

सव्यवहार दोष को कहते है—

गाथार्थ—यदि देने के लिए वर्तन आदि को खींचकर बिना देखे दे देवे तो सव्यवहरण दोष होता है ॥४६७॥

आचारवृत्ति—दान के निमित्त वस्त्र या वर्तन आदि को जल्दी से खीचकर बिना देखे जो भोजन आदि मुनि को दिया जाता है और यदि वे वह भोजन-पान आदि ग्रहण कर लेते हैं तो उनके लिए वह सव्यवहरण दोष होता है।

दायक दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—धाय, मद्यपायी, रोगी, मृतक के सूतक सहित, नपुसक, पिशाचग्रस्त, नग्न, मलमूत्र करके आये हुए, मूर्छित, वमन करके आये हुए, रुधिर सहित, वेश्या, श्रमणिका, तैल मालिश करनेवाली, अतिबाला, अतिवृद्धा, खाती हुई, गर्भिणी, अंधी, किसी के आड़ में खड़ी

---

१ क साहरणो सो हं। २ क °त्तं भा°।

प्रतिबाला प्रतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य प्रंधलिया ।
प्रंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था प्रहव णीचत्था ॥४६६॥

सूति या बाल प्रसाधयति । सुडी—मद्यपानलम्पट । रोगी व्याधिग्रस्त । मवय—मृतक श्मशाने परिक्षिप्यागतो य. स मृतक इत्युच्यते । मृतकसूतकेन यो जुष्ट सोऽपि मृतक इत्युच्यते । नउंसय—न स्त्री न पुमान् नपुंसकमिति जानीहि । पिशाचो वाताद्युपहत । नग्न पटाद्यावरणरहितो गृहस्थ । उच्चार मूत्रादीन् कृत्वा य आगत स उच्चार इत्युच्यते । पतितो मूर्च्छागत । वान्तश्छर्दि कृत्वा य आगत । रुधिरं रुधिर-सहित । वेश्या दासी । श्रमणिकाऽऽर्यिका । अथवा पचश्रमणिका रक्तपटिकादय । अगम्रक्षिका अगाभ्यगन-कारिणी ॥४६८॥ तथा—

अतिबाला अतिमुग्धा, अतिवृद्धा अतीवजराग्रस्ता । ग्रासयन्ती भक्षयन्ती उच्छिष्टा । गर्भिणी गुरु-भारा पचमासिका । अधलिका चक्षूरहिता । अन्तरिता कुड्यादिभिर्व्यवहिता । आसीनोपविष्टा । उच्चस्था उन्नतप्रदेशस्थिता । नीचस्था निम्नप्रदेशस्थिता । एव पुरुषो वा वनिता च यदि ददाति तदा न ग्राह्य भोजना-दिकमिति ॥४६६॥ तथा—

फूयण पज्जलणं वा सारण पच्छादणं च [1]विज्झवणं ।
किच्चा तहग्गिकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ॥४७०॥

हुई, बैठी हुई, ऊँचे पर खडी हुई या नीचे स्थान पर खडी हुई आहार देवे तो दायक दोष है ॥४६८-४६६॥

आचारवृत्ति—जो बालक को सजाती है वह सूति या धाय कहलाती है। शौडी—मद्यपान लपट । रोगी—व्याधिग्रस्त । श्मशान मे मृतक को छोडकर आया हुआ भी मृतक कहलाता है और जो मृतक के सूतक-पातक से युक्त है वह भी मृतक कहलाता है । जो न स्त्री है न पुरुष वह नपुसक है । वात आदि से पीडित को पिशाच कहा है । वस्त्र आदि आवरण से रहित गृहस्थ नग्न कहलाते है । मल-मूत्रादि करके आये हुए जन को भी उच्चार शब्द मे कहा गया है । वमन करके आए हुए को वान्ति कहा गया है । मूर्च्छा की बीमारीवाला या मूर्च्छित हुआ पतित कहलाता है । जिसके रुधिर निकल रहा है उसको रुधिर शब्द से कहा है । वेश्या—दासी, श्रमणिका—आर्यिका, रक्तपट वगैरह धारण करने वाली साध्वियाँ, अगम्रक्षिका अर्थात् तैलादि मालिश करने वाली । तथा—

अतिबाला, अतिमूढा, अतिवृद्धा—अत्यधिक जरा से जर्जरित, भोजन करती हुई, गर्भिणी—पच महीने के गर्भ वाली (अर्थात् पाँच महीने के पहले तक आहार दे सकती है ।), अधलिका—जिसे नेत्र से दिखता नही है, अन्तरिका—जो दीवाल आदि की आड़ मे खडी है, निषण्णा—जो बैठी हुई है, उच्चस्था—जो ऊँचे प्रदेश पर स्थित है और नीचस्था—जो नीचे प्रदेश पर स्थित है, ऐसी स्त्री (या कुछ विशेषण सहित पुरुष) यदि आहार देते है तो मुनि उसे नही ले । तथा—

गाथार्थ—फूकना, जलाना, सारण करना, ढकना, बुझाना, तथा लकड़ी आदि को हटाना, या पीटना इत्यादि अग्नि का कार्य करके,

---

[1] क णिव्व° ।

लेवणमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खिविय।
एवंविहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ॥४७१॥

फूयणं—सधुक्षण मुखवातेनान्येन वा अग्निना काष्ठादीनां प्रज्वालन प्रद्योतनं वा सारण काष्ठादीनामुत्कर्षणं, प्रच्छादन भस्मादिना विध्यापन जलादिना कृत्वा तथान्यदपि अग्निकार्यं, निर्वात निर्वाण काष्ठादिपरित्याग, घट्टन चापि कुड्यादिनावरण ॥४७०॥ तथा—

लेपनं गोमयकर्दमादिना कुड्यादेर्मार्जनं स्नानादिकं कर्म कृत्वेति सम्बन्ध । पिबन्त दारक च स्तनमाददानं बाल निक्षिप्य त्यक्त्वा, अन्यांश्चैवंविधादिकान् कृत्वा पुनर्दान यदि दत्ते दायकदोषा भवन्तीति ॥४७१॥

उन्मिश्रदोषमाह—

पुढवी आऊ य तहा हरिदा बीया तसा य सज्जीवा।
[1]पंचेहिं तेहिं मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं ॥४७२॥

पृथिवी मृत्तिका, आपश्चाप्रासुक, तथा हरितकाया पत्रपुष्पफलादय । **बीयाणि**—बीजानि यवगोधूमादय । त्रसाश्च सजीवा निर्जीवा पुनर्मलमध्ये भविष्यन्ति दोषा इति । तै पचभिर्मिश्र आहारो

गाथार्थ—लीपना, धोना करके तथा दूध पीते हुए बालक को छोड़कर इत्यादि कार्य करके आकर यदि दान देते है तो दायक दोष होता है ॥४७०-७१॥

आचारवृत्ति—फूत्करण—मुख की हवा से या अन्य किसी से अग्नि को फूकना, प्रज्वालन—काठ आदि को जलाना अथवा प्रद्योतित करना, सारण—काठ आदि का उत्कर्षण करना अर्थात् अग्नि में लकड़ियों को डालना, प्रच्छादन—भस्म आदि से ढक देना, विध्यापन—जल आदि से अग्नि को बुझा देना, निर्वात—अग्नि से लकड़ी आदि को हटा देना, घट्टन—किसी चीज से अग्नि को दबा देना आदि अग्नि सम्बन्धी कार्य करते हुए आकर जो आहार देवे तो दायक दोष है।

लेपन—गोबर मिट्टी आदि से लीपना, मार्जन—स्नान आदि कार्य करना तथा स्तनपान करते हुए बालक को छोड़कर आना, इसी प्रकार से और भी कार्य करके आकर जो पुनः दान देता है और मुनि ग्रहण कर लेते है तो उनके दायक दोष होता है।

उन्मिश्र दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज और सजीव त्रस इन पाँचों से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र होता है ॥४७२॥

आचारवृत्ति—मिट्टी, अप्रासुक जल तथा पत्ते फूल आदि हरितकाय, जौ, गेहूँ आदि बीज और सजीव त्रस, इन पाँच से मिश्रित हुआ आहार उन्मिश्र दोष रूप होता है। इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। चूंकि यह महादोष है, इस दोष में सजीव त्रसों को लिया गया

---

१ क पचहि य ते ।

भवत्युन्मिश्र· सर्वथा वर्जनीयो महादोष इति कृत्वेति ॥४७२॥

अपरिणतदोषमाह—

तिलतंडुलउसिणोदय चणोदयं तुसोदयं अविद्धत्थं ।
अण्ण तहाविह वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जो ॥४७३॥*

तिलोदक तिलप्रक्षालन । तदुलोदक तदुलप्रक्षालन । उष्णोदक तप्त भूत्वा शीत च चणोदकं चण-प्रक्षालन । तुषोदक तुषप्रक्षालन । अविध्वस्तमपरिणत आत्मीयवर्णगन्धरसापरित्यक्त । अन्यदपि तथाविधम-परिणत हरीतकीचूर्णादिना अविध्वस्त । नैव गृह्णीयात् नैव ग्राह्यमिति । एतानि परिणतानि ग्राह्याणीति ॥४७३॥

लिप्तदोष विवृण्वन्नाह—

गेरुय हरिदालेण व सेडीय मणोसिलामपिट्ठेण ।
सपवालो'दणलेवे ण व देय करभायणे लित्तं ॥४७४॥

गैरिकया रक्तद्रवेण, हरितालेन सेढिकया षटिकया पाडुमृत्तिकया, मन शिलया आमपिष्टेन वा

है । निर्जीव अर्थात् मरे हुए त्रसो के आजाने का हेतुभूत कारण आहार मलदोष के अन्तर्गत आ जायेगा ।

अपरिणत दोष को कहते है—

गाथार्थ—तिलोदक, तण्डुलोदक, उष्ण जल, चने का धोवन, तुषधोवन, विपरणित नही हुए और भी जो वैसे हैं, परिणत नही हुए है, उन्हे ग्रहण नही करे ॥४७३॥

आचारवृत्ति—तिलोदक—तिल का धोवन, तण्डुलोदक—चावल का धोवन, उष्णोदक—गरम होकर ठण्डा हुआ जल, चणोदक—चने का धोवन, तुषोदक—तुष का धोवन, अविध्वस्त—अपने वर्ण, गध, रस, को नही छोडा है ऐसा जल, अन्य भी उसी प्रकार से हरड़ आदि के चूर्ण से प्रासुक नही किये है अथवा जल मे हरड आदि का चूर्ण इतना थोडा डाला है कि वह जल अपने रूप गध और रस से परिणत नही हुआ है, ऐसे जल आदि को नही लेना चाहिए। यदि ये परिणत हो गये है तो ग्रहण करने योग्य है ।

लिप्त दोष को कहते है--

गाथार्थ—गेरु, हरिताल, सेलखडी, मन.शिला, गीला आटा, कोंपल आदि सहित जल इन से लिप्त हुए हाथ या वर्तन से आहार देना सो लिप्त दोष है ॥४७४॥

आचारवृत्ति—गेरु, हरिताल, सेटिका—सफेद मिट्टी या खड़िया, मनशिल अथवा

---

१ क 'लदगोल्लेणव' ।

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार की इस गा मे अन्तर है—

तिलचाउणउसणोदय चणोदय तुसोदयं अविद्धत्थं ।
अण्णं पि य असणादी अपरिणदं णेव गेण्हेज्जो ॥

तंदुलादिचूर्णेन सप्रवालेन अपक्वशाकेन अप्रासुकोदकेन वा आर्द्रेणैव हस्तेन भाजनेन वा यद्देयं तल्लिप्तं नाम दोषं विजानीहि ।।४७४।।

परित्यजनदोषमाह—

बहु परिसाडणमुज्झिय आहारो परिगलंत दिज्जतं ।
छंडिय भुंजणमहवा [1]छडियदोसो हवे णेओ ।।४७५।।

बहुपरिसातनमुज्झित्वा बहुप्रसातनं कृत्वा भोज्य स्तोक त्याज्य बहुपात्रहारेण[2] सोऽपि बहुपरिसातनमित्युच्यते । आहार परिगलंतं दीयमान तक्रघृतोदकादिभि. परिस्रवत छिद्रहस्तैश्च बहुपरिसातन च कृत्वाहार यदि गृह्णाति त्यक्त्वा चैकमाहारमपर भुंक्ते यस्तस्य त्यक्तदोषो भवति । एते अशनदोषा. दश परिहरणीया. । सावद्यकारणाज्जीवदयाहंतोर्लोकजुगुप्सा ततश्चेति ।।४७५।।

सयोजनाप्रमाणदोषानाह—

सजोयणा य दोसो जो सजोएदि भत्तपाण तु ।
अदिमत्तो आहारो पमाणदोसो हवदि एसो ।।४७६।।

सयोजन च दोषो भवति । य: सयोजयति भक्त पान तु । शीत भक्त पानेनोष्णेन सयोजयति ।

चावल आदि का आटा, सप्रवाल—अपक्वशाक, अथवा अप्रासुक जल इन वस्तुओ से लिप्त हुए हाथ से या वर्तन से जो आहार दिया जाता है वह लिप्त नाम के दोष से सहित है ऐसा जानो ।

परित्यजन दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—बहुत-सा गिराकर, या गिरते हुए दिया गया भोजन ग्रहण कर और भोजन करते समय गिराकर जो आहार करना है वह व्यक्त दोष है ऐसा जानना चाहिए ।।४७५।।

आचारवृत्ति—बहुत-सा भोजन गिराकर आहार लेना अर्थात् भोजन की वस्तुएँ थोड़ी हाथ मे रखना, बहुत-सी गिरा देना सो भी परिसातन कहलाता है। घी, छाछ, जल आदि वस्तु देते समय हाथ से बहुत गिर रही हो या अपने छिद्र सहित अंजली पुट से इन वस्तुओं को बहुत गिराते हुए आहार लेना, तथा एक कोई वस्तु हाथ से गिराकर अन्य कोई इष्ट वस्तु खा लेना इत्यादि प्रकार से मुनि के व्यक्त दोष होता है।

ये दश अशन दोष कहे गये हैं जो कि त्याग करने योग्य है । ये सावद्य को करने वाले है । इनसे जीवदया नही पलती है और लोक में निन्दा भी होती है अत. ये त्याज्य है ।

सयोजना और प्रमाण दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो भोजन और पान को मिला देता है सो सयोजना दोष है । अतिमात्र आहार लेना सो यह प्रमाण दोष होता है ।।४७६।।

आचारवृत्ति—ठण्डा भोजन उष्ण जल से मिला देना, या ठण्डे जल आदि पदार्थ उष्ण भात आदि से मिला देना । अन्य भी परस्पर विरुद्ध वस्तुओं को मिला देना संयोजना दोष है ।

---

१ क छोडिय । २ क हारे सो ।

शीत वा पान उष्णेन भक्तादिना संयोजयति । अन्यदपि विरुद्ध परस्परं यत्तद्यदि संयोजयति तस्य संयोजननाम दोषो [1]भवति । अतिमात्र आहार —अशनस्य सव्यंजनस्य द्वयभाग तृतीयभागमुदकस्योदरस्य[2] य. पूरयति, चतुर्थभाग चावशेषयति यस्तस्य प्रमाणभूत आहारो भवति, अस्मादन्यथा य कुर्यात्तस्यातिमात्रो नामाहारदोषो भवति । प्रमाणातिरिक्ते आहारे गृहीते स्वाध्यायो न प्रवर्तते, षडावश्यकक्रिया कर्तुं न शक्यते, ज्वरादयश्च सतापयन्ति, निद्रालस्यादयश्च दोषा जायते इति ।।४७६।।

अगारधूमदोषानाह—

तं होदि [3]सयगाल जं आहारेदि[4] मुच्छिदो सतो ।
तं पुण होदि सधूम ज आहारेदि णिंदिदो ।।४७७।।

यदि मूर्छित सन् गृद्धयाद्यायु मुक्त आहारस्त्यभ्यवहरति भुक्ते तदा तस्य पूर्वोक्तोऽङ्गारादिदोषो भवति, सुष्ठु गृद्धिदर्शनादिति । तत्पुनर्भवति स पूर्वोक्तो धूमो नाम दोष, यस्मादाहरति निंदन्जुगुप्समानो विरूपकमेतदनिष्ट मम, एव कृत्वा यदि भुक्ते तदानी धूमो नाम दोषो भवत्येव, अन्त.सक्लेशदर्शनादिति ।

कारणमाह—

छहि कारणेहि असणं आहारतो वि आयरदि धम्म ।
छहि चेव कारणेहि दु णिज्जुहतो वि आचरदि ।।४७८।।

व्यजन आदि भोजन से उदर के दो भाग पूर्ण करना और जल से उदर का तीसरा भाग पूर्ण करना तथा उदर का चतुर्थ भाग खाली रखना सो प्रमाणभूत आहार कहलाता है। इससे भिन्न जो अधिक आहार ग्रहण करते है उनके प्रमाण या अतिमात्र नाम का आहार दोष होता है। प्रमाण से अधिक आहार लेने पर स्वाध्याय नही होता है, षट्-आवश्यक क्रियाएँ करना भी शक्य नही रहता है। ज्वर आदि रोग भी उत्पन्न होकर सतापित करते हैं तथा निद्रा और आलस्य आदि दोष भी होते है। अत प्रमाणभूत आहार लेना चाहिए।

अगार और धूम दोष को कहते है—

गाथार्थ—जो गृद्धि युक्त आहार लेता है वह अगार दोष सहित है। जो निन्दा करते हुए आहार लेता है उसके धूम दोष होता है।।४७७।।

आचारवृत्ति—जो मूर्छित होता हुआ अर्थात् आहार मे गृद्धता रखता हुआ आहार लेता है उसके अगार नाम का दोष होता है, क्योकि उसमे अतीव गृद्धि देखी जाती है।

जो निन्दा करते हुए अर्थात् यह भोजन विरूपक है, मेरे लिए अनिष्ट है, ऐसा करके भोजन करता है उसके धूम नाम का दोष होता है क्योकि अतरग में सक्लेश देखा जाता है।

कारण को कहते हैं—

गाथार्थ—छह कारणों से भोजन ग्रहण करते हुए भी धर्म का आचरण करते हैं और छह कारणो से ही छोडते हुए भी धर्म का आचरण करते है ।।४७८।।

---

१ क °त्येव । २ क °उदकस्यानेन विधनोदर य । ३ क सङ्गाल । ४ क °रेवि मु° ।

षड्भिः कारणैः प्रयोजनैस्तु निरवशेषमशनमाहारं भोज्यखाद्यलेह्यपेयात्मकमभ्यवहरन्नपि भुञ्जानो-ऽप्याचरति चेष्टयति अनुष्ठानं करोति धर्मं चारित्रं। तथैव षड्भिः कारणैः प्रयोजनैस्तु निरवशेषं [1]जुगुप्सन्नपि परित्यजन्नप्याचरति प्रतिपालयति धर्ममिति सम्बन्धः। निष्कारणं यदि भुक्ते भोज्यादिकं तदा दोषः, कारणैः पुनर्भुञ्जानोऽपि धर्ममाचरति साधुरिति सम्बन्धः। तथापरं प्रयोजनैः परित्यजन्नपि भोज्यादिकं धर्ममेवाचरति नाशनपरित्यागे दोषः सकारणत्वात्परित्यागस्येति ।।४७८।।

कानि तानि कारणानि यैर्भुङ्क्तेऽशनमित्याशंकायामाह—

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ।।४७९।।

वेदना क्षुद्वेदनामुपशमयामीति भुक्ते। वैयावृत्त्यमात्मनोऽन्येषां च करोमीति वैयावृत्त्यार्थं भुक्ते। क्रियार्थं षडावश्यकक्रिया मम भोजनमन्तरेण न प्रवर्तते इति ताः प्रतिपालयामीति भुक्ते। संयमार्थं त्रयोदश-विधं संयमं पालयामीति भुक्ते, अथवाहारमन्तरेणेन्द्रियाणि मम विकलानि भवन्ति तथा सति जीवदयां कर्तुं न शक्नोमीति प्राणसंयमार्थं इन्द्रियसंयमार्थं च भुक्ते, तथा प्राणचिन्तया भुक्ते, प्राणा दशप्रकारास्तिष्ठन्ति (न)

आचारवृत्ति—मुनि छह कारणों से प्रयोजनों—से भोज्य, खाद्य, लेह्य, पेय इन चार प्रकार के आहार को ग्रहण करते हुए भी धर्म अर्थात् चारित्र का अनुष्ठान करते हैं। तथा छह प्रयोजनों से ही आहार का त्याग करते हुए भी धर्म का पालन करते हैं। यदि मुनि निष्कारण ही आहार ग्रहण करते हैं तो दोष है। प्रयोजनों से भोजन करते हुए भी धर्म का आचरण करते हैं ऐसा अभिप्राय है। उसी प्रकार से अन्य प्रयोजनों से ही भोजन का त्याग करते हुए धर्म का ही पालन करते हैं अतः भोजन के परित्याग में दोष नहीं है, क्योंकि वह त्याग कारण सहित होता है।

वे कौन से कारण हैं जिनसे आहार करते हैं? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—वेदना शमन हेतु, वैयावृत्ति के लिए, क्रियाओं के लिए, संयम के लिए, तथा प्राणों की चिन्ता और धर्म की चिन्ता के लिए, इन कारणों से आहार करे ।।४७९।।

आचारवृत्ति—'मैं क्षुधा-वेदना का उपशम करूँ' इसलिए मुनि आहार करते हैं। 'मैं अपनी और अन्य साधुओं की वैयावृत्ति करूँ' इसलिए आहार करते हैं। 'मेरी छह आवश्यक क्रियाएँ भोजन के बिना नहीं हो सकती हैं, मैं उन क्रियाओं को करूँ', इसलिए आहार करते हैं। 'तेरह प्रकार का संयम मैं पालन करूँ' इसलिए भोजन करते हैं। अथवा 'आहार के बिना मेरी इन्द्रियाँ शिथिल या विकल हो जावेंगी तो मैं जीवदया पालन करने में समर्थ नहीं होऊँगा' इस तरह से प्राण संयम और इन्द्रिय संयम के पालन करने हेतु आहार करते हैं। तथा 'मेरे ये दश विध प्राण आहार के बिना नहीं रह सकते हैं', विशेष रूप से आहार के बिना आयु प्राण नहीं

---

१ क उज्झन्नपि।

मसाहारमन्तरेण विशेषेणायुर्न तिष्ठतीत्येव प्राणार्थं भुक्ते । तथा धर्मचिन्तया भुक्ते धर्मो दशप्रकारः उत्तम-क्षमादिलक्षणो मम वशे न तिष्ठति भोजनमन्तरेण, क्षमा मार्दवमार्जव चेत्यादिक कर्तुं न शक्नोत्यय जीवोऽशन-मन्तरेणेति भुक्ते। 'नातिमात्र धर्मसंयमयो. पुनरैक्य क्षमादिभेददर्शनादिति। एभिः षड्भिः कारणैराहारं कुर्वीतयतिरिति सम्बन्ध ॥४७६॥

अथ यैः कारणैस्त्यजत्याहार कानि तानीत्याशंकायामाह—

आदके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वोच्छेदो ॥४८०॥

आतके आकस्मिकोत्थितव्याधौ मारणान्तिकपीडाया सहितायां वाह्यजातीयामाहारव्युच्छेदः परि-त्याग । तथोपसर्गे दीक्षाविनाशहेतौ देवमानुषतिर्यक्चेतनकृते समुपस्थिते भोजनपरित्यागः । तितिक्षणाया ब्रह्मचर्यगुप्ते सुष्ठु निर्मलीकरणे सप्तमधातुक्षयायाहारव्युच्छेद । तथा प्राणिदयाहेतौ यद्याहार गृह्णामि बहु-प्राणिना घातो भवति तस्माद्यद्याहारं न गृह्णामीति जीवदयानिमित्तमाहारव्युच्छेद. । तथा तपोहेतौ द्वादशविधे

रह सकता है, अत प्राणो के लिए मुनि आहार करते है। भोजन के बिना उत्तम क्षमा आदि रूप दस प्रकार का धर्म मेरे वश में नही रह सकेगा। अशन के बिना यह जीव क्षमा, मार्दव आदि धर्म करने में समर्थ नहीं हो सकता है, इसलिए वे आहार करते हैं।

धर्म और सयम मे एकान्त से ऐक्य नही है, क्योकि क्षमादि भेद देखे जाते हैं। इन छह कारणो से यति आहार करते है यह अभिप्राय है।

जिन कारणो से आहार छोडते है वे कौन से है ? सो ही कहते है—

गाथार्थ—आतक होने पर, उपसर्ग के आने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु, प्राणि दया के लिए, तप के लिए और सन्यास के लिए आहार त्याग होता है ॥४८०॥

आचारवृत्ति—आतक—आकस्मिक कोई व्याधि उत्पन्न हो गयी जो कि मारणान्तिक पीडा कारक है, ऐसे प्रसग मे आहार का त्याग कर दिया जाता है। उपसर्ग—देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत उपसर्ग के उपस्थित होने पर भोजन का त्याग होता है। ब्रह्मचर्य, गुप्ति की रक्षा के लिए अर्थात् अच्छी तरह ब्रह्मचर्य को निर्मल करने हेतु, सप्तम धातु अर्थात् वीर्य का क्षय करने के लिए आहार का त्याग होता है। 'यदि मैं आहार ग्रहण करता हूँ तो बहुत से प्राणियों का घात होता है इसलिए आहार ग्रहण नहीं करूँगा', इस तरह जीव दया के निमित्त आहार का त्याग करते हैं। 'बारह प्रकार के तपों में अनशन एक तप है उसे मैं करूँगा' ऐसे तप के लिए भी आहार छोड़ देते है। तथा 'सन्यास काल मे अर्थात् वृद्धावस्था मेरी मुनि-अवस्था में हानि करनेवाली है, मैं दुस्साध्य रोग से युक्त हूँ, मेरी इन्द्रियाँ विकल हो गयी हैं, या मेरे स्वाध्याय की हानि हो रही है, मेरे जीने के लिए अब कोई उपाय नहीं है', इस प्रकार के प्रसगो मे शरीर का परित्याग करना होता है। इसी का नाम संन्यासमरण है। उस संन्यास

---

१ क नात्र धर्मं'।

तपस्यनशनं नाम तपस्तच्च करोमीति तपो निमित्तमाहारव्युच्छेदः। तथा शरीरपरिहारे संन्यासकाले जरा मम श्रामण्यहानिकरी, रोगेण च दुःसाध्यतमेन जुष्टः, करणविकलत्वं च मम संजातं स्वाध्यायक्षतिश्च दृश्यते, जीवितव्यस्य च ममोपायो नास्तीत्येवं कारणे शरीरपरित्यागस्तन्निमित्तो भक्तादिव्युच्छेदः। एतैः षड्भिः कारणैराहारपरित्यागः कार्यः। न पूर्वैः सह विरोधो[1] विषयविभागदर्शनादिति, क्षुद्वेदनादिषु सत्स्वपि आतंकः स्यात्, यदि प्रचुरजीवहत्या वा दृश्यते ततो भोजनादिपरित्यागं, शरीरपीडारहितस्य तपोविधानमिति न विरोधो विषयभेददर्शनादिति। आहारोऽत्रानुवर्तते तेन सह सम्बन्धो व्युच्छेदस्येति ॥४८०॥

एतदर्थं पुनराहारं न कदाचिदपि कुर्यादिति प्रपंचयन्नाह—

ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ[2] तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥४८१॥

न बलार्थं मम बलं युद्धादिक्षमं भूयादित्येवमर्थं न भुंक्ते नायुषोऽर्थं—ममायुर्वृद्धिं यात्विति न भुंक्ते। न स्वादार्थं, शोभनोऽस्य स्वादो भोजनस्येत्येवमर्थं न भुंक्ते। न शरीरस्योपचयार्थं, शरीरं मम पुष्टं मांसवृद्धं वा भवत्विति न भुंक्ते। नापि तेजोऽर्थं, शरीरस्य मम दीप्तिः स्याद्दर्पो वेति न भुंजीताहारमिति। यद्येवमर्थं न भुंक्ते किमर्थं तर्हि भुंक्तेऽत आह—ज्ञानार्थं, ज्ञानं स्वाध्यायो मम प्रवर्ततामिति भुंक्ते। संयमार्थं,

---

मरण के निमित्त आहार का त्याग करते हैं। अर्थात् इन छह कारणों से आहार का त्याग करना चाहिए।

यहाँ पूर्व कारणों के साथ विरोध नहीं है, क्योंकि विषय विभाग देखा जाता है। क्षुधा-वेदना आदि के होने पर भी आतंक हो सकता है। अथवा यदि प्रचुर जीव-हत्या दिखती है तो भोजन आदि त्याग कर देते हैं। शरीर-पीड़ा रहित साधु के तपश्चरण होता है इसलिए विरोध नहीं है क्योंकि विषयभेद देखा जाता है। आहार शब्द की अनुवृत्ति होने से यहाँ पर भी गाथा मे व्युच्छेद के साथ आहार का व्युच्छेद अर्थात् त्याग करना ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए।

इनके लिए पुनः आहार कदाचित् भी न करे, इसी बात को बताते हैं—

गाथार्थ—न बल के लिए, न आयु के लिए और न स्वाद के लिए, न शरीर की पुष्टि के लिए और न तेज के लिए आहार ग्रहण करे। किन्तु ज्ञान के लिए, संयम के लिए और ध्यान के लिए आहार ग्रहण करे ॥४८१॥

आचारवृत्ति—'युद्धादि में समर्थ ऐसा बल मेरे हो जावे' इस हेतु मुनि आहार नहीं करते हैं। 'मेरी आयु बढ़ जावे' इसलिए भी आहार नहीं करते है। 'इस भोजन का स्वाद बढ़िया है' इस प्रकार स्वाद के लिए भी भोजन नहीं करते हैं। 'मेरा शरीर पुष्ट हो जावे अथवा मांस की वृद्धि हो जावे' इसलिए भोजन नहीं करते हैं और 'मेरे शरीर में दीप्ति हो या दर्प हो' इसलिए भी आहार नहीं करते हैं।

यदि इन बल, आयु, स्वाद, शरीर पुष्टि और दीप्ति के लिए आहार नहीं करते हैं तो किसलिए करते हैं?

---

१ क 'विरोधो विभागदर्शनादिति आहाररोधो विषयदर्शनादिति। २ क 'रमुपचयट्ठ।

संयमो मम स्यादिति भुंक्ते। ध्यानार्थं चैव, आहारमन्तरेण न ध्यान प्रवर्तते यतो भुंक्ते यतिरिति। तथापि भुंक्ते इत्यत आह ॥४८१॥

णवकोडीपरिसुद्धं असणं बादालदोसपरिहीणं।
संजोजणाय हीणं पमाणसहियं विहिसुदिण्णं ॥४८२॥
विगदिंगाल विधूमं छक्कारणसजुदं कमविसुद्धं।
जत्तासाधणमेत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ॥४८३॥

नवकोटिपरिशुद्ध। कास्ता कोटयो मनसा कृतकारितानुमतानि तिस्र कोटय, तथा वचसा कृतकारितानुमतानि तिस्र कोटय., तथा कायेन कृतकारितानुमतानि तिस्र कोटय एताभि कोटिभि परिशुद्धमशनं, द्विचत्वारिंशद्दोषपरिहीण उद्गमोत्पादैषणादोपरहित, सयोजनयारहितं, प्रमाणसहित, विधिना दत्त प्रतिग्रहोच्चस्थानपादोदकार्चनाप्रणमनमनोवचनकायशुद्ध्यशनशुद्धिभिर्दत्तमुपनीत, श्रद्धाभक्तितुष्टिविज्ञानालुब्ध-

'मेरा स्वाध्याय चलता रहे' इस तरह ज्ञान के लिए आहार करते है। 'मेरा सयम पलता रहे' इस तरह सयम के लिए आहार करते है और आहार के बिना ध्यान नही हो सकेगा इसलिए ध्यान के हेतु यति आहार करते हैं। अर्थात् ज्ञान, सयम और ध्यान की सिद्धि के लिए मुनि आहार करते है।

कैसा आहार ग्रहण करते है? सो ही बताते है—

गाथार्थ—नवकोटि से शुद्ध भोजन, जो कि व्यालीस दोषो से रहित है, सयोजना से हीन है, प्रमाण सहित है और विधिपूर्वक दिया जाता है।

जो कि अगार दोष से रहित है, धूम दोष रहित है, छह कारणो से युक्त है और क्रम से विशुद्ध है, जो यात्रा के लिए साधनमात्र है तथा चौदह मल दोषो से रहित है, साधु ऐसा अशन ग्रहण करते है ॥४८२-४८३॥

आचारवृत्ति—जो आहार नव कोटि से परिशुद्ध है। ये नव कोटि क्या है? मन से कृत, कारित, अनुमोदना का होना ये तीन कोटि है, वचन से कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन कोटि है तथा काय से कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन कोटि हैं, ऐसे ये नव कोटि हुईं। इन नव कोटि से शुद्ध आहार को मुनि ग्रहण करते हैं। अर्थात् मुनि मन, वचन, काय से आहार न बनाते हैं, न बनवाते है और न अनुमोदना करते हैं।

सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष और दस ऐषणा दोष ये व्यालीस दोष हैं। इनसे रहित, सयोजना दोष से रहित और प्रमाण सहित आहार लेते हैं। तथा विधि से दिया गया हो अर्थात् पडगाहन करना, उच्च स्थान देना, पाद प्रक्षालन करना, अर्चना करना, प्रणाम करना, मन-वचन-काय की शुद्धि तथा आहार की शुद्धि यह नवधाभक्ति विधि कहलाती है। इस विधि से तथा श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलोभ, क्षमा और शक्ति सात गुणों से युक्त दाता के द्वारा जो दिया गया है ऐसा आहार लेते है। जो अगार दोष रहित, धूम दोष रहित, छह कारणों से सयुक्त, क्रम से विशुद्ध अर्थात् उत्क्रम से हीन, तथा प्राणों के धारण के लिए

ताक्षमाणक्तियुक्तेन दात्रं ति ।।४८२।। तथा—

विगतागार, विगतधूम, षट्कारणसयुक्त क्रमविशुद्धमुत्क्रमहीन, यात्रासाधनमात्रं प्राणसंधारणार्थं अथवा मोक्षयात्रासाधननिमित्त, चतुर्दशमलवर्जित भुक्ते साधुरिति सम्बन्धः ।।४८३।।

अथ कानि चतुर्दशमलानीत्याह—

णहरोमजंतुअट्ठी कणकुंडयपूयचम्मरुहिरमंसाणि ।
बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चहुसा होंति ।।४८४।।

नखो, हस्तपादाङ्गुल्याग्रप्रभवो मनुष्यजातिप्रतिबद्धतिर्यग्जातिप्रतिबद्धो वा रोमवाल. सोपि मनुष्य-तिर्यग्जात[1] । जन्तुर्जीव प्राणिरहितशरीर । अस्थि ककाल कणः यवगोधूमादीना बहिरवयव । कुण्डादि-शाल्यादीनामभ्यन्तरसूक्ष्मावयवा. । पूय, पक्वरुधिर व्रणक्लेद चर्म शरीरत्वक् प्रथमधातु. । रुधिर द्वितीयो धातु. । मास रुधिराधार तृतीयो धातु । बीजानि प्रा(प्र) रोहयोग्यावयवगोधूमादय । फलानि जम्बाम्राम्बा-डकफलानि । कद कदल्य[2]ध प्रारोहकारण । मूल पिप्पला[3]द्यध प्ररोहनिमित्त । छिन्नानि पृथग्भूतानि मलानि चतुर्दश भवन्ति । कानिचिदत्र महामलानि, कानिचिदल्पानि, कानिचिन्महादोषाणि, कानिचिदल्पदोषाणि ।

अथवा मोक्ष की यात्रा के साधन का निमित्त है, चौदह मल दोषो से रहित है ऐसे आहार को यति ग्रहण करते है ।

भावार्थ—१६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० अशन दोष, सयोजन, प्रमाण, अगार और धूम से मिलकर छयालीस दोष हो जाते है । यहाँ पर सयोजन आदि चार को पृथक् करके उपर्युक्त ४२ को एक साथ लिया है ।

चौदह मलदोष क्या है ?

गाथार्थ—नख, रोम, जनु, हड्डी, कण, कुण्ड, पीव, चर्म, रुधिर, मास, बीज, फल, कद और मूल ये पृथक्भूत चौदह मलदोष होते है ।।४८४।।

आचारवृत्ति—नख—मनुष्य या तिर्यंचो के हाथ या पैर की अगुलियों का अग्र भाग, रोम—मनुष्य और तिर्यंचो के वाल, जन्तु—प्राणियों के निर्जीव शरीर, अस्थि—कंकाल अर्थात् हड्डी, कण—जौ-गेहूँ आदि के बाहर का अवयव, छिलका, कुण्ड—शालि आदि अभ्यन्तर भाग का सूक्ष्म अवयव, पूय—पका हुआ रुधिर अर्थात् घाव का पीव, चर्म—शरीर की त्वचा (यह प्रथम धातु है), रुधिर—खून (यह द्वितीय धातु है), मास—रुधिर के लिए आधारभूत (यह तृतीय धातु है), बीज—उगने योग्य अवयव अर्थात् गेहूँ, चने आदि, फल—जामुन, आम, अंबाडक आदि, कद—कदली के नीचे से उगने वाला, अर्थात् जमीन में उत्पन्न होनेवाले अकुर की उत्पत्ति के कारणभूत अथवा सूरण वगैरह, मूल—पिप्पली आदि जड़, ये चौदह मल होते हैं ।

इनमें कुछ तो महामल है और कोई अल्प मल हैं । कोई महादोष हैं और कोई अल्प दोष हैं । रुधिर, मास, हड्डी, चर्म और पीव ये महादोष है । आहार मे इनके आ जाने पर सर्वाहार का परित्याग करने पर भी प्रायश्चित लेना होता है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय

१ क °र्यगत । २ क °ल्याधः प्ररो° । ३ क °ल्याध° ।

रुधिरमांसास्थिचर्मपूयानि महादोषाणि सर्वाहारपरित्यागेऽपि प्रायश्चित्तकारणानि द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिय-शरीराणि बालाश्चाहारत्यागकारणनिमित्तानि। नखेनाहार परित्यज्यते। किंचित्प्रायश्चित्त क्रियते। कण-कुडवीजकंदफलमूलानि परिहारयोग्यानि यदि परिहर्तुं न शक्यन्ते भोजनपरित्याग क्रियते। तथा स्वशरीरे सिद्धभक्तौ कृतायां यदि रुधिर पूय च गलति पारिवेशकशरीराद्वा तदाहारस्य त्याग। तद्दिवसेऽस्य मांसस्य पुनर्दर्शनेनाष्टप्रकाराया पिंडशुद्धौ न पठितानीति पृथगुच्यन्ते इति ॥४८४॥

दोषरहित भुक्ते यतिरित्युक्ते कि तद्भुक्ते इत्याशंकायामाह—

पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्वदोत्ति त दव्व।
फासुगमिदि सिद्धेवि य अप्पट्ठकद असुद्ध तु ॥४८५॥

द्रव्यभावत प्रासुक द्रव्य भुक्ते। द्रव्यगतप्रासुकमाह —प्रगता असव प्राणिनो यस्मात्तस्माद्द्रव्यत शुद्धमिति तद्द्रव्य यत्रैकेन्द्रिया जीवा न सन्ति न विद्यन्ते स आहारस्तद्द्रव्यत शुद्ध, द्वीन्द्रियादय पुनर्यत्र सजीवा निर्जीवा वा सन्ति स आहारो दूरत परिवर्जनीयो द्रव्यतोऽशुद्धत्वादिति। प्रासुकमिति अनेन प्रकारेण प्रासुक सिद्ध निष्पन्नमपि द्रव्य यद्यात्मार्थं कृतमात्मनिमित्त कृत चिन्तयति तदा द्रव्यत शुद्धमप्य-शुद्धमेव ॥४८५॥

जीवो के शरीर अर्थात् मृत लट, चिवटी, मक्खी आदि तथा बाल यदि आहार में आ जावे तो आहार छोड देना होता है। आहार मे नख आ जाने पर आहार छोड देना होता है और किंचित् प्रायश्चित्त भी ग्रहण करना होता है। कण, कुड, बीज, कद, फल और मूल इनके आ जाने पर यदि इन्हे न निकाल सके तो आहार छोड देना चाहिए।

तथा सिद्धभक्ति कर लेने के बाद यदि मुनि के अपने शरीर से रुधिर या पीव बहने लगता है अथवा आहार देने वाले के शरीर मे रुधिर या पीव निकलता है तो उस दिन आहार छोड देना होता है। यदि माँस भी दिख जाए तो भी आहार त्याग कर देना चाहिए।

ये मल दोष आठ प्रकार की पिंडशुद्धि मे नही कहे गए है, अत. इनका पृथक् कथन किया गया है।

यति दोपरहित आहार करते है तो वे कैसा आहार करते है ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—जिस द्रव्य से जीव निकल गए है वह द्रव्य प्रासुक है। इस तरह का भोजन प्रासुक बना होने पर भी यदि वह अपने लिए बना है तो अशुद्ध है ॥४८५॥

आचारवृत्ति—मुनि द्रव्य और भाव से जो प्रासुक वस्तु आहार मे लेते हैं। द्रव्यगत प्रासुक को कहते है—निकल गये है असु अर्थात् प्राणी जिसमे से वह द्रव्य से शुद्ध है अर्थात् जिसमे एकेन्द्रिय जीव नही है वह आहार द्रव्य से शुद्ध है। पुन जिसमे द्वीन्द्रिय आदि जीव जीते हुए या निर्जीव हुए भी हैं वह आहार मुनि को दूर से ही छोड देना चाहिए, क्योंकि वह द्रव्य से अशुद्ध है। इसी प्रकार से प्रासुक सिद्ध हुआ भी द्रव्य यदि अपने लिए तैयार किया गया है तो वह द्रव्य से शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध ही है। अर्थात् वह आहार भाव से अशुद्ध है।

कथ परार्थकृत शुद्धमित्याशकाया दृष्टान्तेनार्थमाह—

जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जंति।
ण हि मंडूगा एव परमट्ठकदे जदि विसुद्धो ॥४८६॥

यथा मत्स्याना प्रकृते मदनोदके यथा मत्स्याना निमित्तें कृते मदनकारणे जले मत्स्या हि स्फुटं माद्यन्ति विह्वलीभवन्ति न हि मण्डूका, भेका नैव माद्यन्ति। यस्मिञ्जले मत्स्यास्तस्मिन्नेव मण्डूका अपि तथापि ते न विपद्यन्ते तद्धेतोरभावात्। एव परार्थे कृते भक्षादिके[1] प्रवर्तमानोऽपि यतिर्विशुद्धस्तद्गतेन दोषेण न लिप्यते। कुटुम्बिनोऽध कर्मादिदोषेण गृह्यन्ते न साधवः। तेन कुटुम्बिनः साधुदानफलेन त दोषमपास्य स्वर्गगामिनो मोक्षगामिनश्च भवन्ति सम्यग्दृष्टय, मिथ्यादृष्टय पुनर्भोगभुवमवाप्नुवति न दोष इति ॥४८६॥

भावत. शुद्धमाह—

आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वेवि बंधओ भणिओ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो ॥४८७॥

प्रासुके द्रव्ये सति यद्यध.कर्मपरिणतो भवति साधुर्यद्यात्मार्थं कृत मन्यते गौरवेण तदासौ बन्धको

परके लिए बनाया गया भोजन कैसे शुद्ध है ? ऐसी आशका होने पर दृष्टात के द्वारा उसको कहते है—

गाथार्थ—जैसे मत्स्यो के लिए किये मादक जल मे मत्स्य ही मद को प्राप्त होते है, इसी तरह पर के लिए किये गये (भोजन) मे यति विशुद्ध रहते है ॥४८६॥

आचारवृत्ति—जैसे मछलियो के लिए जल मे मादक वस्तु डालने पर उस जल से मछलियाँ ही विह्वल होती है, मेंढक नही होते। जिस जल मे मछलियाँ है उसी मे मेंढक भी हैं, फिर भी वे विपत्ति को प्राप्त नही होते हैं, क्योंकि उनके लिए उस कारण का अभाव है। इसी तरह पर के लिए बनाये गये भोजन आदि में उसे ग्रहण करते हुए भी यति विशुद्ध है उसके दोष से लिप्त नही होते हैं अर्थात् (दाता के) कुटुम्बीजन ही अध कर्म आदि दोष से दूषित होते हैं, साधु नही। बल्कि वे कुटुम्बी—गृहस्थ जन यदि सम्यग्दृष्टि है तो साधु के दिये दान के फल से उस अधःकर्म—आरम्भजन्य दोष को दूर करके, स्वर्गगामी और मोक्षगामी हो जाते हैं और यदि मिथ्यादृष्टि है तो पुन भोगभूमि को प्राप्त कर लेते हैं इसलिए उन्हें दोष नही होता है।

भाव से शुद्ध आहार को कहते है—

गाथार्थ—अधःकर्म से परिणत हुए मुनि प्रासुक द्रव्य के ग्रहण करने में भी बन्धक कहे गये हैं, किन्तु शुद्ध आहार की गवेषणा करने वाले अध कर्म से युक्त आहार ग्रहण करने मे भी शुद्ध है ॥४८७॥

आचारवृत्ति—प्रासुक द्रव्य के होने पर भी यदि साधु अध.कर्म से परिणत हैं अर्थात्

---

1 क 'भक्ष्यादिके'।

भणित. कर्मबध्नाति । शुद्ध पुनर्गवेषयमाणोऽध कर्मविशुद्ध कृतकारितानुमतिरहितं यत्नेन पश्यन्नध कर्मणि सत्यपि शुद्धोऽसौ यद्यप्यध कर्मणा निष्पन्नोऽसावाहारस्तथापि साधोर्न बधहेतु कृतादिदोषाभावादिति ॥४८७॥

सव्वोवि पिंडदोसो दव्वे भावे समासदो दुविहो ।
दव्वगदो पुण दव्वे भावगदो अप्पपरिणामो ॥४८८॥

सर्वोऽपि पिण्डदोषो द्रव्यगतो भावगतश्च समासतो द्विप्रकार । द्रव्यमुद्गमादिदोषसहितमप्यधः-कर्मणा युक्त द्रव्यगतमित्युच्यते तस्माद्द्रव्यगत पुनर्द्रव्यमिति । भावत पुनरात्मपरिणाम शुद्धमपि द्रव्य परि-णामानामशुद्धयाऽशुद्धमिति तस्माद्भावशुद्धिर्यत्नेन कार्या। भावशुद्धया सर्व तपश्चरण ज्ञानदर्शनादिक च व्यवस्थितमिति ॥४८८॥

द्रव्यस्य भेदमाह—

सव्वेसणं च विद्देसणं च सुद्धासणं च ते कमसो ।
एसणसमिदिविसुद्धं णिव्वियडमवजणं जाणे ॥४८९॥

सर्वैषण चशब्देनासर्वैषण, विद्वैषण चशब्देनाविद्वैषण शुद्धाशन चशब्देनाशुद्धाशन च ग्राह्य । एषणा-समितिविशुद्ध सर्वैषणमित्युच्यते । तथा विकृते पचरसेभ्यो निष्क्रान्त निर्विकृत गुडतैलघृतदधिदुग्धशाकादि-

---

यदि वे गौरव से उस आहार को अपने लिए किया हुआ मानते है तब वे कर्म का बन्ध कर लेते है। पुन शुद्ध की खोज करते हुए अर्थात् अध कर्म से रहित और कृत-कारित-अनुमोदना से रहित ऐसा आहार यत्नपूर्वक चाहते हुए साधु कदाचित् अध कर्म युक्त आहार के ग्रहण करने मे भी शुद्ध ही हैं। यद्यपि वह आहार अध कर्म के द्वारा बनाया हुआ है तो भी साधु के बन्ध का हेतु नही है, क्योकि उसमे उन साधु की कृत कारित-अनुमोदना आदि नही है।

गाथार्थ—सभी पिड दोष द्रव्य और भाव से सक्षेप मे दो प्रकार के है। पुन द्रव्य से सम्बन्धित तो द्रव्य मे है और भाव से सम्बन्धित आत्मा का परिणाम है ॥४८८॥

आचारवृत्ति—सभी पिड दोष द्रव्यगत और भावगत की अपेक्षा से सक्षेप से दो प्रकार है, अर्थात् द्रव्य पिण्डदोष और भाव पिण्डदोष ऐसे पिण्डदोष के दो भेद है। उद्गम आदि दोष से सहित भी अध कर्म से युक्त आहार द्रव्यगत पिण्डदोष कहलाता है। वह द्रव्य-गत पुन द्रव्य दोष है। भाव से अर्थात् आत्म परिणाम से जो अशुद्ध है अर्थात् शुद्ध-प्रासुक भी आहार आदि पदार्थ परिणामो की अशुद्धि से अशुद्ध है, इसलिए भाव शुद्धि यत्नपूर्वक करना चाहिए, क्योकि भावशुद्धि से ही सर्व तपश्चरण और ज्ञान-दर्शन आदि व्यवस्थित होते हैं।

द्रव्य के भेद को कहते है—

गाथार्थ—सर्वैषण, विद्वैषण और शुद्धाशन ये क्रमश. एषणा समति से शुद्ध, निर्वि-कृति रूप और व्यजन रहित है ऐसा जानो ॥४८९॥

आचारवृत्ति—सर्वैषण, 'च' शब्द से असर्वैषण, विद्वैषण, 'च' शब्द से अविद्वैषण, शुद्धाशन और 'च' शब्द से अशुद्धाशन ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् गाथा में तीन चकार होने से प्रत्येक के विपरीत का ग्रहण किया समझना चाहिए। एषणा समिति से शुद्ध आहार सर्वै-

रहितं सौवीरशुष्कतक्रादिसमन्वितं विद्वेषणमित्युच्यते। तथा सौवीरशुष्कतक्रादिभिर्वर्जितमव्यञ्जनं पाकादवतीर्णरूपं मनागप्यन्यथा न कृत शुद्धाशनमिति क्रमशो यथानुक्रमेण जानीहि। एतत्त्रिविधं द्रव्यमशनयोग्यं। असर्वाशनं सर्वरससमन्वितं सर्वव्यञ्जनैश्च सहित कादाचिद्योग्य कादाचिदयोग्यमिति। एवमनेन न्यायेनैषणासमितिर्व्याख्याता भवति ॥४८९॥

ता कथ कुर्यादित्याशंकायामाह—

दव्वं खेत्तं कालं भावं बलवीरियं च णाऊण।
कुज्जा एषणसमिदिं जहोवदिट्ठं जिणमदम्मि ॥४९०॥

द्रव्यमाहारादिकं ज्ञात्वा, तथा क्षेत्रं जांगलानूपरूक्षस्निग्धादिकं ज्ञात्वा, तथा कालं शीतोष्णवर्षादिक ज्ञात्वा तथा भावमात्मपरिणाम श्रद्धामुत्साह ज्ञात्वा, तथा शरीरबलमात्मनो ज्ञात्वा, तथात्मनो वीर्यं

षण कहलाता है। तथा विकृति—पाँच प्रकार के रस, उनसे रहित आहार निर्विकृति रूप है। अर्थात् जो गुड, तेल, घी, दही और दूध तथा शाक आदि से रहित है, तथा सौवीर—भात का मांड या काजी, शुष्क तक्र—मक्खन निकाला हुआ छाछ इनसे सहित आहार विद्वेषण है। अर्थात् रसादि निर्विकृति आहर तथा मांड, कांजी या छाछ सहित आहार विद्वेषण कहलाता है। तथा काजी व छाछ आदि से भी रहित आहार अव्यंजन है। जो पाक से अवतीर्ण हुआ मात्र है, किंचित् भी अन्य रूप नही किया गया है वह शुद्धाशन है। अर्थात् केवल पकाये हुए भात या रोटी दाल या उबाले हुए शाक आदि जिनमें नमक, मिरच, मसाला आदि कुछ भी नही डाला गया है वह भोजन व्यंजन — संस्कार रहित है, वही शुद्धाशन कहलाता है। गाथा में यथाक्रम से इनका वर्णन किया गया है।

यह तीन प्रकार का द्रव्य अर्थात् भोजन आहार मे ग्रहण करने योग्य है। तथा सर्वरसो से समन्वित और सर्व व्यजनो से सहित ऐसा आहार असर्वाशन है वह कदाचित् ग्रहण करने योग्य है, कदाचित् अयोग्य है। इस न्याय से वर्णन करने पर एषणा समिति का व्याख्यान होता है।

उस एषणा समिति का पालन कैसे करे? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा बलवीर्य को जानकर जैसे जिनमत में कही गई है ऐसी एषणा समिति का पालन करे ॥४९०॥

आचारवृत्ति—द्रव्य—आहार आदि पदार्थ को जानकर, क्षेत्र—जांगल, अनूप, रूक्ष, स्निग्ध आदि क्षेत्र को जानकर, काल—शीत, उष्ण, वर्षा आदि को जानकर, भाव—आत्मा के परिणाम, श्रद्धा, उत्साह को जानकर तथा अपने शरीर के बल को जानकर एव अपने वीर्य—संहनन को जानकर साधु, जिनागम में जैसा उसका वर्णन किया गया है उसी तरह से, एषणा समिति का पालन करे। यदि द्रव्य, क्षेत्र आदि की अपेक्षा न रखकर चाहे जैसा वर्तन करेगा तो शरीर में वात-पित्त-कफादि की उत्पत्ति हो जावेगी।

भावार्थ—क्षेत्र के जांगल, अनूप और साधारण ऐसे तीन भेद माने जाते हैं। जिस

संहननं ज्ञात्वा कुर्यादशनसमिति जिनागमे यथोपदिष्टामिति । अन्यथा यदि कुर्याद्वातपित्तश्लेष्मादिसमुद्भवः स्यादिति ॥४९०॥

भोजनविभागपरिणाममाह—

अद्धमसणस्स सव्विंजणस्स उदरस्स तदियमुदयेण ।
वाउ संचरणट्ठं चउत्थमवसेसये भिक्खू ॥४९१॥

उदरस्यार्धं सव्यञ्जनेनाशनेन पूरयेत्तृतीयभागं चोदरस्योदकेन पूरयेद्वायो सचरणार्थ चतुर्थभागमुदरस्यावशेषयेद्भिक्षु । चतुर्थभागमुदरस्य तुच्छ कुर्याद्येन षडावश्यकक्रिया सुखेन प्रवर्तते, ध्यानाध्ययनादिक च न हीयते, अजीर्णादिक च न भवेदिति ॥४९१॥

भोजनयोग्यकालमाह—

सूरुदयत्थमणादो णालीतिय वज्जिदे असणकाले ।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिममुक्कस्से ॥४९२॥

सूर्योदयास्तमनयोर्नाडीत्रिकवर्जितयोर्मध्येऽशनकाल । तस्मिन्नशनकाले त्रिषु मुहूर्तेषु भोजन

देश में जल, वृक्ष, पर्वत आदि कम रहते है वह जागल देश है । जहाँ पानी, वृक्ष और पर्वत की बहुलता है वह अनूप कहलाता है तथा जहाँ पर जल, वृक्ष व पर्वत अधिक या कम नही है प्रत्युत सम है, उसे साधारण कहते है । जो साधु आहार आदि की वस्तुरूप द्रव्य को, प्रकृति के अनुरूप क्षेत्र को, ऋतु के अनुरूप काल को, अपने भावों को तथा अपने बल वीर्य को देखकर उसके अनुरूप आहार आदि ग्रहण करता है उसका धर्मध्यान ठीक चलता है, सयम में बाधा नही आती है । इसके विपरीत इन बातो की अपेक्षा न रखने से, वात-पित्त आदि दोष कुपित हो जाने मे, नाना रोग उत्पन्न हो जाने से क्लेश हो जाता है ।

भोजन के विभाग का परिमाण बताते हैं—

गाथार्थ—उदर का आधा भाग व्यजन अर्थात् भोजन से भरे, तीसरा भाग जल से भरे और वह साधु चौथा भाग वायु के सचरण के लिए खाली रखे ॥४९१॥

आचारवृत्ति—साधु अपने उदर के चार भाग करे । उनमे से आधा भाग व्यजन (भोजन) से पूर्ण करे, तृतीय भाग जल से पूर्ण करे और उदर का चौथा भाग वायु के संचार के लिए खाली रखे । उदर का चौथा भाग खाली ही रखे कि जिससे छह आवश्यक क्रियाएँ सुख से हो सके, स्वाध्याय ध्यान आदि मे भी हानि न होवे तथा अजीर्ण आदि रोग भी न होवे ।

भोजन के योग्य काल को कहते है—

गाथार्थ—सूर्य के उदय और अस्त काल की तीन-तीन घटिका छोड़कर भोजन के काल में तीन, दो और एक मुहूर्त पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट है ॥४९२॥

आचारवृत्ति—सूर्योदय के तीन घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक के मध्य मे आहार का काल है । उस आहार के काल मे तीन मुहूर्त तक भोजन करना जघन्य आच-

जघन्याचरण द्वयोर्मुहूर्तयोरशन मध्यमाचरण एकस्मिन् मुहूर्तेऽशनमुत्कृष्टाचरणमिति सिद्धिभक्तौ कृतायां परिमाणमेतन्न भिक्षामलभमानस्य पर्यटत इति ॥४९२॥

भिक्षार्थं प्रविष्टो मुनिः किं कुर्वन्नाचरतीत्याह—

भिक्खा चरियाए पुण गुत्तीगुणसीलसंजमादीण।
रक्खंतो चरदिमुणी णिव्वेदतिगं च पेच्छंतो ॥४९३॥

भिक्षाचर्यायां प्रविष्टो मुनिर्मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति रक्षश्चरति। गुणान् मूलगुणान् रक्षश्चरति। तथा शीलसमयमादीश्च रक्षश्चरति। निर्वेदत्रिक चापेक्ष्यमाण शरीरवैराग्य सगवैराग्य ससारवैराग्य चापेक्ष्यमाण इत्यर्थ ॥४९३॥ तथा—

आणा अणवत्थावि य मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजमविराहणावि य चरियाए परिहरेदव्वा ॥४९४॥

आणा—आज्ञा वीतरागशासनं रक्षयन् पालयश्चरतीति सम्बन्ध । एताश्च परिहरश्चरति अनवस्था

रण है, दो मुहूर्त मे भोजन करना मध्यम आचरण है एव एक मुहूर्त मे भोजन करना उत्कृष्ट आचरण है। यह काल का परिमाण सिद्धभक्ति करने के अनन्तर आहार ग्रहण करने का है न कि आहार के लिए भ्रमण करते हुए विधि न मिलने के पहले का भी। अर्थात् यदि साधु आहार हेतु भ्रमण कर रहे है उस समय का काल इसमें शामिल नही है।

आहार के लिए निकले हुए क्या करते हुए भ्रमण करते है ? सो बताते हैं—

गाथार्थ—भिक्षा के लिए चर्या मे निकले हुए मुनि पुनः गुप्ति, गुण, शील और संयम आदि की रक्षा करते हुए और तीन प्रकार के वैराग्य का चिन्तन करते हुए चलते है या आचरण करते है ॥४९३॥*

आचारवृत्ति—भिक्षा चर्या मे प्रविष्ट हुए मुनि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति की रक्षा करते हुए चलते है। मूलगुणो की और उत्तरगुणो की रक्षा करते हुए तथा शील, सयम आदि की रक्षा करते हुए विचरण करते है। ऐसे मुनि शरीर से वैराग्य, सग से वैराग्य और ससार से वैराग्य का विचार करते हुए विचरण करते है।

गाथार्थ—आज्ञा, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और सयम की विराधना इनका चर्या में परिहार करना चाहिए ॥४९४॥

आचारवृत्ति—आज्ञा अर्थात् वीतराग शासन की रक्षा करते हुए उनकी आज्ञा का

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार मे अधिक है—

एकम्हि दोण्णि तिण्णि य मुहुत्तकालो दु उत्तमादीणो।
पुरदो य पच्छिमेण य णालीतियवज्जिदो चारे ॥

अर्थात् सूर्योदय से तीन घटिका के बाद और सूर्यास्त से तीन घटिका के पूर्व बीच का काल आहार का काल है। एक मुहूर्त में भोजन करना उत्तम, दो मुहूर्त में मध्यम और तीन मुहूर्त में जघन्य माना गया है। यही अर्थ ऊपर की गाथा मे आ चुका है।

स्वेच्छाप्रवृत्तिरपि च, मिथ्यात्वाराधन सम्यक्त्वप्रतिकूलाचरण, आत्मनाश स्वप्रतिघात, संयमविराधना चापि चर्यायां परिहर्त्तव्याः। भिक्षाचर्यायां प्रविष्टो मुनिरनवस्था यथा न भवति तथा चरति। मिथ्यात्वाराधनात्मनाश सयमविराधनाश्च यथा न भवन्तीति तथा चरति तथान्तरायाश्च परिहरश्चरति ॥४९४॥

केऽन्तराया [1]इत्याशङ्क्याह—

कागा मेज्झा छद्दी रोहण रुहिरं च अस्सुवादं च।
जण्हूहिट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ॥४९५॥

णाभिअधोणिग्गमणं पच्चक्खियसेवणा य जंतुवहो।
कागादिपिंडहरणं पाणीदो पिंडपडणं च ॥४९६॥

पाणीए जंतुवहो मंसादीदसणे य उवसग्गे।
पादंतरम्मि जीवो संपादो भायणाणं च ॥४९७॥

उच्चारं पस्सवणं अभोजगिहपवेसणं तहा पडण।
उववेसण सदंसं भूमीसंफास णिट्ठुवणं ॥४९८॥

उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहण पहारगामडाहोय।
पादेण किंचि गहणं करेण वा जं च भूमीए ॥४९९॥

एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोयणस्सेह।
बीहणलोगदुगुंछणसंजमणिव्वेदणट्ठं च ॥५००॥*

पालन करते हुए साधु विचरण करते है, ऐसा सम्बन्ध लगाना। और, निम्न दोषों का परिहार करते हुए विचरण करते हैं—अनवस्था—स्वेच्छाप्रवृत्ति, मिथ्यात्वाराधना—सम्यक्त्व के प्रतिकूल आचरण, आत्मनाश—स्व का घात, सयम विराधना—सयम की हानि ये दोष हैं। चर्या मे प्रविष्ट हुए मुनि जैसे अनवस्था न हो वैसा आचरण करते हैं, मिथ्यात्व की आराधना आदि ये दोष जैसे न हो सके वैसा ही प्रयत्न करते हुए पर्यटन करते है, तथा अन्तरायों का भी परिहार करते हुए आहार ग्रहण करते है।

वे अन्तराय कौन से है ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—काक, अमेध्य, वमन, रोधन, रुधिर, अश्रुपात, जान्वध परामर्श, जानूपरि-व्यतिक्रम, नाभि से नीचे निर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन, जन्तुबध, काकादि पिडहरण, पाणिपात्र से पिडपतन, पाणिपुट में जन्तुवध, मासादि दर्शन, उपसर्ग, पादान्तर में जीव सपात, भाजन सपात, उच्चार, मूत्र, अभोज्यगृह प्रवेश, पतन, उपवेशन, सदंश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, उदर कृमि निर्गमन, अदत्तग्रहण, प्रहार, ग्रामदाह, पादेन किञ्चित् ग्रहण अथवा भूमि से हाथ से किंचित् ग्रहण करना। भोजन त्याग के और भी बहुत से कारण हैं। ये अन्तराय भय, लोक निन्दा, सयम की रक्षा और निर्वेद के लिए पाले जाते हैं ॥५००॥

---

१ क इत्याशकायामाह।

*अन्तरायों का यह वर्णन फलटन से प्रकाशित मूलाचार के प्रथम अध्याय में ही है।

काका उपलक्षणार्थो गृहीतस्तेन काकबकश्येनादयः परिगृह्यन्ते। गच्छतः स्थितस्य वा बक-काका-दयो यदुपरि व्युत्सर्गं कुर्वन्ति तदपि काक इत्युच्यते साहचर्यात्। काको नाम भोजनस्यान्तरायः। तथाऽमेध्यमशुचि तेन पादादिकं यल्लिप्तं तदप्यमेध्यमिति साहचर्यात्, अमेध्यं नामान्तरायः। तथा छर्दिर्वमनमात्मनो यदि भवति। तथा रोधनं यदि कश्चिद्धरणादिकं करोति। तथा रुधिरमात्मनोऽन्यस्य वा यदि पश्यति। चशब्देन पूयादिकं च ग्राह्यं। तथाऽश्रुपातो दुःखेनात्मनो यदश्रूण्यागच्छन्ति परेषामपि सन्निकृष्टानां यद्यवं दोषो भवेत्। तथा जान्वधः आमर्शो जान्वधः परामर्शः। तथा जानूपरि व्यतिक्रमश्चैव। सर्वत्रान्तरायेण सम्बन्ध इति ॥४९५॥ तथा—

नाभ्यधो निर्गमनं नाभेरधो मस्तकं कृत्वा यदि निर्गमनं भवेत्। तथा प्रत्याख्यातस्य सेवना च, अवग्रहो यस्य वस्तुनस्तस्य यदि भक्षणं स्यात्। तथा जन्तुवधः आत्मनोऽन्येन वा पुरतो जीववधो यदि क्रियते। तथा काकादिभिः पिंडहरणं यदि काकादयः पिण्डमपहरन्ति। तथा पाणिपात्रात्पिण्डपतनं भुंजानस्य पाणिपुटाद्यदि पिण्डो ग्रासमात्रं वा पतति ॥४९६॥ तथा—

पाणिपात्रे जन्तुवधो जन्तुरात्मनागत्य पाणौ भुंजानस्य यदि म्रियते। तथा मांसादिदर्शनं मांसं मृतपंचेन्द्रियशरीरं इत्येवमादीनां दर्शनं यदि स्यात्। तथोपसर्गो दैविकाद्युपसर्गो यदि स्यात्। तथा पादान्तरे

आचारवृत्ति—ये बत्तीस अन्तराय कहे गये हैं। इन सभी में अन्तराय शब्द का प्रयोग कर लेना चाहिए।

१. काक—गमन करते हुए या स्थित हुए मुनि के ऊपर यदि काक, बक आदि पक्षी वीट कर देवे तो वह काक नाम का अन्तराय है। यहाँ 'काक' शब्द उपलक्षण मात्र है अतः काक बक, बाज, आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि साहचर्य की अपेक्षा यह कथन किया गया है। २. अमेध्य—अशुचि पदार्थ विष्ठा आदि से यदि पैर लिप्त हो जाय तो अन्तराय होता है। यहाँ पर अमेध्य के साहचर्य इस अन्तराय को भी अमेध्य कह दिया है। ३. वमन—यदि स्वयं को वमन हो जाय तो वमन नाम का अन्तराय है। ४. रोधन—यदि कोई उस समय रोक दे या पकड़ ले तो अन्तराय है। ५. रुधिर—यदि अपने या अन्य के शरीर से रुधिर[1] निकलता हुआ दिख जाय। गाथा में 'च' शब्द का तात्पर्य है कि पीव आदि दिखने से भी अन्तराय है। ६. अश्रुपात —दुःख से यदि अपने अथवा पास में स्थित किसी अन्य के भी अश्रु आ जावें आ जावें, ७. जान्वधः परामर्श—घुटनों से नीचे भाग का यदि हाथ से स्पर्श हो जाय, ८. जानूपरि व्यतिक्रम—घुटनों से ऊपर के अवयवों का स्पर्श हो जावे, ९. नाभ्यधोनिर्गमन—नाभि से नीचे मस्तक करके यदि निकलना पड़ जाये, १०. प्रत्याख्यात सेवना—जिस वस्तु का त्याग है यदि उसका भक्षण हो जावे, ११. जन्तु वध—यदि अपने से या अन्य के द्वारा सामने किसी जन्तु का वध हो जावे, १२. काकादिपिंडहरण—यदि कौवे आदि हाथ से ग्रास हरण कर लेवें, १३. पिंड-पतन—यदि आहार करते हुए अपने पाणि-पात्र से पिंड या ग्रास मात्र का पतन हो जावे, १४.

---

१. चार अंगुल प्रमाण रुधिर-पीव दिखने से अन्तराय होता है इससे कम नहीं।

"रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहत्तच्चतुरंगुलं सती न्यूनवाहनि नास्त्यंतरायः।"

[अनगार धर्मामृत, अ. ५, श्लोक ४५]

पचेन्द्रियजीवो यदि गच्छेत्। तथा सम्पातो भाजनस्य परिवेषकहस्ताद्भाजन यदि पतेत् ॥४९७॥ तथा—

उच्चार आत्मनो यद्युदरमलव्युत्सर्गः स्यात्। तथात्मन. प्रस्रवण मूत्रादिक यदि स्यात्। तथा पर्यटतोऽभोजनगृहप्रवेशो यदि भवेत् चाडालादिगृहप्रवेशो यदि स्यात्। तथा पतनमात्मनो मूर्छादिना यदि पतन भवेत्। तथोपवेशन यद्युपविष्टो भवेत्। तथा सदश सह सशेन वर्तते इति सदश श्वादिभिर्यदि दष्टः स्यात्। तथा भूमिसस्पर्शं सिद्धभक्ति कृतायां हस्तेन भूमि यदि स्पृशेत्। तथा निष्ठीवन स्वेन यदि श्लेष्मादिक क्षिपेत् ॥४९८॥ तथा—

उदराद्यदि कृमिनिर्गमन भवेत्। तथा अदत्तग्रहणमदत्त यदि किंचिद् गृह्णीयात्। तथा प्रहार आत्मनोऽन्यस्य वा खड्गादिभिर्यदि प्रहारः स्यात्। तथा ग्रामदाहो यदि स्यात्। तथा पादेन यदि किंचिद् गृह्यते। तथा करेण वा यदि किंचिद्गृह्यते भूमेरिति सर्वत्राशनस्यान्तरायो भवतीति सम्बन्ध. ॥४९९॥

तथा—

एते पूर्वोक्ता काकादयोऽन्तराया कारणभूता भोजनपरित्यागस्य द्वात्रिंशत्। तथान्ये च बहवश्च-डालादिस्पर्शकलहेष्टमरणसाधर्मिकसन्यासपतनप्रधानमरणादयोऽशनपरित्यागहेतव। भयलोकजुगुप्साया सयम-निर्वेदनार्थ च यदि किंचित्स्यात् भय राज्ञ स्यात्, तथा लोकजुगुप्सा च यदि स्यात् तथाप्याहारत्यागः। सयमार्थं चाहारत्यागो निर्वेदनार्थ चेति ॥५००॥

पाणी जन्तुवध—यदि आहार करते हुए के पाणिपुट मे कोई जन्तु स्वय आकर मर जावे, १५. मासादिदर्शन—यदि मरे हुए पचेन्द्रिय जीव के शरीर का मास आदि दिख जावे, १६ उपसर्ग—यदि देवकृत आदि उपसर्ग हो जावे, १७ पादातरे जीव—यदि पचेन्द्रिय जीव पैरो के अन्तराल से निकल जावे, १८ भाजन सपात—यदि आहार देने वाले के हाथ से वर्तन गिर जावे, १९. उच्चार—यदि अपने उदर से मल च्युत हो जावे, २० प्रस्रवण—यदि अपने मूत्रादि हो जावे, २१ अभोज्य गृहप्रवेश—यदि आहार हेतु पर्यटन करते हुए मुनि का चाडाल आदि अभोज्य के घर मे प्रवेश हो जावे, २२. पतन—यदि मूर्च्छा आदि से अपना पतन हो जावे अर्थात् आप गिर पडे, २३ उपवेशन—यदि बैठना पड जावे, २४ सदश—यदि कुत्ता आदि काट खाये, २५. भूमि स्पर्श—सिद्धभक्ति कर लेने के बाद यदि हाथ से भूमि का स्पर्श हो जावे, २६ निष्ठीवन—यदि अपने मुख से थूक, कफ आदि निकल जावे, २७ उदरकृमि निर्गमन—यदि उदर से कृमि निकल पडे, २८. अदत्तग्रहण—यदि बिना दी हुई कुछ वस्तु ग्रहण कर लेवे, २९ प्रहार—यदि अपने ऊपर या अन्य किसी पर तलवार आदि से प्रहार हो जावे, ३० ग्रामदाह—यदि ग्राम में अग्नि लग जावे, ३१ पादेन किंचित् ग्रहण—यदि पैर से कुछ ग्रहण कर लिया जावे, ३२. करेण-किंचिद्ग्रहण—अथवा यदि हाथ से कुछ वस्तु भूमि पर ग्रहण करली जावे। इस प्रकार उपर्युक्त कारणो से सर्वत्र भोजन में अन्तराय होता है ऐसा समझना चाहिए।

ये पूर्वोक्त काक आदि बत्तीस अन्तराय हैं जो कि भोजन के त्याग के लिए कारणभूत होते है। इनसे अन्य भी बहुत ये अन्तराय है जैसे कि चाडाल आदि का स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक सन्यास पतन, प्रधान का मरण आदि, ये भी भोजनत्याग के हेतु है। यदि राजा का भय या अन्य किंचित् भय हो जावे, यदि लोकनिन्दा हो जावे तो भी आहार त्याग कर देना चाहिए। संयम के लिए और निर्वेदभाव के लिए भी आहार का त्याग होता है।

पिण्डशुद्धिमुपसहरन्नाह—

जेणेह पिंडसुद्धी उवविट्ठा जेहि धारिदा सम्मं ।
ते वीरसाधुवग्गा तिरदणसुद्धिं मम दिसंतु ।।५०१।।*

सूत्रकार फलार्थी प्राह—यैरिह पिण्डशुद्धिरुपदिष्टा यैश्चधारिता सेविता सम्यग्विधानेन ते वीर-साधुवर्गास्त्रिरत्नशुद्धिं मम दिशन्तु प्रयच्छन्तु ।।५०१।।

इत्याचारवृत्तौ वसुनन्दिविरचितायां पिण्डशुद्धिर्नाम षष्ठः प्रस्तावः ।

पिडशुद्धि अधिकार का उपसहार करते हैं—

गाथार्थ—इस जगत् मे जिन्होने पिंडशुद्धि का उपदेश दिया है, और जिन्होने सम्यक् प्रकार से इसे धारण किया है वे वीर साधुवर्ग मुझे तीन रत्न की शुद्धि प्रदान करे ।।५०१।।

आचारवृत्ति—सूत्रकार फल की इच्छा करते हुए कहते हैं कि जिन्होने इस लोक मे आहारशुद्धि का उपदेश दिया है और जिन्होने सम्यक् विधान से उसका सेवन किया है वे वीर साधु समूह मुझे तीन रत्न की शुद्धि प्रदान करे ।

इस प्रकार आचारवृत्ति नामक टीका मे श्रीवसुनदि आचार्य द्वारा विरचित
पिडशुद्धि नाम का छठा प्रस्ताव पूर्ण हुआ ।

---

*फलटन से प्रकाशित मूलाचार मे अन्त्यमगल रूप एक गाथा और है—

सगबोधदीवविज्जिद भुवणत्तयरुद्धमंदमोहतमो ।
णमिदसुरासुरसंघो जयदु जिणिंदो महावीरो ।।

अर्थात् जिन्होने अपने केवलज्ञानरूपी दीप के द्वारा तीनो लोको मे व्याप्त मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर दिया है तथा जिनको सभी सुर-असुर समूह वन्दन करते हैं वे कर्मों के विजेता श्री महावीर भगवान् सतत जयवन्त हो ।

७. षडावश्यकाधिकारः

प्रायेण जायते पुंसां वीतरागस्य दर्शनम् ।
तद्दर्शनविरक्तानां भवेज्जन्मापि निष्फलम् ॥

षडावश्यकक्रियं मूलगुणान्तर्गतमधिकार प्रपचेन विवृण्वन् प्रथमतर तावन्नमस्कारमाह—

काऊण णमोक्कारं अरहंताण तहेव सिद्धाण ।
आइरियउवज्झाए लोगम्मि य सव्वसाहूण ॥५०२॥

कृत्वा नमस्कार, केषामर्हता तथैव सिद्धाना, आचार्योपाध्यायाना च लोके च सर्वसाधूनां। लोक-शब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते। कारशब्दो येन तेन षष्ठी सजाताऽन्यथा पुनश्चतुर्थी भवति। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो लोकेऽस्मिन्नमस्कृत्वा आवश्यकनिर्युक्ति वक्ष्ये इति सम्बन्ध सापेक्षत्वात् क्त्वान्तप्रयोगस्येति ॥५०२॥

नमस्कारपूर्वक प्रयोजनमाह—

श्लोकार्थ—जीवो को प्राय ही वीतराग का दर्शन होता है और जो वीतराग भगवान् के दर्शन से विरक्त है उनका जन्म भी निष्फल है।

मूलगुण के अन्तर्गत जो षट्- आवश्यक क्रिया नामक अधिकार है उसे विस्तार से कहते हुए, उसमें सबसे पहले नमस्कार वचन कहते है—

गाथार्थ—*अर्हन्तो को, सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को, और लोक में सर्व-साधुओ को नमस्कार करके मैं आवश्यक अधिकार कहूँगा ॥५०२॥*

आचारवृत्ति—'लोक' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। 'अरहंताण' आदि पदो मे जो षष्ठी विभक्ति है उसमें कारण यह है कि नम शब्द के साथ 'कार' शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि नम: शब्द मात्र होता तो पुन: चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया जाता। तात्पर्य यह हुआ कि इस लोक में जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं उनको नमस्कार करके मैं आवश्यक निर्युक्ति का कथन करूँगा, ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए; क्योंकि 'क्त्वा' प्रत्यय वाले शब्दों का प्रयोग सापेक्ष रहता है, वह अगली क्रिया की उपेक्षा रखता है।

अब नमस्कार पूर्वक प्रयोजन को बतलाते हैं—

आवासयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण।
आयरियपरंपराए जहागदा आणुपुव्वीए ॥५०३॥

आवश्यकनिर्युक्तिं वक्ष्ये। यथाक्रमं क्रममनतिलंघ्य परिपाट्या। समासेन संक्षेपतः। आचार्यपरंपरया यथागतानुपूर्व्या। येन क्रमेणागता पूर्वाचार्यप्रवाहेण संक्षेपतोऽनुक्रमेण तेनैव क्रमेण पूर्वागमक्रमं चापरित्यज्य वक्ष्ये कथयिष्यामीति ॥५०३॥

तावत्पचनमस्कारनिर्युक्तिमाह—

रागद्दोसकसाए य इंदियाणि य पंच य।
परिसहे उवसग्गे णासयतो णमोरिहा ॥५०४॥

राग. स्नेहो रतिरूप.। द्वेषोऽप्रीतिररतिरूप.। कषाया: क्रोधादय.। इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पंच। परीषहा. क्षुदादयो द्वाविंशति.। उपसर्गा देवादिकृतसक्लेशा.। तान् रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गान् स्वतः कृतकृत्यत्वाद्भव्यप्राणिनां नाशयद्भ्यो विनाशयद्भ्योऽर्हद्भ्यो नम इति ॥५०४॥

अथार्हन्त कया निरुक्त्या उच्यन्त इत्याह—

अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे ॥५०५॥

नमस्कारमर्हन्ति नमस्कारयोग्या। पूजाया अर्हा योग्या। लोके सुराणामुत्तमा. प्रधानाः। रजसो

गाथार्थ—आचार्य परम्परा के अनुसार और आगम के अनुरूप सक्षेप में यथाक्रम से मै आवश्यक नियुक्ति को कहूँगा ॥५०३॥

आचारवृत्ति—जिस क्रम से इन छह आवश्यक क्रियाओं का वर्णन चला आ रहा है, उसी क्रम से पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार मैं सक्षेप से पूर्वागम का उल्लघन न करके उनका कथन करूँगा।

पच नमस्कार की निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—राग, द्वेष और कषायों को, पांच इन्द्रियों को, परीषह और उपसर्गों को नाश करनेवाले अर्हन्तों को नमस्कार ॥५०४॥

आचारवृत्ति—राग स्नेह अर्थात् रति रूप है। द्वेष अप्रीति अर्थात् अरतिरूप है। क्रोधादि को कषाय कहते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ पाँच हैं। क्षुधा, तृषा आदि बाईस परिषह होती हैं। देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा दिये गये क्लेश को उपसर्ग कहते है। इन राग द्वेष आदि को जो स्वय नष्ट करके कृतकृत्य हैं किन्तु भव्य जीवों के इन राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय परीषह और उपसर्ग को नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे अर्हन्त भगवान् को नमस्कार हो।

अब अर्हन्त शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—

गाथार्थ—नमस्कार के योग्य हैं, लोक में उत्तम देवों द्वारा पूजा के योग्य हैं, आवरण का और मोहनीय शत्रु का हनन करने वाले हैं, इसलिए वे अर्हन्त कहे जाते हैं ॥५०५॥

आचारवृत्ति—इस संसार में जो देवों में प्रधान इन्द्रादिगण द्वारा नमस्कार के योग्य

ज्ञानदर्शनावरणयोर्हन्तार । अरेर्मोहस्यान्तरायस्य च हन्तारोऽपनेतारो यस्मात्तस्मादर्हन्त इत्युच्यन्ते । येनेह कारणेनेत्थम्भूतास्तेनार्हन्त सर्वलोकनाथा लोकेस्मिन्नुच्यन्ते ॥५०५॥ अत किं ?

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५०६॥

इत्यभूतानामर्हता नमस्कार य करोति भावेन प्रयत्नमति स सर्वदु खमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५०६॥

सिद्धानां निरुक्तिमाह—

दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्मंहि ।
सिदे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुववच्छइ ॥५०७॥

श्लोकोऽय । दीर्घकालमनादिससार । अय जन्तुर्जीव । उषित स्थित अष्टसु कर्मसु ज्ञानावरणादिभि कर्मभि परिवेष्टितोय जीव परिणत स्थित । सिते कर्मबन्धे निवृत्ते[1] । निर्धत्ते परप्रकृतिसक्रमोदयोदीरणोत्कर्षापकर्षणरहिते ध्वस्ते प्रणाशमुपगते सिद्धत्वमुपगच्छति । निर्धत्ते बन्धे ध्वस्ते सत्यय जन्तुर्यद्यपि दीर्घकाल कर्मसु व्यवस्थितस्तथापि सिद्धो भवति सम्यग्ज्ञानाद्यनुष्ठानेनेति ॥५०७॥

तथोपायमाह—

हैं, उनके द्वारा की गई पूजा के योग्य है, 'रज' शब्द से—ज्ञानावरण और दर्शनावरण का हनन करनेवाले है, तथा 'अरि' शब्द से—मोहनीय और अन्तराय का हनन करनेवाले है अत वे 'अर्हन्त' इस सार्थक नाम से कहे जाते है । और जिस कारण से वे भगवान् इस प्रकार सर्वपूज्य हैं उसी कारण से वे इस लोक में अर्हन्त, सर्वज्ञ, सर्वलोकनाथ कहे जाते हैं ।

नमस्कार का क्या फल है—

गाथार्थ—जो प्रयत्नशील भाव से अर्हन्त का नमस्कार करता है, वह अति शीघ्र ही सभी दु खो से छुटकारा पा लेता है ॥५०६॥

आचारवृत्ति—टीका सरल है ।

गाथार्थ—यह जीव अनादिकाल स आठ कर्मों से सहित है । कर्मों के नष्ट हो जाने पर सिद्धपने को प्राप्त हो जाता है ॥५०७॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक है । अनादिकाल से यह जीव ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो से वेष्टित है, कर्मों से परिणित हो रहा है । निधत्ति रूप जो कर्म है अर्थात् जिनका पर-प्रकृति-रूप सक्रमण नही होता है, जिनका उदय, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षण नही हो रहा है ऐसे कर्मो के ध्वस्त हो जाने पर यह जीव सिद्धपने को प्राप्त कर लेता है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह जीव अनादिकाल से कर्मो से सहित है फिर भी सम्यग्ज्ञान आदि अनुष्ठान के द्वारा कर्मो को ध्वस्त करके सिद्ध हो जाता है ।

उसी का उपाय बताते है—

---

१ 'निवृत्ते' नास्ति क प्रतौ ।

आवेसणी सरीरे इंदियभंडो मणो व आगरिओ।
धमिदव्व जीवलोहो बावीसपरसहग्गीहिं ॥५०८॥

आवेसनी चुल्ली यत्रांगाराणि क्रियन्ते। शरीरे किंविशिष्टे, आवेशनीभूते। इन्द्रियाण्येव भाण्ड-मुपस्कारभूत सदशकाभीरणी हस्तकूटघनादिक। मनस्त्वाकरी चता उपाध्यायो लोहकार। ध्मातव्य दाह्य निर्मलीकतव्य। जीवलोह जीवधातु। द्वाविंशतिपरीषहाग्निना। एव द्वाविंशतिपरीषहाग्निना कर्मबन्धे ध्वस्ते चुल्लीकृत शरीर त्यक्त्वेन्द्रियाणि चोपस्करणभूतानि परित्यज्य निर्मलीभूत जीवसुवर्ण गृहीत्वा मन केवलज्ञान-माकरी सिद्धत्वमुपगच्छति सिद्धो भवतीति सम्बन्ध। तस्मात् सिद्धत्वयुक्ताना सिद्धाना नमस्कार भावेन य करोति प्रयत्नमति स सवदु खमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण कालेनति ॥५०८॥

आचार्यस्य निरुक्तिमाह—

सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरो।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥५०९॥*

श्लोकोऽय। सदा सर्वकाल आचार वत्तीति सदाचारवित् रात्रौ दिने वाचरस्य परमार्थसवेदन

गाथार्थ—शरीर चूल्हा है, इन्द्रिया वतन हैं और मन लोहकार है। बाईस परीषहो के द्वारा जीवरूपी लोह को तपाना चाहिए ॥५०८॥

आचारवृत्ति—आवशनी अर्थात चूल्हा जिसमे अगारे किये जाते है। ऐसा यह शरीर आवशनीभूत अर्थात चूल्हा है। इन्द्रिया भाड अर्थात तपाने के साधनरूप सडासी, हथौडी, घन आदि है। मन अर्थात् यह चित्त उपाध्याय है—लोहकार, स्वर्णकार है। बाईस परीषह रूपी अग्नि के द्वारा इस जीव रूपी लोह—स्वर्ण को तपाना चाहिए निर्मल करना चाहिए।

इस प्रकार से बाईस परीषहरूपी अग्नि के द्वारा कर्मबन्ध को ध्वस्त कर देने पर चूल्हे रूप शरीर को छोडकर और उपकरण रूप इन्द्रियो का भी छोड कर निर्मल हुए जीवरूप स्वर्ण को ग्रहण करके, मन अर्थात् केवलज्ञान रूपी स्वर्णकार सिद्ध हो जाता है, ऐसा सम्बन्ध लगाना। इसलिए सिद्धत्व से युक्त इन सिद्ध परमेष्ठी को जो प्रयत्नशील जीव भावपूर्वक नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सभी दुखो से छूट जाता है।

आचार्य पद का अर्थ कहते है—

गाथार्थ—सदा आचार वेत्ता है, सदा आचार का आचरण करते हैं और आचारो का आचरण कराते है इसलिए आचार्य कहलाते है ॥५०९॥

आचारवृत्ति—यह श्लोक है। जो हमेशा आचारो को जानते हैं वे आचारविद् हैं

---

1 यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार मे अधिक है—

सिद्धाणणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो भक्त मन एकाग्र करके सिद्धो को नमस्कार करता है वह सभी दुःखो से मुक्त हो सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है।

यत्नेन युक्तोऽथवा सदाचार. शोभनाचार सम्यग्ज्ञानवांश्च सदा सर्वकालमाचरित चर आचरित गणधरादिभिरेत चेष्टित चरतीति वा चरित चरोऽथवा चरणीय श्रामण्ययोग्य दीक्षाकाल च शिक्षाकाल च चरितवानिति कृतकृत्य इत्यर्थ. । आचारमन्यान् साधूनाचारयन् हि यस्मात् प्रभासते तस्मादाचार्य इत्युच्यते ॥५०६॥ तथा

जम्हा पंचविह।चारं श्राचरंतो पभासदि ।
श्रायरियाणि देसंतो श्रायरिश्रो तेण वुच्चदे ॥५१०॥*

श्लोकोऽय । पचविधमाचार दर्शनाचारादिपचप्रकारमाचार चेष्टयन् । प्रभासते शोभते । आचरितानि स्वानुष्ठानानि दर्शयन् प्रभासते आचार्यस्तेन कारणेनोच्यते इति । एव विशिष्टाचार्यस्य यो नमस्कार करोति स सर्वदु खमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५१०॥

उपाध्यायनिरुक्तिमाह—

बारसंगे जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे ।
उवदेसइ सज्झाय तेणुवज्झाउ उच्चदि ॥५११॥

अर्थात् रात-दिन होने वाले आचरणो को जो परमार्थ से जानते है, यत्नपूर्वक उसमे लगे हुए हैं। अथवा जो सदाचार—शोभन आचार का पालन करते हैं, सम्यग्ज्ञानवान् हैं, वे आचारविद् कहलाते हैं। जो सर्वकाल गणधर देव आदिकों के द्वारा अभिप्रेत अर्थात् आचरित आचरण को धारण करते हैं अथवा जो श्रमणपने के योग्य दीक्षा काल और शिक्षाकाल का आचरण करते हुए कृतकृत्य हो रहे है, तथा जो पाँच आचारों का अन्य साधुओ को भी आचरण कराते रहते हैं इसी हेतु से वे 'आचार्य' इस नाम से कहे जाते हैं।

उसी प्रकार से और भी लक्षण बताते हैं—

गाथार्थ—जिस कारण वे पाँच प्रकार के आचारो का स्वयं आचरण करते हुए शोभित होते है और अपने आचरित आचारो को दिखलाते है इसी कारण से वे आचार्य कहलाते हैं।

आचारवृत्ति—यह श्लोक है। दर्शनाचार आदि पाँच आचारों को धारण करते हुए जो शोभित होते है और अपने द्वारा किये गये अनुष्ठानो को जो अन्यो को दिखलाते—बतलाते हुए अर्थात् आचरण कराते हुए शोभित होते है, इसी कारण से वे आचार्य इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

इन गुणो से विशिष्ट आचार्यों को जो नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्ति पा लेता है।

उपाध्याय का निरुक्ति अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेव द्वारा व्याख्यात द्वादशांग को विद्वानों ने स्वाध्याय कहा है। जो उस स्वाध्याय का उपदेश देते हैं वे इसी कारण से उपाध्याय कहलाते है ॥५११॥

---

*फलटन की प्रति मे यह गाथा अधिक है—

आइरिय णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयद मदी ।
सो सव्वदुक्ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो भव्यजीव भाव से एकाग्रचित्त होकर आचार्यों को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्वदुःखो से मुक्त हो जाता है।

द्वादशांगानि जिनाख्यातानि जिनैः प्रतिपादितानि स्वाध्याय इति कथितो बुधैः पंडितैस्तं स्वाध्यायं द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरूपं यस्मादुपदिशति प्रतिपादयति तेनोपाध्याय इत्युच्यते । तस्योपाध्यायस्य नमस्कार यः करोति प्रयत्नमतिः स सर्वदुखमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण कालेनेति ॥५११॥

साधूनां निरुक्तितो नमस्कारमाह—

णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो ।
समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो ॥५१२॥*

यस्मान्निर्वाणसाधकान् योगान् मोक्षप्रापकान् मूलगुणादितपोऽनुष्ठानानि सदा सर्वकाल रात्रिदिव युजन्ति तैरात्मान योजयन्ति साधव. साधुचरितानि। यस्माच्च समा. समत्वमापन्ना सर्वभूतेषु तस्मात्कारणात्ते सर्वसाधव इत्युच्यन्ते। तेषा सर्वसाधूना नमस्कार भावेन य करोति प्रयत्नमति स सर्वदुःखमोक्ष करोत्यचिरेण कालेनेति ॥५१२॥

पचनमस्कारमुपसहरन्नाह—

आचारवृत्ति – जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित द्वादशाग को पडितो ने 'स्वाध्याय' नाम से कहा है। उस द्वादशाग और चतुर्दश पूर्वरूप स्वाध्याय का जो उपदेश देते है, अन्य जनो को उसका प्रतिपादन करते है इस हेतु से वे 'उपाध्याय' इस नाम से कहे जाते है। जो प्रयत्नशील होकर उन उपाध्यायो को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखो से मुक्त हो जाता है।

अब साधुओं को निरुक्ति अर्थ पूर्वक नमस्कार करते हैं—

गाथार्थ—साधु निर्वाण के साधक ऐसे योगों मे सदा अपने को लगाते हैं, सभी जीवो में समताभावी है इसीलिए वे साधु कहलाते हैं ॥५१२॥

आचारवृत्ति—जिस कारण से मोक्ष को प्राप्त कराने वाले ऐसे मूलगुण आदि तपों के अनुष्ठान में हमेशा रात-दिन वे अपनी आत्मा को लगाते है, जिनका आचरण साधु—सुन्दर है और जिस हेतु से वे सम्पूर्ण जीवो मे समता भाव को धारण करने वाले हैं, इसी हेतु से वे सर्व साधु इस नाम से कहे जाते है। जो प्रयत्नशील होकर उन सभी साधुओ को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्व दु.खो से मुक्त हो जाता है।

पंच नमस्कार का उपसहार करते हुए कहते है—

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

उवज्झायणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

अर्थात् जो स्थिरचित्त भव्य भक्ति से उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार करता है, वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

एवंगुणजुत्ताणं पचगुरूणं विसुद्धकरणेहिं ।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्घं ।।५१३।।*

एवं गुणयुक्ताना पचगुरूणा पचपरमेष्ठिना सुनिर्मलमनोवाक्कायैर्यः करोति नमस्कारं स प्राप्नोति निर्वृतिं सिद्धिसुख शीघ्र । न पौनरुक्त्य, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोरुभयोरपि सग्रहार्थत्वादिति ।।५१३।।

किमर्थं पचनमस्कार क्रियत इति चेदित्याह—

एसो पचणमोयारो सव्वपावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ।।५१४।।

एष पचनमस्कार सर्वपापप्रणाशक सर्वविघ्नविनाशक मल पाप गालयन्तीति विनाशयन्ति, मग

गाथार्थ—इन गुणो से युक्त पाँचो परम गुरुओ को जो विशुद्ध मन-वचन-काय से नमस्कार करता है वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।।५१३।।

आचारवृत्ति—यहाँ प्रश्न यह होता है कि आपने पहले पृथक्-पृथक् पाँचों परमेष्ठियो के नमस्कार का फल निर्वाण बताया है पुन यहाँ पाँचो के नमस्कार का फल एक साथ फिर क्यो कहा ? यह तो पुनरुक्ति दोष हो गया । इस पर आचार्य समाधान करते है कि यह पुनरुक्ति दोष नही है क्योकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनो नयो का यहाँ पर सग्रह किया गया है । अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मे अर्थ को समझने वाले सक्षेप रुचि वालों के लिए यह समष्टि-रूप कथन है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से विस्तार मे रुचि रखनेवाले शिष्यो के लिए पहले विस्तार से कहा जा चुका है ।

पच परमेष्ठी को नमस्कार किसलिए किया जाता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते है—

गाथार्थ—यह पच नमस्कार मन्त्र सर्वपापो का नाश करने वाला है और सर्वमगलो में यह प्रथम मगल है ।।५१४।।

आचारवृत्ति—यह पच नमस्कार मत्र सम्पूर्ण विघ्नो का नाश करने वाला है इसलिए मगल स्वरूप है । मगल का व्युत्पत्ति अर्थ करते है कि जो मल-पाप का गालन करते है—विनाश करते है, अथवा जो मग अर्थात् सुख को लाते है—देते है वे मगल है । इस मगल के दो भेद होते है द्रव्य मगल और भाव मगल । जिस हेतु से इन दोनो प्रकारो के सम्पूर्ण मंगलो मे पचनमस्कार

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

साहूण णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ।

अर्थ—जो स्थिरचित्त हुआ भव्यजीव भावपूर्वक साधुओ को नमस्कार करता है वह तत्काल ही सर्वदुःखो से छूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है । 'साहूण' की जगह 'अरहत' शब्द देकर ज्यो की त्यो यह गाथा गाथा क्र० ५०६ पर अकित है ।

सुखं लान्त्याददतीति वा मगलानीति तेषु मगलेषु द्रव्यमगलेषु भावमंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं भवति मगलं यस्मात्तस्मात् सर्वशास्त्रादौ मंगल क्रियत इति ॥५१४॥

पंचनमस्कारनिरुक्तिमाख्यायावश्यकनिर्युक्तेर्निरुक्तिमाह—

ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयत्ति बोधव्वा ।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती ॥५१५॥

न वश्य· पापादेरवश्यो यदेन्द्रियकपायेषत्कषायरागद्वेषादिभिरनात्मीयकृतस्तस्यावश्यकस्य यत्कर्मानुष्ठान तदावश्यकमिति बोद्धव्य ज्ञातव्य । युक्तिरिति उपाय इति चैकार्थं । निरवयवा सम्पूर्णाऽखण्डिता भवति निर्युक्ति । आवश्यकाना निर्युक्तिरावश्यकनिर्युक्तिरावश्यकसम्पूर्णोपाय· अहोरात्रमध्ये साधूना यदाचरण तस्यावबोधक पृथक्पृथक् स्तुति[1]स्वरूपेण "जयति भगवानित्यादि" प्रतिपादक यत्पूर्वापराविरुद्ध शास्त्र न्याय आवश्यकनिर्युक्तिरित्युच्यते । सा च षट्प्रकारा भवति ॥५१५॥

प्रथम मगल है इसी से सम्पूर्ण शास्त्रों के प्रारम्भ मे वह मगल किया जाता है ऐसा समझना चाहिए।

पच नमस्कार की व्युत्पत्ति का व्याख्यान करके अब आवश्यक निर्युक्ति का निरुक्ति अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—जो वश मे नही है वह अवश है। उस अवश की मुनि की क्रिया को आवश्यक जानना चाहिए। युक्ति और उपाय एक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उपाय निर्युक्ति कहलाता है ॥५१५॥

आचारवृत्ति— जो पाप आदि के वश्य नही है वे अवश्य हैं। जब जो इन्द्रिय, कषाय, नोकषाय और राग द्वेष आदि के द्वारा आत्मीय नही किये गये हैं अर्थात् जिस समय इन इन्द्रिय कषाय आदिको ने जिन्हे अपने वश मे नही किया है उस समय वे मुनि अवश्य होने से आवश्यक कहलाते है और उनका जो कर्म अर्थात् अनुष्ठान है वह आवश्यक कहा गया है ऐसा जानना चाहिए। युक्ति और उपाय ये एकार्थवाची है, उस निरवयव अर्थात् सम्पूर्ण—अखण्डित उपाय को निर्युक्ति कहते है। आवश्यको की जो निर्युक्ति है उसे आवश्यक निर्युक्ति कहते हैं अर्थात् आवश्यक का सम्पूर्णतया उपाय आवश्यक निर्युक्ति है।

अहोरात्र के मध्य साधुओ का जो आचरण है उसको बतलाने वाले जो पृथक्-पृथक् स्तुति रूप से "जयति भगवान् हेमाम्भोज प्रचार विजृभिता—" इत्यादि के प्रतिपादक जो पूर्वापर से अविरुद्ध शास्त्र है जो कि न्यायरूप हैं, उन्हे आवश्यक निर्युक्ति कहते है। उस आवश्यक निर्युक्ति के छह प्रकार है।

भावार्थ—यहां पर आवश्यक क्रियाओं के प्रतिपादक शास्त्रों को भी आवश्यक निर्युक्ति शब्द से कहा है सो कारण में कार्य का उपचार समझना।

---

1 क स्वरूपेण स्तुति जं'।

तस्य (स्य) भेदान् प्रतिपादयन्नाह—

सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं ।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥५१६॥

सम सर्वेषा समानो यो सर्गं पुण्य वा समायस्तस्मिन् भव, तदेव प्रयोजन पुण्य तेन दीव्यतीति वा सामायिक समये भव वा सामायिक। चतुर्विंशतिस्तव चतुर्विंशतितीर्थंकराणां स्तव स्तुतिः। वन्दना सामान्यरूपेण स्तुतिर्जयति भगवानित्यादि, पचगुरुभक्तिपर्यन्ता पचपरमेष्ठिविषयनमस्कारकरण वा शुद्धभावेन। प्रतिक्रमण व्यतिक्रान्तदोषनिर्हरण व्रतादयुच्चारण च। प्रत्याख्यानं भविष्यत्कालविषयवस्तुपरित्यागश्च। तथा कायोत्सर्गो भवति षष्ठ। सामायिकावश्यकनिर्युक्ति चतुर्विंशतिस्तवाश्यकनिर्युक्ति, वन्दनावश्यकनिर्युक्ति, प्रतिक्रमणावश्यकनिर्युक्तिः, प्रत्याख्यानावश्यकनिर्युक्ति, कायोत्सर्गावश्यकनिर्युक्तिरिति ॥५१६॥

तत्र सामायिकनामावश्यकनिर्युक्ति वक्तुकाम प्राह—

सामाइयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकम समासेण ।
आयरियपरंपराए जहागद आणुपुव्वीए ॥५१७॥

अब उन आवश्यक निर्युक्ति के भेदो का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—सामयिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग ये छह है ॥५१६॥

आचारवृत्ति—सम अर्थात् सभी का समान रूप जो सर्ग अथवा पुण्य है उसे 'समाय' कहते है (पुण्य का नाम 'अय' भी है अत पुण्य के पर्यायवाची शब्द से सम+अय =समाय बना है। उसमे जो होवे सो सामायिक है। यहाँ 'समाय' मे इकण् प्रत्यय होकर बना है) अथवा वही पुण्य प्रयोजन है जिसका, अथवा 'तेन दीव्यति' उस समाय से शोभित होता है (इस अर्थ मे भी इकण् प्रत्यय हो गया है) अथवा समय मे जो होवे सो सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरों को स्तुति को चतुर्विशतिस्तव कहते है।

सामान्यरूप से "जयति भगवान् हेमाभोजप्रचारविजृंभिता—" इत्यादि चैत्यभक्ति से लेकर पचगुरुभक्ति पर्यन्त विधिवत् जो स्तुति की जाती है उसे वन्दना कहते है अथवा शुद्ध भाव से पचपरमेष्ठी विषयक नमस्कार करना वन्दना है। पूर्व मे किये गये दोषो का निराकरण करना और व्रतादि का उच्चारण करना अर्थात् व्रतो के दण्डको का उच्चारण करते हुए उन सम्बन्धी दोषो को दूर करने के लिए 'मिच्छा दुक्कड' बोलना सो प्रतिक्रमण है। भविष्यकाल के लिए वस्तु का त्याग करना प्रत्याख्यान है। तथा काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। इस प्रकार सामायिक आवश्यक निर्युक्ति, चतुर्विशति आवश्यक निर्युक्ति, वन्दना आवश्यक निर्युक्ति, प्रतिक्रमण आवश्यक निर्युक्ति, प्रत्याख्यान आवश्यक निर्युक्ति और कायोत्सर्ग आवश्यक निर्युक्ति ये छह भेद है।

अब उनमे से सामायिक नामक आवश्यक निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—आचार्य परम्परानुसार आगत क्रम से सक्षेप मे मैं क्रम से सामायिक निर्युक्ति को कहूँगा ॥५१७॥

सामायिकनिर्युक्ति सामायिकनिरवयवोपाय वक्ष्ये यथाक्रम समासेनाचार्यपरंपरया यथागतमनु-पूर्व्या। अधिकारक्रमेण पूर्वं यथानुक्रम सामायिककथनविशेषण पाश्चात्यानुपूर्वीग्रहणं, यथागतविशेषणमिति कृत्वा न पुनरुक्तदोषः ॥५१७॥

सामायिकनिर्युक्तिरपि[1] षट्प्रकारा तामाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ ॥५१८॥

अथवा निक्षेपविरहित शास्त्र व्याख्यायमानं वक्तु श्रोतुश्चोत्पथोत्थान कुर्यादिति सामायिकनिर्युक्ति-निक्षेपो वर्ण्यते—नामसामायिकनिर्युक्तिः, स्थापनासामायिकनिर्युक्ति, द्रव्यसामायिकनिर्युक्ति, क्षेत्रसामायिक-निर्युक्ति, कालसामायिकनिर्युक्ति, भावसामायिकनिर्युक्तिः। नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन सामायिक एष निक्षेप उपायः षट्प्रकारो भवति ज्ञातव्यः। शुभनामान्यशुभनामानि च श्रुत्वा रागद्वेषादिवर्जन नामसा-मायिक नाम। काश्चन स्थापना. सुस्थिताः सुप्रमाणा सर्वावयवसम्पूर्णा सद्भावरूपा मन आह्लादकारिण्यः। काश्चन पुन स्थापना दुस्थिता प्रमाणरहिता. सर्वावयवैरसम्पूर्णा. सद्भावरहितास्तास्तासूपरि रागद्वेषयोर-भाव. स्थापनासामायिकं नाम। सुवर्णरजतमुक्ताफलमाणिक्यादिमृत्तिकाकाष्ठकटकादिषु समदर्शन रागद्वेषयोर-

---

आचारवृत्ति—अधिकार के क्रम से सक्षेप में मै आचार्य परम्परा के अनुरूप अवि-च्छिन्न प्रवाह से आगत सामायिक के सम्पूर्ण उपाय रूप इस प्रथम आवश्यक को कहूँगा।

सामयिक निर्युक्ति के भी छह भेद कहते है—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सामायिक में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥५१८॥

आचारवृत्ति—अथवा निक्षेप रहित शास्त्र का व्याख्यान यदि किया जाता है तो वह वक्ता और श्रोता दोनों को ही उत्पथ मे—गलत मार्ग मे पतन करा देता है इसलिए सामायिक निर्युक्ति मे निक्षेप का वर्णन करते है। नाम सामायिक निर्युक्ति, स्थापना सामायिक निर्युक्ति, द्रव्य सामायिक निर्युक्ति, क्षेत्र सामायिक निर्युक्ति, काल सामायिक निर्युक्ति और भाव सामा-यिक निर्युक्ति इस तरह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सामायिक में यह निक्षेप अर्थात् जानने का उपाय छह प्रकार का समझना चाहिए। उसे ही स्पष्ट करते हैं—

शुभ नाम और अशुभ नाम को सुनकर राग-द्वेष आदि का त्याग करना नाम सामा-यिक है।

कुछेक स्थापनाएँ—मूर्तियाँ सुस्थित हैं, सुप्रमाण हैं, सर्व अवयवों से सम्पूर्ण हैं, सद्-भावरूप—तदाकार हैं और मन के लिए आह्लादकारी हैं। पुन कुछ एक स्थापनाएँ दुःस्थित हैं, प्रमाण रहित हैं, सर्व अवयवों से परिपूर्ण नही है और सद्भाव रहित—अतदाकार हैं। इन दोनों प्रकार की मूर्तियों में राग-द्वेष का अभाव होना स्थापना सामायिक है।

---

१ क 'क्तिमपि षट्प्रकारामाह।

भावो द्रव्यसामायिक नाम। कानिचित् क्षेत्राणि रम्याणि आरामनगरनदीकूपवापीतडागजनपदोपचितानि, कानिचिच्च क्षेत्राणि रूक्षकटकविषमविरसास्थिपाषाणसहितानि जीर्णाटवीशुष्कनदीमरुसिकतापुंजादिबाहुल्यानि तेषूपरि रागद्वेषयोरभाव. क्षेत्रसामायिक नाम। प्रावृड्वर्षाहैमन्तशिशिरवसन्तनिदाघा षड्ऋतवो रात्रिदिवस-शुक्लपक्षकृष्णपक्षा कालस्तेषूपरि रागद्वेषवर्जन कालसामायिक नाम। सर्वजीवेषूपरि मैत्रीभावोऽशुभपरिणाम-वर्जन भावसामायिक नाम। अथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्ष सज्ञाकरण सामायिकशब्दमात्र नामसामायिक नाम। सामायिकावश्यकेन परिणतस्याकृतिमत्यनाकृतिमति च वस्तुनि गुणारोपण स्थापनासामायिक नाम। द्रव्यसामायिक द्विविध आगमद्रव्यसामायिक नोआगमद्रव्यसामायिक चेति। सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञायी अनुपयुक्तो जीव आगमद्रव्यसामायिक नाम। नोआगमद्रव्यसामायिक त्रिविध सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञायकशरीरसामायिक-प्राभृतभविष्यज्ज्ञायकजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन। ज्ञायकशरीरमिति त्रिविध भूतवर्तमानभविष्यद्भेदेन। भूतमपि त्रिविध च्युतच्यावितत्यक्तभेदेन। सामायिकपरिणतजीवाधिष्ठित क्षेत्र क्षेत्रसामायिक नाम। यस्मिन् काले

सोना, चाँदी, मोती, माणिक्य आदि तथा लकडी मिट्टी का ढेला और कटक आदिकों में समान भाव रखना, उनमे राग-द्वेष नही करना द्रव्य सामायिक है।

कोई-कोई क्षेत्र रम्य होते है, जैसे कि बगीचे, नगर, नदी, कूप, बावडी, तालाब, जन-पद—देश आदि से सहित स्थान, तथा कोई-कोई क्षेत्र अशोभन होते है, जैसे कि रूक्ष, कंकटयुक्त, विषम, विरस, हड्डी और पाषाण सहित स्थान, जीर्ण अटवी, सूखी नदी, मरुस्थल बालू के पुंज की बहुलतायुक्त भूमि, इन दोनो प्रकार के क्षेत्रो मे राग-द्वेष का अभाव होना क्षेत्र सामायिक कहा गया है।

प्रावृड्, वर्षा, हेमन्त शिशिर, वसत और निदाघ अर्थात् ग्रीष्म इस प्रकार इन छह ऋतुओ मे, रात्रि दिवस तथा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष मे, इन कालो मे राग-द्वेष का त्याग काल सामायिक है।

सभी जीवो पर मैत्री भाव रखना और अशुभ परिणामों का त्याग करना यह भाव सामायिक है।

अथवा जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया मे निरपेक्ष किसी का 'सामायिक' ऐसा शब्द मात्र संज्ञाकरण करना—नाम रख देना नाम सामायिक है।

सामायिक आवश्यक से परिणित हुए आकार वाली अथवा अनाकार वाली किसी वस्तु मे गुणो का आरोपण करना स्थापना सामायिक है।

द्रव्य सामायिक के दो भेद है—आगम द्रव्य सामायिक और नो-आगम द्रव्य सामा-यिक। सामायिक के वर्णन करनेवाले शास्त्र को जाननेवाला किन्तु जो उस समय उस विषय मे उपयोग युक्त नही है वह आगम द्रव्य सामायिक है। नो-आगम द्रव्य सामायिक के तीन भेद हैं—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। सामायिक के वर्णन करनेवाले प्राभृत को जानने वाले का शरीर ज्ञायकशरीर है, भविष्यकाल में सामायिक प्राभृत को जाननेवाला जीव भावी है और उससे भिन्न तद्व्यतिरिक्त है। ज्ञायकशरीर के भी तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत्। भूतकालीन ज्ञायकशरीर के भी तीन भेद है—च्युत, च्यावित और त्यक्त।

सामायिकं करोति स कालः पूर्वाह्णादिभेदभिन्नः कालसामायिकं। भावसामायिकं द्विविधं, आगमभावसामायिकं, नोआगमभावसामायिकं चेति। सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञाय्युपयुक्तो जीव आगमभावसामायिकं नाम, सामायिकपरिणतपरिणामादि नोआगमभावसामायिकं नाम। तयेषा मध्ये आगमभावसामायिकेन नोआगमभावसामायिकेन च प्रयोजनमिति ॥५१८॥

निरुक्तिपूर्वकं भावसामायिकं प्रतिपादयन्नाह—

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण ॥५१९॥

सम्यक्त्वज्ञानसंयमतपोभिर्यत्तत् प्रशस्तं समागमनं प्रापणं तैं सहैक्यं च जीवस्य यत् समयस्तु समय एव भणितस्तमेव सामायिकं जानीहि ॥५१९॥ तथा य —

सामायिक से परिणित हुए जीव से अधिष्ठित क्षेत्र क्षेत्र-सामायिक है। जिस काल मे सामायिक करते है, पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण आदि भेद युक्त काल काल-सामायिक है।

भाव-सामायिक के भी दो भेद है—आगमभाव-सामायिक और नोआगम भाव-सामायिक। सामायिक के वर्णन करनेवाले प्राभृत-ग्रन्थ का जो ज्ञाता है और उसके उपयोग से युक्त है वह जीव आगमभाव-सामायिक है। और, सामायिक से परिणत परिणाम आदि को नो-आगमभाव सामायिक कहते हैं।

इनमे से यहाँ आगम-भाव सामायिक और नो-आगमभाव सामायिक से प्रयोजन है ऐसा समझना।

भावार्थ—यहाँ पर सामायिक के छह भेद दो प्रकार से बताये गये है। उनमे पहले जो शुभ-अशुभ नाम आदि मे समताभाव रखना, राग-द्वेष नही करना बतलाया है वह तो छहो भेदरूप सामायिक उपादेय है। इस साम्यभावना के लिए ही मुनिजन सारे अनुष्ठान करते है। अनन्तर जो नाम आदि निक्षेप घटित किये है उनमे अन्त मे जो भाव निक्षेप है वही यहाँ पर उपादेय है ऐसा समझना। इन निक्षेपो का विस्तृत विवेचन राजवार्तिक, धवला टीका आदि से समझना चाहिए।

निरुक्तिपूर्वक भावसामायिक का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, सयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है वह समय कहा गया है, तुम उसे ही सामायिक जानो ॥५१९॥

आचारवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के साथ जो जीव का ऐक्य है वह 'समय' इस नाम से कहा जाता है और उस समय को ही सामायिक कहते है (यहाँ पर 'समय' शब्द से स्वार्थ मे इकण् प्रत्यय होकर 'समय एव सामायिक' ऐसा शब्द बना)

उसी प्रकार से—

जिदउवसग्गपरीसह उवजुत्तो भावणासु समिदीसु।
जमणियमउज्जदमदी सामाइयपरिणदो जीवो ॥५२०॥

जिता सोढा उपसर्गा परीषहाश्च येन स जितोपसर्गपरीषह समितिषु भावनासु चोपयुक्तो यः यमनियममोद्यतमतिश्च य, स सामायिकपरिणतो जीव इति ॥५२०॥ तथा—

ज च समो अप्पाण परे य मादूय सव्वमहिलासु।
अप्पियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइय ॥५२१॥

यस्माच्च समो रागद्वेषरहित आत्मनि परे च, यस्माच्च मातरि सर्वमहिलासु च शुद्धभावेन समान[1], सर्वा योषितो मातृसदृश पश्यति, यस्माच्च प्रियाप्रियेषु समान, यस्माच्च मानापमानादिषु समानस्तस्मात् स श्रवणस्तलश्च तं सामायिक जानीहीति[2] ॥५२१॥

जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।
सब्भावं त सिद्ध सामाइयमुत्तमं जाणे[3] ॥५२२॥

पूर्वगाथाभ्या सम्यक्त्वसयमयो. समागमन[4] व्याख्यात अनया पुनर्गाथया ज्ञानसमागमन[5]माचष्टे।

गाथार्थ—जिन्होने उपसर्ग और परीषह को जीत लिया है, जो भावना और समितियो में उपयुक्त है, यम और नियम मे उद्यमशील है, वे जीव सामायिक से परिणत हैं ॥५२०॥

आचारवृत्ति—जो उपसर्ग और परीषहो को जीतनेवाले होने से जितेन्द्रिय है, पाँच महाव्रतो की पच्चीस भावनाओ अथवा मैत्री आदि भावनाओ मे तथा समितियो मे लगे हुए है, यम और नियम मे तत्पर है वे मुनि सामायिक से परिणित है ऐसा समझो।

उसी प्रकार—

गाथार्थ—जिस कारण से अपने और पर मे, माता और सर्व महिलाओं में, अप्रिय और प्रिय तथा मान-अपमान आदि मे समानभाव होता है इसी कारण से वे श्रमण है और इसी से वे सामायिक है ॥५२१॥

आचारवृत्ति—जिससे वे अपने और पर मे राग-द्वेष रहित समभाव है, जिससे वे माता और सर्व महिलाओं मे शुद्धभाव से समान है अर्थात् सभी स्त्रियों को माता के सदृश देखते हैं, जिस हेतु से प्रिय और अप्रिय मे समानभावी है और जिस हेतु से वे मान-अपमान (आदि शब्द से जीवन-मरण 'सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, महल, श्मशान तथा शत्रु-मित्र आदि) में जो समभावी है, इन्ही हेतुओ से वे श्रमण कहलाते है और इसीलिए तुम उन्हे सामायिक जानो। यहां पर समताभाव से युक्त मुनि को ही सामायिक कहा है।

गाथार्थ—जो द्रव्यो के, गुणो के और पर्यायो के समवाय को और सद्भाव को जानता है उसके उत्तम सामायिक सिद्ध हुई ऐसा तुम जानो ॥५२२॥

आचारवृत्ति—पूर्व मे दो गाथाओ द्वारा सम्यक्त्व और संयम का समागमन अर्थात्

---

१ क 'ति सम्बन्ध । तथा— २ क 'सज्झावत्तं सि' । ३ क जाण । ४-५ क समगमनं ।

यो जानाति समवायं सादृश्य वा द्रव्याणां, द्रव्यसमवायं क्षेत्रसमवायं कालसमवाय भावसमवाय च जानाति। तत्र द्रव्यसमवायो नाम धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवप्रदेशा· समाः। क्षेत्रसमवायो नाम सीमन्तनरकमनुष्यक्षेत्रर्जुविमान-सिद्धालयाः समाः। कालसमवायो नाम समयः समयेन समः, अवसर्पिण्युत्सर्पिण्या समेत्यादि। भावसमवायो नाम केवलज्ञानं केवलदर्शनेन सममिति। गुणा रूपरसगन्धस्पर्शज्ञातृत्वद्रष्टृत्वादयस्तेषां समानतां जानाति। अथवौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिका गुणास्तेषा समानता जानाति। पर्याया नारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वदेवत्वादयस्तेषां समानतां जानाति। द्रव्याधारत्वेनापृथग्वर्तित्वेन च गुणानां समवायः। पर्यायाणां उत्पाद-विनाशध्रौव्यत्वेन समवायो भावसमवायो गुणेष्वन्तर्भवति। क्षेत्रसमवाय. पर्यायेष्वन्तर्भवति। कालसमवायो द्रव्यसमवायेऽन्तर्भवतीति। द्रव्यसमवाय गुणसमवाय पर्यायसमवाय च यो जानाति तेषा सिद्धिं[1] सद्भावं निष्पन्न परमार्थरूप च यो जानाति त सयत सामायिकमुत्तम जानीहि। अथवा द्रव्याणां समवाय सिद्धि, गुण-

---

जीव के साथ ऐक्य बतलाया है और अब इस गाथा के द्वारा जीव के साथ ज्ञान का समागमन—ऐक्य बतलाते हैं। जो द्रव्यो के समवाय अर्थात् सादृश्य को अथवा स्वरूप को जानते हैं अर्थात् द्रव्य समवाय, क्षेत्र समवाय, काल समवाय और भाव समवाय को जानते हैं वे मुनि उत्तम सामायिक कहलाते है। उसमें द्रव्य के समवाय—सादृश्य को कहते हैं। द्रव्यों की सदृश्यता का नाम द्रव्य समवाय है, जैसे धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव—इनके प्रदेश समान हैं अर्थात् इन चारों में असंख्यात प्रदेश है और वे पूर्णतया समान हैं। ऐसे ही क्षेत्र से सदृशता क्षेत्र समवाय है। प्रथम नरक का सीमंतक बिल, मनुष्य क्षेत्र (ढाई द्वीप), प्रथम स्वर्ग का ऋजुविमान और सिद्धालय ये समान है अर्थात् ये सभी पैंतालीस लाख योजन प्रमाण हैं। काल की सदृशता काल-समवाय है, जैसे समय समय के समान है, अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के समान है इत्यादि। भावों की सदृशता भाव-समवाय है, जैसे केवलज्ञान केवल-दर्शन के समान है।

रूप-रस-गंध और स्पर्श तथा ज्ञातृत्व और द्रष्टृत्व आदि गुणों की समानता को जो जानते है वे गुणो के समवाय को जानते है। अथवा जो औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक गुण है उनकी समानता को जानना गुणसमवाय है। नारकत्व, मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व और देवत्व आदि पर्यायें हैं। इनकी समानता को जानना पर्यायसमवाय है। अर्थात् जो द्रव्य के आधार मे रहते हैं और द्रव्य से अपृथग्वर्ती हैं—कभी भी उनसे पृथक् नहीं किए जा सकते हैं अतः अयुतसिद्ध है, यह गुणों का समवाय है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से पर्यायों का समवाय होता है।

ऊपर में जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव समवाय कहे गए है उनको द्रव्य, गुण और पर्यायों के अन्तर्गत करने से द्रव्य, गुण और पर्याय नाम से तीन प्रकार के समवाय माने जाते हैं। सो ही बताते है—कि भाव समवाय गुणो में अन्तर्भूत हो जाता है। क्षेत्रसमवाय पर्यायों में, काल समवाय द्रव्यसमवाय मे अन्तर्भूत हो जाता है। इस तरह जो मुनि द्रव्यसमवाय, गुणसमवाय और पर्यायसमवाय को जानते हैं, इनकी सिद्धि को—निष्पन्नता को अर्थात् पूर्णता को और इनके सद्भाव को—परमार्थ रूप को जानते हैं उन सयतों को तुम उत्तम सामायिक जानो।

---

1 क सिद्धं।

पर्यायाणां च सद्भाव यो जानाति त सामायिक जानीहि। अथवा 'समवृत्ति समवाय, द्रव्यगुणपर्यायाणा समवृत्ति, द्रव्य गुणविरहित नास्ति गुणाश्च द्रव्यविरहिता न सन्ति पर्यायाश्च द्रव्यगुणरहिता न सन्ति। 'एवंभूत समवृत्ति समवाय सद्भावरूप न संवृत्तिरूप, न कल्पनारूप, नाप्यविद्यारूप, स्वत सिद्ध न समवाय-द्रव्यबलेन यो जानाति त सामायिक जानीहीति सम्बन्धः ॥५२२॥

सम्यक्त्वचारित्रपूर्वक सामायिकमाह—

रागदोसे णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु'।
सुत्तेसु य परिणामो सामाइयमुत्तम जाणे ॥५२३॥

अथवा द्रव्यो की समवाय सिद्धि को और गुणो तथा पर्यायो के सद्भाव को जो जानते हैं उन्हे सामायिक जानो।

अथवा समवृत्ति—सहवृत्ति अर्थात् साथ-साथ रहने का नाम समवाय है। इस तरह द्रव्य, गुण, पर्यायो की सहवृत्ति को जो जानते है उनको तुम सामायिक जानो। जैसे द्रव्य गुणो से विरहित नही है, ओर गुण द्रव्य से विरहित नही रहते है तथा पर्याये भी द्रव्य और गुणो से रहित होकर नही होती है। इस प्रकार का जो सहवृत्ति रूप समवाय है वह सद्भाव रूप है, वह न सवृत्ति रूप है न ही कल्पनारूप ओर न अविद्यारूप ही है। वह समवाय किसी एक पृथग्भूत-समवाय नामक पदार्थ के बल से सिद्ध नही है बल्कि स्वत सिद्ध है ऐसा जो मुनि जानते है उनको ही तुम सामायिक जानो, ऐसा गाथा के अर्थ का सम्बन्ध होता है।

भावार्थ—अन्य सम्प्रदायो मे कोई द्रव्य, गुण और पर्यायो को पृथक्-पृथक् मानते है। कोई उन्हे सवृति—असत्यरूप मानते है इत्यादि, उन्ही की मान्यता का यहाँ अन्त में निराकरण किया गया है। जैसे कि बौद्ध द्रव्य, गुण आदि को सर्वथा सवृतिरूप अर्थात् असत्य मानते है। शून्यवादी आदि सभी कुछ कल्पनारूप मानते है। ब्रह्माद्वैतवादी इस चराचर जगत् को अविद्या—माया का विलास मानते है। और यौग द्रव्य को गुणो से पृथक् मानकर समवाय सम्बन्ध से गुणी कहते है अर्थात् अग्नि को उष्ण गुण समवाय सम्बन्ध से उष्ण कहते है किन्तु जैनाचार्यों ने द्रव्य, गुण पर्यायो को सर्वथा अपृथग्रूप—तादात्म्य सम्बन्धयुत माना है अत वास्तव मे यह द्रव्य गुण पर्यायो का समवाय—तादात्म्य स्वत सिद्ध है, परमार्थभूत है ऐसा समझना। और इस सम्यग्ज्ञान से परिणत हुए महामुनि स्वय सामायिक रूप ही हैं ऐसा यहाँ कहा गया है। क्योंकि इस परामार्थज्ञान के साथ उन मुनि का ऐक्य हो रहा है इसलिए वे मुनि ही 'सामायिक' इस नाम से कहे गए हैं।

सम्यक्त्व चारित्रपूर्वक सामायिक को कहते है—

गाथार्थ—राग-द्वेष का निरोध करके सभी कार्यों में समता भाव होना, और सूत्रों में परिणाम होना—इनको तुम उत्तम सामायिक जानो ॥५२३॥

---

१ क समवायवृत्ति द्र'। २ क एव निर्वृत्तिसमवाय सद्भावरूप। ३ क समक मदा।

रागद्वेषौ निरुध्य सर्वकर्मसु सर्वकर्तव्येषु या समता, सूत्रेषु च द्वादशांगचतुर्दशपूर्वेषु च यः परिणामः श्रद्धान सामायिकमुत्तम प्रकृष्ट जानीहि ॥५२३॥

तप पूर्वक सामायिकमाह—

विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिदिग्रो।
जीवो सामाइयं णाम सजमट्ठाणमुत्तम ॥५२४॥

सर्वसावद्याद्यो विरतस्त्रिगुप्त, पिहितेन्द्रियो निरुद्धरूपादिविषय, एवभूतो जीव सामायिक सयमस्थानमुत्तम जानीहि जीवसामायिकसयमयोरभेदादिति ॥५२४॥

भेद च प्राह—

जस्स सण्णिहिदो ग्रप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥५२५॥

यस्य सनिहित स्थित आत्मा। क्व, सयमे नियमे तपसि च तस्य सामायिक तिष्ठति। इत्येव केवलिना शासन एव केवलिनामाज्ञा शिक्षा वा। अथवास्मिन् केवलिशासने जिनागमे तस्य सामायिक तिष्ठतीति ॥५२५॥

ग्राचारवृत्ति—राग द्वेष को दूर करके सभी कार्यो में जो समता है और द्वादशाग तथा चतुर्दश पूर्वरूप सूत्रों का जो श्रद्धान है वही प्रकृष्ट सामायिक है ऐसा तुम जानो।

अब तपपूर्वक सामायिक को कहते है—

गाथार्थ—सर्व सावद्य से विरत, तीन गुप्ति से गुप्त, जितेन्द्रिय जीव संयमस्थान रूप उत्तम सामायिक नाम को प्राप्त होता है ॥५२४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि सर्व पापयोग से विरत है, तीन गुप्ति से सहित है, रूपादि विषयों में इन्द्रियों को न जाने देने से जो जितेन्द्रिय है ऐसे संयत जीव को ही सयम के स्थान भूत उत्तम सामायिक रूप समझो। क्योकि जीव और सामायिक संयम मे अभेद है अर्थात् जीव के आश्रय मे ही सामयिक सयम पाया जाता है। यहाँ अभेदरूप से सामायिक का प्रतिपादन हुआ है।

अब भेद को कहते हैं—

गाथार्थ—जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में स्थित है उसके सामायिक रहता है ऐसा केवली के शासन में कहा है ॥५२५॥

आचारवृत्ति—जिनकी आत्मा सयम आदि में लगी हुई है उसके ही सामायिक होता है, इस प्रकार केवली भगवान् का शासन है अर्थात् केवली भगवान् की आज्ञा है अथवा उनकी शिक्षा है। अथवा केवली भगवान् के इस शासन में अर्थात् जिनागम में उसी जीव के सामायिक होता है ऐसा अभिप्राय समझना।

समत्वभावपूर्वक भेदेन सामायिकमाह—

जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य ।
¹तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥५२६॥

य सम' सर्वभूतेषु—त्रसेषु स्थावरेषु च समस्तेषामपीडाकरस्तस्य सामायिकमिति ॥५२६॥

रागद्वेषविकाराभावभेदेन सामायिकमाह—

जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जणेंति दु ।

यस्य रागद्वेषौ विकृति विकार न जनयतस्तस्य सामायिकमिति

कषायजयेन सामायिकमाह—

जेण कोधो या माणो य माया लोभो य णिज्जिदो ॥५२७॥

येन क्रोधमानमायालोभा सभेदा सनोकषाया निर्जिता दलितास्तस्य सामायिकमिति ॥५२७॥

सज्ञालेश्याविकाराभावभेदेन सामायिकमाह—

जस्स सण्णा य लेस्सा य वियडिं ण जणति दु ।

समत्वभावपूर्वक भेद के द्वारा सामायिक को कहते है—

गाथार्थ—सभी प्राणियो मे, त्रसो और स्थावरो मे, जो समभावी है उसके सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान् के शासन मे कहा है ॥५२६॥

जो सर्व प्राणियो मे, त्रसो और स्थावरो में समभाव रखते हैं अर्थात् उनको पीड़ा नही देते हैं उनके सामायिक होता है ।

राग-द्वेष विकारो के अभाव से भेदरूप सामायिक को कहते है—

गाथार्थ—जिस जीव के राग और द्वेष विकार को उत्पन्न नही करते हैं उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन मे कहा है ।

कषाय-जय के द्वारा सामायिक को कहते है—

गाथार्थ—जिन्होने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है उनके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन मे कहा है ॥५२७॥

आचारवृत्ति—जिन्होने अनन्तानुबन्धी आदि चार भेदो सहित क्रोध, मान, माया, लोभ का तथा हास्य आदि नोकषायो का दलन कर दिया है उन्ही के सामायिक होता है ।

सज्ञा और लेश्यारूप विकारो के अभावपूर्वक भेदरूप सामायिक को कहते हैं—

गाथार्थ—जिनके सज्ञाएँ और लेश्याएँ विकार को उत्पन्न नहीं करतीं उसके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन मे कहा है ।

---

१ अस्याः गाथायाः उत्तरार्धं द्वात्रिंशत्तमगाथापर्यन्तं सयोज्य सयोज्य पठनीय ।

यस्य सञ्ज्ञा आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषा विकृतिं विकारं न जनयन्ति। तथा यस्य लेश्याः कृष्ण-नीलकापोतपीतपद्मलेश्याः कषायानुरञ्जितयोगवृत्तयो विकृतिं विकारं न जनयन्ति तस्य सामायिकमिति ॥५२९॥

कामेन्द्रियविषयवर्जनद्वारेण सामायिकमाह—

जो रसे य फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा।

रस कटुकषायादिभेदभिन्नः, स्पर्शो मृद्वादिभेदभिन्न रसस्पर्शौ काम इत्युच्यते। रसनेन्द्रिय स्पर्शनेन्द्रिय च कामेन्द्रिये। यो रसस्पर्शौ कामौ वर्जयति नित्य। कामेन्द्रिय च निरुणद्धि तस्य सामायिकमिति।

भोगेन्द्रियविषयवर्जनद्वारेण सामायिकमाह—

जो रूवगंधसद्दे य भोगे वज्जदि णिच्चसा ॥५३०॥

य रूप कृष्णनीलादिभेदभिन्न, गन्धो द्विविध सुरभ्यसुरभिभेदेन च, शब्दो वीणावंशादिसमुद्भव., रूपगन्धशब्दा भोगा इत्युच्यन्ते, चक्षुर्घ्राणश्रोत्राणि भोगेन्द्रियाणि, यो रूपगन्धशब्दान् वर्जयति, भोगेन्द्रियाणि

आचारवृत्ति—जिनके आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इनकी अभिलाषारूप चार सज्ञाएँ विकार को उत्पन्न नही करती है, तथा जिनके कृष्ण, नील, कपोत, पीत और पद्म ये कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्तिरूप लेश्याएँ विकार को पैदा नही करती हैं उनके सामायिक होता है।

कामेन्द्रिय के विषय वर्जन द्वारा सामायिक को कहते है—

गाथार्थ—जो मुनि रस और स्पर्श इन काम को नित्य ही छोड़ते है उनके सामायिक होता है ऐसा जिन शासन मे कहा है।

आचारवृत्ति—कटु, कषाय, अम्ल, तिक्त और मधुर ऐसे रस पाँच है। मृदु, कठोर, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे स्पर्श के आठ भेद है। इन रस और स्पर्श को काम कहते है तथा रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय को कामेन्द्रिय कहते है। जो मुनि रस और स्पर्श का नित्य ही वर्जन करते है और कामेन्द्रिय का निरोध करते है उन्हीं के सामायिक होता है।

भोगेन्द्रिय के विषय-वर्जन द्वारा सामायिक को कहते है—

गाथार्थ—जो रूप, गन्ध और शब्द इन भोगों को नित्य ही छोड़ देता है उसके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन मे कहा है ॥५३०॥

आचारवृत्ति—कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत ये रूप के पाँच भेद हैं। सुरभि के और असुरभि के भेद से गन्ध दो प्रकार का है। और, वीणा बाँसुरी आदि से उत्पन्न हुए शब्द अनेक प्रकार के हैं। इन रूप, गन्ध और शब्द को भोग कहते हैं तथा इनको ग्रहण करने वाली चक्षु, घ्राण एवं कर्ण इन तीनों इन्द्रियों को भोगेन्द्रिय कहते हैं। जो मुनि इन रूप, गन्ध और

च नित्यं सर्वकाल निवारयति तस्य सामायिकमिति ॥५३०॥

दुष्टध्यानपरिहारेण सामायिकमाह—

जो दु अट्ट रुद्दं च झाणं वज्जदि णिच्चसा।

चकारावनयो स्वभेदग्राहकाविति कृत्वैवमुच्यते यस्त्वार्त चतुष्प्रकारं रौद्र च चतुष्प्रकार ध्यानं वर्जयति सर्वकाल तस्य सामायिकमिति ।

शुभध्यानद्वारेण सामायिकस्थानमाह—

जो दु धम्मं च सुक्क च झाणे झायदि णिच्चसा ॥५३१॥

अत्रापि चकारावनयो स्वभेदप्रतिपादकाविति कृत्वैवमाह—यस्तु धर्म चतुष्प्रकार शुक्ल च चतुष्कार ध्यान ध्यायति युनक्ति सर्वकाल तस्य सामायिक तिष्ठतीति । केवलिशासनमिति सर्वत्र सम्बन्धो दृष्टव्य इति ॥५३१॥

किमर्थं सामायिक प्रज्ञप्तमित्याशकायामाह—

सावज्जजोगपरिवज्जणट्ठं सामाइय केवलिहिं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णिच्चा कुज्जा बुधो श्रप्पहिय पसत्थ ॥५३२॥

शब्द का वर्जन करते है तथा भोगेन्द्रियो का नित्य ही निवारण करते है अर्थात् इन इन्द्रियो के विषयो मे राग-द्वेष नही करते है उनके सामायिक होता है।

दुष्ट ध्यान के परिहार द्वारा सामायिक का वर्णन करते है—

गाथार्थ—जो आर्त और रौद्र ध्यान का नित्य ही त्याग करते है उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन मे कहा है ।

आचारवृत्ति—इस गाथा मे जो दो बार 'च' शब्द है वे इन दोनो ध्यानो के अपने-अपने भेदो को ग्रहण करने वाले है। इसलिए ऐसा समझना कि जो मुनि चार प्रकार के आर्तध्यान को और चार प्रकार के रौद्र ध्यान को सर्वकाल के लिए छोड़ देते है उनके सामायिक होता है।

अब शुभ ध्यान द्वारा सामायिक का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—जो धर्म और शुक्ल ध्यान को नित्य ही ध्याते है उनके सामायिक होता है ऐसा जिनशासन मे कहा है ॥५३१॥

आचारवृत्ति—यहाँ पर भी दो चकार इन दोनो ध्यानों के स्वभेदों के प्रतिपादक है। अर्थात् जो मुनि चार प्रकार के धर्म-ध्यान को और चार प्रकार के शुक्ल-ध्यान को ध्याते है, हमेशा उनमे अपने को लगाते है उनके सर्वकाल सामायिक ठहरता है ऐसा केवली भगवान् के शासन मे कहा गया है। इस अन्तिम पंक्ति का सम्बन्ध सर्वत्र समझना चाहिए।

किसलिए सामायिक को कहा है ऐसी शका होने पर कहते है—

गाथार्थ—सावद्य योग का त्याग करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक कहा है। गृहस्थ धर्म जघन्य है, ऐसा जानकर विद्वान् प्रशस्त आत्म हित को करे ॥५३२॥

वृत्तमेतत् । सावद्ययोगपरिवर्जनार्थं पापास्रववर्जनाय सामायिकं केवलिभिः प्रशस्तं प्रतिपादितं स्तुतमिति । यस्मात्तस्माद् गृहस्थधर्मः सारम्भारम्भादिप्रवृत्तिविशेषोऽपरमो जघन्यः संसारहेतुरिति ज्ञात्वा बुधः संयतः प्रशस्तं शोभनमात्महितं सामायिकं कुर्यादिति ॥५३२॥

पुनरपि सामायिकमाहात्म्यमाह—

सामाइयह्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा ।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥५३३॥

सामायिके तु कृते सति श्रावकोऽपि किल श्रमणः संयतो भवति । यस्मात्कस्मिंश्चित् पर्वणि कश्चित् श्रावकः सामायिकसंयमं समत्वं गृहीत्वा श्मशाने स्थि (त.) तस्य पुत्रनप्तृबन्ध्वादिमरणपीडादिमहोपसर्ग.

आचारवृत्ति—यह वृत्त छन्द है । सावद्य योग का त्याग करने के लिए अर्थात् पापास्रव का वर्जन करने के लिए केवली भगवान् ने सामायिक का प्रतिपादन किया है उसे स्तुत कहा गया है । क्योंकि गृहस्थ धर्म आरम्भ आदि का प्रवृत्ति विशेष रूप होने से जघन्य अर्थात् संसार का हेतु है ऐसा समझकर संयत मुनि प्रशस्त—शोभन आत्महित रूप सामायिक को करे ।

पुनरपि सामायिक के माहात्म्य को कहते हैं—

गाथार्थ—सामायिक करते समय जिससे श्रावक भी श्रमण हो जाता है इससे तो बहुत बार सामायिक करना चाहिए ॥५३३॥

आचारवृत्ति—सामायिक के करते समय श्रावक भी आश्चर्य है कि संयत हो जाता है अर्थात् मुनि सदृश हो जाता है । जैसे किसी पर्व में कोई श्रावक सामायिक संयम अर्थात् समता भाव को ग्रहण करके श्मशान में स्थित हो गया है—खड़ा हो गया है, उस समय, (किसी के द्वारा) उसके पुत्र, पौत्र, नाती बन्धुजन आदि के मरण अथवा उनको पीडा देना आदि महा-उपसर्ग हो रहे है या स्वयं के ऊपर उपसर्ग हो रहे है तो भी वह सामायिक व्रत से च्युत नही हुआ अर्थात् सामायिक के समय एकाग्रता रूप धर्मध्यान से चलायमान नही हुआ उस समय वह श्रमण होता है ।

प्रश्न—यदि वह उस समय भाव श्रमण हो गया तब तो उसे श्रावकपना कैसे रहा होगा ?

उत्तर—वह भाव-श्रमण नही है किन्तु श्रमण के सदृश उसे समझना चाहिए, क्योंकि उस समय उसके प्रत्याख्यान कषाय का उदय मन्दतर है । यहाँ पर (सुदर्शन आदि की) कथा कही जा सकती है । इसलिए बहुलता से सामायिक करना चाहिए ।

भावार्थ—कदाचित् किसी श्रावक ने अष्टमी या चतुर्दशी के दिन में या रात्रि में श्मशान भूमि में जाकर निश्चल ध्यान रूप सामायिक शुरू किया, उस समय उसने कुछ घण्टों का नियम कर लिया है और उतने समय तक सभी से समता भाव धारण करके वह राग-द्वेष रहित होकर स्थित हो गया है । उस समय किसी देव या विद्याधर मनुष्य आदि ने पूर्व जन्म के वैरवश या दृढ़ता की परीक्षा हेतु उस पर उपसर्ग करना चाहा, उसके सामने उसके परिवार को, पुत्र स्त्री

सजातस्तथाप्यसौ न सामायिकव्रतान्निर्गतः। भावश्रमण सवृत्तस्तर्हि श्रावकत्व कथं ? प्रत्याख्यानमन्दतरत्वात्। अत्र कथा वाच्या। तस्मादनेन कारणेन बहुशो बाहुल्येन सामायिक कुर्यादिति ॥५३३॥

पुनरपि सामायिकमाहात्म्यमाह—

सामाइए कदे सावएण विद्धो मग्रो अरणह्मि।
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइय फिडिओ ॥५३४॥

सामाइए—सामायिके। **कदे**—कृते। **सावएण**—श्रावकेन। **विद्धो**—व्यथित· केनापि। **मओ**—मृगो हरिणपोत। **अरणम्मि**—अरण्येऽटव्या। **सो य मओ**—सोऽपि मृग। **उद्धादो**—मृत प्राणविपन्न·। **ण य सो**—न चासौ। **सामाइयं**—सामायिकात्। **फिडिओ**—निर्गत परिहीण। केनचिच्छ्रावकेणाटव्या

आदि को मार डाला या उन्हे अनेक यातनाएँ देने लगा फिर भी वह श्रावक अपनी दृढता से च्युत नही हुआ अथवा उस श्रावक पर ही उपसर्ग कर दिया उस समय वह श्रावक, उपसर्ग में वस्त्र जिन पर डाल दिया गया है ऐसे वस्त्र से वेष्ठित मुनि के समान है। अथवा जैसे सुदर्शन ने श्मशान में रात्रि मे प्रतिमायोग ग्रहण किया था तब अभयमती रानी ने उसे अपने महल मे मँगाकर उसके साथ नाना कुचेष्टा करते हुए उसे ब्रह्मचर्य से चलित करना चाहा था किन्तु वे सुदर्शन सेठ निर्विकार ही बने रहे थे। ऐसी अवस्था मे वे निर्वस्त्र मुनि के ही समान थे। किन्तु इन श्रावको के छठा सातवाँ गुणस्थान न हो सकने के कारण ये भाव से मुनि नही हो सकते है। अत ये भावसयत या श्रमण नही कहलाते है किन्तु इनके प्रत्याख्यान कषाय का उदय उस समय अत्यन्त मन्दतर रहता है अत ये यहाँ श्रमण कहे गये हैं। इससे 'श्रमण सदृश' ऐसा अर्थ ही समझना।

पुनरपि सामायिक के माहात्म्य को कहते हैं—

गाथार्थ—कोई श्रावक सामायिक कर रहा होता है। उस समय वन मे कोई हरिण बाणो से बिद्ध हुआ आया और मर गया किन्तु उस श्रावक ने सामायिक भग नही किया ॥५३४॥

आचारवृत्ति—वन मे कोई श्रावक सामायिक कर रहा है, उस समय किसी व्याध के द्वारा बाणो से विद्ध होकर व्यथित होता हुआ कोई हिरण वहाँ उस श्रावक के पैरो के बीच मे आकर गिर पडा और वेदना से पीडित हुआ, वह तडफता हुआ बार-बार उसके पास स्थित रह कर मर भी गया फिर भी वह श्रावक अपने सामायिक सयम से पृथक् नही हुआ अर्थात् सामायिक का नियम भग नही किया, क्योकि वह उस समय ससार की स्थिति का विचार करता रहा। इसलिए अनेक प्रकार से सामायिक करना चाहिए, यहाँ ऐसा सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए।

भावार्थ—वन मे या श्मशान मे जाकर सामायिक वे ही श्रावक करेंगे, जो अतिशय धीर वीर और स्थिरचित्त वाले हैं। अत. उनका यहाँ पर करुणापूर्वक उस जीव की रक्षा की तरफ कोई विशेष लक्ष्य नही होता। वे तो अपने धर्मध्यान में अतिशय स्थित होकर अपनी शुद्धात्मा की भावना कर रहे होते हैं। इस उदाहरण को सामायिक करनेवाले घर में या मन्दिर में बैठकर ध्यान का अभ्यास करते श्रावक अपने में नही घटा सकते हैं। वे सामायिक छोड़कर

सामायिके कृते शल्येन विद्धो मृगः पादान्तरे आगत्य व्यवस्थितो वेदनार्त्तं सन् स्तोकक्षरं स्थित्वा मृतो मृगो नासौ श्रावकः सामायिकात् सयमान्निर्गत. ससारदोषदर्शनादिति, तेन कारणेन सामायिक क्रियत इति सम्बन्धः ॥५३४॥

केन सामायिकमुद्दिष्टमित्याशंकायामाह—

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥५३५॥

द्वाविंशतितीर्थंकरा अजितादिपार्श्वनाथपर्यन्ता सामायिकसयममुपदिशन्ति प्रतिपादयन्ति। छेदोपस्थान पुन. सयम वृषभो वीरश्च प्रतिपादयत ॥५३५॥

किमर्थं वृषभमहावीरौ छेदोपस्थापन प्रतिपादयतो यस्मात्—

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥५३६॥

आचक्खिदुं—आख्यातु कथयितु आस्वादयितु वा। **विभयिदुं**—विभक्तु पृथक्-पृथक् भावयितु। **विण्णादुं**—विज्ञातुमवबोद्धु चापि। **सुहदरं**—सुखतर सुखग्रहण। **होदि**—भवति। **एदेण**—एतेन। **कारणेन**।

उस समय उस जीव की रक्षा का प्रयत्न कर सकते है। यदि रक्षा न कर सकें तो उसे महामन्त्र सुनाते हुए तथा नाना प्रकार से सम्बोधन करके शिक्षा देते हुए उसका भवान्तर सुधार सकते हैं पुन. गुरु के पास जाकर सामायिक भग करने का अल्प प्रायश्चित्त लेकर अपनी शुद्धि कर सकते हैं।

किनने सामायिक का उपदेश किया है? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—बाईस तीर्थंकर सामायिक सयम का उपदेश देते है किन्तु भगवान् वृषभदेव और महावीर छेदोपस्थापना संयम का उपदेश देते हैं ॥५३५॥

अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थंकर सामायिक सयम का उपदेश देते हैं। किन्तु छेदोपस्थापना सयम का वर्णन वृषभदेव और वर्द्धमान स्वामी ने ही किया है।

भावार्थ—यहाँ पर अभेद सयम का नाम सामायिक सयम है और मूलगुण आवश्यक क्रिया आदि से भेदरूप संयम का नाम छेदोपस्थापना सयम है ऐसा समझना।

वृषभदेव और महावीर ने छेदोपस्थापना का प्रतिपादन किसलिए किया है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जिस हेतु से कहने, विभाग करने और जानने के लिए सरल होता है उस हेतु से महाव्रत पाँच कहे गये हैं ॥५३६॥

आचारवृत्ति—कहने के लिए अथवा अनुभव करने के लिए तथा पृथक्-पृथक् भावित करने के लिए और समझने के लिए भी जिनका सुख से अर्थात् सरलता से ग्रहण हो जाता है।

महव्वदा—महाव्रतानि । **पंचपण्णता**—पच प्रज्ञप्तानि । यस्मादन्यस्मै प्रतिपादयितुं स्वेच्छानुष्ठातुं विभक्तुं, विज्ञातुं चापि भवति सुखतरं सामायिक, तेन कारणेन महाव्रतानि पच प्रज्ञप्तानीति ॥५३६॥

किमर्थ[1]मादितीर्थेऽन्ततीर्थे च च्छेदोपस्थापन[2]संयममित्याशंकायामाह—

आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य ।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति ॥५३७॥

आदितीर्थे शिष्या दु खेन शोध्यन्ते सुष्ठु ऋजुस्वभावा यत । तथा पश्चिमतीर्थे शिष्या दुःखेन प्रतिपाल्यन्ते सुष्ठु वक्रस्वभावा यत । पूर्वकालशिष्या पश्चिमकालशिष्याश्च अपि स्फुटं कल्प्य—योग्य, अकल्प्य अयोग्य च न जानन्ति यतस्तत आदौ निधने च छेदोपस्थानमुपदिशत इति ॥५३७॥

अर्थात् जिस हेतु से अन्य शिष्यो को प्रतिपादन करने के लिए, अपनी इच्छानुसार उनका अनुष्ठान करने के लिए, विभाग करके समझने के लिए भी सामायिक संयम सरल हो जाता है इस लिए महाव्रत पाँच कहे गये हैं।

आदितीर्थ मे और अन्ततीर्थ मे छेदोपस्थापना सयम को किसलिए कहा ? ऐसी आशका होने पर कहते है—

गाथार्थ—आदिनाथ के तीर्थ मे शिष्य कठिनता से शुद्ध होने मे तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ मे दु ख से उनका पालन होने से वे पूर्व के शिष्य और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य योग्य और अयोग्य को नही जानते है ॥५३७॥

आचारवृत्ति—आदिनाथ के तीर्थ मे शिष्य दु ख से शुद्ध किये जाते है, क्योकि वे अत्यर्थ सरल स्वभावी होते हैं। तथा अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ मे शिष्यो का दु ख से प्रतिपालन किया जाता है, क्योकि वे अत्यर्थ वक्रस्वभावी होते है। ये पूर्वकाल के शिष्य और पश्चिम काल के शिष्य—दोनो समय के शिष्य भी स्पष्टतया योग्य अर्थात् उचित और अयोग्य अर्थात् अनुचित नही जानते हैं इसीलिए आदि और अन्त के दोनो तीर्थंकरो ने छेदोपस्थापना सयम का उपदेश दिया है।

भावार्थ—आदिनाथ के तीर्थ के समय भोगभूमि समाप्त होकर ही कर्मभूमि प्रारम्भ हुई थी, अतः उस समय के शिष्य बहुत ही सरल और किन्तु जड़ (अज्ञान) स्वभाव वाले थे तथा अन्तिम तीर्थंकर के समय पंचमकाल का प्रारम्भ होनेवाला था अत उस समय के शिष्य बहुत ही कुटिल परिणामी और जड स्वभावी थे इसीलिए इन दोनो तीर्थंकरो ने छेद अर्थात् भेद के उपस्थापन अर्थात् कथन रूप पाँच महाव्रतो का उपदेश दिया है। शेष बाईस तीर्थंकरों के समय के शिष्य विशेष बुद्धिमान थे, इसीलिए उन तीर्थंकरो ने मात्र 'सर्व सावद्य योग' के त्यागरूप एक सामायिक सयम का ही उपदेश दिया है, क्योंकि उनके लिए उतना ही पर्याप्त था। आज भगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है अत आज कल के सभी साधुओं को भेदरूप चारित्र के पालन का ही उपदेश है।

---

१ क 'दि अत'। २ क 'नमि'।

सामायिककरणक्रममाह—

पडिलिहियअंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥५३८॥

प्रतिलेखितावञ्जलिकरौ येनासौ प्रतिलेखिताञ्जलिकर । उपयुक्त: समाहितमति, उत्थाय—स्थित्वा, एकाग्रमना अव्याक्षिप्त., आगमोक्तक्रमेण करोति सामायिक भिक्षु । अथवा प्रतिलेख्य शुद्धो भूत्वा द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धि कृत्वा, प्रकृष्टाञ्जलि[१]करमुकलितकर: प्रतिलेखनेन सहिताञ्जलिकरो वा सामायिकं करोतीति ॥५३८॥

सामायिकनिर्युक्तिमुपसहर्तु चतुर्विशतिस्तव सूचयितु प्राह—

सामाइयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
चउवीसयणिज्जुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥५३९॥

सामायिकनिर्युक्तिरेषा कथिता समासेन। इत ऊर्ध्वं चतुर्विशतिस्तवनिर्युक्ति प्रवक्ष्यामीति ॥५३९॥

[२]तदवबोधनार्थं [३]निक्षेपमाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो थवह्मि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होई ॥५४०॥

अब सामायिक करने का क्रम कहते हैं—

गाथार्थ—प्रतिलेखन सहित अजलि जोडकर, उपयुक्त हुआ, उठकर एकाग्रमन होकर, मन को विक्षेप रहित करके, मुनि सामायिक करता है ॥५४०॥

आचारवृत्ति—जिन्होने पिच्छी को लेकर अजलि जोड ली है, जो सावधान बुद्धिवाले है, वे मुनि व्यक्षिप्त चित्त न होकर, खडे होकर एकाग्रमन होते हुए, आगम में कथित विधि से सामायिक करते है। अथवा पिच्छी से प्रतिलेखन करके शुद्ध होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव शुद्धि को करके प्रकृष्ट रूप से अजलि को मुकलित कमलाकार बना कर अथवा प्रतिलेखन—पिच्छिका सहित अजलि जोडकर सामायिक करते है।

सामायिक निर्युक्ति का उपसहार कर अब चतुर्विंशति स्तव को सूचित करते हुए कहते है—

गाथार्थ—मैंने सक्षेप में यह सामायिक निर्युक्ति कही है इससे आगे चतुर्विंशति स्तव को कहूँगा ॥५४१॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल होने से टीका नही है।

द्वितीय आवश्यक का ज्ञान कराने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्तव में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥५४२॥

---

१ क °लिकरे कृत्वाजलिकर: मु०। २ क तदनुबो°। ३ क °पानाह।

नामस्तव स्थापनास्तवो द्रव्यस्तव क्षेत्रस्तव. कालस्तवो भावस्तव एष स्तवे निक्षेपः षड्विधो भवति ज्ञातव्य । चतुर्वितितीर्थंकराणा यथार्थानुगतैरष्टोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभि. स्तवन चतुर्बिशतिनामस्तव., चतुर्विशतितीर्थकराणामपरिमिताना कृत्रिमाकृत्रिमस्थापनानां स्तवन चतुर्बिशतिस्थापनास्तवः। तीर्थंकर-शरीराणा परमौदारिकस्वरूपाणा वर्णभेदेन स्तवन द्रव्यस्तव । कैलाससम्मेदोर्जयन्तपावाचम्पानगरादिनिर्वाण-क्षेत्राणा समवसृतिक्षेत्राणा च स्तवन क्षेत्रस्तव । स्वर्गावतरणजन्मनिष्क्रमणकेवलोत्पत्तिनिर्वाणकालानां स्तवन कालस्तव । केवलज्ञानकेवलदर्शनादिगुणाना स्तवन भावस्तव । अथवा जातिद्रव्यगुणक्रियानिरपेक्षं सज्ञाकर्म चतुर्विशतिमात्र नामस्तव । चतुर्विशतितीर्थंकराणा साकृत्यनाकृतिवस्तुनि गुणानारोप्य स्तवन स्थापनास्तव । द्रव्यस्तवो द्विविध आगमनोआगमभेदेन। चतुर्विशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञाय्यनुपयुक्त आगमद्रव्यस्तव । चतुर्विशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृत[1]ज्ञायक-शरीरभाविजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन नोआगमद्रव्यस्तवस्त्रिविधः, पूर्ववत्सर्वमन्यत् । चतुर्विशतिस्तवसहित क्षेत्र कालश्च क्षेत्रस्तव कालस्तवश्च । भावस्तव आगमनोआगम-

---

आचारवृत्ति—स्तव मे नामस्तव, स्थापनास्तव, द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव और भावस्तव यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए। चौबीस तीर्थंकरो के वास्तविक अर्थ का अनुसरण करने वाले एक हजार आठ नामो से स्तवन करना चतुर्विंशति नामस्तव है । चौबीस तीर्थकरो की कृत्रिमअ-कृत्रिम प्रतिमाएँ स्थापना प्रतिमाएँ है जो कि अपरिमित हैं। अर्थात् कृत्रिम प्रतिमाएँ अगणित है, अकृत्रिम प्रतिमाएँ तो असख्य है उनका स्तवन करना चतुर्विशति स्थापना-स्तव है । तीर्थकरो के शरीर, जो कि परमौदारिक है, के वर्णभेदो का वर्णन करते हुए स्तवन करना द्रव्यस्तव है । कैलाशगिरि, सम्मेदगिरि, ऊर्जयन्तगिरि, पावापुरी, चम्पापुरी आदि निर्वाण क्षेत्रो का और समवसरण क्षेत्रो का स्तवन करना क्षेत्रस्तव है। स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलोत्पत्ति और निर्वाणकल्याणक के काल का स्तवन करना अर्थात् उन-उन कल्याणको के दिन भक्तिपाठ आदि करना या उन-उन तिथियो की स्तुति करना कालस्तव है। तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणो का स्तवन करना भावस्तव है।

अथवा जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया से निरपेक्ष चतुर्विशति मात्र का नामकरण है वह नामस्तव है ।

चौवीस तीर्थकरो की आकारवान अथवा अनाकारवान अर्थात् तदाकार अथवा अतदाकार वस्तु मे गुणो का आरोपण करके स्तवन करना स्थापनास्तव है।

आगम और नोआगम के भेद से द्रव्यस्तव दो प्रकार का है। जो चौबीस तीर्थंकरो के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता है किन्तु उसमे उपयुक्त नही है ऐसा आत्मा आगम-द्रव्यस्तव है। नो-आगम द्रव्यस्तव के तीन भेद है—ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। चौबीस तीर्थकरो के स्तव का वर्णन करनेवाले प्राभृत के ज्ञाता का शरीर ज्ञायकशरीर है। इसके भी भूत, भविष्यत्, वर्तमान की अपेक्षा तीन भेद हो जाते है। बाकी सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

---

१ क 'तज्ज्ञ' ।

भेदेन द्विविधः । चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञायी उपयुक्त आगमभावचतुर्विंशतिस्तवः । चतुर्विंशतिस्तवपरिणतपरिणामो नोआगमभावस्तव इति । भरतैरावतापेक्षश्चतुर्विंशतिस्तव उक्तः । पूर्वविदेहा[1]परविदेहापेक्षस्तु सामान्यतीर्थकरस्तव इति कृत्वा न दोष इति ॥५४०॥

अत्र नामस्तवेन भावस्तवेन प्रयोजन सर्वैर्वा प्रयोजन । तदर्थमाह—

लोगुज्जोए धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते ।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसतु ॥५४१॥

लोको जगत् । उद्योतः प्रकाश । धर्म उत्तमक्षमादिः । तीर्थं ससारतारणोपाय । धर्ममेव तीर्थं कुर्वन्तीति धर्मतीर्थंकराः । कर्मारातीन जयन्तीनि जिनास्तेषा वरा प्रधाना जिनवरा । अर्हन्त सर्वज्ञाः । कीर्तन प्रशसन कीर्तनीया वा केवलिन सर्वप्रत्यक्षाववोधा । एव च । उत्तमा प्रकृष्टा सर्वपूज्या. । मे बोधि ससारनिस्तरणोपाय । दिशन्तु ददतु । एवं स्तव क्रियते । अर्हन्तो लोकोद्योतकरा धर्मतीर्थंकरा जिनवरा.

चौबीस तीर्थंकरो से सहित क्षेत्र का स्तवन करना क्षेत्रस्तव है । चौबीस तीर्थंकरों से सहित काल अथवा गर्भ, जन्म आदि का जो काल है उनका स्तवन करना काल-स्तव है ।

भावस्तव भी आगम, नोआगम की अपेक्षा दो प्रकार का है । चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन का वर्णन करने वाले प्राभृत के जो ज्ञाता है और उसमे उपयोग भी जिनका लगा हुआ है उन्हे आगमभाव चतुर्विंशति-स्तव कहते है ।

चतुर्विंशति तीर्थंकरो के स्तवन से परिणत हुए परिणाम को नोआगम भाव-स्तव कहते है ।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा यह चतुर्विंशति स्तव कहा गया है । किन्तु पूर्वविदेह और अपरविदेह की अपेक्षा से सामान्य तीर्थंकर स्तव समझना चाहिए । इस प्रकार से इसमे कोई दोष नही है । अर्थात् पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में ही चतुर्थ काल मे चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते है किन्तु एक सौ साठ विदेह क्षेत्रो मे हमेशा ही तीर्थंकर होते रहते हैं अतः उनकी सख्या का कोई नियम नही है । उनकी अपेक्षा से इस आवश्यक को सामान्यतया तीर्थंकर स्तव ही कहना चाहिए इसमे कोई दोष नही है ।

यहाँ पर नामस्तव से प्रयोजन है या भावस्तव से अथवा सभी स्तवों से ? ऐसा प्रश्न होने पर उसी का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—लोक मे उद्योत करनेवाले धर्म तीर्थ के कर्ता अर्हन्त केवली जिनेश्वर प्रशंसा के योग्य है । वे मुझे उत्तम बोधि प्रदान करे ॥५४१॥

आचारवृत्ति—लोक अर्थात् जगत् मे उद्योत अर्थात् प्रकाश को करनेवाले लोकोद्योतकर कहलाते है । उत्तमक्षमादि को धर्म कहते है और ससार से पार होने के उपाय को तीर्थ कहते है अतः यह धर्म ही तीर्थ है । इस धर्मतीर्थ को करनेवाले अर्थात् चलानेवाले धर्म तीर्थंकर कहलाते है । कर्मरूपी शत्रुओ को जीतनेवाले को जिन कहते हैं और उनमें वर अर्थात् जो प्रधान

---

१ क पूर्वविदेहापेक्षस्तु ।

केवलिन उत्तमाश्च ये तेषां कीर्तनं प्रशंसनं बोधिं मह्यं दिशन्तु प्रयच्छन्तु। अथवा एते अर्हंतो धर्मतीर्थंकरा लोकोद्योतकरा जिनवरा कीर्तनीया उत्तमा केवलिनो मम बोधिं दिशन्तु। अथवा अर्हन्त सर्वविशेषणविशिष्टा. केवलिना च कीर्तनं मह्यं बोधि प्रयच्छन्त्विति सम्बन्ध ।।५४१।।

एतैर्दशभिरधिकारैश्चतुर्विंशतिस्तवो व्याख्यायत इति कृत्वादौ तावल्लोकनिरुक्तिमाह—

लोयदि आलोयदि पल्लोयदि सल्लोयदित्ति एगत्थो[1]।
जह्मा जिणेहिं कसिणं तेणेसो वुच्चदे लोओ ।।५४२।।

लोक्यते आलोक्यते प्रलोक्यते संलोक्यते दृश्यते इत्येकार्थ । कैर्जिनैरिति तस्माल्लोक इत्युच्यते ? कथं छद्मस्थावस्थाया—मतिज्ञानश्रुतज्ञानाभ्या लोक्यते दृश्यते यस्मात्तस्माल्लोक । अथवावधिज्ञानेनालोक्यते पुद्गलमर्यादारूपेण दृश्यते यस्मात्तस्माल्लोक । अथवा मन पर्ययज्ञानेन प्रलोक्यते विशेषेण रूपेण दृश्यते

है वे जिनवर कहलाते है। सर्वज्ञदेव को अर्हन्त कहते है। तथा सर्व को प्रत्यक्ष करनेवाला जिनका ज्ञान है वे केवली है। इन विशेषणो से विशिष्ट अर्हन्त भगवान् उत्तम है, प्रकृष्ट है, सर्व पूज्य हैं। ऐसे जितेन्द्र भगवान् मुझे ससार से पार होने के लिए उपायभूत ऐसी बोधि को प्रदान करें। इस प्रकार से यह स्तव किया जाता है।

तात्पर्य यह है कि लोक मे उद्योतकारी, धर्मतीर्थकर, जिनवर, केवली, अर्हन्त भगवान् उत्तम है। इस प्रकार से उनका कीर्तन करना, उनकी प्रशसा करना तथा 'वे मुझे बोधि प्रदान करें' ऐसा कहना ही स्तव है। अथवा ये अर्हन्त, धर्मतीर्थकर, लोकोद्योतकर, जिनवर, कीर्तनीय, उत्तम, केवली भगवान् मुझे बोधि प्रदान करें। अथवा अर्हन्त भगवान् सर्व विशेषणो से विशिष्ट हैं वे मुझे बोधि प्रदान कर ऐसा केवली भगवान् का स्तवन करना ही स्तव है।

अब आगे इन्ही दश अधिकारो द्वारा चतुर्विंशतिस्तव का व्याख्यान किया जाता है। उसमे सर्वप्रथम लोक शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य कहते है—

गाथार्थ—लोकित किया जाता है, आलोकित किया जाता है, प्रलोकित किया जाता है और सलोकित किया जाता हे, ये चारो क्रियाएँ एक अर्थवाली है। जिस हेतु से जिनेन्द्रदेव द्वारा यह सब कुछ अवलोकित किया जाता है इसीलिए यह 'लोक' कहा जाता है।५४२।।

आचारवृत्ति—लोकन करना—(अवलोकन करना), आलोकन करना, प्रलोकन करना, संलोकन करना, और देखना ये शब्द पर्यायवाची शब्द है। जिनेन्द्र देव द्वारा यह सर्वजगत् लोकित—अवलोकित कर लिया जाता है इसीलिए इसकी 'लोक' यह संज्ञा सार्थक है। यहाँ पर इन चारों क्रियाओं का पृथक्करण करते हुए भी टीकाकार स्पष्ट करते है। छद्मस्थ अवस्था मे मति और श्रुत इन दो ज्ञानो के द्वारा यह सर्व 'लोक्यते' अर्थात् देखा जाता है इसीलिए इसे 'लोक' कहते हैं। अथवा अवधिज्ञान द्वारा मर्यादारूप से यह 'आलोक्यते' आलोकित किया जाता है इसलिए यह 'लोक' कहलाता है। अथवा मन पर्ययज्ञान के द्वारा 'प्रलोक्यते' विशेष रूप से यह देखा जाता है अत 'लोक' कहलाता है। अथवा केवलज्ञान के द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवान् इस

---

१ क एयट्ठो।

यस्मात्तस्माल्लोकः। अथवा केवलज्ञानेन जिनैः कृत्स्नं यथा भवतीति तथा संलोक्यते सर्वद्रव्यपर्यायैः सम्यगुपलभ्यते यस्मात्तस्माल्लोकः। तेन कारणेन लोकः स इत्युच्यत इति ॥५४२॥

नवप्रकारैर्निक्षेपैर्लोकस्वरूपमाह—

णाम ट्ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोओ य।
भवलोगो भावलोगो पज्जयलोगो य णादव्वो ॥५४३॥

नात्र विभक्तिनिर्देशस्य प्राधान्यं प्राकृतेऽन्यथापि वृत्तेः। लोकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। नामलोकः स्थापनालोको द्रव्यलोकः क्षेत्रलोकश्चिह्नलोक कषायलोको भवलोको भावलोक पर्यायलोकश्च ज्ञातव्य इति ॥५४३॥

तत्र नामलोकं विवृण्वन्नाह—

णामाणि जाणि काणि[1]चिसुहासुहाणि[2] लोगह्मि।
णामलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४६॥

नामानि संज्ञारूपाणि, यानि कानिचिच्छुभान्यशुभानि च शोभनान्यशोभनानि च सन्ति विद्यंते जीवलोकेस्मिन् तन्नामलोकमनन्तजिनदर्शितं विजानीहि। न विद्यतेऽन्तो विनाशोऽवसानं वा येषा तेऽनन्तास्ते च ते जिनाश्चानन्तजिनास्तैर्दृष्टो यत इति ॥५४६॥

सम्पूर्ण जगत् को जैसा है वैसा ही 'संलोक्यते' सलोकन करते है अर्थात् सर्व द्रव्य पर्यायों को सम्यक् प्रकार से उपलब्ध कर लेते है—जान लेते है इसलिए इसको 'लोक' इस नाम से कहा गया है।

नव प्रकार के निक्षेपो से लोक का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, चिह्न, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक ये नवलोक जानना चाहिए ॥५४३॥

आचारवृत्ति—यहाँ इस गाथा में लोक के निर्देश की विभक्ति प्रधान नही है क्योंकि प्राकृत मे अन्यथा भी वृत्ति देखी जाती है। इनमे प्रत्येक के साथ 'लोक' शब्द को लगा लेना चाहिए। जैसे कि नामलोक, स्थापनालोक, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, चिह्नलोक, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक इन भेदों से लोक की व्याख्या नव प्रकार की हो जाती है।

उनमें से अब नामलोक का वर्णन करते है—

गाथार्थ—लोक में जो कोई भी शुभ या अशुभ नाम है उनको अन्तरहित जिनेन्द्रदेव ने नामलोक कहा है ऐसा जानो ॥५४४॥

आचारवृत्ति—इस जीव लोक में जो कुछ भी शोभन और अशोभन नाम हैं उनको अनन्त जिनेन्द्र ने नामलोक कहा है। जिनका अन्त अर्थात् विनाश या अवसान नहीं है वे अनन्त कहलाते हैं। ऐसे अनन्त विशेषण से विशिष्ट जिनेश्वरो ने देखा है—इस कारण से नामलोक ऐसा कहा है।

---

१ क 'णिवि। २ क 'णि य सति लोगति।

स्थापनालोकमाह—

ठविदं ठाविदं चावि जं किंवि अत्थि लोगह्मि ।
ठवणालोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४५॥

ठविदं—स्वत स्थितमकृत्रिम । ठाविदं—स्थापित कृत्रिम चापि यत्किंचिदस्ति विद्यतेऽस्मिन् लोके तत्सर्वं स्थापनालोकमिति जानीहि, अनन्तजिनदर्शितत्वादिति ॥५४५॥

द्रव्यलोकस्वरूपमाह—

जीवाजीवं रूवारूव सपदेसमप्पदेसं च ।
दव्वलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४६॥

जीवाश्चेतनावन्त । अजीवा कालाकाशधर्माधर्मा पुद्गला । रूपिणो रूपरसगन्धस्पर्शशब्दवन्त पुद्गलाः । अरूपिण कालाकाशधर्माधर्मा जीवाश्च । सप्रदेशा सर्वे जीवादय । अप्रदेशौ कालाणुपरमाणू च । एन सर्वलोक द्रव्यलोक विजानीहि, अक्षयसर्वज्ञदृष्टो यत इति ॥५४६॥

तथेममपि द्रव्यलोक विजानीहीत्याह—

परिणाम जीव मुत्त सपदेस एक्कखेत्त किरिओ य ।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरह्मि अपवेसो ॥५४७॥

स्थापना लोक को कहते है—

गाथार्थ—इस लोक मे स्थित और स्थापित जो कुछ भी है उसको अनन्त जिन द्वारा देखा गया स्थापना लोक समझो ॥५४५॥

आचारवृत्ति—जो स्वत स्थित है वह अकृत्रिम है और जो स्थापना निक्षेप से स्थापित किया गया है वह कृत्रिम है । इस लोक मे ऐसा जो कुछ भी है वह सभी स्थापना-लोक है ऐसा जानो, क्योकि अनन्त जिनेश्वर ने उसे देखा है ।

द्रव्यलोक का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—जीव, अजीव, रूपी, अरूपी तथा सप्रदेशी एव अप्रदेशी को अनन्तजिन द्वारा देखा गया द्रव्यलोक जानो ॥५४६॥

आचारवृत्ति—चेतनावान् जीव है और धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल ये अजीव हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दवाले पुद्गल रूपी हैं । काल, आकाश, धर्म, अधर्म और जीव ये अरूपी है । सभी जीवादि द्रव्य सप्रदेशी है और कालाणु तथा परमाणु अप्रदेशी है अर्थात् ये एक प्रदेशी है । इस सर्वलोक को द्रव्यलोक समझो क्योकि यह अक्षय सर्वज्ञदेव के द्वारा देखा गया है ।

तथा इनको भी द्रव्यलोक जानो ऐसा आगे और कहते हैं—

गाथार्थ—परिणामी, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक, क्षेत्र, क्रियावान्, नित्य, कारण, कर्ता

परिणामोऽन्यथाभावो विद्यते येषां ते परिणामिन । के ते जीवपुद्गलाः । शेषाणि धर्माधर्मकालाकाशान्यपरिणामीनि कुतो द्रव्यार्थिकनयापेक्षया व्यञ्जनपर्याय चाश्रित्यैतदुक्त । पर्यायार्थिकनयापेक्षयान्वर्थपर्यायमाश्रित्य सर्वेऽपि परिणामापरिणामात्मका यत इति । जीवो जीवद्रव्य चेतनालक्षणो यत. । अजीवा पुनः सर्वे पुद्गलादयो ज्ञातृत्वदृष्टृत्वाद्यभावादिति । मूर्तं पुद्गलद्रव्य रूपादिमत्वात् । शेषाणि जीवधर्माधर्मकालाकाशान्यमूर्तानि रूपादिविरहितत्वात् । सप्रदेशानि साशानि जीवधर्माधर्मपुद्गलाकाशानि[1] प्रदेशबन्धदर्शनात् । अप्रदेशा कालाणव परमाणुश्च प्रचयाभावाद् बन्धाभावाच्च । धर्माधर्माकाशान्येकरूपाणि सर्वदा प्रदेशविघाताभावात् । शेषा ससारिजीवपुद्गलकाला अनेकरूपा· प्रदेशाना भेददर्शनात् । आकाश क्षेत्र सर्वपदार्थानामाधारत्वात् ।

और सर्वगत तथा इनसे विपरीत अपरिणामी आदि के द्वारा द्रव्य लोक को जानना चाहिए ॥५४७॥*

आचारवृत्ति—परिणाम अर्थात् अन्य प्रकार से होना जिनमे पाया जाये वे द्रव्य परिणामी कहलाते है । वे जीव और पुद्गल है । शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अपरिणामी है । द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से व्यजनपर्याय का आश्रय लेकर यह कथन किया गया है । तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अन्वर्थपर्याय का आश्रय लेकर सभी द्रव्य परिणामापरिणामात्मक है अर्थात् सभी द्रव्य कथंचित् परिणामी हैं, कथचित् अपरिणामी है। जीव द्रव्य चेतना लक्षणवाला है, बाकी पुद्गल आदि सभी अजीव द्रव्य है, क्योकि इनमे ज्ञातृत्व दृष्टृत्व आदि का अभाव है । पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, क्योंकि वह रूपादिमान् है । शेष जीव, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं, क्योकि ये रूपादि से रहित है। जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल और आकाश सप्रदेशी है अर्थात् ये अश सहित है, क्योकि इनमे प्रदेश-बन्ध देखा जाता है । कालाणु और परमाणु अप्रदेशी है क्योकि इनमे प्रचय का अभाव है और बन्ध का भी अभाव है । धर्म, अधर्म और आकाश ये एक रूप है अर्थात् अखण्ड है, क्योकि हमेशा इनके प्रदेश के विघात का अभाव है । शेष ससारी जीव, पुद्गल और काल ये अनेकरूप हैं, चूंकि इनके प्रदेशो मे भेद देखा जाता है । अर्थात् ये अनेक है इनके प्रदेश पृथक्-पृथक् है ।

आकाश क्षेत्र है क्योकि वह सर्व पदार्थो के लिए आधारभूत है । शेष जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल अक्षेत्र है क्योंकि इनमे अवगाहन लक्षण का अभाव है । जीव और पुद्गल क्रियावान् हैं क्योकि इनकी गति देखी जाती है। शेष धर्म, अधर्म और आकाश और काल

---

१ क °नि सप्र° ।

*निम्नलिखित गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

परियट्टणवो ठिदि अविसेसेण विसेसिदं दव्वं ।
कालोत्ति तं हि भणिदं तेहि असंखेज्जकालाणु ॥

अर्थात् प्रत्येक घट पट आदिको मे नया, पुराना इत्यादि परिवर्तन देखने से काल नामक पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है । प्रत्येक पदार्थ कुछ स्थिति को धारण करता है । पदार्थ की यह स्थिति काल के बिना नहीं हो सकती है अतः यह काल नामक पदार्थ द्रव्य है ऐसा जिनेश्वर ने कहा है और यह काल द्रव्य असंख्यात है ।

शेषा जीवपुद्गलधर्माधर्मकाला अक्षेत्राणि अवगाहनलक्षणाभावात् । जीवपुद्गला क्रियावन्तो गतेर्दर्शनात् शेषा धर्माधर्माकाशकाला अक्रियावन्तो गतिक्रियाया अभावदर्शनात् । नित्या धर्माधर्माकाशपरमार्थकाला व्यवहार-नयापेक्षया व्यञ्जनपर्यायाभावमपेक्ष्य विनाशाभावात् । जीवपुद्गला अनित्या व्यञ्जनपर्यायदर्शनात् । कारणानि पुद्गलधर्माधर्मकालाकाशानि जीवोपकारकत्वेन वृत्तत्वात् । जीवोऽकारण स्वतन्त्रत्वात् । जीव कर्ता शुभाशुभभोक्तृत्वात् । शेषा धर्माधर्मपुद्गलाकाशकाला अकर्तार शुभाशुभभोक्तृत्वाभावात् आकाश सर्वगत सर्वत्रोपलभ्यमानत्वात् । शेषाण्यसर्वगतानि जीवपुद्गलधर्माधर्मकालद्रव्याणि सर्वत्रोपलभाभावात् । तस्मात्परि-णामजीवमूर्तसप्रदेशैकक्षेत्रक्रियावन्नित्यकारणकर्तृसर्वगतिस्वरूपेण द्रव्यलोक जानीहि, इतरैश्चापरिणामादिभि प्रदेशै द्रव्यलोक जानीहीति सम्बन्ध ॥५४७॥

क्षेत्रलोकस्वरूप विवृण्वन्नाह—

अक्रियावान् है क्योकि इनमे गति क्रिया का अभाव है । धर्म, अधर्म, आकाश और परमार्थकाल नित्य है, क्योकि व्यवहार नय की अपेक्षा से, व्यजन पर्याय के अभाव की अपेक्षा से, उनका विनाश नही होता है। अर्थात् इन द्रव्यो मे व्यजन पर्याय नही होने से उनका विनाश नही होता है। जीव और पुद्गल अनित्य है क्योकि इनमे व्यजन पर्याय देखी जाती है। अर्थात् जीव, पुद्गल भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य है किन्तु व्यजन पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है । पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश कारण है क्योकि जीव के प्रति उपकार रूप से ये वर्तन करते है । किन्तु जीव अकारण है क्योकि वह स्वतन्त्र है । जीव कर्ता है, क्योकि वह शुभ और अशुभ का भोक्ता है । शेष धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश और काल अकर्ता है, क्योकि उनमे शुभ, अशुभ के भोक्तृत्व का अभाव है । आकाश सर्वगत है क्योकि वह सर्वत्र उपलब्ध हो रहा है। किन्तु शेष बचे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य असर्वगत है क्योकि इनके सर्वत्र (लोकालोक मे) उपलब्ध होने का अभाव है ।

इसलिए परिणाम, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक, क्षेत्र, क्रियावान, नित्य, कारण, कर्तृत्व और सर्वगत इन स्वरूप से द्रव्य लोक को जानो । इससे इतर अर्थात् अपरिणाम, अजीव, अमूर्त आदि प्रदेशो से द्रव्यलोक को जानो, ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए ।

भावार्थ—यहाँ पर 'भिन्न रूप धारण करना' यह परिणाम का लक्षण किया है । यह मात्र व्यजन पर्याय की अपेक्षा रखता है । अन्यत्र परिणाम का लक्षण ऐसा किया है कि पूर्व पर्याय को छोडकर उत्तर पर्याय को ग्रहण करते हुए अपने मूल स्वभाव को न छोडना उस लक्षणवाला परिणाम तो सभी द्रव्यो मे पाया जाता है । इसलिए व्यजन पर्याय की दृष्टि से जीव और पुद्गल इनमे ही परिणमन होता है । शेष चार द्रव्य अपरिणामी हो जाते है किन्तु अर्थपर्याय की अपेक्षा से छहो द्रव्य परिणामी है। कूटस्थ नित्य अपरिणामी नही है। जीव पुद्गल मे अन्यथा परिणमन देखा जाता है किन्तु शेष द्रव्य अपने-अपने सजातीय परिणमन की अपेक्षा से परिण-मनशील है। ऐसे ही, आगे भी छहों द्रव्यो मे नय विवक्षा से यथायोग्य जीवत्व, मूर्तत्व, सप्रदेशत्व इत्यादि धर्म घटित करना चाहिए ।

क्षेत्रलोक का स्वरूप कहते है—

आयासं सपदेसं उड्ढमहो तिरियलोगं च।
खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४८॥

आकाश सप्रदेश प्रदेशै सह। ऊर्ध्वलोक मध्यलोकमधोलोक च। एतत्सर्वं क्षेत्रलोकमनन्तजिनदृष्ट विजानीहीति ॥५४८॥

चिह्नलोकमाह—

जं दिट्ठं संठाणं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।
चिण्हलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५४९॥

द्रव्यसस्थान धर्माधर्मयोर्लोकाकारेण सस्थान। कालद्रव्यस्याकाशप्रदेशस्वरूपेण सस्थान। आकाशस्य केवलज्ञानस्वरूपेण सस्थान। लोकाकाशस्य गृहगुहादिस्वरूपेण सस्थान। पुद्गलद्रव्यस्य लोकस्वरूपेण सस्थान द्वीपनदीसागरपर्वतपृथिव्यादिरूपेण सस्थान। जीवद्रव्यस्य समचतुरस्रन्यग्रोधादिस्वरूपेण सस्थान। गुणानां द्रव्याकारेण कृष्णनीलशुक्लादिस्वरूपेण वा सस्थान। पर्यायाणा दीर्घह्रस्ववृत्तत्र्यस्रचतुरस्रादिनारकत्वतिर्य-

---

गाथार्थ—आकाश सप्रदेशी है। ऊर्ध्व, अध और मध्य लोक है। अनन्त जिनेन्द्र द्वारा देखा गया यह सब क्षेत्रलोक है, ऐसा जानो ॥५४८॥

आचारवृत्ति—आकाश अनन्त प्रदेशी है किन्तु लोकाकाश मे असख्यात प्रदेश है। उसमे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ऐसे भेद है। अनन्त—शाश्वत जिनेन्द्र देव के द्वारा देखा गया यह सब क्षेत्रलोक है ऐसा तुम समझो।

चिह्नलोक को कहते है—

गाथार्थ—द्रव्य, गुण और पर्यायों का जो आकार देखा जाता है अनन्त जिन द्वारा दृष्ट वह चिह्न लोक है ऐसा जानो ॥५४९॥

आचारवृत्ति—पहले द्रव्य का सस्थान—आकार बताते है। धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकार से सस्थान है अर्थात् ये दोनो द्रव्य लोकाकाश में व्याप्त होने से लोकाकाश के समान ही आकारवाले है। काल द्रव्य का आकाश के एक प्रदेश स्वरूप से आकार है अर्थात् काल द्रव्य असंख्यात है। प्रत्येक कालाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित है इसलिए जो एक प्रदेश का आकार है वही कालाणु का आकार है। आकाश का केवलज्ञान स्वरूप से संस्थान है। लोकाकाश का घर, गुफा आदि स्वरूप से सस्थान है। पुद्गल द्रव्य का लोकस्वरूप से सस्थान है तथा द्वीप, नदी, सागर, पर्वत और पृथ्वी आदि रूप से सस्थान है। अर्थात् महास्कन्ध की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य का आकार लोकाकाश जैसा है क्योंकि वह महास्कन्ध लोकाकाशव्यापी है। तथा अन्य पुद्गल स्कन्ध नदी, द्वीप आदि आकार से स्थित हैं। जीव द्रव्य का समचतुरस्र, न्यग्रोध आदि स्वरूप से संस्थान है अर्थात् नाम कर्म के अन्तर्गत संस्थान के समचतुरस्र, संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, वामन, कुब्जक और हुडक ऐसे छह भेद माने हैं। जीव ससार में इन छहों में से किसी एक संस्थान को लेकर ही शरीर धारण करता है तथा मुक्त जीव भी जिस संस्थान से मुक्त होते हैं उनके आत्म प्रदेश मुक्तावस्था में उसी आकार के ही रहते है। इस प्रकार यहाँ द्रव्यों के सस्थान कहे गये।

त्वमनुष्यत्वदेवत्वादिस्वरूपेण सस्थानं। यद्दृष्ट सस्थानं द्रव्याणां गुणाना पर्यायाणा च चिह्नलोक विजानीहीति ॥५४९॥

कषायलोकमाह—

कोधो माणो माया लोभो उदिण्णा जस्स जतुणो।
कसायलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५५०॥

यस्य जन्तोर्जीवस्य क्रोधमानमायालोभा उदीर्णा उदयमागता त कषायलोक विजानीहीति अनन्तजिनदर्शितम् ॥५५०॥

भवलोकमाह—

णेरइयदेवमाणुसतिरिक्खजोणि गदाय जे सत्ता।
णिययभवे वट्टंता भवलोगं तं विजाणाहि ॥५५१॥

नारकदेवमनुष्यतिर्यग्योनिषु गताश्च ये जीवा निजभवे निजायु प्रमाणे वर्तमानास्त भवलोक विजानीहीति ॥५५१॥

भावलोकमाह—

गुणो के सस्थान को कहते है—द्रव्य के आकार मे रहना गुणो का सस्थान है अथवा कृष्ण, नील, शुक्ल, आदि स्वरूप जो गुण है उन रूप से रहना गुणो का सस्थान है।

पर्यायो के सस्थान को भी बताते है—दीर्घ, ह्रस्व, गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि तथा नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, और देवत्व आदि स्वरूप से आकार होना यह पर्यायो का सस्थान है। अर्थात् दीर्घ, ह्रस्व आदि आकार पुद्गल की पर्यायो के है। तथा नारकपना आदि सस्थान जीव की पर्यायो के है। इस प्रकार से जो भी द्रव्यो के गुणो के, तथा पर्यायो के सस्थान देखे जाते है उन्हे ही चिह्नलोक जानो।

कषायलोक को कहते है—

गाथार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ जिस जीव के उदय मे आ रहे है, उसे अनन्त जिन देव के द्वारा कथित कषायलोक जानो ॥५५०॥

आचारवृत्ति—जिस जीवो के क्रोधादि कषाये उदय मे आ रही है, उन कषायों को अथवा उनसे परिणत हुए जीवो को कषायलोक कहते है।

भवलोक को कहते हैं—

गाथार्थ—नारक, देव, मनुष्य और तिर्यंच योनि को प्राप्त हुए जो जीव अपने भव मे वर्तमान है उन्हे भवलोक जानो ॥५५१॥

आचारवृत्ति—नरक आदि योनि को प्राप्त हुए जीव अपने उस भव मे अपनी-अपनी आयु प्रमाण जीवित रहते है। उन जीवो के भावो को या उन जीवो को ही भवलोक कहा है।

भावलोक को कहते है—

तिव्वो रागो य दोसो य उदिण्णा जस्स जंतुणो ।
भावलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं ॥५५२॥

यस्य जन्तोस्तीव्रो रागद्वेषो प्रीतिविप्रीती उदीर्णौ उदयमागतो तं भावलोकं विजानीहीति ॥५५४॥

पर्यायलोकमाह—

दव्वगुणखेत्तपज्जय भवाणुभावो य भावपरिणामो ।
जाण चउव्विहमेयं पज्जयलोगं समासेण ॥५५३॥

द्रव्याणा गुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यकर्तृत्वभोक्तृत्वकृष्णनीलशुक्लरक्तपीतगतिकारकत्वस्थितिकारकत्वावगाहनागुरुलघुवर्तमानादय । क्षेत्रपर्यायाः सप्तनरकपृथ्वीप्रदेशपूर्वविदेहापरविदेहभरतैरावतद्वीपसमुद्रत्रिषष्टिस्वर्गभूमिभेदादय । भवानामनुभव. आयुषो जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पः। भावो [1]नाम परिणामोऽसख्यातलोकप्रदेशमात्र शुभाशुभरूप कर्मादाने परित्यागे वा[2] समर्थः। द्रव्यस्य गुणाः पर्यायलोक, क्षेत्रस्य पर्याया पर्यायलोक. भवस्यानुभवा. पर्यायलोक भावो नाम परिणाम. पर्यायलोक । एव चतुर्विधं पर्यायलोक-समासेन जानीहीति ॥५५३॥

गाथार्थ—तीव्र राग और द्वेष जिस जीव के उदय मे आ गये हैं उसे तुम अनन्तजिन के द्वारा कथित भावलोक जानो ॥५५२॥

आचारवृत्ति—जिस जीव के तीव्र राग-द्वेष उदय को प्राप्त हुए है, अर्थात् किसी मे प्रीति, किसी मे अप्रीति चल रही है उन उदयागत भावों को ही भावलोक कहते हैं।

पर्यायलोक को कहते है—

गाथार्थ—द्रव्यगुण, क्षेत्र, पर्याय, भवानुभाव और भाव परिणाम, संक्षेप से यह चार प्रकार का पर्यायलोक जानो ॥५५३॥

आचारवृत्ति—द्रव्यो के गुण—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये जीव के गुण है। कृष्ण, नील, शुक्ल, रक्त और पीत ये पुद्गल के गुण है। गतिकारकत्व धर्म द्रव्य का गुण है। स्थितिकारकत्व यह अधर्म द्रव्य का गुण है। अवगाहनत्व आकाश द्रव्य का गुण है। अगुरुलघु गुण सब द्रव्यों का गुण है और वर्तमान आदि काल का गुण है।

क्षेत्रपर्याय—सप्तम नरक पृथ्वी के प्रदेश, पूर्वविदेह, अपरविदेह, भरतक्षेत्र ऐरावतक्षेत्र, द्वीप, समुद्र, त्रेसठ स्वर्गपटल इत्यादि भेद क्षेत्र की पर्याये है। भवानुभाव—आयु के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद भवानुभाव है। भावपरिणाम—भाव अर्थात् परिणाम ये असंख्यात लोक प्रदेश प्रमाण है, शुभ-अशुभरूप हैं। ये कर्मों को ग्रहण करने में अथवा कर्मों का परित्याग करने मे समर्थ है। अर्थात् आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामों से कर्म आते हैं तथा उदय में आकर फल देकर नष्ट भी हो जाते हैं।

द्रव्य के गुण पर्यायलोक है, क्षेत्र की पर्याये पर्यायलोक है, भव का अनुभव पर्यायलोक है और भावरूप परिणाम पर्यायलोक है। इस प्रकार संक्षेप से पर्यायलोक चार प्रकार का है, ऐसा जानो। इस तरह नव प्रकार के निक्षेप से नवप्रकार के लोक का स्वरूप कहा गया है।

---

१ क नाम अनुभवपर्यायः प॰ । २ क वा असमर्थः ।

उद्योतस्य स्वरूपमाह—

उज्जोवो खलु दुविहो णादव्वो दव्वभावसंजुत्तो ।
दव्वुज्जोवो [1]अग्गी चंदो सूरो मणी चेव ।।५५४।।

उद्योत प्रकाश खलु द्विविध स्फुट ज्ञातव्यो द्रव्यभावभेदेन । द्रव्यसयुक्तो भावसंयुक्तश्च । तत्र द्रव्योद्योतोऽग्निश्चन्द्र. सूर्यो मणिश्च । एवकारः प्रकारार्थ । एवंविधोऽन्योऽपि द्रव्योद्योतो ज्ञात्वा वक्तव्य इति ।।५५६।।

भावोद्योत निरूपयन्नाह—

भावुज्जोवो णाणं जह भणियं सव्वभावदरिसीहिं ।
तस्स दु पओगकरणे भावुज्जोवोत्ति णादव्वो ।।५५५।।

भावोद्योतो नाम ज्ञान यथा भणित सर्वभावदर्शिभि येन प्रकारेण सर्वपदार्थदर्शिभिर्ज्ञानमुक्त तद्भावोद्योत. परमार्थोद्योतस्तथा ज्ञानस्योपयोगकरणात् स्वपरप्रकाशकत्वाद्भावोद्योत इति ज्ञातव्यः ।।५५७।।

पुनरपि भावोद्योतस्य भेदमाह—

पंचविहो खलु भणिओ भावुज्जोवो य जिणवरिंदेहिं ।
आभिणिबोहियसुदओहि-णाणमणकेवलमओ [1]य ।।५५६।।

उद्योत का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से युक्त उद्योत निश्चय से दो प्रकार का जानना चाहिए। अग्नि, चन्द्र, सूर्य और मणि ये द्रव्य उद्योत है ।।५५४।।

आचारवृत्ति—उद्योत—प्रकाश स्पष्टरूप से द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है । अर्थात् द्रव्यसयुक्त और भावसयुक्त उद्योत । उसमे अग्नि, उद्योत सूर्य, चन्द्रमा और मणि ये द्रव्य-उद्योत है । इसी प्रकार के अन्य भी द्रव्य-उद्योत जानकर कहना चाहिए । अर्थात् प्रकाशमान पदार्थ को यहाँ द्रव्य-उद्योत कहा गया है ।

भाव-उद्योत को कहते हैं—

गाथार्थ—भाव-उद्योत ज्ञान है जैसाकि सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया है । उसके उपयोग करने में भाव उद्योत है ऐसा जानना चाहिए ।।५५५।।

आचारवृत्ति—जिस प्रकार से सर्वपदार्थ के देखने, जाननेवाले सर्वज्ञदेव ने ज्ञान का कथन किया है वह भाव उद्योत है, वही परमार्थ उद्योत है । वह ज्ञान स्वपर का प्रकाशक होने से भाव उद्योत है ऐसा जानना चाहिए । अर्थात् ज्ञान ही चेतन-अचेतन पदार्थों का प्रकाशक होने से सच्चा प्रकाश है ।

पुन. भाव-उद्योत के भेद कहते है—

गाथार्थ—जिनवर देव ने निश्चय से भावोद्योत पाँच प्रकार का कहा है । वह आभिनि-

१ जोऊ द' । १ 'लणेय ।

स भावोद्योतो जिनवरेन्द्रैः पंचविधः पंचप्रकारः खलु स्फुटं, भणितः प्रतिपादितः। आभिनिबोधिक-श्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययकेवलमयो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पंचप्रकार इति ॥५५६॥*

द्रव्यभावोद्योतयोः स्वरूपमाह—

दव्वुज्जोवोजोवो पडिहण्णदि परिमिदह्मि खेत्तह्मि।
भावुज्जोवोजोवो लोगालोगं पयासेदि ॥५५७॥

द्रव्योद्योतो य उद्योतः स प्रतिहन्यतेऽन्येन द्रव्येण परिमिते च क्षेत्रे वर्तते। भावोद्योतः पुनरुद्योतो लोकमलोकं च प्रकाशयति न प्रतिहन्यते नापि परिमिते क्षेत्रे वर्ततेऽप्रतिघातिसर्वगतत्वादिति ॥५५७॥

तस्मात्—

लोगस्सुज्जोवयरा दव्वुज्जोएण ण हु जिणा होंति।
भावुज्जोवयरा पुण होंति जिणवरा चउव्वीसा ॥५५८॥

बोधिक, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान है ऐसा जानना ॥५५६॥

आचारवृत्ति—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से वह भावोद्योत पाँच प्रकार का है ऐसा श्रीजिनेन्द्र ने कहा है।

द्रव्यभाव उद्योत का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—द्रव्योद्योत रूप प्रकाश अन्य से बाधित होता है, परिमित क्षेत्र में रहता है और भावोद्योत प्रकाश, लोक-अलोक को प्रकाशित करता है ॥५५७॥

आचारवृत्ति—जो द्रव्योद्योत का प्रकाश है वह अन्य द्रव्य के द्वारा नष्ट हो जाता है और सीमित क्षेत्र मे रहता है। किन्तु भावोद्योत रूप प्रकाश लोक और अलोक को प्रकाशित करता है, किसी के द्वारा नष्ट नही किया जा सकता है और न परिमित क्षेत्र में ही रहता है; क्योंकि वह अप्रतिघाती और सर्वगत है। अर्थात् ज्ञानरूप प्रकाश सर्व लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाला है, किसी मेघ या राहु आदि के द्वारा बाधित नही होता है और सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है। किन्तु सूर्य, मणि आदि के प्रकाश अन्य के द्वारा रोके जा सकते हैं एवं स्वल्प क्षेत्र में ही प्रकाश करनेवाले हैं।

इसलिए—

गाथार्थ—जिनेन्द्र भगवान् निश्चितरूप से द्रव्यउद्योत के द्वारा लोक को प्रकाशित करनेवाले नही होते हैं, किन्तु वे चौबीसों तीर्थंकर तो भावोद्योत से प्रकाश करनेवाले होते हैं ॥५५८॥

---

*यह गाथा फलटन से प्रति प्रकाशित में अधिक है—

लोयालोयपयासं अक्खलिय णिम्मल असंदिद्धं।
जं णाणं अरहंता भावुज्जोवो त्ति वुच्चति ॥

अर्थात् जो ज्ञान लोकालोक को प्रकाशित करता है, कभी स्खलित नही होता है, निर्मल है, संशय-रहित है, अरिहंतदेव ऐसे ज्ञान को भावोद्योत कहते हैं।

लोकस्योद्योतकरा द्रव्योद्योतेन नैव भवन्ति जिनाः। भावोद्योतकराः पुनर्भवन्ति जिनवराश्चतुर्विंशतिः। अतो भावोद्योतेनैव लोकस्योद्योतकरा जिना इति स्थितमिति। लोकोद्योतकरा इति व्याख्यात।

धर्मतीर्थंकरा इति पद व्याख्यातुकामः प्राह—

तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य।
तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं ॥५५९॥

धर्मस्तावत्त्रिप्रकारो भवति। श्रुतधर्मोऽस्तिकायधर्मस्तृतीयश्चारित्रधर्म। अत्र पुन श्रुतधर्मस्ती'र्थान्तरं संसारसागर तरन्ति येन तत्तीर्थमिति ॥५५९॥

तीर्थस्य स्वरूपमाह—

दुविहं च होइ तित्थं णादव्वं दव्वभावसंजुत्तं।
एदेसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणा होदि ॥५६०॥

द्विविध च भवति तीर्थं द्रव्यसंयुक्त भावसंयुक्त चेति। द्रव्यतीर्थमपरमार्थरूप। भावतीर्थ पुनः परमार्थभूतमन्यापेक्षाभावात्। एतयोर्द्वयोरपि तीर्थयो. प्रत्येक प्ररूपणा भवति ॥५६०॥

द्रव्यतीर्थ'स्य स्वरूपमाह—

आचारवृत्ति—चौबीस तीर्थंकर द्रव्य प्रकाश से लोक को प्रकाशित नही करते है, किन्तु वे ज्ञान के प्रकाश से ही लोक का उद्योत करनेवाले होते है यह बात व्यवस्थित हो गई। इस तरह 'लोकोद्योतकरा' इसका व्याख्यान हुआ।

'धर्मतीर्थकरा' इस पद का व्याख्यान करते है—

गाथार्थ—धर्म तीन प्रकार का है—श्रुत धर्म, अस्तिकायधर्म और चारित्रधर्म। किन्तु यहाँ श्रुतधर्म तीर्थ है ॥५५९॥

आचारवृत्ति—श्रुतधर्म, अस्तिकाय धर्म और चारित्रधर्म इन तीनो मे श्रुतधर्म को तीर्थ माना है। जिससे ससारसागर को तिरते है वह तीर्थ है सो यह श्रुत अर्थात् जिनदेव कथित आगम ही सच्चा तीर्थ है।

तीर्थ का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—द्रव्य और भाव से सयुक्त तीर्थ दो प्रकार का है। इन दोनो में से प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं ॥५६०॥

आचारवृत्ति—द्रव्य और भाव की अपेक्षा तीर्थ के दो भेद है। द्रव्यतीर्थ तो अपरमार्थभूत है और भावतीर्थ परमार्थभूत है, क्योंकि इसमे अन्य की अपेक्षा का अभाव है। इन दोनों का वर्णन करते है।

द्रव्यतीर्थ का स्वरूप कहते हैं—

---

१ क तीर्थं स'। १ क 'र्थस्व'।

दाहोपसमण तण्हाछेदो मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तह्मा त दव्वदो तित्थं ।।५६१।।

द्रव्यतीर्थेन दाहस्य सतापस्योपशमन भवति तृष्णाश्छेदो विनाशो भवति स्तोककाल पकस्य च प्रवहण शोधनमेव भवति न धर्मादिको गुणस्तस्मात्त्रिभि. कारणैर्युक्त द्रव्यतीर्थं भवतीति ।।५६१।।

भावतीर्थस्वरूपमाह—

दंसणणाणचरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेवि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तह्मा ते भावदो तित्थं ।।५६२।।

दर्शनज्ञानचारित्रैर्युक्ता सयुक्ता जिनवरा सर्वेऽपि ते तीर्थं भवति तस्मात्त्रिभि· कारणैरपि भावतस्तीर्थमिति भावोद्योतेन लोकोद्योतकरा भावतीर्थकर्तृत्वेन धर्मतीर्थकरा इति। अथवा दर्शनज्ञानचारित्राणि जिनवरै· सर्वैरपि निर्युक्तानि सेवितानि तस्मात्तानि भावतस्तीर्थमिति ।।५६२।।

जिनवरा अर्हन्निति पद व्याख्यातुकाम. प्राह—

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण [1]वुच्चंति ।।५६३।।

गाथार्थ—दाह को उपशम करना, तृष्णा का नाश करना और मल कीचड को धो डालना, इन तीन कारणों से जो युक्त है, वह द्रव्य से तीर्थ है ।।५६१।।

आचारवृत्ति—द्रव्यतीर्थ से (गगा पुष्कर आदि से) सताप का उपशमन होता है, प्यास का विनाश होता है और कुछ काल तक ही मल का शोधन हो जाता है, किन्तु उससे धर्म आदि गुण नही होते है। इसलिए इन तीन कारणों से सहित होने से उसे द्रव्य तीर्थ कहते है।

भावतीर्थ को कहते हैं—

गाथार्थ—सभी जिनेश्वर दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त है। इन तीन कारणो से युक्त हैं इसलिए वे भाव से तीर्थ हैं ।।५६२।।

आचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान, चारित्र से संयुक्त होने से सभी तीर्थंकर भावतीर्थ कहलाते है। इस प्रकार से ये तीर्थंकर भावउद्योत से लोक को प्रकाशित करनेवाले है और भावतीर्थ के कर्ता होने से 'धर्मतीर्थंकर' कहलाते है। अथवा सभी जिनवरों ने इस रत्नत्रय का सेवन किया है इसलिए वे भावतीर्थ कहलाते हैं।

जिनवर और अर्हन् इन पदों का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—क्रोध मान माया और लोभ को जीत चुके हैं इसलिए वे 'जिन' होते हैं। शत्रुओं का और जन्म का हनन करनेवाले हैं अत: वे अर्हंत कहलाते हैं ।।५६३।।

---

१ क वुच्चदि य।

यस्माज्जितक्रोधमानमायालोभास्तस्मात्तेन कारणेन ते जिना इति भवति येनारीणा हन्तारो जन्मन संसारस्य च हन्तारस्तेनार्हन्त इत्युच्यन्ते ।।५६३।।

येन च—

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं ।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ।।५६४।।

वदनाया नमस्कारस्य च योग्या वदना नमस्कारमर्हंति, पूजाया सत्कारस्य च योग्या पूजासत्कार-मर्हन्ति च यत सिद्धिगमनस्य च योग्या सिद्धिगमनमर्हन्ति, यस्मात्तेनाऽर्हन्त इत्युच्यन्ते ।।५६४।।

किमर्थमेते कीर्त्यन्त इत्याशकायामाह—

आचारवृत्ति—जिस कारण से उन्होने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है इसी कारण से वे 'जिन' कहलाते है। तथा जिस कारण से वे मोह शत्रु के तथा ससार के नाश करनेवाले है इसी कारण से वे 'अरिहत' इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।*

और भी अरिहंत शब्द की निरुक्ति करते है—

गाथार्थ—वन्दना और नमस्कार के योग्य है, पूजा सत्कार के योग्य है और सिद्धि गमन के योग्य है इसलिए वे 'अर्हंत' कहलाते है ।।५६४।।

आचारवृत्ति—अर्हंतदेव वन्दना, नमस्कार, पूजा, सत्कार और मोक्ष गमन के योग्य हैं—समर्थ है अतएव वे 'अर्हंत' इस सार्थक नाम से कहे जाते है।

भावार्थ—अरिहत और अर्हंत दो पद माने गये है अत. यहाँ पर दोनो पदों की व्युत्पत्ति दिखाई है। जो अरि अर्थात् मोह कर्म का हनन करनेवाले है वे 'अरिहत' है और 'अर्ह' धातु पूजा तथा क्षमता अर्थ मे है अत जो वन्दना आदि के लिए योग्य है, पूज्य है, सक्षम है वे 'अर्हंत' इन नाम से कहे जाते है। महामन्त्र मे 'अरिहंताण' और 'अरहताण' दोनो पद मिलते हैं वे दोनों ही शुद्ध माने गये है।

किसलिए इनका कीर्तन किया जाता है ? ऐसी आशका होने पर कहते है—

---

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक है—

तण्हावदाहछेदणकम्ममलविणासणसमत्थं ।
तिहि कारणेहिं जुत्तं सुत्तं पुण भाववो तित्थं ।।

अर्थ—जो तृष्णा और दाह का छेदन करने वाला है तथा कर्म मल को विनाश करने में समर्थ है। इन तीन कारणो से जो युक्त है वह सूत्र भाव से तीर्थ है। अर्थात् द्वादशाग सूत्र रूप श्रुतधर्म को भावतीर्थ कहा है। वह तीर्थ सासारिक विषयो की अभिलाषा रूप तृष्णा को दूर करता है, कर्मोदय जनित नाना प्रकार के दु ख रूप दाह को शात करता है और कर्ममल को दूर करने मे समर्थ है। इन तीन गुणो से युक्त होने से जिनवाणी ही सच्चा भावतीर्थ है।

किह ते ण कित्तणिज्जा सदेवमणुयासुरेहिं लोगेहिं ।
दंसणणाणचरित्ते तव विणओ जेहिं पण्णत्तो ॥५६५॥

कथ ते न कीर्तनीया. व्यावर्णनीया सदेवमनुष्यासुरैर्लोकैर्दर्शनज्ञानचारित्रतपसा विनयो यै' प्रज्ञप्तः प्रतिपादित ते चतुर्विशतितीर्थंकरा' कथ न कीर्त्तनीया ॥५६५॥

इति कीर्तनमधिकार व्याख्याय केवलिनां स्वरूपमाह—

सव्वं केवलिकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति ।
केवलणाणचरित्ता[1] तह्मा ते केवली होंति ॥५५६॥

किमर्थ केवलिन इत्युच्यन्त इत्याशकायामाह—यस्मात्सर्व निरवशेष केवलिकल्प केवलज्ञानविषय लोकमलोक च जानन्ति तथा च पश्यति केवलज्ञानमेव चरित्रं येषा ते केवलज्ञानचरित्रा परित्यक्ताशेषव्यापारास्तस्मात्ते केवलिनो भवतीति ॥५६६॥

अथोत्तमा कथमित्याशकायामाह—

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च ।
तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ॥५६७॥

मिथ्यात्ववेदनीयमश्रद्धानरूप ज्ञानावरण ज्ञानदर्शयोरावरण चारित्रमोहश्चैतत्त्रिविध तमस्तस्मात्-

---

गाथार्थ—देव, मनुष्य और असुर इन सहित लोगो के द्वारा वे अर्हत कीर्तन करने योग्य क्यो नही होगे ? जबकि उन्होंने दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के विनय का प्रज्ञापन किया है ॥५६५॥

आचारवृत्ति—वे चौबीस तीर्थकर देव आदि सभीजनों द्वारा कीर्तन-वर्णन-प्रशसन करने योग्य इसीलिए है, कि उन्होने दर्शन आदि के विनय का उपदेश दिया है।

इस तरह कीर्तन अधिकार को कहकर अब केवलियों का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—केवलज्ञान विषयक सर्वलोक को जानते है तथा देखते हैं, एवं केवलज्ञानरूप चारित्रवाले है इसलिए वे केवली होते है ॥५६६॥

आचारवृत्ति—अर्हत को केवली क्यों कहते है ? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—जिस हेतु वे अर्हत भगवान् केवलज्ञान के विषयभूत सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानते है तथा देखते हैं और जिनका चारित्र केवलज्ञान ही है अर्थात् जिनके अशेष व्यापार छूट चुके है इसलिए वे केवली कहलाते हैं।

तीर्थंकर उत्तम क्यो है ? ऐसी आशंका होने पर कहते है—

गाथार्थ—मिथ्यात्व वेदनीय, ज्ञानावरण और चारित्रमोह इन तीन तम से मुक्त हो चुके हैं इसलिए वे उत्तम कहलाते हैं ॥५६७॥

आचारवृत्ति—अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व वेदनीय है अर्थात् मिथ्यात्वकर्म के उदय से जीव को सम्यक् तत्त्वो का श्रद्धान नही होता है। यह दर्शनमोह गाढ़ अधकार के सदृश है।

---

१ चरणी।

मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टा भवतीति ॥५६७॥

त एव विशिष्टा मम—

आरोग्ग बोहिलाहं दितु समाहिं च मे जिणवरिंदा।
किं ण हु णिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायव्वा ॥५६८॥

एव विशिष्टास्ते जिनवरेन्द्रा मह्यमारोग्य जातिजरामरणाभाव बोधिलाभ च जिनसूत्रश्रद्धान दीक्षाभिमुखीकरण वा समाधि च मरणकाले सम्यक्परिणाम ददतु प्रयच्छन्तु, किं पुनरिद निदान न भवति न भवत्येव कस्माद्विभाषाऽत्र विकल्पोऽत्र कर्तव्यो यस्मादिति ॥५६८॥

एतस्माच्चेद निदान न भवति यत —

ज्ञानावरण से दर्शनावरण भी आ जाता है चूकि वे सहचारी है। चारित्रमोह से मोहनीय की, दर्शनमोह से अतिरिक्त सारी प्रकृतियाँ आ जाती है। ये मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण और दर्शनावरण तीनो ही कर्म 'तम' के समान है इस 'तम' से मुक्त हो जाने से ही तीर्थकर 'उत्तम' शब्द से कहे जाते है।

इन विशेषणो से विशिष्ट तीर्थकर हमे क्या देवे ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करे। क्या यह निदान नही है ? अर्थात् नही है, यहाँ केवल विकल्प समझना चाहिए ॥५६८॥

आचारवृत्ति—इस प्रकार से पूर्वोक्त विशेषणो से विशिष्ट वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य—जन्ममरण का अभाव, बोधिलाभ—जिन सूत्र का श्रद्धान अथवा दीक्षा के अभिमुख होना, और समाधि—मरण के समय सम्यक् परिणाम इन तीन को प्रदान करे।

क्या यह निदान नही है ?

नही है।

क्यों ?

क्योकि यहाँ पर इसे विभाषा—विकल्प समझना चाहिए।

भावार्थ—गाथा ५४१ मे तीर्थकरस्तव के प्रकरण मे सात विशेषण बताये थे—लोकोद्योतकर, धर्मतीर्थकर, जिनवर, अर्हंत, कीर्तनीय, केवली और उत्तम। पुनः उनसे बोधि की प्रार्थना की थी। उनमे से प्रत्येक विशेषण के एक-एक पदो को पृथक् कर करके उनका विशेष अर्थ किया है। १२ गाथा पर्यंत 'लोक' शब्द का व्याख्यान किया है, ५ गाथाओ मे 'उद्योत' का, ४ गाथाओ मे 'तीर्थ' का, १ गाथा के पूर्वार्ध मे 'जिनवर' का एव उत्तरार्ध तथा एक और गाथा मे 'अर्हंत' का, १ गाथा मे 'कीर्तनीय' का, १ गाथा मे 'केवली' का, १ गाथा मे 'उत्तम' का एव अन्त की गाथा मे 'बोधि' की प्रार्थना का स्पष्टीकरण किया है।

यहाँ जो वीतरागदेव से याचना की गई है सो आचार्य का कहना है कि यह निदान नही है बल्कि भक्ति का एक प्रकार है।

किस कारण से यह निदान नही है सो बताते है—

भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा ¹एसा।
ण हु खीण²रागदोसा ³दिंति समाहिं च बोहिं च ॥५६९॥

असत्यमृषा भाषेयं किंतु भक्त्या भाषितैषा यस्मान्नहि क्षीणरागद्वेषा जिना ददते समाधिं बोधिं च। यदि दाने प्रवर्त्तेरन् सरागद्वेषाः स्युरिति ॥५६९॥

अन्यच्च—

जं तेहिं दु दादव्वं तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दंसणणाणचरित्तस्स एस तिविहस्स उवदेसो ॥५७०॥

यत्तैस्तु दातव्य तद्दत्तमेव जिनवरैः सर्वैः किं तद्दर्शनज्ञानचारित्राणा त्रिप्रकाराणा एष उपदेशोऽस्मात्किमधिक यत्प्रार्थ्यते। इति एवा च समाधिबोधिप्रार्थना भक्तिर्भवति यत ॥५७०॥

अत आह—

भत्तीए जिणवराण खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥५७१॥

जिनवराणा भक्त्या पूर्वसंचित कर्म क्षीयते विनश्यते यस्माद् आचार्याणा च भक्ति किमर्थं? आचार्याणा च प्रसादेन विद्या मंत्राश्च सिद्धिमुपगच्छति यस्मादिति तस्माज्जिनानामाचार्याणा च भक्तिरिय न

गाथार्थ—यह असत्यमृषा भाषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गई है क्योंकि राग-द्वेष से रहित भगवान् समाधि और बोधि को नही देते हैं ॥५६९॥

आचारवृत्ति—यह बोधि समाधि की प्रार्थना असत्यमृषा भाषा है, यह मात्र भक्ति से ही कही गई है, क्योंकि जिनके राग-द्वेष नष्ट हो चुके हैं वे जिनेन्द्र भगवान् समाधि और बोधि को नही देते हैं। यदि वे देने का कार्य करेंगे तो राग-द्वेष सहित हो जावेंगे।

और भी कहते है—

गाथार्थ—उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनवरो ने वह दे दिया है। सो वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों का उपदेश है ॥५७०॥

आचारवृत्ति—उनके द्वारा जो देने योग्य था सो तो उन्होंने दे ही दिया है। वह क्या है? वह रत्नत्रय का उपदेश है। हम लोगो के लिए और इससे अधिक क्या है कि जिसकी प्रार्थना करें इसलिए यह समाधि और बोधि की प्रार्थना भक्ति है।

इस भक्ति का माहात्म्य कहते है—

गाथार्थ—जिनवरों को भक्ति से जो पूर्व संचित कर्म हैं वे क्षय हो जाते हैं, और आचार्य के प्रसाद से विद्या तथा मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं ॥५७१॥

आचारवृत्ति—जिनेन्द्रदेव की भक्ति से पूर्व संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं सो ठीक है, किन्तु आचार्यों की भक्ति किसलिए है? आचार्यों के प्रसाद से विद्या और मन्त्रों की सिद्धि होती

१ क भासा। २ क 'खीणपेज्जदोसा'। ३ क दिंतु।

निदानमिति ॥५७१॥

अन्यच्च,—

अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु।
धम्मह्मि य जो राओ सुदे य जो बारसविधह्मि ॥५७२॥

आयरियेसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु ॥५७३॥

व्यपगतरागेष्वष्टादशदोषरहितेषु अर्हत्सु य राग या भक्तिस्तथा धर्मे यो रागस्तथा श्रुते द्वादशविधे यः राग ॥५७२॥ तथा—

आचार्येषु राग श्रमणेषु बहुश्रुतेषु च यो रागश्चरित्राढ्येषु च राग स एष राग प्रशस्तः शोभनो भवति सरागेषु सर्वेष्विति ॥५७३॥

अन्यच्च,—

तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए।
तो भत्ति रागपुव्वं वुच्चइ एदं ण हु णिदाणं ॥५७४॥

तेषां जिनवरादीनामभिमुखतया भक्त्या चार्था वाछितेष्टसिद्धय. सिध्यन्ति हस्तग्राह्या भवन्ति यस्मात्तस्माद्भक्ती रागपूर्वकमेतदुच्यते न हि निदान, ससारकारणाभावादिति ॥५७४॥

होती है। इसलिए जिनवरो की और आचार्यों की यह भक्ति निदान नही है।

और भी कहते है—

गाथार्थ—राग रहित और द्वेष रहित अर्हतदेव मे जो राग है, धर्म मे जो राग है, और द्वादशविध श्रुत मे जो राग है– वह तीनो भक्ति है।

आचार्यों मे, श्रमणो मे और चारित्रयुक्त बहुश्रुत विद्वानो में जो राग है यह प्रशस्त राग सभी सरागी मुनियो मे होता है ॥५७२-५७३॥

आचारवृत्ति—रागद्वेष रहित अर्हतो मे, धर्म में, द्वादशांग श्रुत में, आचार्यों में, मुनियो में, चारित्रयुक्त बहुश्रुत विद्वानो में जो राग होता है वह प्रशस्त—शोभन राग है वह सभी सरागी मुनियों में पाया जाता है। अर्थात् सराग सयमी मुनि इन सभी मे अनुराग रूप भक्ति करते ही हैं।

और भी कहते हैं—

गाथार्थ—उनके अभिमुख होने से तथा उनकी भक्ति से मनोरथ सिद्ध हो जाते है। इसलिए भक्ति रागपूर्वक कही गई है। यह वास्तव मे निदान नही है ॥५७४॥

आचारवृत्ति—उन जिनवर आदिको के अभिमुख होने से—उनकी तरफ अपने मन को लगाने से, उनकी भक्ति से वाछित इप्ट की सिद्धि हो जाती है—इष्ट मनोरथ हस्तग्राह्य हो जाते हैं। इसलिए यह भक्ति रागपूर्वक ही होती है। यह निदान नहीं कहलाती है, क्योंकि इससे ससार के कारणों का अभाव होता है।

चतुर्विंशतिस्तवविधानमाह—

चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो ।
अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदि य चउवीसत्थयं भिक्खू ।।५७५।।

चतुरंगुलान्तरपाद स्थितांग परित्यक्तशरीरावयवचालनश्चकारादेतल्लब्धं प्रतिलिख्य शरीरभूमिचित्तादिकं प्रशोध्य प्राजलि: सपिंड. कृताजलिपुटेन प्रशस्त. सौम्यभावोऽव्याक्षिप्त सर्वव्यापाररहितः करोति चतुर्विंशतिस्तव भिक्षु संयतश्चतुरगुलमतर ययो पादयोस्तौ चतुरगुलान्तरौ तौ पादौ यस्य स चतुरंगुलान्तरपाद. स्थितं निश्चलमग यस्य स स्थितांग. शोभनकायिकवाचिकमानसिकक्रिय इत्यर्थ ।।५७५।।

चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिमुपसहर्तु वंदनानिर्युक्ति च प्रतिपादयितु प्राह—

चउवीसयणिज्जुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
वंदणणिज्जुत्ती पुण एत्तो उड्ढ पवक्खामि ।।५७६।।

चतुर्विंशतिनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन वंदनानिर्युक्ति पुनरित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रतिपादयिष्यामीति ।।५७६।।

तथैता नामादिनिक्षेपै प्रतिपादयन्नाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो खलु वंदणगे णिक्खेवो छव्विहो भणिदो ।।५७७।।

अब चतुर्विंशतिस्तव के विधान को कहते है—

गाथार्थ—चार अगुल अन्तराल से पाद को करके, प्रतिलेखन करके, अंजलि को प्रशस्त जोड़कर, एकाग्रमना हुआ भिक्षु चौबीस तीर्थंकर का स्तोत्र करता है ।।५७५।।

आचारवृत्ति—पैरो मे चार अगुल का अतर रखकर, स्थिर अग कर जो खडे हुए हैं अर्थात् शरीर के अवयवों के हलन चलन से रहित स्थिर हैं; चकार से ऐसा समझना कि जिन्होने अपने शरीर और भूमि का पिच्छिका से प्रतिलेखन करके एव चित्त आदि का शोधन करके अपने हाथो की अजुलि जोड रखी है, जो प्रशस्त-सौम्यभावी है, व्याकुलता रहित अर्थात् सर्वव्यापार रहित हैं ऐसे सयत मुनि चतुर्विंशतिस्तव को करते हैं । अर्थात् पैरो में चार अगुल के अतराल को रखकर निश्चल अग करके खडे होकर, मुनि शोभनरूप कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया वाले होते हुए स्तव नामक आवश्यक को करते है ।

चतुर्विंशतिस्तव निर्युक्ति का उपसंहार करने के लिए और वन्दना निर्युक्ति का प्रतिपादन करने के लिए अगली गाथा कहते है—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह चतुर्विंशतिनिर्युक्ति कही है, पुनः इसके बाद वन्दना निर्युक्ति को कहूंगा ।।५७६।।

आचारवृत्ति—गाथा सरल है ।

वन्दना को नामादि निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, निश्चय से वन्दना का यह छह प्रकार का निक्षेप कहा गया है ।।५७७।।

एकतीर्थंकरनामोच्चारण सिद्धाचार्यादिनामोच्चारण च नामावश्यकवंदनानिर्युक्तिरेव तीर्थंकरप्रतिबिंबस्य सिद्धाचार्यादिप्रतिबिंबाना च स्तवनं स्थापनावंदनानिर्युक्तिस्तेषामेव शरीराणां स्तवन द्रव्यवंदनानिर्युक्तिस्तैरेव यत्क्षेत्रमधिष्ठित कालश्च योऽधिष्ठितस्तयोः स्तवन क्षेत्रवन्दना च, एकतीर्थंकरस्य सिद्धाचार्यादीना च शुद्धपरिणामेन यद्गुणस्तवन तद्भावावश्यकवंदनानिर्युक्ति. नामाथवा जातिद्रव्यगुण क्रियानिरपेक्ष सज्ञाकर्म वंदनाशब्दमात्र नामवन्दनापरिणतस्य प्रतिकृत प्रतिकृतिवंदना स्थापनावंदनावन्दनाव्यावर्णनप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यवदना शेषः पूर्ववदिति । एष वदनाया निक्षेप. षड्विधो भवति ज्ञातव्यो नामादिभेदेनेति ॥५७७॥

नामवंदना प्रतिपादयन्नाह—

किदियम्म चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च ।
कादव्वं केण कस्स व कधे व कहिं व कदिखुत्तो ॥५७८॥

पूर्वगाथार्धेन वदनाया एकार्थं कथ्यते[1]ऽपरार्द्धेन तद्विकल्पा इति । कृत्यते छिद्यते अष्टविध कर्म येनाक्षरकदबकेन परिणामेन क्रियया वा तत्कृतिकर्म पापविनाशनोपाय[2] । चीयते समेकीक्रियते सचीयते

आचारवृत्ति—एक तीर्थंकर का नाम उच्चारण करना, तथा सिद्ध, आचार्यादि का नाम उच्चारण करना नाम-वन्दना आवश्यक निर्युक्ति है । एक तीर्थंकर के प्रतिबिम्ब का तथा सिद्ध आचार्य आदि के प्रतिबिम्बो का स्तवन करना स्थापनावन्दना निर्युक्ति है । एक तीर्थंकर के शरीर का तथा सिद्ध आचार्यों के शरीर का स्तवन करना द्रव्य-वन्दना निर्युक्ति है । इन एक तीर्थंकर, सिद्ध और आचार्यों से अधिष्ठित जो क्षेत्र है उनकी स्तुति करना क्षेत्र-वन्दना निर्युक्ति है । ऐसे ही इन्हीं से अधिष्ठित जो काल है उनकी स्तुति करना काल वन्दना निर्युक्ति है । एक तीर्थंकर और सिद्ध तथा आचार्यों के गुणो का शुद्ध परिणाम से जो स्तवन है वह भाववन्दना निर्युक्ति है ।

अथवा जाति, द्रव्य व क्रिया से निरपेक्ष किसी का 'वन्दना' ऐसा शब्द मात्र से संज्ञा कर्म करना नाम वन्दना है । वन्दना मे परिणत हुए का जो प्रतिबिम्ब है वह स्थापनावन्दना है । वन्दना के वर्णन करनेवाले शास्त्र का जो ज्ञाता है किन्तु उसमे उस समय उपयोग उसका नही है वह आगमद्रव्य वन्दना है । बाकी के भेदो को पूर्ववत् समझ लेना चाहिए । वन्दना का यह निक्षेप नाम आदि के भेद से छह प्रकार का है ऐसा जानना ।

नाम वन्दना का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—कृतिकर्म, चितिकर्म, प्रजाकर्म और विनयकर्म ये वन्दना के एकार्थ नाम हैं । किसको, किसकी, किस प्रकार से, किस समय और कितनी वार वन्दना करना चाहिए ॥५७८॥

आचारवृत्ति—गाथा के पूर्वार्ध से वन्दना के पर्यायवाची नाम कहे हैं अर्थात् कृतिकर्म आदि वन्दना के ही नाम है । तथा गाथा के अपरार्ध से वन्दना के भेद कहे हैं ।

कृतिकर्म—जिस अक्षर समूह से या जिस परिणाम से अथवा जिस क्रिया से आठ प्रकार का कर्म काटा जाता है—छेदा जाता है वह कृतिकर्म कहलाता है अर्थात् पापों के विनाशन

---

१ क °ते पश्चार्द्धेन । २ क °पाय । क्रियते समो वा क्रियते ।

पुण्यकर्म तीर्थकरत्वादि येन तच्चित्तिकर्म पुण्यसंचयकारणं । पूज्यंतेऽर्च्यन्तेऽर्हदादयो येन तत्पूजाकर्म बहुवचनो-च्चारणस्रक्चंदनादिकं । विनीयते निराक्रियन्ते संक्रमणोदयोदीरणादिभावेन प्राप्यते येन कर्माणि तद्विनयकर्म । शुश्रूषणं तत्क्रिया कर्म कर्तव्यं केन कस्य कर्तव्यं कथमिव केन विधानेन कर्त्तव्यं कस्मिन्नवस्थाविशेषे कर्त्तव्यं कतिवारान् ॥५७८॥

तथा—

कदि ओणदं कदि सिरं कदिए आवत्तगेहिं परिसुद्धं ।
कदिदोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं ॥५७९॥

कदि ओणदं—कियन्त्यवनतानि । कति करमुकुलांकितेन शिरसा भूमिस्पर्शनानि कर्त्तव्यानि । **कदि सिरं**—कियन्ति शिरांसि कतिवारान् शिरसि करकुड्मलं कर्त्तव्यं । **कदि आवत्तगेहिं परिसुद्धं**—कियद्भिरावर्त्तकैः परिशुद्धं कतिवारान्मनोवचनकाया आवर्त्तनीया । **कदि दोसविप्पमुक्कं**—कति दोषैर्विप्रमुक्तं कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यमिति ॥५७९॥

का उपाय कृतिकर्म है।

चितिकर्म—जिस अक्षर समूह से या परिणाम से अथवा क्रिया से तीर्थंकरत्व आदि पुण्य कर्म का चयन होता है—सम्यक् प्रकार से अपने साथ एकीभाव होता है या संचय होता है, वह पुण्य संचय का कारणभूत चितिकर्म कहलाता है।

पूजाकर्म—जिन अक्षर आदिकों के द्वारा अरिहंत देव आदि पूजे जाते हैं—अर्चे जाते हैं ऐसा बहुवचन से उच्चारण कर उनको जो पुष्पमाला, चन्दन आदि चढ़ाये जाते हैं वह पूजा-कर्म कहलाता है।

विनयकर्म—जिसके द्वारा कर्मों का निराकरण किया जाता है अर्थात् कर्म संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भाव से प्राप्त करा दिये जाते हैं वह विनय है जोकि शुश्रूषा रूप है।

वह वन्दनाक्रिया नामक आवश्यककर्म किसे करना चाहिए? किसकी करना चाहिए? किस विधान से करना चाहिए? किस अवस्थाविशेष में करना चाहिए? और कितनी बार करना चाहिए? इस आवश्यक के विषय में ऐसी प्रश्नमाला होती है।

उसी प्रकार से और भी प्रश्न होते हैं—

गाथार्थ—कितनी अवनति, कितनी शिरोनति, कितने आवर्तों से परिशुद्ध, कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए ॥५७९॥

आचारवृत्ति—हाथों को मुकुलित जोड़कर, मस्तक से लगाकर शिर से भूमि स्पर्श करके जो नमस्कार होता है उसे अवनति या प्रणाम कहते हैं। वह अवनति कितने बार करना चाहिए? मुकुलित—जुड़े हुए हाथ पर मस्तक रखकर नमस्कार करना शिरोनति है सो कितनी होनी चाहिए? मनवचनकाय का आवर्तन करना या अंजुलि, जुड़े हाथों को घुमाना सो आवर्त है—यह कितनी बार करना चाहिए? एवं कितने दोषों से रहित यह कृतिकर्म होना चाहिए?

इति प्रश्नमालाया कृताया तावत्कृति[1]कर्मविनयकर्मणोरेकार्थं इति कृत्वा विनयकर्मण. सप्रयोजनां निरुक्तिमाह—

जह्मा विणेदि[2] कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य ।
तह्मा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा ॥५८०॥

यस्माद्विनयति विनाशयति कर्माष्टविध चातुरगात्ससारान्मोक्षश्च यस्माद्विनयात्तस्माद्विद्वांसो विलीनसमारा विनय इति वदति ॥५८०॥

यस्माच्च—

पुव्वं चेव य विणओ परूविदो जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
सव्वासु कम्मभूमिसु णिच्चं मोक्खमग्गम्मि ॥५८१॥

यतश्च पूर्वस्मिन्नेव काले विनय. प्ररूपितो जिनवरैं सर्वैं सर्वासु कर्मभूमिषु सप्तत्यधिकक्षेत्रेषु नित्य सर्वकाल मोक्षमार्गे मोक्षमार्गहेतोस्तस्मान्नार्वाक्कालिको रथ्यापुरुषप्रणीतो वा शकाऽत्र न कर्तव्या निश्चयेनात्र प्रवर्तितव्यमिति ॥५८१॥

कतिप्रकारोऽसौ विनय इत्याशकायामाह—

लोगाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य ।
भयविणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य ॥५८२॥

इस प्रकार से प्रश्नमाला के करने पर पहले कृतिकर्म और विनयकर्म का एक ही अर्थ है इसलिए विनयकर्म की प्रयोजन सहित निरुक्ति को कहते है—

गाथार्थ—जिससे आठ प्रकार का कर्म नष्ट हो जाता है और चतुरग ससार से मोक्ष हो जाता है इस कारण मे ससार से रहित विद्वान् उसे 'विनय' कहते है ॥५८०॥

आचारवृत्ति--जिस विनय से कर्मो का नाश होता है और चतुर्गति रूप ससार से मुक्ति मिलती है इससे ससार का विलय करनेवाले विद्वान् उसे 'विनय' यह सार्थक नाम देते है।

क्योकि—

गाथार्थ—पूर्व मे सभी जिनवरो ने सभी कर्मभूमियो मे मोक्षमार्ग के कथन में नित्य ही उस विनय का प्ररूपण किया है ॥५८१॥

आचारवृत्ति—क्योंकि पूर्वकाल मे भी सभी जिनवरो ने एक सौ सत्तर कर्मभूमियो मे हमेशा ही मोक्ष मार्ग के हेतु मे विनय का प्ररूपण किया है, इसलिए यह विनय आजकल के लोगो द्वारा कथित है या रथ्यापुरुष—पागलपुरुष—यत्र तत्र फिरनेवाले पुरुष के द्वारा कथित है, ऐसा नही कह सकते । अतः इसमे शका नही करनी चाहिए प्रत्युत इस विनय कर्म में निश्चय से प्रवृत्ति करनी चाहिए । अर्थात् यह विनयकर्म सर्वज्ञदेव द्वारा कथित है ।

कितने प्रकार का यह विनय है ? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—लोकानुवृत्ति विनय, अर्थनिमित्त विनय, कामतन्त्रविनय, चौथा भयविनय और पाँचवाँ मोक्षविनय है ॥५८२॥

---

१ क 'कर्मण. विनयकर्मणो' । २ क विणेयदि ।

लोकस्यानुवृत्तिरनुवर्त्तनं लोकानुवृत्तिर्नाम प्रथमो विनयः, अर्थस्य निमित्तमर्थनिमित्तं कार्यहेतुर्विनयो द्वितीय., कामतन्त्रे कामतन्त्रहेतु. कामानुष्ठाननिमित्त तृतीयो विनयः, भयविनयश्चतुर्थ [1] भयकारणेन यः क्रियते विनयः स चतुर्थः, पंचमो मोक्षविनयः; एव कारणेन पचप्रकारो विनय इति ।।५८२।।

तत्रादौ तावल्लोकानुवृत्तिविनयस्वरूपमाह—

अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च अतिहिपूजा य ।
लोगाणुवत्तिविणओ देवदपूया सविहवेण ।।५८३।।

अभ्युत्थान कस्मिश्चिदागते आसनादुत्थानं प्रांजलिरजलिकरण स्वावासमागतस्यासनदान तथाऽतिथिपूजा च मध्याह्नकाले आगतस्य साधोरन्यस्य वा धार्मिकस्य बहुमान देवतापूजा च स्वविभवेन स्ववित्तानुसारेण देवपूजा च तदेतत्सर्वं लोकानुवृत्तिर्नाम विनयः ।।५८३।।

तथा—

भासाणुवत्ति छंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च ।
लोकाणुवत्तिविणओ अंजलिकरणं च अत्थकदे ।।५८४।।

भाषाया वचनस्यनुवृत्तेरनुवर्त्तन यथासौ वदति तथा सोऽपि भणति भाषानुवृत्ति, छदानु-

आचारवृत्ति—लोक की अनुकूलता करना सो लोकानुवृत्ति का पहला विनय है। अर्थ—कार्य के हेतु विनय करना दूसरा अर्थनिमित्त विनय है। काम के अनुष्ठान हेतु विनय करना कामतन्त्र नाम का तीसरा विनय है। भय के कारण से विनय करना यह चौथा भय विनय है। और मोक्ष के हेतु विनय पाँचवाँ मोक्षविनय है।

उनमे से पहले लोकानुवृत्ति विनय का स्वरूप कहते है—

गाथार्थ—उठकर खडे होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथि की पूजा करना, और अपने विभव के अनुसार देवो की पूजा करना यह लोकानुवृत्ति विनय है ।।५८३।।

आचारवृत्ति—किसी के अर्थात् बड़ो के आने पर आसन से उठकर खडे होना, अजुलि जोड़ना, अपने आवास में आये हुए को आसन देना, अतिथि पूजा—मध्याह्न काल मे आये हुए साधु या अन्य धार्मिकजन अतिथि कहलाते हैं उनका बहुमान करना, और अपने विभव या धन के अनुसार देवपूजा करना, सो यह सब लोकानुवृत्ति नाम का विनय है।

तथा—

गाथार्थ—अनुकूल वचन बोलना, अनुकूल प्रवृत्ति करना, देशकाल के योग्य दान देना, अंजुलि जोड़ना और लोक के अनुकूल रहना सो लोकानुवृत्ति विनय है तथा अर्थ के निमित्त से ऐसा ही करना अर्थविनय है ।।५८४।।

आचारवृत्ति—भाषानुवृत्ति—जैसे वे बोलते है वैसे ही बोलना, छन्दानुवर्तन—उनके अभिप्राय के अनुकूल आचरण करना, देश के योग्य और काल के योग्य दान देना—

1 क °र्थः पंचमो ।

वर्त्तनं तदभिप्रायानुकूलाचरण, देशयोग्य कालयोग्य च यद्दान स्वद्रव्योत्सर्गस्तदेतत्सर्वं लोकानुवृत्तिविनयो लोकात्मीकरणार्थो यथाऽत्र विनयोऽजलिकरणादिक प्रयुज्यते तथाऽजलिकरणादिको योऽर्थनि¹मित्त क्रियते सोऽर्थहेतु ॥५८४॥

तथा—

एमेव कामतंते भयविणओ चेव आणुपुव्वीए।
पंचमओ खलु विणओ परूवणा तस्सिमा होदि ॥५८५॥

यथा लोकानुवृत्तिविनयो व्याख्यातस्तथैव कामतन्त्रो भयार्थश्च भवति आनुपूर्व्या विशेषाभावात्, य पुन पचमो विनयस्तस्येय प्ररूपणा भवतीति ॥५८५॥

दसणणाणचरित्ते तवविणओ ओवचारिओ चेव।
मोक्खह्मि एस विणओ पचविहो होदि णायव्वो ॥५८६॥

दर्शनज्ञानचारित्रतप औपचारिकभेदेन मोक्षविनय एषः पचप्रकारो भवति ॥५८६॥

स पचाचारे यद्यपि विस्तरेणोक्तस्तथाऽपि विस्मरणशीलशिष्यानुग्रहार्थं सक्षेपत पुनरुच्यत इति—

अपने द्रव्य का त्याग करना यह सब लोकानुवृत्ति विनय है, क्योंकि यह लोक को अपना करने के लिए अजुलि जोड़ना आदि यथार्थ विनय किया जाता है। उसी प्रकार से जो अर्थ के निमित्त—प्रयोजन के लिए अजुलि जोडना आदि उपर्युक्त विनय किया जाता है वह अर्थनिमित्त विनय है।

भावार्थ—सामने वाले के अनुकूल वचन बोलना, उसी के अनुकूल कार्य करना आदि जो विनय लोगो को अपना बनाने के लिए किया जाता है वह लोकानुवृत्ति विनय है और जो कार्य सिद्धि के लिए उपर्युक्त क्रियाओ का करना है सो अर्थनिमित्त विनय है।

उसी प्रकार से कामतन्त्र और भय विनय को कहते है—

गाथार्थ—इसी प्रकार से कामतन्त्र मे विनय करना कामतन्त्र विनय है और इसी क्रम से भय हेतु विनय करना भय विनय है। निश्चय से पचम जो विनय है उसकी यह—आगे प्ररूपणा होती है ॥५८५॥

आचारवृत्ति—जैसे लोकानुवृत्ति विनय का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार से काम के निमित्त विनय कामतन्त्र विनय है तथा वैसे ही क्रम से भय-निमित्त विनय भयविनय है। इनमें कोई अन्तर नही है अर्थात् अभिप्राय मात्र का अन्तर है, क्रियाओ मे कोई अन्तर नही है। अब जो पाँचवाँ मोक्ष विनय है उसकी आगे प्ररूपणा करते हैं।

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप मे विनय तथा औपचारिक विनय यह पाँच प्रकार का मोक्ष विनय जानना चाहिए ॥५८६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

यह मोक्ष विनय यद्यपि पचाचार के वर्णन मे विस्तार से कहा गया है फिर भी विस्मरणशील शिष्यो के अनुग्रह के लिए पुन. सक्षेप से कहा जाता है—

---

१ क °र्थंगतोनि°।

जे दव्वपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे ।
ते तह सद्दहदि णरो दंसणविणओत्ति णादव्वो ॥५८७॥

ये द्रव्यपर्याया खलूपदिष्टा जिनवरैः श्रुतज्ञाने तांस्तथैव श्रद्दधाति यो नरः स दर्शनविनय इति ज्ञातव्यो भेदोपचारादिति ॥५८७॥

अथ ज्ञाने किमर्थं विनयः क्रियते इत्याशंकायामाह—

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि ।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ ॥५८८॥

यस्माज्ज्ञानी गच्छति मोक्ष जानाति वा गतेर्ज्ञानगमनप्राप्त्यर्थकत्वात्, यस्माच्च ज्ञानी वचति परिहरति पाप यस्माच्च ज्ञानी नव कर्म नाददाति न बध्यते कर्मभिरिति यस्माच्च ज्ञानेन करोति चरणं चारित्रं तस्माच्च ज्ञाने भवति विनय कर्त्तव्य इति ॥५८८॥

अथ चारित्रे विनयः किमर्थं क्रियत इत्याशंकायामाह—

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो ।
णवकम्मं ण य बंधदि चारित्तविण ओत्ति णादव्वो ॥५८९॥

चिरतनकर्मरजश्चर्यया चारित्रेण रिक्त तुच्छं करोति यतमानश्चेष्टमानो नव कर्म च न बध्नाति यस्मात्, तस्माच्चारित्रे विनयो भवति कर्त्तव्य इति ज्ञातव्यः ॥५८९॥

गाथार्थ—जिनेन्द्रदेवों ने श्रुतज्ञान मे निश्चय से जिन द्रव्य पर्यायों का उपदेश दिया है मनुष्य उनका वैसा ही श्रद्धान करता है वह दर्शनविनय है ऐसा जानना चाहिए ॥५८७॥

आचारवृत्ति—जिनवरों ने द्रव्यादिकों का जैसा उपदेश दिया है जो मनुष्य उनका वैसा ही श्रद्धान करता है वह मनुष्य ही दर्शनविनय है। यहाँ पर गुण-गुणी में अभेद का उपचार किया गया है।

अब ज्ञान की किसलिए विनय करना ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—ज्ञानी जानता है, ज्ञानी छोड़ता है, और ज्ञानी नवीन कर्म को नही ग्रहण करता है, ज्ञान से चारित्र का पालन करता है इसलिए ज्ञान में विनय होवे ॥५८८॥

आचारवृत्ति—जिस हेतु से ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा जानता है। गति अर्थ वाले धातु ज्ञान, गमन और प्राप्ति अर्थवाले होते है ऐसा व्याकरण का नियम है अतः यहाँ गच्छति का जानना और प्राप्त करना अर्थ किया है। जिससे ज्ञानी पाप की वचना—परिहार करता है और नवीन कर्मों से नही बँधता है तथा ज्ञान से चारित्र को धारण करता है इसीलिए ज्ञान में विनय करना चाहिए।

चारित्र में विनय क्यों करना ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ साधु चारित्र से पुराने कर्मरज को खाली करता है और नूतन कर्म नहीं बाँधता है इसलिए उसे चारित्रविनय जानना चाहिए ॥५८९॥

आचारवृत्ति—यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ मुनि अपने आचरण से चिरकालीन कर्मधूलि को तुच्छ—समाप्त या साफ कर देता है तथा नूतन कर्मों का बंध नहीं करता है अतः चारित्र में विनय करना चाहिए।

तथा तपोविनयप्रयोजनमाह—

अवणयदि तवेण तमं उवणयदि मोक्खमग्गमप्पाणं।
तवविणयणियमिदमदी सो तवविणग्रो त्ति णादव्वो ॥५६०॥'

इत्येवमादिगाथानां 'आयारजीदा'दिगाथापर्यन्ताना तप आचारेर्थ' प्रतिपादित इति कृत्वा नेह प्रतन्यते पुनरुक्तदोषभयादिति ॥५६०॥

यतो विनय. शासनमूल यतश्च विनयः शिक्षाफलम्—

तह्मा सव्वपयत्तेण विणयत्तं मा कदाइ छंडिज्जो।
अप्पसुदो विय पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण ॥५६१॥

यस्मात्सर्वप्रयत्नेन विनयत्व नो कदाचित्परिहरेत् भवान् यस्मादल्पश्रुतोऽपि पुरुष क्षपयति कर्माणि विनयेन तस्माद्विनयो न त्याज्य इति ॥५६१॥

कृतिकर्मण प्रयोजन त दत्वा प्रस्तुताया' प्रश्नमालायास्तावदसौ केन कर्तव्य तत्कृतिकर्म यत्पृष्ट तस्योत्तरमाह—

पंचमहव्वयगुत्तो संविग्गोऽणालसो अमाणी य।
किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणइ सदा ऊणरादिणिओ ॥५६२॥

अब तपोविनय का प्रयोजन कहते हैं—

गाथार्थ—तप के द्वारा तम को दूर करता है और अपने को मोक्षमार्ग के समीप करता है। जो तप के विनय में बुद्धि को नियमित कर चुका है वह ही तपोविनय है ऐसा जानना चाहिए ॥५६०॥

आचारवृत्ति—गाथा का अर्थ स्पष्ट है। इसी प्रकार से पूर्व में' 'आयार'जीदा आदि गाथा पर्यंत तप आचार में तप विनय का विस्तृत वर्णन किया गया है।' इसलिए यहाँ पर विस्तार नही करते है, क्योकि वैसा करने से पुनरुक्त दोष आ जाता है।

विनय शासन का मूल है और विनय शिक्षा का फल है, इसी बात कहते हैं—

गाथार्थ—इसलिए सभी प्रयत्नों से विनय को कभी भी मत छोड़ो क्योंकि अल्पश्रुत का धारक भी पुरुष विनय से कर्मों का क्षपण कर देता है ॥५६१॥

आचारवृत्ति—अत सर्व प्रयत्न करके विनय को कदाचित् भी मत छोड़ो, क्योंकि अल्पज्ञानी पुरुष भी विनय के द्वारा कर्मो का नाश कर देता है इसलिए विनय को सदा काल करते रहना चाहिए।

कृतिकर्म अर्थात् विनय कर्म का प्रयोजन दिखलाकर अब प्रस्तुत प्रश्नमाला में जो पहला प्रश्न था कि 'वह कृतिकर्म किसे करना चाहिए ?' उसका उत्तर देते हैं—

गाथार्थ—जो पाँच महाव्रतो से युक्त है, सवेगवान है, आलसरहित है और मान रहित है ऐसा एक रात्रि भी छोटा मुनि निर्जरा का इच्छुक हुआ हमेशा कृतिकर्म को करे।

---

१. गाथा ३६४ से लेकर गाथा ३८८ तक विनय का व्याख्यान किया गया है।
२. गाथा ३८७।

पंचमहाव्रतैर्गुप्त पंचमहाव्रतानुष्ठानपरः संविग्नो धर्मफलयोर्विषये हर्षोत्कंठितदेहोऽनालसः उद्योगवान् अमाणीय अमानी च परित्यक्तमानकषायो निर्जरार्थी ऊनरात्रिको दीक्षया लघुर्य एवं स कृतिकर्म करोति सदा सर्वकाल, पंचमहाव्रतयुक्तेन परलोकार्थिना विनयकर्म कर्तव्यं भवतीति सम्बन्धः ॥५९२॥

कस्य तत्कृतिकर्म कर्तव्य यत्पृष्ट तस्योत्तरमाह—

आइरियउवज्झायाणं पवत्तयत्थेरगणधरादीण ।
एदेसिं किदियम्मं कादव्वं णिज्जरट्ठाए ॥५९३॥

तेषामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणधरादीनां कृतिकर्म कर्तव्य निर्जरार्थं न मन्त्रतन्त्रोपकरणायेति ॥५९३॥

एते पुन. क्रियाकर्मायोग्या इति प्रतिपादयन्नाह—

णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं व ।
देसविरद देवं वा विरदो पासत्थपणगं वा ॥५९४॥

णो वदिज्ज न वदेत न स्तुयात् क अविरदमविरतमसयत मातर जननी पितर जनक गुरु दीक्षागुरु श्रुतगुरुमप्यसयत चरणादिशिथिल नरेन्द्र राजान अन्यतीर्थिक पाखडिन वा देशविरत श्रावक शास्त्रादि-

---

आचारवृत्ति—जो पाँच महाव्रतो के अनुष्ठान मे तत्पर है, धर्म और धर्म के फल में जिनका शरीर हर्ष से रोमाचित हो रहा है, आलस्य रहित—उद्यमवान् हैं, मान कषाय से रहित हैं, कर्म निर्जरा के इच्छुक है ऐसे मुनि दीक्षा मे एक रात्रि भी यदि लघु हैं तो वे सर्वकाल गुरुओं की कृतिकर्मपूर्वक वन्दना करे। अर्थात् मुनियो को अपने से बडे मुनियों की कृतिकर्म पूर्वक विनय करना चाहिए। यहाँ पर कृतिकर्म करनेवाले का वर्णन किया है।

किसका वह कृतिकर्म करना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते है—

गाथार्थ—निर्जरा के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर का कृतिकर्म करना चाहिए ॥५९३॥

आचारवृत्ति—इन आचार्य आदिको का कृतिकर्म—विनय कर्म कर्मों की निर्जरा के लिए करे, मन्त्र-तन्त्र या उपकरण के लिए नही।

पुनः जो विनयकर्म के अयोग्य है उनका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—अविरत माता-पिता व गुरु की, राजा की, अन्य तीर्थ की, या देशविरत की, अथवा देवों की या पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि की वह विरत मुनि वन्दना न करे ॥५९४॥

आचारवृत्ति—असयत माता-पिता की, असंयत गुरु की अर्थात् दीक्षा-गुरु यदि चारित्र में शिथिल—भ्रष्ट हैं या श्रुतगुरु यदि असयत हैं अथवा चारित्र मे शिथिल हैं तो संयत मुनि इनकी वन्दना न करे। वह राजा की, पाखंडी साधुओ की, शास्त्रादि से प्रौढ़ भी देशव्रती श्रावक की या नाग, यक्ष, चन्द्र सूर्य, इन्द्रादि देवों की भी वन्दना न करे। तथा पार्श्वस्थ आदि

शैक्षमपि देव वा नागयक्षचन्द्रसूर्येन्द्रादिक वा विरतः सयतः सन् पार्श्वस्थपणक वा ज्ञानदर्शनचारित्रशिथिलान् पंचप्रकारानिर्ग्रन्थानपि सयत स्नेहादिना पार्श्वस्थपणक न वदेत मातरमसयतां पितरमसयत अन्यं च मोहादिना न स्तुयात् भयेन लोभादिना वा नरेन्द्र न स्तुयात् ग्रहादिपीडाभयाद्वेव सूर्यादिकं न पूजयेत् शास्त्रादिलोभेनान्यतीर्थिक न स्तुयादाहारादिनिमित्त श्रावकं न स्तुयात्। आत्मगुरुमपि विनष्ट न वदेत तथा वाशब्दसूचितानन्यानपि स्वोपकारिणोऽसयतान्न स्तुयादिति ॥५६४॥

इति के ते पच पार्श्वस्था इत्याशकायामाह—

पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दसणण।णचरित्ते अणिउत्ता मदसंवेगा ॥५६५॥

सयतगुणेभ्य पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ वसतिकादिप्रतिबद्धो मोहबहुलो रात्रिंदिवमुपकरणाना कारकोऽसयतजनसेवी सयतजनेभ्यो दूरीभूत, कुत्सित शील आचरण स्वभावो वा यस्यासौ कुशील: क्रोधादिकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैश्च परिहीन. सघास्यापश करणकुशल, सम्यगसयतगुणेष्वाशक्त सशक्त आहारादिगृद्धया वैद्यमन्त्रज्योतिषादिकुशलत्वेन प्रतिबद्धो राजादिसेवातत्पर, ओसण्णोऽपगतसज्ञोऽपगता विनष्टा सज्ञा सम्यग्ज्ञानादिक यस्यासौ अपगतसज्ञश्चारित्राद्यपहीनो जिनवचनमजानञ्चारित्रादिप्रभ्रष्ट.

पाँच प्रकार के मुनि जोकि निर्ग्रंथ होते हुए भी दर्शन ज्ञान चारित्र मे शिथिल है इनकी भी वन्दना न करे।

विरत मुनि मोहादि से असयत माता-पिता आदि की, या अन्य किसी की स्तुति न करे। भय से या लोभ आदि से राजा की स्तुति न करे। ग्रहो की पीड़ा आदि के भय से सूर्य आदि को पूजा न करे। शास्त्रादि ज्ञान के लोभ से अन्य मतावलम्बी पाखडी साधुओ की स्तुति न करे। आहार आदि के निमित्त श्रावक की स्तुति न करे, एव स्नेह आदि से पार्श्वस्थ आदि मुनियो की स्तुति न करे। तथैव अपने गुरु भी यदि हीनचारित्र हो गये है तो उनकी भी वन्दना न करे तथा अन्य भी जो अपने उपकारी है किन्तु असयत हैं उनकी वन्दना न करे।

वे पाँच प्रकार के पार्श्वस्थ कौन है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त, अपसज्ञक और मृगचरित्र ये पाँचो दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे नियुक्त नही है एव मन्द संवेग वाले है ॥५६५॥

आचारवृत्ति—जो सयमी के गुणो से 'पार्श्वे तिष्ठति' 'पास मे—निकट में रहते हैं वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं। ये मुनि वसतिका आदि से प्रतिबद्ध रहते हैं अर्थात् वसतिका आदि मे अपनेपन की भावना रखकर उनमे आसक्त रहते हैं, इनमें मोह की बहुलता रहती है, ये रात-दिन उपकरणो के बनाने मे लगे रहते हैं, असयतजनो की सेवा करते हैं और सयमीजनों से दूर रहते हैं अत: ये पार्श्वस्थ इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं।

कुत्सित-शील—आचरण या खोटा स्वभाव जिनका है वे 'कुशील' कहलाते है। ये क्रोधादि कषायो से कलुषित रहते है, व्रत गुण और शीलो से हीन हैं, संघ के साधुओं की निन्दा करने में कुशल रहते है, अत. ये कुशील कहे जाते है। जो अच्छी तरह से असयत गुणों में

करणालसः सांसारिकसुखमानसः, मृगस्येव पशोरिव चरित्रमाचरणं यस्यासौ मृगचरित्रः परित्यक्ताचार्योपदेशः स्वच्छन्दगतिरेकाकी जिनसूत्रदूषणस्तपःसूत्राद्यविनीतो धृतिरहितश्चेत्येते पंच पार्श्वस्था दर्शनज्ञानचारित्रेषु अनियुक्ताश्चारित्राद्यनुष्ठानपरा मंदसंवेगास्तीर्थधर्माद्यकृतहर्षाः सर्वदा न वंदनीया इति ॥५९५॥

पुनरपि स्पष्टमवन्दनायाः कारणमाह—

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकाल पासत्था।
एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणं ॥५९६॥

आसक्त हैं वे 'संसक्त' कहलाते हैं। ये मुनि आहार आदि की लंपटता से वैद्य-चिकित्सा, मन्त्र, ज्योतिष आदि में कुशलता धारण करते हैं और राजा आदि की सेवा में तत्पर रहते है। जिनकी संज्ञा—सम्यग्दर्शन आदि गुण अपगत—नष्ट हो चुके हैं वे 'अपसंज्ञक' कहलाते हैं। ये चारित्र आदि से हीन हैं, जिनेन्द्रदेव के वचनों को नहीं जानते हुए चारित्र आदि से परिभ्रष्ट हैं, तेरह प्रकार की क्रियाओं मे आलसी हैं एवं जिनका मन सांसारिक सुखों में लगा हुआ है वे अपसंज्ञक इस सार्थक नामवाले हैं। मृग के समान अर्थात् पशु के समान जिनका चारित्र है वे 'मृगचरित्र' कहलाते हैं। ये आचार्यों का उपदेश नही मानते हैं, स्वच्छन्दचारी हैं, एकाकी विचरण करते हैं, जिनसूत्र—जिनागम में दूषण लगाते हैं, तप और श्रुत की विनय नहीं करते हैं, धैर्य रहित होते हैं, अतः 'मृगचरित्र'—स्वैराचारी होते हैं।

ये पाँचों प्रकार के मुनि 'पार्श्वस्थ' नाम से भी कहे जाते हैं। ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि के अनुष्ठान से शून्य रहते है, इन्हे तीर्थ और धर्म आदि में हर्ष रूप संवेग भाव नहीं होता है अतः ये हमेशा ही वन्दना करने योग्य नहीं हैं ऐसा समझना।

पुनरपि इनको वन्दना न करने का स्पष्ट कारण कहते है—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की विनय से ये नित्य ही पार्श्वस्थ है। ये गुण

---

*ये गाथायें फलटन से प्रकाशित कृति में अधिक हैं—

पाचो पार्श्वस्थ आदि का लक्षण गाथा द्वारा कहा गया है—

वसहीसु य पडिबद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ।
पास.थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई ॥

अर्थ—जो वसतिओ मे आसक्त हैं, जो उपकरणो को बनाता रहता है, जो मुनियो के मार्ग का दूर से आश्रय करता है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं।

कोहादिकलुसिदप्पा वयगुणसीलेहि चावि परिहीणो।
संघस्स अयसकारी कुसीलसमणो त्ति णायव्वो ॥

अर्थ—जिसने क्रोधादिकों से अपने को कलुषित कर रखा है, व्रतगुण और शीलों से हीन हैं, सघ का अपयश करने वाला है वह कुशील श्रमण है ऐसा जानना।

वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिबद्धो।
रायादी सेवंओ संसत्तो णाम सो होई ॥

अर्थ—वैद्यशास्त्र, मन्त्रशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र मे कुशल होने से उनमे आसक्ति रखते हैं अर्थात्

दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेभ्यो नित्यकालं पार्श्वस्था दूरीभूता यतोऽत एते न वंदनीयाश्छिद्रप्रेक्षिणः सर्वकालं गुणधराणा च छिद्रान्वेषिण संयतजनस्य दोषोद्भाविनो यतोऽतो न वंदनीया एतेऽन्ये वेति ॥५९६॥

के तर्हि वंद्यंतेऽत आह—

समणं वंदिज्ज मेधावी संजद सुसमाहिदं ।
पंचमहव्वदकलिदं असंजमदुगंछयं धीरं ॥५९७॥

हे मेधाविन् ! चारित्राद्यनुष्ठानतत्पर ! श्रमण निर्ग्रन्थरूपं वंदेत पूजयेत् किंविशिष्ट संयतं चारित्राद्यनुष्ठानतन्निष्ठ । पुनरपि किंविशिष्ट ? सुसमाहित ध्यानाध्ययनतत्पर क्षमादिसहित पंचमहाव्रतकलितं असयमजुगुप्सक प्राणेन्द्रियसयमपर धीर धैर्योपेत चागमप्रभावनाशील सर्वगुणोपेतमेव विशिष्टं स्तूयादिति ॥५९७॥

तथा—

धारियो के छिद्र देखनेवाले है अतः ये वन्दनीय नही हैं ॥५९६॥*

आचारवृत्ति—दर्शन ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों की विनय से ये नित्यकाल दूर रहते हैं अतः ये वन्दनीय नही हैं। क्योंकि ये गुणो से युक्त सयमियो का दोष उद्भावन करते रहते हैं इसलिए इन पार्श्वस्थ आदि मुनियो की वन्दना नहीं करनी चाहिए।

तो कौन वन्दनीय है ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—हे बुद्धिमन् ! पाँच महाव्रतों से सहित, असयम से रहित, धीर, एकाग्रचित्तवाले संयत ऐसे मुनि की वन्दना करो ॥५९७॥

आचारवृत्ति—हे चारित्रादि अनुष्ठान मे तत्पर विद्वन् मुने ! तुम ऐसे निर्ग्रंथरूप श्रमण की वन्दना करो जो चारित्रादि के अनुष्ठान में निष्ठ है, ध्यान अध्ययन में तत्पर रहते हैं, क्षमादि गुणों से सहित हैं, पाँच महाव्रतो से युक्त हैं, असंयम के जुगुप्सक—प्राणी संयम और इन्द्रिय सयम मे परायण है, धैर्यगुण से सहित हैं, आगम की प्रभावना करने के स्वभावी हैं इन सर्वगुणो से सहित मुनियो की वन्दना व स्तुति करो।

उसी प्रकार से और भी बताते है—

हमेशा इन्ही के प्रयोग मे लगे रहते है, एव राजा आदिको की सेवा करते हैं उनको संसक्त मुनि कहते है।

जिणवयण मयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्टो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥

अर्थ—जो जिन वचनो को नही जानते हुए चारित्ररूपी धुरा को छोड़ चुके हैं, ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट हैं, तेरह विध क्रियाओ मे आलसी हैं, उनको अपसंज्ञक मुनि कहते हैं।

आयरियकुलं मुच्चा विहरइ एगागिणो य जो समणो ।
जिणवयणं णिंदतो सच्छंदो होइ मिगचारी ॥

अर्थ—आचार्य के सघ को छोडकर जो एकाकी विहार करते है, जिनवचनों की निन्दा करते हैं, स्वच्छन्द प्रवृत्ति रखते है, वे मृगचारी मुनि कहलाते हैं।

दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकालमुवजुत्ता ।
एदे खु वदणिज्जा जे गुणवादी गुणधराणं ।।५९८।।

दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेषु नित्यकालमभीक्ष्णमुपयुक्ता: सुष्ठु निरता ये ते एते वंदनीया गुणधराणां शीलधराणां च गुणवादिनो ये च ते वंदनीया इति ।।५९८।।

संयतमप्येवं स्थितमेतेषु स्थानेषु च न वदेतेत्याह—

वाखित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो ।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि ।।५९९।।*

व्याक्षिप्त [1]ध्यानादिनाकुलचित्त परावृत्त पराङ्मुख पृष्ठदेशत: स्थित प्रमत्त निद्राविकथादिरतं मा कदाचिद् वदिज्ज नो वदेत सयतमिति सबधस्तथाऽऽहार च कुर्वन्त भोजनक्रिया कुर्वाण नीहार वा मूत्रपुरीषादिक यदि करोति तदाऽपि नो कुर्वीत वदना साधुरिति ।।५९९।।

गाथार्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके विनयों में हमेशा लगे रहते हैं, जो गुणधारी मुनियों के गुणों का बखान करते हैं वास्तव मे वे मुनि वन्दनीय है ।।५९८।।

आचारवृत्ति—गाथा सरल है ।

संयत भी यदि इस तरह स्थित हैं तो उन स्थानों में उनकी भी वन्दना न करे, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो व्याकुलचित्त हैं, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं, या प्रमाद सहित है उनकी भी कभी उस समय वन्दना न करे और यदि आहार कर रहे हैं अथवा नीहार कर रहे हैं उस समय भी वन्दना न करे ।।५९९।।*

आचारवृत्ति—व्याक्षिप्त—ध्यान आदि से आकुलचित्त है, पीठ फेर कर बैठे हुए हैं, प्रमत्त—निद्रा या विकथा आदि में लगे हुए हैं, आहार कर रहे हैं या मल-मूत्रादि विसर्जन कर रहे हैं। संयमी मुनि भी यदि इस प्रकार की स्थिति में है तो साधु उस समय उनकी भी वन्दना न करे।

---

1 क व्याख्यानदिना व्याकु ।

*ये गाथाएँ फलटन से प्रकाशित प्रति मे अधिक हैं—

वसदिविहारे काइयसण्णा भिक्खाविहारभूमीदो ।
चेदिय पुरगामादो गुरुम्हि एदे समुट्ठंति ।।

अर्थ—वसतिका मे अथवा आश्रम मे शरीर शुद्धि करके, विहार भूमि से—आश्रम से निकलकर, चैत्यवन्दना कर, और आहार लेकर गुरु के वापस आने पर शिष्य आदर से खड़े होते हैं।

असमाणेहि गुरुम्हि य वसभयउवके विएस चेव वदी ।
तेसु य असमाणेसु य पुज्जो सव्वजेट्ठो सो ।।

अर्थ—गुरु—आचार्य के अभाव मे उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ऐसे श्रेष्ठ मुनि का विनय यह व्रती—शिष्य मुनि करे। और यदि उपाध्याय आदि भी न हो तो सघ में जिनकी हितकर प्रवृत्ति है अर्थात् जो दीक्षा गुण आदि में बड़े हैं उनकी विनय-वन्दना करे।

केन विधानेन स्थितो वंद्य इत्याशंकायामाह—

> **आसणे आसणत्थं च उवसंत उवट्ठिदं।**
> **अणु[1]विण्णय मेधावी किदियम्म पउंजदे ॥६००॥**

आसने विविक्तभूप्रदेशे आसनस्थ पर्यंकादिना व्यवस्थितं अथवा आसने आसनस्थमव्याक्षिप्तमपराङ्मुखमुपशात स्वस्थचित्त उपस्थित वदना कुर्वीत इति स्थित अनुविज्ञाप्य वन्दना करोमीति संबोध्य मेधावी प्राज्ञोऽनेन विधानेन कृतिकर्म प्रारभेत प्रयुंजीत विदधीतेत्यर्थ ॥६००॥

कथमिव गत सूत्र वंदनाया स्थानमित्याह—

> **आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूयणे य सज्झाए।**
> **अवराहे य गुरूण वंदणमेदेसु ठाणेसु ॥६०१॥**

आलोचनाया करणे आलोचनाकालेऽथवा करणे षडावश्यककाले परिप्रश्ने प्रश्नकाले पूजने पूजाकाले च स्वाध्याये स्वाध्यायकालेऽपराधे क्रोधाद्यपराधकाले च गुरूणामाचार्योपाध्यायादीना वदनैतेषु स्थानेषु कर्तव्येति ॥६०१॥

भावार्थ—यह प्रकरण मुख्यतया साधु के लिए है अत आहार करते समय श्रावक यदि उन्हे आहार देने आते हैं तो 'नमोस्तु' करके ही आहार देते हैं।

किस विधान से स्थित हो तो वन्दना करे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—जो आसन पर बैठ हुए है, शातचित्त है एव सन्मुख मुख किए हुए हैं उनकी अनुज्ञा लेकर विद्वान् मुनि वन्दना विधि का प्रयोग करे ॥६००॥

आचारवृत्ति—एकात भूमिप्रदेश मे जो पर्यंक आदि आसन से बैठे हुए है अथवा आसन—पाटे आदि पर बैठे हुए हैं, जो शात—निराकुल चित्त हैं, अपनी तरफ मुख करके बैठे हुए हैं, स्वस्थ चित्त है, उनके पास आकर—'हे भगवन् ! मैं वन्दना करूँगा' ऐसा सम्बोधन करके विद्वान् मुनि इसविधि से कृतिकर्म—विधिपूर्वक वन्दना प्रारम्भ करे। इस प्रकार से वन्दना किनकी करना और कैसे करना इन दो प्रश्नो का उत्तर हो चुका है।

अब वन्दना कब करना सो बताते है—

गाथार्थ—आलोचना के करने मे, प्रश्न पूछने में, पूजा करने मे, स्वाध्याय के प्रारम्भ मे और अपराध के हो जाने पर इन स्थानो मे गुरुओं की वन्दना करे ॥६०१॥

आचारवृत्ति—आलोचना के समय, करण अर्थात् छह आवश्यक क्रियाओं के समय, प्रश्न करने के समय, पूजन के समय, स्वाध्याय के समय और अपने से क्रोधादि रूप किसी अपराध के हो जाने पर गुरु—आचार्य, उपाध्याय आदिको की वन्दना करे। अर्थात् इन-इन प्रकरणो मे गुरुओं की वन्दना करनी होती है। 'किस स्थान मे वन्दना करना' जो यह प्रश्न था उसका उत्तर दे दिया है।

---

१ क अणुण्णचित्त मे°।

"कस्मिन्स्थाने" यदेतत्सूत्रं स्थापित तद्व्याख्यातमिदानी कतिवार कृतिकर्म कर्तव्यमिति यत्सूत्र स्थापित तद्व्याख्यानायाह—

चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥६०२॥

सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तवपर्यन्त [1]कृतिकर्मेत्युच्यते। प्रतिक्रमणकाले चत्वारि क्रियाकर्माणि स्वाध्यायकाले च त्रीणि क्रियाकर्माणि भवत्येव पूर्वाह्णे क्रियाकर्माणि सप्त तथाऽपराह्णे च क्रियाकर्माणि सप्तैवं पूर्वाह्णेऽपराह्णे च क्रियाकर्माणि चतुर्दश भवतीति। कथ प्रतिक्रमणे चत्वारि क्रियाकर्माणि, आलोचनाभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एक क्रियाकर्म तथा प्रतिक्रमणभक्तिकरणे कायोत्सर्ग. द्वितीय क्रियाकर्म तथा[2] वीरभक्तिकरणे कायोत्सर्गस्तृतीय क्रियाकर्म तथा चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकरणे शातिहेतो कायोत्सर्गश्चतुर्थं क्रियाकर्म। कथ च स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि, श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्ग एक क्रियाकर्म तथाऽऽचार्यभक्तिक्रियाकरणे द्वितीय क्रियाकर्म तथा स्वाध्यायोपसहारे श्रुतभक्तिकरणे कायोत्सर्गस्तृतीय क्रियाकर्मैव जातिमपेक्ष्य त्रीणि क्रियाकर्माणि भवति स्वाध्याये शेषाणा वदनादिक्रियाकर्मणामत्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्य.।

'अब कितनी वार कृतिकर्म करना चाहिए' जो यह प्रश्न हुआ था उसका व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण मे चार कृतिकर्म, स्वाध्याय मे तीन ये पूर्वाह्न और अपराह्न से सम्बन्धित ऐसे चौदह कृतिकर्म होते है ॥६०२॥

आचारवृत्ति—सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तवपर्यंत जो क्रिया है उसे 'कृतिकर्म' कहते है। प्रतिक्रमण मे चार कृतिकर्म और स्वाध्याय मे तीन कृतिकर्म इस तरह पूर्वाह्न सम्बन्धी क्रियाकर्म सात होते है तथा अपराह्न सम्बन्धी क्रियाकर्म भी सात होते है। ऐसे चौदह क्रियाकर्म होते है।

प्रतिक्रमण मे चार कृतिकर्म कैसे होते है ?

आलोचना भक्ति (सिद्धभक्ति) करने मे कायोत्सर्ग होता है वह एक क्रियाकर्म हुआ। प्रतिक्रमण भक्ति के करने मे कायोत्सर्ग होता है वह दूसरा क्रियाकर्म हुआ। वीर भक्ति के करने मे जो कायोत्सर्ग है वह तृतीय क्रियाकर्म हुआ तथा चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के करने में शान्ति के लिए जो कायोत्सर्ग है वह चतुर्थ क्रियाकर्म है। इस तरह प्रतिक्रमण मे चार क्रियाकर्म हुए।

स्वाध्याय मे तीन कृतिकर्म कैसे हैं ?

स्वाध्याय के प्रारम्भ मे श्रुतभक्ति के करने मे कायोत्सर्ग होता है वह एक कृतिकर्म है तथा आचार्य भक्ति की क्रिया करने मे जो कायोत्सर्ग है वह दूसरा कृतिकर्म है। तथा स्वाध्याय की समाप्ति मे श्रुतभक्ति करने मे जो कायोत्सर्ग है वह तीसरा कृतिकर्म है। इस तरह जाति की अपेक्षा तीन क्रियाकर्म स्वाध्याय में होते है। शेष वन्दना आदि क्रियाओं का इन्ही में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रधान पद का ग्रहण किया है जिससे पूर्वाह्न कहने से दिवस का और

१ क क्रियाकर्म°। २ क तथा महावीर°।

प्रधानपदोच्चारणं कृत यत पूर्वाह्णे दिवस इति एवमपराह्णे रात्रावपि द्रष्टव्य भेदाभावात् अथवा पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि स्वाध्याये त्रीणि वदनाया द्वे, सवितर्युदिते स्वाध्याये त्रीणि मध्याह्नवदनाया द्वे एव पूर्वाह्णक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवन्ति, तथाऽपराह्णवेलाया स्वाध्याये त्रीणि क्रियाकर्माणि प्रतिक्रमणे चत्वारि वदनाया द्वे योगभक्तिग्रहणोपसहारकालयो द्वे रात्रौ प्रथमस्वाध्याये त्राणि। एवमपराह्णक्रियाकर्माणि चतुर्दश भवति प्रतिक्रमणस्वाध्यायकालयोरुपलक्षणत्वादिति, अन्यान्यपि क्रियाकर्माण्यत्रैवान्तर्भवन्ति नाव्यापकत्वमिति सबन्ध । पूर्वाह्णसमीपकाल पूर्वाह्ण इत्युच्यतेऽपराह्णसमीपकालोऽपराह्ण इत्युच्यते तस्मान्न दोष इति ॥६०२॥

कत्यवनतिकरणमित्यादि यत्पृष्ट तदर्थमाह—

दोणदं तु जधाजाद बारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिर तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे ॥६०३॥

अपराह्ण कहने से रात्रि का भी ग्रहण हो जाता है, क्योकि पूर्वाह्ण से दिवस मे और अपराह्ण से रात्रि मे कोई भेद नही है।

अथवा पश्चिम रात्रि के प्रतिक्रमण मे क्रियाकर्म चार, स्वाध्याय मे तीन और वन्दना मे दो, सूर्य उदय होने के बाद स्वाध्याय के तीन, मध्याह्न वन्दना के दो इस प्रकार से पूर्वाण्ह सम्बन्धी क्रियाकर्म चौदह होते है। तथा अपराह्णवेला मे स्वाध्याय मे तीन क्रियाकर्म, प्रतिक्रमण में चार, वन्दना मे दो, योगभक्ति ग्रहण और उपसहार मे दो एव रात्रि मे प्रथम स्वाध्याय के तीन इस तरह अपराह्ण सम्बन्धी क्रियाकर्म चौदह होते है। गाथा मे प्रतिक्रमण और स्वाध्याय काल उपलक्षण रूप हैं इससे अन्य भी क्रियाकर्म इन्ही मे अन्तर्भूत हो जाते है। अत अव्यापक दोष नही आता है। चूँकि पूर्वाह्ण के समीप का काल पूर्वाह्ण कहलाता है और अपराह्ण के समीप का काल अपराह्ण कहलाता है इसलिए कोई दोष नही है।

भावार्थ—मुनि के अहोरात्र सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग कहे गये है। उन्ही का यहाँ वर्णन किया गया है। यथा दैवसिक-रात्रिक इन दो प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्ग ८, त्रिकालदेव वन्दना सम्बन्धी ६, पूर्वाह्ण, अपराह्ण, तथा पूर्वरात्रि और अपररात्रि इन चार काल मे तीन बार स्वाध्याय सम्बन्धी १२, रात्रियोग ग्रहण और विसर्जन इन दो समयो मे दो बार योगभक्ति सम्बन्धी २, कुल मिलाकर २८ होते है। अन्यत्र ग्रन्थो मे भी इनका उल्लेख है यथा—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे ।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः[1] ॥७५॥

अर्थ—स्वाध्याय के बारह, वन्दना के छह, प्रतिक्रमण के आठ और योगभक्ति के दो ऐसे अहोरात्र सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते है।

'कितनी अवनति करना ?' इत्यादि रूप जो प्रश्न हुए थे उन्हीं का उत्तर देते है—

गाथार्थ—जातरूप सदृश दो अवनति, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धि सहित कृतिकर्म का प्रयोग करे ॥६०३॥

---

१ अनगारधर्मामृत अ. ८, पृ० ५६७।

दोणद—द्वे अवनती पचनमस्कारादावेकावनतिर्भूमिसंस्पर्शस्तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ द्वितीया-ऽवनति शरीरनमन द्वे अवनती **जहाजादं**—यथाजात जातरूपसदृश क्रोधमानमायासगादिरहितं । **बारसाव-त्तमेव य** द्वादशावर्त्ता एव च पचनमस्कारोच्चारणादौ मनोवचनकायाना सयमनानि शुभयोगवृत्तयस्त्रय आवर्त्ता-स्तथा पचनमस्कारसमाप्तौ मनोवचनकायाना शुभवृत्तयस्त्रीण्यन्यान्यावर्त्तनानि तथा चतुर्विंशतिस्तवादौ मनो-वचनकाया शुभवृत्तयस्त्रीण्यपराण्यावर्त्तनानि तथा चतुर्विंशतिस्तवसमाप्तौ शुभमनोवचनकायवृत्तयस्त्रीण्या-वर्त्तनान्येव द्वादशधा मनोवचनकायवृत्तयो द्वादशावर्त्ता भवति, अथवा चतसृषु दिक्षु चत्वार प्रणामा एकस्मिन् भ्रमणे एव त्रिषु भ्रमणेषु द्वादश भवति, **चदुस्सिरं** चत्वारि शिरासि पचनमस्कारस्यादावते च करमुकुलांकित-

---

आचारवृत्ति—दो अवनति—पच नमस्कार के आदि मे एक बार अवनति अर्थात् भूमि स्पर्शनात्मक नमस्कार करना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि मे दूसरी बार अवनति—शरीर का नमाना अर्थात् भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार करना ये दो अवनति हैं। यथाजात—जातरूप सदृश क्रोध, मान, माया और सग—परिग्रह या लोभ आदि रहित कृतिकर्म को मुनि करते है। द्वादश आवर्त—पच नमस्कार के उच्चारण के आदि में मन वचन काय के सयमन रूप शुभयोगो को प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त पचनमस्कार की समाप्ति में मनवचनकाय की शुभवृत्ति होना ये तीन आवर्त, तथा चतुर्विंशति स्तव की आदि मे मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त एव चतुर्विंशति स्तव की समाप्ति मे शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति होना ये तीन आवर्त—ऐसे मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति रूप बारह आवर्त होते है। अथवा चारों ही दिशाओं मे चार प्रणाम एक भ्रमण मे ऐसे ही तीन बार के भ्रमण में बारह हो जाते है।

चतु शिर—पचनमस्कार के आदि और अन्त मे कर मुकुलित करके अजलि जोडकर माथे से लगाना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त मे कर मुकुलित करके माथे से लगाना ऐसे चार शिर—शिरोनति होती है।

इस तरह इसे एक कृतिकर्म मे दो अवनति, बारह आवर्त और चार शिरोनमन होते है। मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक मुनि इस विधानयुक्त यथाजात कृतिकर्म का प्रयोग करे।

विशेषार्थ—एक बार के कायोत्सर्ग मे यह उपर्युक्त विधि की जाती है उसी का नाम कृतिकर्म है। यह विधि देववन्दना, प्रतिक्रमण आदि सर्व क्रियाओ मे भक्तिपाठ के प्रारम्भ मे की जाती है। जैसे देववन्दना मे चैत्यभक्ति के प्रारम्भ मे—

'अथ पौर्वाह्णिक-देववन्दनाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थ भावपूजावन्दना-स्तवसमेत श्रीचैत्यभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहं'।

यह प्रतिज्ञा हुई, इसको बोलकर भूमि स्पर्शनात्मक पचाग नमस्कार करे। यह एक अवनति हुई। अनन्तर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके 'णमो अरिहताण···चत्तारिमगल··· अड्ढाइज्जदीव·· इत्यादि पाठ बोलते हुए·· दुच्चरिय वोस्सरामि' तक पाठ बोले यह 'सामयिक-स्तव' कहलाता है। पुन. तीन आवर्त और एक शिरोनति करें। इस तरह सामायिक दण्डक के आदि और अन्त मे तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति होने से छह आवर्त और दो शिरोनति हुई।पुनः नौ बार णमोकार मन्त्र को सत्ताईस श्वासोच्छ्वास मे जपकर भूमिस्पर्श-

शिर:करण तथा चतुर्विंशतिस्तवस्यादावंते च करमुकुलांकितशिर करणमेव चत्वारि शिरासि भवति, त्रिशुद्धं मनोवचनकायशुद्ध क्रियाकर्म प्रयुक्ते करोति। द्वे अवनती यस्मिन्तत् द्वयवनति क्रियाकर्म द्वादशावर्त्ता यस्मिस्तत् द्वादशावर्त्तं, मनोवचनकायशुद्धया चत्वारि शिरासि यस्मिन् तत् चतु शिर क्रियाकर्मैव विशिष्ट यथाजातं क्रियाकर्म प्रयुंजीतेति ॥६०३॥

पुनरपि क्रियाकर्मप्रयुंजनविधानमाह—

तिविहं तियरणसुद्धं मयरहियं दुविहठाण पुणरुत्तं।
विणएण कमविसुद्धं किदियम्मं होदि कायव्वं ॥६०४॥

त्रिविध प्रयार्थोभयभेदेन त्रिप्रकार, अथवाऽवनतिद्वयमेक प्रकार द्वादशावर्त्त द्वितीय प्रकारश्चतु.-शिरस्तृतीय विधानमेव त्रिविध, अथवा कृतकारितानुमतिभेदेन त्रिविध, अथवा प्रतिक्रमणस्वाध्यायवन्दनाभेदेन त्रिविध, अथवा पचनमस्कारध्यानचतुर्विंशतिस्तवभेदेन त्रिविधमिति। त्रिकरणशुद्ध मनोवचनकायाशुभ-

---

नात्मक नमस्कार करे। इस तरह प्रतिज्ञा के अनन्तर और कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार अवनति हो गयी।

बाद मे तीन आवर्त, एक शिरोनति करके 'थोस्सामि स्तव' पढकर अन्त मे पुनः तीन आवर्त, एक शिरोनति करे। इस तरह चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त मे तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से छह आवर्त और दो शिरोनति हो गयी। ये सामायिक स्तव सम्बन्धी छह आवर्त, दो शिरोनति तथा चतुर्विशतिस्तव सम्बन्धी छह आवर्त, दो शिरोनति मिलकर बारह आवर्त और चार शिरोनति हो गयी।

इस तरह एक कायोत्सर्ग के करने मे दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनति होती है।

जुडी हुई अजुंलि को दाहिनी तरफ से घुमाना सो आवर्त का लक्षण है यहाँ पर टीकाकार ने मन वचन काय की शुभप्रवृत्ति का करना आवर्त कहा है जोकि उस क्रिया के करने मे होना ही चाहिए।

इतनी क्रियारूप कृतिकर्म को करके 'जयउ भगवान्' इत्यादि चैत्यभक्ति का पाठ पढ़ना चाहिए। ऐसे ही जो भी भक्ति जिस क्रिया मे करना होती है तो यही विधि की जाती है।

पुनरपि क्रियाकर्म की प्रयोगविधि बताते है—

गाथार्थ—अवनति, आवर्त और शिरोनति ये तीन विध, मनवचनकाय से शुद्ध, मदरहित, पर्यक और कायोत्सर्ग इन दो स्थान युक्त, पुनरुक्ति युक्त विनय से क्रमानुसार कृतिकर्म करना होता है ॥६०४॥

आचारवृत्ति—त्रिविध—ग्रथ, अर्थ और उभय के भेद से तीन प्रकार, अथवा दो अवनति यह एक प्रकार, बारह आवर्त यह दो प्रकार, चार शिर यह तृतीय प्रकार, ऐसे तीन प्रकार, अथवा कृत, कारित, अनुमोदना के भेद से तीन प्रकार, अथवा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और वन्दना के भेद से तीन प्रकार, अथवा पचनमस्कार, ध्यान और चतुर्विशतिस्तव अर्थात् सामा-

परिणामविमुक्तं, अथवाऽवनतिद्वयद्वादशावर्त्तचतु शिर.क्रियाभिः शुद्ध । मदरहित जात्यादिमदहीन । द्विविध-स्थान द्वे पर्यंककायोत्सर्गौ स्थाने यस्य तत् द्विविध स्थान। पुनरुक्त क्रिया क्रियां प्रति, तदेव क्रियत इति पुनरुक्त, विनयेन विनययुक्त्या क्रमविशुद्ध[1] क्रममनतिलघ्यागमानुसारेण कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यं । न पुनरुक्तो दोषो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसग्रहणादिति ॥६०४॥

कति दोषविप्रमुक्त कृतिकर्म भवति कर्त्तव्यमिति यत्पृष्ट तदर्थमाह—

अणाठिदं च थद्टं च पविट्ठं परिपीडिदं ।
दोलाइयमकुसियं तहा कच्छभरिंगिय ॥६०५॥
मच्छुव्वत्तं मणोदुट्ठं वेदिग्रावद्धमेव य ।
भयसा चेव भयत्त इड्ढिगारव गारव ॥६०६॥

यिक दण्डक, कायोत्सर्ग और थोस्मामिस्तव इन भेदो से तीन प्रकार होते है। अर्थात् यहाँ त्रिविध शब्द से पाच तरह से तीन प्रकार को लिया है जो कि सभी ग्राह्य है किन्तु फिर भी यहाँ कृतिकर्म द्वितीय प्रकार और पाँचवां प्रकार ही मुख्य है।

त्रिकरणशुद्ध—मनवचनकाय के अशुभ परिणाम से रहित अथवा दो अवनति, बारह आवर्त और चार शिर इन क्रियाओ से शुद्ध।

मदरहित—जाति, कुल आदि आठ मदो से रहित।

द्विविधस्थान—पर्यक आसन और खडे होकर कायोत्सर्ग आसन ये दो प्रकार के स्थान कृतिकर्म मे होते है।

पुनरुक्त—क्रिया-क्रिया के प्रति अर्थात् प्रत्येक क्रियाओ के प्रति वही विधि की जाती है यह पुनरुक्त होता है। यहाँ यह दोष नही है। प्रत्युत करना ही चाहिए।

इस तरह से त्रिविध, त्रिकरणशुद्ध, मदरहित, द्विविधस्थान युक्त और पुनरुक्त इतने विशेषणो से युक्त विनय से युक्त होकर, क्रम का उल्लघन न करके, आगम के अनुसार कृति-कर्म करना चाहिए। पूर्वगाथा में यद्यपि कृतिकर्म का लक्षण बता दिया था फिर भी इस गाथा मे विशेष रूप से कहा गया है अत पुनरुक्त दोष नही है। क्योकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यो के सग्रह के लिए ऐसा कहा गया है। अर्थात् सक्षेप से समझने की बुद्धि वाले शिष्य पहली गाथा से स्पष्ट समझ लेगे, किंतु विस्तार से समझने की बुद्धि वाले शिष्यो के लिए दोनों गाथाओं के द्वारा समझना सरल होगा ऐसा जानना।

कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए? ऐसा जो प्रश्न हुआ था अब उसका समाधान करते है—

गाथार्थ—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्यत्त्व, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित प्रतिनीत, प्रदुष्ट,

---

[1] क °शुद्धया।

तेणिदं पडिणिदं चावि पदुट्ठं तज्जिदं तधा।
सद्दं च हीलिदं चावि 'तह तिवलिदं'कुंचिदं ॥६०७॥
दिट्ठमदिट्ठं चावि य संघस्स करमोयणं।
आलद्धमणालद्धं च हीणमुत्तरचूलियं ॥६०८॥
मूगं च दद्दुरं चावि चुलुलिदमपच्छिमं।
बत्तीसदोसविसुद्धं किदियम्मं पउजदे ॥६०९॥

अणाढिदमनावृतं विनादरेण सम्भ्रमंतरेण यत् क्रियाकर्म क्रियते तदनादृतमित्युच्यते अनादृतनामा[३] दोष । **थद्ध** च स्तब्धश्च विद्यादिगर्वेणोद्धत सन् य करोति क्रियाकर्म तस्य स्तब्धनामा[४] दोष **पविट्ठं** प्रविष्ट पचपरमेष्ठिनामत्यासन्नो भूत्वा य करोति कृतिकर्म तस्य प्रविष्टदोष, **परिपीडिदं** परिपीडित करजानुप्रदेशै. परिपीडय सस्पर्श्य य करोति वदना तस्य परिपीडितदोष, **दोलायिदं**—दोलायित दोलामिवात्मान चलाचल

तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, सघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तर चूलिका, मूक, दर्दुर और चुलुलित इस प्रकार साधु इन बत्तीस दोषो से विशुद्ध कृतिकर्म का प्रयोग करते है ॥६०५-६०९॥

आचारवृत्ति—वन्दना के समय जो कृतिकर्म प्रयोग होता है उसके अर्थात् वन्दना के बत्तीस दोष होते है, उन्ही का क्रम से स्पष्टीकरण करते है—

१ **अनादृत**—बिना आदर के या बिना उत्साह के जो क्रियाकर्म किया जाता है वह अनादृत कहलाता है। यह अनादृत नाम का पहला दोष है।

२ **स्तब्ध**—विद्या आदि के गर्व से उद्धत—उद्दड होकर जो क्रियाकर्म किया जाता है वह स्तब्ध दोष है।

३ **प्रविष्ट**—पचपरमेष्ठी के अति निकट होकर जो कृतिकर्म किया जाता है वह प्रविष्ट दोष है।

४. **परिपीड़ित**—हाथ से घुटनो को पीडित—स्पर्श करके जो वन्दना करता है उसके परिपीड़ित दोष होता है।

५ **दोलायित**—झूला के समान अपने को चलाचल करके अथवा सो कर (या नीद से झूमते हुए) जो वन्दना करता है उसके दोलायित दोष होता है।

६. **अकुशित**—अकुश के समान हाथ के अगूठे को ललाट पर रखकर जो वन्दना करता है उसके अकुशित दोष होता है।

७ **कच्छपरिंगित**—कछुए के समान चेष्टा करके कटिभाग से सरककर जो वन्दना करता है उसके कच्छपरिंगित दोष होता है।

---

१ क तहा। २ क 'द तु कु'। ३ क नाम दोषरूप। ४ क स्तब्धो 'नाम'।

कृत्वा शयित्वा वा यो विदधाति वन्दना तस्य दोलायितदोष अंकुसियं अकुशितमंकुशमिव करांगुष्ठं ललाटदेशे कृत्वा यो वन्दना करोति तस्याकुशितदोष , तथा कच्छभरिंगियं कच्छपरिंगित चेष्टितं कटिभागेन कृत्वा यो विदधाति वन्दना तस्य कच्छपरिंगितदोष ॥६०५॥

तथा—

मत्स्योद्वर्त्तं पार्श्वद्वयेन वन्दनाकारणमथवा मत्स्यस्य इव कटिभागेनोद्वर्त्तं कृत्वा यो वदना विदधाति तस्य मत्स्योद्वर्त्तदोष',मनसाचार्यादीना दुष्टो भूत्वा यो वदना करोति तस्य मनोदुष्टदोष । सक्लेशयुक्तेन मनसा यद्वा वदनाकरण, वेदियाबद्धमेव य वेदिकाबद्ध एव च वेदिकाकारेण हस्ताभ्या बधो हस्तपजरेण वामदक्षिण-स्तनप्रदेश प्रपीड्य जानुद्वय वा प्रबद्ध्य वदनाकरण वेदिकाबद्धदोषः, भयसा चेव भयेन चैव मरणादिभीतस्य भयसत्रस्तस्य यद्वन्दनाकारण भयदोष भयतो विभ्यतो गुर्वादिभ्यो विभ्यतो भय प्राप्नुवत. परमार्थात्परस्य बालस्वरूपस्य वदनाभिधान विभ्यद्दोष , इड्ढिगारव ऋद्धिगौरव वदनामकुर्वतो महापरिकरश्चातुर्वर्ण्यश्रमणसघो

---

८. **मत्स्योद्वर्त्त**—दो पसवाड़ों से वन्दना करना अथवा मत्स्य के समान कटिभाग को ऊपर उठाकर (या पलटकर) जो वन्दना करता है उसके मत्स्योद्वर्त दोष होता है।

६. **मनोदुष्ट**—मन से आचार्य आदि के प्रति द्वेष धारण करके जो वन्दना करता है अथवा सक्लेशयुक्त मन से जो वन्दना करता है उसके मनोदुष्ट नाम का दोष होता है।

१०, **वेदिकाबद्ध**—वेदिका के आकार रूप से दोनो हाथों को बाँधकर हाथ पजर से वाम-दक्षिण स्तन प्रदेश को पीडित करके या दोनो घुटनो को बाँध करके वन्दना करना वेदिका-बद्ध दोष है।

११ **भय**—भय से अर्थात् मरण आदि से भयभीत होकर या भय से घबड़ाकर वन्दना करना, भय दोष है।

१२. **विभ्यत्त्व**—गुरु आदि से डरते हुए या परमार्थ से परे बालकस्वरूप परमार्थ के ज्ञान से शून्य अज्ञानी हुए वन्दना करना विभ्यत् दोष है।

१३ **ऋद्धिगौरव**—वन्दना को करने से महापरिकर वाला चातुर्वर्ण्य श्रमण सघ मेरा भक्त हो जावेगा इस अभिप्राय से जो वन्दना करता है उसके ऋद्धिगौरव दोष होता है।

१४. **गौरव**—अपना माहात्म्य आसन आदि के द्वारा प्रगट करके या रस के सुख के लिए जो वन्दना करता है उसके गौरव नाम का दोष होता है।

१५. **स्तेनित**—जिस प्रकार से गुरु आदि न जान सके ऐसी चोर बुद्धि से या कोठरी में प्रवेश करके वन्दना करना या अन्य जनो से आँखे चुराकर अर्थात् नही देख सके ऐसे स्थान में वन्दना करना सो स्तेनित दोष है।

१६. **प्रतिनोत**—गुरु आदि के प्रतिकूल होकर जो वन्दना करता है उसके प्रतिनीत दोष होता है।

१७. **प्रदुष्ट**—अन्य के साथ प्रद्वेष—वैर कलह आदि करके पुनः उनसे क्षमाभाव न कराकर जो क्रियाकलाप करता है उसके प्रदुष्ट दोष होता है।

भक्तो भवत्येवमभिप्रायेण यो वदना विदधाति तस्य ऋद्धिगौरवदोष । गारव गौरव आत्मनो माहात्म्यासनादिभिरावि कृत्य रमसुखहेतोर्वा यो वदना करोति तस्य गौरववदनादोष ॥६०८॥ तथा—

तेणिदं स्तेनित चौरबुद्धया यथा गुर्वादयो न जानति वन्दनादिकमपवरकाभ्यन्तर प्रविश्य वा परेषां वदना चोरयित्वा य करोति वदनादिक[1] तस्य स्तेनितदोष , पडिणिदं प्रतिनीत देवगुर्वादीनां प्रतिकूलो भूत्वा यो वदना विदधाति तस्य प्रतिनीतदोष , पदुट्ठं प्रदुष्टोऽन्यै सह प्रद्वेष वैर कलहादिक विधाय क्षतव्यमकृत्वा य. करोति क्रियाकलाप तस्य प्रदुष्टदोष । तज्जिद तर्जित तथा अन्यास्तर्जयन्नन्येषा भयमुत्पादयन्यदि वन्दनां करोति तदा तर्जितदोषस्तस्याथवाऽचार्यादिभिरगुल्यादिना तर्जित शासितो यदि 'नियमादिकं न करोषि निर्वासयामो भवन्त" मिति तर्जितो य करोति तस्य तर्जितदोष । सद्दं च शब्द ब्रुवाणो यो वन्दनादिक करोति मौन परित्यज्य तस्य शब्ददोषोऽथवा सट्ठ चेति पाठस्तत एव ग्राह्य शाठ्येन मायाप्रपचेन यो वन्दना करोति तस्य शाठ्यदोष । हीलिद हीलित वचनेनाचार्यादीना परिभव कृत्वा य करोति वन्दना तस्य हीलितदोष , तह तिवलिदं तथा त्रिविलिते शरीरस्य त्रिषु कटिहृदयग्रीवाप्रदेशेषु भग कृत्वा ललाटदेशे वा त्रिवलि कृत्वा यो विदधाति वन्दना तस्य त्रिवलितदोष , कुचिद कुचित कुचितहस्ताभ्या शिर परामर्श कुर्वन् यो वन्दना विदधाति

---

१८. **तर्जित**—अन्यो की तर्जना करते हुए अर्थात् अन्य साधुओं को भय उत्पन्न करते हुए यदि वन्दना करता है । अथवा आचार्य आदि के द्वारा अगुली आदि से तर्जित—शासित—दडित होता हुआ यदि वन्दना करता है अर्थात् 'यदि तुम नियम आदि क्रियाएँ नही करोगे तो हम तुम्हे संघ मे निकाल देगे ।' ऐसी आचार्यो को फटकार सुनकर जो वन्दना करता है उसके तर्जित दोष होता है ।

१९ **शब्द**—मौन को छोडकर शब्द बोलते हुए जो वन्दना आदि करता है उसके शब्द दोष होता है । अथवा 'सट्ठ च' ऐसा पाठ भेद होने से उसका ऐसा अर्थ करना कि शठता से, माया प्रपच से जो वन्दना करता है उसके शाठ्य दोष होता है ।

२०. **हीलित**—वचन से आचार्य आदिकों का तिरस्कार करके जो वन्दना करता है उसके हीलित दोष होता है ।

२१ **त्रिवलित**—शरीर के कटि, हृदय और ग्रीवा इन तीन स्थानो में भग डालकर अर्थात् कमर, हृदय और गरदन को मोडकर वन्दना करना या ललाट मे त्रिवली—तीन सिकुडन डालकर वन्दना करना सो त्रिवलित दोष है ।

२२ **कुचित**—सकुचित किए हाथो से शिर का स्पर्श करते हुए जो वन्दना करता है या घुटनों के मध्य शिर को रखकर सकुचित होकर जो वन्दना करता है उसके सकुचित दोष होता है ।

२३ **दृष्ट**—आचार्यादि यदि देख रहे है तो सम्यक् विधान से वन्दना आदि करता है अन्यथा स्वेच्छानुसार करता है अथवा दिशाओं का अवलोकन करते हुए यदि वन्दना करता है तो उसके दृष्ट दोष होता है ।

---

१ क °दि क्रिया त° ।

जानुमध्ययोर्वा शिर. कृत्वा सकुचितो भूत्वा यो वन्दना करोति तस्य सकुचितदोष ॥६०७॥

दिट्ठ दृष्टं आचार्यादिभिर्दृष्ट सन् सम्यग्विधानेन वन्दनादिकं करोत्यन्यथा स्वेच्छयाऽथवा दिगवलोकनं कुर्वन् वन्दनादिक यदि विदधाति तदा तस्य दृष्टो दोष । अदिट्ठ अदृष्ट आचार्यादीना दर्शनं पृथक् त्यक्त्वा भूप्रदेश शरीर चाप्रतिलेख्यातद्गतमना पृष्ठदेशतो वा भूत्वा यो वन्दनादिक करोति तस्यादृष्टदोष, अपि च **संघस्स करमोयणं** सघस्य करमोचन संघस्य मायाकरो वृष्टिर्दातव्योऽन्यथा न ममोपरि सघ शोभन स्यादिति ज्ञात्वा यो वन्दनादिक करोति तस्य सघकरमोचनदोष । **आलद्धमणालद्ध** उपकरणादिक लब्ध्वा यो वन्दना करोति तस्य लब्धदोष । **अणालद्धं**—अनालब्धं उपकरणादिक लप्स्येऽहमिति बुद्धया य करोति वन्दनादिकं तस्यानालब्धदोष । **हीणं** हीन ग्रथार्थकालप्रमाणरहिता वन्दना य करोति तस्य हीनदोषः । **उत्तरचूलिय** उत्तरचूलिका वन्दना स्तोकेन निर्वर्त्य वन्दनायाश्चूलिकाभूतस्यालोचनादिकस्य महता कालेन निर्वर्तक कृत्वा यो वन्दना विदधाति तस्योत्तरचूलिकादोष ॥६०८॥

---

२४. **अदृष्ट**—आचार्य आदिको को पृथक्-पृथक् न देखकर भूमिप्रदेश और शरीर का पिच्छी से परिमार्जन न करके, वन्दना की क्रिया और पाठ मे उपयोग न लगाते हुए अथवा गुरु आदि के पृष्ठ देश मे—उनके पीठ पीछे होकर जो वन्दना आदि करता है उसके अदृष्ट दोष होता है।

२५ **संघकरमोचन**—सघ को मायाकर—वृष्टि अर्थात् कर भाग देना चाहिए अन्यथा मेरे प्रति सघ शुभ नही रहेगा अर्थात् मुझसे संघ रुष्ट हो जावेगा ऐसा समझ कर जो वन्दना आदि करता है उसके सघकर-मोचन दोष होता है।

२६. **आलब्ध**—उपकरण आदि प्राप्त करके जो वन्दना करता है उसके लब्ध दोष होता है।

२७ **अनालब्ध**—'उपकरणादि मुझे मिले' ऐसी बुद्धि से यदि वन्दना आदि करता है तो उसके अनालब्ध दोष होता है।

२८ **हीन**—ग्रन्थ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित जो वन्दना करता है उसके हीन दोष होता है। अर्थात् वन्दना सम्बन्धी पाठ के शब्द जितने है उतने पढ़ना चाहिए, उनका अर्थ ठीक समझते रहना चाहिए और जितने काल मे उनको पढना है उतने काल मे ही पढना चाहिए। इससे अतिरिक्त जो इन प्रमाणो को कम कर देता है, जल्दी-जल्दी पाठ पढ लेता है इत्यादि उसके हीन दोष होता है।

२९. **उत्तरचूलिका**—वन्दना का पाठ थोड़े ही काल मे पढ़कर वन्दना की चूलिका भूत आलोचना आदि को बहुत काल तक पढते हुए जो वन्दना करता है उसके उत्तरचूलिका दोष होता है। अर्थात् 'जयतु भगवान् हेमाम्भोज' इत्यादि भक्तिपाठ जल्दी पढ़कर 'इच्छामि भत्ते चेइय भक्ति' इत्यादि चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को बहुत मंदगति से पढ़ना आदि उत्तर चूलिका दोष है।

तथा—

मूगं च मूकश्च मूक इव मुखमध्ये य करोति वन्दनामथवा वन्दना कुर्वन् हुकारागुल्यादिभि· सज्ञा च य. करोति तस्य मूकदोष , **दद्दुरं** दर्दुर आत्मीयशब्देनान्येषा शब्दानभिभूय महाकलकल बृहद्गलेन कृत्वा यो वन्दना करोति तस्य दर्दुरदोष·, **अविचुलुलिदमपच्छिम** अपि चुरुलितमपश्चिम एकस्मिन्प्रदेशे स्थित्वा करमुकुलं सभ्राम्य सर्वेषा यो वन्दना करोत्यथवा पचमादिस्वरेण यो वन्दना करोति तस्य चुरुलितदोषो भवत्यपश्चिम । एतैर्द्वात्रिंशद्दोषै· परिशुद्ध विमुक्त यदि कृतिकर्म प्रयुक्ते करोति साधुस्ततो विपुलनिर्जराभागी भवति ॥६०६॥

यदि पुनरेव करोति तदा—

किदियम्मंपि करतो ण होदि किदयम्मणिज्जराभागी ।
बत्तीसाणण्णदर साहू ठाणं विराहतो ॥६१०॥

कृतिकर्म कुर्वन्नपि न भवति कृतिकर्मनिर्जराभागी कृतिकर्मणा या कर्मनिर्जरा तस्या स्वामी न स्यात्, यदि द्वात्रिंशद्दोषेभ्योऽन्यतर स्थान दोष [1]निवारयन्नाचरन् क्रियाकर्म कुर्यात्साधुरिति । अथवा द्वात्रिंशद्दोषेभ्योऽन्यतरेण दोषेण स्थान कायोत्सर्गादिवन्दना विराधयन्कुर्वीतेति ॥६१०॥

---

३० **मूक**—गूगे के समान मुख मे ही जो वन्दना का पाठ बोलता है अथवा वन्दना करने में 'हुकार' आदि शब्द करते हुए या अगुली आदि से इशारा करते हुए जो वन्दना करता है उसके मूक दोष होता है।

३१ **दर्दुर**—अपने शब्दों से दूसरो के शब्दों को दबाकर महाकलकल ध्वनि करते हुए ऊँचे स्वर से जो वन्दना करता है उसके दर्दुर दोष होता है ।

३२ **चुलुलित**—एक प्रदेश मे खडे होकर मुकुलित अगुलि को घुमाकर जो सभी की वन्दना कर लेता है या जो पचम आदि स्वर से वन्दना पाठ करता है उसके चुलुलित दोष होता है ।

यदि साधु इन बत्तीस दोपो से रहित कृतिकर्म का प्रयोग करता है—वन्दना करता है तो वह विपुल कर्मो की निर्जरा करता है ऐसा समझना ।

यदि पुन. ऐसा करता है तो लाभ है उसे ही ग्रन्थकार स्वय बताते है—

गाथार्थ—इन बत्तीस स्थानो मे से एक भी स्थान की विराधना करता हुआ साधु कृतिकर्म को करते हुए भी कृति कर्म से होनेवाली निर्जरा को प्राप्त नही होता है ॥६१०॥

आचारवृत्ति—इन बत्तीस दोषों मे से किसी एक भी दोष को करते हुए यदि साधु क्रियाकर्म—वन्दना करता है तो कृति कर्म को करते हुए भी उस कृति कर्म के द्वारा होनेवाली निर्जरा का स्वामी नही हो सकता है । अथवा इन बत्तीस दोषों मे से किसी एक दोष के द्वारा स्थान अर्थात् कायोत्सर्ग आदि क्रियारूप वन्दना की विराधना कर देता है।

---

१ क 'दोषं विराधयन्' ।

कथं तर्हि वन्दना कुर्वीत साधुरित्याह—

हत्थंतरेणबाधे संफासपमज्जणं पउज्जंतो।
जाचेंतो वंदणयं इच्छाकारं कुणइ भिक्खू ॥६११॥

हस्तान्तरेण हस्तमात्रान्तरेण यस्य वन्दना क्रियते यश्च करोति तयोरन्तरं हस्तमात्रं भवेत् तस्मिन् हस्तान्तरे स्थित्वा **अणाबाधेऽनाबाधे** बाधामन्तरेण **संफासपमज्जण** स्वस्य देहस्य स्पर्शः सस्पर्शनं कटिगुह्यादिकं च तस्य प्रमार्जनं प्रतिलेखनं शुद्धि **पउंजंतो** प्रयुंजानः प्रकर्षेण कुर्वन् **जाचेंतो वन्दणयं** वन्दनां च याचमानो 'भवद्भ्यो वन्दनां विदधामि' इति याञ्चां कुर्वन्निच्छाकारं वन्दनाप्रणामं करोति भिक्षुः साधुरेव द्वात्रिंशद्दोषपरिहारेण तावत् द्वात्रिंशद् गुणा भवति तस्माद्यत्नपरेण हास्यभयासादनारागद्वेषगौरवालस्यमदलोभस्तेनभावप्रातिकूल्यबालत्वोपरोधहीनाधिकभावशरीरपरामर्शवचनभृकुटिकरणखात्करणादिवर्जनपरेण देवतादिगतमानसेन विवर्जितकार्यान्तरेण विशुद्धमनोवचनकाययोगेन मौनपरेण वन्दना करणीया वन्दनाकारकेणेति ॥६११॥

तो फिर साधु किस प्रकार वन्दना करे ? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—बाधा रहित एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर भूमि शरीर आदि का स्पर्श व प्रमार्जन करता हुआ मुनि वन्दना की याचना करके वन्दना को करता है ॥६११॥

आचारवृत्ति—जिसकी वन्दना की है और जो वन्दना करता है उन दोनो मे एक हाथ का अन्तर रहना चाहिए अर्थात् गुरु या देव आदि की वन्दना के समय उनसे एक हाथ के अन्तर से स्थित होकर उनको बाधा न करते हुए वन्दना करे। अपने शरीर का स्पर्श और प्रमार्जन अर्थात् कटि, गुह्य आदि प्रदेशो का पिच्छिका से स्पर्श व प्रमार्जन करके शरीर की शुद्धि को करता हुआ प्रकर्ष रीति से वन्दना की याचना करे। अर्थात् 'हे भगवन् ! मैं आपकी वन्दना करूँगा' इस प्रकार याचना—प्रार्थना करके साधु इच्छाकार—वन्दना और प्रणाम को करता है।

तथा बत्तीस दोषो के परिहार से बत्तीस ही गुण होते हैं। उन गुणों सहित, यत्न में तत्पर हुआ मुनि वन्दना करे। हास्य, भय, आसादना, राग, द्वेष, गौरव, आलस्य, मद, लोभ, चौर्य भाव, प्रतिकूलता, बालभाव, उपरोध—दूसरो को रोकना, हीन या अधिक पाठ बोलना, शरीर का स्पर्श करना, वचन बोलना, भृकुटी चढाना, खात्कार—खासना, खखारना इत्यादि दोषों को छोड़कर वन्दना करे। जिनकी वन्दना कर रहे है ऐसे देव या गुरु आदि मे अपने मन को लगाकर अर्थात् उनके गुणो मे अपने उपयोग को लगाते हुए, अन्य कार्यों को छोड़कर वन्दना करनेवाले को विशुद्ध मन-वचन-काय के द्वारा मौनपूर्वक वन्दना करना चाहिए।

भावार्थ—साधु, गुरु या देव की वन्दना करने के लिए कम से कम उनसे एक हाथ दूर स्थित होवे। पिच्छिका से अपने शरीर का एवं भूमि का परिमार्जन करे। पुनः प्रार्थना करे कि 'हे भगवन् ! मैं आपकी वन्दना करूँगा' यदि गुरु की वन्दना की जा रही है तो उनकी स्वीकृति पाकर भय आसादना आदि दोषो को छोडकर उनमें अपना उपयोग स्थिर कर विनयपूर्वक विधिवत् उनकी वन्दना करे। उपर्युक्त बत्तीस दोषों से रहित होकर क्रिया करे यह अभिप्राय है।

यस्य क्रियते वन्दना तेन कथं प्रत्येषितव्येत्याह—

तेण च पडिच्छिदव्वं गारवरहिएण सुद्धभावेण।
किदियम्मकारकस्सवि संवेगं संजणंतेण ॥६१२॥

तेण च तेनाचार्येण **पडिच्छिदव्वं** प्रत्येषितव्यमभ्युगन्तव्यं गौरवरहितेन ऋद्धिवीर्यादिगर्वरहितेन **कृतिकर्म**कारकस्य वन्दनाया कर्तुरपि संवेगधर्मे धर्मफले च हर्षं संजनयता सम्यग्विधानेन कारयता **शुद्धपरि**णामवता वन्दनाऽभ्युपगतव्येति ॥६१२॥

वन्दनानिर्युक्तिं संक्षेपयन् प्रतिक्रमणे निर्युक्तिं सूचयन्नाह—

वंदणणिज्जुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण।
पडिकमणणिजुत्ती पुण एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥६१३॥

वन्दनानिर्युक्तिरेषा पुनः कथिता मया संक्षेपेण प्रतिक्रमणनिर्युक्तिं पुनरित ऊर्ध्वं वक्ष्य इति ॥**६१३**॥

तां निक्षेपस्वरूपेणाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो पडिक्कमणगे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६१४॥

जिनकी वन्दना की जाती है वे वन्दना को किस प्रकार से स्वीकार करें? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म करनेवाले को हर्ष उत्पन्न करते हुए वे गुरु गर्वरहित शुद्ध भाव से वन्दना स्वीकार करें ॥६१२॥

आचारवृत्ति—शुद्ध परिणामवाले वे आचार्य ऋद्धि और वीर्य आदि के गर्व से रहित होकर वन्दना करनेवाले मुनि के धर्म और धर्म के फल मे हर्ष उत्पन्न करते हुए उसके द्वारा की गई वन्दना को स्वीकार करें।

भावार्थ—जब शिष्य मुनि आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुओ को या अपने से बड़े मुनियो की वन्दना करते है तो बदले मे वे आचार्य आदि भी 'नमोस्तु' शब्द बोलकर प्रतिवन्दना करते है। यही वन्दना की स्वीकृति होती है।

वन्दना-निर्युक्ति को संक्षिप्त करके अब आचार्य प्रतिक्रमण-निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने संक्षेप से यह वन्दना-निर्युक्ति कही है अब इसके बाद प्रतिक्रमण निर्युक्ति को कहूँगा ॥६१३॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उस प्रतिक्रमण निर्युक्ति को निक्षेप स्वरूप से कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, प्रतिक्रमण में यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६१४॥

नामप्रतिक्रमण पापहेतु[1]नामातीचारान्निवर्त्तनं प्रतिक्रमणदण्डकगतशब्दोच्चारण वा, सरागस्थापनाभ्य. परिणामनिवर्त्तन स्थापनाप्रतिक्रमण। सावद्यद्रव्यसेवायाः परिणामस्य निवर्त्तन द्रव्यप्रतिक्रमण। क्षेत्राश्रितातिचारान्निवर्त्तनं क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालमाश्रितातीचारान्निवृत्ति कालप्रतिक्रमण, रागद्वेषाद्याश्रितातीचारान्निवर्त्तन भावप्रतिक्रमणमेष नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारनिवृत्तिविषय. प्रतिक्रमणे निक्षेप षड्विधो ज्ञातव्य इति। अथवा नाम प्रतिक्रमण नाममात्रं, प्रतिक्रमणपरिणतस्य प्रतिबिंबस्थापना स्थापनाप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमणप्राभृतज्ञोप्यनुपयुक्त आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं, तच्छरीरादिक नोआगमद्रव्यप्रतिक्रमणमित्येवमादि पूर्ववद् द्रष्टव्यमिति ॥६१४॥

प्रतिक्रमणभेद प्रतिपादयन्नाह—

पडिकमण देवसिय रादिय इरियापध च बोधव्व।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठ च ॥६१५॥

प्रतिक्रमण कृतकारितानुमतातिचारान्निवर्तन, दिवसे भव दैवसिक दिवसमध्ये नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रितातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायै शोधनं, तथा रात्रौ भव रात्रिक रात्रि-

---

आचारवृत्ति—पाप हेतुक नामो से हुए अतिचारों से दूर होना या प्रतिक्रमण के दण्डकरूप शब्दो का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है। सराग स्थापना से अर्थात् सराग मूर्तियो से या अन्य आकारो से परिणाम का हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है। सावद्य—पाप कारक द्रव्यो के सेवन से परिणाम को निवृत्त करना द्रव्य प्रतिक्रमण है। क्षेत्र के आश्रित हुए अतिचारो से दूर होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है। काल के आश्रय से हुए अतिचारो से दूर होना काल प्रतिक्रमण है। इस तरह प्रतिक्रमण मे छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए।

अथवा नाममात्र को नाम प्रतिक्रमण कहते है। प्रतिक्रमण मे परिणत हुए के प्रतिबिम्ब की स्थापना करना स्थापना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण शास्त्र का जानने वाला तो है किन्तु उसमे उपयुक्त नहीं है तो वह आगम द्रव्य प्रतिक्रमण है, उसके शरीर आदि नो-आगमद्रव्य प्रतिक्रमण है। इत्यादि रूप से अन्य और भेद पूर्ववत् समझने चाहिए।

प्रतिक्रमण के भेदो को कहते है—

गाथार्थ—प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ इन सात भेद रूप जानना चाहिए॥६१५॥

आचारवृत्ति—कृत, कारित और अनुमोदन से हुए अतीचार को दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके सात भेद हैं। उन्हे ही क्रम से दिखाते है—

दैवसिक—दिवस में हुए दोषो का प्रतिक्रमण दैवसिक है। दिवस के मध्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से कृत, कारित और अनुमोदना रूप जो अतिचार हुए हैं उनका मनवचनकाय से शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

रात्रिक—रात्रि सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण रात्रिक है अर्थात् रात्रि विषयक

---

1 क 'तु अतीचारनाम्नो निव'।

विषयस्य षड्विधातीचारस्य कृतकारितानुमतस्य त्रिविधेन निरसन रात्रिक, ईर्यापथे भवमैर्यापथिक षड्जीव-निकायविषयातीचारस्य निरसन ज्ञातव्यं, पक्षे भव पाक्षिक पचदशाहोरात्रविषयस्य षड्विधनामादिकारणस्य कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः परिशोधन, चतुर्मासेषु भवं चातुर्मासिक, सवत्सरे भव सांवत्सरिकं। चतुर्मासमध्ये सवत्सरमध्ये नामादिभेदेन षड्विधस्यातीचारस्य बहुभेदभिन्नस्य वा, कृतकारितानुमतस्य मनोवचनकायैः निरसन, उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं यावज्जीव चतुर्विधाहारस्य परित्याग सर्वातिचारप्रतिक्रमणस्यात्रान्तर्भावो द्रष्टव्य, [1]एव प्रतिक्रमणसप्तक द्रष्टव्यम् ॥६१५॥

अतीचार जोकि कृत, कारित व अनुमोदना से किए गये है एव नाम स्थापना आदि छह निमित्तों से हुए हैं, उनका मन-वचन-काय से निरसन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

ऐर्यापथिक—ईर्यापथ सम्बन्धी प्रतिक्रमण, अर्थात् ईर्यापथ से चलते हुए मार्ग मे छह जीव निकाय के विषय में जो अतीचार हुआ है उसको दूर करना ऐर्यापथिक है।

पाक्षिक—पक्ष सम्बन्धी प्रतिक्रमण, पन्द्रह अहोरात्र विषयक जो दोष हुए है, जोकि कृत, कारित और अनुमोदना से एव नाम आदि छह के आश्रय से हुए है उनका मनवचनकाय से शोधन करना सो पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मासिक—चार महीने सम्बन्धी प्रतिक्रमण।

सांवत्सरिक—एक वर्ष सम्बन्धी प्रतिक्रमण।

चातुर्मास के मध्य और सवत्सर के मध्य हुए अतीचार जोकि नाम, स्थापना आदि छह कारणों से अथवा बहुत से भेदो से सहित, और कृत, कारित और अनुमोदना से होते है उनको मनवचनकाय से दूर करना सो चातुर्मासिक और वार्षिक कहलाते है।

उत्तमार्थ—उत्तम-अर्थ सल्लेखना से सम्बन्धित प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है इसमें यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् मरणान्त समय जो सल्लेखना ली जाती है उसी मे चार प्रकार के आहार का त्याग करके दीक्षित जीवन के सर्व-दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

सर्वातिचार प्रतिक्रमण का इसी मे अन्तर्भाव हो जाता है। इस तरह प्रतिक्रमण के सात भेद जानना चाहिए।

भावार्थ—दिवस के अन्त मे, सायकाल में, दैवसिक प्रतिक्रमण होता है। रात्रि के अन्त में रात्रिक प्रतिक्रमण होता है। ईर्यापथ से चलकर आने के बाद ऐर्यापथिक होता है। प्रत्येक चतुर्दशी या अमावस्या अथवा पौर्णमासी को पाक्षिक प्रतिक्रमण होता है। कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को तथा फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण होता है। आषाढ शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को सावत्सरिक प्रतिक्रमण होता है। तथा सल्लेखनाकाल में औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण होता है।

---

१ क एव सप्त प्रकार प्रतिक्रमण द्रष्टव्यम्'।

पुनरप्यन्येन प्रकारेण भेद प्रतिपादयन्नाह—

पडिकमश्रो पडिकमणं पडिकमिदव्वं होदि णादव्वं ।
एदेसिं पत्तेय परूवणा होदि तिण्हंपि ॥६१६॥

प्रतिक्रामति कृतदोषाद्विरमतीति प्रतिक्रामक., अथवा दोषनिर्हरणे प्रवर्तते अविघ्नेन प्रतिक्रमत इति प्रतिक्रामक., पचमहाव्रतादिश्रवणधारणदोषनिर्हरणतत्पर· प्रतिक्रमणं पचमहाव्रताद्यतीचारविरतिर्व्रतशुद्धि-निमित्ताक्षरमाला वा, प्रतिक्रमितव्य द्रव्य च परित्याज्य मिथ्यात्वाद्यतीचाररूप भवति ज्ञातव्य, एतेषां त्रयाणां प्रत्येकमेकमेक प्रति प्ररूपणाप्रतिपादन भवति ॥६१६॥

तथैव प्रतिपादयन्नाह—

जीवो दु पडिक्कमश्रो दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।
पडिगच्छदि जेण [1]जह्मि तं तस्स भवे पडिक्कमणं ॥६१७॥

जीवस्तु प्रतिक्रामक. दोषद्वारागतकर्मविक्षपणशीलो जीवश्चेतनालक्षण. । क प्रतिक्रामक. ? द्रव्यक्षेत्र-कालभावविषये, द्रव्यमाहारपुस्तकभेषजोपकरणादिक, क्षेत्र शयनासनस्थानचक्रमणादिविषयो भूभागोऽगुल-

---

पुनरपि अन्य प्रकार से भेदों का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रमण करने योग्य वस्तु इनको जानना चाहिए। इन तीनों की भी अलग-अलग प्ररूपणा करते है ॥६१६॥

आचारवृत्ति—जो प्रतिक्रमण करता है अर्थात् किए हुए दोषों से विरक्त होता है—उनसे अपने को हटाता है वह प्रतिक्रामक है। अथवा जो दोषो को दूर करने में प्रवृत्त होता है, निर्विघ्नरूप से प्रतिक्रमण करता है वह प्रतिक्रामक है, वह साधु पाच महाव्रत आदि को श्रवण करने, उनको धारण करने और उनके दोषो को दूर करने मे तत्पर रहता है।

पाँच महाव्रत आदि मे हुए अतीचारो से विरति अथवा व्रतशुद्धि निमित्त अक्षरों का समूह प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, असंयम आदि अतीचाररूप द्रव्य त्याग करने योग्य है इन्हें ही प्रतिक्रमि-तव्य कहते है। आगे इन तोनों का पृथक्-पृथक् निरूपण करते हैं।

उन्ही का प्रतिपादन करते हैं—

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे जीव प्रतिक्रामक होता है। जिसके द्वारा, जिसमें वापस आता है वह उसका प्रतिक्रमण है ॥६१७॥

आचारवृत्ति—जीव चेतना लक्षणवाला है। जो दोषों द्वारा आए हुए कर्म को दूर करने के स्वभाव वाला है वह प्रतिक्रामक है।

किस विषय में प्रतिक्रमण करनेवाला होता है ?

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विषय में प्रतिक्रमण करनेवाला होता है। आहार,

---

१ क होदि कायव्वा। २ क जह्मि।

वितस्तिहस्तधनु क्रोशयोजनादिप्रमित , काल घटिकामुहूर्तसमयलवदिवसरात्रिपक्षमासर्त्वयनसवत्सरसंध्या-पर्वादि·, भाव परिणामरागद्वेषादिमदादिलक्षण , एतद्विषयादतिचारान्निवर्त्तनपरो जीव प्रतिक्रामक इत्युच्यते ज्ञेयाकारवहिर्व्यावृत्तरूप:, अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयादतिचारात्प्रतिगच्छति निवर्त्तते स प्रतिक्रामकोऽथवा येन परिणामेनाक्षरकदबकेन वा प्रतिगच्छति पुनर्याति यस्मिन् व्रतशुद्धिपूर्वकस्वरूपे यस्मिन् वा जीवे पूर्वव्रत-शुद्धिपरिणतेऽतीचार परिभूत स परिणामोऽक्षरसमूहो[1] वा तस्य व्रतस्य तस्य वा व्रतशुद्धिपरिणतस्य जीवस्य भवेत्प्रतिक्रमण व्रतविषयमतीचार येन परिणामेन प्रक्षाल्य प्रतिगच्छति पूर्वव्रतशुद्धौ स परिणामस्तस्य जीवस्य भवेत्प्रतिक्रमण मिति । मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रिय द्रव्यक्षेत्रकालभावमाश्रित्य प्रतिक्रमण-मिति वा ॥६१७॥

प्रतिक्रमितव्य तस्य स्वरूपमाह—

पुस्तक, औषध, और उपकरण आदि द्रव्य है। सोने, बैठने, खडे होने, गमन करने आदि विषयक भूमिप्रदेश क्षेत्र है जोकि अगुल, वितस्ति, हाथ, कोश, योजन आदि से परिमित होता है। घडी, मुहूर्त. समय, लव, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सवत्सर, सध्या और पर्वादि दिवस ये सब काल है। राग, द्वेष, मद आदि लक्षण परिणाम भाव है। इन द्रव्य आदि विषयक अति-चार से निवृत्त होनेवाला जीव प्रतिक्रामक कहलाता है। अर्थात् ज्ञेयाकार से परिणत होकर वाह्य द्रव्य क्षेत्रादि से पृथक् रहनेवाला—अतिचारो से हटनेवाला आत्मा प्रतिक्रामक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावनिमित्तक अतिचारो से जो वापस आता है वह प्रतिक्रामक है।

जिन परिणामो से या जिन अक्षर समूहो से यह जीव जिस व्रतशुद्धिपूर्वक अपने स्वरूप मे वापस आ जाता है, अथवा पूर्व के व्रतो की शुद्धि से परिणत हुए जीव मे वापस आ जाता है, अतीचार को तिरस्कृत करने रूप वह परिणाम अथवा वह अक्षर समूह उस व्रत के अथवा व्रतों की शुद्धि से परिणत हुए जीव का प्रतिक्रमण है। अर्थात् व्रत शुद्धि के परिणाम या प्रतिक्रमण पाठ के दण्डक प्रतिक्रमण कहलाते है।

यह जीव जिन परिणामो से व्रतो मे हुए अतीचारो का प्रलाक्षन करके पुन पूर्व के व्रत की शुद्धि मे वापस आ जाता है अर्थात् उसके व्रत पूर्ववत् निर्दोष हो जाते है वह परिणाम उस जीव का प्रतिक्रमण है। अथवा 'मिथ्या मे दुष्कृत' इस शब्द से अभिव्यक्त है प्रतिक्रिया जिसकी ऐसा वह प्रतिक्रमण होता है, जोकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से होता है।

भावार्थ—टीकाकार ने भाव प्रतिक्रमण और द्रव्य प्रतिक्रमण इन दोनों की अपेक्षा से प्रतिक्रमण का अर्थ किया है। जिन परिणामो से दोषो का शोधन होता है वे परिणामभाव प्रतिक्रमण है एव जिन अक्षरो का उच्चारण अर्थात् 'मिच्छा में दुक्कड' इत्यादि दण्ड को उच्चारण करना द्रव्यप्रतिक्रमण है। ये शब्द भी दोषो को दूर करने मे हेतु होते है। इस गाथा में प्रतिक्रामक और प्रतिक्रमण इन दो का लक्षण किया है।

अब प्रतिक्रमितव्य का स्वरूप कहते है—

---

१ क 'हो वा तस्य वा व्रतशुद्धि'।

पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं तिविहं।
खेत्तं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालह्मि ॥६१८॥

प्रतिक्रमितव्य परित्यजनीयं। कि तत् द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन त्रिविधं। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्त द्विपदचतुष्पदाद्यचित्तं सुवर्णरूप्यलोहादिमिश्र वस्त्रादियुक्तद्विपदादि। तथा क्षेत्रं गृहपत्तनकूपवाप्यादिकं प्रतिक्रमितव्य तथा कालो दिवसमुहूर्तरात्रिवर्षाकालादि प्रतिक्रमितव्य। येन द्रव्येण क्षेत्रेण कालेन वा पापागमो भवति तत् द्रव्य तत् क्षेत्र स काल. परिहरणीयः द्रव्यक्षेत्रकालाश्रितदोषाभाव इत्यर्थः। काले च प्रतिक्रमितव्यं यस्मिन् काले च प्रतिक्रमणमुक्त तस्मिन् काले कर्तव्यमिति, अथवा कालेऽष्टमीचतुर्दशीनंदीश्वरादिके द्रव्यं क्षेत्र प्रतिक्रमितव्य कालश्च दिवसादि. प्रतिक्रमितव्य उपवासादिरूपेण, अथवा 'भावो हि' पाठान्तर भावश्च प्रतिक्रमितव्य इति। अप्रासुकद्रव्यक्षेत्रकालभावास्त्याज्यास्तद्द्वारेणातीचाराश्च परिहरणीया इति ॥६१८॥

भावप्रतिक्रमणमाह—

मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु ॥६१९॥

गाथार्थ—सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन प्रकार का द्रव्य, गृह आदि क्षेत्र, दिवस आदि समय रूप काल प्रतिक्रमण करने योग्य हैं ॥६१८॥

आचारवृत्ति—त्याग करने योग्य को प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। वह क्या है ? सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार का जो द्रव्य है, वह त्याग करने योग्य है। द्विपद—दास-दासी आदि और चतुष्पद—गाय, भैंस आदि ये सचेतन पदार्थ सचित्त है। सोना, चांदी, लोहा आदि पदार्थ अचित्त है, और वस्त्रादि युक्त मनुष्य, नौकर-चाकर आदि मिश्र हैं। ये तीनों प्रकार के द्रव्य त्याग करने योग्य हैं।

गृह, पत्तन, कूप, बावडी आदि क्षेत्र त्यागने योग्य है।

मुहूर्त, दिन, रात, वर्षाकाल आदि काल त्यागने योग्य है।

अर्थात् जिन द्रव्यो से, जिन क्षेत्रों और जिन कालो से पाप का आगमन होता है वे द्रव्य, क्षेत्र, काल छोड़ने योग्य हैं। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र और काल के आश्रित होनेवाले दोषों का निराकरण करना चाहिए।

काल मे प्रतिक्रमण का अभिप्राय यह है कि जिसकाल मे प्रतिक्रमण करना आगम में कहा गया है उस काल मे करना। अथवा काल मे—अष्टमी, चतुर्दशी, नदीश्वर आदि काल में द्रव्य क्षेत्र का प्रतिक्रमण करना और दिवस आदि काल का भी उपवास आदि रूप से प्रतिक्रमण करना। अथवा 'भावो हि' ऐसा पाठातर भी है। उसके आधार से 'भाव का प्रतिक्रमण करना चाहिए' ऐसा अर्थ होता है। तात्पर्य यह हुआ कि अप्रासुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव त्याग करने योग्य हैं और उनके द्वारा होनेवाले अतिचार भी त्याग करने योग्य हैं।

भावप्रतिक्रमण का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण तथा असंयम का प्रतिक्रमण, कषायों का प्रतिक्रमण और अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण, यह भावप्रतिक्रमण है ॥६१९॥

मिथ्यात्वस्य प्रतिक्रमणं त्यागस्तद्विषयदोषनिर्हरणं तथैवासंयमस्य प्रतिक्रमण तद्विषयातीचारपरिहारः। कषायाणां क्रोधादीनां प्रतिक्रमणं तद्विषयातीचारशुद्धिकरण। योगानामप्रशस्तानां प्रतिक्रमणं मनोवाक्कायविषयव्रतातीचारनिवर्त्तनमित्येव भावप्रतिक्रमणमिति ॥६१९॥

आलोचनापूर्वक यतोऽत आलोचनास्वरूपमाह—

काऊण य किदियम्मं पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो।
आलोचिज्ज सुविहिदो गारव माणं च मोत्तूण ॥६२०॥

कृतिकर्म विनय सिद्धभक्तिश्रुतभक्त्यादिक कृत्वा पूर्वापरशरीरभाग स्वोपवेशनस्थानं च प्रतिलेख्य सम्मार्ज्य पिच्छिकया चक्षुषा चाथवा चारित्रातीचारान् सम्यङ्निरूप्याजलिकरण शुद्धिर्ललाटपट्टविन्यस्तकरकुड्मलक्रियाशुद्ध एवमालोचयेत् गुरवेऽपराधान्निवेदयेत् सुविहित. सुचरित. स्वच्छवृत्ति. ऋद्धिगौरवं रसगौरव मानं च जात्यादिमद मुक्त्वा परित्यज्यैव गुरवे स्वव्रतातीचारान्निवेदयेदिति ॥६२०॥

आलोचनाप्रकारमाह—

आलोचणं दिवसियं रादिअ इरियापधं[1] च बोद्धव्व।
पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥६२१॥

आचारवृत्ति—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण—त्याग करना अर्थात् उस विषयक दोष को दूर करना, उसी प्रकार से असयम का प्रतिक्रमण अर्थात् उस विषयक अतीचार का परिहार करना, क्रोधादि कषायों का प्रतिक्रमण अर्थात् उस विषयक अतीचारों को शुद्ध करना, अप्रशस्त योगों का प्रतिक्रमण अर्थात् मनवचनकाय से हुए अतीचारो से निवृत्त होना, यह सब भावप्रतिक्रमण है।

भावार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्मबन्ध के कारण हैं। इनसे हुए दोषों को दूर करना ही भावप्रतिक्रमण है।

आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण होता है अत· आलोचना का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म करके, तथा पिच्छी से परिमार्जन कर, अंजली जोड़कर, शुद्ध हुआ गौरव और मान को छोड़कर समाधान चित्त हुआ साधु आलोचना करे ॥६२०॥

आचारवृत्ति—कृतिकर्म—विनय, सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति आदि करके अपने शरीर के पूर्व-अपर भाग को और अपने बैठने के स्थान को चक्षु से देखकर और पिच्छी से परिमार्जित करके अथवा चारित्र के अतिचारों को सम्यक् प्रकार से निरूपण करके अजलि जोडे—ललाट पट्ट पर अंजलि जोड़कर रखे, पुन. ऋद्धि गौरव, रस गौरव और जाति आदि मद को छोड़कर स्वच्छवृत्ति होता हुआ गुरु के पास अपने व्रतो के अतिचारों को निवेदित करे। इसी का नाम आलोचना है।

आलोचना के प्रकार कहते हैं—

गाथार्थ—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और

---

१ क 'यावहं च।

आलोचनं गुरवेऽपराधनिवेदनं अर्हद्भट्टारकस्याग्रतः स्वापराधाविष्करणं वा स्वचित्तेऽपराधानाम-नवगूहनं, दिवसे भवं दैवसिकं, रात्रौ भवं रात्रिकं, ईर्यापथे भवमैर्यापथिकं बोद्धव्यं। पक्षे भवं पाक्षिकं, चतुर्षु मासेषु भवं चातुर्मासिकं, संवत्सरे भवं सांवत्सरिकं, उत्तमार्थे भवमौत्तमार्थं च दिवसरात्रीर्यापथपक्षचतुर्मास-संवत्सरोत्तमार्थविषयजातापराधानां गुर्वादिभ्यो निवेदनं सप्तप्रकारमालोचनं वेदितव्यमिति ॥६२१॥

आलोचनीयमाह—

अणाभोगकिदं कम्मं जं किंचि मणसा कदं।
तं सव्वं आलोचेज्जहु[1] अव्वाखित्तेण चेदसा ॥६२२॥

आभोगः सर्वजनपरिज्ञातव्रतातीचारोऽनाभोगो न परैर्ज्ञातस्तस्मादनाभोगकृत कर्माऽऽभोगमन्तरेण कृतातीचारस्तथाभोगकृतश्चातीचारश्च तथा यत्किंचिन्मनसा च कृतं कर्म तथा कायवचनकृतं च तत्सर्वमालो-

---

उत्तमार्थ यह सात तरह की आलोचना जाननी चाहिए ॥६२१॥*

आचारवृत्ति—गुरु के पास अपने अपराध का निवेदन करना अथवा अर्हंत भट्टारक के आगे अपने अपराधों को प्रगट करना अर्थात् अपने चित्त में अपराधों को नहीं छिपाना यह आलोचना है। यह भी दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ ऐसी सातभेदरूप है। अर्थात् दिवस, रात्रिक, ईर्यापथ, चार मास, वर्ष और उत्तमार्थ इनके इन विषयक हुए अपराधों को गुरु आदि के समक्ष निवेदन रूप आलोचना होती है।

आलोचना करने योग्य क्या है? सो बताते हैं—

गाथार्थ—जो कुछ भी मन के द्वारा कृत अनाभोगकर्म है, मुनि विक्षेप रहित चित्त से उन सबकी आलोचना करे ॥६२२॥

आचारवृत्ति—सभी जनों के द्वारा जाने गए व्रतों के अतीचार आभोग हैं और जो अतीचार पद के द्वारा अज्ञात हैं वह अनाभोग है। यह अनाभोगकृत कर्म और आभोगकृत भी कर्म तथा मन से किया गया दोष, वचन और काय से भी किया गया दोष, ऐसा जो कुछ भी

---

१ क 'आलोचज्जाहु।

*यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार की प्रति में मे अधिक है—

आलोचिय अवराह ठिविओ सुद्धो अहंति तुट्ठमणो।
पुणरवि तमेव वुज्जइ तोसत्थं होइ पुणरुत्त ॥

अर्थ—खड़े होकर गुरु के समीप अपराधों का निवेदन करके मैं शुद्ध हुआ ऐसा समझकर जो आनन्दित हुआ है ऐसा वह आलोचक यदि पुनः आनन्द के लिए उसी दोष की आलोचना करता है तो वह आलोचना पुनरुक्त होती है।

चयेत् यत्किंचिदनाभोगकृत कर्माभोगकृतं कायवाङ्मनोभिः कृत च पाप तत्सर्वमव्याक्षिप्तचेतसाऽनाकुलितचेत-साऽऽलोचयेदिति ॥६२२॥

आलोचनापर्यायनामान्याह—

आलोचणमालुंचण विगडीकरणं च भावसुद्धी दु।
आलोचदह्मि आराधणा अणालोचणे भज्जा ॥६२३॥

आलोचनमालुचनमपनयन विकृतीकरणमाविष्करण भावशुद्धिश्चेत्येकोऽर्थ.। अथ किमर्थमालोचनं क्रियत इत्याशकायामाह—यस्मादालोचिते चरित्राचारपूर्वकेण गुरवे निवेदिते चेति आराधना सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रशुद्धिरनालोचने पुनर्दोषाणामनाविष्करणे पुनर्भाज्याऽऽराधना तस्मादालोचयितव्यमिति ॥६२३॥

आलोचने कालहरण न कर्त्तव्यमिति प्रदर्शयन्नाह—

उप्पण्णा उप्पण्णा माया अणुपुव्वसो णिहंतव्वा।
आलोचणणिंदणगरहणाहिं ण पुणो तिअं विदिअं ॥६२४॥

उत्पन्नोत्पन्ना यथा यथा सजाता माया व्रतातीचारोऽनुपूर्वशोनुक्रमेण यस्मिन् काले यस्मिन् क्षेत्रे

दोष है, अर्थात् अपने व्रतो के अतिचारो को चाहे दूसरे जान चुके हो या नही जानते हों ऐसे आभोगकृत दोष और अनाभोग दोष, तथा मनवचनकाय से हुए जो भी दोष हुए हैं, साधु अनाकुलचित्त होकर उन सबकी आलोचना करे।

आलोचना के पर्यायवाची नाम को कहते है—

गाथार्थ—आलोचन, आलुचन, विकृतिकरण और भावशुद्धि ये एकार्थवाची हैं। आलोचना करने पर आराधना होती है और आलोचना नही करने पर विकल्प है ॥६२३॥

आचारवृत्ति—आलोचना और आलुचन इन दो शब्दो का अर्थ अपनयन—दूर करना है, विकृतीकरण का अर्थ दोष प्रगट करना है तथा भावशुद्धि ये चारो ही शब्द एक अर्थ को कहने वाले है।

किसलिए आलोचना की जाती है?

गुरु के सामने चारित्राचारपूर्वक दोषो की आलोचना कर देने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धिरूप आराधना सिद्ध होती है। तथा दोषो को प्रकट न करने से पुन वह आरा-धना वैकल्पिक है अर्थात् हो भो, नही हो भी, इसलिए आलोचना करनी चाहिए।

आलोचना करने मे कालक्षेप नही करना चाहिए, इस बात को दिखाते हैं—

गाथार्थ—जैसे-जैसे उत्पन्न हुई माया है उसको उसी क्रम से नष्ट कर देना चाहिए। आलोचना, निदन और गर्हण करने मे पुन. तीसरा या दूसरा दिन नही करना चाहिए ॥६२४॥

आचारवृत्ति—जिस-जिस प्रकार से माया-व्रतों में अतीचार हुए है, अनुक्रम से उनको

---

१ क 'कुलचित्तेनवालो'।

यद्द्रव्यमाश्रित्य येन भावेन तेनैव क्रमेण कौटिल्यं परित्यज्य निह्नत्व्या परिशोध्या यस्मादालोचने गुरवे दोषनिवेदने निंदने परेभ्याविष्करणे गर्हणे आत्मजुगुप्सने कर्त्तव्ये पुनर्द्वितीयं पुनर्न करिष्यामीत्यथवा न पुनस्तृतीयं दिनं द्वितीयं वा द्वितीयदिवसे तृतीयदिवसे आलोचयिष्यामीति न चिंतनीयं यस्माद्गतमपि कालं न जानंतीति भावार्थस्तस्माच्छीघ्रमालोचयितव्यमिति ॥६२४॥

यस्मात्—

आलोचणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अ करणाए।
तं भावपडिक्कमणं सेसं पुणदव्वदो भणिअं ॥६२५॥

गुरवेऽपराधनिवेदनमालोचनं वचनेनात्मजुगुप्सनं परेभ्यो निवेदनं च निन्दा चित्तेनात्मनो जुगुप्सनं शासनविराधनभयं च गर्हणमेतैः क्रियायाः प्रतिक्रमणेऽथवा पुनरतीचाराकरणेऽभ्युत्थित उद्यतो यतस्तस्माद्भावप्रतिक्रमणं परमार्थभूतो दोषपरिहारः शेषं पुनरेवमन्तरेण द्रव्यतोऽपरमार्थरूपं भणितमिति ॥२२५॥

द्रव्यप्रतिक्रमणे दोषमाह—

भावेण अणुवजुत्तो दव्वीभूदो पडिक्कमदि जो दु।
जस्सट्ठं पडिकमदे तं पुण अट्ठं ण साधेदि ॥६२६॥

दूर करना चाहिए। अर्थात् जिस काल मे, जिस क्षेत्र मे, जिस द्रव्य का आश्रय लेकर और जिस भाव से व्रतों में अतीचार उत्पन्न हुए है, मायाचारी को छोड़कर उसी क्रम से उनका परिशोधन करना चाहिए।

गुरु के सामने दोषो का निवेदन करना आलोचना है, पर के सामने दोषों को प्रकट करना निन्दा है और अपनी निन्दा करना गर्हा है। इन आलोचना, निन्दा और गर्हा के करने मे 'मैं दूसरे दिन आलोचना करूँगा अथवा तीसरे दिन कर लूंगा' इस तरह से नही सोचना चाहिए। क्योकि बीतता हुआ काल जानने में नही आता है ऐसा अभिप्राय है। इसलिए शीघ्र ही आलोचना कर लेनी चाहिए।

भाव और द्रव्य प्रतिक्रमण को कहते है—

गाथार्थ—आलोचना, निन्दा और गर्हा के द्वारा जो प्रतिक्रमण क्रिया में उद्यत हुआ, उसका वह भाव प्रतिक्रमण है। पुनः शेष प्रतिक्रमण द्रव्य से कहा गया है ॥६२५॥

आचारवृत्ति—गुरु के सामने अपराध का निवेदन करना आलोचना है, वचनो से अपनी जुगुप्सा करना और पर के सामने निवेदन करना निन्दा है तथा मन से अपनी जुगुप्सा—तिरस्कार करना और शासन की विराधना का भय रखना गर्हा है। इनके द्वारा प्रतिक्रमण करने में अथवा पुनः अतीचारो के नही करने मे जो उद्यत होता है उसके वह भाव प्रतिक्रमण होता है जोकि परमार्थभूत दोषों के परिहाररूप है। शेष पुनः इन आलोचना आदि के बिना जो प्रतिक्रमण है वह द्रव्य प्रतिक्रमण है। वह अपरमार्थ रूप कहा गया है।

द्रव्य प्रतिक्रमण मे दोष को कहते हैं—

गाथार्थ—जो भाव से उपयुक्त न होता हुआ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करता है, वह जिस लिए प्रतिक्रमण करता है उस प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता है ॥६२६॥

भावेनानुपयुक्तः शुद्धपरिणामरहितः द्रव्यीभूतेभ्यो। दोषेभ्यो न[1] निर्गतमना रागद्वेषाद्युपहतचेताः प्रतिक्रमते दोषनिर्हरणाय प्रतिक्रमणं शृणोति करोति चेति यः स यस्यार्थं यस्मै दोषाय प्रतिक्रमते तं पुनरर्थं न साधयति तं दोषं न[2] परित्यजतीत्यर्थः ॥६२६॥

भावप्रतिक्रमणमाह—

भावेण संपजुत्तो जदत्थजोगो य जंपदे सुत्तं।
सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे साधू ॥६२७॥

भावेन सम्प्रयुक्तो यदर्थं योगश्च यन्निमित्तं शुभानुष्ठानं यस्मै अर्थायाभ्युद्यतो जल्पति सूत्रं प्रतिक्रमणपदान्युच्चरति शृणोति वा स साधुः कर्मनिर्जरायां विपुलायां प्रवर्तते सर्वापराधान् परिहरतीत्यर्थः ॥६२७॥

किमर्थं प्रतिक्रमणे तात्पर्यं, यस्मात्—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥६२८॥

सह प्रतिक्रमणेन वर्तत इति सप्रतिक्रमणो धर्मो दोषपरिहारेण चारित्रं पूर्वस्य प्राक्तनस्य वृषभतीर्थंकरस्य पश्चिमस्य पाश्चात्यस्य सन्मतिस्वामिनो जिनस्य तयोस्तीर्थंकरयोर्धर्मः प्रतिक्रमणसमन्वितः

आचारवृत्ति—जो शुद्ध परिणामों से रहित है, दोषों से अपने मन को दूर नहीं करने वाला है। ऐसा साधु दोष को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण को सुनता है या करता है तो वह जिस दोष के लिए प्रतिक्रमण करता है उस दोष को छोड़ नहीं पाता है। अर्थात् यदि साधु का मन प्रतिक्रमण करते समय दोषों की आलोचना, निन्दा आदि रूप नहीं है तो वह प्रतिक्रमण दण्डकों सुन लेने या पढ़ लेने मात्र से उन दोषों से छूट नहीं सकता है। अतः जिस लिए प्रतिक्रमण किया जाता है वह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता है ऐसा समझकर भावरूप प्रतिक्रमण करना चाहिए।

भाव प्रतिक्रमण को कहते हैं—

गाथार्थ—भाव से युक्त होता हुआ जिस प्रयोजन के लिए सूत्र को पढ़ता है वह साधु उस विपुल कर्मनिर्जरा में प्रवृत्त होता है ॥६२७॥

आचारवृत्ति—जो साधु भाव से संयुक्त हुआ जिस अर्थ के लिए उद्यत हुआ प्रतिक्रमण पदों का उच्चारण करता है अथवा सुनता है वह बहुत से कर्मों की निर्जरा कर लेता है अर्थात् सभी अपराधों का परिहार कर देता है।

प्रतिक्रमण करने का उद्देश क्या है? सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—प्रथम और अन्तिम जिनवरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है तथा अपराध होने पर मध्यम जिनवरों का प्रतिक्रमण करना धर्म है ॥६२८॥

आचारवृत्ति—प्रतिक्रमण सहित धर्म अर्थात् दोष परिहारपूर्वक चारित्र। प्रथम जिन वृषभ तीर्थंकर और अन्तिम जिन सन्मति स्वामी इन दोनों तीर्थंकरों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है। अपराध हो अथवा न हो किन्तु इनके तीर्थ में शिष्यों को प्रतिक्रमण करना ही

१—२. 'न' नास्ति क-प्रतौ।

अपराधो भवतु मा वा, मध्यमानां पुनर्जिनवराणामजितादिपार्श्वनाथपर्यन्तानामपराधे सति प्रतिक्रमणं तेषां यतोऽपराधबाहुल्याभावादिति ॥६२८॥

जावेदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो ।
तावेदु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥६२९॥

यस्मिन् व्रत आत्मनोऽन्यस्य वा भवेदतीचारस्तस्मिन् विषये भवेत्प्रतिक्रमण मध्यमजिनवराणामाद्य-पश्चिमयो पुनस्तीर्थंकरयोरेकस्मिन्नपराधे सर्वान् प्रतिक्रमणदण्डकान् भणति ॥६२९॥

इत्याह—

इरियागोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
पुरिम चरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमदि ॥६३०॥

ईर्यागोचरस्वप्नादिभव सर्वमतीचारमाचरतु मा वाऽऽचरतु पूर्वे ऋषभनाथशिष्याश्चरमा वर्द्धमान-शिष्याः सर्वे सर्वान्नियमान् प्रतिक्रमणदण्डकान् प्रतिक्रमन्त उच्चारयन्ति ॥६३०॥

किमित्याद्याः पश्चिमाश्च सर्वान्नियमादुच्चारयति किमित्यजितादिपार्श्वनाथपर्यन्तशिष्यानोच्चार-यन्ति इत्याशंकायामाह—

चाहिए। किन्तु अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथपर्यंत मध्य के बाईस तीर्थंकरों का धर्म, अपराध के होने पर ही प्रतिक्रमण करने रूप है, क्योंकि उनके शिष्यो में अपराध की बहुलता का अभाव है।

गाथार्थ—जिस व्रत मे अपने को या अन्य किसी को अतीचार होवे, मध्यम जिनवरों के काल में उसका ही प्रतिक्रमण करना होता है ॥६२९॥

आचारवृत्ति- जित व्रत में अपने को या अन्य किसी साधु को अतीचार लगता है उसी विषय में प्रतिक्रमण होता है ऐसा मध्यम के बाईस तीर्थंकरों के शासन का नियम था किन्तु प्रथम और अन्तिम तोर्थंकर के शासनकाल मे पुनः एक अपराध के होने पर प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों को बोलना होता है।

इसी बात को कहते है—

गाथार्थ—ईर्यापथ सम्बन्धी, आहार सम्बन्धी, स्वप्न आदि सम्बन्धी सभी दोष करें या न करें किन्तु पूर्व और चरम अर्थात् आद्यन्त तीर्थंकरों के काल मे सभी साधु सभी दोषों का नियम से प्रतिक्रमण करते हैं ॥६३०॥

आचारवृत्ति—ईर्यापथ, गोचरी, स्वप्न इत्यादि में अतीचार होवे या न होवें, किन्तु ऋषभनाथ के शिष्य और वर्धमान भगवान् के सभी शिष्य सभी प्रतिक्रमण दडकों का उच्चारण करते हैं।

आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य किसलिए सर्व प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करते हैं? और अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथपर्यंत के शिष्य क्यों नहीं सभी का उच्चारण करते हैं? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तह्या हु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति ॥६३१॥

यस्मान्मध्यमतीर्थंकरशिष्या दृढबुद्धयोऽविस्मरणशीला एकाग्रमनसः स्थिरचित्ता अमोहलक्षा अमूढमनसः प्रेक्षापूर्वकारिणः तस्मात्स्फुटं यं दोषं आचरंति तस्माद्दोषाद् गर्हन्तोऽप्यात्मानं जुगुप्समानाः शुद्ध्यन्ते शुद्धचारित्रा भवन्तीति ॥६३१॥

पुरिमचरिमादु जह्या चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो ॥६३२॥

पूर्वचरमतीर्थंकरशिष्यास्तु यस्माच्चलचित्ताश्चैव दृढमनसो नैव, मोहलक्षाश्च मूढमनसो बहून् वारान् प्रतिपादितमपि शास्त्रं न जानंति ऋजुजडा वक्रजडाश्च यस्मात्तस्मात्सर्वप्रतिक्रमणं दण्डकोच्चारणं। तेषामन्धलकघोटकदृष्टान्तः। कस्यचिद्राज्ञोऽश्वोऽन्धस्तेन च वैद्यपुत्रं प्रति अश्वायौषधं पृष्टं स च वैद्यकं न जानाति, वैद्यश्च ग्रामं गतस्तेन च वैद्यपुत्रेणाश्वाक्षिनिमित्तानि सर्वाण्यौषधानि प्रयुक्तानि तैः सोऽश्वः स्वस्थी-

---

गाथार्थ—मध्य तीर्थंकरों के शिष्य दृढबुद्धिवाले, एकाग्र मन सहित और मूढ़मन-रहित होते हैं। इसलिए जिस दोष का आचरण करते है उसकी गर्हा करके ही शुद्ध हो जाते है ॥६३१॥

आचारवृत्ति—मध्यम २२ तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धि वाले होते थे अर्थात् वे विस्मरण स्वभाव वाले नही थे—उनकी स्मरण शक्ति विशेष थी, उनका चित्त स्थिर रहता था, और वे विवेकपूर्वक कार्य करते थे। इसलिए जो दोष उनसे होता था उस दोष से अपनी आत्मा की गर्हा करते हुए शुद्ध चारित्र वाले हो जाते थे।

गाथार्थ—पूर्व और चरम के अर्थात् आद्यन्त तीर्थंकर के शिष्य तो जिस हेतु से चल-चित्त और मूढमनवाले होते है इसलिए उनके सर्वप्रतिक्रमण है, इसमे अंधलक घोटक उदाहरण समझना ॥६३२॥

आचारवृत्ति—प्रथम और चरम तीर्थंकर के शिष्य जिस कारण से चंचल चित्त होते हैं अर्थात् उनका मन स्थिर नही रहता है। तथा मूढचित्त वाले है—उनको बहुत बार शास्त्रों को प्रतिपादन करने पर भी वे नही समझते है वे ऋजुजड़ और वक्रजड़ स्वभावी होते हैं। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के शासन के शिष्यो मे अतिसरलता और अतिजड़ता रहती थी और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यो मे कुटिलता और जड़ता रहती है अतः ये ऋजुजड और वक्रजड़ कहलाते हैं। इसी कारण से इन्हे सर्वदण्डको के उच्चारण का विधान है।

इनके लिए अन्धलक घोटक दृष्टान्त दिया गया है। यथा—

किसी राजा का घोड़ा अन्धा हो गया, उसने उस घोडे के लिए वैद्य के पुत्र से औषधि पूछी। वह वैद्यक शास्त्र जानता नही था और उसका पिता वैद्य अन्य ग्राम को चला गया था। तब उस वैद्यपुत्र ने घोडे की आँख के निमित्त सभी औषधियों का प्रयोग कर दिया अर्थात् सभी औषधि उस घोडे की आँख में लगाता गया। उन औषधियों के प्रयोग से वह घोड़ा स्वस्थ हो गया अर्थात् जो आँख खुलने की औषधि थी उसी मे वह भी आ गई। उसके लगते ही घोड़े की

भूत. एवं साधुरपि यदि एकस्मिन्प्रतिक्रमणदण्डके स्थिरमना न भवति अन्यस्मिन् भविष्यति अन्यस्मिन् वा न भवत्यन्यस्मिन् भविष्यतीति सर्वदण्डकोच्चारणं न्याय्यमिति, न चात्र विरोध., सर्वेपि कर्मक्षयकरणसमर्था यतः इति ॥६३२॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिमुपसंहरन् प्रत्याख्याननिर्युक्तिं प्रपचयन्नाह—

पडिकमणणिजुत्ती पुण एसा कहिया मए समासेण।
पच्चक्खाणणिजुत्ती एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥६३३॥

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन पुन. प्रत्याख्याननिर्युक्तिमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामीति ।

तामेव प्रतिज्ञा निर्वहन्नाह—

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो पच्चक्खाणे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६३४॥

अयोग्यानि नामानि पापहेतूनि विरोधकारणानि न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमंतव्यानीति

आँख खुल गई। वैसे ही साधु भी यदि एक प्रतिक्रमण दण्डक में स्थिरचित्त नही होता तो अन्य दण्डक मे हो जावेगा, अथवा यदि अन्य दण्डक मे भी स्थिरमना नही होगा तो अन्य किसी दण्डक में स्थिरचित्त हो जावेगा, इसलिए सर्वदण्डकों का उच्चारण करना न्याय ही है, और इसमे विरोध भी नही है क्योकि प्रतिक्रमण के सभी दण्डक सूत्र कर्मक्षय करने में समर्थ हैं।

भावार्थ—ऋषभदेव और वीरप्रभु के शासन के मुनि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि समयो मे आगम विहित पूरे प्रतिक्रमण को पढ़ते हैं। उस प्रतिक्रमण में सभी प्रकार के दोषों के निराकरण करने वाले सूत्र आते है। इन साधुओ को चाहे एक व्रत मे अतीचार लगे, चाहे दो चार आदि में लगे, चाहे कदाचित् किसी व्रत मे अतीचार न भी लगे अर्थात् किंचित् दोष न भी हो तो भी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के अनुसार यथोक्तकाल में वे प्रतिक्रमण विधि करें ही करें ऐसा आदेश है चूकि वे विस्मरणशील चचलचित्त और सरल जड या जड कुटिल तथा अज्ञानबहुल होते है। यही बात ऊपर बताई गई है। अत प्रमाद छोड़कर विधिवत् सर्व प्रतिक्रमणो को करते रहना चाहिए। तथा उनके अर्थ को समझते हुए अपनी निन्दा गर्हा आदि के द्वारा उन दोषों से उपरत होना चाहिए।

प्रतिक्रमण निर्युक्ति का उपसहार करते हुए प्रत्याख्यान निर्युक्ति को कहते हैं—

गाथार्थ—मैने संक्षेप से यह प्रतिक्रमण निर्युक्ति कही है। इसके आगे प्रत्याख्यान निर्युक्ति को कहूँगा ॥६३३॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उसी प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप प्रत्याख्यान में छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६३४॥

आचारवृत्ति—अयोग्य नाम पाप के हेतु हैं और विरोध के कारण हैं ऐसे नाम न

नामप्रत्याख्यानं प्रत्याख्याननाममात्रं वा, अयोग्या. स्थापनाः पापबंधहेतुभूता' मिथ्यात्वादिप्रवर्तका अपरमार्थ-रूपदेवतादिप्रतिबिंबानि पापकारणद्रव्यरूपाणि च न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमन्तव्यानि इति स्थापना-प्रत्याख्यान । प्रत्याख्यानपरिणतप्रतिबिंबं च सद्भावासद्भावरूप स्थापनाप्रत्याख्यानमिति, पापबन्धकारणद्रव्यं सावद्यं निरवद्यमपि तपोनिमित्त त्यक्त न भोक्तव्य न भोजयितव्य नानुमतव्यमिति द्रव्यप्रत्याख्यानं प्राभृतज्ञाय-कोऽनुपयुक्तस्तच्छरीर भावी जीवस्तद्व्यतिरिक्त च द्रव्यप्रत्याख्यान असयमादिहेतुभूतस्य क्षेत्रस्य परिहारः क्षेत्र-प्रत्याख्यानं, प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितप्रदेशे[1] प्रवेशो वा क्षेत्रप्रत्याख्यान, असयमादिनिमित्तभूतस्य[2] कालस्य त्रिधा परिहार कालप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितकालो वा, मिथ्यात्वासयमकषायादीना त्रिविधेन परिहारो भावप्रत्याख्यान भावप्रत्याख्यानप्रभृतज्ञायकस्तद्विज्ञान प्रदेशादित्येवमेष नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकाल-भावविषय. प्रत्याख्याने निक्षेप षड्विधो ज्ञातव्य इति। प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानयो को विशेष इति चेन्नैष

रखना चाहिए, न रखवाना चाहिए और न रखते हुए को अनुमोदना ही देनी चाहिए—यह नाम प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान नाम मात्र किसी का रख देना नाम प्रत्याख्यान है। अयोग्य स्थापना—मूर्तियाँ पापबन्ध के लिए कारण हैं, मिथ्यात्व आदि की प्रवर्तक हैं, और अवास्तविक रूप देवता आदि के जो प्रतिबिम्ब है वे भी पाप के कारण रूप द्रव्य है ऐसी अयोग्य स्थापना को न करना चाहिए, न कराना चाहिए और करते हुए को अनुमोदना देना चाहिए यह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि आदि का प्रतिबिम्ब जोकि तदाकार हो या अतदाकार, वह भी स्थापना प्रत्याख्यान है।

पापबन्ध के कारणभूत सावद्य—सदोष द्रव्य तथा तप के निमित्त त्याग किए गये जो निरवद्य—निर्दोष द्रव्य भी है ऐसे सदोष और त्यक्त रूप निर्दोष द्रव्य को भी न ग्रहण करना चाहिए न कराना चाहिए और न अनुमोदना देनी चाहिए। यहाँ आहार सम्बन्धी तो खाने मे अर्थात् भोग मे आयेगा और उसके अतिरिक्त भी द्रव्य उपकरण आदि उपभोग में आयेंगे किन्तु 'भोक्तव्य' क्रिया से यहाँ पर मुख्यतया भोजन सम्बन्धी द्रव्य की विवक्षा है, इस तरह यह द्रव्य प्रत्याख्यान है अथवा प्रत्याख्यान शास्त्र का ज्ञाता और उसके उपयोग से रहित जीव, उसका शरीर, भावी जीव और उससे व्यतिरिक्त ये सब द्रव्य प्रत्याख्यान हैं।

असयम आदि के लिए कारणभूत क्षेत्र का परिहार करना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है, अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि के द्वारा सेवित प्रदेश मे प्रवेश करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है।

असयम आदि के कारणभूत काल का मन-वचन-काय से परिहार करना काल-प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान से परिणत हुए मुनि के द्वारा सेवित काल काल-प्रत्यख्यान है।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि का मनवचनकाय से परिहार—त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। अथवा भाव प्रत्याख्यान के शास्त्र के ज्ञाता जीव को या उसके ज्ञान को या उसके आत्म प्रदेशों को भी भाव प्रत्याख्यान कहते है। इस प्रकार से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक छह प्रकार का निक्षेप प्रत्याख्यान में घटित किया गया है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है ?

भूतकाल विषयक अतीचारो का शोधन करना प्रतिक्रमण है, और भूत, भविष्यत्

---

१. क °देशो वा। २. क °दिहेतुभूतस्य।

दोषोऽतीतकालविषयातीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीतभविष्यद्वर्तमानकालविषयातिचारनिर्हरणं प्रत्याख्यानमथवा व्रताद्यतीचारशोधनं प्रतिक्रमणमतीचारकारणसचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यविनिवृत्तिस्तपोनिमित्तं प्रासुकद्रव्यस्य च निवृत्तिः प्रत्याख्यानं यस्मादिति ॥६३४॥

प्रत्याख्यायकप्रत्याख्यानप्रत्याख्यातव्यस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

पच्चक्खाओ पच्चक्खाणं पच्चक्खियव्वमेवं तु।
तीदे पच्चुप्पण्णे अणागदे चेव कालह्मि ॥६३५॥

प्रत्याख्यायको जीवः संयमोपेतः प्रत्याख्यानं परित्यागपरिणामः प्रत्याख्यातव्यं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकं सावद्यं निरवद्यं वा। एवं त्रिप्रकारं[1] प्रत्याख्यानस्वरूपोऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति। तत्त्रिविधमप्यतीते काले प्रत्युत्पन्ने कालेऽनागते च काले भूतभविष्यद्वर्तमानकालेष्वपि ज्ञातव्यमिति ॥६३५॥

तथा वर्तमान इन तीनों कालविषयक अतीचारो का निरसन करना प्रत्याख्यान है। अथवा व्रत आदि के अतीचारो का शोधन प्रतिक्रमण है तथा अतीचार के लिए कारणभूत ऐसे सचित्त, अचित्त एव मिश्र द्रव्यो का त्याग करना तथा तप के लिए प्रासुकद्रव्य का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

भावार्थ—समता, स्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण इनमें जो निक्षेप घटित किए हैं वहाँ पर पहले चरणानुयोग की पद्धति से द्रव्य आदि निक्षेपों को कहकर पुनः 'अथवा' कहकर सैद्धांतिक विधि से छहों निक्षेप बताये हैं। किन्तु यहाँ पर टीकाकार में दोनों प्रकार के निक्षेपों को साथ-साथ ही घटित कर दिया है ऐसा समझना। एव छहों निक्षेपो का चरणानुयोग की विधि से जो कथन है उसमें प्रत्येक मे कृत, कारित, अनुमोदना को लगा लेना चाहिए।

प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य इन तीनो का स्वरूप प्रतिपादित करने के लिए कहते हैं—

गाथार्थ—प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य ये तीनो ही भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल मे होते हैं ॥६३५॥

आचारवृत्ति—सयम से युक्त जीव—मुनि प्रत्याख्यायक है, अर्थात् प्रत्याख्यान करनेवाले है। त्यागरूप परिणाम प्रत्याख्यान है। सावद्य हों या निरवद्य, सचित्त, अचित्त तथा मिश्र ये तीन प्रकार के द्रव्य प्रत्याख्यातव्य हैं अर्थात् प्रत्याख्यान के योग्य हैं। इन तीन प्रकार से प्रत्याख्यान के स्वरूप की अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् इन प्रत्याख्यायक आदि तीन प्रकार के सिवाय प्रत्याख्यान का कोई स्वरूप नही है। ये तीनों ही भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत् की अपेक्षा से तीन-तीन भेदरूप हो जाते है। अर्थात् भूतप्रत्याख्यायक, वर्तमान प्रत्याख्यायक और भविष्यत् प्रत्याख्यायक। भूत प्रत्याख्यान, वर्तमान प्रत्याख्यान और भविष्यत्-प्रत्याख्यान। भूतप्रत्याख्यातव्य, वर्तमान प्रत्याख्यातव्य और भविष्यत्-प्रत्याख्यातव्य।

भावार्थ—प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग। सो त्याग करनेवाला जीव, त्याग और त्यागने योग्य वस्तु—मूल में इन तीनों को कहा है। पुनः प्रत्याख्यान त्रैकालिक होने से तीनों को भी त्रैकालिक सिद्ध किया है।

---

1 क त्रिप्रकार एव।

प्रत्याख्यायकस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

आणाय जाणणाविय उवजुत्तो मूलमज्झणिद्देसे।
सागारमणागारं अणुपालेंतो दढधिदीओ ॥६३६॥

आणाविय आज्ञया गुरूपदेशेनार्हदाद्याज्ञया चारित्रश्रद्धया, **जाणणाविय** ज्ञापकेन गुरुनिवेदनेनाथवा परमार्थतो ज्ञात्वा दोषस्वरूप तमोहेतु बाह्याभ्यन्तर प्रविश्य ज्ञात्वाऽपि चोपयुक्त· षट्प्रकारसमन्वित. मूले आदौ ग्रहणकाले मध्ये मध्यकाले निर्देशे समाप्तौ सागार गार्हस्थ्य सयतासयतयोग्यमथवा साकार सविकल्प भेदसहित अनागार सयमसमेतोद्भव यतिप्रतिबद्धमथवाऽनाकार निर्विकल्प सर्वथा परित्यागमनुपालयन् रक्षयन् दृढधृतिक सदृढधैर्य, मूलमध्यनिर्देशे साकारमनाकार च प्रत्याख्यानमुपयुक्तः सन् आज्ञया सम्यग्विवेकेन वाऽनुपालयन् दृढधृतिको यो भवति स एव प्रत्याख्यायको नामेति सम्बन्ध। उत्तरेणाथवा मूलमध्यनिर्देश आज्ञयोपयुक्त साकारमनाकार च प्रत्याख्यान च गुरु ज्ञापयन् प्रतिपादयन् अनुपालयश्च दृढधृतिक. प्रत्याख्यायको भवेदिति ॥६३६॥

शेष प्रतिपादयन्नाह—

प्रत्याख्यायक का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं—

गाथार्थ—आज्ञा से और गुरु के निवेदन से उपयुक्त हुआ क्रिया के आदि और अन्त में सविकल्प और निर्विकल्प सयम को पालन करता हुआ दृढ धैर्यवान् साधु प्रत्याख्यायक होता है ॥६३६॥

आचारवृत्ति—आज्ञा—गुरु का उपदेश, अर्हंत आदि की आज्ञा और चारित्र की श्रद्धा ये आज्ञा शब्द से ग्राह्य है। ज्ञापक—बतलाने वाले गुरु। इस तरह गुरु के उपदेश आदि रूप आज्ञा से और गुरु के कथन से पाप रूप अन्धकार के हेतुक दोष के स्वरूप को परमार्थ से जानकर और उसके बाह्य-अभ्यन्तर कारणो मे प्रवेश करके जो मुनि नाम, स्थापना आदि छह भेद रूप प्रत्याख्यानो से समन्वित हैं वह साधु प्रत्याख्यान के मूल—ग्रहण के समय, उसके मध्यकाल मे और निर्देश—उसकी समाप्ति मे सागार—सयतासयत गृहस्थ के योग्य और अनगार—सयमयुक्त यति से सम्बन्धित अथवा साकार—सविकल्प-भेद सहित और अनाकार—निर्विकल्प अर्थात् सर्वथा परित्याग रूप प्रत्याख्यान की रक्षा करता हुआ दृढ़ धैर्यसहित होने से प्रत्याख्यायक है। अर्थात् जो साधु त्याग के आदि, मध्य और अन्त मे साकार व अनाकार प्रत्याख्यान मे उद्यमशील होता हुआ गुरुओ की आज्ञा या सम्यक् विवेक से उसका पालन करता हुआ दृढ़धैर्यवान है वह प्रत्याख्यायक कहलाता है ऐसा अगली गाथा से सम्बन्ध कर लेना चाहिए। अथवा मूल, मध्य और अन्त मे प्रत्याख्यान का पालन करनेवाला, गुरु की आज्ञा को धारण करनेवाला साधु भेदसहित और भेदरहित प्रत्याख्यान को गुरु को बतलाकर उसको पालता हुआ धैर्यगुणयुक्त है वह प्रत्याख्यायक है।

शेष को बतलाते हैं—

एसो पच्चक्खाओ पच्चक्खाणिति वुच्चदे चाओ।
पच्चक्खिदव्वमुवहि आहारो चेव बोधव्वो ॥६३७॥

एष प्रत्याख्यायकः पूर्वेण सम्बन्ध. प्रत्याख्यानमित्युच्यते । त्याग. सावद्यस्य द्रव्यस्य विरवद्यस्य वा तपोनिमित्तं परित्याग. प्रत्याख्यानं प्रत्याख्यातव्य परित्यजनीय उपधिः परिग्रहः सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नः क्रोधादिभेदभिन्नश्चाहारश्चाभक्ष्यभोज्यादिभेदभिन्नो बोद्धव्य इति ।।६३७॥

प्रस्तुत प्रत्याख्यान प्रपंचयन्नाह—

पच्चक्खाणं उत्तरगुणेसु खमणावि होदि णेयविहं ।
तेणवि अ एत्थ पयद तंपि य इणमो दसविहं तु ॥६३८॥

प्रत्याख्यान मूलगुणविषयमुत्तरगुणविषय वक्ष्यमाणादिभेदेनाशनपरित्यागादिभेदेनानेकविधमनेकप्रकार । तेनापि चात्र प्रकृत प्रस्तुतं अथ वा तेन प्रत्याख्यायकेनात्र यत्न कर्त्तव्यस्तदेतदपि च दशविध तदपि चैतत् क्षमणादि दशप्रकारं भवतीति वेदितव्यम् ॥६३८॥

तान् दशभेदान् प्रतिपादयन्नाह—

अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव ।
सागारमणागार परिमाणगद अपरिसेसं ॥४३९॥

अद्धाणगदं णवम दसम तु सहेदुगं वियाणाहि ।
पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदह्मि ॥६४०॥

गाथार्थ—यह पूर्वोक्त गाथा कथित साधु प्रत्याख्यायक है। त्याग को प्रत्याख्यान कहते है, और उपधि तथा आहार यह प्रत्याख्यान करने योग्य पदार्थ हैं ऐसा जानना ॥६३७॥

आचारवृत्ति—पूर्वगाथा मे कहा गया साधु प्रत्याख्यायक है। सावद्यद्रव्य का त्याग करना या तपोनिमित्त निर्दोष द्रव्य का त्याग करना प्रत्याख्यान है। सचित्त, अचित्त तथा मिश्र रूप बाह्य परिग्रह एव क्रोध आदि रूप अभ्यन्तर परिग्रह ये उपधि है। अभक्ष्य भोज्य आदि पदार्थ आहार कहलाते हैं। ये उपधि और आहार प्रत्याख्यातव्य है।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान का विस्तार से वर्णन करते हैं—

गाथार्थ—उत्तर गुणो मे जो अनेक प्रकार के उपवास आदि है वे प्रत्याख्यान हैं। उसमें प्रत्याख्यायक प्रयत्न करे सो यह प्रत्याख्यान दश प्रकार का भी है ॥६३८॥

आचारवृत्ति—मूलगुण विषयक प्रत्याख्यान और उत्तरगुण विषयक प्रत्याख्यान होता है जोकि आगे कहे जाने वाले भोजन के परित्याग आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। उन भेदों से भी यहाँ पर प्रकृत है—कहा गया है अथवा उस प्रत्याख्यायक साधु के इन त्याग रूप उपवास आदिकों में प्रयत्न करना चाहिए।

सो यह भी उपवास आदि रूप प्रत्याख्यान दश प्रकार का है ऐसा जानना।

उन दश भेदों का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखंडित, साकार, अनाकार, परिणाम-

अणागदं अनागतं भविष्यत्कालविषयोपवासादिकरण चतुर्दश्यादिषु यत्कर्त्तव्यं तत्त्रयोदश्यादिषु यत् क्रियते तदनागत प्रत्याख्यान, **अदिकंतं** अतिक्रान्त अतीतकालविषयोपवासादिकरण चतुर्दश्यादिषु यत्कर्त्तव्य-मुपवासादिकं तत्प्रतिपदादिषु क्रियतेऽतिक्रान्त प्रत्याख्यान । **कोडीसहिदं** कोटिसहितं सकल्पसमन्वित शक्त्यपेक्ष-मोपवासादिक श्वस्तने दिने स्वाध्यायवेलायामतिक्रान्तायां यदि शक्तिर्भविष्यत्युपवासादिकं करिष्यामि नो चेन्न करिष्यामीत्येवं यत् क्रियते प्रत्याख्यान तत्कोटिसहितमिति, **णिक्खंडिदं** निखंडितं अवश्यकर्त्तव्यं पाक्षिकादिषू-पवासकरण निखडित प्रत्याख्यान, साकार सभेदं सर्वतोभद्रकनकावल्याद्युपवासविधिर्नक्षत्रादिभेदेन करणं तत्साकारप्रत्याख्यान, अनाकार स्वेच्छयोपवासविधिर्नक्षत्रादिकमतरेणोपवासादिकरणमनाकारं प्रत्याख्यानं,

---

गत, अपरिशेष, अध्वानगत और दशम सहेतुक ये दश भेद जानो। ये प्रत्याख्यान के भेद जिनमत मे निरुक्ति सहित है ॥६३९-६४०॥

आचारवृत्ति—दश प्रकार के प्रत्याख्यान को पृथक्-पृथक् कहते हैं—

१ भविष्यत्काल मे किए जाने वाले उपवास आदि पहले कर लेना, जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास करना था उसको त्रयोदशी आदि में कर लेना अनागत प्रत्याख्यान है।

२. अतीतकाल में किए जाने वाले उपवास आदि को आगे करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। जैसे चतुर्दशी आदि मे जो उपवास आदि करना है उसे प्रतिपदा आदि में करना।

३. शक्ति आदि की अपेक्षा से सकल्प सहित उपवास करना कोटिसहित प्रत्याख्यान है। जैसे कल प्रातः स्वाध्याय वेला के अनन्तर यदि शक्ति रहेगी तो उपवास आदि करूँगा, यदि शक्ति नही रही तो नही करूँगा, इस प्रकार से जो संकल्प करके प्रत्याख्यान होता है वह कोटिसहित है।

४. पाक्षिक आदि मे अवश्य किए जाने वाले उपवास का करना निखण्डित प्रत्याख्यान है।

५ भेद सहित उपवास करने को साकार प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसे सर्वतोभद्र, कनकावली आदि व्रतो की विधि से उपवास करना, रोहिणी आदि नक्षत्रों के भेद से उपवास करना।

६ स्वेच्छा से उपवास करना, जैसे नक्षत्र या तिथि आदि की अपेक्षा के बिना ही स्वरुचि से कभी भी कर लेना अनाकार प्रत्याख्यान है।

७. प्रमाण सहित उपवास को परिमाणगत कहते है। जैसे बेला, तेला, चार उपवास, पाच उपवास, सात दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि काल के प्रमाण उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

८. जीवन पर्यंत के लिए चार प्रकार के आहार आदि का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

९. मार्ग विषयक प्रत्याख्यान अध्वानगत है। जैसे जंगल या नदी आदि से निकलने

परिमाणगतं प्रमाणसहितं षष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षार्द्धपक्षमासादिकालादिपरिमाणेनोपवासादिकरण परिमाण-गतं प्रत्याख्यानं, अपरिशेषं यावज्जीवं चतुर्विधाऽऽहारादित्यागोऽपरिशेषं प्रत्याख्यानम् ॥६३९॥

तथा—

अद्धाणगदं अध्वानं गतमध्वगतं मार्गविषयाटवीनद्यादिनिष्क्रमणद्वारेणोपवासादिकरणं। अध्वगतं नाम प्रत्याख्यान नवम, सहहेतुना वर्तत इति सहेतुकमुपसर्गादिनिमित्तापेक्षमुपवासादिकरणं सहेतुकं नाम प्रत्याख्यान दशमं विजानीहि, एवमेतान्प्रत्याख्यानकरणविकल्पान्विभक्तियुक्तान्तथानुगतान् परमार्थरूपाञ्जिन-मते विजानीहीति ॥६४०॥

पुनरपि प्रत्याख्यानकरणविधिमाह—

विणएण तहणुभासा हवदि य अणुपालणाय परिणामे।
एदं पच्चक्खाणं चदुव्विधं होदि णादव्वं ॥६४१॥

विनयेन शुद्धं तथाऽनुभाषयाऽनुपालनेन परिणामेन च यच्छुद्धं भवति तदेतत्प्रत्याख्यानं चतुर्विध भवति ज्ञातव्य। यस्मिन् प्रत्याख्याने विनयेन सार्द्धमनुभाषाप्रतिपालनेन सह परिणामशुद्धिस्तत्प्रत्याख्यानं चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यमिति ॥६४१॥

विनयप्रत्याख्यानं तावदाह—

किदियम्मं उवचारिय विणओ तह णाणदंसणचरित्ते।
पचविधविणयजुत्तं विणयसुद्धं हवदि तं तु ॥६४२॥

के प्रसंग में उपवास आदि करना अर्थात् इस वन से बाहर पहुँचने तक मेरे चतुर्विध आहार का त्याग है या इस नदी से पार होने तक चतुर्विध आहार का त्याग है ऐसा उपवास करना सो अध्वानगत प्रत्याख्यान है।

१०. हेतु सहित उपवास सहेतुक हैं यथा उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना सहेतुक नाम का प्रत्याख्यान है।

विभक्ति से युक्त अन्वर्थ, नाम से सहित तथा परमार्थ रूप प्रत्याख्यान करने के ये दश भेद जिनमत में कहे गए हैं ऐसा जानो।

पुनरपि प्रत्याख्यान करने की विधि बताते हैं—

गाथार्थ—विनय से, अनुभाषा से, अनुपालन से और परिणाम से प्रत्याख्यान होता है है। यह प्रत्याख्यान चार प्रकार का जानना चाहिए ॥६४१॥

आचारवृत्ति—विनय से शुद्ध तथैव अनुभाषा, अनुपालन और परिणाम से शुद्ध प्रत्याख्यान चार भेद रूप हो जाता है। अर्थात् जिस प्रत्याख्यान में विनय के साथ, अनुभाषा के साथ, प्रतिपालना के साथ और परिणाम शुद्धि के साथ आहार आदि का त्याग होता है वह प्रत्याख्यान उन विनय आदि की अपेक्षा से चार प्रकार का हो जाता है।

इनमें से पहले विनय प्रत्याख्यान को कहते हैं—

गाथार्थ—कृतिकर्म, औपचारिक विनय, तथा दर्शन ज्ञान और चारित्र में विनय जो इन पांच विध विनय से युक्त है वह विनय शुद्ध प्रत्याख्यान है ॥६४२॥

कृतिकर्म सिद्धभक्तियोगभक्तिगुरुभक्तिपूर्वक कायोत्सर्गकरण, पूर्वोक्त. औपचारिकविनयः कृतकर-मुकुललाटपट्टविनतोत्तमाग' प्रशाततनु' पिच्छिकया विभूषितवक्ष इत्याद्युपचारविनयः, तथा ज्ञानदर्शन-चारित्रविषयो विनय., एव क्रियाकर्मादिपचप्रकारेण विनयेन युक्त विनयशुद्ध तत्प्रत्याख्यान भवत्येवेति ।।६४२।।

अनुभाषायुक्त प्रत्याख्यानमाह—

अणुभासदि गुरुवयणं अक्खरपदवंजणं कमविसुद्धं ।
घोसविसुद्धी सुद्धं एवं अणुभासणासुद्धं ।।६४३।।

अणुभासदि अनुभाषते अनुवदति गुरुवचन गुरुणा यथोच्चारिता प्रत्याख्यानाक्षरपद्धतिस्तथैव तामुच्चरतीति, अक्षरमेकस्वरयुक्त व्यजन, इच्छामीत्यादिक पद सुवन्त मिङत चाक्षरसमुदायरूपं, व्यजनमन-क्षरवर्णरूप खंडाक्षरानुस्वारविसर्जनीयादिक क्रमविशुद्ध येनैव क्रमेण स्थितानि वर्णपदव्यजनवाक्यादीनि ग्रथार्थो-भयशुद्धानि तेनैव पाठ , घोषविशुद्धया च शुद्ध गुर्वादिकवर्णविषयोच्चारणसहित मुख्यमध्योच्चारणरहित महा-कलकलेन विहीन स्वरविशुद्धमिति, एवमेतत्प्रत्याख्यानमनुभाषणशुद्ध वेदितव्यमिति ।।६४५।।

अनुपालनसहित प्रत्याख्यानस्य स्वरूपमाह—

आचारवृत्ति—सिद्ध भक्ति, योग भक्ति और गुरु भक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करना कृति-कर्म विनय है। औपचारिक विनय का लक्षण पहले कह चुके हैं अर्थात् हाथो को मुकुलित कर ललाट पट्ट पर रख मस्तक को झुकाना, प्रशात शरीर होना, पिच्छिका से वक्षस्थल भूषित करना—पिच्छिका सहित अजुली जोड़कर हृदय के पास रखना, प्रार्थना करना आदि उपचार विनय है, एव दर्शन, ज्ञान और चारित्र विषयक विनय करना—इस तरह कृतिकर्म आदि पाँच प्रकार के विनय से युक्त प्रत्याख्यान विनयशुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

अनुभाषा युक्त प्रत्याख्यान को कहते हैं—

गाथार्थ—गुरु के वचन के अनुरूप बोलना, अक्षर, पद, व्यजन क्रम से विशुद्ध और घोष की विशुद्धि से शुद्ध बोलना अनुभाषणाशुद्धि है ।।६४३।।

आचारवृत्ति—प्रत्याख्यान के अक्षरों को गुरु ने जैसा उच्चारण किया है वैसा ही उन अक्षरों का उच्चारण करता है। एक स्वरयुक्त व्यजन को अक्षर कहते है, सुबंत और मिङन्त को पद कहते है अर्थात् 'इच्छामि' इत्यादि प्रकार से जो अक्षर समुदायरूप है वह पद कहलाता है। अक्षर रहित वर्ण को व्यंजन कहते हैं जोकि खण्डाक्षर, अनुस्वार और विसर्ग आदि रूप हैं। जिस क्रम से वर्ण, पद, व्यजन और वाक्य आदि, ग्रन्थशुद्ध, अर्थशुद्ध और उभयशुद्ध हैं उनका उसी पद्धति से पाठ करना सो क्रमविशुद्ध कहलाता है। तथा ह्रस्व, दीर्घ आदि वर्णों का यथायोग्य उच्चारण करना घोष विशुद्धि है। मुख मे ही शब्द का उच्चारण नहीं होना चाहिए और न महाकलकल शब्द करना चाहिए। स्वरशुद्ध रहना चाहिए सो यह सब घोषशुद्धि है, इस प्रकार का जो प्रत्याख्यान है वह अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

अनुपालन सहितप्रत्याख्यान का स्वरूप कहते है—

आतंके उवसग्गे समे य दुब्भिक्खवुत्ति कंतारे।
जं पालिदं ण भग्गं एवं अणुपालणासुद्धं ॥६४४॥

आतक. सहसोत्थितो व्याधिः, उपसर्गो देवमनुष्यतिर्यक्कृतपीडा, श्रम उपवासालाभमार्गादिकृतः परिश्रमः ज्वररोगादिकृतश्च, दुर्भिक्षवृत्तिर्वर्षाकालराज्यभंगविड्वरचौराद्युपद्रवभयेन शस्याद्यभावेन भिक्षायाः प्राप्त्यभाव., कान्तारे महाटवीविंध्यारण्यादिकभयानकप्रदेशः, एतेषूपस्थितेष्वातकोपसर्गदुर्भिक्षवृत्तिकान्तारेषु यत्प्रतिपालित रक्षित न भग्न न मनागपि विपरिणामरूप जात तदेतत्प्रत्याख्यानमनुपालनविशुद्ध नाम ॥६४४॥

परिणामविशुद्धप्रत्याख्यानस्य स्वरूपमाह—

रागेण व दोसेण व मणपरिणामेण दूसिदं जं तु।
त पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं ॥६४५॥

रागपरिणामेन द्वेषपरिणामेन च न दूषित न प्रतिहतं विपरिणामेन यत्प्रत्याख्यान तत्पुन प्रत्याख्यानं भावविशुद्ध तु ज्ञातव्यमिति। सम्यग्दर्शनादियुक्तस्य निःकांक्षस्य वीतरागस्य समभावयुक्तस्याहिंसादिव्रतसहित-शुद्धभावस्य प्रत्याख्यान परिणामशुद्धं भवेदिति ॥६४५॥

चतुर्विधाहारस्वरूपमाह—

गाथार्थ—आकस्मिक व्याधि, उपसर्ग, श्रम, भिक्षा का अलाभ और गहनवन इनमें जो ग्रहण किया गया प्रत्याख्यान भंग नही होता है वह अनुपालना शुद्ध है ॥६४४॥

आचारवृत्ति—सहसा उत्पन्न हुई व्याधि आतक है। देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत पीड़ा को उपसर्ग कहते हैं। उपवास, अलाभ, या मार्ग मे चलने आदि से हुआ परिश्रम या ज्वर आदि रोगों के निमित्त से हुआ खेद श्रम कहलाता है। दुर्भिक्षवृत्ति—वर्षा का अभाव, राज्यभंग, बदमाश—लुटेरे, चोर इत्यादि के उपद्रव के भय से या धान्य आदि की उत्पत्ति के अभाव से भिक्षा का लाभ न होना, महावन, विध्याचल, अरण्य आदि भयानक प्रदेशों मे पहुँच जाना अर्थात् आतंक के आ जाने पर, उपसर्ग के आ जाने पर, श्रम से थकान हो जाने पर, भिक्षा न मिलने पर या महान् भयानक वन आदि मे पहुँच जाने पर जो प्रत्याख्यान ग्रहण किया हुआ है उसकी रक्षा करना, उससे तिलमात्र भी विचलित नही होना सो यह अनुपालन विशुद्ध प्रत्याख्यान है।

परिणाम विशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते है- -

गाथार्थ—राग से अथवा द्वेष रूप मन के परिणामो से जो दूषित नहीं होता है वह भाव विशुद्ध प्रत्याख्यान है ऐसा जानना ॥६४५॥

आचारवृत्ति—राग परिणाम से या द्वेष परिणाम से जो प्रत्याख्यान दूषित नही होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि से युक्त, कांक्षा रहित, वीतराग, समभावयुक्त और अहिंसादिव्रतों से सहित शुद्ध भाववाले मुनि का प्रत्याख्यान परिणाम शुद्ध प्रत्याख्यान कहलाता है।

चार प्रकार के आहार का स्वरूप बताते हैं—

असणं खुहप्पसमण पाणाणमणुग्गहं तहा पाणं।
खादंति खादियं पुण सादंति सादियं भणियं ॥६४६॥

अशनं क्षुदुपशमन बुभुक्षोपरति प्राणानां दशप्रकाराणामनुग्रहो येन तत्तथा खाद्यत इति खाद्य रसविशुद्धं लड्डुकादि पुनरास्वाद्यत इति आस्वाद्यमेलाकक्कोलादिकमिति भणितमेवंविधस्य चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यानमुत्तमार्थप्रत्याख्यानमिति ॥६४६॥

चतुर्विधस्याहारस्य भेद प्रतिपाद्याभेदार्थमाह—

सव्वोवि य आहारो असणं सव्वोवि वुच्चदे पाणं।
सव्वोवि खादियं पुण सव्वोवि य सादियं भणियं ॥६४७॥

सर्वोऽप्याहारोऽशन तथा सर्वोऽप्याहार पानमित्युच्यते तथा सर्वोऽप्याहारः खाद्य तथा सर्वोऽप्याहारः स्वाद्यमिति भणित एव चतुर्विधस्याप्याहारस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षयक्य आहारत्वेनाभेदादिति ॥६४७॥

पर्यायार्थिकनयापेक्षया पुनश्चतुर्विधस्तथैव प्राह—

असणं पाणं तह खादियं चउत्थं च सादियं भणियं।
एवं परूविदं दु सद्दहिदुं जे सुही होदि ॥६४८॥

एवमशनपानखाद्यस्वाद्यभेदेनाहार चतुर्विध प्ररूपित श्रद्धाय सुखी भवतीति फल व्याख्यात भवतीति ॥६४८॥

गाथार्थ—क्षुधा को शात करनेवाला अशन, प्राणो पर अनुग्रह करनेवाला पान है। जो खाया जाय वह खाद्य एव जिसका स्वाद लिया जाय वह स्वाद्य कहलाता है ॥६४६॥

आचारवृत्ति—जिससे भूख की उपरति-शान्ति हो जाती है वह अशन है। जिसके द्वारा दश प्रकार के प्राणो का उपकार होता है वह पान है। जो खाये जाते हैं वे खाद्य हैं। रस सहित लड्डू आदि पदार्थ खाद्य है। जिनका आस्वाद लिया जाता है वे इलायची कक्कोल आदि स्वाद्य हैं। इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करना उत्तमार्थ प्रत्याख्यान कहलाता है।

चार प्रकार के आहारो का भेद बताकर अब उनका अभेद दिखाते हैं—

गाथार्थ—सभी आहार अशन कहलाता है। सभी आहार पान कहलाता है। सभी आहार खाद्य और सभी ही आहार स्वाद्य कहा जाता है ॥६४७॥

आचारवृत्ति—सभी आहार अशन है, सभी आहार पान है, सभी आहार खाद्य हैं एव सभी आहार स्वाद्य हैं। इस तरह चारो प्रकार का आहार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक-रूप है क्योकि आहारपने की अपेक्षा से सभी मे अभेद है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पुन. आहार चार भेदरूप है—

गाथार्थ—अशन, पान, खाद्य तथा चौथा स्वाद्य कहा गया है। इन कहे हुए उपदेश का श्रद्धान करके जीव सुखी हो जाता है ॥६४८॥

आचारवृत्ति—इन अशन आदि चार भेद रूप कहे गए आहार का श्रद्धान करके जीव सुखी हो जाता है यह इसका फल बताया गया है। अर्थात् उत्तमार्थी इन सब का त्यागकर सुखी होता है यह फल है।

प्रत्याख्याननिर्युक्तिं व्याख्याय कायोत्सर्गनिर्युक्तिस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

पच्चक्खाणणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण ।
काओसग्गणिजुत्ती एतो उड्ढं पवक्खामि ॥६४९॥

प्रत्याख्याननिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन कायोत्सर्गनिर्युक्तिमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्य इति[1]। स्पष्टोर्थः ॥६४९॥

णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य ।
एसो काउस्सग्गे णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥६५०॥

खरपरुषादिसावद्यनामकरणद्वारेणागतातीचारशोधनाय कायोत्सर्गो नाममात्र. कायोत्सर्गो वा नामकायोत्सर्गं, पापस्थापनाद्वारेणा[2]गतातीचारशोधननिमित्तकायोत्सर्गपरिणतप्रतिबिंबता[3] स्थापनाकायोत्सर्गं. सावद्यद्रव्यसेवाद्वारेणागतातीचारनिर्हरणाय कायोत्सर्गः, कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीर वा द्रव्यकायोत्सर्गं, सावद्यक्षेत्रसेवनादागतदोषध्वंसनाय कायोत्सर्गं कायोत्सर्गपरिणतसेवितक्षेत्र वा क्षेत्रकायोत्सर्गं, सावद्यकालाचरणद्वारागतदोषपरिहाराय कायोत्सर्गं कायोत्सर्गपरिणतसहितकालो वा कालकायोत्सर्गं,

---

प्रत्याख्यान निर्युक्ति का व्याख्यान करके अब कायोत्सर्ग निर्युक्ति का स्वरूप बताते है—

गाथार्थ—मैने सक्षेप से यह प्रत्याख्याननिर्युक्ति कही है। इसके बाद कायोत्सर्ग निर्युक्ति कहूँगा ॥६४९॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

गाथार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये छह है। कायोत्सर्ग मे यह छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिए ॥६५०॥

आचारवृत्ति—तीक्ष्ण कठोर आदि पापयुक्त नामकरण के द्वारा उत्पन्न हुए अतीचारों का शोधन करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नाम कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग यह नामकरण करना नाम कायोत्सर्ग है। पापस्थापना—अशुभ या सरागमूर्ति की स्थापना द्वारा हुए अतीचारो के शोधननिमित्त कायोत्सर्ग करना स्थापना कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत मुनि की प्रतिमा आदि स्थापना कायोत्सर्ग है। सदोष द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए अतीचारों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है वह द्रव्य कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करनेवाले प्राभृत का ज्ञानी किन्तु उसके उपयोग से रहित जीव और उसका शरीर ये द्रव्य कायोत्सर्ग है। सदोष क्षेत्र के सेवन से होने वाले अतीचारो को नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग क्षेत्र कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सेवित स्थान क्षेत्र कायोत्सर्ग है। सावद्य काल के आचरण द्वारा उत्पन्न हुए दोषो का परिहार करने के लिए कायोत्सर्ग काल-कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग से परिणत हुए मुनि से सहित काल काल-कायोत्सर्ग है। मिथ्यात्व आदि अतीचारों के शोधन करने के लिए किया गया कायोत्सर्ग भाव

---

१ क इति। नामादिभि. कायोत्सर्गं निरूपयितुमाह—१। २ क °णातीचार। ३ क °बिंबस्था°।

मिथ्यात्वाद्यतीचारशोधनाय भावकायोत्सर्गं कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तसंज्ञानजीवप्रदेशो वा भावकायोत्सर्गः, एवं नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविषय एष कायोत्सर्गनिक्षेपः षड्विधो ज्ञातव्य इति ॥६५०॥

कायोत्सर्गकारणमन्तरेण कायोत्सर्गं प्रतिपादयितुं न शक्यत इति तत्स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

काउस्सग्गो काउस्सग्गी काउस्सग्गस्स कारणं चेव ।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥६५१॥

कायस्य शरीरस्योत्सर्गः परित्यागः कायोत्सर्गः स्थितस्यासीनस्य सर्वांगचलनरहितस्य शुभध्यानस्य वृत्तिः कायोत्सर्गोऽस्यास्तीति कायोत्सर्गी असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिभव्यः कायोत्सर्गस्य कारणं हेतुरेव तेषां त्रयाणामपि प्रत्येकं प्ररूपणा भवति ज्ञातव्येति ॥६५१॥

तावत्कायोत्सर्गस्वरूपमाह—

वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो ।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥६५२॥

व्युत्सृष्टं त्यक्तं बाहुयुगलं यस्मिन्नवस्थाविशेषे सो व्युत्सृष्टबाहुयुगलः प्रलम्बितभुजश्चतुरंगुलमन्तरं ययोः पादयोस्तौ चतुरंगुलान्तरौ । चतुरंगुलान्तरौ समौ पादौ यस्मिन्स चतुरंगुलान्तरसमपादः । सर्वेषामंगानां करचरणशिरोग्रीवाक्षिभ्रूविकारादीनां चलनं तेन रहितः सर्वांगचलनरहितः सर्वाक्षेपविमुक्तः, एवंविधस्तु

कायोत्सर्ग है अथवा कायोत्सर्ग के वर्णन करनेवाले प्राभृत का ज्ञाता तथा उसमे उपयोग सहित और उसके ज्ञान सहित जीवो के प्रदेश भी भाव कायोत्सर्ग हैं । इस तरह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक यह कायोत्सर्ग का निक्षेप छह रूप जानना चाहिए ।

कायोत्सर्ग के कारण बिना बताए कायोत्सर्ग का प्रतिपादन करना शक्य नही है इसलिए उनके स्वरूप का प्रतिपादन करते है—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारण इन तीनों की भी पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करते है ॥६५१॥

आचारवृत्ति—काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग कायोत्सर्ग है अर्थात् खड़े होकर या बैठकर सर्वांग के हलन-चलन रहित शुभध्यान की जो वृत्ति है वह कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग जिसके है वह कायोत्सर्गी है अर्थात् असयत सम्यग्दृष्टि संयतासयत मुनि आदि भव्य जीव कायोत्सर्ग करनेवाले है। तथा कायोत्सर्ग के हेतु—निमित्त को कारण कहते है। इन तीनों की प्ररूपणा आचार्य स्वयं करते हैं।

पहले कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ—जो चार अगुल के अन्तर से समपाद रूप है, जिसमें दोनों बाहु लटका दी गई है, जो सर्वांग के चलन से रहित, विशुद्ध है वह कायोत्सर्ग कहलाता है ॥६५२॥

आचारवृत्ति—जिस अवस्था विशेष में दोनो भुजाओं को लम्बित कर दिया है, पैरों में चार अंगुल अन्तर रखकर दोनों पैर समान किये हैं; जिसमें हाथ, पैर, मस्तक, ग्रीवा, नेत्र

विशुद्धः कायोत्सर्गो भवतीति ॥६५२॥

कायोत्सर्गिकस्वरूपनिरूपणायाह—

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो ।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा ॥६५३॥

मोक्षमर्थयत इति मोक्षार्थी कर्मक्षयप्रयोजनः, जिता निद्रा येनासौ जितनिद्र जागरणशील सूत्रञ्चार्थश्च सूत्रार्थौ तयोर्विशारदो निपुण. सूत्रार्थविशारद., करणेन क्रियाया परिणामेन शुद्धः करणशुद्ध. आत्माहारशक्तिक्षयोपशमशक्तिसहित कायोत्सर्गी विशुद्धात्मा भवति ज्ञातव्य इति ॥६५३॥

कायोत्सर्गमधिष्ठातुकाम प्राह—

काउस्सग्गं मोक्खपहदेसयं घादिकम्म अदिचारं ।
इच्छामि अहिट्ठादुं जिणसेविद देसिदत्तादो ॥६५४॥

कायोत्सर्गं मोक्षपथदेशक सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपकारकं घातिकर्मणा ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मणामतीचार विनाशन घातिकर्मविध्वसकमिच्छाम्यहमधिष्ठातु यत कायोत्सर्गो [1]जिनैर्देशितः सेवितश्च तस्मात्तमधिष्ठातुमिच्छामीति ॥६५४॥

और भौंह आदि का विकार—हलन-चलन नही है, एव जो सर्व आक्षेप से रहित है, इस प्रकार से जो विशुद्ध है वह कायोत्सर्ग होता है ।

कायोत्सर्गी का स्वरूप निरूपित करते हैं—

गाथार्थ—मोक्ष का इच्छुक, निद्राविजयी, सूत्र और उसके अर्थ मे प्रवीण, क्रिया से शुद्ध, आत्मा के बल और वीर्य से युक्त, विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्ग को करनेवाला होता है ॥६५३॥

आचारवृत्ति—जो मोक्ष को चाहता है वह मोक्षार्थी है अर्थात् कर्म क्षय के प्रयोजन वाला है। जिसने निद्रा जीत ली है वह जागरणशील है । जो सूत्र और उनके अर्थ इन दोनो मे निपुण है, जो तेरह प्रकार की क्रिया और परिणाम से शुद्ध—निर्मल है, जो आत्मा की आहार से होनेवाली शक्ति और कर्मों के क्षयोपशम की शक्ति से सहित है ऐसा विशुद्ध आत्मा कायोत्सर्गी होता है ।

कायोत्सर्ग के अनुष्ठान की इच्छा करते हुए आचार्य कहते हैं—

गाथार्थ—जो मोक्ष मार्ग का उपदेशक है, घाति कर्म का नाशक है, जिनेन्द्रदेव द्वारा सेवित है और उपदिष्ट है ऐसे कायोत्सर्ग को मैं धारण करना चाहता हूँ ॥६५४॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपकारक है; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों का विध्वसक है, ऐसे कायोत्सर्ग का मैं अधिष्ठान करना चाहता हूँ क्योंकि वह जिनवरों द्वारा सेवन किया गया है और उन्ही के द्वारा कहा गया है ।

---

१ क जिनेन्द्रैर्देशितः ।

कायोत्सर्गस्य कारणमाह—

एगपदमस्सिदस्सवि जो अदिचारो दु रागदोसेहिं।
गुत्तीहिं[1] वदिकमो वा चदुहिं कसाएहिं व [2]वदेहिं ॥६५५॥
छज्जीवणिकाएहिं भयमयठाणेहिं बंभधम्मेहिं[3]।
काउस्सग्गं ठामिय तं कम्मणिघादणट्ठाए ॥६५६॥

एकपदमाश्रितस्यैकपदेन स्थितस्य योऽतीचारो भवति रागद्वेषाभ्यां तथा गुप्तीनां यो व्यतिक्रमः कषायैश्चतुर्भिः स्यात् व्रतविषये वा यो व्यतिक्रमः स्यात् ॥६५५॥

तथा—

षट्जीवनिकाये पृथिव्यादिकायविराधनद्वारेण यो व्यतिक्रमस्तथा भयमदस्थाने सप्तभयाष्टमदद्वारेण यो व्यतिक्रमस्तथा ब्रह्मचर्यविषये यो व्यतिक्रमस्तेनाऽऽगतं यत्कर्मैकपदाद्याश्रितस्य गुप्त्यादिव्यतिक्रमेण च यत्कर्म तस्य कर्मणो निघातनाय कायोत्सर्गमधितिष्ठामि कायोत्सर्गेण तिष्ठामीति सम्बन्धः, अथ वैकपदस्थितस्यापि रागद्वेषाभ्यामतीचारो भवति यतः किं पुनर्भ्रमति ततो घातनार्थं कर्मणा तिष्ठामीति ॥६५६॥

पुनरपि कायोत्सर्गकारणमाह—

जे केई उवसग्गा देवमाणुसतिरिक्खचेदणिया।
ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संतो ॥६५७॥

कायोत्सर्ग के कारण को कहते हैं—

गाथार्थ—एक पद का आश्रय लेनेवाले के जो अतीचार हुआ है, राग-द्वेष इन दो से तीन गुप्तियों में अथवा चार कषायों द्वारा वा पाँच व्रतों में जो व्यतिक्रम हुआ है, छह जीव निकायों से, सात भयों से, आठ मद स्थानों से, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति में और दशधर्मों में जो व्यतिक्रम हुआ है उनकर्मों का घात करने के लिए मैं कायोत्सर्ग का अनुष्ठान करता हूँ ॥६५५-६५६॥

आचारवृत्ति—एक पद से स्थित हुए—एक पैर खड़े हुए जीव के—(?) जो अतिचार होता है, राग और द्वेष से जो व्यतिक्रम हुआ है, तीन गुप्तियों का जो व्यतिक्रम हुआ है, चार कषायों से और पाँच व्रतों के विषय में जो व्यतिक्रम हुआ है; पृथिवी, जल आदि षट्कायों की विराधना के द्वारा जो व्यतिक्रम हुआ है, तथा सातभय और आठ मद के द्वारा जो व्यतिक्रम हुआ है, ब्रह्मचर्य के विषय में जो व्यतिक्रम अर्थात् अतिचार हुआ है, अर्थात् इनसे जो कर्मों का आना हुआ है उन कर्मों का नाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग को स्वीकार करता हूँ।

अथवा एक पैर से खड़े होने पर भी राग-द्वेष के द्वारा अतीचार होते हैं तो पुनः तुम क्यों भ्रमण करते हो? ऐसा समझकर ही मैं उन राग-द्वेष आदि के द्वारा हुए अतीचारों को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग से स्थित होता हूँ।

पुनरपि कायोत्सर्ग के कारणों को कहते हैं—

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत जो कोई भी उपसर्ग हैं, कायोत्सर्ग में स्थित हुआ मैं उन सबको सहन करता हूँ ॥६५७॥

---

१ क गुत्तं.वदिक्कमो। २ क वदएहिं। ३ क °भवाम्मे°।

ये केचनोपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता अचेतना विद्युदशन्यादयस्तान् सर्वानप्यास्मिन् सम्यगधिसहेऽहं कायोत्सर्गे स्थितः सन्, उपसर्गेष्वागतेषु कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः कायोत्सर्गेण वा स्थितस्य यद्युपसर्गाः समुपस्थिताः भवन्ति तेऽपि सहनीया इति ॥६५७॥

कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि ।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥६५८॥

संवत्सरं द्वादशमासमात्रं उत्कृष्टं प्रमाणं कायोत्सर्गस्य । जघन्येन प्रमाणं कायोत्सर्गस्यान्तर्मुहूर्तमात्रं । संवत्सरान्तर्मुहूर्तमध्येऽनेकविकल्पा दिवसरात्र्यहोरात्र्यादिभेदभिन्ना शेषाः कायोत्सर्गा अनेकेषु स्थानेषु बहुस्थानविशेषेषु शक्त्यपेक्षया कार्या, कालद्रव्यक्षेत्रभावकायोत्सर्गविकल्पा भवन्तीति ॥६५८॥

दैवसिकादिप्रतिक्रमणे कायोत्सर्गस्य प्रमाणमाह—

अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया ।
उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण ॥६५९॥

अष्टभिरधिकं शतमष्टोत्तरशतं[1] दैवसिके प्रतिक्रमणे दैवसिकप्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे उच्छ्वासा-

---

आचारवृत्ति—देव, मनुष्य या तिर्यंच के द्वारा किए गये, अथवा बिजली, वज्रपात आदि अचेतन कृत हुए जो कोई भी उपसर्ग है, कायोत्सर्ग मे स्थित हुआ, उन सबको मैं सम्यक् प्रकार से सहन करता हूँ । उपसर्गो के आ जाने पर कायोत्सर्ग करना चाहिए अथवा कायोत्सर्ग से स्थित हुए है और यदि उपसर्ग आ जाते है तो भी उन्हे सहन करना चाहिए। ऐसा अभिप्राय है ।

कायोत्सर्ग के प्रमाण को कहते है—

गाथार्थ—एक वर्ष तक कायोत्सर्ग उत्कृष्ट है और अन्तर्मुहूर्त का जघन्य होता है । शेष कायोत्सर्ग अनेक स्थानो में होते है ॥६५८॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग का द्वादशमासपर्यंत उत्कृष्ट प्रमाण है, अन्तर्मुहूर्त मात्र जघन्य प्रमाण है । तथा वर्ष के और अन्तर्मुहूर्त के मध्य मे दिवस, रात्रि, अहोरात्र आदि भेदरूप अनेकों विकल्प होते है । ये सब मध्यमकाल के कहलाते हैं । अपनी शक्ति की अपेक्षा से बहुत से स्थान विशेषों में ये कायोत्सर्ग करना चाहिए । काल, द्रव्य, क्षेत्र और भाव से भी कायोत्सर्ग के भेद हो जाते हैं ।

दैवसिक आदि प्रतिक्रमण मे कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते है—

गाथार्थ—अप्रमत्त साधु को वीर भक्ति मे दैवसिक के एक सौ आठ, रात्रिक के इससे आधे—चौवन और पाक्षिक के तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए ॥६५९॥

आचारवृत्ति—दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना

---

१ क °अष्टशत ।

नामष्टोत्तरशतं कर्तव्यं । कल्लद्ध रात्रिकप्रतिक्रमणविषयकायोत्सर्गे चतुःपंचाशदुच्छ्वासाः कर्तव्या । पाक्षिके च प्रतिक्रमणविषये कायोत्सर्गे त्रीणि शतानि उच्छ्वासाना चिन्तनीयानि स्थातव्यानि विधेयानि । नियमान्ते वीरभक्तिकायोत्सर्गकाले अप्रमत्तेन प्रमादरहितेन यत्नवता विशेषे[1] सिद्धभक्तिप्रतिक्रमणभक्तिचतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकरणकायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासा कर्त्तव्या इति ॥६५९॥

चातुर्मासिकसावत्सरिककायोत्सर्गप्रमाणमाह—

चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे[2] य पंचसदा ।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ॥६६०॥

चातुर्मासिके प्रतिक्रमणे चत्वारि शतान्युच्छ्वासाना चिन्तनीयानि । सावत्सरिके च प्रतिक्रमणे पंचशतान्युच्छ्वासाना चिन्तनीयानि स्थातव्यानि नियमान्ते कायोत्सर्गप्रमाणमेतच्छेषेषु पूर्ववत् द्रष्टव्यः । एवं

चाहिए, अर्थात् छत्तीस बार णमोकार मन्त्र का जप करना चाहिए । रात्रिक प्रतिक्रमण विषयक कायोत्सर्ग मे चौवन उच्छ्वास अर्थात् अठारह बार णमोकार मन्त्र करना चाहिए । पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग मे तीन सौ उच्छ्वास करना चाहिए । ये उच्छ्वासो का प्रमाण नियमात —अर्थात् वीर भक्ति के कायोत्सर्ग के समय प्रयत्नशील मुनि को प्रमाद रहित होकर करना चाहिए । तथा विशेष मे अर्थात् सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के कायोत्सर्ग मे सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए अर्थात् नौ बार णमोकार मन्त्र जपना चाहिए ।

भावार्थ—दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण मे चार भक्तियाँ की जाती हैं—सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर । इनमे से तीन भक्तियो के कायोत्सर्ग मे तो २७-२७ उच्छ्वास करना होते है और वीर भक्ति मे उपर्युक्त प्रमाण से उच्छ्वास होते हैं । पाक्षिक प्रतिक्रमण मे ग्यारह भक्तियाँ होती है । यथा सिद्ध चारित्र, सिद्ध योगि, आचार्य प्रतिक्रमण, वीर, चतुर्विंशति तीर्थंकर, बृहदालोचनाचार्य, मध्यमालोचनाचार्य और क्षुल्लकालोचनाचार्य । इनमे से नव भक्ति मे सत्ताईस उच्छ्वास ही होते है, तथा वीर भक्ति मे तीन सौ उच्छ्वास होते है । एक बार णमोकार मन्त्र के जप मे तीन उच्छ्वास होते है, यथा—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, इन दो पदो के उच्चारण मे एक उच्छ्वास, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं इन दो पदों के उच्चारण मे एक उच्छ्वास, णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक पद के उच्चारण मे एक उच्छ्वास ऐसे तीन होते है ।

चातुर्मासिक और सावत्सरिक कायोत्सर्ग का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण मे चार सौ और सावत्सारिक में पाँचसौ इस तरह इन पाँच स्थानो मे कायोत्सर्ग के उच्छ्वास जानना चाहिए ॥६६०॥

आचारवृत्ति—चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में चार सौ उच्छ्वासों का चिंतवन करना और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण मे पाँच सौ उच्छ्वासों का चिन्तवन करना । ये उच्छ्वासों का प्रमाण नियमान्त—वीर भक्ति के कायोत्सर्ग मे होता है । शेष भक्तियों में पूर्ववत् सत्ताईस

---

१ क 'विशेषेषु । २ क संवच्छराय ।

कायोत्सर्गोच्छ्वासाः पंचसु स्थानेषु ज्ञातव्याः ॥६६०॥

शेषेषु स्थानेषूच्छ्वासप्रमाणमाह—

[1]पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय ।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥६६१॥

[2]प्राणिवधातीचारे मृषावादातीचारे अदत्तग्रहणातीचारे मैथुनातिचारे परिग्रहातीचारे च कायोत्सर्गे चोच्छ्वासानामष्ठोत्तरशत कर्त्तव्य नियमान्ते' सर्वत्र द्रष्टव्य शेषेषु पूर्ववदिति ॥६६१॥

पुनरपि कायोत्सर्गप्रमाणमाह—

भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसमणसेज्जासु ।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा ॥६६२॥

भक्ते पाने च गोचरे प्रतिक्रमणविषये गोचरादागतस्य कायोत्सर्गे पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कर्त्तव्या भवन्ति, प्रस्तुतात ग्रामादन्यग्रामो ग्रामान्तर ग्रामान्तरगमनविषये च कायोत्सर्गे च पंचविंशतिरुच्छ्वासाः

उच्छ्वास करना चाहिए। इस तरह कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का वर्णन पाँच स्थानों में किया गया है।

भावार्थ—पाक्षिक के समान चातुर्मासिक और वार्षिक मे भी ग्यारह भक्तियाँ होती है जिनके नाम ऊपर भावार्थ मे बताए गए है। उनमें से वीर भक्ति के कायोत्सर्ग में उपर्युक्त प्रमाण है। बाकी भक्तियो में नववार णमोकार मन्त्र का जाप्य होता है। इस तरह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सावत्सरिक ऐसे पाँच स्थानों के कायोत्सर्ग सम्बन्धी उच्छ्वासों का प्रमाण बताया है।

अब शेष स्थानों मे उच्छ्वासों का प्रमाण कहते हैं—

गाथार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन दोषो के हो जाने पर कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए ॥६६१॥

आचारवृत्ति—प्राणिबध के अतीचार में, असत्यभाषण के अतीचार में, अदत्तग्रहण के अतीचार में, मैथुन के अतीचार मे और परिग्रह के अतीचार मे कायोत्सर्ग करने मे एक सौ आठ उच्छ्वास करना चाहिए। यहाँ भी वीरभक्ति के कायोत्सर्ग के उच्छ्वासों का यह प्रमाण है, शेष भक्तियो में सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए।

पुनरपि कायोत्सर्ग का प्रमाण बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन पान में, ग्रामान्तर गमन में, अर्हंत के कल्याणक स्थान व मुनियों की निषद्या वन्दना में और मल-मूत्र विसर्जन में पच्चीस उच्छ्वास होते हैं ॥६६२॥

आचारवृत्ति—गोचर प्रतिक्रमण अर्थात् आहार से आकर कायोत्सर्ग करने में पच्चीस उच्छ्वास करने होते हैं। प्रस्तुत ग्राम से अन्य ग्राम को ग्रामान्तर कहते हैं अर्थात् एक ग्राम से

---

१ क पाण° । २ क प्राण° । ३ क °न्तेषु ।

कर्त्तव्याः तथार्हच्छय्याया जिनेन्द्रनिर्वाणसमवसृतिकेवलज्ञानोत्पत्तिनिष्क्रमणजन्मभूमिस्थानेषु वन्दनाभक्तिहेतोर्गतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासा कायोत्सर्गे कर्तव्या । तथा श्रमणशय्याया निषद्यिकास्थान गत्वाऽऽगतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासा कायोत्सर्गे कर्त्तव्यास्तथोच्चारे वहिर्भूमिगमन कृत्वा[1] प्रस्रवणे प्रस्रवण च कृत्वा य· कायोत्सर्ग क्रियते तत्र नियमेनेति ॥६६२॥

तथा—

उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥६६३॥

उद्देशे ग्रन्थादिप्रारम्भकाले निर्देशे प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तौ च कायोत्सर्गे सप्तविंशतिरुच्छ्वासा कर्तव्या । तथा स्वाध्याये स्वाध्यायविषये कायोत्सर्गास्तेषु च सप्तविंशतिरुच्छ्वासा कर्त्तव्या । तथा वन्दनाया ये कायोत्सर्गास्तेषु च प्रणिधाने च मनोविकारे चाशुभपरिणामे तत्क्षणोत्पन्ने सप्तविंशतिरुच्छ्वासा कायोत्सर्गे कर्त्तव्या इति ॥६६३॥

एव प्रतिपादितक्रम कायोत्सर्ग किमर्थमधितिष्ठन्तीत्याह—

काओसग्ग इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि।
वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥६६४॥

दूसरे ग्राम मे जाने पर कायोत्सर्ग मे पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। जिनेन्द्रदेव की निर्वाण भूमि, समवसरण भूमि, केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान, निष्क्रमणभूमि और जन्मभूमि इन स्थानों की वन्दना भक्ति के लिए जाने पर कायोत्सर्ग मे पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। श्रमण शय्या—मुनियों के निषद्या स्थान मे जाकर आने से कायोत्सर्ग मे पच्चीस उच्छ्वास करना चाहिए। तथा वहिर्भूमि गमन—मलविसर्जन के बाद और मूत्र विसर्जन के बाद नियम से पच्चीस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

उसी प्रकार और भी बताते है—

गाथार्थ—ग्रन्थ के प्रारम्भ मे, समाप्ति मे, स्वाध्याय मे, वन्दना मे और अशुभ परिणाम के होने पर कायोत्सर्ग करने मे सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए ॥६६३॥

आचारवृत्ति—उद्देश—ग्रन्थादि के प्रारम्भ करने समय, निर्देश—प्रारम्भ किए ग्रन्थादि की समाप्ति के समय कायोत्सर्ग मे सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए। स्वाध्याय के कायोत्सर्गों मे तथा वन्दना के कायोत्सर्गों मे सत्ताईस उच्छ्वास करना चाहिए। इसी तरह प्रणिधान—मन के विकार के होने पर और अशुभ परिणाम के तत्क्षण उत्पन्न होने पर सत्ताईस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

इस प्रतिपादित क्रम से कायोत्सर्ग किसलिए करते है? सो ही बताते है—

गाथार्थ—मोक्षमार्ग मे स्थित होकर ईर्यापथ के अतीचार शोधन हेतु शरीर से ममत्व छोड़कर साधु दुःखो के क्षय के लिए कायोत्सर्ग करते है ॥६६४॥

---

१ क कृत्वा य कायोत्सर्ग क्रियते तत्र गतेन पंचविंशतिरुछ्वासा· कायोत्सर्गे नियमेन कर्तव्या इति।

ईर्यापथातीचारनिमित्तं कायोत्सर्गं मोक्षमार्गे स्थित्वा व्युत्सृष्टत्यक्तदेहा. सन्त' शुद्धाः कुर्वन्ति दुःखक्षयार्थमिति ।।६६४।।

तथा—

भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासियवरिसचरिमेसु ।
[1]णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ।।६६५।।*

भक्तपानग्रामान्तरचातुर्मासिकसावत्सरिकचरमोत्तमार्थविषयं ज्ञात्वा कायोत्सर्गे तिष्ठति दैवसिकादिषु च धीरा अत्यर्थं दु.खक्षयार्थं नान्येन कार्येणेति ।।६६५।।

यदर्थं कायोत्सर्गं करोति तमेवार्थं चिन्तयतीत्याह—

काओसग्गह्मि ठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अविचारं ।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो ।।६६६।।

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

तथा और भी हेतु बताते हैं—

गाथार्थ—भोजन, पान, ग्रामान्तर गमन, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इनको जानकर धीर मुनि अत्यर्थ रूप से दु खक्षय के लिए कायोत्सर्ग करते है ।।६६५।।

आचारवृत्ति—आहार, विहार, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन विषयो को जानकर धैर्यवान् साधु अतिशय रूप से दु खक्षय के लिए दैवसिक आदि प्रतिक्रमण क्रियाओ के कायोत्सर्ग मे स्थित होते है, अन्य प्रयोजन के लिए नही ।

भावार्थ—साधु अपने आहार, विहार आदि चर्याओ के दोष शोधन मे तथा पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण सम्बन्धी क्रियाओं मे कायोत्सर्ग धारण करते हैं, सो केवल ससार के दु खों से छूटने के लिए ही करते है, न कि अन्य किसी लौकिक प्रयोजन आदि के लिए, ऐसा अभिप्राय समझना ।

साधु जिस लिए कायोत्सर्ग करते है उसी अर्थ का चिन्तवन करते है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग में स्थित हुआ साधु ईर्यापथ का विनाश के अतिचार के चिन्तवन करता हुआ उन सबको समाप्त करके धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करे ।।६६६।।

१ क काऊण वति वीरा सणिद ।

*फलटम से गाथा में अन्तर है—

एवं दिवसियराइयपक्खिय चादुम्मासियवरिसचरिमेसु ।
णादूण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ।।

अर्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन सम्बन्धी प्रतिक्रमणो के विषय को जानकर धीर साधु दुःखों का अत्यन्त क्षय करने के लिए कायोत्सर्ग धारण करते है, अन्य प्रयोजन के लिए नहीं।

कायोत्सर्गे स्थित सन् ईर्यापथस्यातीचार विनाश चिन्तयन् त नियम सर्वं निरवशेष समाप्य समाप्ति नीत्वा पश्चाद्धर्मध्यान शुक्लध्यान च चिन्तयत्विति ॥६६६॥

तथा—

तह दिवसियरादियपक्खियचादुम्मासियवरिसचरिमेसु ।
तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो ॥६६७॥

एव यथा ईर्यापथातीचारार्थ दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसावत्सरिकोत्तमार्थान् नियमान् तान् समाप्य धर्मध्यान शुक्लध्यान ध्यायेत्, न तावन्मात्रेण तिष्ठेदित्यनेनालस्याद्यभाव. कथितो भवतीति ॥६६७॥

कायोत्सर्गस्य दृष्ट फलमाह—

काओसग्गह्मि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ ।
तह भिज्जदि कम्मरय काउस्सग्गस्स करणेण ॥६६८॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग मे स्थित होकर साधु ईर्यापथ के अतीचार के विनाश का चिन्तवन करते हुए उन सब नियमो को समाप्त करके पुनः धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अवलम्बन लेवे ।

उसी को और बताते हैं—

गाथार्थ—उसी प्रकार से दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ इन सब नियमों को समाप्त करके धर्म और शुक्ल ध्यान का चिंतवन करे ॥६६७॥

आचारवृत्ति—जैसे पूर्व की गाथा मे ईर्यापथ के अतीचार के लिए बताया है वैसे ही दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थ इन नियम—प्रतिक्रमणों को समाप्त करके—पूर्ण करके पुन. वह साधु धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को ध्यावे, उतने मात्र से ही सतोष नही कर लेवे, इस कथन से आलस्य आदि का अभाव कहा गया है।

भावार्थ—ईर्यापथ, दैवसिक, रात्रिक आदि भेदो से प्रतिक्रमण के सात भेद कहे गए हैं, सो ये अपने-अपने नामो के अनुसार उन-उन सम्बन्धी दोषो के दूर करने हेतु ही है। इन प्रतिक्रमणो के मध्य कायोत्सर्ग करना होता है, उसके । उच्छ्वासो का प्रमाण बता चुके हैं। यहाँ यह कहना है कि इन प्रतिक्रमणो को पूर्ण करके साधु उतने मात्र से ही संतुष्ट न हो जावे। किन्तु आगे आलस्य को छोड़कर धर्मध्यान करे या शक्तिवान् है तो शुक्लध्यान करे। प्रतिक्रमण मात्र से ही अपने को कृतकृत्य न मान बैठे ।

कायोत्सर्ग का प्रत्यक्ष फल दिखाते हैं—

गाथार्थ—कायोत्सर्ग करने पर जैसे अग-उपांगों की संधियाँ भिद जाती हैं। वैसे ही कायोत्सर्ग के करने से कर्मरज अलग हो जाती है ॥६६८॥

कायोत्सर्गे हि स्फुटं कृते यथा भिद्यन्तेंऽगोपांगसंधयः शरीरावयवास्तथा भिद्यते कर्मरज कायोत्सर्ग-करणेनेति ॥६६८॥

द्रव्यादिचतुष्टयापेक्षमाह—

बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं।
काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ॥६६९॥

बलवीर्यं चौषधाद्याहारशक्ति वीर्यान्तरायक्षयोपशमं वाऽऽश्रित्य क्षेत्रबलं कालबलं चाश्रित्य शरीरं व्याध्यनुपहतसंहननवज्रर्षभनाराचादिकमपेक्ष्य कायोत्सर्गं कुर्यात्, इमांस्तु कथ्यमानान् दोषान्परि-हरन्निति ॥६६९॥

तान् दोषानाह—

घोडय लदा य खंभे कुड्डे माले सवरबधू णिगले।
लंबुत्तरथणदिट्ठी वायस खलिणे जुग कविट्ठे ॥६७०॥

सीसपकंपिय मुइय अंगुलि भूविकार वारुणीपेयी।
काओसग्गेण ठिदो एदे दोसे परिहरेज्जो ॥६७१॥

आचारवृत्ति—कायोत्सर्ग मे हलन-चलन रहित शरीर के स्थिर होने से जैसे शरीर के अवयव भिद जाते है वैसे ही कायोत्सर्ग के द्वारा कर्मधूलि भी आत्मा से पृथक् हो जाती है।

द्रव्य आदि चतुष्टय की अपेक्षा को कहते है—

गाथार्थ—बल-वीर्य, क्षेत्र, काल और शरीर के सहनन का आश्रय लेकर इन दोषों का परिहार करते हुए साधु कायोत्सर्ग करे ॥६६९॥

आचारवृत्ति—औषधि और आहार आदि से हुई शक्ति को बल कहते है तथा वीर्या-न्तराय के क्षय पशम की शक्ति को वीर्य कहते हैं। इन बल और वीर्य को देखकर तथा क्षेत्रबल और कालबल का भी आश्रय लेकर व्याधि से रहित शरीर एव वज्रवृषभनाराच आदि सहनन की भी अपेक्षा करके साधु कायोत्सर्ग करे। तथा आगे कहे जाने वाले दोषों का परिहार करते हुए कायोत्सर्ग धारण करे। अर्थात् अपनी शरीर शक्ति, क्षेत्र, काल आदि को देखकर उनके अनुरूप कायोत्सर्ग करे। अधिक शक्ति होने से अधिक समय तक कायोत्सर्ग मे स्थिति रह सकती है अतः अपनी शक्ति को न छिपाकर कायोत्सर्ग करे।

कायोत्सर्ग के दोषो को कहते है—

गाथार्थ—घोटक, लता, स्तम्भ, कुड्य, माला, शबरबधू, निगड, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस, खलिन, युग और कपित्थ—ये तेरह दोष हुए।

शीश-प्रकम्पित, मूकत्व, अंगुलि, भ्रू विकार और वारुणीपायी ये पाँच हुए, इस प्रकार इन अठारह दोषो का परिहार करे।

आलोगणं दिसाण गीवाउण्णामणं पणमणं च ।
णिट्ठीवणंगमरिसो काउसग्गह्मि वज्जिज्जो ॥६७२॥

घोडय घोटकस्तुरग स यथा एक पादमुत्क्षिप्य विनम्य वा तिष्ठति तथा य. कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य घोटकसदृशो घोटकदोष , तथा लता इवागानि चालयन्य. तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य लतादोषः । स्तभमाश्रित्य यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य स्तभदोष । स्तभवत् शून्यहृदयो वा तत्साहचर्येण स एवोच्यते । तथा कुड्यमाश्रित्य कायोत्सर्गेण यस्तिष्ठति तस्य कुडचदोष । साहचर्यादुपलक्षणमात्रमेतदन्यदप्याश्रित्य न स्थातव्यमिति ज्ञापयति, तथा मालापीठाद्युपरि स्थान अथवा मस्तकादूर्ध्वं यत्तदाश्रित्य मस्तकस्योपरि यदि किंचिदत्र गतिस्तथापि यदि कायोत्सर्ग क्रियते स मालदोष । तथा शबरवधूरिव जघाभ्या जघनं निपीडच कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य शबरबधूदोष , तथा निगडपीडित इव पादयोर्महदन्तराल कृत्वा यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य निगडदोष , तथा लबमानो नाभेरूर्ध्वभागो भवति वा कायोत्सर्गस्थस्योन्नमनमधोनमन वा च भवति तस्य

दश दिशाओं का अवलोकन, ग्रीवोंन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन और अगामर्श कायोत्सर्ग मे इन बत्तीस दोषो का परिहार करे ॥६७०-६७२॥

आचारवृत्ति—वन्दना के सदृश कायोत्सर्ग के भी बत्तीस दोष होते है, उनको पृथक्-पृथक् दिखाते है ।

१ **घोटक**—घोडा जैसे एक पैर को उठाकर अथवा झुकाकर खडा होता है उसी प्रकार से जो कायोत्सर्ग मे खडे होते हैं उनके घोटक सदृश यह घोटक नाम का दोष होता है ।

२ **लता**—लता के समान अगो को हिलाता हुआ जो कायोत्सर्ग मे स्थित होते है उनके यह लता दोष होता है ।

३ **स्तम्भ**—जो खम्भे का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करते है अथवा स्तम्भ के समान शून्य हृदय होकर करते है उसके साहचर्य से यह वही दोष हो जाता है अर्थात् उनके यह स्तम्भ दोष होता है ।

४ **कुड्य**—भित्ती—दीवाल का आश्रय लेकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते है उनके यह कुड्य दोष होता है । अथवा साहचर्य से यह उपलक्षण मात्र है । इससे अन्य का भी आश्रय लेकर नही खडे होना चाहिए ऐसा सूचित होता है ।

५ **माला**—माला—पीठ-आसन आदि के ऊपर खड़े होना अथवा सिर के ऊपर कोई रज्जु वगैरह का आश्रय लेकर अथवा सिर के ऊपर जो कुछ वहाँ हो, फिर भी कायोत्सर्ग करना वह मालदोष है ।

६ **शबरबधू**—भिल्लनी के समान दोनो जघाओ से जघाओ को पीडित करके जो कायोत्सर्ग से खडे होते है उनके यह शबरबधू नाम का दोष है ।

७ **निगड**—बेडी से पीडित हुए के समान पैरो मे बहुत सा अन्तराल करके जो कायोत्सर्ग मे खडे होते है उनके निगडदोष होता है ।

८ **लम्बोत्तर**—नाभि से ऊपर का भाग लम्बा करके कायोत्सर्ग करना अथवा कायो-

लंबोत्तरदोषो भवति। तथा यस्य कायोत्सर्गस्थस्य स्तनयोर्दृष्टिरात्मीयौ स्तनौ यः पश्यति तस्य स्तनदृष्टिनामा दोषः। तथा य. कायोत्सर्गस्थो वायस इव काक इव पार्श्वं पश्यति तस्य वायसदोषः। तथा यः खलीनपीडितोऽश्व इव दन्तकटकटं मस्तकं कृत्वा कायोत्सर्गं करोति तस्य खलीनदोषः। तथा यो युगनिपीडितबलीवर्दवत् ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य युगदोष। तथा य कपित्थफलवन्मुष्टिं कृत्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य कपित्थदोषः।।६७०।।

तथा—

शिरःप्रकंपित कायोत्सर्गेण स्थितो य शिर प्रकंपयति चालयति तस्य शिरःप्रकंपितदोष, मूक इव कायोत्सर्गेण स्थितो मुखविकारं नासिकाविकारं च करोति तस्य मूकितदोष., तथा य कायोत्सर्गेण स्थितोऽगुलि-गणनां करोति तस्यांगुलिदोष, तथा भ्रूविकारं कायोत्सर्गेण स्थितो यो भ्रूविक्षेपं करोति तस्य भ्रूविकार-दोष पादांगुलिनर्त्तनं वा, तथा यो वारुणीपायीव—सुरापायीवेति घूर्णमान. कायोत्सर्गं करोति तस्य वारुणी-पायीदोष, तस्मादेतान् दोषान् कायोत्सर्गेण स्थित सन् परिहरेद्वर्जयेदिति।।६७१।।

तथेमाश्च दोषान् परिहरेदित्याह—

त्सर्ग मे स्थित होकर शरीर को अधिक ऊंचा करना या अधिक झुकाना सो लम्बोत्तर दोष है।

९. **स्तनदृष्टि**—कायोत्सर्ग मे स्थित होकर जिसकी दृष्टि अपने स्तनभाग पर रहती है उसके स्तनदृष्टि नाम का दोष होता है।

१० **वायस**—कायोत्सर्ग मे स्थित होकर कौवे के समान जो पार्श्वभाग को देखते है उनके वायस दोष होता है।

११ **खलीन**—लगाम से पीडित हुए घोड़े के समान दाँत कटकटाते हुए मस्तक को करके जो कायोत्सर्ग करते है उनके खलीन दोष होता है।

१२ **युग**—जूआ से पीडित हुए बैल के समान गर्दन पसार कर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह युग नाम का दोष होता है।

१३. **कपित्थ**—जो कपित्थ—कैथे के फल के समान मुट्ठी को करके कायोत्सर्ग मे स्थित होते हैं उनके यह कपित्थ दोष होता है।

१४ **शिरःप्रकंपित**—कायोत्सर्ग में स्थित हुए जो शिर को कपाते है उनके शिर. प्रकपित दोष होता है।

१५. **मूकत्व**—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जो मूक के समान मुखविकार व नाक सिकोड़ना करते हैं उनके मूकित नाम का दोष होता है।

१६. **अंगुलि**—जो कायोत्सर्ग से स्थित होकर अंगुलियों से गणना करते हैं उनके अंगुलि दोष होता है।

१७ **भ्रूविकार**—जो कायोत्सर्ग से खड़े हुए भौंहो को चलाते हैं या पैरों की अंगुलियाँ नचाते है उनके भ्रूविकार दोष होता है।

१८. **वारुणीपायी**—मदिरापायी के समान झूमते हुए जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके

कायोत्सर्गेण स्थितो दिशामालोकन वर्जयेत्, तथा कायोत्सर्गेण स्थितो ग्रीवोन्नमन वर्जयेत् तथा कायोत्सर्गेण स्थित सन् प्रणमन च वर्जयेत्, तथा कायोत्सर्गेण स्थितो निष्ठीवन षाट्करण च वर्जयेत् तथा कायोत्सर्गेण स्थितोऽगामर्शं शरीरपरामर्शं वर्जयेदेतेऽपि दोषा सन्त्यतो वर्जनीया । दशानां दिशामवलोकनानि दश दोषा, शेषा एकैका इति ।।६७२।।

यथा यथोक्त कायोत्सर्गं[1] कुर्वन्ति तथाह—

णिक्कूडं सविसेसं बलाणरूवं वयाणुरूवं च ।
काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ।।६७३।।

नि कूट मायाप्रपचान्निर्गत, सह विशेषेण वर्त्तत इति सविशेषस्त सविशेष विशेषतासमन्वित बलानुरूप स्वशक्त्यनुरूप, वयोऽनुरूप, बालयौवनवार्द्धक्यानुरूपं तथा वीर्यानुरूप कालानुरूपं च कायोत्सर्गं धीरा दु.खक्षयार्थं कुर्वन्ति तिष्ठन्तीति ।।६७३।।

माया प्रदर्शयन्नाह—

वारुणीपायी दोष होता है ।

१६ से २८. **दिशा अवलोकन**—कायोत्सर्ग से स्थित हुए दिशाओं का अवलोकन करना । पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः । इन दश दिशाओ के निमित्त से दश दोष हो जाते है । ये दिशावलोकन दोष है ।

२६ **ग्रीवोन्नमन**—कायोत्सर्ग मे स्थित होकर गरदन को अधिक ऊंची करना यह ग्रीवा उन्नमन दोष है ।

३० **प्रणमन**—कायोत्सर्ग मे स्थित हुए गरदन को अधिक झुकाना या प्रणाम करना यह प्रणमन दोष है ।

३१ **निष्ठीवन**—कायोत्सर्ग मे स्थित होकर खखारना, थूकना यह निष्ठीवन दोष है।

३२ **अगामर्श**—कायोत्सर्ग मे स्थित हुए शरीर का स्पर्श करना यह अगामर्श दोष है ।

कायोत्सर्ग करते समय इन बत्तीस दोषो का परिहार करना चाहिए ।

और जिन विशेषताओं से यथोक्त कायोत्सर्ग को करते है उन्हे ही बताते हैं—

गाथार्थ—धीर मुनि मायाचार रहित, विशेष सहित, बल के अनुरूप और उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग को दु खो के क्षयहेतु करते हैं ।।६७३।।

आचारवृत्ति—धीर मुनि दुःखों का क्षय करने के लिए माया प्रपच से रहित, विशेषताओं से सहित, अपनी शक्ति के अनुरूप और अपनी बाल, युवा या वृद्धावस्था के अनुरूप तथा अपने वीर्य के अनुरूप एव काल के अनुरूप कायोत्सर्ग को करते हैं ।

माया को दिखलाते है—

---

१ क करोति ।

जो पुण तीसदिवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणाय समो ।
विसमो य कूडवादी णिव्विण्णाणी य सोय जडो ॥६७४॥

यः पुनस्त्रिंशद्वर्षप्रमाणो यौवनस्थः शक्तः सप्ततिसंवत्सरेण सप्ततिसंवत्सरायुःप्रमाणेन वृद्धेन नि शक्तिकेन पारणेनानुष्ठानेन कायोत्सर्गादिसमाप्त्या समः सदृशशक्तिको निःशक्तिकेन सह यः स्पर्द्धां करोति स. साधुर्विषमश्च शान्तरूपो न भवति कूटवादी मायाप्रपचतत्परो निर्विज्ञानी विज्ञानरहितश्चारित्रमुक्तश्च जडश्च मूर्खो, न तस्येहलोको नाऽपि परलोक इति ॥६७४॥

कायोत्सर्गस्य भेदानाह—

उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठउट्ठिदो चेव ।
उवविट्ठणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो ॥६७५॥

उत्थितश्चासावुत्थितश्चोत्थितोत्थितो महतोऽपि महान्, तथोत्थितनिविष्ट· पूर्वमुत्थित. पश्चान्निविष्ट उत्थितनिविष्ट, कायोत्सर्गेण स्थितोप्यसावासीनो द्रष्टव्यः। उत्थित, उपविष्टो भूत्वा स्थितो आसीनोऽप्यसौ कायोत्सर्गस्थश्चैव । तथोपविष्टो[1] ऽपि चासावासीन.। एव कायोत्सर्ग. चत्वारि स्थानानि यस्यासौ

गाथार्थ—जो साधु तीस वर्ष की वय वाला है पुन· सत्तर वर्ष वाले के कायोत्सर्ग से समानता करता है वह विषम है, कूटवादी, अज्ञानी और मूढ है ॥६७४॥

आचारवृत्ति—जो मुनि तीस वर्ष की उम्रवाला है—युवावस्था में स्थित है, शक्तिमान है फिर भी यदि वह सत्तर वर्ष की आयु वाले वृद्ध ऐसे अशक्त मुनि के कायोत्सर्ग आदि की समाप्ति रूप अनुष्ठान के साथ बराबरी करता है अर्थात् आप शक्तिमान होकर भी अशक्त मुनि के साथ स्पर्द्धा करता है वह साधु विषम—शान्तरूप नही है, माया प्रपच मे तत्पर है, निर्विज्ञानी—विज्ञान रहित और चारित्ररहित है तथा मूर्ख है। न उसका इहलोक ही सुधरता है और न परलोक ही सुधरता है। अर्थात् अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। वृद्धावस्था मे शक्ति के ह्रास हो जाने से स्थिरता कम हो जाती है किन्तु युवावस्था मे प्रत्येक अनुष्ठान विशेष और अधिक हो सकते है।

कायोत्सर्ग के भदों को कहते हैं—

गाथार्थ—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्टनिविष्ट ऐसे चार भेदरूप कायोत्सर्ग होता है ॥६७५॥

आचारवृत्ति—उत्थितोत्थित—दोनो प्रकार से खड़े होकर जो कायोत्सर्ग होता है अर्थात् जिसमें शरीर से भी खड़े हुए हैं और परिणाम भी धर्म या शुक्ल ध्यान रूप हैं वह कायोत्सर्ग महान् से भी महान् है। पूर्व में उत्थित और पश्चात् निविष्ट अर्थात् कायोत्सर्ग में शरीर से तो खड़े है फिर भी भावों से बैठे हुए हैं अर्थात् आर्त या रौद्रध्यान रूप भाव कर रहे हैं, इनका कायोत्सर्ग उत्थित-निविष्ट कहलाता है। जो बैठे हुए भी खड़े हुए हैं अर्थात् बैठकर पद्मासन से कायोत्सर्ग करते हुए भी जिनके परिणाम उज्ज्वल हैं उनका वह कायोत्सर्ग उप-

१ क °विष्टनिविष्टोऽपि चासावासीनादप्यासीनः।

चतु स्थानश्चतुर्विकल्प इति ॥६७५॥

उक्त च—

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता ।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥१॥

आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥२॥

[1]धर्मशुक्लद्वयं यत्रोपविष्टेन विधीयते ।
तामुपविष्टोत्थितां तांकां निगदंति महाधियः ॥३॥

आर्तरौद्रद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते ।
तामुपविष्टोत्थितांकां निगदंति महाधियः ॥४॥

धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते ।
उत्थितोत्थितनाम्ना तामाभाषन्ते विपश्चितः[2] ॥५॥

उत्थितोत्थितकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

विष्टोत्थित है। तथा जो शरीर से भी बैठे हुए हैं और भावो से भी, उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टनिविष्ट कहलाता है। इस तरह कायोत्सर्ग के चार विकल्प हो जाते है।

अन्यत्र कहा भी है—

श्लोकार्थ—देह से ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग कहलाता है। उपविष्टोपविष्ट आदि के भेद से वह चार प्रकार का हो जाता है ॥१॥

जिस कायोत्सर्ग मे बैठे हुए मुनि आर्त और रौद्र इन दो ध्यानो का चिन्तवन करते है वह उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग कहलाता है ॥२॥

जिस कायोत्सर्ग मे बैठे हुए मुनि धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करते है बुद्धिमान् लोग उसको उपविष्टत्थित कहते है ॥३॥

जिस कायोत्सर्ग मे खड़े हुए साधु आर्तरौद्र का चिन्तवन करते है उसको उत्थितोपविष्ट कहते है ॥४॥

जिस कायोत्सर्ग में खड़े होकर मुनि धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करते है विद्वान लोग उसको उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५॥

उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग का लक्षण कहते है—

---

१ क धर्म शुक्लद्वय य स्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।
तामासीनोत्थिता लक्ष्मा निगदन्ति महाधिय ॥

२ क उपासकाचारे उक्तमास्ते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम ॥६७६॥

धर्म्यध्यान शुक्लध्यानं द्वे ध्याने यः कायोत्सर्गस्थितः सन् ध्यायति तस्यैष इह कायोत्सर्गं उत्थितो-त्थितो नामेति ॥६७६॥

तथोत्थितनिविष्टकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठदो णाम ॥६७७॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यान च द्वे ध्याने यः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितो ध्यायति तस्यैष कायोत्सर्गं उत्थित-निविष्टनामेति ॥६७७॥

धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो उवविट्ठउट्ठिदो णाम ॥६७८॥

धर्म्यं शौक्ल्य च द्वे ध्याने यो निविष्टो ध्यायति तस्यैष कायोत्सर्गं इहागमे उपविष्टोत्थितो नामेति ॥६७८॥

उपविष्टोपविष्टकायोत्सर्गस्य लक्षणमाह—

अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम ॥६७९॥

गाथार्थ—जो ध्यान में खड़े हुए धर्म और शुक्ल इन दो ध्यान को करते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उत्थितोत्थित नाम वाला है ॥६७६॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उत्थितनिविष्ट कायोत्सर्ग कहते हैं—

गाथार्थ—जो कायोत्सर्ग में स्थित हुए आर्त और रौद्र इन दो ध्यान को ध्याते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उत्थितनिविष्ट नाम वाला है ॥६७७॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उपविष्टोत्थित का लक्षण कहते हैं—

गाथार्थ—जो बैठे हुए धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानों को ध्याते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित नाम वाला है ॥६७८॥

आचारवृत्ति—गाथा सरल है।

उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग का लक्षण करते हैं—

गाथार्थ—जो बैठे हुए ध्यान में आर्त और रौद्र का ध्यान करते हैं उनका यह कायोत्सर्ग उपविष्टोपविष्ट नामवाला है ॥६७९॥

आर्तध्यानं रौद्रध्यानं च द्वे ध्याने यः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितो ध्यायति तस्यैष कायोत्सर्ग उपविष्टोपविष्टो नाम ।।६७९।।

कायोत्सर्गेण स्थितः शुभं मनःसंकल्पं कुर्यात् परन्तु कः शुभो मनःसंकल्प इत्याह—

दंसणणाणचरित्ते उवग्रोगे संजमे विउस्सग्गे ।
पच्चक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु ।।६८०।।

विज्जाचरणमहव्वदसमाधिगुणबंभचेरछक्काए ।
खमणिग्गह ग्रज्जवमद्दवमुत्तीविणए च सद्दहणे ।।६८१।।

एवंगुणो महत्थो मणसंकप्पो पसत्थ वीसत्थो ।
संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासणसम्मदं सव्वं ।।६८२।।

दर्शनज्ञानचारित्रेषु यो मनःसंकल्पः उपयोगे ज्ञानदर्शनोपयोगे यश्चित्तव्यापारः संयमविषये यः परिणामः कायोत्सर्गस्य हेतोर्यत् ध्यानं प्रत्याख्यानग्रहणे यः परिणामः करणेषु पंचनमस्कारषडावश्यकासिकानिषद्यकाविषये शुभयोगस्तथा प्रणिधानेषु धर्मध्यानादिविषयपरिणामः समितिषु समितिविषयः परिणामः ।।६८०।।

तथा—

विद्यायां द्वादशांगचतुर्दशपूर्वविषयः संकल्पः, आचरणे भिक्षाशुद्ध्यादिपरिणामः, महाव्रतेषु अहिंसा-

---

ग्राचारवृत्ति—गाथा सरल है।

कायोत्सर्ग से स्थित हुए मुनि शुभ मनःसंकल्प करे, तो पुनः शुभ मनःसंकल्प क्या है ? सो ही बताते है—

गाथार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र मे, उपयोग मे, सयम मे, व्युत्सर्ग में, प्रत्याख्यान मे, क्रियाओ मे, धर्मध्यान आदि परिणाम मे, तथा समितियो मे ।।६८०।।

विद्या, आचरण, महाव्रत, समाधि, गुण और ब्रह्मचर्य मे, छह जीवकायों मे, क्षमा, निग्रह, आर्जव, मार्दव, मुक्ति, विनय तथा श्रमदान में ।।६८१।।

मन का संकल्प होना, सो इन गुणों से विशिष्ट महार्थ, प्रशस्त और विश्वस्त सकल्प है। यह सब जिनशासन में सम्मत है ऐसा जानो ।।६८२।।

ग्राचारवृत्ति—दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे जो मन का सकल्प है वह शुभ संकल्प है, ऐसे ही उपयोग—ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग जो चित्त का व्यापार, संयम के विषय मे परिणाम, कायोत्सर्ग के लिए ध्यान, प्रत्याख्यान के ग्रहण मे परिणाम तथा करण में अर्थात् पंचपरमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रिया, आसिका और निषद्यिका इन तेरह क्रियाओं के विषय में शुभयोग तथा प्रणिधान—धर्म-ध्यान आदि विषयक परिणाम और समिति विषयक जो परिणाम है वह सब शुभ है।

विद्या—द्वादशांग और चौदह पूर्व विषयक सकल्प अर्थात् उस विषयक परिणाम, आचरण—भिक्षा शुद्धि आदि रूप परिणाम, महाव्रत—अहिंसा आदि पांच महाव्रत विषयक

द्धिविषयपरिणामः, समाधौ विषयसन्यसनेन पंचनमस्कारस्तवनपरिणाम., गुणेषु गुणविषयपरिणामः, ब्रह्मचर्ये मैथुनपरिहारविषयपरिणाम , षट्कायेषु पृथिवीकायादिरक्षणपरिणाम., क्षमाया क्रोधोपशमनविषयपरिणाम., निग्रहे इन्द्रियनिग्रहविषयोऽभिलाषः, आर्जवमार्दवविषय परिणामः, मुक्तौ सर्वसंगपरित्यागविषयपरिणाम., विनयविषय परिणाम, श्रद्धानविषय परिणाम ॥६८१॥

उपसंहरन्नाह—

एवगुण पूर्वोक्तमन संकल्पो मन परिणाम. महार्थः कर्मक्षयहेतुः प्रशस्त शोभनो विश्वस्तः सर्वेषां विश्वासयोग्य सकल्प इति सम्यग्ध्यानमिति विजानीहि जिनशासने सम्मत सर्वं समस्तमिति, एवविशिष्ट ध्यान कायोत्सर्गेण स्थितस्य योग्यमिति ॥६८२॥

अप्रशस्तमाह—

परिवारइड्ढिसक्कारपूयणं असणपाणहेऊ वा।
लयणसयणासण भत्तपाणकामट्ठहेऊ वा ॥६८३॥

आज्ञाणिद्देसपमाणकित्तीवण्णणपहावणगुणट्ठं।
झाणमिणमप्पसत्थं मणसंकप्पो दु वीसत्थो ॥६८४॥

परिणाम, समाधि—विषयों के सन्यसन अर्थात् त्यागपूर्वक पचनमस्कार स्तवनरूप परिणाम, गुणविषयक परिणाम, ब्रह्मचर्य—मैथुन के त्यागरूप परिणाम, षट्काय—छह जीवनिकायों की रक्षा का परिणाम, क्षमा—क्रोध के उपशमनविषयक परिणाम, निग्रह—इन्द्रियों की निग्रह की अभिलाषा, आर्जव और मार्दव रूप भाव, मुक्ति—सर्वसंग के त्याग का परिणाम, विनय—विनय का भाव और श्रद्धान—तत्त्वों मे श्रद्धा रूप परिणाम, ये सब शुभ हैं।

इन गुणों से विशिष्ट जो मन का संकल्प अर्थात् मन का परिणाम है वह **महार्थ**—कर्म के क्षय में हेतु है, प्रशस्त—शोभन है और विश्वस्त—सभी के विश्वास योग्य है। यह सकल्प सम्यक्—समीचीन ध्यान है। पूर्वोक्त ये सभी परिणाम जिनशासन को मान्य है। अर्थात् इस प्रकार का ध्यान कायोत्सर्ग से स्थित हुए मुनि के लिए योग्य है—उचित है ऐसा तुम जानो।

भावार्थ—कायोत्सर्ग को करते हुए मुनि यदि दर्शन, ज्ञान आदि मे (उपर्युक्त दो गाथा कथित विषयो मे) अपना उपयोग लगाते है तो उनका वह शुभ सकल्प कहलाता है जो कि उनके योग्य है, क्योंकि शुक्लध्यान के पहले-पहले तो सविकल्प ध्यान ही होता है जो कि नाना विकल्पों रूप ही है।

अप्रशस्त मनःपरिणाम को कहते हैं—

गाथार्थ—परिवार, ऋद्धि, सत्कार, पूजा अथवा भोजन-पान इनके लिए, अथवा लयन, शयन, आसन, भक्त, प्राण, काम और अर्थ के हेतु ॥६८३॥

तथा आज्ञा, निर्देश, प्रमाणता, कीर्ति, प्रशंसा, प्रभावना, गुण और प्रयोजन यह सब ध्यान अप्रशस्त हैं, ऐसा मन का परिणाम अविश्वस्त है ॥६८४॥

परिवार: पुत्रकलत्रादिकः शिष्यसामान्यसाधुश्रावकादिकः ऋद्धिर्विभूतिर्हस्त्यश्वद्रव्यादिका, सत्कार: कार्यादिष्वग्रतः करणं पूजनमर्चनं अशनं भक्तादिकं पानं सुगन्धजलादिकं हेतुः कारणं वा विकल्पार्थः, लयनं उत्कीर्णपर्वतप्रदेशः, शयनं पल्यंकतूलिकादिकं, आसनं वेत्रासनादिकं, भक्तो भक्तियुक्तो जनः आत्मभक्तिर्वा, प्राणः सामर्थ्यं दशप्रकारा प्राणा वा, कामो मैथुनेच्छा, अर्थो द्रव्यादिप्रयोजनं, इत्येवकारणेन कायोत्सर्गं यः करोति परिवारनिमित्तं विभूतिनिमित्तं सत्कारपूजानिमित्तं चाशनपाननिमित्तं वा लयनशयनासननिमित्तं मम भक्तो जनो भवत्विति मदीया भक्तिर्वा ख्यातिं गच्छत्विति, मदीयं प्राणसामर्थ्यं लोको जानातु मम प्राणरक्षको देवो वा मनुष्यो वा भवत्विति हेतोः यः कायोत्सर्गं करोति, कामहेतुरर्थहेतुश्च यः कायोत्सर्गः स सर्वोऽप्यप्रशस्तो मनःसंकल्प इति ॥६८३॥

आज्ञा आदेशमन्तरेण नीत्वा वर्तनं। निर्देशः आदेशो वचनस्यानन्यथा करणं। प्रमाणं सर्वत्र प्रमाणीकरणं। कीर्तिः ख्यातिरतस्या वर्णनं प्रशंसनं। प्रभावनं प्रकाशनं। गुणाः शास्त्रज्ञातृत्वादयोऽर्थः प्रयोजनं, आज्ञां मम सर्वोऽपि करोतु निदेशं मम सर्वोऽपि करोतु प्रमाणीभूतं मां सर्वोऽपि करोतु मम कीर्तिवर्णनं सर्वोऽपि

आचारवृत्ति—पुत्र, कलत्र आदि, अथवा शिष्य, सामान्य साधु व श्रावक आदि परिवार कहलाते हैं। हाथी, घोडे, द्रव्य आदि का वैभव ऋद्धि है,। किसी कार्य आदि में आगे करना सत्कार है, अर्चा करना पूजन है, भोजन आदि अशन है और सुगन्ध जल आदि पान हैं। इनके लिए कायोत्सर्ग करना अप्रशस्त है। उकेरे हुए पर्वत आदि के प्रदेश को लयन—लेनी कहते है, पलग या गद्दे आदि शयन है, वेत्रासन—मोढा, सिहासन, कुर्सी आदि आसन है। भक्ति से सहित लोग भक्त है अथवा अपनी भक्ति होना भक्त है। सामर्थ्य को प्राण कहते है अथवा दश प्रकार के प्राण होते है, मैथुन की इच्छा काम है, द्रव्य आदि का प्रयोजन अर्थ कहलाता है। तात्पर्य यह है कि—

जो मुनि इन उपर्युक्त कारणो से कायोत्सर्ग करते हैं अर्थात् परिवार के निमित्त, विभूति के निमित्त, सत्कार व पूजा के लिए तथा भोजन पान के हेतु अथवा लयन-शयन-आसन के लिए तथा लोग मेरे भक्त हो जावे या मेरी भक्ति खूब होवे, मेरी ख्याति फैले, मेरे प्राण सामर्थ्य को लोग जाने, देव या मनुष्य मेरे प्राणो के रक्षक होवे, इन हेतुओ से जो कायोत्सर्ग करते है तथा कामहेतु और अर्थहेतु जो कायोत्सर्ग है वह सब कायोत्सर्ग अप्रशस्त मन का परिणाम है ऐसा समझना।

उसी प्रकार से और भी बताते है—

आदेश के बिना आज्ञा लेकर वर्तन करें वह आज्ञा है। वचन को अन्यथा न करें अर्थात् कहे हुए वचन के अनुसार ही लोग प्रवृत्ति करे सो आदेश है। सभी स्थानों में प्रमाणभूत स्वीकार करे सो प्रमाणता है। कीर्ति—ख्याति से प्रशसा होवे, प्रभावना होवे, शास्त्र के जानने आदि रूप गुण प्रगट होवे। प्रयोजन को अर्थ कहते है—सो हमारा प्रयोजन सिद्ध होवे। तात्पर्य यह है कि सभी लोग मेरो आज्ञा पालन करे, सभी लोग मेरे आदेश के अनुसार प्रवृत्ति करे, सभी मुझे प्रमाणीभूत स्वीकार करे, सभी लोग मेरी प्रशंसा करें, सभी लोग मेरी प्रभावना

करोतु, मा प्रभावयन्तु सर्वेऽपि मदीयान् गुणान् सर्वेऽपि विस्तारयन्त्वित्यर्थं कायोत्सर्गेण ध्यानमिदमप्रशस्तमेवंविधो मन.संकल्पोऽविश्वस्तोऽविश्वसनीयो न चिन्तनीयोऽप्रशस्तो यत इति ।।६८४।।

कायोत्सर्गनिर्युक्तिमुपसंहरन्नाह—

काउस्सग्गणिजुत्ती एसा कहिया मए समासेण।
संजमतवड्ढियाणं णिग्गंथाण महरिसीणं ।।६८५।।

कायोत्सर्गनिर्युक्तिरेषा कथिता मया समासेन, सयमतपोवृद्धिमिच्छता निर्ग्रन्थाना महर्षीणामिति, नात्र पौनरुक्त्यमाशकनीय द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकशिष्यसग्रहणात्सूत्रवार्तिकस्वरूपेण कथनाच्चेति ।।६८५।।

षडावश्यकचूलिकामाह—

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति ।।६८६।।

आवश्यकाना फलमाह—अनया गाथया सर्वैरावश्यकैर्नियुक्त. सम्पूर्णैरस्खलितै समताद्यावश्य-

---

करे, सभी लोग मेरे गुणो का विस्तार करे, इन प्रयोजनों से जो कायोत्सर्ग करते है उनका यह सब ध्यान अप्रशस्त कहलाता है। इस प्रकार का मन:सकल्प अविश्वस्त है अर्थात् ये सब चिन्तवन अप्रशस्त है ऐसा समझना चाहिए।

कायोत्सर्ग निर्युक्ति का उपसहार करते हुए कहते है—

गाथार्थ—सयम, तप और ऋद्धि के इच्छुक, निर्ग्रथ महर्षियो के लिए मैंने संक्षेप से यह कायोत्सर्ग निर्युक्ति कही है ।।६८५।।

आचारवृत्ति—सयम और तप की वृद्धि की इच्छा रखनेवाले निर्ग्रथ महर्षियों की कायोत्सर्ग निर्युक्ति मैंने संक्षेप से कही है। यहाँ पर पुनरुक्त दोष नही है क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक शिष्यो का सग्रह किया गया है, तथा सूत्र और वार्तिक के स्वरूप से कथन किया गया है। अर्थात् जैसे सूत्र को पुन वार्तिक के द्वारा स्पष्ट किया जाता है उसमे पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता है उसी प्रकार से यहाँ द्रव्यार्थिक शिष्यो के लिए सक्षिप्त वर्णन किया गया है पुन: पर्यायार्थिक शिष्यों के लिए उसी के भेद-प्रभेदों से विशेष वर्णन भी किया गया है। ऐसा समझना।

अब छह आवश्यकों की चूलिका का वर्णन करते है—

गाथार्थ—सर्व आवश्यको से परिपूर्ण हुए मुनि नियम से सिद्ध हो जाते है ऐसा जानना। जो परिपूर्ण रूप नही करते हैं वे नियम से स्वर्गादि में आवास करते हैं ।।६८६।।

आचारवृत्ति—इस गाथा के द्वारा आवश्यक क्रियाओं का फल कह रहे हैं—जो सम्पूर्ण—अस्खलित रूप से समता आदि छहों आवश्यकों से परिणत हो चुके हैं वे निश्चय से सिद्ध हैं। अर्थात् यहाँ भावी में वर्तमान का बहुप्रचार—उपचार है क्योंकि वे मुनि अतर्मुहूर्त के ऊपर सिद्ध हो जाते हैं। अथवा सिद्ध ही सर्व आवश्यकों से युक्त हैं—सम्पूर्ण हैं,

कैर्युक्त. परिणतो नियमात् निश्चयेन सिद्ध इति भवति ज्ञातव्यो [1]भाविनि वर्तमानबहुप्रचारोऽन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं सिद्धो भवति, अथवा सिद्ध एव सर्वावश्यकैर्युक्तः सम्पूर्णो नान्य इति, अथ पुन. शेषात् स्तोकात् निर्गतानि नि शेषाणि[2] न स्तोकरहितानि सावशेषाणि न सम्पूर्णानि करोत्यावश्यकानि तदा तस्य नियमान्निश्चयात् आवासका [3]स्वर्गाद्यावासा भवन्ति तेनैव भवेन न मोक्ष स्यादिति यदि सविशेषान्नियमात्करोति तदा तु सिद्ध· कर्मक्षयसमर्थं स्यात्, अथ निर्विशेषान्नियमाच्छैथिल्यभावेन करोति तदा तस्य यतेर्नियमा समतादिक्रिया आवासयन्ति प्रच्छादयन्तीति आवासका प्रच्छादकाः नियमाद्भवन्तीत्यर्थ·। अथ वा ससारे आवासयन्ति स्थापयन्तीत्यर्थ ॥६८६॥

अथ वाऽऽवासकानामयमर्थ इत्याह—

आवासयं तु आवसएसु सव्वेसु अपरिहीणेसु।
मणवयणकायगुत्तिंदियस्स आवासया होंति ॥६८७॥

मनोवचनकार्यैर्गुप्तानीद्रियाणि यस्यासौ मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्तस्य मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियस्य सर्वेष्वावश्यकेष्वपरिहीणेष्वावसनमवस्थान यत्तेन आवश्यका साधोर्भवति परमार्थतोऽन्ये पुनरावासका कर्मा-

---

अन्य कोई नही। पुन जो नि शेष आवश्यको को नही करते है वे निश्चय से स्वर्ग आदि मे ही आवास करनेवाले हो जाते है, उसी भव से उन्हे मोक्ष नही हो पाता है ऐसा अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि—

यदि सविशेषरूप से आवश्यक करते है तब तो ये सिद्ध अर्थात् कर्मों के क्षय मे समर्थ हो जाते है और यदि निर्विशेष—शिथिलभाव से करते है तो उस यति के वे नियम—सामायिक आदि आवश्यक क्रियाएँ उसे आवासित—प्रच्छादित कर देते है अर्थात् वे कर्मो से आत्मा को ढक लेते है, सर्वथा कर्म निर्जीर्ण नही हो पाते हैं। अथवा वे शिथिलभाव—अतीचार आदि सहित आवश्यक उनका ससार मे आवास कराते है अर्थात् कुछ दिन ससार मे रोके रखते है।

भावार्थ—जो मुनि इन आवश्यक क्रियाओ को निरतिचार करते हुए पुन. उन रूप परिणत हो जाते है—निश्चय आवश्यक क्रिया रूप हो जाते हे वे निश्चय आवश्यक क्रियामय कहलाते है। वे अन्तर्मुहर्त के अनन्तर मोक्ष प्राप्त कर सकते है। तथा जो मुनि इनको करते हुए भी अतीचारों से नही बच पाते है वे इनके प्रभाव से कुछ काल तक स्वर्गों व मनुष्यलोक के सुखो को प्राप्त करके पुन परम्परा से मोक्ष प्राप्त करते है, ऐसा समझना।

अथवा आवासको का यह अर्थ है, सो ही बताते हैं—

गाथार्थ—हीनता रहित सभी आवश्यको में जो आवास करना है वह ही मन-वचन-काय से इन्द्रियो को वश करनेवाले के आवश्यक होते है ॥६८७॥

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय से जिसकी इन्द्रियाँ गुप्त है—वशीभूत है वह मनवचन-काय गुप्तेंद्रिय अर्थात् त्रिकरण जितेन्द्रिय कहलाता है। उसका जो न्यूनतारहित सम्पूर्ण आवश्यको मे अवस्थान है—रहना है उसी हेतु से साधु के परमार्थ से आवश्यक होते हैं, किन्तु अन्य जो

---

१ क भाविनि भूतवदुपचारः। अन्त°। २ क न सम्पूर्णानि। ३ क °कात् स्वर्गादौ निवासो भवति

गमहेतव एवेति, अथ वा आवासयन्तु इति प्रश्नवचनं, आवश्यकानि सम्पूर्णानि कथंभूतस्य पुरुषस्य भवन्तीति प्रश्ने तत आह—सर्वेषु चापरिहीणेषु मनोवचनकायगुप्तेन्द्रियास्यावश्यकानि भवन्तीति निर्देश कृत इति ॥६८७॥

आवश्यककरणविधानमाह—

तियरण सव्वविसुद्धो दव्वे खेत्ते यथुत्तकालम्हि ।
मोणेणव्वाखित्तो कुज्जा आवासया णिच्चं ॥६८८॥

त्रिकरणैर्मनोवचनकायैः सर्वथा शुद्धो द्रव्यविषये क्षेत्रविषये यथोक्तकाले आवश्यकानि नित्यं मौनेनाव्याक्षिप्तः सन् कुर्याद्यतिरिति ॥६८८॥

अथासिकानिषिद्यकयोः किंलक्षणमित्याशंकायामाह—

जो होदि णिसीदप्पा णिसीहिया तस्स भावदो होदि ।
अणिसिद्धस्स णिसीहियसद्दो हवदि केवलं तस्स ॥६८९॥

यो भवति निसितो बद्ध आत्मपरिणामो येनासौ निसितात्मा निगृहीतेन्द्रियकषायचित्तादिपरिणा-

---

है वे आवासक अर्थात् कर्मागमन के हेतु ही हैं। अर्थात् न्यून आवश्यको से कर्मों का आश्रव होता है—पूर्ण निर्जरा नही हो पाती है। अथवा 'आवासयतु' यह प्रश्नवचन है। वह इस तरह है कि—

ये आवश्यक सम्पूर्ण कैसे पुरुष के होते है ?

जो सम्पूर्ण रूप से न्यूनता रहित हैं, जो मनवचनकाय से इन्द्रियो को वश मे रखने वाले है उनके ही ये आवश्यक परिपूर्ण होते हैं ऐसा निर्देश है। अथवा जिसने परिपूर्ण आवश्यको का पालन किया है उस साधु के ही मन-वचन-कायपूर्वक इन्द्रियाँ वशीभूत हो पाती है।

आवश्यक करने की विधि बताते हैं—

गाथार्थ—मन-वचन-काय से सर्वविशुद्ध हो द्रव्य, क्षेत्र मे और आगमकथित काल मे मौनपूर्वक निराकुलचित्त होकर नित्य ही आवश्यको को करे ॥६८८॥

आचारवृत्ति—मन-वचन-काय से सर्वथा शुद्ध हुए मुनि द्रव्य के विषय मे, क्षेत्र के विषय मे तथा आगम मे कहे गए काल मे निराकुलचित्त होकर नित्य ही मौनपूर्वक आवश्यक क्रियाओ का अनुष्ठान करे।

अब आसिका और निषिद्यका का क्या लक्षण है ? ऐसी आशका होने पर कहते हैं—

गाथार्थ—जो नियमित आत्मा हैं उसके भाव से निषिद्यका होती है। जो अनियन्त्रित है उसके निषिद्यका शब्द मात्र होता है ॥६८९॥

आचारवृत्ति—जिसने अपनी आत्मा के परिणाम को बाधा हुआ है वह निसितात्मा है अर्थात् इन्द्रिय, कषाय और चित्त आदि परिणाम का निग्रह किया हुआ है। अथवा निषिद्धात्मा—सर्वथा जिनकी नियमित—नियन्त्रित मति है ऐसे मुनि निषिद्धात्मा हैं। ऐसे मुनि

मोऽसौ निमिता माऽथ वा निषिद्धात्मा सर्वथा निर्मलितमतिस्तस्य भवतो निषिद्यका भवति। [1]अनिषिद्धस्य स्वेच्छाप्रवृत्तस्यानिषिद्धात्मनश्चलचित्तस्य कषायविषयवर्तिनो निषिद्यकाशब्दो भवति केवल शब्दमात्रकरण तस्यति ॥६८९॥

आसिकार्थमाह—

आसाए विप्पमुक्कस्स आसिका होदि भावदो।
आसाए अविप्पमुक्कस्स सद्दो हवदि केवलं ॥६९०॥

आशया काक्षया विविधप्रकारेण मुक्तस्य आसिका भवति भावत परमार्थेन, आशया पुनरविप्रमुक्तस्यासिकाकरण शब्दो भवति केवल, किमर्थमासिकानिषिद्यकयोरत्र निरूपणमिति चेन्न त्रयोदशकरण-

---

के भाव से निषिद्यका होती है। किन्तु जो अनिषिद्ध हैं—स्वेच्छा से प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जिनका चित्त चचल है अर्थात् जो कषाय के वशीभूत हो रहे हैं उनके निषिद्यका शब्द केवल शब्दमात्र ही है।

आसिका का अर्थ कहते हैं—

गाथार्थ—आशा से रहित मुनि के भाव से आसिका होती है किन्तु आशा से सहित के शब्दमात्र होती है ॥६९०॥

आचारवृत्ति—काक्षा से जो विविध प्रकार से मुक्त हैं—छूट चुके हैं उनके परमार्थ से आसिका होती है। किन्तु जो आशा से मुक्त नही हुए है उनके आसिका करना केवल शब्द-मात्र ही है।

यहाँ पर आसिका और निषिद्यका निरूपण किसलिए किया है ?

तेरह प्रकार के करण मे इनको लिया गया है, इसलिए यहाँ पर इनका निरूपण करना जरूरी था। जिस प्रकार से यहाँ पर पचनमस्कार का निरूपण किया गया है और छह आवश्यक क्रियाओ का निरूपण किया गया है उसी प्रकार से यहाँ पर इन दोनो का भी अधि-कार है इसलिए नाम के स्थान मे इनका निरूपण किया है।

विशेषार्थ—करण शब्द से तेरह प्रकार की क्रियाएँ ली जाती हैं। पाँच परमेष्ठी को नमस्कार, छह आवश्यक क्रिया तथा असही और निसही ये तेरह प्रकार हैं। इस अध्याय मे पाँचो परमेष्ठी का वर्णन किया है। छह आवश्यक क्रियाओ की तो प्रमुखता है ही अत इसी अधिकार मे आसिका और निषिद्यका वर्णन भी आवश्यक ही था। यहाँ पर दो गाथाओ मे भाव निषिद्यका और भावआसिका की सार्थकता बतलायी है। और शब्द बोलना केवल शब्द-मात्र हैं ऐसा कहा है किन्तु शब्दोच्चारण की विधि नही बतलाई है जोकि अन्यत्र ग्रन्थो मे कही गई है। अनगार धर्मामृत मे असही और निसही का विवेचन इस प्रकार से है—

वसत्यादौ विशेत्तत्स्थ भूतादि निसहीगिरा।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत् चापृच्छ्यासहीगिरा ॥१३२॥ अनगार. अ० ८, पृ० ६२५-२६

---

[1] क अनिसिसस्य।

मध्ये पठितत्वात्, यथाऽत्र पंचनमस्कारनिरूपणं षडावश्यकानां च निरूपणं कृतमेवमनयोरप्यधिकारात् भवतीति नामस्थाने निरूपणमनयोरिति ॥६९०॥

चूलिकामुपसंहरन्नाह—

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ॥६९१॥

निर्युक्तेर्निर्युक्तिरावश्यकचूलिकावश्यकनिर्युक्तिरेषा[1] कथिता मया समासेन संक्षेपेणार्थविस्तार-प्रसंगोऽनियोगादाचारांगाद्भवति ज्ञातव्य इति ॥६९१॥

आवश्यकनिर्युक्तिं सचूलिकामुपसंहरन्नाह—

अर्थ—वसतिका, जिनमंदिर आदि में प्रवेश करते समय वहाँ रहनेवाले भूत, यक्ष आदि को 'निसही' शब्द द्वारा पूछकर प्रवेश करना चाहिए अर्थात् वसतिका आदि में प्रवेश करते समय 'निसही' शब्द बोलकर प्रवेश करना चाहिए। तथा वहाँ से बाहर निकलते समय 'असही' शब्द द्वारा पूछकर निकलना चाहिए अर्थात् निकलते समय 'असही' का उच्चारण करके निकलना चाहिए। पुन कहते हैं—

आचारसार में भी ऐसा ही कथन है। यथा—

आत्मन्यात्माश्रितो येन त्यक्ता वाऽऽशास्य भावतः ।
निसह्यसह्यौ स्तोऽन्यस्य तदुच्चारणमात्रकं ॥१३३॥

अर्थ—जिसने अपनी आत्मा को आत्मा में स्थापित किया है और जिसने लोक आदि की आशा—अभिलाषा को छोड़ दिया है उसके भाव से अर्थात् निश्चयनय से निसही होते है। अन्य जीव के शब्दोच्चारण मात्र ही है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि ये शब्द तो बोलने ही चाहिए। उनके साथ-साथ भाव आसिका, भाव निषिधका के अर्थों का भी ध्यान रखना चाहिए। शब्दोच्चारण तो आवश्यक है ही। यदि वह भावसहित है तो सम्पूर्ण फल को देने वाला है, भावशून्य मात्र शब्द किंचित् ही फलदायक हैं ऐसा समझना। शब्द रूप निसही असही व्यवहार धर्म है और भावरूप निसही असही निश्चय धर्म है।

चूलिका का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

गाथार्थ—मैंने सक्षेप से यह निर्युक्ति की निर्युक्ति कही है और विस्तार रूप से अनियोग ग्रन्थों से जानना चाहिए ॥६९१॥

आचारवृत्ति—मैंने संक्षेप से यह निर्युक्ति की निर्युक्ति अर्थात् आवश्यक चूलिका की आवश्यक निर्युक्ति कही है। यदि आपको विस्तार से अर्थ जानना है तो अनियोग—आचारांग से जानना चाहिए।

अब चूलिका सहित आवश्यक निर्युक्ति का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

---

१ क 'क्त्यावे का यथा।

आवासयणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा ।
जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्पा ।।६६२।।

आवश्यकनिर्युक्तिरेवप्रकारेण कथिता समासत सक्षेपतो विधिना, तां य उपयुक्ते समाचरति नित्य सर्वकाल स सिद्धि याति विशुद्धात्मा सर्वकर्मनिर्मुक्त इति ।।६६२।।

गाथार्थ—इस तरह संक्षेप से मैंने विधिवत् आवश्यक निर्युक्ति कही है। जो नित्य ही इनका प्रयोग करता है वह विशुद्ध आत्मा सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।।६६२।।

आचारवृत्ति—इस प्रकार संक्षेप से मैंने विधिपूर्वक आवश्यक निर्युक्ति कही है जो मुनि सर्वकाल इस रूप आचरण करते है वे विशुद्ध आत्मा—सर्वकर्म से मुक्त होकर सिद्धपद को प्राप्त कर लेते हैं।

विशेषार्थ—अनगार धर्मामृत में आठवे अध्याय के छह आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करके नवम अध्याय मे नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का अथवा इन आवश्यक क्रियाओ के प्रयोग का वर्णन बहुत ही सरल ढग से किया है। यथा—

अर्धरात्रि के दो घडी अनन्तर से अपर रात्रिक स्वाध्याय का काल हो जाता है। उस समय पहले 'अपररात्रिक' स्वाध्याय करके पुन. सूर्योदय के दो घडी शेष रह जाने पर स्वाध्याय समाप्त कर 'रात्रिक प्रतिक्रमण' करके रात्रियोग समाप्त कर देवे। फिर सूर्योदय के समय से दो घडी तक 'देववन्दना' अर्थात् सामायिक करके गुरुवन्दना' करे। पुन. 'पौर्वाह्णिक' स्वाध्याय प्रारम्भ करके मध्याह्न के दो घडी शेष रहने पर स्वाध्याय समाप्त कर 'देववन्दना' करे। मध्याह्न समय देववन्दना समाप्त कर 'गुरुवन्दना' करके 'आहार हेतु[1] जावे। यदि उपवास हो तो उस समय जाप्य या आराधना का चिन्तवन करे। गोचरी से आकर गोचर प्रतिक्रमण करके व प्रत्याख्यान ग्रहण करके पुन 'अपराह्णिक' स्वाध्याय प्रारम्भ कर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले समाप्त कर 'दैवसिक' प्रतिक्रमण करे। पुन' गुरुवन्दना करके रात्रियोग ग्रहण करे तथा सूर्यास्त के अनन्तर 'देववन्दना' सामायिक करे। रात्रि के दो घड़ी व्यतीत हो जाने पर 'पूर्व रात्रिक' स्वाध्याय प्रारम्भ करके अर्धरात्रि के दो घडी पहले ही स्वाध्याय समाप्त करके शयन करे। यह अहोरात्र सम्बन्धी क्रियाएँ हुईं।

इसी तरह नैमित्तिक क्रियाओ मे अष्टमी, चतुर्दशी की क्रिया, चौदश अमावस या पूर्णिमा को पाक्षिक प्रतिक्रमण, श्रुतपचमी को श्रुतपचमी क्रिया, वीर निर्वाण समय वीर निर्वाण क्रिया इत्यादि क्रियाएँ करे।

किन-किन क्रियाओ मे किन-किन भक्तियों का प्रयोग होता है, सो देखिए—

स्वाध्याय के प्रारम्भ में लघु श्रुत, लघु आचार्य भक्ति तथा समाप्ति के समय लघु

---

१. मध्याह्न देववन्दना के अनन्तर ही आहार का विधान इसी मूलाचार ग्रन्थ मे पचाचार अधिकार के अशनसमिति के लक्षण की गाथा ११८ की टीका में भी स्पष्टतया उल्लेख है। यथा—"मध्याह्नदेववन्दनां कृत्वा······भिक्षावेलाया ज्ञात्या प्रशाते धूममुशलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः।"

[अधिकार ५, पृष्ठ २६२]

श्रुतभक्ति होती है। देववन्दना मे चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति होती है। आचार्यवन्दना में लघु सिद्ध आचार्यभक्ति। यदि आचार्य सिद्धांतविद् है तो इनके मध्य लघु श्रुतभक्ति होती है। दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध। प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर ऐसी चार भक्ति हैं तथा रात्रियोग ग्रहण, मोचन में योग भक्ति होती है। आहार-ग्रहण के समय प्रत्याख्यान निष्ठापन में लघु सिद्धभक्ति तथा आहार के अनन्तर प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन में लघु सिद्धभक्ति होती है। पुनः आचार्य के समीप आकर लघु सिद्ध व योगभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करके लघु आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य वन्दना का विधान है।

नैमित्तिक क्रिया मे चतुर्दशी के दिन त्रिकालदेववन्दना में चैत्यभक्ति के अनन्तर श्रुत भक्ति करके पचगुरु भक्ति की जाती है अथवा सिद्ध, चैत्य, श्रुत, पचगुरु और शान्ति ये पाँच भक्तियाँ है। अष्टमी के सिद्ध, श्रुत, सालोचना चारित्र व शान्ति भक्ति हैं। सिद्ध प्रतिमा की वन्दना मे सिद्धभक्ति व जिन-प्रतिमा की वन्दना मे सिद्ध, चारित्र, चैत्य, पंचगुरु व शान्ति भक्ति करे। पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियाकलाप व धर्मध्यानदीपक मे प्रकाशित है तदनुसार पूर्ण विधि करे। वही प्रतिक्रमण चातुर्मासिक व सांवत्सरिक मे भी पढ़ा जाता है। श्रुतपंचमी मे बृहत् सिद्ध, श्रुतभक्ति से श्रुतस्कध की स्थापना करके, बृहत् वाचना करके श्रुत, आचार्य भक्तिपूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके पश्चात् श्रुतभक्ति और शान्तिभक्ति करके स्वाध्याय समाप्त करे। नन्दीश्वरपर्व क्रिया मे सिद्ध, नन्दीश्वर, पंचगुरु और शान्ति भक्ति करे तथा अभिषेक वन्दना मे सिद्ध, चैत्य, पचगुरु और शान्ति भक्ति पढे।

आषाढ शुक्ला त्रयोदशी के मध्याह्न मे मंगलगोचर मध्याह्न देववन्दना करते समय, सिद्ध, चैत्य, पचगुरु व शान्ति भक्ति करे। मंगलगोचर के प्रत्याख्यान ग्रहण में बृहत् सिद्ध भक्ति, योग भक्ति करके प्रत्याख्यान लेकर बृहत् आचार्य भक्ति से आचार्यवन्दना कर शान्ति भक्ति पढ़े। यही क्रिया कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को भी होती है। यह क्रिया वर्षा योग के ग्रहण के प्रारम्भ और अन्त मे कही गई है। पुनः आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी के पूर्व रात्रि में वर्षा योग प्रतिष्ठापन क्रिया मे—सिद्धभक्ति, योगभक्ति करके लघु चैत्यभक्ति के द्वारा चारों दिशाओ में प्रदक्षिणा विधि करके, पचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति करे। यही क्रिया कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षा योग निष्ठापना में होती है। पुनः वर्षा योग निष्ठापना के अनन्तर वीर निर्वाण वेला मे सिद्ध, निर्वाण पचगुरु और शान्ति भक्ति करे।

जिनवर के पाँचों कल्याणकों मे क्रमशः गर्भ-जन्म में सिद्ध, चारित्र, शान्ति भक्ति हैं। तप कल्याण में सिद्ध, चारित्र, योग, शान्ति भक्ति तथा ज्ञानकल्याण मे सिद्ध, चारित्र, योग, श्रुत और शान्ति भक्ति हैं। निर्वाणकल्याण में शान्ति भक्ति के पूर्व निर्वाणभक्ति और पढ़ना चाहिए। यदि प्रतिमायोगधारी योगी दीक्षा में छोटे भी हों तो भी उनकी वन्दना करनी चाहिए। उसमें सिद्ध, योग और शान्ति भक्ति करना चाहिए। केशलोंचके प्रारम्भ में लघु सिद्ध और योगि भक्ति करे। अनन्तर केशलोच समाप्ति पर लघु सिद्धभक्ति करनी होती है।

सामान्य मुनि की समाधि होने पर उनके शरीर की क्रिया और निषद्या क्रिया में

सिद्ध, योगि, शान्ति भक्ति करना चाहिए। आचार्य समाधि पर सिद्ध योगि, आचार्य और शांति भक्ति करनी होती है। इस तरह संक्षेप से कहा है।

इनका और भी विशेष विवरण आचारसार, मूलाचार प्रदीप, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

इन भक्तियों को यथास्थान करते समय कृतिकर्म विधि की जाती है। इसमें "अड्ढाइज्ज दीव दो सद्दमुसु" आदि पाठ सामायिक दण्ड कहलाता है। 'थोस्सामि' पाठ चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव है। मध्य मे कायोत्सर्ग होता ही है, तथा 'जयतु भगवान् हेमांभोज' इत्यादि चैत्य भक्ति आदि के पाठ वन्दना कहलाते है। अतः देववन्दना व गुरुवन्दना में सामायिक, स्तव, वन्दना और कायोत्सर्ग ये चार आवश्यक सम्मिलित हो जाते हैं। तथा कायोत्सर्ग अन्य-अन्य स्थानो मे पृथक् से भी किये जाते हैं। प्रतिक्रमण मे भी कृतिकर्म मे सामायिक, दण्डक, कायोत्सर्ग और चतुर्विंशति स्तव हैं। वीर भक्ति आदि के पाठ वन्दना रूप हैं। अतः इसमें भी ये सब गर्भित हो जाते हैं। आहार के अनन्तर प्रत्याख्यान ग्रहण किया ही जाता है तथा अन्य भी वस्तुओं के त्याग करने में व उपवास आदि करने मे प्रत्याख्यान आवश्यक हो जाता है। इस तरह ये छहो आवश्यक प्रतिदिन किए जाते हैं।

कृतिकर्म प्रयोग मे चार प्रकार की मुद्राये मानी गयी है—यथा जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्ति-मुद्रा (अनगार धर्मामृत, अध्याय ८, पृष्ठ ६०३)

दोनो पैरो मे चार अगुल का अन्तर रखकर दोनो भुजाओं को लटकाकर कायोत्सर्ग से खडे होना जिनमुद्रा है। बैठकर पद्मासन, अर्ध पर्यंकासन या पर्यंकासन से बाये हाथ की हथेली पर दाये हाथ की हथेली रखना योगमुद्रा है। मुकुलित कमल के समान अजली जोड़ना वन्दना-मुद्रा है और दोनो हाथों की अगुलियो को मिलाकर जोडना मुक्ताशुक्तिमुद्रा है।

सामायिक दण्डक और थोस्सामि इनके पाठ मे 'मुक्ताशुक्ति' मुद्रा का प्रयोग होता है। 'जयतु' इत्यादि भक्ति बोलते हुए वन्दना करते समय 'वन्दना मुद्रा' होती है। खडे होकर कायोत्सर्ग करने में 'जिनमुद्रा' एव बैठकर कायोत्सर्ग करने मे 'योगमुद्रा' होती है।

मुनि और आर्यिका देव या गुरु को नमस्कार करते समय पचाग प्रणाम गवासन से बैठकर करते है।

कृतिकर्म प्रयोग विधि—'अथ देव-वन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तव—समेतं चैत्यभक्ति-कायोत्सर्गं करोम्यहं।'

(इस प्रतिज्ञा को करके खडे होकर पचांग नमस्कार करे। पुन. खड़े होकर तीन आवर्त, एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोड़कर सामायिक दण्डक पढ़े।)
सामायिक दण्डक स्तव—

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

चत्तारिमंगलं—अरहंतमंगल सिद्धमंगल साहूमंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मोमंगल। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंतसरणं पवज्जामि, सिद्धसरण पव्वज्जामि, साहू-सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरण पव्वज्जामि।

अड्ढाइज्जदीवदो समुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु, जाव अरहंताण भयवताणं आदि-यराण तित्थयराण जिणाणं जिणोत्तमाण केवलियाणं, सिद्धाणं बुद्धाण परिणिव्वुदाणं अंतयडाण पारयडाण, धम्माइरियाण, धम्मदेसियाण, धम्मणायगाण, धम्मवर-चाउरंग-चक्कवट्टीण देवाहिदेवाण, णाणाण, दसणाणं, चरित्ताण सदा करेमि, किरियम्म।

करेमि भन्ते सामाइय सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि जावज्जीवं तिविहेण मणसा वचसा कायेण ण करेमि ण कारेमि कीरंतपि ण समणुमणामि। तस्स भंते ! अइचार पच्चक्खामि, णिदामि गरहामि अप्पाण, जाव अरहताण भयवताणं पज्जुवासं करेमि ताव कालं पावकम्म दुच्चरियं वोस्सरामि।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके जिनमुद्रा या योगमुद्रा से सत्ताईस उच्छ्वास मे नव बार णमोकार मन्त्र जपकर पुन पचांग नमस्कार करे। अनन्तर खडे होकर तीन आवर्त एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से हाथ जोडकर 'थोस्मामि' पढ़े।)

थोस्सामिस्तव—

थोस्सामि ह जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोयरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेवि केवलिणो ॥२॥

उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥

सुविहिं च पुप्फयंत, सीयल सेयं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥

कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदामि रिट्ठणेमिं, तह पासं वड्ढमाणं च ॥५॥

एवं मए अभित्थुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥

कित्तिय वंदिय महिया, एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥

चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपयासंता।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥८॥

इति श्रीवट्टकेराचार्यवर्यप्रणीतमूलाचारस्य वसुनंद्याचार्यविरचितायाम्
आचारवृत्तावावश्यकनिर्युक्तिनामकः सप्तमः परिच्छेदः ॥७॥

(पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके वन्दना मुद्रा से हाथ जोड़कर 'जयतु भगवान् हेमाभोज…इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़े।)

इस तरह इस कृतिकर्म में प्रतिज्ञा के अनन्तर तथा कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार पचांग नमस्कार करने से दो अवनति—प्रणाम हो जाते हैं। सामायिक स्तव के आदि-अन्त में तथा 'थोस्सामिस्तव' के आदि-अन्त मे तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं।

लघु भक्तियों के पाठ में कृतिकर्म मे लघु सामायिकस्तव और थोस्सामिस्तव भी होता है। यथा—

अथ पौर्वाह्णिकस्वाध्याय-प्रतिष्ठापन-क्रियायां ''श्रुतभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहृ।

(पूर्ववत् पचाग नमस्कार करके, तीन आवर्त और एक शिरोनति करे। पुन· सामायिक दण्डक पढ़े।)

सामायिकस्तव—**णमो अरहताणं, णमोसिद्धाणं णमो आइरियाणं।**
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

चत्तारि मगल—अरहत मगल, सिद्ध मगल, साहू मगल, केवलिण्णत्तो धम्मो मगल। चत्तारि लोगुत्तमा—अरहत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरण पव्वज्जामि—अरहत-सरण पव्वज्जामि, सिद्धसरणं पव्वज्जामि, साहूसरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरण पव्वज्जामि।

जाव अरहताण भयवताण पज्जुवासं करेमि, ताव काल पावकम्मं दुच्चरिय वोस्सरामि।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके २७ उच्छ्वास मे ६ वार णमोकार मन्त्र जपकर पुन· पचाग नमस्कार करे। अनन्तर तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'थोस्सामि' पढ़े।)

पुनः तीन आवर्त एक शिरोनति करके 'श्रुतमपि जिनवरविहितं' इत्यादि लघु श्रुत-भक्ति पढ़े। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिए।

यदि पुन पुनः खड़े होकर क्रिया करने की शक्ति नहीं है तो बैठकर भी ये क्रियाएँ की जा सकती है।

इस प्रकार से श्री वट्टकेर आचार्यवर्य प्रणीत मूलाचार की
श्री वसुनन्दि आचार्य विरचित आचारवृत्ति नामक टीका मे
आवश्यक निर्युक्ति—नामक सातवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ।

मूलाचारस्य गाथानुक्रमणिका

नोट —इस अनुक्रमणिका मे प्रथम अंक अधिकार का द्वितीय अक गाथा का और तृतीय अक पृष्ठ का है। टिप्पणगत गाथाओ के परिचय के लिए द्वितीय अंक के स्थान पर (टि) लिखा गया है।

अ

पारिभाषिक शब्द कोष

सूचना—प्रथम अंक गाथा का और दूसरा पृष्ठ का जानना चाहिए।

□□